॥ श्रियै नमः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता-व्याख्यामृतसरिता

प्रणेता

अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य

जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य

श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी महाराज

प्रकाशक

परम पूज्य श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी महाराज के शिष्य

श्रीलक्ष्मीप्रपन्न जीयरस्वामी

सम्पादक :-

डा० सुदामा सिंह

भू० पू० प्राचार्य एवं अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग

म० वि० वि०, बोधगया (बिहार)

॥ श्रियै नमः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता-व्याख्यामृतसरिता

प्रणेता

अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य

जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य

श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी महाराज

प्रकाशक

परम पूज्य श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी महाराज के शिष्य

श्रीलक्ष्मीप्रपन्न जीयरस्वामी

सम्पादक :-

डा० सुदामा सिंह

भू० पू० प्राचार्य एवं अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग

म० वि० वि०, बोधगया (बिहार)

ग्रन्थ-प्राप्ति-स्थान :

श्रीत्रिदण्डिदेव समाधिमन्दिर

चरित्र-वन बक्सर, ८०२१०१,

जिला-बक्सर (बिहार)

फोन : ६१८३-२२६८०४

मुद्रक :

मंगलम् कम्प्यूटर प्रेस,

अम्बेदकर मार्केट, गया

दूरभाष : ९४३१२५६४६१
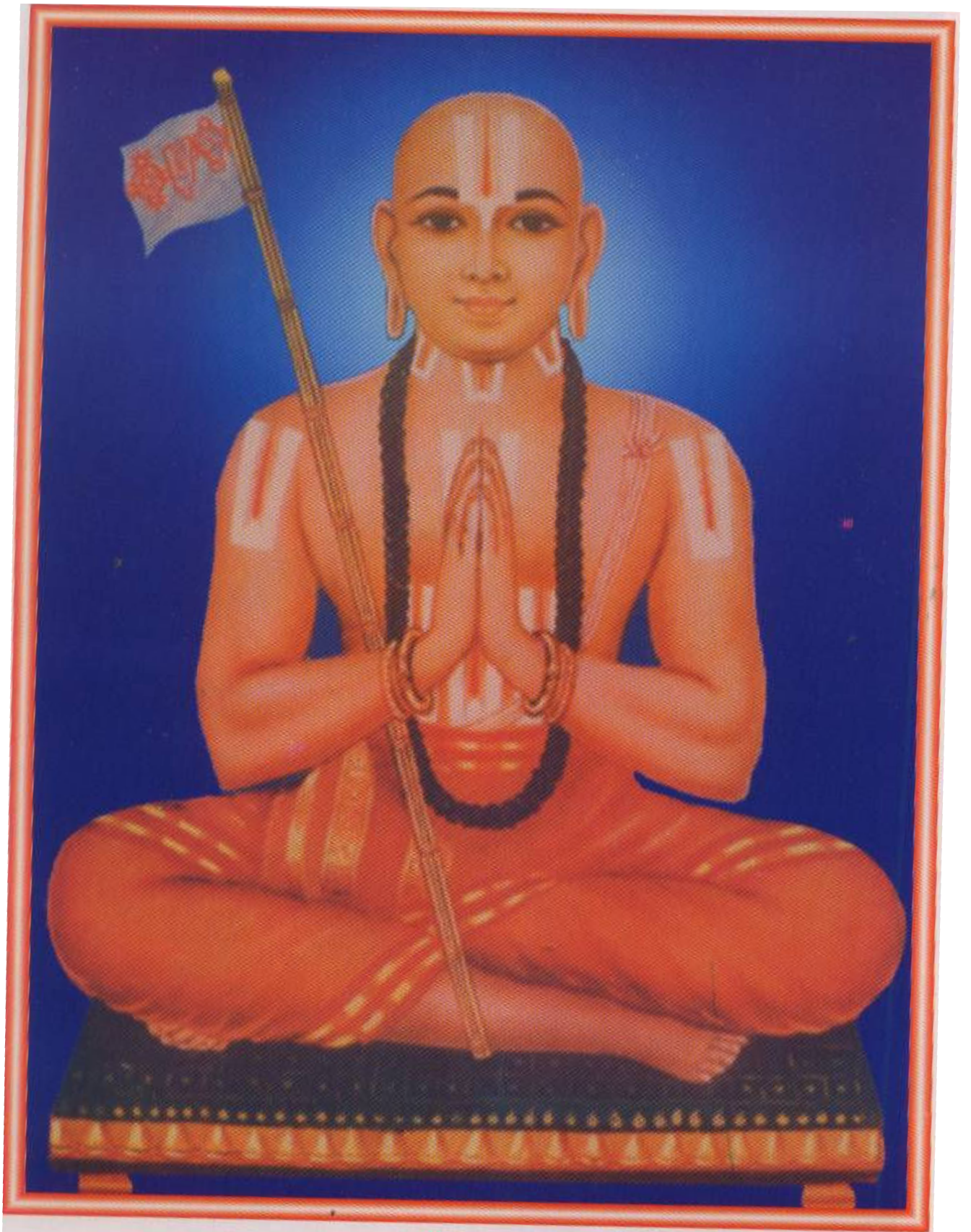
भगवान् श्रीरामानुजाचार्य
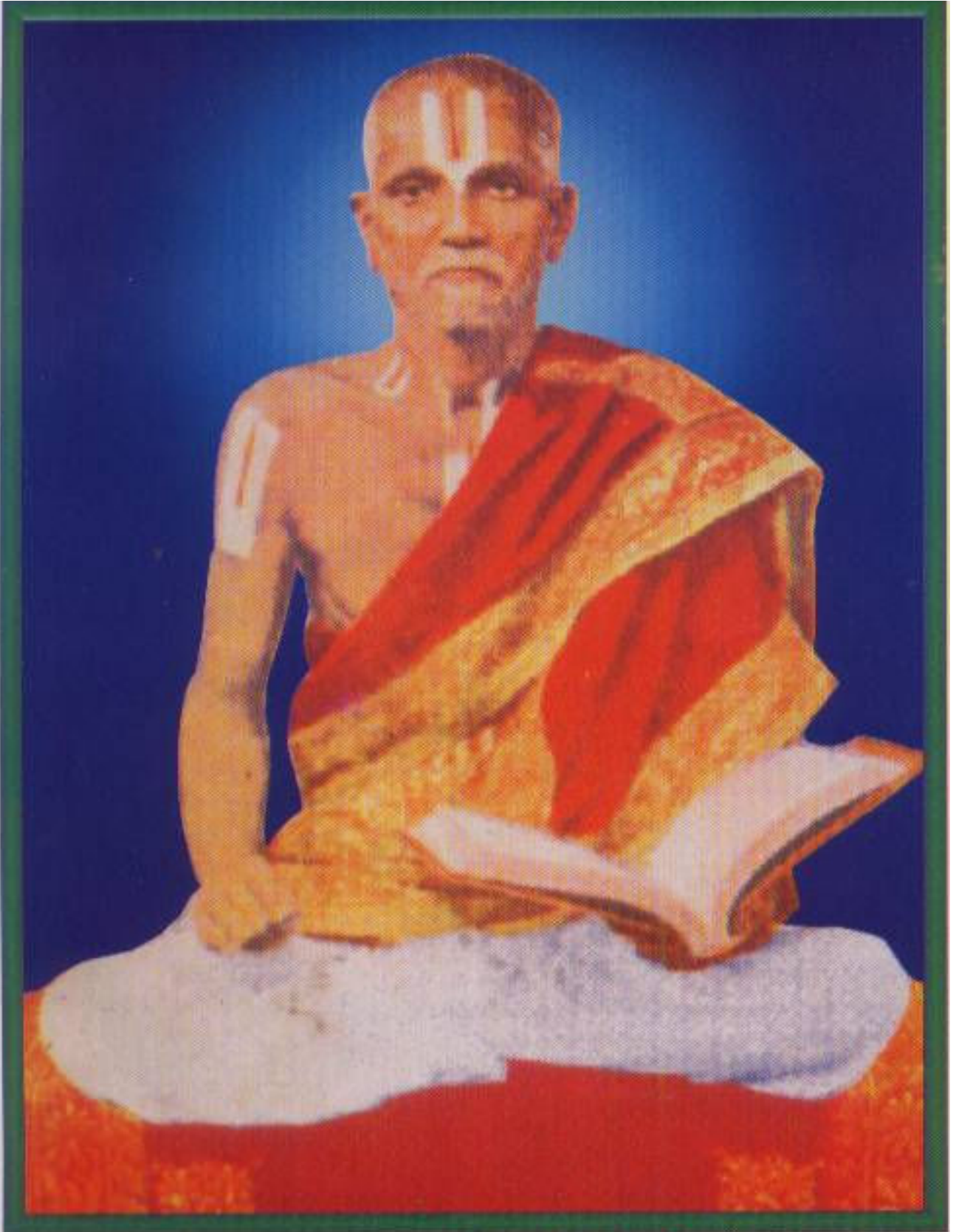
अनन्तश्रीसमलंकृत ज० गु० रा० श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयंकरपीठाधीश्वर
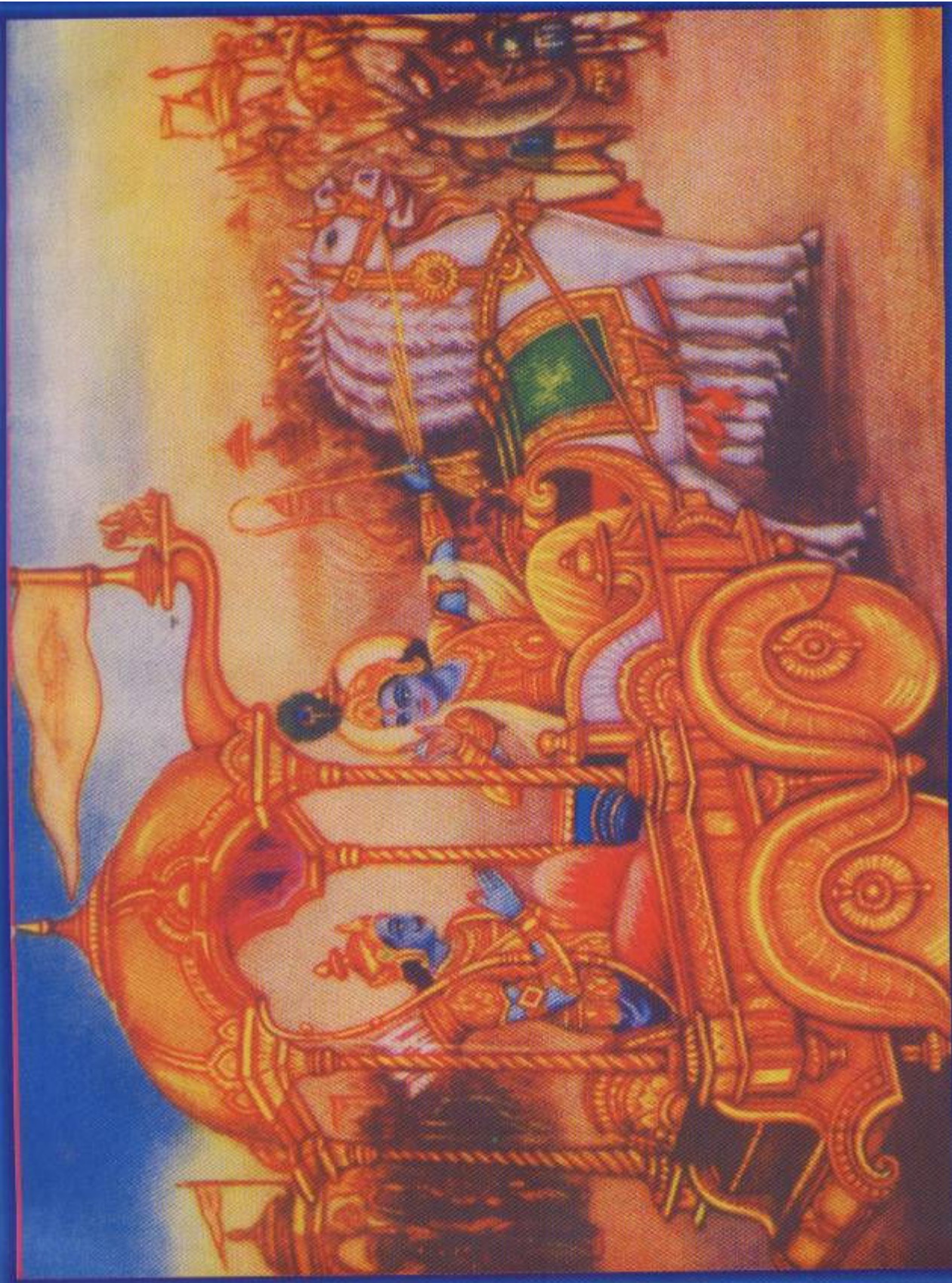
गीतोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण
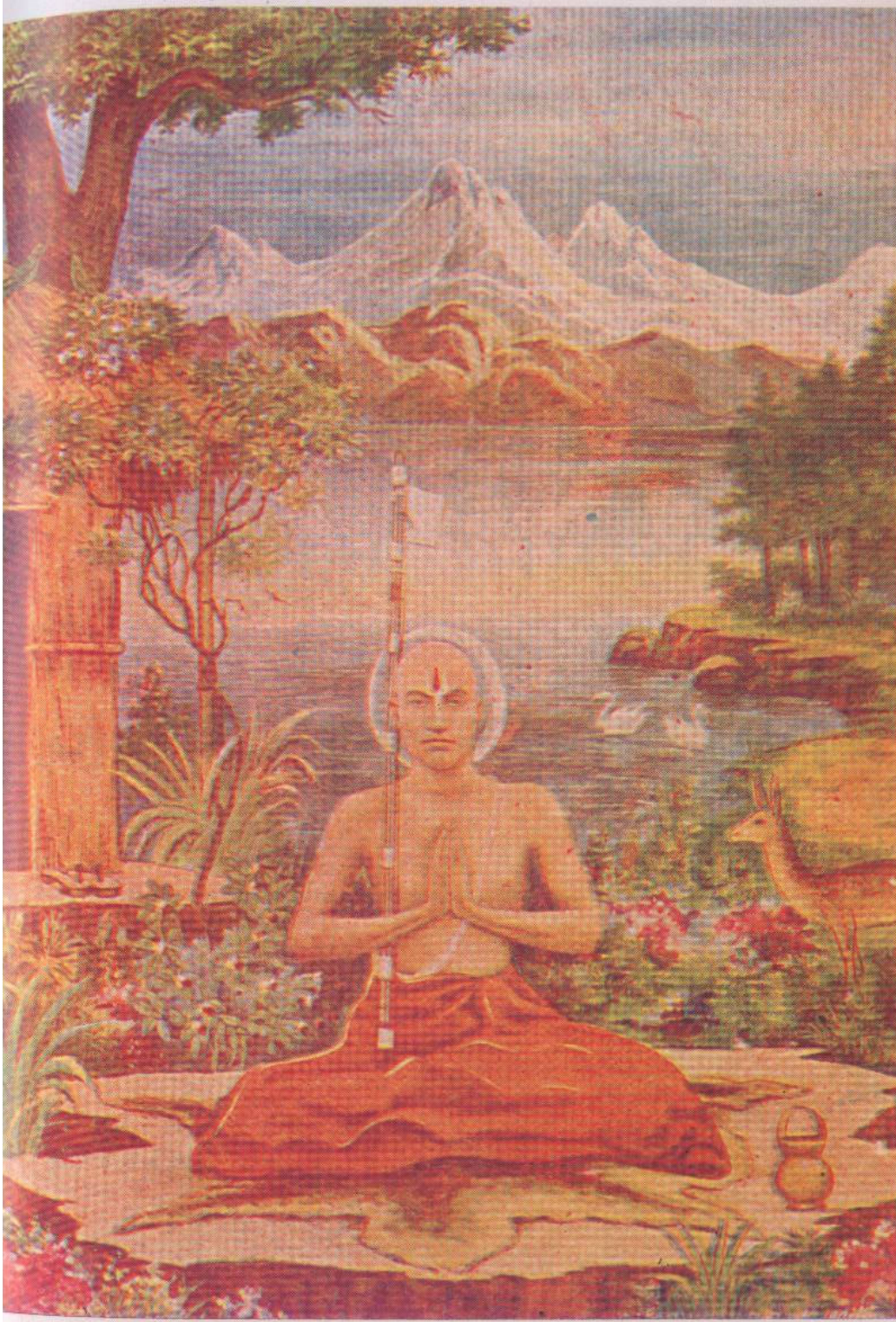
श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य वेदान्त प्रवर्त्तकाचार्य
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायचार्य
जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य
श्री त्रिदण्डी स्वामीजी महाराज
(संन्यास ग्रहण के कुछ वर्ष पश्चात्)
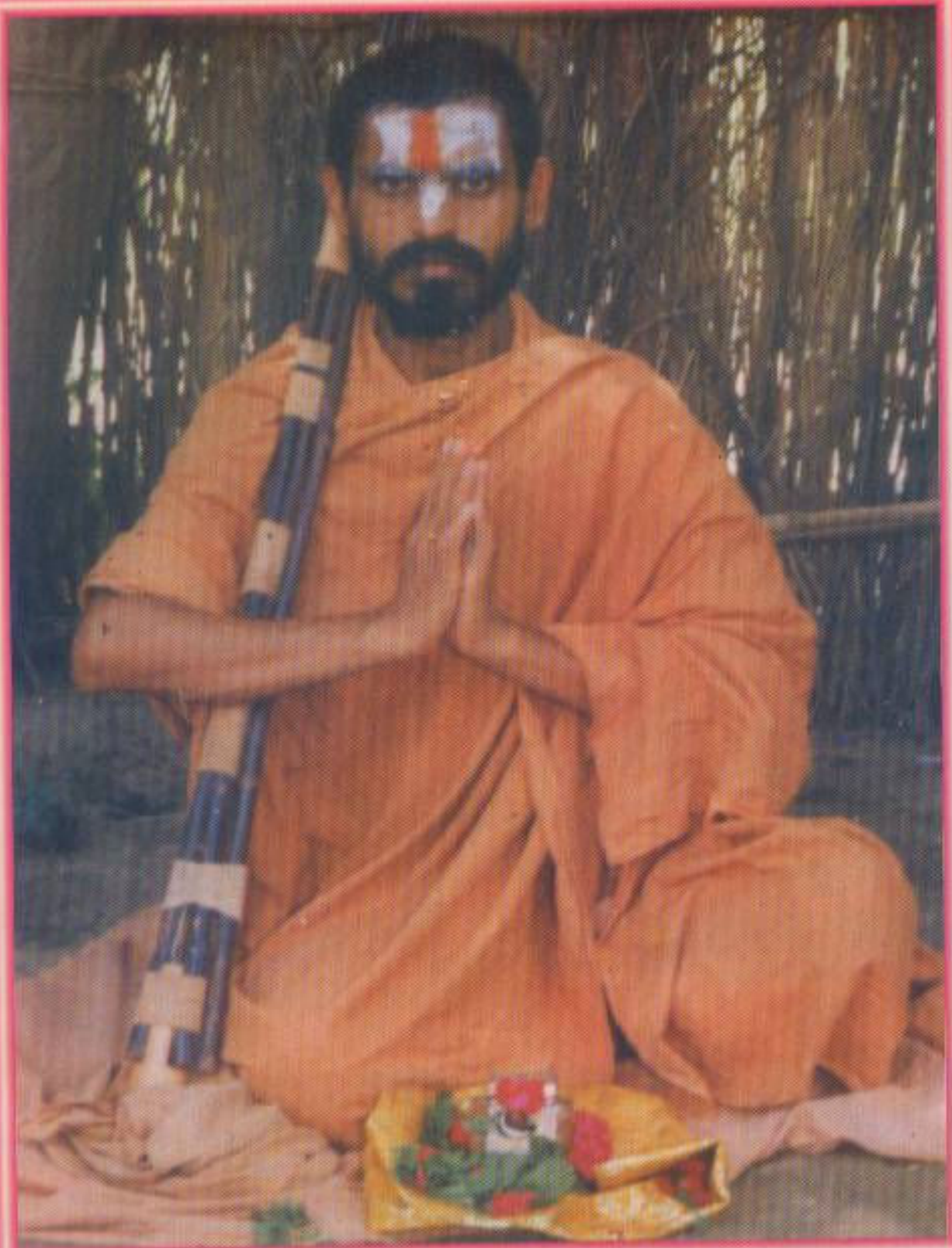
श्री १००८ श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी महाराज के शिष्य
श्रीलक्ष्मीप्रपन्न जीयरस्वामी

श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान्
चरित्रवन बक्सर, जिला बक्सर (बिहार)

मकरार्के गुरौदर्शे तीर्थे चैत्ररथे वने ।
सिद्धाश्रमे स्वयं जातं लक्ष्मीनारायणं भजे ॥
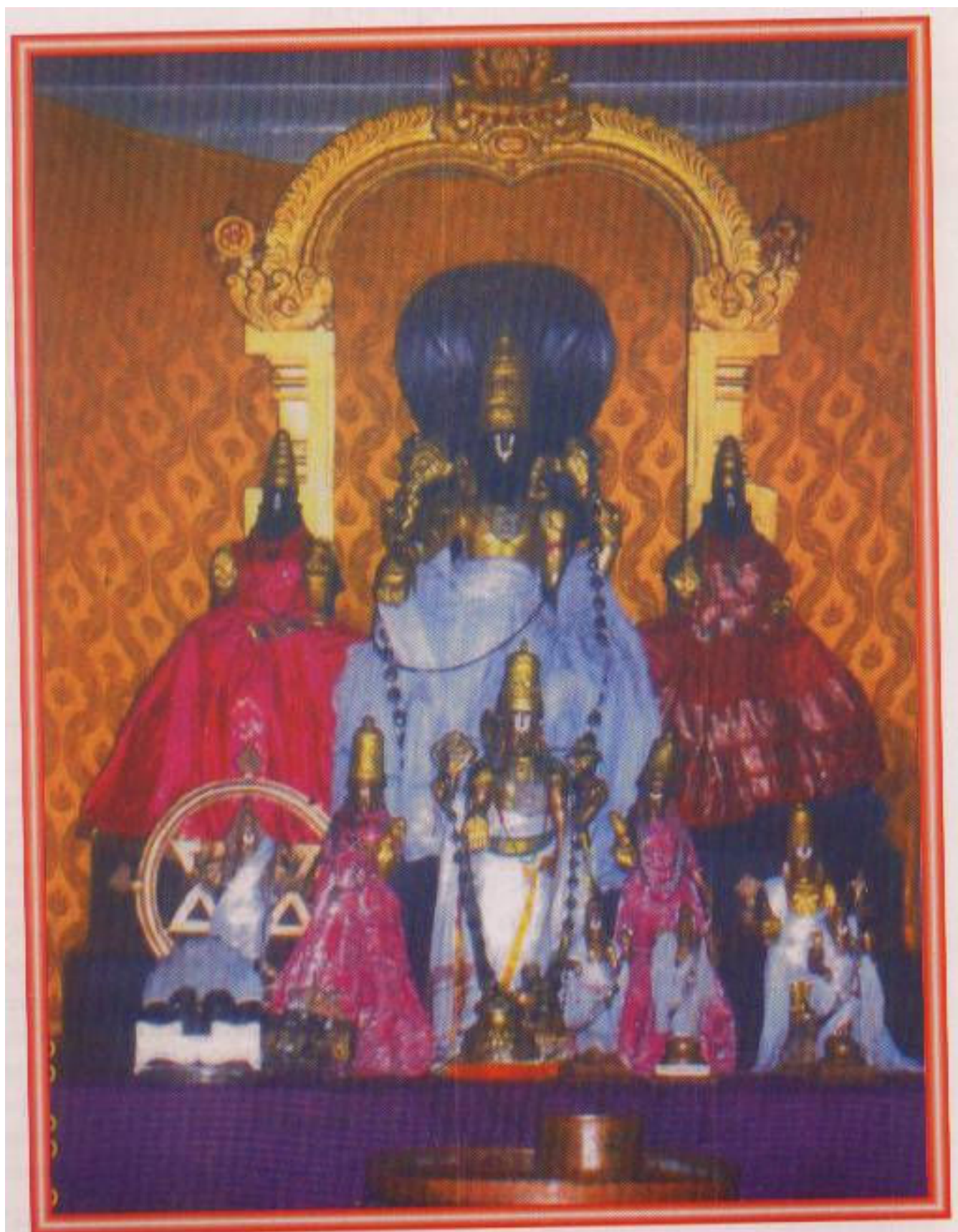
श्रीवैकुण्ठनाथ भगवान् चरित्रवन, बक्सर

विषय–सूची

तृतीयोऽध्यायः (कर्मयोगविषयक उपदेश)

पृष्ठ सं०

श्लोक

चतुर्थोऽध्यायः (ज्ञानकर्मसंन्यासयोग)

पञ्चमोऽध्यायः (कर्मयोग-सौकर्य एवं ब्रह्मज्ञानप्रकार)

षष्ठोऽध्यायः (आत्म-संयमयोग)

श्लोक		पृष्ठ सं०
	नवमोऽध्यायः (राजविद्याराजगुह्ययोग)	
१-३	परम गोपनीय ज्ञानोपदेश का उपक्रम, विद्या-भेद, उपासनात्मक ज्ञान	३९९-४०२
४-६	सृष्टि ईश्वर का विस्तार पर ऐश्वर योग के कारण ईश्वर की उसमें असंलिप्तता	४०२-४०६
७-१०	कल्पक्षय एवं कल्प-आदि, ईश्वराध्यक्षता में प्रकृति द्वारा जगत् की रचना, प्रकृति का तमोरूप, कल्पादि में कर्मानुसार सृष्टि, ईश्वर की तटस्थता, माया की क्रियाशीलता ।	४०६-४१०
११-१५	भगवद्द्रोहियों का आचरण, दैवी प्रकृति वालों का भजन-प्रकार, पुण्यात्मा के लक्षण, हरिनाम की महत्ता, भगवन्नाम-कीर्तन करने वाले भक्त की प्रेम-प्रवण दशा, इत्यादि	४१०-४१९
१६-१९	सर्वात्मना भगवान् के स्वरूप एवं प्रभाव का वर्णन	४१९-४२५
२०-२५	सकाम एवं निष्काम उपासना का फलसहित वर्णन, सोमलता का वर्णन, ईश्वर में यज्ञ का स्वामित्व	४२५-४३१
२६-३४	पदार्थों एवं क्रियाओं के भगवदर्पण का फल, अनन्याभक्ति का फल, भक्तिमार्ग की सार्वभौमिकता, अर्जुन को ईश्वर में मनवाला, भक्तिवाला एवं कर्मवाला आदि होने का उपदेश	४३१-४४५
	दशमोऽध्यायः (विभूतियोग)	
१-७	भगवद्विभूति एवं योगशक्ति का उल्लेख, इनके ज्ञान का फल, बुद्धि, सुख, तप एवं दान आदि के विषय में	४४६-४५४
८-११	भगवत्कृपा एवं भगवद्भक्ति का प्रभाव, श्रीकृष्णचरणचिन्तन की मोक्षप्रदता आदि	४५५-४५८
१२-१८	अर्जुन द्वारा भगवान् की स्तुति तथा विभूति एवं योगशक्ति कहने के लिए प्रार्थना, भगवान् के लिए अर्जुन द्वारा दिये गये पुरुषोत्तम आदि पाँच संबोधनों की व्याख्या, चौदह भुवनों का उल्लेख, गृहस्थ के लिए योगी बनने की शक्यता आदि ।	४५८-४६६
१९-४२	भगवान् द्वारा अपनी विभूतियों एवं योगशक्ति का वर्णन (तथा, सताईस नक्षत्र, दस महर्षिगण, ओं (प्रणव) देवर्षिगण, गंगा-माहात्म्य, अकारार्थ, गायत्री माहात्म्य आदि से सम्बन्धित व्याख्याएँ ।	४६६-५०३
	एकादशोऽध्यायः (विश्वरूपदर्शनयोग)	
१-८	भगवान् श्रीकृष्ण से ऐश्वर रूप दिखाने के लिए अर्जुन की प्रार्थना, भगवान् द्वारा अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान किया जाना	५०४-५०९
९-१४	अर्जुन को भगवान् द्वारा दिखाये जाते हुए परम ऐश्वर-रूप का संजय द्वारा धृतराष्ट्र से वर्णन	५०९-५१३
१५-३१	अर्जुन को भगवान् के विश्वरूप का दर्शन, विराट् रूप-दर्शन से भयभीत हो एतद्रूप भगवान् को जानने की उसकी इच्छा तथा परा एवं अपरा विद्या, इत्यादि ।	५१३-५२५

पृष्ठ सं०

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्ग-प्रतिष्ठापनाचार्य वेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परमहंस
परिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय
श्रीमदविष्वक्सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डी स्वामीजी महाराज

पूज्यपाद विष्वक्सेनाचार्य श्री त्रिदण्डी स्वामी जी का जीवन वृत्त

श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर,चरित्र-वन, बक्सर के द्वितीय पीठाधीश अनन्तश्रीविभूषित त्रिकालदर्शी महातपस्वी सन्त एवं स्वतन्त्रता सेनानी बाबू कुंवर सिंह जी के गुरु श्री अच्युत स्वामी जी महाराज ने अपनी ऐहिक लीला के संवरण काल में भविष्यवाणी की थी-

चतुर्थे पुरुषेऽतीते शास्त्रज्ञो हि जितेन्द्रिय:। मम सिंहासनाधीशो यति: कश्चिद् भविष्यति।।

उक्त कश्चिद् यति कोई दूसरा नहीं, वरन् उपर्युक्त पीठ (श्रीपति पीठ) के छठे पीठाधीश्वर प्रात: स्मरणीय पूज्यपाद श्री त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज ही हैं। अपका एक नाम भी है-श्रीपतिपीठषष्ठेश:।

करुषदेशसञ्जातश्चतुर्वेदिकुलांशुमान्। श्रीपतिपीठषष्ठेशो वशी शान्तो महातपा:।।

आर्ष गिरा को चरितार्थ करते हुये वैकुण्ठचमूनायक श्री विष्वक्सेन जी ने मानवता के उद्धार के निमित्त वसन्त ऋतु के वैशाख मास में अवतार लिया।

मेषमासे ऽसिते पक्षे मित्रभे शुक्रवासरे। सेनेशांशसमुद्भूतं विष्वक्सेनमुनिं भजे।।

पवित्र अवतार-स्थल एवं पावन कुल

बिहार राज्यान्तर्गत बक्सर (सिद्धाश्रम) का शास्त्राख्यात माहात्म्य है। जहाँ कश्यप-अदिति का महातप सम्पन्न हुआ, जहाँ तपोरत सनत्कुमार सिद्ध बने, जहाँ प्रचण्ड तपश्चर्या से विश्वामित्र ब्रह्मर्षि हो गये और जिसको श्रीराम और लक्ष्मण जी ने गुरुभूमि बनाया, उसी पुराण प्रसिद्ध सिद्धाश्रम (चत्रिवन बक्सर) के दक्षिणाञ्चल में -बक्सर से प्राय: १९ कि. मी. दक्षिण राजपुर थानान्तर्गत शिशराढ़ ग्राम की पुण्य भूमि ही योगिराज श्री त्रिदण्डी स्वामी की अवतार भूमि है। यहीं परम भागवत कश्यप गोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी जी की धर्मपत्नी श्रीमती महामान्या इन्दिरा जी के अङ्क में आपने अवतार लिया। विधि वशात् ममताभरी माँ और कारुण्य मूर्त्ति पिताजी का स्वर्गवास हो गया। लालन पालन का सारा दायित्व पूज्य पितामह श्रीमान् पं. श्री जोधन चतुर्वेदी जी पर आ गया जिसे उन्होंने दायित्व पूर्वक निभाया।

जन्म कुण्डली

१. जन्म स्थान-शिशराढ़ (बक्सर) बिहार, भारत। अक्षांश २५-३५′ उत्तर, देशान्तर, ८३-५९′ पूर्व।

२. जन्म तिथि-२१/२२-४-१९०५ इसवीय सन्।

विक्रम सम्वत् १९६२ वैशाख कृष्ण द्वितीया १२-०-१ तक/उसके बाद तृतीया ।

शालिवाहन शक १८२७। कलि सम्वत् ५००६।

३. वार-शुक्र वार(२१-४-१९०५)/शनिवार।

४. जन्म समय(२१-४-१९०५)-२-३०-० भारतीय समय=२-३५-३६ स्थानीय समय= २-३६-४७ स्पष्ट समय।

५. सूर्योदय(२१-४-१९०५)-५-२८-४६ भारतीय समय। सूर्यास्त-१८-१६-५९।

६. सूर्योदय के बाद इष्ट काल-२१-१-१४ घं/मि.से.= ५२-३३-५ घ./प./वि.

७. नक्षत्र-विशाखा १४-१४-५ तक/उसके बाद अनुराधा। ८. योग-व्यतीपात २२-२०-४ तक/उसके बाद वरीयान्

९. करण-गर १२-०-१ तक/वणिज २४-१०-३१ तक/ उसके बाद विष्टि करण।

१०. अनुराधा नक्षत्र तृतीय चरण में जन्म से राशि नाम-नू -द्वितीय चरण के अनुसार निरञ्जन प्रसाद चतुर्वेदी

११. अनुराधा नक्षत्र में भभोग-६२-४९-२१ घटी/पल/विपल। भयात-१५-१७-७ घटी/पल/विपल।

१२. शनि महादशा में भोग्य वर्ष-मास-दिन ८-३-१६।

जन्म कालीन क्षितिज- शनि महादशा २१-४-१९०५ से १७-६-१९१३ तक

निरयण लग्न-१०-८-१८′-३″ दशम भाव ७-१७-२१′-२०″ बुध १७-६-१९३० तक। केतु १७-६-१९३७ तक।

अयनांश (चित्रापक्षीय) २२-२६′२″ परम क्रान्ति २३-२६′२९″ शुक्र १७-६-१९५७ तक। सूर्य १७-६-१९६३ तक।

जन्मकालीन निरयण स्पष्ट ग्रह चन्द्र १७-६-१९७३ तक। मंगल १७-६-१९८० तक।

राहु १७-६-१९९८ तक। गुरु १७-६-२९१४ तक।

क्रम ग्रह (वक्री)	राशि	गति	षड्बल
१. सूर्य	०-८-३७′-५९″	५८′-२९″	१.६३
२. चन्द्र	७-१६-५६′-३९″	१४-३६′-४२″	१.०२
३. मङ्गल	७-०-२४′-१२″	१४′-१९७	१.१५
४. बुध(अस्त,वक्री)	०-११-५६′-१५″	३८′-५″	०.७३
५. गुरु (अस्त)	०-१७-४३′-२१″	१४′-१४″	१.२३
६. शुक्र (वक्री)	०-१७-२४′-२६″	३४′-२१″	१.४६
७. शनि	१०-८-१६′-३८″	४′-४३″	०.९६
८.राहु (वक्री)	४-१४-९′-१९″	३′-११″	
९. केतु (वक्री)	१०-१४-९′-१९″	३′-११″	
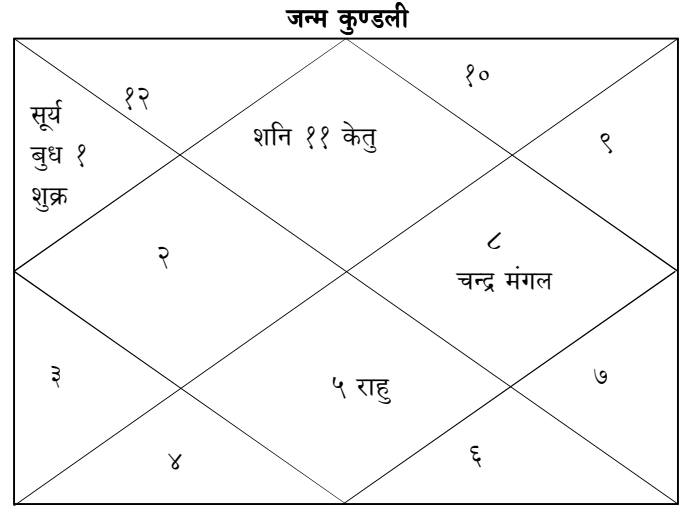
ब्रह्मचर्य व्रत धारण, विद्योपार्जन एवं नारायण-मन्त्र की सिद्धि-

वर्णाश्रम धर्मानुसार प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। इस प्रथम आश्रम में उपनयन-संस्कार शास्त्रादेश के अनुकूल किया जाता है। उपनयन संस्कार के समय विप्र बालक के हाथ में पलाश दण्ड पकड़ा दिया जाता है। यह दण्ड केशान्त पर्यन्त होता है। उपनीत बालक को काशी विद्याध्ययन के लिये भेजने का स्वांग लोक में रचा जाता है और कुछ दूर जाकर समझा बुझा कर उसे लौटा लाया जाता है। पर सत्यवेत्ता स्वामी जी का मन तो घर को ही फांस समझ रहा था। वे घर लौटने को तैयार ही नहीं थे। अन्ततः हारकर इनके पूज्य पितामह जी इन्हें श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर चरित्रवन-बक्सर भेजने पर सहमत हो गये और इन्हें भी सहमत कर लिया। वस्तुतः पूज्यपाद को तो विद्या ही नहीं, परा विद्या सकल विद्या के स्वामी देवराज की शरण में जाना था, जिसकी याचना भी इन्होंने भाव विभोर हो की-

दास्येप्सिताय पदपद्म मधुव्रतोऽहं त्वं देवराज शरणं प्रणिदेहि मह्यम्।

जब प्राणों के प्राण में लगन लगे तो परिजन पुरजन कैसे रोक सकते हैं? बालक स्वामी जी को प्रेम-रज्जु में बान्ध कर मनोहर श्यामसुन्दर अनन्तश्रीविभूषित बड़े अनन्ताचार्य (श्री काञ्चीपीठाधीश्वर गादी स्वामी जी महाराज) के कृपापात्र परम तपस्वी महाभागवत श्रीश्रीपतिस्वामीजी महाराज को प्रकट हुए, एक ही शिला में अम्बा सहित विराजमान श्री लक्ष्मीनारायण भगवान् ने अपनी ओर खींच लिया। इस श्रीपति पीठ के एक से एक तेजस्वी सिंहासनाधीश्वर हुए। अनन्श्रीमण्डित श्रीपतिस्वामी जी के कृपापात्र श्री अच्युत स्वामी जी, इनके कृपापात्र श्री विष्णु चित्तस्वामी जी और इनके कृपाश्रित श्री साधुशरणस्वामी जी महाराज के कृपापात्र श्री रामकृष्ण स्वामी जी। पूज्यपाद श्री १००८ श्री रामकृष्णाचार्य स्वामी जी ने ही पञ्च संस्कार सम्पन्न कर श्री त्रिदण्डी स्वामी जी को अपना शिष्य बनाया, मूल-मन्त्र एवं मन्त्र-रत्न प्रदान कर श्रीमन्नारायण की शरणागति करायी। श्री विष्वक्सेनाचार्य यह नामकरण

किया । तत् पश्चात् श्री स्वामी जी विद्या रत होकर एक कठोर तपस्वी विद्यार्थी के रूप में अल्प वयस में ही साहित्याचार्य की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम आये। श्री स्वामी जी ने साहित्याचार्य की परीक्षा के बाद अयोध्या में गहन अध्ययन कर व्याकरणाचार्य की परीक्षा भी पास की और पुनः इन्होंने प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पाया। लेकिन जिस विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति होती है वह साहित्याचार्य या व्याकरणाचार्य भर की विद्या नहीं। व्याकरणाचार्य और साहित्याचार्य से बहुत बड़ी है। नारायण मन्त्र की सिद्धि जो इन्हें सिद्धाश्रम (बक्सर) में उपलब्ध हुई। श्री स्वामी जी महाराज के जीवन की यह महीयसी घटना निम्नवत् है-

श्री स्वामी जी महाराज के आचार्य पूज्यपाद श्री रामकृष्णाचार्य स्वामी जी (पञ्चम पीठाधीश, श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, चरित्रवन, बक्सर) नारायण मन्त्र की सिद्धि की कामना से तपोरत थे। श्री त्रिदण्डी स्वामी जी ने आचार्य से श्रद्धा सहित जिज्ञासा की-आप गंगा में खड़ा होकर इतनी कठिन उपासना किसलिये करते हैं? आचार्यवर्य ने पहले टाल-मटोल किया, फिर मन में आया कि इनका बालचित्त है और ये इतने जिज्ञासु हैं, सम्भव है, इन्हें ही नारायण -मन्त्र सिद्ध हो जाय। कृपालु आचार्य ने तपस्या का रहस्य, नारायण मन्त्र सिद्धि के विधान और पहचान-सारी बातें बता दीं। अब बालार्क-सा नव प्रभामण्डित श्री त्रिदण्डी स्वामी जी कटि पर्यन्त गंगा जल में खड़े हो उग्र तप करने लगे । बस क्या था-इक्कीसवें दिन श्रीमान् की अञ्जलि में शेषफण पर विराजमान श्रीमन्नारायण का साक्षात्कार! लब्ध-मनोरथ श्री स्वामी जी ने आचार्य से यह घटना बता दी। गुरु की आज्ञा हुयी-गृहस्थाश्रम में नहीं जाना है। पूर्ण विद्या प्राप्त कीजिये। गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर साहित्याचार्य और व्याकरणाचार्य की उपाधियाँ श्रीमान् ने प्राप्त कीं। वेदाध्ययन की लालसा ने इन्हें अनन्तश्रीविभूषित श्री काञ्ची प्रतिवादिभयङ्कर पीठाधीश्वर भगवदनन्ताचार्य गादी स्वामी जी महाराज की शरण में पहुँचाया। विचित्र उत्कर्ष! घर से पढ़ने चले तो नारायण मिल गये और फिर वेद पढ़ने चले तो संन्यास मिल गया। भौतिक विद्या और अध्यात्म, दो-दो पूर्ण कमल आचार्यकृपा रूपी सरोवर में खिल गये जिनकी सुरभि ने मधुकरराज श्री स्वामी जी को ऐसा बेसुध कर दिया कि अब घर कौन लौटे, कैसे लौटे?

संन्यास ग्रहण एवं व्यवस्थित दिनचर्या

परमवन्द्य श्री गादी स्वामी जी महाराज, नारायणवाड़ी, सी.पी. टैंक, बम्बई में निवास करते हुये श्री वेंकटेशदेवस्थानम् (फणसवाड़ी, बम्बई) दिव्यदेश का उन दिनों निर्माण करा रहे थे। सम्वत् १९८३ (सन् १९२६) में श्रीमान् की सन्निधि में श्री स्वामी जी पहुँचे। आचार्य के प्रथम दर्शन ने ही शिष्य को भावातुर कर दिया, हृत्तन्त्री के तारों को झकझोर दिया। वेदाध्ययन की उत्कण्ठा दबने लगी, संन्यास ग्रहण की कामना तीव्र होने लगी। परम कारुणिक आचार्य ने इन्हें न्याय वेदान्त के साथ साथ रहस्य ग्रन्थ पढ़ाया, शास्त्रार्थ का कौशल प्रदान किया और संन्यास ग्रहण की लालसा भी पूर्ण कर दी। वाञ्छाकल्पतरु श्री गादीस्वामी जी महाराज ने अन्य आश्रमों के व्यतीत होने की प्रतीक्षा न करा सम्वत् १९८३ में ही वीतरागी को त्रिदण्ड दे योगपथ पर आरूढ़ कर दिया।
यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यादिव प्रव्रजेत्-यह भी तो शास्त्रानुशासन ही है। परमाचार्य ने योगमूर्त्ति को दिव्य दृष्टि से देख लिया, श्रीमद् विष्वक्सेन जी के अंश को पहचान लिया और अपने सेनापति को आशीष दिया- आपके शिष्य - प्रशिष्य बहुत होंगे और आप भगवान् के दिव्यदेश बनायेंगे। फिर प्रेमाधीर होकर उन्होंने फल (आम और अमरूद) प्रसाद में दिया। अब वैराग्य इतना विकट हो गया था, आचार्य निष्ठा और भगवत् प्रीति ऐसी गहरी हो गयी थी कि दो-दो तीन-तीन दिन अर्द्ध-विक्षिप्त सा रहते, क्रन्दन, अश्रुपात, बेहोशी। अशन-वसन की सुधि भी नहीं।

किसी पेड़ के नीचे एकान्त में बैठ कर फूट-फूट कर रोना, विचित्र तड़प में रहना। इस अवश्यम्भावी स्थिति को समझते हुये परमाचार्य जी ने पुराने श्री चतुर्भुज स्वामीजी (कैथी वाले) एवं अन्य महात्माओं को साथ में लगा दिया था और श्रीमान् ने चेता भी दिया था-आप लोग ध्यान रखेंगे। इनको जैसा प्रबल आवेश आ रहा है, उससे हृदय को भी क्षति हो सकती है। इन महात्माओं ने छायावत् श्री स्वामी जी का अनुसरण किया। अगर दो-दो तीन-तीन दिन ये बिना अन्न पानी के रहते तो महात्मा लोग भी। शायद इससे परमहितकारी श्री स्वामी जी महाराज पिघल उठे। महीनों तक ऐसी ही तड़प की जिन्दगी बिताने के बाद इन्होंने पयपान (दुग्ध-भिक्षा) पर जीवन सञ्चालन शुरु किया और संन्यास ग्रहण से समाधि-ग्रहण काल यानी ७४ वर्षों तक के संन्यासी जीवन में अल्प दुग्ध-भिक्षा पर ही शरीर को सम्भाला। पाँच-पाँच, सात-सात दिनों की और जगन्नाथपुरी में १५ दिनों की समाधि में तो यह भी नहीं। पूज्यपाद ने जीवन को ही व्रत बना लिया, जिसकी यापन शैली अद्वितीय रही। यतीमन्द्रमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ-रत्न का जो इन्हों ने प्रणयन किया वह इनके लिये सिद्धान्त भर ही नहीं, वरन् आजीवन प्रयोग बना रहा। यहाँ श्रद्धेय श्री सिद्धेश्वर पाठक जी का कथन उद्धरणीय है-

यहाँ बहुत सन्त ऐसे भी हुये हैं, जो देश, काल अवस्था के अनुसार अपने दैनिक नियमों में परिवर्तन करते रहे और रहेंगें। जगदाचार्य धर्मधुरीण श्री त्रिदण्डी स्वामी जी ने यतीन्द्र-धर्ममार्तण्ड के अनुसार जो नियम निर्वहण का सङ्कल्प लिया है, आज भी इस वृद्धावस्था में दृढ़तापूर्वक उसका पालन कर रहे हैं। महाराज श्री की दिनचर्या का देवभाषा में वर्णन (सन् १९४३ ई.में) पं. श्री लक्ष्मीप्रपन्नाचार्य जी (हरिद्वार) ने किया था जो श्री वैष्णव कृत्य दर्पण के विभिन्न संस्करणों में उपलब्ध है। इस श्री सेनेशगुरुचर्या के अनुशीलन से दिन और रात्रि यानी २४ घण्टे में, प्रतिपल एक योगी के व्यवस्थित जीवन की झाँकी मिल जाती है और यह भी समझ में आने लगता है कि-

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव। स्थितधी: किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।। (गीता २/५४)

यों २४ घण्टे के दर्शन से भी बहुत रहस्य की बातें खुल नहीं पातीं, क्योंकि यज्ञावसरों को छोड़कर अन्य दिनों में इनके २४ घण्टे के करीब १०% यानी २ से २ १/२ घंटे के क्षण सार्वजनिक होते और प्रतिदिन शेष यानी २१ १/२ से २२ घंटे का विनियोग जप, तप, समाधि, चिन्तन और लेखन आदि कार्यों में होता। लेकिन यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि महा विरक्त की यह तपस्या भी स्वार्थ से ऊपर परार्थ के लिये थी। जिसके लिये परत्व ही स्वत्व बन गया हो, भक्तों के आर्त्त क्रन्दन पर कराल काल पर जहाँ त्रिदण्ड कालाग्नि सा काल का काल बनकर टूट पड़ता हो उस महादानी ने छिप कर भी जो पाया उसे हमारे जैसे पापियों के लिये लुटा दिया। समाधिस्थ हो, शरीर में घुन (वल्मीक) लगाकर प्रभु से जो लिया उसे जनता जनार्दन के बीच बाँट दिया। सन्तों की पल-पाल की तपस्या भी दूसरे के लिये होती है, दीनों के लिये होती है-परोपकाराय सतां विभूतय:। सन्त शिरोमणि गोस्वामी जी ने कहा तो अवश्य कि-

स्वान्त: सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबद्धमतिमञ्जुलमातनोति।। (श्रीरामचरितमानस १/७)

तो क्या रहा रामचरितमानस मात्र स्वान्त: सुखाय का साधन? नहीं, वह सबों का कल्याण-कल्पद्रुम बन गया। तथैव पूज्य महोदार श्री स्वामी जी महाराज भले ही ब्रह्मरस के पान के लिये बन्द पर्ण-कुटीर में तपस्या-रत रहे, क्षण-क्षण का उपयोग करते रहे, पर वह ऋषिराज के सदुपदेश द्वारा, शुकदेव जी की जैसी मधुर गिरा के माध्यम से छलक-छलक कर भागवतों के कर्ण-पुट के मार्ग से उनके हृदय में आ गया। वन्दनीय संयमी सन्त ने अपनी दिनचर्या की धारा को संयम एवं नियम के उभय कूलों से बान्ध कर सदाचार की अमर अमृत धारा बहायी। रहा

कि कौन अपने जीवन की क्यारी को कितना सींच ले? कितनी फसल उगा ले?

संन्यस्त जीवन: करीब साढ़े सात दशकों की लम्बी यात्रा (सन् १९२६ से १९९९ तक)

फिर लेखनी की लड़खड़ाहट! अंग्रेज कवि शेली की समस्या थी, एक ही बार अनेक उपमाओं का मस्तिष्क में आ जाना, फिर वह कैसे उन्हें छन्दों में ढाले। पन्त जी कहते हैं-

कभी उर में अगणित मृदुभाव कूजते हैं विहगों से हाय। अरुण कलियों से कोमल घाव कभी खुल पड़ते हैं असहाय।।

कैसे अभिव्यक्ति हो! किस रूप की आरती उतारूँ? समाधिमग्न वल्मीक-संवृत ध्याता वाल्मीकि की या हजारों हजार पृष्ठों में गीतोपदेशक व्यास की। जगदाचार्य के रूप में अभिनव रामानुजाचार्य की या दिव्यसूरि के रूप में शठारि की। भक्ति के सिरमौर ध्रुव और प्रह्लाद की या महाज्ञानी सनत्कुमार की। मृत्युञ्जय महादेव की या दानी शिरोमणि रघुराज की। इस मधुर मदहोशी भरी विमूढ़ता में श्री चरणों में मस्तक टेक देना ही उपाय है। तो चातुर्मास्यव्रतचारी के रूप में श्रीमान् का प्रथम दर्शन श्री वेंकटेश देवस्थानम् बम्बई में भक्तों को मिला जहाँ १९२६ में आपका प्रथम चातुर्मास यज्ञ सम्पन्न हुआ। यह प्राजापत्य यज्ञ था। चातुर्मास्य में एक स्थान पर ही नियत वास का नियम श्री स्वामी जी ने आजीवन रखा। चाहे कितने विघ्न आ जायें, वह भूखण्ड भले ही महीनों जल-मग्न हो जाय, पर योगिराज अचल रहते।

गंगा या सरयू, शोण या कोयल की भयंकर उफान व्रतधारी को डुला न सकी। शिवदशा जैसी ही घटना रानीदेवा (कोयल के किनारे सं. २०२८), बबुरा (गंगा किनारे सं. २०३०), लोहासिंह का टोला सिताबदियारा (सं. २०४०) लच्छूटोला सुमेरनपुर (गंगा के क्रोड में सं. २०५३) आदि विविध स्थानों की है, जहाँ बाढ़ के बीच भी अटल तपस्वी अपने स्थल पर ही तपोरत रहे। ऐसी कठोर तपस्या के साथ उत्तरोत्तर ७४ वर्षों में ७४ चातुर्मास्य व्रतों को आपने सम्पन्न किया जो मानों भगवद् रामानुजाचार्य स्वामी जी द्वारा स्थापित ७४ वैष्णव पीठों के प्रतीकात्मक हैं। अन्तिम चातुर्मास्य काशी क्षेत्रान्तर्गत विशुपुर (विष्णुपुर) में २०५६ में सम्पन्न हुआ और तब यह स्मरणीय है कि पूज्यपाद २५ से ५० ग्राम दूध भिक्षा पर ही जीवन सम्भाले थे। सिद्धयोगी जब प्राण को कण्ठ के गह्वर में नियमित करते हैं, तो भूख प्यास की समाप्ति हो जाती है। इस श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ के समापन के दिन महाक्लान्त इनके शुष्कप्राय पर कान्तिमान् शरीर को देखकर प्रसिद्ध चिकित्सक डा.लवकुमार सिंह (मेहता अस्पताल, वाराणसी) का सहज भावोद्रेक था-आह! समाज अब तक इनसे इतना काम ले रहा है। वस्तुत: कण्ठकूप में प्राण को रोक, आयु की रेखा आगे खींच कर, भक्तों के धार्मिक कृत्यों को श्रीमान् ने सम्पन्न कराया। तपस्या मार्ग के अथक पथिक श्री स्वामी जी महाराज ने ७४ चातुर्मास्य यज्ञों के अलावा करीब २५० से अधिक अन्य यज्ञ सम्पन्न कराये और इस दिशा में उनका एक समन्वयवादी सन्त का रूप भूरिश: स्तुत्य है। परम वैष्णव सन्त ने महानारायण और महालक्ष्मी यज्ञ कराया तो प्राजापत्य यज्ञ, गौरीशंकर यज्ञ, हरिहर यज्ञ, श्री सूर्यनारायण यज्ञ, गायत्री यज्ञ, रुद्र यज्ञ, मारुति यज्ञ आदि भी। ये यज्ञ इतने अभूतपूर्व होते थे कि इनमें प्रति यज्ञ में कम से कम एक लाख सन्त महात्मा वृन्द एवं भागवतजनों का तदीयाराधन होता। गंगा के रेत में भी टेण्टों का नगर बस जाता, लगता था कि कुम्भ का मेला हो। ज्ञान यज्ञ तो इनकी तपोमयी दिनचर्या का मानों अभिन्न अंग बन नित्य सम्पन्न होता रहा।

अचल तपस्वी के साथ हृदय की दृष्टि में उतर रहा है अब महालक्ष्मी के सत्पुत्र का भक्तरूप। अगर श्रीस्वामीजी का योगी और तपस्वी रूप पाषाण सा अचल और कठोर है तो भक्तरूप किसलय सा कोमल। पाणाण के भीतर छिपा

सरस निर्झर। वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि-का गजब समन्वय! इन भक्तिमान् सिद्ध सन्त के साथ भक्त-परवश भगवान् भी लुकाछिपी खेलते रहे-कभी गोप बन कर दूध पिलाना (काँवर, काशी) तो कभी ब्रह्मचारी बन दर्शन करने आ जाना (ककरिया, सारण), कभी गरुड़ जी को लाने के लिये भेजना (झूमरडीहरा, औरंगाबाद) तो कभी उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते कहते हुये चतुर्भुज रूप में प्रकट हो जाना। (लच्छू टोला सुरेमनपुर-भोजपुर)। तथैव महालक्ष्मी महड़ौरी देवी (वाराणसी क्षेत्र) प्रकट होकर दुलार करती रहीं। भक्ति का पैगाम ले आपने अनेक पावन स्थलों में भगवान् की अर्चामूर्त्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करायी। कहीं आपकी पुनीत प्रीति में बन्धे अम्बा सहित कोदण्डपाणि प्रभुवर श्रीरामचन्द्र विराज रहे हैं (कोसलेश सदन अयोध्या, श्री जियराघव मन्दिर डेहरी, श्री वीरराघव मन्दिर टड़वाँ, आदि) तो कहीं भगवान् वेणुगोपाल या राधाकृष्ण (श्री वेणुगोपाल मन्दिर, वृद्धखैरा-पलामू, श्री राधाकृष्ण मन्दिर, बेहटा जंगल, शाहजहाँपुर आदि), कहीं भूदेवी और नीलादेवी के साथ श्री हरि वैकुण्ठनाथ (सिद्धाश्रम, बक्सर) तो कहीं लक्ष्मीवेंकटेश्वर देव (देवरिया), कहीं श्रीलक्ष्मीनृसिंह (काशी) तो कहीं श्रीमद् भगवद् रामानुजाचार्य, श्री शठकोप स्वामी, श्री वरवरमुनि एवं श्रीदेवी, भूदेवी सहित श्री लक्ष्मीनारायण भगवान् (गया), कहीं श्री गजेन्द्रमोक्ष देव (हरिहरक्षेत्र, सारण)तो कहीं भगवान् श्रीश्यामसुन्दर (चन्दाभारी, आजमगढ़)। लगता है अपनी भक्ति से विमोहित कर श्री देशिकेन्द्र ने श्रीमन्नारायण को वैकुण्ठ से बुलाकर जगह-जगह बसा दिया।

परमवन्द्य अनन्तश्रीविभूषित परमाचार्य पदभाक् श्रीमज्जगद् गुरु भगवद् रामानुजाचार्य श्री काञ्ची प्रतिवादिभयङ्कर मठाधीश गादी श्रीनिवासाचार्य स्वामी जी महाराज के शब्दों में-

भक्ति तो स्वाभाविक रही। इसी भक्ति-भावना से प्रेरित होकर अपने शिष्यों द्वारा सिद्धाश्रम बक्सर चरित्रवन आदि स्थानों में दिव्य देशों को बनवाकर भगवदर्चामूर्त्तियों को अपनी उपस्थिति में प्रतिष्ठित कराये। यह उनकी भक्ति का परिचायक रहा। अपने संन्यस्त जीवन में श्रीवैकुण्ठनाथ दिव्यदेश, बक्सर, श्री गजेन्द्रमोक्ष-देव-स्थानम् दिव्य देश हरिहरक्षेत्र और श्रीलक्ष्मीवेङ्कटेश्वर देवस्थानम् देवर्रीया सहित ६० भव्य देवस्थानों का निर्माण करा आर्य-सन्तति के लिये विचित्र भक्ति-वाटिका का आपने विकास किया।

श्रीमान् की जैसी परानुरक्ति प्रभु में थी, वैसी ही आचार्य देव में-यथा देवे तथा गुरौ। अनन्तश्रीविभूषित परमाचार्य भगवदनन्तदेव के वस्तुतः आप अनन्यपादीय रहे। उनके स्मरण-मात्र से विह्वल हो उठते थे-कुटी में जा बालक की तरह क्रन्दन करने लगते थे। स्वनिर्मित स्तोत्रों से आचार्य का जब स्तवन स्नेहिल स्फुट स्वरों में ब्रह्मवेला में करते तो सम्पूर्ण वातावरण ही भक्तिमय हो जाता। आपकी प्रीति की त्रिवेणी (आचार्य-प्रीति, भगवत्-प्रीति एवं भागवत प्रीति) को कौन रूपायित कर सकता है? इस त्रिवेणी की तीसरी स्रोतस्विनी निश्चय ही भागवत प्रीति है। भागवत आपके प्राण रहे और आप भागवतों के प्राण। प्रस्तुत है इसका एक ज्वलन्त उदाहरण-

सन् १९४० में बलिया जनपद के बहुवरा ग्राम (यत्तर प्रदेश) में गंगा तट पर चातुर्मास्य काल में (जबकि श्रीमान् का सौवाँ यज्ञ पूरा होने वाला था और १५वें चातुर्मास्य यज्ञ का अवसर था), कराल कालरूप नाग ने श्रीचरणों को डँस दिया। विद्युत् गति से यह बात सर्वत्र फैल गयी। यह सुनते ही घरवासडीह (सम्प्रति जिला रोहतास) श्रीमन्त्ररत्न प्रतिवादि भयङ्कर मठ के तत्कालीन पीठाधीश प्रख्यात विद्वान् चारुदर्शी मृदुभाषी सन्त श्री १००८ श्री लक्ष्मीप्रपन्नाचार्य स्वामी जी महाराज अनशन पर बैठ गये। महाभागवत ने सङ्कल्प कर लिया कि श्री स्वामी जी का अमंगल सुनने के पहले प्राण छोड़ दूँगा। तीन दिनों के बाद जब बहुवरा भेजा गया दूत ने आकर सुसंवाद दिया कि विष-शमन हो गया, श्री स्वामी जी महाराज सकुशल हैं, तब घरवासडीह के पूज्यपाद स्वामी जी महाराज ने जल

ग्रहण किया! धिक्कार है मुझ सा कंगाल को, भक्तिहीन शिष्य का जो प्राण धन गँवा कर भी जी रहा है। क्या यह प्रकट रहस्य नहीं है कि शिष्यों की प्रीति से भी कहीं गाढ़ी प्रीति शिष्येतर भागवतों की आप में बनी रही।
मगध विश्वविद्यालय के उर्दू विभागाध्यक्ष प्रो. एफ. जमा ने लिखा है-
भक्त जिस पर जान देते हों वो राजन आप हैं, फूल खिलते हों जहाँ, मुक्ति के मधुवन आप हैं।
आपकी महबूबियत पर खुद फिदा महबूब है, चाहता जिसको पिया हो वह सुहागन आप हैं।

श्रीमान् का नारिकेल समाकार चित्त था, जिस करुण चित्त को अपने प्राण-प्रिय भक्तों एवं गुरु परम्परा के शीर्ष पुरुषों के वियोग में समय-समय पर अपार सन्ताप पहुँचा। अनन्त श्री विभूषित श्री काञ्ची प्रतिवादिभयङ्कर पीठाधीश्वर परमाचार्यपदभाक् प्र.भ. ज.गु. आ. गादी कृष्णमाचार्य स्वामी जी के वैकुण्ठ गमन ने आपको अपार सन्ताप दिया। तथैव सन्त शिरोमणि श्री १००८ श्री जगद् गुरु रा. स्वा. राघवेन्द्राचार्य त्रिदण्डी स्वामी जी एवं वेदान्तमार्तण्ड महामना विद्वद् वरेण्य श्री १००८ श्री ज.गु.रा. स्वा. रामनारायणाचार्य त्रिदण्डी स्वामी जी जैसे दुर्लभ महात्माओं के वैकुण्ठ गमन ने महान् शोक आपके जीवन में उपस्थित किया। सद्गुरु को सच्चा शिष्य पुत्र से कम प्यारा नहीं होता। श्रीमान् के भक्ति सरोवर में खिले ऐसे स्वर्ण कमलों का विलुप्त हो जाना दयालु भक्तवत्सल आचार्य के लिये अकथनीय वेदना की घटना थी, जिसे व्यक्त करना कठिन है कि श्रीस्वामी जी महाराज के कोमल स्नेहिल हृदय ने कैसे सहा। वस्तुतः जो आपमें प्रेम करते थे, उनसे कहीं अगणित गुणा प्रेम आप उनसे करते थे। ऐसा था श्रीमान् का प्रेमार्द्र स्वरूप।

ग्रन्थकर्त्ता रूप

अब सम्मुख आ रहा है आचार्यवान् ज्ञानेश्वर का सारस्वत रूप-कवि, वैयाकरण, लेखक, उपदेशक, व्याख्यानकार, भाष्यकार महाशास्त्रार्थी का रूप और तल्लब्ध कीर्त्तिमान। वैदुष्य की गहराई और विविधता के स्वतः प्रमाण हैं श्रीमान् द्वारा प्रणीत शताधिक ग्रन्थ-रत्न। इन ग्रन्थों का अवर्णनीय वैशिष्ट्य है।
श्री त्रिदण्डि ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में गुरुपरम्परा में पूर्वाचार्यों के तनियन् के माध्यम से उनका शृंखलाबद्ध दिव्यानुसन्धान है। तथैव, श्री अनन्ताचार्य-प्रपत्ति, मंगलाशासनम् एवं सुप्रभातम् की भाव-प्रवणता, श्रीलक्ष्मीनारायण -प्रपत्ति का अलङ्कार समायोजन, एवं बिम्ब विधान, वैयाकरण पारिजात का सोदाहरण भगवत्-तत्त्वसंकेत-कण्टकोद्धार का तर्क-कौशल, वैदिकमूर्त्तिपूजादर्श, वैदिकश्राद्धदर्पण, एवं तप्तचक्रांक्न प्रकाश का सत्य-प्रकाशन, गीताव्याख्यान-माला (छः खण्डों) की विशदता और ईशादिदशोपनिषद् के भाष्य की अनूठी शैली (सूत्राक्षराण्यादाय - सूत्रों के एक-एक अक्षर को लेकर व्याख्या) विद्वत्ता की पराकाष्ठा के परिचायक हैं। ईशादि पञ्चोपनिषद् गूढार्थ-दीपिका भाषा व्याख्या (ईश, केन, कठ, प्रश्न, एवं मुण्डकोपनिषद् की व्याख्या) माण्डूक्याद्युपनिषत्त्रयी (माण्डूक्य, तैत्तिरीय, एवं ऐतरेय) की गूढार्थ दीपिका, छान्दोग्योपनिषद् की गूढार्थदीपिका, एवं बृहदारण्यकोपनिषद् की गूढार्थ दीपिका। उल्लेखनीय है कि कप्यास श्रुति की भगवद् रामानुजाचार्य स्वामी जी द्वारा की गयी व्याख्या के समान श्रीमान् द्वारा वाऽर्षभश्रुतिः औक्षेण वाऽर्षभेण वा-का सत्यार्थ समुद्भासित किया गया है।
अहमर्थ विवेक तत्त्व बोध वज्ररेखा जैसा ऐसा अमिट है कि अपर मतावलम्बी दिङनागाचार्यों का स्थूल हस्तवलेप भी इसे मिटा नहीं पाया-इसकी समीक्षा भ्रान्ति बनकर रह गयी। पुनः श्रीमान् द्वारा निर्द्वन्द्वमुखङङ्चपेटिका का उद्घोष भी उसी तरह अजेय है। इसी तरह रहस्य ग्रन्थों की भाषा टीका जैसे वार्तामाला की चूडामणि टीका अन्तरात्मा को आप्यायित करने वाली है। एक विश्लेषक ने भूरिशः प्रशंसा के स्वरों में क्या ही यथार्थ कहा है-

तेषां मणीनां नवमं कृतं ते चूड़ामणीनां तिलकं समीक्ष्य।
आप्यायितान्तः करणास्महृष्टा योगात्त-विद्या न हि वर्णनीया।।
श्रीमल्लोकाचार्य स्वामी जी के सारतम शास्त्र श्रीवचनभूषण की चिन्तामणि टीका में मल्लिनाथ की सी टीकाकारिणी प्रतिभा का दिग्दर्शन, श्रीयामुनाचार्य प्रणीत गीतार्थ-संग्रह की भावप्रकाशिका टीका में श्री सम्प्रदाय निष्ठ अनुसन्धाता की सूक्ष्म दृष्टि, वरदावल्लभ स्तोत्रम् एवं आलवन्दार स्तोत्रम् की भावप्रकाशिका टीका में भावभरी दृष्टि, श्रीसूक्तम्, पुरुषसूक्तम् और अर्थपञ्चकम् की मर्मबोधिनी भाषा-व्याख्या में व्यास शैली का समृद्ध उपयोग, पुनश्च टीका ग्रन्थों में विपुल प्रमाण ग्रन्थों से पग-पग पर अभिव्यक्त अर्थ का सत्यापन-केवल विद्वत्ता ही नहीं, विचित्र बुद्धिमत्ता का भी परिचायक है कि ऐसी पुष्ट प्रमाणिक व्याख्या पर कलम उठाने के पूर्व दुराग्रही चिन्तक सौ सौ बार सोचने को विवश हो जाय। शास्त्रों में गहन पैठ ने भक्त-मानस-सरोवर-मराल श्री स्वामी जी को महा शास्त्रार्थी रूप भी दे दिया जिनके सिंहनाद से महामहोपाध्याय श्री गोविन्द शास्त्री, पं. श्री हरेराम शास्त्री, पं. श्री कमलाकर शास्त्री, श्री अखिलानन्द जी सरस्वती, श्री निर्द्वन्द्वाश्रम जी, एवं श्री मूनीश्वरानन्द जी और फिर अहमर्थ विवेक के विपक्ष में खड़ा एक बहुत बड़ा विद्वत् समाज भी स्तम्भित रह गया। व्यावहरिक दृष्टि से भी जीवन में विद्या प्राप्ति के महत्व को स्वीकार करते हुये इन्होंने एक दर्जन से अधिक उच्च विद्यालयों एवं महाविद्यालयों (संस्कृत शिक्षा एवं आधुनिक शिक्षा दोनों के संस्थान) को स्थापित कराया जो सुचारु रूप से आज चल रहे हैं।

जगदाचार्य रूप

आचार्य की पूर्णता ज्ञान और आचरण प्राप्त करना और करवाना-ऐसे उभयान्वय में है, जिसकी सम्पूर्ण पूर्णता स्वामी जी में थी। लक्षाधिक मानवों को वैष्णवी दीक्षा दे आपने उन्हें सत्पथ पर लगाया। आचार्यवर्य ने अखिल आर्यावर्त की पदयात्रा की थी और १०८ दिव्य देशों में विशेष रूप से दर्शन और अर्चन किये। इनमें विभिन्न दिव्यसूरियों एवं तपस्वी भक्तों द्वारा भगवान् का साक्षात्कार और मंगलाशासन किया गया है। श्रीजगन्नाथपुरी के एक सिद्ध सन्त के अनुनय को स्वीकार कर ही श्रीमान् ने जनता को शिष्य बनाना प्रारम्भ किया। कालन्तर में सुशिष्यों की संख्या लक्षाधिक हो गयी। श्री चैतन्य महाप्रभु की भाँति जिधर से जगदाचार्य स्वामी जी गुजरते वहाँ मानों भक्ति की लहर छा जाती, शिष्य बनने की अदम्य उत्कण्ठा पनप उठती।
श्री सम्प्रदाय के विवर्द्धन के लिये श्रीशेषावतार वरवर मुनीन्द्र स्वामी जी ने ८ दिग्गज अर्थात् ८ गद्दियों की स्थापना की थी-श्री वादिभीकरमहागुरुदेवराज, श्रीभट्ट नाथ वरवेङ्कटयोगिवर्य।
रामानुजार्यवरदार्यनतार्तिहारि, श्रीवानशैलमुनयोऽष्टदिशां गजास्ते।।
प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्री त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज ने भी श्री सम्प्रदाय के प्रचार प्रसार को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिये अष्ट दिग्गजों की स्थापना की जिनका विवरण प्रस्तुत है-

१. श्रीमद् ज.गु.रा. श्रीरामनारायणाचार्य त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज, कोसलेश सदन, अयोध्या (उ.प्र.)
२. श्रीपति पीठ के सप्तम आचार्य ज.गु.रा. श्री देवनायकाचार्य त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज, श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, बक्सर।
३. श्रीमहन्त रामाचार्य जी महाराज, राजगृह, नालन्दा।
४. श्रीस्वामी रामप्पन्नाचार्यजी महाराज, दाउदनगर, गया।
५. श्री स्वामी नारदजी महाराज, कच्छवा (राहतास)

६. श्री स्वामी रामानन्द परमहंस जी, बिहटा जंगल (शाहजहाँपुर)
७. श्री स्वामी गोविन्दाचार्य जी परमहंस, शकरपुर (रोहतास)
८. श्री स्वामी राघवेन्द्राचार्य जीयर महाराज, देवघाट, गया।

वै.वा. ज.गु.रा. वेदान्तमार्तणड यतीन्द्र स्वामी रामनारायणाचार्य जी महाराज ने श्री स्वामी जी महाराज की यश:श्री को अपने जीवन काल में विवर्द्धित करने का भरपूर यत्न किया। महाकुम्भों के अवसर पर कीर्तिमान स्थापित करने वाले बृहद् बाड़े का अयोजन, विद्वत् संगोष्ठी का समायोजन, भगवद् रामानुजाचार्य की दिव्याज्ञा का सर्वत्र प्रचार प्रसार, दीन सदाचारी छात्रों के विद्यार्जन में खुलकर मदद, सम्प्रदाय विषयक गूढ़ निबन्धों का प्रणयन एवं ग्रन्थ प्रकाशन, अयोध्या कोसलेश सदन का द्रुत विकास इत्यादि आपकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। श्री स्वामी जी महाराज के मानों आप हृदय थे। आपकी कीर्त्ति-ध्वजा को आचार्य कृपा वशात् सम्प्रति ज. गु. रा. स्वा. रामनारायणाचार्य जी महाराज के समान ही प्रात: स्मरणीय अस्मदाचार्य श्री स्वामी जी महाराज के कृपापात्र थे स्वामी श्री राघवेन्द्राचार्य जीयर जी महाराज, देवघाट, गया। आप सरलता और सहजता की मूर्त्ति थे। आपने शाहजहाँपुर एवं उ.प्र. के पश्चिम भाग में वैष्णवता का पूरा प्रचार किया। सम्प्रति इनके सुयोग्य शिष्य ज. गु. रा. स्वा. राघवाचार्य जी महाराज अपने कृत्यों से आचार्य की कीर्त्ति को संवलित कर रहे हैं। एक अन्य दिग्गज दाउदनगर पीठाधीश्वर श्री स्वामी रामप्रपन्नाचार्य कीर्तन-कलानिधि जी वस्तुत: श्री स्वामी जी महाराज की सभाओं के विचित्र कलापी थे, जिनके कीर्तन की मधुर कूक भक्ति-वाटिका में आनन्द-लहरी भर देती थी। इस पीठ को सम्प्रति स्वा. मधुसूदनाचार्य जी महाराज सम्भाल रहे हैं। शंकरपुर के श्री स्वा. गोविन्दाचार्य परमहंस जी के वैकुण्ठ वास से रिक्त दिग्गज का पद ज. गु. रा. स्वा. श्रीनारायणाचार्य त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज, श्रीलक्ष्मीनृसिंह मन्दिर, काशी को मिल गया है और आप आज इस भावना से सतत उत्प्रेरित और उल्लसित हैं कि आचार्यपीठ का भव्य निर्माण हो। वस्तुत: पूज्यपाद के सनातन धर्मरूपी अमृतकलश इन दिग्गजों के कन्धों पर रखा है, और आर्यजाति को निश्चय ही इनकी साधना से सुधा सीकर की उपलब्धि नितान्तरूप में होती रहेगी।

पुनश्च श्री स्वामी जी महाराज ने भागवतों के हित में मान्य सन्तों एवं विद्वद्वरेण्य महापुरुषों को जगद्गुरु रामानुजाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है, जिनका अधोलिखित उल्लेख है-

१. ज. गु. रा. स्वा. श्री देवनायकाचार्य जी, श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, चरित्रवन, बक्सर।
२. ज. गु. रा. स्वा. श्री वासुदेवाचार्य विद्याभास्कर जी, कोसलेश सदन, अयोध्या।
३. ज. गु. रा. स्वा. श्री राजनारायणाचार्यजी, श्री लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर देवस्थानम्, देवरिया।
४. ज. गु. रा. स्वा. श्री रामचन्द्राचार्यजी पुष्करराज एवं श्री त्रिदण्डिदेव सेवाश्रम, बेहटा जंगल।
५. ज. गु. रा. स्वा. श्री राघवाचार्य जी, श्री रामानुज मठ, गया।
६. ज. गु. रा. स्वा. श्री नारायणाचार्य जी, श्री लक्ष्मीनृसिंह मन्दिर, काशी।
७. ज. गु. रा. स्वा. श्री लक्ष्मणाचार्य जी, श्री गजेन्द्रमोक्ष देवस्थानम्, हरिहर क्षेत्र (सोनपुर)
८. ज. गु. रा. स्वा. दीनबन्धु दीनानाथाचार्य जी, काशी।
९. ज. गु. रा. स्वा. पण्डितप्रवर डॉ. कैलासपति त्रिपाठी जी, काशी।
१०.ज. गु. रा. स्वा. श्री मधुसूदनाचार्य जी, दाउदनगर।

ये सारे सन्त एवं विद्याविभूषित विभूतियाँ धर्मोत्थान में संलग्न हैं। तथैव महन्तों की बड़ी टोली है। वीतरागियों

की लम्बी जमात है, शास्त्रार्थ निपुण महापण्डितों का समाज है जिन्हें मानों विकसित और सशक्त कर श्री स्वामी जी ने सच्चे देशिकेन्द्र की भूमिका निभायी है। उदाहरणार्थ मान्य महन्त वृन्द में श्रीराजेन्द्राचार्य स्वामी जी महाराज जैसे महात्मा वृन्द यज्ञादि पावन कृत्यों द्वारा श्रीसम्प्रदाय का अद्भुत् संवर्द्धन कर रहे हैं।

पार्षद ब्रह्मचारी गण

अब श्रीस्वामी जी महाराज के तपोमय जीवन में पार्षद के रूप में कैंकर्यपरायण ब्रह्मचारी गण की सेवा और साधना भी उल्लेखनीय है। शर्वरीनाथ का खगोल से कोई चित्र लेगा तो सुधाकर के प्रतिबिम्ब के साथ चमकते तारे भी तो रहेंगे। यह एक यथार्थ तथ्य है कि वै. वा. प्रथम चतुर्भुज स्वामी जी (कैथी) श्री मुक्तिनारायण त्रिदण्डी स्वामी जी, श्री अलकानन्द जी, दूसरे चतुर्भुज स्वामी जी के पअति आज भी जनमानस में अगाध श्रद्धा है। काषाय-कवचित श्री स्वामी जी महाराज और पीछे पीछे श्वेत वस्त्र धारी चतुर्भुज स्वामी जी महाराज को निहार कर ऐसा लगता था मानों सूर्य और चान्द की असम्भव जोड़ी हो-अगर सूर्य दृश्यमान फुफकार की तेज किरणें बिखेरते हों तो चन्द्रमा मन्द मुस्कान की शीतल किरण! हाय! यह जोड़ी कहाँ गयी!

ब्रह्मचारी-वृन्द की अगली कड़ी में हैं-श्रीपाद सेवक श्री सुदर्शनाचार्य स्वामी जी (सम्प्रति अध्यक्ष श्री विजयराघव मन्दिर, डेहरी), श्री कमलकान्त स्वामी जी, श्री लक्ष्मीप्रपन्न स्वामी जी (सम्प्रति, श्री लक्ष्मी प्रपन्न जीयर स्वामी जी) श्री सुन्दरराज स्वामी जी एवं सहयोगी तापस के रूप में श्री अच्युतप्रपन्न स्वामी जी एवं श्री श्यामसुन्दर स्वामी जी। श्रीपाद सेवक श्री सुदर्शनाचार्य स्वामी जी पर पूज्यपाद श्री स्वामी जी का स्नेह अगाध रूप से छाया रहा और इन्होने भी यज्ञादि के कर्मकाण्ड के भार का सर्वदा दिल से वहन किया। तीर्थ व्रतादि की वासना त्याग एकमात्र श्रीचरण को ही सर्वस्व समझ कैंकर्यरत रहे। तथैव, वयोवृद्ध होकर भी श्री कमलाकान्त स्वामी जी उच्चतम कैंकर्य साधना के प्रतिमान बने रहे। श्री लक्ष्मी प्रपन्न स्वामी जी ने, जो त्याग की प्रतिमूर्ति हैं, आचार्यदेव के पादपीठ को ही मणि-रत्न-पुञ्ज समझा, सेवा को अमर फल माना औ इनकी सफल जोड़ी के रूप में श्री सुन्दरराज स्वामी जी वयोवृद्ध पूज्यपाद गुरुदेव की सेवा में मौन बालक सा लगे रहे। ऐसी ही प्रशंसनीय सहज प्रीति और सेवापरायणता भोले-भाले सन्त श्री अच्युत प्रपन्न स्वामी जी एवं श्री सुन्दरराज स्वामी जी की रही है। यह समस्त सन्त मण्डली परम पूज्य है। दिल की कामना है कि जन्म-जन्मान्तर में आचार्य कृपा वशात् श्री स्वामी जी महाराज के एतादृश पार्षदों की चरण धूलि मिलती रहे।

वस्तुत: पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज ने साधु-संन्यासी, सन्त-महात्माओं का अम्बार लगा दिया, जो जगदाचार्य के रूप में श्रीमान् के अवतार का परिणाम है। साथ ही गृहस्थों की भी अवर्णनीय आध्यात्मिक और कृपा -वृष्टि से आधिभौतिक तरक्की को सुलभ बना दिया; पर हाय! आज सब कुछ सूना सा हो गया। सूरज ढला। अन्धकार ही अन्धकार।

हा सूर्योऽस्तमित: तमोऽद्य निविडम्, भीमं नभोमण्डलम्। दिग्भ्रान्ता: पथिका: समस्तभुवनं, सम्यग्घनाच्छादितम्।
हा हा म्लानमुखी प्रकम्पिततनू: धीरा धरा क्रन्दति। विष्वक्सेन यतौ त्रिदण्डिनि वरे लीने परे ब्रह्मणि।।

समाधि-ग्रहण

नैनीजोर (भोजपुर) के चातुर्मास्य (सं. २०५५) के समय महाराज श्री का मंगलवपु रुग्ण हुआ और इसके पूर्व ही पूज्यपाद ने सन्तों से कह दिया था-मेरे कार्य पूर्ण हो गये हैं। मन्द मुस्कान के साथ ही गीता की पंक्ति कही-
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। (गीता ३/२२)

भावुक भक्त आयु की कामना से अधीर थे। पूज्यपाद समझाते थे-शतायुर्वै पुरुष:-सो मैंने कभी का पूर्ण कर लिया। और ज्ञान वृद्ध महात्मा समझना चाहते थे-समाधि स्थल कहाँ हो? यहाँ पूज्य ज.गु.रा.यतीन्द्र स्वामी देवनायकाचार्य जी महाराज द्वारा पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज से किया गया अनुरोध उल्लेखनीय है। आपने देवरिया में श्री लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर देवस्थानम् में प्राण-प्रतिष्ठा महोत्सव के समय (वैशाख, २०५६) देशिकेन्द्र स्वामी जी से आग्रह किया- महाराज! श्रीमान् के सम्प्रदाय के दक्षिण भारतीय आचार्यगण की परम्परा रही है कि जबतक स्वस्थ रहे, शरीर सहयोगी रहा, घूम-घूम कर धर्म प्रचार करते थे। अधिक आयु हो जाने पर फिर श्रीरंगम् में निवास करते थे और वहीं समाधि ले लेते थे। श्रीमान् का श्रीरंगम् तो सिद्धाश्रम (बक्सर) ही है। आपक पूर्वाचार्यों ने (श्रीपति पीठाधीश्वर महात्मा वृन्द) भी यहीं शरीर त्याग किये हैं। श्रीमान् वहीं चलकर वास करें।

पूज्यपाद का उत्तर था-यह शरीर परिव्राजक का है। घूमने दो। अन्त में वहाँ मैं पहुँच जाउँगा।

अपने इस वचन को महाराज श्री ने पूर्ण किया और अन्तत: समाधि-ग्रहण से मात्र ९ दिन पूर्व यहाँ पहुँच गये। इसी महाभागा भूमि ने, जगदम्बा सीता को जैसे भूदेवी ने अपने अङ्क में रख लिया था-अपने लाड़ले को गोद में छिपा लिया। परमपावनी गंगा जी के दक्षिण तट पर श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर एवं वैकुण्ठनाथ दिव्य देश-दोनों के बीच नैऋत्य कोण पर तुलसी-बाग में पुष्पाच्छादित पर्णकुटी में दिनाङ्क २-१२-१९९९ मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष दशमी गुरुवार को पूर्वाह्न में प्रणवोच्चारण सहित परमाचार्य का स्मरण करते हुये मुनीन्द्र श्री त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज ने भगवान् श्रीमन्नारायण के नित्य कैंकर्य के लिये ऐहिक लीला का संवरण कर लिया।

रसेषु व्योमनयने विक्रमे मार्गशीर्षके। उत्तराफाल्गुनीभेऽथ दशम्यामसिते गुरौ।।
नन्दनेऽब्दे त्रिदण्डि श्रीविष्वक्सेनो महामुनि:। योगधारणया दिव्यं स्वाचार्य पदमन्वगात्।।

महायात्रा

शोक का सागर उमड़ उठा-अगणित वैष्णवा: छिन्नमूलवृक्षा इव निपत्य रुरुदु:। दिनाङ्क ३-१२-१९९९ को पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज के श्री विग्रह को गुरु-परम्परा-पाठ, मन्त्र-रत्नानुसन्धान एवं पुरुष-सूक्त के पाठ के साथ स्नान करा कर, ऊर्ध्वपुण्ड्र, माल्यादि से विभूषित कर श्री वैष्णवी द्वारा मुसल से तत्क्षण चूर्णित हरिद्राचूर्ण को मस्तक पर अभिषिक्त कर, पुष्प-विमान में आरूढ़ करा हरिनाम-संकीर्तन पूर्वक श्री लक्ष्मीनारायण वीथि, श्री वैकुण्ठनाथ-सन्निधि वीथी एवं सिद्धाश्रम के देवायतनों तक परिभ्रमण कराया गया। विमान पुन: तुलसी बाग में लाया गया। शंख, काहली आदि वाद्यों की ध्वनि से दिशायें गूँजती थीं। तुलसी बाग के मध्य में त्रिदण्ड के बराबर विस्तार वाला देवयजन खना गया था। उस गर्त में व्याहृतियों के द्वावरा लवण छींटकर कुश बिछा दिया गया। विष्णोहव्यं रक्षस्व-यह कह कर शरीर को कुण्ड में रख दिया गया। इदं विष्णुर्विचक्रमे-इस मन्त्र से दक्षिण हस्त में त्रिदण्ड और यस्यपारे.. इस मन्त्र से बायें हाथ में शिक्य रख दिया गया। सावित्री मन्त्र से पेट के पास भिक्षापात्र और भूमि श्वभ्रे-इस मन्त्र से गुह्येन्द्रिय के पास कमण्डलु रख दिया गया। पुरुष-सूक्त का पाठ करते हुये सेन्धा नमकसे गर्त को परिपूर्ण कर दिया गया।समाधि ग्रहण कराते समय करीब २५ हजार श्रद्धालुओं की भीड़ थी।अगणित भक्त तड़प-तड़प कर बिलख रहे थे, मानों महावज्रपात ने भक्तों की अमराई उजाड़ दी। समाधि-स्थल पर बाद में पधारे भारत के पूर्व प्रधानमन्त्री श्री चन्द्रशेखर जी का मर्मभरा भावोद्रेक था-अब हमें ऐसा सन्त नहीं मिलेगा। तत्पश्चात् बक्सर में सन्तों की महाकुम्भ सी भीड़ उमड़ आयी। पूज्यपाद अनन्तश्रीमण्डित श्री काञ्ची प्रतिवादि-भयङ्कर मठाधीश्वर ज.गु. रा. स्वा. श्रीनिवासाचार्य, गादीस्वामी महाराज की अध्यक्षता में श्रीराजगोपालाचार्य

त्यागी जी महाराज (ज. गु. रा. यतीन्द्र स्वामी देवनायकाचार्य जी के अतिवृद्ध होने के चलते) का श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर के पीठाधीश के रूप में पट्टाभिषेक हुआ, तीन-तीन महायज्ञों श्री लक्ष्मीनारायण महायज्ञ, श्रीमद्भागवत सप्ताह महायज्ञ, एवं श्रीवैकुण्ठोत्सव महायज्ञ का समायोजन हुआ, लाखों से अधिक भागवतों का तदीयाराधन हुआ, पर हृदय की हूक तो वैसी की वैसी ही बनी है। हे श्रीमन्नारायण! श्रीचरणों की धूलि में पहुँचा देते!

परमपद प्राप्ति कुण्डली

श्रीगुरुचरण मिश्र, पूर्व प्रधानाचार्य शतानन्द गिरि हरिहर संस्कृत महाविद्यालय, बोधगया द्वारा-
वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्य उभय वेदान्त प्रवर्तकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य परमहंस परिव्राजकाार्यानन्तश्रीविभूषित विष्वक्सेनाचार्य स्वामिन् परे श्रीवैकुण्ठ लोके श्रीमन्नारायणस्य नित्य कैङ्कर्य प्राप्तिसूचक-परम पद पत्रम्-
नन्दन नाम्नि संवत्सरे २०५६ विक्रमाब्दे १९२१ शकाब्दे १९९९ ख्रीष्टाब्दे मार्गशीर्षमासे कृष्ण पक्षे दशम्यां तिथौ बृहस्पतिवासरे ख्रिष्टाब्दीय दिसम्बर मासस्य द्वितीय दिने प्रातः इष्ट काल दण्ड ५-५८ (घं. मि ९ वादने) उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रे यतीन्द्र श्रीविष्वक्सेनाचार्य स्वामी श्रीमन्नाायणस्य चणारविन्दे समाधिस्थोऽभूत्। औदयिक स्पष्ट सूर्य ७ -१५-८-४८, परमपदप्राप्ति लग्नम् रा. ८-१४-४९-१९ बक्सर सूर्योदयकालिक इष्टकाल। निर्याणकाले उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रस्य भोग द. ६०-३० भयात द. ५७-३५ सूर्यमहादशायां शुक्रस्य शेषान्तर्दशा मास २ दिन ३।

परमपदप्राप्ति कुण्डली
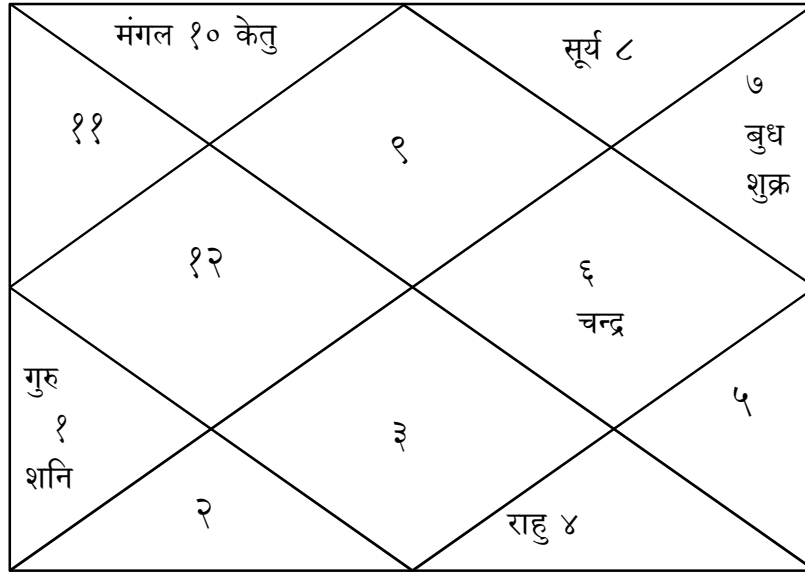
परमपदकालिक स्पष्टग्रहाः

ग्रह	सूर्यः	चन्दः	कुजः	बुधः	गुरुः(वक्री)	शुक्रः	शनिः	राहुः	केतुः
राशि	७	५	९	६	०	६	०	३	९
अंश	१५	३	१५	२४	३	२	१६	१२	१२
कला	१३	९	५०	१८	७	३५	१७	४१	४१
विकला	५५	४	४३	१८	४४	१७	९	२०	२०
गति	६१	७५६	४४	५४	३	६८	३	३	३
विगति	३	०	४३	२४	१४	४९	५०	११	११

१. सूर्य का द्रेष्काणपति बृहस्पति है। चन्द्रमा का द्रेष्काणपति बुध है, अतः देवाधिलोक से आने का योग है।

श्री वैकुण्ठ लोक से नित्य जीवात्मा का भागवत धर्म को सुदृढ़ करने हेतु मृत्यु लोक में आने का पुनः श्री वैकुण्ठ लोक के नित्य कैङ्कर्य हेतु पधारने के ये निम्नाङ्कित योग हैं-

१. निर्याण (परमपदप्राप्ति) लग्न से षष्ठ वृष लग्न का स्वामी शुक्र है। सप्तमेश बुध है। अष्टमेश चन्द्र है। तीनों शुभ ग्रह हैं।
२. चन्द्रमा का द्रेष्काणेश बुध है। सूर्य का द्रेष्काणेश बृहस्पति है। इस योग से देवाधिलोक (श्रीवैकुण्ठ) से नित्य जीवात्मा का आने का योग है।
३. पुनः इस योग से देवाधिलोक (श्रीवैकुण्ठ) में पधारने का योग है।
४. निर्याण लग्न धनु है, उस का स्वामी बृहस्पति है, यहाँ श्री वैकुण्ठ में जाने का योग है।
५. निर्याण लग्न के चतुर्थ भाव निर्याण के उपरान्त (परमानन्द) का सूचक है। पञ्चम भाव परम ज्ञान भाव है। इन दोनों भावों की सन्धि में बृहस्पति है। अतः परम ज्ञान से पूर्ण परमानन्द पाने का मोक्ष योग है।
६. निर्याणकाल में सूर्य की महादशा में शुक्र की अन्तर्दशा है। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र है, जिसका स्वामी अर्यमा (सूर्य) है-सूर्यार्यमादित्याः (अमरकोष)। अर्चिरादि मार्ग के अधिष्ठाता सूर्य हैं। इनकी सहायता (नेतृत्व) में शुक्र शुभग्रह की अन्तर्दशा में मोक्ष योग है। नादचक्रे स्थितः सूर्यः।

श्री त्रिदण्डि स्वामी अष्टोत्तरशतनामावलिः

ॐ विष्वक्सेनाय नमः ॐ यतिश्रेष्ठाय नमः ॐ श्रीवैष्णवकुलांशुमते नमः
ॐ नारायणात्मजश्रेष्ठाय नमः ॐ इन्दिरानन्दवर्द्धनाय नमः ॐ पयोव्रतिने नमः
ॐ समाधिस्थाय नमः ॐ काषायाम्बरधारकाय नमः ॐ जितेन्द्रियाय नमः
ॐ सुवाग्मिने नमः ॐ चतुर्वेदिकुलविधवे नमः ॐ श्रीपतिपीठषष्ठेशाय नमः
ॐ कारूषदेशसम्भवाय नमः ॐ शताधिकमखाधीशाय नमः ॐ त्रिदण्डिस्वामिने नमः
ॐ जगद्गुरवे नमः ॐ शठकोपकृपातृप्ताय नमः ॐ अनन्ताचार्यचरणाश्रिताय नमः
ॐ श्रीसम्प्रदायधुर्वोढ्रे नमः ॐ श्रीरामकृष्णसुसेवकाय नमः ॐ श्रीरङ्गेशसुभक्ताय नमः
ॐ वेणुगोपालपूजकाय नमः ॐ श्रीकृष्णार्यप्रियपात्रे नमः ॐ धर्मज्ञाय नमः
ॐ तत्त्वदर्शकाय नमः ॐ रामानुजकृपापात्राय नमः ॐ कलिकालुष्यहारकाय नमः
ॐ गीतार्थबोधकाय नमः ॐ चरमार्थप्रदायकाय नमः ॐ काञ्चिपीठेन्द्रसंलब्धछत्रचामरभूषिताय नमः
ॐ मोहमय्यां तुरीयाश्रमधारकाय नमः ॐ महौजसे नमः ॐ त्रिकालज्ञाय नमः
ॐ सन्मनोरथपूरकाय नमः ॐ प्रतिवादिभयङ्कर्त्रे नमः ॐ भाष्यार्थसुकारकाय नमः
ॐ श्रोत्रियब्रह्मसन्निष्ठाय नमः ॐ नेत्यादिषट्क्रियाकराय नमः ॐ सिद्धेश्वराय नमः
ॐ सुशास्त्रज्ञाय नमः ॐ भक्तकुञ्जदिवाकराय नमः ॐ पद्मासनसमासीनाय नमः
ॐ ब्रह्मराक्षसमोचकाय नमः ॐ गंगाप्रवाहभेत्रे नमः ॐ सेव्याय नमः
ॐ सन्मार्गदर्शकायनमः ॐ यतीन्द्रपूजिताय नमः ॐ पञ्चसंस्काराय नमः
ॐ आर्तजनपरित्रात्रे नमः ॐ वैकुण्ठसेनाधिपतये नमः ॐ सुदर्शनोदयनारायणवन्दिताय नमः
ॐ सिद्धाश्रमेशलीनाय नमः ॐ चतुर्भुरहर्षदाय नमः ॐ वार्षभश्रुतिमार्तण्डाय नमः

ॐ पर्णशालाधिवासकाय नमः ॐ विष्णुचित्तप्रतिष्ठात्रे नमः ॐ सर्वतन्त्रस्वतन्त्राय नमः

ॐ लक्षाधिकसुशिष्याढ्याय नमः ॐ लोकार्योक्तिविकासकाय नमः ॐ ईशादिदशोपनिषद्भाष्यकर्त्रे नमः

ॐ अमोघवरदात्रे नमः ॐ यामुनार्योक्तिवर्द्धकाय नमः ॐ त्रिदण्डिदेवग्रन्थमालानिर्मात्रे नमः

ॐ स्रोतस्विनीतटावासिने नमः ॐ विशिष्टाद्वैतवर्द्धकाय नमः ॐ अद्वैतमतविच्छेत्रे नमः

ॐ वेदमार्गसुपोषकाय नमः ॐ अखिलार्यावर्त्तपदचारिणे नमः ॐ सुधीप्रियाय नमः

ॐ शान्तवपुषे नमः ॐ तेजस्विने नमः ॐ शोकतापविनाशाय नमः

ॐ सत्सङ्गामृतवर्षिणे नमः ॐ पुष्पमालाप्रधारकाय नमः ॐ चातुर्मास्यव्रतचारिणे नमः

ॐ व्याघ्रसरोयशःप्रदाय नमः ॐ श्रीवाग्भूषणमर्मज्ञाय नमः ॐ फणिफणास्वलङ्कृताय नमः

ॐ भक्तकल्पद्रुमाय नमः ॐ ऊर्ध्वपुण्ड्रसुशोभिताय नमः ॐ वार्तामालार्थतत्त्वज्ञाय नमः

ॐ अर्थपञ्चकबोधकाय नमः ॐ पापापहाय नमः ॐ वेदज्ञाय नमः

ॐ मायामानुषरूपकाय नमः ॐ समस्तदिव्यसूरिजन्मभूतलदर्शकाय नमः ॐ त्रिदण्डिदेवसेवाश्रमस्थापकाय नमः

ॐ कल्याणप्रदाय नमः ॐ गयायां रामानुजसमर्चकाय नमः ॐ अनन्तशताब्द्यध्यक्षपदसुशोभिताय नमः

ॐ यतीन्द्रधर्ममार्तण्डस्रष्ट्रे नमः ॐ मुक्तिनारायणसायुज्यमुक्तिप्रदायिने नमः ॐ हरेरामहरेकृष्णनित्यकीर्त्तनकारकाय नमः

ॐ अयोध्याकोसलेशसदनेरामादिपूजकाय नमः ॐ वृन्दावनेमहाविद्यालयस्थापकाय नमः ॐ साधुसेवितपादाब्जाय नमः

ॐ सदाचार्यावतारकाय नमः ॐ श्रीभूदेवीविशिष्टनारायणसमर्चकाय नमः ॐ हरिद्वारसप्तसरोवराश्रमकारकाय नमः

ॐ अष्टोत्तरशतदिव्यदेशमंगलकर्त्रे नमः ॐ चतुष्फलप्रदायकाय नमः ॐ विष्णुलोकप्रदायकाय नमः

ॐ विन्ध्योत्तराष्टदिग्गजप्रतिष्ठात्रे नमः ॐ अतिमानवाय नमः ॐ अहमर्थविवेकर्मित्रे नमः

ॐ शरत्पूर्णोत्सवानन्ददायकाय नमः ॐ भक्तवत्सलाय नमः ॐ गीताव्याख्यानमालाकारकाय नमः

।। इति श्रीत्रिदण्डिस्वामिनां प्रणवादिनमोऽन्ता अष्टोत्तरशतनामावलिः ।।

।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

।अथ श्री त्रिदण्डिस्वामिनां प्रपत्ति प्रारम्भः।

श्रीशाङ्घ्रि पङ्कज सुधामनु सानुरागं, काषायितं च सुमनोऽखिल सद्रसेभ्यः।
सुव्यञ्जयद्विधृतवस्त्र कषाय विष्वक्सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।१।।
भ्राजल्लाटवरसद्रचितोर्ध्वपुण्ड्रः शुभ्रोपवीतसुशिखायुतसुत्रिदण्डः।
यो वादिभीतिकृदनन्तगुरोः सुशिष्यः सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।२।।
सिद्धाश्रमे चरितनाम वनेऽभिषिक्तः, यः श्रीपतीतिविदिते महितेषु पीठे।
डी रामकृष्ण गुरुवर्य्य पदाब्जभृङ्गः, सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।३।।
यौ योजन स्थित सुगाङ्गजल प्रदेशा-वास्यार्णवश्रुति विदग्रज वंश चन्द्रौ।
मन्दाकिनी सरयुतीर्थ सुयज्ञारि, सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।४।।
गीर्वाणवाग्विभववर्द्धनदक्षविद्या-पीठेषुसंख्यवरजन्मविधायकौ यौ।
डी वेदमार्ग परिपुष्टि विधातृ विष्वक् सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।५।।
यो वा पयोव्रतमुदारतरं गृहीत्वा, अष्टोत्तरप्रशतदिव्य सुदेश सूष्टेः।
नारायणस्य वर मंगलकारि विष्वक् सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।६।।
नारायणेन रमया प्रथितं प्रपत्ति धर्मं विवर्धितुमुरीकृत विग्रहौ यौ।
नारायणात् पितुरथेन्दिरया सुमात्रा, सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।७।।
श्रीभाष्यकारवरवंशमहाप्रदीपौ, लोकार्यसूक्तिवरवर्षण वारिवाहौ।
श्रीमच्छठारिचरणाम्बुजराजहंस, सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।८।।
श्री स्तोत्ररत्नवरभावप्रकाशकारः चिन्तामणिं वचनभूषणकेऽर्पको यः।
योवार्थपञ्चकसुमर्मविबोधकारी, सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।९।।
चूड़ामणिं च विमलां सुविरच्य वार्ता-मालाविभूषणकरो सहितो महद्भिः।
अष्टाङ्गयोग सुसमाधि विधिज्ञ विष्वक् सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।१०।।
अर्चासमर्चन पुरस्सर वेदमार्ग-विप्लावन व्रतिगणस्य शिरः सुवज्रौ।
पाषण्डि दन्ति-कट भेदन सिंह विष्वक् सेनेशयोगिचरणौ शरणं प्रपद्ये।।११।।

।। इति प्रपत्ति समाप्ता।।

।। श्रीमद्वरवरमुनये नमः।।

।अथ श्री त्रिदण्डिस्वामिनां मंगलशासन प्रारम्भः।

मंगलं यतिवर्य्याय सेनेशप्रतिमूर्तये। वादिभीकरवंशाय विष्वक्सेनार्ययोगिने।।१।।
मंगलं रामकृष्णार्य कृपाप्तगुणराशये। श्रीशाङ्घ्रमुधज्ञाय विष्वक्सेनार्ययोगिने।।२।।
मंगलं वादिभीकरानन्तार्यकरुणावशात। लब्ध सर्वार्थ शास्त्राय विष्वक्सेनार्ययोगिने।।३।।
मंगलं गुरुवर्य्याय श्री सनातन वैदिकम्। धर्मं लोप्तुं प्रवृत्तानां शिरो वज्र वराङ्घ्रये।।४।।
यज्ञैः सुविततैर्लोके देवानां मोदकारिणे। विष्वक्सेन यतीन्द्राय नित्यश्रीर्नित्यमंगलम्।।५।।
योगसिद्ध्याद्गुतैः कार्यैर्लोकमंगलकारिणे। विष्वक्सेनाय मुनये नित्यश्रीर्नित्यमंगलम्।।६।।

रामानुजार्य करुणा पूर्णपात्राय योगिने। विष्वक्सेनाय मुनये नित्यश्रीर्नित्यमंगलम्।।७।।
पयोव्रतपवित्राय श्रीशमंगलकारिणे। विष्वक्सेनाय मुनये नित्यश्रीर्नित्यमंगलम्।।८।।
नित्यं सुविहिताचार प्रतिमाधवमूर्तये। विष्वक्सेनाय मुनये नित्यश्रीर्नित्यमंगलम्।।९।।
त्रयाख्यानैः शुभलेखैश्च श्रीभाष्यार्थ प्रवर्षिणे। विष्वक्सेनाय मुनये नित्यश्रीर्नित्यमंगलम्।।१०।।
लक्ष्मीप्रपन्न रचित स्तुति पुष्पार्चिताङ्घ्रये। विष्वक्सेनाय मुनये नित्यश्रीर्नित्यमंगलम्।।१०।।

।। इति मंगलशासनं समाप्तम्।।

। अथ त्रिदण्डि स्वामिनां सुप्रभात प्रारम्भः।

श्रीरामकृष्णगुरुपादसरोजभृङ्ग श्री वादिभीकृदनन्तगुरु प्रमोद।
रामानुजार्य मुखपङ्कजसूर्य विष्वक् सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।१।।
श्रीमत् सनातन सुनीति विवर्द्धनाय, वादान् विधूय कुमति व्रज सुप्रक्लृप्तान्।
उत्तिष्ठ जागृहि यतीन्द धुरीण विष्वक् सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।२।।
गअन्थान् द्विचन्द्रबहुलाँल्लिखितुं प्रभाते, लोकान् समान्समुपदेष्टुमतिप्रशस्तान्।
ङ्गी वेदमार्गमतिशस्ततरं विधातुं, सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।३।।
लोकार्यसूक्ति वरपङ्कज भास्करार्य श्री यामुनार्यवरसूक्तिविकासकार।
आचार्य सन्ततिसुवाक्य सदर्थकार, सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।४।।
आराधनं रचयितुं कमलासखस्य सम्यक्समाधिविधिना यतिपुङ्गवार्य।
उत्तिष्ठ योगपथ वैभव बोधकारिन्, सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।५।।
कौपीनयुग्म कटिवस्त्र कमण्डलूँश्च, श्रीदन्तकाष्ठमपि हे यतिराजवर्य्य।
पाणौ निधाय दिवसन्ति विशुद्धगात्राः, सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।६।।
शिष्योद्द्ययं सुविनतः परिगृह्य सौम्यः, श्री पादुके तव पदाब्जयुगे प्रयोक्तुम्।
द्वारि स्थितिं रचयते विनतार्तिहारिन्, सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।७।।
स्नातुं सुजह्नुतनयासलिलेषु शिष्यैः, विज्ञैस्तथा यतिवरैर्वरवैष्णवेन्द्रैः।
एकान्तिभिः परमभागवतैर्निषेव्य, सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।८।।
ब्राह्मे विबुध्य सुबुधाः गुरु सन्ततिं स्वां, सम्यक् प्रणम्य हरये नम इत्युदारम्।
उच्चार्य ते सुविमलं जयमुद्गिरन्ति, सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।९।।
श्रीकान्तधामनिलयो य इहास्ति देवः, श्रीमंगलार्तिकमिषेण विबोधमाप्ता।
सद् दृष्टिपात सुखमुत्तममाप्तुमञ्जः उत्तिष्ठ हे यतिगुरो तव सुप्रभातम्।।१०।।
प्रातः पठन्ति परितः परमप्रपन्ना, अष्टाक्षरप्रमुखमन्त्रगणान् सुदिव्यान्।
श्री वैष्णवास्तव पदाब्ज निविष्टभाराः, सेनेशयोगि भगवँस्तव सुप्रभातम्।।११।।

।। इति सुप्रभातं समाप्तम्।।

अनन्त श्री समलमङ्कृत भगवदनन्तपादीय पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज द्वारा चातुर्मास्य व्रत के अन्त में सम्पादित ७४ महायज्ञ

(यों महातपस्वी यज्ञावतार श्री स्वामी जी महाराज द्वारा करीब ३०० विशाल यज्ञ सम्पन्न कराये गये, पर यहाँ उनमें से केवल प्रतिवर्ष चातुर्मास्य व्रत की समाप्ति पर आयोजित महायज्ञों का विवरण प्रस्तुत है)-

क्रम संख्या यज्ञ का विवरण स्थान सन् सम्वत्

१. श्री प्राजापत्य यज्ञ (प्रथम चातुर्मास्य यज्ञ)श्री वेङ्कटेशदेवस्थानम् (फणसवाड़ी-बम्बई) १९२६ १९८३

२. श्री मारुति यज्ञ काँवर (वाराणसी) १९२७ १९८४

३. श्री यज्ञ सिन्हा (शाहाबाद) १९२८ १९८५

४. श्री विराट् विण्णु यज्ञ वाजितपुर (बलिया) १९२९ १९८६

५. श्री महानारायण यज्ञ खालिसपुर (गाजीपुर) १९३० १९८७

६. श्री महाविष्णु यज्ञ एकौना (शाहाबाद) १९३१ १९८८

७. श्री विष्णु महा यज्ञ पाण्डेयपुर (शाहाबाद) १९३२ १९८९

८. श्री विराट् विष्णुयज्ञ सिताबदियारा (छपरा) १९३३ १९९०

९. श्री महायज्ञ सोनबरसा (शाहाबाद) १९३४ १९९१

१०.श्री पुरुषोत्तममहायज्ञ बहोरनपुर (शाहाबाद) १९३५ १९९२

११.श्री महानारायण यज्ञ नगवाँ (बलिया) १९३६ १९९३

१२.श्री महानारायण यज्ञ सिन्हा (शाहाबाद) १९३७ १९९४

१३.श्री महाविष्णु यज्ञ जगन्नाथपुरी (ओड़िशा) १९३८ १९९५

१४.श्री महानारायण यज्ञ पंढरपुर (शोलापुर) १९३९ १९९६

१५.श्री महारुद्र यज्ञ बहुवरा (बलिया) १९४० १९९७

१६.श्री राधाकृष्ण महा यज्ञ निसनपुरा (पटना) १९४१ १९९८

१७.श्री विष्णु महा यज्ञ वाजितपुर (बलिया) १९४२ १९९९

१८.श्री विराट् विष्णु महा यज्ञ नेकनामटोला (शाहाबाद) १९४३ २०००

१९.श्री महालक्ष्मी यज्ञ डाचाबार (पलामू) १९४४ २००१

२०.श्री महानारायण यज्ञ छपरा (छपरा) १९४५ २००२

२१.श्री ब्रह्मेश्वर यज्ञ बलुआँ, गायघाट (शाहाबाद) १९४६ २००३

२२.श्री महालक्ष्मी यज्ञ दाउदनगर (गया) १९४७ २००४

२३.श्री महानारायण यज्ञ बरुँआ त्रिलोकचक (छपरा) १९४८ २००५

२४.श्री महानारायण यज्ञ अतिमीगंज (शाहाबाद) १९४९ २००६

२५.श्री लक्ष्मीनारायण यज्ञ महुआर (शाहाबाद) १९५० २००७

२६.श्री महालक्ष्मी यज्ञ धनडीहाँ (शाहाबाद) १९५१ २००८

२७.श्री महालक्ष्मी यज्ञ हल्दी (शाहाबाद) १९५२ २००९

२८.श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ ज्ञानपुर सिमरिया (शाहाबाद) १९५३ २०१०

२९. श्री महालक्ष्मी यज्ञ मगराँव (शाहाबाद) १९५४ २०११
३०. श्री महानारायण यज्ञ नैनीजोर (शाहाबाद) १९५५ २०१२
३१. श्री महालक्ष्मी यज्ञ एकौना (शाहाबाद) १९५६ २०१३
३२. श्री लक्ष्मीनारायण यज्ञ अन्छा (गया) १९५७ २०१४
३३. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ पन्सा, वरडीहाँ (पलामू) १९५८ २०१५
३४. श्री महालक्ष्मी यज्ञ काँवर (वाराणसी) १९५९ २०१६
३५. श्री अतिविष्णुमहा यज्ञ खलपुरा (छपरा) १९६० २०१७
३६. श्री महानारायण यज्ञ शिवदशा वर्थरा (वाराणसी) १९६१ २०१८
३७. श्री महालक्ष्मी यज्ञ बहोरनपुर (शाहाबाद) १९६२ २०१९
३८. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ हींगुतरगढ़ बूढ़ेपुर (वाराणसी) १९६३ २०२०
३९. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ लबदना (गया) १९६४ २०२१
४०. श्री लक्ष्मीनारायण महायज्ञ विन्दौल (पटना) १९६५ २०२२
४१. श्री विराट् लक्ष्मीनारायण महायज्ञ महुवारी (वाराणसी) १९६६ २०२३
४२. श्री विराट् लक्ष्मीनारायण महायज्ञ टड़वाँ (शाहाबाद) १९६७ २०२४
४३. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ चिलहर, डेढुआँ (शाहाबाद) १९६८ २०२५
४४. श्री महालक्ष्मी यज्ञ परनापुर-वर्थरा (वाराणसी) १९६९ २०२६
४५. श्री महालक्ष्मी नारायण यज्ञ डेहरी (शाहाबाद) १९७० २०२७
४६. श्री महालक्ष्मी नारायण यज्ञ रानीदेवा (पलामू) १९७१ २०२८
४७. श्री महालक्ष्मी नारायण यज्ञ वीसूपुर (वाराणसी) १९७२ २०२९
४८. श्री लक्ष्मीनारायण महायज्ञ बबुरा (शाहाबाद) १९७३ २०३०
४९. श्री लक्ष्मीनारायण महायज्ञ रामपुर (पलामू) १९७४ २०३१
५०. श्री लक्ष्मीनारायण महायज्ञ नवीनगर (गया) १९७५ २०३२
५१. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ सोनबरसा (शाहाबाद) १९७६ २०३३
५२. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ पकड़ी (वाराणसी) १९७७ २०३४
५३. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ बहुवरा (बलिया) १९७८ २०३५
५४. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ गोपीगंज बिहरोजपुर १९७९ २०३६
५५. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ ईश्वरपुरा (शाहाबाद) १९८० २०३७
५६. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ बलुआँ घाट (काशी) १९८१ २०३८
५७. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ नेकनेमटोल (भोजपुर) १९८२ २०३९
५८. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ लोहासिंह का टोला, सिताबदियारा (सारण) १९८३ २०४०
५९. श्री महाविष्णु यज्ञ धनडीहाँ (शाहाबाद) १९८४ २०४१
६०. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ महदेवाँ (रोहतास) १९८५ २०४२
६१. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ बबुरा (भोजपुर) १९८६ २०४३

६२. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ सहारविहरा (पलामू) १९८७ २०४४

६३. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ मगराँव (रोहतास) १९८८ २०४५

६४. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ छितौनी (वाराणसी) १९८९ २०४६

६५. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ ओझापट्टी सिमरियाँ (भोजपुर) १९९० २०४७

६६. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ चन्दाभरियार (बक्सर) १९९१ २०४८

६७. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ सहेपुर (वाराणसी) १९९२ २०४९

६८. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ जतपुरा (पलामू) १९९३ २०५०

६९. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ सलेमपुर (भोजपुर) १९९४ २०५१

७०. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ गोपालपुर वर्थरा (वाराणसी) १९९५ २०५२

७१. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ लच्छूटोला सुरेमनपुर (भोजपुर) १९९६ २०५३

७२. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ जबहिं (बलिया) १९९७ २०५४

७३. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ नैनीजोर (भोजपुर) १९९८ २०५५

७४. श्री महालक्ष्मीनारायण यज्ञ बीसूपुर (वाराणसी) १९९९ २०५६

प्रज्ञा-प्रभाकर प्रातः स्मरणीय श्री स्वामी जी महाराज द्वारा प्रणीत ग्रन्थ-रत्न

(श्री त्रिदण्डिदेव ग्रन्थमाला के विविध प्रसून)

१. अथ श्री गुरु परम्परा २. श्री अनन्ताचार्य प्रपत्तिः ३. श्री अनन्ताचार्य मंगलाशासनम्
४. श्री अनन्ताचार्य सुप्रभातम् ५. श्री लक्ष्मीनारायण प्रपत्तिः ६. श्री लक्ष्मीनारायण मंगलाशासनम्
७. श्री लक्ष्मीनारायण सुप्रभातम् ८. यतीन्द्र धर्ममार्तण्ड ९. वैदिक योग संग्रह १०. वैदिक मूर्तिपूजादर्श
११. वैदिक श्राद्ध तर्पण १२. शास्त्रार्थ दीपिका १३. आत्मतत्त्व मीमांसा १४. आचार्य शतकम्
१५. गुरु परम्परा भाषा १६. यतीन्द्र प्रवण प्रभाव १७. चक्राब्ज मण्डल चित्र १८. विष्वक्सेनपूजाप्रकाश
१९. पञ्चसंस्कार पद्धति २०. आत्म-मीमांसा २१. स्तोत्र-रत्नागारी २२. सिद्धाश्रम माहात्म्य २३. अहमर्थ विवेक
२४. पूजा विधि २५. कण्टकोद्धार २६. पुत्रेष्टि याग विधि २७. गीतार्थ संग्रह-भावप्रकाशिका टीका
२८. पुरुष सूक्तम्-मर्मबोधिनी टीका २९. श्रीसूक्तम्-मर्मबोधिनी टीका ३०. मुकुन्दमाला की व्याख्या
३१. क्रियाकैरव चन्द्रिका ३२. श्रीवैष्णवकृत्यदर्पण, ३३. पञ्चाचार्य प्रतिवादिभयंकर जीवन चरित्र
३४. आलवन्दार स्तोत्र की भावप्रकाशिका टीका, ३६ वरदवल्लभ स्तोत्र की भावप्रकाशिका टीका
३६. अर्थ पञ्चक की मर्मबोधिनी व्याख्या, ३७ श्रीवचनभूषणम् की चिन्तमणि टीका
३८. वार्तामाला की चूड़ामणि टीका, ३९. निर्द्वन्द्वमुभंगचपेटिका, ४०. तप्तचक्रांकन प्रकाश
४१. प्रपत्तिमुक्तावली की व्याख्या, ४२. वैयाकरण पारिजात, ४३. दक्षिण दिव्यदेश यात्रा विवरण
४४. श्रीस्वामिचरितामृत (१६ खण्डों में), ४५. ईशादिपञ्चोपनिषद् की गूढार्थ दीपिका
४६. माण्डलक्योपनिषत्त्रयी की गूढार्थ दीपिका, ४७. बृहदारण्यकोपनिषद् की गूढार्थ दीपिका
४८. छान्दोग्योपनिषद् की गूढार्थ दीपिका, ४९. गीता व्याख्यानमाला (६ खण्डों में)

इन बहुमूल्य ग्रन्थों में श्रीवचनभूषणम् की चिन्तामणि टीका के ४ संस्करण, वार्तामाला की चूडामणि टीका के ३ संस्करण, ईशादिदशोपनिषदों की गूडार्थदीपिकाओं के २-२ संस्करण और गीता व्याख्यान माला के ६ खण्डों में किसी के ३ किसी के ४ संस्करण हो चुके हैं। श्री स्वामिचरितामृत शिष्यों द्वारा है।

देवता प्रिय दिव्यदेव श्री स्वीमीजी महाराज द्वारा प्रतिष्ठापित देव-मन्दिर एवं विद्या केन्द्र
(दि्व्य देश)

१. श्री वैकुण्ठनाथ दिव्वदेश-सिद्धाश्रम, बक्सर (बिहार)
२. श्री गजेन्द्रमोक्ष देवस्थानम्-हरिहरक्षेत्र, सोनपुर (बिहार)
३. श्री लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर देवस्थानमञ्ज-देवरिया (उत्तर प्रदेश)

देवायतन

१. श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, बक्सर (पूर्व स्थापित मन्दिर का विकास एवं विस्तार)
२. श्री कोसलेश सदन-अयोध्या (उत्तर प्रदेश)
३. श्री रामानुजाचार्य मठ, गया (बिहार)
४. श्री नावार मठ, जगन्नाथपुरी (ओड़िशा)
५. श्री विजयाराघव मन्दिर, डेहरी-ऑन=सोन (बिहार)
६. श्री लक्ष्मी नृसिंह मन्दिर, काशी (उत्तर प्रदेश)
७. श्री वेङ्कटेश मन्दिर, पचरुखिया, राजगिरि (बिहार)
८. श्री राधाकृष्ण मन्दिर, वाणीपुर, पूर्णिया (बिहार)
९. श्री राम मन्दिर, मुहल्ला कटरा, छपरा (बिहार)
१०.श्री गोपाल मन्दिर, अमियावर, राहतास (बिहार)
११.श्री वेङ्कटेश मन्दिर, लातूर
१२.श्री राधाकृष्ण मन्दिर, राँची (बिहार)
१३.श्री वेणुगेपाल मन्दिर, दाउदनगर, औरङ्गाबाद (बिहार)
१४.श्री रघुनाथ मन्दिर, दाउदनगर, औरङ्गाबाद (बिहार)
१५.श्री कृष्ण मन्दिर,निमेज, भोजपुर (बिहार)
१६.श्री राधाकृष्ण मन्दिर, महुअरी, रोहतास (बिहार)
१७.श्री लक्षमीनारायण मन्दिर, शंकरपुर, रोहतास (बिहार)
१८.ड्री सीताराम मन्दिर, जम्होर, औरंगाबाद (बिहार)
१९.श्री जगन्नाथ मन्दिर, श्वेतगङ्गा पर, पुरी (ओड़िशा)
२०.श्री लक्ष्मी नृसिंह मन्दिर, प्रह्लाद घाट, काशी (उत्तर प्रदेश)
२१.श्री संकटमोचन मन्दिर, बहुवारा, बलिया (उत्तर प्रदेश)
२२.श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, देव औरंगाबाद (बिहार)
२३.श्री राधाकृष्ण मन्दिर, बिहटा जंगल, शाहजहाँपुर (उवर प्रदेश)
२४.श्री राम मन्दिर, सँकरी, गया।
२५.श्री लक्षमीनारायण मन्दिर-हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)
२६.श्री राम मन्दिर, पीपरडीह (बिहार)
२७.श्री वेङ्कटेश मन्दिर, भृगुक्षेत्र, बलिया (उत्तर प्रदेश)

२८.श्री श्यामसुन्दर मन्दिर, चन्दाभारी, आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश)
२९.श्री सीताराम मन्दिर, लाधास।
३०.श्री राम मन्दिर, काँवर, काशी (उत्तर प्रदेश)
३१.श्री महावीर मन्दिर, शिवपालपुर।
३२.श्री सीताराम मन्दिर, गइनी।
३३.श्री वेङ्कटेश मन्दिर, दधीचाश्रम, छपरा (बिहार)
३४.श्री जानकीरमण मन्दिर, नयाबाजार, चपरा (बिहार)
३५.श्री राधाकृष्ण मन्दिर, नरगदा, भोजपुर (बिहार)
३६.श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, ज्ञानगुदरी, वृन्दावन (उत्तर प्रदेश)
३७.श्री वीरराघव मन्दिर, टड़वाँ, रोहतास (बिहार)
३८.श्री राधाकृष्ण मन्दिर, कच्छला, बदायूँ (उत्तर प्रदेश)
३९.श्री त्रिदण्डिदेव सत्सङ्गाश्रम, डेहरी, रोहतास (बिहार)
४०.श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, महथू, औरङ्गाबाद (बिहार)
४१.श्री सीताराम मन्दिर, बड़की खड़ाँव, भोजपुर (बिहार)
४२.श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, लक्ष्मणपुर, भोजपुर (बिहार)
४३.श्री राम मन्दिर, तपोवन, नासिक।
४४.श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, अदरखपुर दियारा, भोजपुर।
४५.श्री पत्थरियाशाही नया मठ, पुरी (ओड़िशा)
४६.श्री सीताराम मन्दिर, गुरहा, बदायूँ (उत्तर प्रदेश)
४७.श्री सीताराम मन्दिर, हरिहरपुर, भोजपुर (बिहार)
४८.श्री महालक्ष्मी मन्दिर, काँवर, काशी (उत्तर प्रदेश)
४९.श्री महड़ौरी मन्दिर (विकास-विस्तार) काँवर, काशी।
५०.श्री राम मन्दिर, निमेज, भोजपुर (बिहार)
५१.श्री राधाकृष्ण मन्दिर, पाण्डेयपुर, भोजपुर (बिहार)
५२.श्री राम मन्दिर, भीमपट्टी, नैनीजोर, भोजपुर (बिहार)
५३.श्री राम मन्दिर, सोनबरसा, भोजपुर (बिहार)
५४.श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, कच्छवाँ, रोहतास (बिहार)
५५.श्री सीताराम मन्दिर, सलेमपुर, पलामू (बिहार)
५६.श्री हनूमान मन्दिर, चमरपुर, भोजपुर (बिहार)
५७.श्री वेङ्कटेश मन्दिर, चौरासी, रोहतास (बिहार)

उपर्युक्त दिव्यदेश एवं देवायतनों के अलावा पूज्यपाद ने प्रेरित कर बहुत से पुराने मन्दिरों एवं गोरक्षणी आदि का भी जीर्णोद्धार कराया। कुछ तपोनिष्ठ भावधनी महात्मवृन्द ने महाराजश्री के जीवनकाल में ही अर्चा-सन्निधि निर्मित करा श्रीमान् का अर्चा विग्रह स्थानित किया है। प्रसिद्ध तपस्वी श्रीखड़ेश्री जी महाराज ने जिन्हें उत्तर प्रदेश में गंगा

किनारे के भक्त खड़िया बाबा कहा करते हैं), श्री त्रिदण्डीस्वामीजी महाराज के अर्चाविग्रह की प्रतिष्ठा वर्षों पूर्व करायी है।

मुगलसराय से बलुआ घाट तक जानेवाली सड़क से सटे ही पुण्यभूमि महुआरी, कैलावल एवं विसोपुर के मध्य श्री खड़ेश्वरी जी महाराज द्चारा स्थापित विशाल देवालय है। इसमें एक तरफ श्रीसीताराम जी, श्री राधाकृष्ण जी, श्री हनूमान् जी एवं श्री दुर्गामाताजी की सन्निधियाँ हैं और इनसे लगे हुए श्री स्वामीजी महाराज की सन्निधि है, जिसमें महाराजश्री की अर्चामूर्ति प्रतिष्ठित है।

ज.गु.रा.श्री नारायणाचार्य त्रिदण्डी स्वामीजी महाराज ने भी श्रीलक्ष्मीनृसिंह मन्दिर में आचार्य-सन्निधि को निर्मित करा रजत सिंहासन पर श्री स्वामी जी महाराज के भव्य चित्र का पट्टाभिषेक करा एवं साथ-साथ श्रीपाद का सर्व विध कैङ्कर्य कराते हैं। सम्प्रति श्रीमान् का अतक प्रयास है कि पूज्यपाद अस्मदाचार्य श्री स्वामी जी महाराज की अवतार स्थली शिशराढ़ (जि. बक्सर) में आचार्यपीठ का निर्माण हो जाय। इस मन्दिर का निर्माण कार्य प्रारम्भ है।

शिशराढ़ में निर्माणाधीन स्मारक स्वरूप अचार्यपीठ से एक ओर जहाँ महाराजश्री के अवतरण की गाथा का उल्लेख होगा वहीं दूसरी ओर सिद्धाश्रम, (चरित्रवन) बक्सर में गंगा तट पर श्रीत्रिदण्डिदेवधाम में दक्षिणात्य शैली में निर्मित हो रहा समाधि मन्दिर सुदूर भविष्य तक आशा और आस्था का एक मणिदीप होगा। पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज के चरणाश्रित सर्वविध भक्तों-गृहस्थ एवं विरक्त सज्जनों की सहायता से, आचार्य कृपावशात् श्री चरणों में सर्वथा समर्पित श्रीलक्ष्मीप्रपन्न जीयर स्वामीजी की तपोमयी उपस्थिति में इस पावन धाम का निर्माण चल रहा है आर अम्बा सहित भगवान् श्री लक्ष्मीनारायण एवं वैकुण्ठनाथ जी से एवं पूर्वाचार्यों से साष्टाङ्ग प्रणिपात पुर:सर यह याचना है कि यह दिव्यधाम अलौकिक एवं अनुपम रूप से आज हमारे जैसे अनाथों का नाथद्वारा हो जाय।

प्रतिष्ठापित विद्या केन्द्र

१. श्री त्रिदण्डिदेव आवासीय संस्कृत महाविद्यालय, चत्रिवन, बक्सर।
२. श्री त्रिदण्डिदेव आवासीय संस्कृत उच्चमहाविद्यालय, चत्रिवन, बक्सर।
३. श्री ब्रह्मचर्याश्रम महाविद्यालय, ज्ञानगुदड़ी, वृन्दावन।
४. श्री त्रिदण्डिदेव संस्कृत महाविद्यालय, कोसलेश सदन, अयोध्या।
५. श्री त्रिदण्डिदेव आयुर्वेद महाविद्यालय, करजरा, गया।
६. श्री विष्णु विद्यालय, बन्धुछपरा, भोजपुर।
७. श्री रामकृष्ण विद्यालय, सिताबदियारा, छपरा।
८. श्री अनन्त विद्यालय, सिनहा घाट, आरा।
९. श्री रामानुज विद्यालय, काशी।
१०. श्री विक्षुणनाथ विद्यालय, बन्धुछपरा, भोजपुर।
११. श्री त्रिदण्डिदेव महाविद्यालय, पनमारी, इत्यादि।

भक्तेश भक्तप्रिय श्रीस्वामीजी महाराज के पावन चरित से सम्बन्धित कतिपय रचनाएँ

ग्रन्थ/रचना का नाम

१. अथ श्री त्रिदण्डि स्वामिनां प्रपत्ति: रचयिता-श्रीलक्ष्मीप्रपन्नाचार्य जी, बलिया।
२. अथ श्री त्रिदण्डि स्वामिनां मंगलाशासनम् रचयिता-श्रीलक्ष्मीप्रपन्नाचार्य जी, बलिया।

३. अथ श्री त्रिदण्डि स्वामिनां सुप्रभातम् रचयिता-श्रीलक्ष्मीप्रपन्नाचार्य जी, बलिया।

४. श्रीसेनेश गुरुचर्य्या रचयिता-श्रीलक्ष्मीप्रपन्नाचार्य जी, बलिया।

५. श्री स्वामिचरितामृतम् (प्रथम से षोडश खण्ड तक) पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज के कैङ्कर्य-निष्ठ ब्रह्मचारिवृन्द वै.वा.श्री चतुर्भुज स्वामी जी एवं श्रीपादसेवक श्री सुदर्शनाचार्य ब्रह्मचारी स्वामी जी की सत्प्रेरणा से विभिन्न यज्ञ समितियों द्वारा पं. श्रीरामप्रपन्नाचार्य शास्त्रीजी, श्री सिद्धेश्वर पाठक जी, एवं प्रो. सुदामा सिंह आदि के सम्पादकत्व में प्रकाशित।

६. श्रीस्वामिचरितमञ्जरी(संक्षिप्त जीवन वृत्त)-पं. डी सिद्धेश्वर पाठकजी, साहित्याचार्य, एम.ए. बी.टी.।

७. भजन संग्रह संकलयिता-श्रीपाद सेवक सुदर्शनाचार्य ब्रह्मचारी स्वामी जी।

८. श्री त्रिदण्डिदेव भजनामृत (श्री रामव्रत सिंह यादव, शिवधनी सिंह यादव, श्री परशुराम मिश्रजी, पं. श्री लक्ष्मण त्रिपाठी जी, श्री चक्रपाणिजी, श्री श्रीनाथजी, श्री सुदामा यादव जी (वाराणसी), एवं प्रो. सुदामा सिंह के भजनों का संग्रह संकलन कर्ता-श्रीगंगाविष्णु स्वामीजी (गदाधर रामानुज, श्री वैष्णव दास), श्री त्रिदण्डिदेव शान्तिवन, खिड़िकिया घाट, काशी, प्रकाशक-श्री भगीरथ यादव शास्त्री, पकड़ी, काशी।

९. अथ श्रीद्दिण्डिस्वामिनां प्रणवादिनमोन्ता अष्टोत्तरशतनामावली प्रो. सुदामा सिंह

१०. श्री त्रिदण्डिस्वामि सहस्रनाम स्तोत्रम् प्रो. सुदामा सिंह

११. अनन्त-सन्देश, श्री त्रिदण्डिस्वामी विशेषाङ्क सम्पादक-पं. केशवदेव शास्त्रीजी (वास्ते) मई, २०००, श्री रामानुजाब्द ९८४ (वर्ष-२८, अंक-१२) पं. आचार्य नरेश चन्द्र शर्मा नारायण जी।

।। श्रीमते रामानुजाय नमः ।।
श्रीमद्वरवरमुनये नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ।।

पुरोवाक्

वैदिक सिद्धान्तों के प्रस्थान-त्रय कहलानेवाले ग्रन्थों में 'श्रीभगवद्गीता' भी परिगणित है । 'भारत: पञ्चमो वेद:' ऐसी प्रसिद्धि को प्राप्त इतिहास में यह भगवद्गीता का अध्याय श्रेष्ठ माना गया है । वेद का अन्तिम भाग जैसे वेदान्त कहा जाता है वैसे पाँचवे वेद के नाम से प्रसिद्ध महाभारत का यह श्रेष्ठ अध्याय वेदान्त ही है । परब्रह्म के स्वरूप, रूप, गुण आदि का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने के कारण उसके समीपस्थ वेदान्त को उपनिषद् कहने का सिद्धान्त है । उसी प्रकार भगवद्गीता भी उपनिषद् कही जाती है । यद्यपि यह एक अनुभव ग्रन्थ है तथापि भगवत्-तत्त्व को विस्तृत कर उपनिषद् में वेदन, 'उपासन' आदि शब्दों से कहलाने वाली ब्रह्मविद्या को ही यहाँ भक्ति के नाम से प्रतिपादित किया गया है । अत: इसे भी उपनिषद् कहना उचित है । भगवन्मुखोद्गत होने से भ्रम, प्रमाद विप्रलिप्सा आदि से रहित होकर यह अत्यन्त श्रेष्ठ है । ऐसी गीतोपनिषद् पर दैनिक प्रवचन करना जगद्वन्दनीय भगवदनन्तपादीय श्रीमत्त्रिदण्डीस्वामी जी का नियम था । इनके श्रीमुखोद्गत सदर्थों को 'श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्यान- अमृतसरिता' के नाम से ग्रन्थ छपना उचित एवं अत्यन्त आवश्यक है । ऐसे ग्रन्थ से वैदिकों का विशेषकर श्रीवैष्णवों का महान् उपकार होगा । अत: इस ग्रन्थ का मुद्रण एवं प्रकाशन सम्पन्न हो, वैदिक लाभान्वित हों, यह प्रयत्न सफल हो - अव्याहतमहैश्वर्य श्रीकृष्णभगवच्चरणारविन्दों में ऐसी मेरी प्रार्थना है । इति ।

- ज० गु० रा० प्र० गादि श्रीनिवासाचार्य
श्रीप्रतिवादिभयंकरमठ, कांचीपुरम्
(तमिलनाडु)

।। श्रीमते रामानुजाय नमः ।।
।। श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ।।

भावोद्गार

अखिल जगन्नियन्ता सर्वेश्वर श्रीहरिने संसार के लोगों को पावन करने के लिए प्रस्थानत्रय श्रीमद्भगवद्गीता कहकर महान् उद्धार का कार्य किया है । यह भगवद्गीता संसार के भक्तिमय प्राणी के लिये जीवन एवं गति का आधार है । पूर्वाचार्यों ने इस भगवद्गीता का सत्सम्मत प्रचार एवं प्रसार किया है । उसी परम्परा को सुदृढ़ करते हुए हमारे पूज्य गुरुदेव अनन्तश्रीविभूषित विश्ववंद्य जगदाचार्य श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डीस्वामीजी महाराज ने श्रीमद्भगवद्गीता के महान् आह्लादक ज्ञान को अपनी व्याख्या के द्वारा उपस्थित किया है जो संसार के कलुषित जीवों के लिए तथैव मुमुक्षुओं के लिए औषधि का काम करेगा । गुणानुरूप ही इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता-व्याख्यामृतसरिता' है । तपोनिष्ठ दृढ़व्रती अस्मदाचार्य के पावन मुखारविन्द से प्रस्फुटित यह अमृतसरिता प्रभुकृपा से भगवत्-भागवत-आचार्यनिष्ठ मानवों के लिए मार्गदर्शक बने, साधना-संबल बने - यही हमारी प्रभु से कामना है ।

अनन्तश्रीविभूषित श्रीत्रिदण्डीस्वामीजीमहाराज
के शिष्य -
लक्ष्मीप्रपन्न जीयर स्वामी ।

।। श्रियै नमः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ।

नम्र-निवेदन

अनन्ताचार्यकृपया वेदान्तद्वयपारगम् ।
रामकृष्णाङ्घ्रिसद्भक्तं विष्वक्सेनमुनिं भजे ।।

विष्वक्सेनयतीन्द्राणां चरणाम्बुजसुकोमलौ ।
शिरस्स्थौ शंप्रदौ वन्दे प्राणिनामुपकारकौ ।।

मंगलधाम कारुण्यमहार्णव अनन्तश्रीविभूषित अनन्तगुणराशि पूज्यपाद परमाचार्य भगवदनन्ताचार्य महाराज के परम पावन दिव्य श्रीचरणों में समर्पित, लक्षाधिकश्रीसम्पन्न योगिराज श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ भगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्-सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डीस्वामी जी द्वारा प्रणीत 'श्रीमद्भगवद्गीता व्याख्या-अमृतसरिता' भागवतों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है ।

श्रीरामायण महाकाव्य की भाँति गीता अवतार ग्रन्थ है । श्रीवैष्णवकुल-कमल-दिवाकर यामुनाचार्य स्वामीजी के शब्दों में -

पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम् (गी. सं. श्लो. ५)

शुकदेवोपम श्रीस्वामीजी महाराज के वागमृत से परिपूर्ण यह ग्रन्थ और भी अधिक अमृतमय हो गया है, मानो इस आर्षोक्ति - 'सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि' (ना. भ. सू. ६९) का यहाँ शत-प्रतिशत सत्यापन हुआ हो ।

इस ग्रन्थ की विलक्षणता क्या है, - अल्पज्ञ इसे कैसे व्यक्त करे ? तथापि सामान्य दृष्टि में भी एक तथ्य स्वत: सुस्पष्ट है,- वह है इसमें द्रष्टव्य गम्भीरता एवं सरलता का छायातप (धूप-छाँही) । एक ओर सत्यार्थ (निहितार्थ) विज्ञापन की उत्कट उत्सुकता तो दूसरी ओर उदारचेता महामना 'सर्वभूतहितवाद' के प्रबल पुरोधा की सरलार्थ के प्रति सहज सारस्वत चेतना ।

संत-शिरोमणि तुलसीदासजी के शब्दों में -

कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सबकर हित होई ।। (रा.मा. १।१३,९)

परिस्थितिवश योगयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा प्रत्यक्षत: कथित यह सूपनिषद् तत्क्षण मात्र पार्थ-श्रव्या रही, पर भगवान् की भी लालसा थी कि गीता का सन्देश भगवद्भक्तों को मिले -

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

X X X X

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः (गी. १८।६८,६६)

फिर कोई आवश्यक नहीं कि भक्त विद्वान् हो । अल्पज्ञ के लिये भी गीता-तत्त्व बोधगम्य हो मानो इसके लिये पूज्यपाद ने एक ओर सटीक उदाहरण दे-देकर तथ्यों का विश्लेषण किया है और दूसरी ओर समाधि-समधिष्ठित योगिराज ने सत्यार्थ-निवेदन के लिए अति गम्भीरतापूर्वक गीता के मूल तथ्यों का अनुसंधान किया है, वैसे ही जैसे कोई गोतालगानेवाला कभी लहरों पर सीधा तैरता दिखता है और कभी मोती के लिए अथाह गहराई में डुबकी लगा देता है ।

श्रीभाष्यकार के अभिमत का पुष्टिवर्द्धन केन्द्रीकृत लक्ष्य है और एतदर्थ एक जीवन्त व्याख्याकार के रूप में श्रीस्वामीजी प्रमाणों की झड़ी लगा देते हैं । 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितजनः' - इसका प्रमाण 'चकार' के भिन्न स्थलों पर निहितार्थ से मिल जाता है । अन्यत्र भी कई रहस्य पदों की व्याख्या उनके अभीष्टार्थ के आधार पर की गयी है, तथैव नानार्थक शब्दों जैसे-आत्मा, पुरुष, ब्रह्म, ईश्वर इत्यादि अनेकानेक पदों की व्याख्या प्रकरण आदि को देखते हुए की गयी है, क्योंकि नानार्थक शब्दों की व्याख्या में कई घटक विचारणीय हैं, यथा-

संयोगो विप्रयोगश्य साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिस्वरादयः ।
शब्दार्थस्यान्वच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।

अतः नानार्थक शब्दों के सन्दर्भ में प्रकरण, सान्निध्य, साहचर्य अदि को महत्त्व दिया गया है । कुछ विशिष्ट शब्दों (जैसे क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ) की व्याख्या में उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति का विचार करते हुए पूज्यपाद ने तात्पर्य-निर्णय किया है । वस्तुतः विशिष्ट पदों की व्याख्या के अव्याहत सत्यापन के लिए मूलानुसंधानाधारित तथ्यपरकता पर जोर दी गयी है और आवश्यकता पड़ने पर आद्युदात्त, अन्तोदात्त पर भी गम्भीर चिन्तन किया गया है, उदाहरणार्थ सातवें अध्याय के दूसरे श्लोक के 'ज्ञानम्' शब्द के संबंध में 'अन्तोदात्तता' का समर्थन करते हुए गूढ़ विश्लेषण । इसी तरह जहाँ कोई शब्द उपलक्षणात्मक है (स्वबोधकत्व के साथ उसमें स्वेतर- बोधकता है) उस पर भी सम्यक् दृष्टि रखी गयी है । व्याकरणप्रमुखता के प्रति सदाग्रह ने आर्षवाणी को ऋतम्भरा बनाया है, यथा,- 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी. ७।१६) के अर्थनिर्णय में यह दिखाया जाना कि यहाँ मत्वर्थी अच् प्रत्यय का प्रयोग है, और तात्पर्य तब निर्णीत है कि - 'सबकुछ वासुदेव वाला है' न कि 'सबकुछ वासुदेव है ।' इस तरह संशय के तम को विदीर्ण करके अनेक स्थलों पर यथार्थ उद्भासित किया गया है । असलियत यह है कि योगी की बात पूर्णतः कोई योगी ही समझ सकता है । योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् के उपदेशों की व्याख्या श्रीस्वामी जी महाराज-सा तपोनिष्ठ नित्य समाधि में विचरण करनेवाला महायोगी करे तो रहस्य भी अपना रहस्य खोल देता है । फलतः गीता के गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम उपदेश का स्पष्ट प्रसारण करने वाला

यह ग्रन्थ महार्घ है। यह मंगलकलश है, अमृत-धारा है। ग्रन्थ में मंगलविधान की दृष्टि से भी प्रथमाध्याय के प्रथमश्लोक के प्रथम पद 'धर्म' का वस्तुनिर्देशात्मक मंगल के रूप में विश्लेषण, पुनः तृतीय अध्याय के ३६वें श्लोक के 'अथ' शब्द के वस्तुनिर्देशात्मक मंगलार्थ प्रयोग का निरूपण और इस सूपनिषद् गीताशास्त्र के अन्तिम श्लोक में प्रयुक्त श्री शब्द की व्याख्या वस्तुनिर्देशात्मक मंगल के रूप में करके प्रचुर मंगल विधान किया गया है। शैली की दृष्टि से समास और व्यासशैली का मणिकांचन योग, यथार्थ और हितार्थ व्याख्या की दृष्टि से, यथार्थवादी (जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के विश्लेषण में) एवं आदर्शवादी (मानवीय कर्तव्य-निरूपणादि में) चिन्तन का गंगा-यमुनी मिलन अत्यन्त अद्भुत है। अतः गंगाजल-सुपिक्त श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान् के श्रीचरणों में प्रार्थना है कि मृत्युञ्जय आचार्यवर्य की यह कृति अमर हो, सर्वोपकारी हो !

दास की प्रार्थना स्वीकार कर भक्त-परवश स्मरणात् त्रयतापहर श्रीहस्तिशैलशिखरोज्ज्वलपारिजातकृपामधुस्विन्न अनन्तश्रीसमलङ्कृत पूज्यपाद ज. गु. रा. प्रतिवादिभयंकर गादि श्रीनिवासाचार्य स्वामीजी महाराज ने मंगलमय पुरोवाक् प्रदान किया है, एतदर्थ श्रीचरणों में सर्वदा सर्वथा अवनत हूँ। ग्रन्थ के खण्डशः की जगह समन्वित प्रकाशन की लालसा पहले से आ रही थी, लेकिन अब इसकी परिणति हो सकी है, जिसकी घनीभूत प्रेरणा के लिए श्रीस्वामीजी महाराज के शिष्य श्रीलक्ष्मीप्रपन्न जीयरस्वामीजी के श्रीचरणों का सदा ऋणी रहूँगा। श्रद्धानुसार भक्तों ने ग्रन्थ-मुद्रण के लिए द्रव्यार्पण किया है, जिसका उल्लेख अन्त में किया गया है। इन उदार भक्तों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। मुद्रण-कार्य के लिए 'मंगलम्' कम्प्यूटर प्रेस, गया को साधुवाद !

असामर्थ्य एवं अज्ञानतावश ग्रन्थ में त्रुटियों के 'अकृत्यकरण अपराध' के इस अपराधी को क्षमा-दान मिले, यही भगवत्, भागवत एवं आचार्य-चरणों में नम्र निवेदन है।

श्रीचरणाश्रितः-

सुदामा सिंह
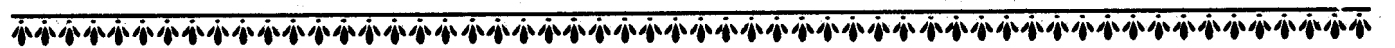
श्रीमते रामानुजाय नमः

॥ श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ॥

गीतार्थ-प्रदाता देव के दिव्य श्रीचरणों में दो शब्द-सुमन

सिद्धाश्रमस्थ (श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर, चरित्रवन, बक्सर) के द्वितीय श्रीपतिपीठाधीश्वर सिद्धाग्रगण्य अनन्तश्रीअच्युतप्रपन्न स्वामीजी महाराज ने जिस 'जितेन्द्रियता' और 'शास्त्रज्ञता' के एक विभूति-अवतरण की भविष्यवाणी की थी -

चतुर्थे पुरुषेऽतीते शास्त्रज्ञो हि जितेन्द्रियः ।
मम सिंहासनाधीशो यतिः कश्चिद् भविष्यति ।

अवतरणोपरान्त विद्वज्जनों को जिनके व्याख्यान में आश्चर्य होता था -

रामानुजः किं किमु शंकरोऽयम् व्यासोऽथकिं जैमिनिरेव किं वा ।
इत्यादितर्काम्बुधिवीचिभंगे व्याख्याक्षणेऽस्मिन्कवयः प्लवन्ते ॥
(ईशादिपंचोपनिषदः गूढार्थदीपिका, २००९ सं. पृ.११)

और जिन्हें श्रीकाशीविद्वत्परिषद् ने (कार्तिक सं0 २०५६ में) उत्कट भाव-भावित विशेषण दिया -

'द्वैताद्वैतसमस्तशास्त्रजलधेर्मन्थानदण्डाचलः' । एतादृश विद्वद्वर्गभूषामणि लक्षाधिकशिष्याढ्य लक्षाधिकश्रीसम्पन्न अस्मदाचार्य श्रीत्रिदण्डीस्वामी जी महाराज ने शताधिक ग्रन्थ-रत्नों का निर्माण कर आर्य-संतति का महोपकार किया है। इनमें एक महार्घमणि 'श्रीमद्भगवद्गीता-व्याख्यामृतसरिता' है ।

'कप्यास' श्रुति के सदर्थकार भगवान् श्रीभाष्यकार की तरह 'वार्षभश्रुतिमार्तण्ड' श्रीस्वामजी ने एक ओर "अहमर्थ विवेक' 'वैदिकमूर्तिपूजादर्श', 'वैदिकश्राद्धदर्पण' 'निर्द्वन्द्वमुखभंगचपेटिका' 'कण्टकोद्धार' प्रभृति से मायिमतंगजमस्तक-कोटिविपाटनपटुपञ्चानन पूर्वाचार्यों का मुखोल्लास किया है, वहीं श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान् एवं परमाचार्य के लिए प्रपत्ति, मंगलाशासन, सुप्रभातम् ग्रन्थ, आल्वन्दार एवं वरदवल्लभा स्तोत्र की भाव-प्रकाशिका टीका, श्रीवचनभूषणम् की चिन्तामणि टीका, वार्तामाला की चूडामणि टीका, मुकुन्दमाला की व्याख्या, सिद्धाश्रम-माहात्म्य, श्रीवैष्णवकृत्यदर्पण इत्यादि के द्वारा श्रीवैष्णवों की भक्ति-यात्रा के लिए अमृतमय पाथेय प्रदान किया है । जहाँ ईशादि दस उपनिषदों की 'गूढार्थदीपिका' से तत्त्वान्वेषकों का पथ प्रदर्शन किया है, वहीं 'पुत्रेष्टियाग-विधि' 'क्रियाकैरवचन्द्रिका', 'चक्राब्जमण्डलचित्र' 'तप्त-चक्रांकनप्रकाश' आदि द्वारा कर्मकाण्डियों को विपुल निधि प्रदान की है । यतीन्द्रधर्ममार्तण्ड', 'वैदिकयोगसंग्रह' इत्यादि को रचकर योगमार्गावलम्बियों को संबल दिया है । तथैव 'गीतार्थ-संग्रह' की भावप्रकाशिका टीका एवं 'श्रीमद्भगवद्गीता-व्याख्यामृतसरिता' के द्वारा गीता-ज्ञान का अमृत कलश पूज्यपाद ने प्रस्तुत किया है । ऐसे महोपकारक श्रीस्वामीजी महाराज द्वारा प्रणीत अनेक अन्य ग्रन्थ हैं, यथा-शास्त्रार्थदीपिका, आत्म-तत्त्वमीमांसा, गुरुपरम्परा-भाषा, विष्वक्सेन पूजा-प्रकाश, स्तोत्र-रत्नागारी, वैयाकरणपारिजात, पुरुष-सूक्तम् एवं श्री-सूक्तम् की मर्मबोधिनी टीकायें इत्यादि ।

इन ग्रन्थों में प्रवाहित श्रीस्वामीजी महाराज की अमृतमयी वाणी से वर्तमान एवं भविष्य की संतति सदा लाभान्वित हो, भगवान् से यही प्रार्थना है ।

-प्रो0 विश्वनाथ सिंह
प्राचार्य एवं अध्यक्ष, श्रम एवं समाज कल्याण विभाग,
म. वि. वि., बोधगया

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भगवद्गीता के विनियोग तथा ऋष्यादिन्यास, करन्यास, अंगन्यास और ध्यानादि निम्नवत् हैं :-

अथ विनियोगः

ओमस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान् श्रीवेदव्यास ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीकृष्णः परमात्मा देवता । अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजम् ॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज इति शक्तिः ॥ अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकम् ॥ श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे श्रीमद्भगवद्गीतापाठे विनियोगः ॥

अथ ऋष्यादिन्यासः

ओं श्रीवेदव्यासर्षये नमः शिरसि । अनुष्टुप् छन्दसे नमः मुखे । श्रीकृष्णपरमात्मेति देवतायै नमः हृदि । अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजाय नमः गुह्ये । सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज इति शक्तये नमः पादयोः । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकाय नमः सर्वाङ्गे । मम श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे श्रीमद्भगवद्गीतापाठे विनियोगः ॥

अथ करन्यासः

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः ।
२. न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः ।
३. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति मध्यमाभ्यां नमः ।
४. नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः ।
५. पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
६. नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः

॥ इति करन्यासः ॥

अथ अङ्गन्यासः

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इति हृदयाय नमः ॥
२. न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा ।
३. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति शिखायै वषट् ।
४. नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम् ।

५. पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति नेत्रत्रयाय वौषट् ।

६. नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति अस्त्राय फट्, श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे श्रीमद्भगवद्गीतापाठे विनियोगः ॥

अथ ध्यानम्

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥ १ ॥

जिनकी आकृति अतिशय शान्त है जो शेषनाग की शय्या पर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभि में कमल है, जो देवताओं के भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत् के आधार हैं, जो आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नीलमेघ के समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, योगियों द्वारा ध्यान करके जिन्हें प्राप्त किया जाता है, जो सम्पूर्ण लोकों का स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भय का नाश करने वाले हैं, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति, कमलनेत्र श्रीविष्णु भगवान् को मैं (सिर से) प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै -
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ २ ॥

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रों द्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, सामवेद के गानेवाले अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषदों के सहित वेदों द्वारा जिनका गायन करते हैं, योगीजन ध्यान में स्थित तद्गत हुए मन से जिनका दर्शन करते हैं, देवता और असुरगण (कोई भी) जिनके अन्त को नहीं जानते, उन परम पुरुष (नारायण) देव के लिए मेरा नमस्कार है ॥२॥

अथ ऋषिलक्षणम्

येन यदृषिणा दृष्टं सिद्धिः प्राप्ता तु येन वै । मंत्रेण तस्य सः प्रोक्तो मुनिभावस्तदात्मकः ॥

॥ बृहत्पाराशरस्मृ. अध्याय २ श्लोक ४२ ॥

जिस ऋषि ने जिस मंत्र को देखा है, और निश्चय करके जिस मंत्र से सिद्धि को प्राप्त किया है, उस मंत्र का वही ऋषि है, ऐसा मुनियों ने कहा है ॥ ४२ ॥

अथ छन्दो लक्षणम्

मृत्युभीतैः पुरादेवैरात्मनश्छादनाय च । छन्दांसि संस्मृतानीह छादितास्तैस्ततोऽमराः ॥

॥ बृहत्पाराशरस्मृ. अध्या २ श्लोक ३६ ॥

छादनाच्छन्द उद्दिष्टं वाससी कृत्तिरेव च । छन्दोभिरावृतं सर्वं विद्यात्सर्वत्र नान्यतः ॥४०॥

सृष्टि के आदि में मृत्यु के भय से देवताओं ने अपने को छिपाने के लिए यहाँ छन्दों को स्मरण किया और इन छन्दों से देवताओं ने अपने को छादन किया । उस छादन करने से उसको छन्द कहते हैं और वस्त्र कृत्ति ही है । इससे सर्वत्र सब देवताओं को छन्दों से आच्छादित जाने ।

अथ देवतालक्षणम्

यस्मिन्मंत्रे तु यो देवस्तेन देवेन चिह्नितम् । मंत्रं तद्दैवतं विद्यात्सन्ति तत्र तु देवताः ॥

॥ बृहत्पाराशर० अध्याय २ श्लोक ४१ ॥

जिस मंत्र में जिस देवता के नाम से चिह्नित हो उस मंत्र को उसी देवता का जानना चाहिये, क्योंकि उस मंत्र का वही देवता है ।

अथ विनियोगलक्षणम्

यत्र कर्माणि चारब्धे जपहोमार्चनादिके । क्रियन्ते येन मंत्रेण विनियोगस्तु स स्मृतः ॥

॥ बृहत्पाराशर० अध्याय २ श्लोक ४३ ॥

जिस कर्म के आरम्भ करने में पाठ, होम और पूजादिक जिस मंत्र से किया जाता है उसी को विनियोग कहते हैं ।

अथ मंत्रलक्षणम्

तच्चोदकेषु मंत्राख्या (मीमांसा० २।१।३२) प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मंत्र है ।

अथ अनुष्टुप्-लक्षणम्

पंचमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः। गुरु षष्ठं तु पादानामन्येष्वनियमो मतः ॥ (वृत्तरत्नाकर)

पाँचवाँ वर्ण लघु और छठ गुरु । दूसरे और चौथे चरणों में सातवाँ भी लघु रहे और शेष चरणों में इसका नियम नहीं है ॥

अथ ध्यान-लक्षणम्

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (यो. अ. १ पा. ३ सू. २)

तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृति-सन्तान को ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

॥ शमिति ॥

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

मंगलाचरण

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे, असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥१॥

ऋक्वेद के वैश्वदेव सूक्त की ऋचा से मंगलाचरण करता हूँ जिसका श्रीसम्प्रदायावलम्बी सब मंगलकार्यों में प्रायः अनुसन्धान किया करते हैं । हम सब प्रार्थना करते हैं कि अच्छे फलों को देने वाले कल्याणकारी सेव्य, असुरों से अहिंसित, शत्रुओं से नहीं रोके हुए तथा शत्रुओं का भेदन करने वाले अग्निष्टोम आदि महायज्ञ दिशाओं के सभी भागों से हम लोगों को प्राप्त करें अर्थात् हम भगवदाराधन करें । हम अपने सेव्य को नहीं छोड़ने वाले हैं । अतः प्रतिदिन रक्षा करते हुए हमलोंगों की सदैव वृद्धि के लिए जिस प्रकार हों वैसे आवें अर्थात् हमारी रक्षा करें ।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

अन्वय :- **संजय ! धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे युयुत्सवः समवेताः मामकाः पाण्डवाः च एव किं अकुर्वत ।**

अर्थ :- धृतराष्ट्र बोले - हे संजय ! धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ?

व्याख्या :- यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथमाध्याय के 'धर्मक्षेत्रे' इस श्लोक में 'धर्म' शब्द विष्णुवाचक होने से मंगलार्थ प्रयोग किया गया है, क्योंकि महर्षि पतंजलि ने **'भूवादयोधातवः' (पा. व्या. १।३।१)**

इस सूत्र के महाभाष्यमें लिखा है कि -

'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते
वीरपुरुषकाण्यायुष्मत् पुरुषकाणी च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति ।'

इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में यदि मंगल युक्त शास्त्र निबद्ध किये जाते हैं तो उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त होती है । वे लोगों को वीर एवं चिरंजीवी बनाते हैं, उनके पढ़ने से पाठक शीघ्र प्रवक्ता हो जाते हैं ।। १ ।। और भी पतंजलि महर्षि ने कहा है कि -

मांगलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मंगलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते ।
मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि
चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति ॥ महाभा०१।१।३ ॥

मङ्गल प्रयोजन से आचार्य पाणिनी महर्षि ने अर्थ से महान् शब्द शास्त्रौघ व्याकरण के मङ्गल के लिये ॥ **वृद्धिरादैच्** ॥ (पा. व्या १।१।१) यहाँ पर आदि में वृद्धि शब्द का प्रयोग किया है । निश्चय करके मङ्गल आदि वाले शास्त्र विस्तृत होकर प्रसिद्ध होते हैं, और उनके पठन-पाठन करने वाले वीरपुरुष और दीर्घायु तथा वृद्धियुक्त जैसे होवें, इस कारण से मङ्गल किया है ॥ ३ ॥

इससे सिद्ध हो गया कि ग्रन्थ के आदि में मङ्गल करना चाहिए और अन्यत्र भी लिखा है कि **''ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरणीयम्''** ग्रन्थ के आदि मध्य और अन्त में मङ्गल करना चाहिए । तथा **'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति'** (सा.अ. ५ सू. १) मङ्गल करना चाहिए शिष्टाचार से, फल देखने से, श्रुति प्रमाण से ॥ १ ॥ इसी को श्रुति भी कहती है **'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्'** (श्रुति) समाप्ति की इच्छा वाला मङ्गल करे ॥ वह मङ्गल तीन प्रकार का होता है :-

''आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि''

१-आशीर्वादात्मक मंगल २-नमस्कारात्मक मंगल और ३-वस्तु-निर्देशात्मक मंगल । इस श्लोक में वस्तु-निर्देशात्मक मंगल है, क्योंकि महाभारत में लिखा है कि -**'धर्मोधर्मविदुत्तमः** (महाभारत अनु. प. वि सह. ५६) धर्म, धर्मविद् और उत्तम भगवान् के नाम हैं । ५६ ॥ क्योंकि **'धृञ् धारणे'** धातु से 'धर्म' शब्द निष्पन्न होता है और धर्म का लक्षण लिखा है- **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** (पूर्वमी. अ. १ पा. १ सू. २) प्रेरणा लक्षण अर्थ को धर्म कहते हैं ॥ २ ॥ इसी को कणाद महर्षि ने कहा है -**'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयस्-सिद्धिस्सः धर्मः'** (वैशेषिक अ. १ आह्नि. १ सू. २) जिस प्रकार के कर्मों को करने से लैकिक अभ्युदय और पारलौकिक कल्याण रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है वह धर्म है ॥ २ ॥ ये अभ्युदय और निश्रेयस् सिद्धि धर्म को धारण करते हैं । अतः विष्णु का नाम धर्म है । इस नाम को जपने से वल्गुजंघ ऋषि धर्मात्माओं में श्रेष्ठ और यज्ञ करने वालों में विख्यात वैष्णव हुये । यह मंत्र यजुर्वेद के अध्याय २० के ६ वें मन्त्र में -

''नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत् । आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः
सौभाग्यं पसः जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ १ ॥

ऐसा उल्लिखित है । श्रीमद्वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में वस्तुनिर्देशात्मक मंगल वाल्मीकि मुनि ने किया है-

तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम् ।
नारदं परिप्रपच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ (वा.रा. १।१)

तपस्वी वाल्मीकि जी ने तपस्या और स्वाध्याय में लगे हुये विद्वानों में श्रेष्ठ मुनिवर नारद जी से पूछा ॥ १ ॥

तप और स्वाध्याय के विषय में श्रुति कहती है - **'तपश्च स्वाध्याय-प्रवचने च'** (तैत्तिरी. शि.व. १ अनु. ६ । १)

तप का निरूपण करते हुये कहा गया है -

तत्र तपोनामविध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम् ॥ (शा. श्रु. २)॥

वेद-विहित कृच्छ्र चान्द्रायण आदि से देह को सुखा देना - इसको तपस्या कहते हैं ॥२॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । (यो. अ. १ पा. २ सू. ४३)

तप से अशुद्धि का नाश होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥ स्वाध्याय के विषय में लिखा है कि - **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** (यजु. रा. २ । १५) स्वाध्याय (वेद) का अध्ययन करना चाहिये ॥१५॥ स्वाध्याय का निरूपण करते हुये कहा गया है -

'स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा ।' (व्या. भा. सू. ३२)

मोक्षप्रद शास्त्रों के ग्रन्थों का ठीक से अध्ययन करना स्वाध्याय है । ओंकार का जप करना भी स्वाध्याय है ॥३२॥ **'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः'** (यो. १ । २ । ४४) स्वाध्याय अर्थात् इष्ट मन्त्र के जप से देवता का साथ और दर्शन होता है ॥ ४४ ॥ इस प्रकार इसमें गुरु शिष्य सम्बन्ध बताकर वस्तुनिर्देशात्मक मंगल किया गया है । इस श्री रामायण के मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में प्रथमा के एकवचनान्त शिष्य का लक्षण और द्वितीया के एकवचनान्त गुरु का लक्षण बतलाया गया है ।

नमस्कारात्मक मंगल-

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ (महाभारत आदि प. १ । १)

वदरिकाश्रमवासी प्रसिद्ध ऋषि श्रीनारायण तथा श्रीनर (अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, उनके नित्य सखा नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन), उनकी लीला प्रकट करने वाली भगवती सरस्वती और उसके वक्ता महर्षि वेदव्यास को नमस्कार कर (आसुरी सम्पत्तियों का नाश करके अन्तःकरण पर दैवी सम्पत्तियों को विजय प्राप्त कराने वाले जय (महाभारत) क्योंकि आगे चलकर **'जयो नामेतिहासोऽयम्'** (महाभारत आदि ६२।२०) इत्यादि कहा गया है, इसलिये 'जय' शब्द का अर्थ महाभारत नामक इतिहास ही है- इसका पाठ करना चाहिये ॥१॥ यहाँ पर नमस्कारात्मक मंगल है ।

आशीर्वादात्मक मंगल -

ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः शतधृतिभवनाम्भोरुहो नालदण्डः क्षोणीनौकूपदण्डः क्षरदमरसरित्पट्टिकाकेतुदण्डः ।
ज्योतिश्चक्राक्षदण्डस्त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डोऽङ्घ्रिदण्डः श्रेयस्त्रैविक्रमस्ते वितरतु विबुधद्वेषिणां कालदण्डः ॥

(दशकुमारचरितम् १)

ब्रह्माण्ड-रूप छत्र का दण्ड, ब्रह्मा के उत्पत्ति-स्थान कमल का नाल रूप दण्ड, पृथ्वी रूप नौका के बाँधने का स्तम्भ रूप दण्ड, बहती हुई आकाशगंगा रूप रेशमी वस्त्र के पताके का ध्वज रूप दण्ड, ग्रह मंडली रूप रथचक्र की नाभि में लकड़ी का दण्ड, तीनों लोकों को जीत लेने वाला स्तम्भ रूप दण्ड और देवशत्रुओं के काल-रूप दण्ड श्रीत्रिविक्रम विष्णु भगवान् का चरण-रूप दण्ड तुम्हें कल्याण प्रदान करे ।। १ ।। यहाँ पर आशीर्वादात्मक मंगल है ।

जैसे जलपानार्थ सौभाग्यवती स्त्री जलपूर्ण कलश को ले जाती है परन्तु यात्रा में मंगलार्थ हो जाता है । इसी प्रकार यहाँ 'धर्मक्षेत्र' में धर्म शब्द धर्मक्षेत्र वाचक होते हुए भी भगवान् के नाम होने से आदि में मंगलार्थ भी है । गीता ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें चार वर्ण, चार आश्रम, चार वेद, चार युग की तरह चार का ही भाषण है १-धृतराष्ट्र २-संजय ३-श्रीकृष्ण और ४-अर्जुन । यह ग्रन्थ 'धर्म' शब्द से प्रारम्भ होने से विलक्षण है, ऐसा किसी ग्रन्थ का प्रारम्भ नहीं है । यहाँ 'धृतराष्ट्र उवाच' से बताया गया है कि यथार्थ रूप से जानने के लिए उसने संजय से पूछा । धृतराष्ट्र का परिचय देते हुये कहा गया है कि -

मातुर्नियोगाद् धर्मात्मा गाङ्गेयस्य च धीमतः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ॥

(महाभा. आदि. १।६४)

त्रिनग्नीनिव कौरव्यान् जनयामास वीर्यवान् ।
उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ॥ ९५ ॥

पहले शक्तिशाली, धर्मात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन (व्यास) ने अपनी माता सत्यवती और परम ज्ञानी गङ्गापुत्र भीष्मपितामह की आज्ञा से विचित्रवीर्य की पत्नी अम्बिका के गर्भ से तथा अम्बालिका के गर्भ से और दासी के गर्भ से याग द्वारा तीन अग्नियों के समान तेजस्वी धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को उत्पन्न किया ।

धर्मक्षेत्र जिसे कुरुक्षेत्र भी कहा जाता है । इस कुरुक्षेत्र के विषय में 'जाबालोपनिषद्' में लिखा है कि -

इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् ॥

(जाबालो. श्रु. १)

निश्चय करके यह कुरुक्षेत्र देवयजन स्थान है और समस्त भूतों को ब्रह्म की प्राप्ति करानेवाला है ।। १ ।। तथा-

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् । य एवं सततं ब्रूयात् सोऽपि पापैः प्रमुच्यते ॥

(महा. वन प. तीर्थयात्रा ८३।२)

"मैं कुरुक्षेत्र में जाऊँगा" मैं कुरुक्षेत्र में बसता हूँ' - जो इस प्रकार सर्वदा कहता रहता है, वह भी सारे पापों से मुक्त हो जाता है ।।२।।

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः । अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥

(पद्मपु. आदि ख. (स्वर्ग ख.) २६।३)

वायु से उड़ायी हुई यहाँ की धूलि भी किसी पापी के शरीर पर पड़ जाय तो वह उसे श्रेष्ठ गति की प्राप्ति करा देती है ॥ ३ ॥

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युतरेण च । ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥ ४ ॥

दृषद्वती के उत्तर तथा सरस्वती नदी के दक्षिण तक कुरुक्षेत्र की सीमा है । इस बीच में जो लोग वास करते हैं, वे मानो स्वर्ग में ही बसते हैं ॥४॥

मनसाप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर । पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर ! जो आदमी मन से भी कुरुक्षेत्र की ओर जाने की इच्छा करता है, उसके भी पाप नष्ट हो जाते हैं और वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह । फलं प्राप्नोति च तदा राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ६ ॥

कुरुकुल-श्रेष्ठ ! जो श्रद्धापूर्वक कुरुक्षेत्र तीर्थ की यात्रा करता है, उसे राजसूय तथा अश्वमेध-इन दोनों यज्ञों का एकत्र फल प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

यजुर्वेद में इसे विष्णु तथा अन्यान्य देवताओं की यज्ञभूमि बता कर वर्णित किया गया है । कौरवों और पाण्डवों के पूर्वज महाराज कुरु के यहाँ आने के पूर्व यह ब्रह्मा की 'उत्तर वेदी' के नाम से विख्यात था । वामन पुराण के २२वें अध्याय में इसकी उत्पत्ति के वर्णन में कहा गया है कि-महाराजा कुरु ने पावन सरस्वती नदी के किनारे इस स्थान पर आध्यात्मिक शिक्षा तथा अष्टाङ्ग-धर्म, (तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग तथा ब्रह्मचर्य) की कृषि करने का निश्चय किया । राजा यहाँ स्वर्ण रथ में बैठकर आये तथा उस रथ के स्वर्ण से कृषि के लिए उन्होंने हल तैयार किया । उस समय विष्णु भगवान् ने आकर राजा कुरु से प्रश्न किया-हे राजन् ! क्या करते हो ? राजा ने निवेदन किया, 'मैं अष्टाङ्ग-धर्म की कृषि के लिए जमीन तैयार कर रहा हूँ ।' भगवान् ने कहा 'राजन् ! बीज कहाँ है ? राजा कुरु ने निवेदन किया 'भगवन् ! बीज मेरे पास है ।' भगवान् विष्णु ने कहा, 'आप बीज मुझे दे दें, मैं उसे आपके लिए बो दूँगा ।' इतना सुनकर राजा कुरु ने यह कहते हुए कि बीज मेरे पास है अपनी दाहिनी भुजा फैला दी । भगवान् ने अपने चक्र से उसके सहस्र टुकड़े किये तथा उन टुकड़ों को कृषिक्षेत्र में बो दिया । इसी प्रकार राजा ने अन्त में अपना सिर भी भगवान् विष्णु को अर्पण कर दिया । भगवान् विष्णु ने राजा से अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा । राजा ने निवेदन किया - हे भगवन् ! जितनी भूमि मैंने जोती है, वह सब पुण्यक्षेत्र, धर्मक्षेत्र होकर मेरे नाम से विख्यात हो, समस्त देवता यहाँ वास करें तथा यहाँ किया हुआ स्नान, तप, यज्ञ और जो भी शुभ कर्म किया जाय-वह अक्षय हो जाय । जो भी यहाँ मृत्यु को प्राप्त हो, वह अपने पाप-पुण्य के प्रभाव से रहित होकर स्वर्ग को प्राप्त हो ।' भगवान् ने तथास्तु कहकर राजा

के वचनों का अनुमोदन किया । इसलिए इसका नाम कुरुक्षेत्र पड़ा । यहाँ दो कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि लिखा है कि-

मुण्डनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः ।
वर्जयित्वा कुरुक्षेत्रं विशालां विरजां गयाम् ।। (वायु. ग. मा. २२)

कक्ष, उपस्थ और शिखा बराकर मुंडन कराना और उपवास रहना सब तीर्थों में यह विधान है । कुरुक्षेत्र को और वदरीविशाल धामको तथा जगन्नाथ धाम को और गया तीर्थ बराकर ।।२२।। कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण में स्नान करने का अतिफल होता है ।

इस श्लोक में **'मामकाः'** पद से धृतराष्ट्र की समस्त ग्यारह अक्षौहिणी सेना को तथा **'पाण्डवाः'** पद से पाण्डवों की समस्त सात अक्षौहिणी सेना को बताया गया है ।

इस प्रथम अध्याय के **'धर्मक्षेत्रे'** (गी0 १।१) से लेकर द्वितीय अध्याय के **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'** (गी. २।११) इस श्लोक पर्यन्त गीता का उपोद्घात यानी भूमिका समझना चाहिये । क्योंकि लिखा है कि -

'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते'

प्रकृत वस्तु की सिद्धि के लिए जो चिन्ता होती है उसी को उपोद्घात कहते हैं ।। १ ।।

संजय उवाच
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।। २ ।।

अन्वय :- **संजय उवाच तदा तु व्यूढं पाण्डवानीकं दृष्ट्वा आचार्यम् उपसंगम्य राजा दुर्योधनः वचनम् अब्रवीत् ।**

अर्थ :- संजय बोले - उस समय व्यूहाकार से खड़ी पाण्डवों की सेना को देखकर राजा दुर्योधन ने आचार्य (द्रोणाचार्य जी) के पास जाकर कहा ।

व्याख्या :- संजय के संबंध में बतलाया गया है कि -

गावल्गणिरिदं धीमान् महार्थं वाक्यमब्रवीत् । (महाभा. आदि. १ । २२२)

तब बुद्धिमान् गावल्गण सूत के पुत्र संजय ने यह सारगर्भित प्रवचन किया ।। २२२ । इससे सिद्ध हो गया कि गावल्गण सूत का पुत्र संजय था । और सूत के विषय में लिखा है कि -

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।। (मनु. अ. १० श्लोक ११)

क्षत्रिय से ब्राह्मण की कन्या में सूत जाति होती है ।। ११ ।। जिस प्रकार दशरथ के पुत्र होने से राघवेन्द्र का नाम दाशरथि है उसी प्रकार गावल्गण के पुत्र होने से संजय का नाम गावल्गणि भी है । यह सञ् नाम अच्छे प्रकार से जय नाम ग्यारहो इन्द्रियों को वश में रखने वाला था, इसलिए इसका नाम सञ्जय हुआ । यह बड़ा सदाचारी और भगवान् का भक्त था । इसके गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है -

त्वमेतयोः सारवित् सर्वदर्शी धर्मार्थयोर्निपुणो निश्चयज्ञः ।।

(महाभार. उद्यो. ६७ । ५)

तुम इन दोनों पक्षों के बलाबल को जाननेवाले, सर्वदर्शी, धर्म और अर्थ के ज्ञान में निपुण तथा निश्चित सिद्धान्त के ज्ञाता हो ।। ५ ।।

श्रीवेदव्यास द्वारा इसे आशीर्वाद प्रदान था, जैसा लिखा भी है -

चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः ।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति ।।

(महाभार. भीष्म. २ । १०)

हे राजन् ! संजय दिव्य दृष्टि से सम्पन्न होकर सर्वज्ञ हो जायगा और युद्ध की बात बतायेगा ।।१०।। 'कोई भी बात प्रकट हो या अप्रकट, दिन में हों या रात में अथवा वह मन में ही क्यों न सोची गयी हो,संजय सब कुछ जान लेगा (उद्यो. २।१२)' इसे कोई हथियार नहीं काट सकता, इसे परिश्रम या थकावट की बाधा भी नहीं होगी । गावल्गण का पुत्र यह संजय इस युद्ध से जीवित बच जायगा । (उद्यो. २।१२) ।

दुर्योधन का परिचय देते हुए महाभारत में बताया गया है कि -

ततः पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां जनमेजय । (महाभार. आदि ११४ । १)

हे जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्र के उनकी पत्नी गान्धारी के गर्भ से एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए ।।१।। श्रीवेदव्यास के वरदान स्वरूप जो मांस का पिंड गान्धारी के उदर से गिरने के बाद घी से भरे मटके में रखा गया था उसमें-

जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः । (महाभार. आदि ११४ । २५)

तदनन्तर दो वर्ष बीतने पर जिस क्रम से वे गर्भ उन कुण्डों में स्थापित किये गये, उसी क्रम से उनमें सबसे पहले राजा दुर्योधन उत्पन्न हुआ ।।२५।।

राजा को रवि की तरह होना चाहिए जैसा कहा गया है 'रविरिव राजते राजा' । जैसे रवि सभी प्रकार के जल को खींचकर मेघ बनाकर वर्षा कराता है और सभी जीवों के अनुकूल जल देता है उसी प्रकार राजा को कर लेकर इस प्रकार व्यय करना चाहिए जिससे सभी जाति का कल्याण हो, परन्तु दुर्योधन ऐसा राजा नहीं था । वह दुराचारी, अत्याचारी था,

इसलिए पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना को वज्रव्यूहाकार देखकर डर गया । अक्षौहिणी सेना के विषय में बताते हुए महाभारत में कहा गया है -

एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः । त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥

(महाभार. आदि. २ । १६)

एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल सैनिक और तीन घोड़े बस इन्हीं को सेना के मर्मज्ञ विद्वानों ने 'पत्ति' कहा है ॥१६॥

पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः । त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते ॥२०॥

इसी पत्ति की तिगुनी संख्या को विद्वान् पुरुष 'सेनामुख' कहते हैं । तीन 'सेनामुखों' को एक-'गुल्म' कहा जाता है ॥२०॥

त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणस्त्रयः । स्मृतास्तिस्त्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ॥२१॥

तीन गुल्मों का एक 'गण' होता है, तीन गणों की एक 'वाहिनी' होती है, और तीनवाहिनियों को सेना का रहस्य जानने वाले विद्वानों ने 'पृतना' कहा है ॥२१॥

चमूस्तु पृतनास्तिस्त्रस्तिस्त्रश्चम्वस्त्वनीकिनी । अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥२२॥

तीन पृतना की एक 'चमू' तीन चमू की एक अनीकिनी' और दस अनीकिनी की एक 'अक्षौहिणी' होती है । यह विद्वानों का कथन है ॥२२॥

अक्षौहिण्याः प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तमाः । संख्या गणिततत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥२३॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः । गजानां च परिमाणमेतदेव विनिर्दिशेत् ॥२४॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! गणित के तत्त्वज्ञ विद्वानों ने एक अक्षौहिणी सेना में रथों की संख्या इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर (२१८७०) बतलायी है । हाथियों की संख्या भी इतनी ही कहनी चाहिए ॥२३-२४॥

ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु । नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ॥२५॥

निष्पाप ब्राह्मणो ! एक अक्षौहिणी में पैदल मनुष्यों की संख्या एकलाख नौ हजार तीन सौ पचास (१०६३५०) जाननी चाहिए ।२५। अन्यत्र शास्त्रों में अक्षौहिणी का अर्थ और व्यापक है ।

पञ्चषष्टिसहस्त्राणि तथाश्वानां शतानि च । दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ॥२६॥

एक अक्षौहिणी सेना में घोड़ों की ठीक-ठीक संख्या पैंसठ हजार छः सौ दस (६५६१०) कही गयी है ॥२६॥

एतामक्षौहिणी प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः । यां वः कथितवानस्मि विस्तरेण तपोधनाः ॥२७॥

तपोधनो ! संख्या का तत्त्वजाननेवाले विद्वानों ने इसीको अक्षौहिणी कहा है, जिसे मैंने आप लोगों को विस्तार पूर्वक बताया है ॥२७॥ पाण्डवों की सेना को देखकर डरकर दुर्योधन आचार्य के एकदम समीप चला गया। यहाँ 'उपसंगम्य' से तात्पर्य बिना किसी साधन के अत्यन्त पास में जाने से है । इससे यह शिक्षा मिलती है कि आचार्य के पास जाने में वाहन, जूता, छाता आदि दूर ही छोड़ देना चाहिए । आचार्य के विषय में लिखा है कि -

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

(मनु. अ. २ श्लोक १४०)

जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत करके कल्प और रहस्य सहित वेद को पढ़ाता हो उसको आचार्य कहते हैं ॥१४०॥ यहाँ 'द्विज' शब्द से ब्राह्मण को ही संकेत किया गया है; क्योंकि लिखा है कि **'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः'** (महाभार० अश्व०) चारो वर्णों में ब्राह्मण गुरु है । जो कहते हैं कि **ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः'** अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है उसे ब्राह्मण कहते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि जनक, भरत, नन्द खष्ट्वांग राजा आदि ब्रह्म को जानते थे, परन्तु ब्राह्मण नहीं कहे गये । इसलिए ब्राह्मण उसे ही कहा जाता है जो शुद्ध ब्राह्मण पुत्र द्वारा अपने गोत्र को बचाकर ब्राह्मणकन्या में पुत्र उत्पन्न किया जाय । जैसा वृद्धहारीत स्मृति में बताया गया है । वेद करके धनुर्वेद, आयुर्वेद आदि और त्यक्तानुबन्धानुग्रहण से वेद के अङ्ग व्याकरण आदि और रहस्य करके उपनिषद् को संकेत किया गया है । इस प्रकार इन लक्षणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ॥२॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

अन्वय :- **आचार्य ! तव धीमता शिष्येण द्रुपदपुत्रेण व्यूढाम् पाण्डुपुत्राणाम् एताम् महतीं चमूम् पश्य ।**

अर्थ :- हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा जो व्यूहाकार में खड़ी की गयी है, पाण्डुपुत्रों की इस महान् यानी बड़ी सेना को आप देखिए ।

व्याख्या :- दुर्योधन आचार्य को संबोधित करता है । आचार्य का लक्षण बताया गया है -

स्वयमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि । आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेन चोच्यते ॥

(ब्रह्माण्ड पु. पूर्व भा. पाद. २ अ. ३२ श्लो. ३२)

स्वयं जो आचरण करता है और आचरण करवाता है, तथा शास्त्रें को एकत्रित करता है उसको आचार्य कहते हैं ॥ ३२ ॥ आचार्य के पास राजा का अकेला जाना भय का ही फल है, क्योंकि राजा का बिना मन्त्री से सलाह लिए, किसी नौकर, मित्र आदि से बिना कुछ कहे चला जाना और वहभी आमने सामने सेना का युद्ध के लिए खड़े रहने पर

यह बताता है कि दुर्योधन अति डर गया है । यहाँ दुर्योधन का पाण्डव न कहकर पाण्डु के पुत्रों के कहने का तात्पर्य यह है कि पाण्डु के पांचों पुत्र संगठित हैं, जबकि दुर्योधन के सौ भाई संगठित नहीं हैं जैसा कि पाण्डु पुत्रों का वनवास आदि में साथ-साथ कष्ट सहना, एक दूसरे के लिये प्राणपण से तैयार रहना और दुर्योधन के द्रौपदी को नग्न करवाते समय उसके भाई विकर्ण का विरोध करना यही सिद्ध करता है । पाण्डु के पुत्रों में सबसे बड़े युधिष्ठिर थे । युद्ध में स्थिर रहने से इनका नाम युधिष्ठिर पड़ा । युधिष्ठिर का परिचय देते हुए बताया गया है कि-महर्षि दुर्वासा के दिये हुये मन्त्र के जप से आकृष्ट हो धर्म प्रकट हुये तो देवी कुन्ती ने पुत्र की इच्छा व्यक्त की -

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह । लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम् ॥

(महाभार. आदि. १२२।५)

तदनन्तर योगमूर्ति धारण किये हुये धर्म से संयुक्ता सुन्दराङ्गी कुन्ती ने एक ऐसा पुत्र प्राप्त किया, जो समस्त प्राणियों का हित करने वाला था ॥ ५ ॥ उस पुत्र के जन्म लेने पर आकाशवाणी हुई -

युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः । भविता प्रथितो राजा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥

(महाभार. आदि. १२१।६)

पाण्डु का यह प्रथम पुत्र 'युधिष्ठिर' नाम से विख्यात हो तीनों लोकों में प्रसिद्धि एवं ख्याति प्राप्त करेगा ॥६॥

जब देवी कुन्ती ने वायुदेव का आवाहन किया -

ततस्तामागतो वायुर्मृगारूढो महाबलः। किं ते कुन्ति ददाम्यद्य ब्रूहि यत् ते हृदि स्थितम् ॥

(महाभार. आदि. १२२।१२)

तब महाबली वायु मृगपर आरूढ़ हो कुन्ती के पास आये और यों बोले -'कुन्ती ! तुम्हारे मन में जो अभिलाषा हो, वह कहो । मैं तुम्हें क्या दूँ ?' ॥१२॥

सा सलज्जा विहस्याह पुत्रं देहि सुरोत्तम । बलवन्तं महाकायं सर्वदर्पप्रभञ्जनम् ॥१२॥

कुन्ती ने लज्जित होकर मुस्कुराते हुये कहा-सुरश्रेष्ठ ! मुझे एक ऐसा पुत्र दीजिये, जो महाबली और विशालकाय होने के साथ ही सबके घमण्ड को चूर करनेवाला हो ॥१३॥

तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ॥१४॥

वायुदेव से भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीम का जन्म हुआ ॥१४॥ भयंकर होने से इनका नाम भीम पड़ा ।

अर्जुन का परिचय देते हुये लिखा है कि -

एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी । अथाजगाम देवेन्द्र जनयामास चार्जुनम् ॥

(महाभार. आदि. १२२।३५)

महाराज पाण्डु के यों कहने पर यशस्विनी कुन्ती ने इन्द्र का आवाहन किया । तदनन्तर देवराज इन्द्र आये और उन्होंने अर्जुन को जन्म दिया ।।३५।। सात्त्विक आचरण होने से अर्जुन नाम पड़ा ।

जब कुन्ती ने सन्तान प्राप्ति के लिये किसी देवता का चिन्तन करने के लिये माद्री से कहा-

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ । तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥

(महाभार. आदि. १२३।१६)

तब माद्री ने मन ही मन कुछ विचार करके दोनों अश्विनी कुमारों का स्मरण किया । तब उन दोनों ने आकर माद्री के गर्भ से दो जुड़वे पुत्र उत्पन्न किये ।।१६।।

नकुलं सहदेवं च रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।।१७।।

उनमें से एक का नाम नकुल था और दूसरे का सहदेव, पृथ्वी पर सुन्दर रूप से उन दोनों की समानता करने वाला दूसरा कोई नहीं था ।।१७।। कुलाभिमानी न होकर सबके हित की बात सोचने से नकुल नाम पड़ा तथा देवता का सर्वदा साक्षात्कार करते रहने से सहदेव नाम पड़ा ।

पुत्र शब्द से यह संकेत करता है कि 'पुं' नामक नरक से 'त्र' नाम उद्धार करे उसे पुत्र कहते हैं । पुत्र के विषय में लिखा है कि -

जीवतो वाक्यकरणात् क्षयार्हे भूरिभोजनात् । गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥

पिता के जीवित रहने पर उनके शास्त्रानुसार वाक्यों के पालन करने से, मरने पर श्राद्ध में बहुत जीवों को खिलाने से और गया में पिण्डदान करने से पुत्र में पुत्रता आती है ।।

यद्यपि कौरव सेना ग्यारह अक्षौहिणी थी और पाण्डु पुत्रों की सेना सात ही अक्षौहिणी थी, फिर भी दुर्योधन का उसको बड़ी भारी सेना कहना यह बताता है कि वह भयभीत है । बड़ी भारी सेना कहने का कारण यह था कि कौरव की सेना गोलाई में नजदीक एकत्र थी परन्तु पाण्डवों की सेना एक-एक कतार में वज्रव्यूहाकार खड़ी थी जो देखने में ज्यादा संख्या वाली की भाँति मालूम होती थी । दूसरे, पाण्डवों में बड़ी एकता थी जब कि कौरवों में मतभेद था । तीसरी बात यह भी थी कि कौरव पक्ष में ऐसा कोई नहीं था जिसको यह अशीर्वाद प्राप्त हो कि उसके नाम लेने से ही शत्रु का नाश हो जाता हो । जबकि पाण्डवों में अर्जुन को यह आशीर्वाद प्राप्त था । जैसा पाण्डव गीता में कहा गया है-

शत्रु विंनश्यति धनंजयकीर्तनेन (पा० गी०) २॥

स्वयं संजय भी कहता है -

यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयः ॥ (गी. १८/७८)
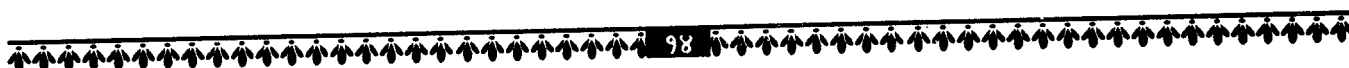
जहाँ पर पृथा-सूनु गाण्डीवधनुर्धारी अर्जुन हैं वहीं पर श्री, और विजय है ।।७८।।

द्रोणाचार्य ने भी कहा है कि अर्जुन के पास शिवाराधन से प्राप्त पशुपति अस्त्र है जिससे शत्रुओं को नष्ट कर देगा। इसीसे भयभीत हो दुर्योधन उस ओर की सेना को बड़ी कहता है । धृष्टद्युम्न का नाम न लेकर द्रुपद पुत्र कहने में दुर्योधन का यह तात्पर्य है कि द्रोणाचार्य को उसके पुराने वैर का स्मरण करा दें, क्योंकि द्रोणाचार्य और द्रुपद जब साथ-साथ पढ़ते थे तभी द्रोण द्वारा भाई कहकर बुलाने पर उसने अपने को राजा समझते हुए द्रोणाचार्य को द्रुपद ने अपमानित किया । जिसके पश्चात् द्रोणाचार्य ने कौरवों और पाण्डवों को शिक्षा प्रदान कर उनके द्वारा द्रुपद को पकड़वा कर मंगवाया और लज्जित किया । इसके फलस्वरूप बड़े प्रयास के बाद महर्षि याज द्वारा महाराज द्रुपद ने द्रोणाचार्य के नाश हेतु पुत्र-प्राप्ति के लिए एक यज्ञ करवाया । उसी यज्ञ की समाप्ति कर लेने पर पुत्र कामनावाली द्रुपद की महारानी को यह कह कर कि यह यजमान की कामना को कैसे नहीं पूर्ण करेगा ?

एवमुक्त्वा तु याजेन हुते हविषि संस्कृते । उत्तस्थौ पावकात् तस्मात् कुमारो देवसंनिभः।।

(महाभार. आदि. १६६।३६)

यों कहकर याज ऋषि ने उस संस्कार युक्त हविष्य की आहुति ज्योंही अग्नि में डाली, त्योंही उस अग्नि से देवता के समान तेजस्वी एक कुमार प्रकट हुआ ।।३६।।

धृष्टत्वादत्यमर्षित्वाद् द्युम्नाद्युत्सम्भवादपि । धृष्टद्युम्नः कुमारोऽयं द्रुपदस्य भवत्विति ।।५३।।

यह द्रुपदकुमार धृष्ट, अमर्षशील तथा द्युम्न (तेजोमय कवच कुण्डल एवं क्षात्रतेज) आदि के साथ उत्पन्न होने के कारण 'धृष्टद्युम्न' नाम से प्रसिद्ध होगा ।।५३।। इस प्रकार धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ । दुर्योधन कहता है कि यह धृष्टद्युम्न बड़ा बुद्धिमान् है; क्योंकि आप को मारने के लिए उत्पन्न होकर भी आपके द्वारा धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर लिया तथा इसने इतनी सुन्दर व्यूह-रचना की है जिससे हम भयभीत हो गये हैं । वह आपका शिष्य होते हुए भी आपके विरुद्ध है । शिष्यका लक्षण बताया गया है -

सद्बुद्धिःसाधुसेवी समुचितचरितस्तत्त्वबोधाभिलाषी ।
शुश्रूषुस्त्यक्तमानः प्रणिपतनपरः प्रश्नकालप्रतीक्षः ।
शान्तो दान्तोऽनसूयः शरणमुपगतः शास्त्रविश्वासशाली
शिष्यः प्राप्तः परीक्षां कृतविदभिमतस्तत्त्वतःशिक्षणीयः ।। (न्यायविंशतिः)

सद्बुद्धिमान्, साधुसेवक, योग्य चरित्रवान्, तत्त्वज्ञान का इच्छुक, गुरुसेवापरायण, निरभिमानी, विनयशील, प्रश्न करने के लिये उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करने वाला, शांत, जितेन्द्रिय, असूया रहित, तथा शास्त्रों पर आस्था रखने वाला व्यक्ति यदि स्वयं ही शरण में आ जाय तथा अवसर आने पर आचार्य द्वारा ली जाने वाली परीक्षा में योग्य समझा जाय तभी शिष्य बनाकर उसे तात्त्विक शिक्षा देनी चाहिए ।

यहाँ पर यदि कोई यह शंका करे कि सदाचारी शिष्य होते हुए भी धृष्टद्युम्न ने ऐसी व्यूहरचना स्वयं क्यों की ? तथा द्रोणाचार्य के विरुद्ध क्यों गया ? तो इसका कारण यह था कि वह शास्त्र में विश्वास करता था और शास्त्र में कहा गया है कि -

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथं प्रतिपन्नस्य शास्त्रैः त्यागोऽभिधीयते ॥

(वा. रा. अयो.२१।१३)

दुराचाररत, वेद के अनुसार करने योग्य और नहीं करने योग्य क्या है ? इसको न जाननेवाले कुमार्गी गुरु का परित्याग शास्त्र विधान करता है ।।१३।। इसलिए धृष्टद्युम्न ने गुरु का त्याग किया ।।३।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्चद्रुपदश्च महारथः ।।४।।

अन्वय :- **अत्र भीमार्जुनसमाः युधि महेष्वासाः शूराः युयुधानः च विराटः च द्रुपदः महारथः ।**

अर्थ :- इस सेना में भीम और अर्जुन के समान युद्ध-कुशल महाधनुर्धर शूरवीर युयुधान, विराट तथा द्रुपद (महारथः) महारथी हैं ।

व्याख्या :- दुर्योधन पाण्डव सेना की व्यूहरचना दिखलाकर अब तीन श्लोकों के द्वारा पाण्डव सेना के प्रमुख महारथियों का नाम बतलाता है । पहले तो दुर्योधन को यह गर्व था कि हमारे विरुद्ध कोई नहीं आयेगा, परन्तु अब युद्ध की घड़ी में वह भयभीत हो गया । कहा भी गया है कि -

आपत्सु मित्रं जानीयात् युद्धे शूरम्, ऋणे शुचिः ।
भार्या क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवः ॥ (हितोपदेश)

आपत्ति में मित्र की, युद्ध में वीर की, ऋण में पवित्रता की, धन के न रहने पर पत्नी की और महती विपत्ति में भाई की परीक्षा होती है । लाख के गृह में जलाने की चेष्टा, द्रौपदी को नग्न कराने का प्रयास आदि अत्याचारों के कारण दुर्योधन युद्ध क्षेत्र में वीरों से सामना होने पर परीक्षा के समय भयभीत हो गया । वह पाण्डवों के महारथियों को भीम और अर्जुन के समान बताता है । समता उसे कहते हैं कि **'तद् भिन्नत्वे सति तद्गत भूयो धर्मत्वं समत्वम्'** अर्थात् उससे भिन्न हो, उसका धर्म उसमें हो उसी को समान कहते हैं । जैसे चन्द्रमा के समान कन्या का मुख कहने में चन्द्रमा के धर्म आह्लादकता, शीतलता आदि की उसके मुख में समानता होना है । भीम को उपमा देने का तात्पर्य भीम के बल की ओर संकेत करने से है, जैसा भीम के जन्म के समय आकाशवाणी हुई कि -

तमप्यतिबलं जातं वागुवाचाशरीरिणा ॥

(महाभार. आदि. १२२।१४)

सर्वेषां बलिनां श्रेष्ठो जातोऽयमिति भारत ।

इदमत्यद्भुतं चासीज्जातमात्रे वृकोदरे ॥१५॥

यदङ्कात् पतितो मातुः शिलां गात्रैर्व्यचूर्णयत् ॥१६॥

हे जनमेजय ! उस महाबली पुत्र को लक्ष्य करके आकाशवाणी ने कहा-'यह कुमार समस्त बलवानों में श्रेष्ठ है ।' भीमसेन के जन्म लेने की एक अद्भुत घटना यह हुई कि अपनी माता की गोद से गिरने पर उन्होंने अपने अङ्गों से एक पर्वत के चट्टान को चूर-चूर कर दिया ॥१४-१६॥

असी प्रकार अर्जुन के जन्म लेने पर भी आकाशवाणी ने कहा-

एष मद्रान् वशे कृत्वा कुरूंश्च सह सोमकैः ।

चेदिकाशिकरूषांश्च कुरुलक्ष्मीं वहिष्यति ॥

(महाभार. आदि. १२२।४०)

तुम्हारा यह वीर पुत्र मद्र कुरु, सोमक, चेदि काशी तथा करूष नामक देशों को वश में करके कुरुवंश की लक्ष्मी का पालन करेगा ॥४०॥

स्वयं भीष्माचार्य दुर्योधन से अर्जुन के बल की प्रशंसा करते हुए कहते हैं -

न हि देवेषु सर्वेषु नासुरेषूरगेषु च । राक्षसेष्वथ यक्षेषु नरेषु कुत एव तु ॥

(महाभार. उद्यो. १६६।१७)

भूतोऽथवा भविष्यो वा रथः कश्चिन्मया श्रुतः ॥१८॥

समस्त देवाताओं, असुरों, नागों, राक्षसों तथा यक्षों में भी अर्जुन के समान कोई नहीं है, फिर मनुष्यों में तो हो ही कैसे सकता है ? भूत या भविष्य में भी कोई ऐसा महारथी मेरे सुनने में नहीं आया है ॥१७-१८॥ भीम और अर्जुन के समान तेजस्वी इस श्लोक में तीन वीरों का नाम दुर्योधन ले रहा है । पहला युयुधान का जो अर्जुन के शिष्य थे और इनका दूसरा नाम सात्यकि था । जैसा महाभारत के उद्योगपर्व के ८१वें अध्याय के श्लोक ५ से ८ तक से ज्ञात होता है। ये यादववंशीय राजा शिनि के पौत्र थे ।

भीष्माचार्य भी इनकी प्रशंसा करते हैं -

सात्यकिर्माधवः शूरो रथयूथपयूथपः । एष वृष्णिप्रवीराणाममर्षी जितसाध्वसः ॥

(महाभार. उद्यो. १७०।४)

मधुवंशी शूरवीर सात्यकि भी रथ-यूथपतियों के भी यूथपति हैं । वृष्णिवंश के प्रमुख वीरों में ये सात्यकि बड़े ही अमर्षशील हैं । इन्होंने भय को जीत लिया है ॥४॥

दूसरे-महारथी विराट मत्स्यदेश के धार्मिक राजा थे । पाण्डवों ने एक वर्ष इन्हीं के यहाँ अज्ञातवास किया था । इनकी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ हुआ था ।

तीसरे महारथी पाञ्चाल देश के राजा पृषत् के पुत्र द्रुपद थे । राजा पृषत् और भरद्वाज मुनि में मित्रता होने से और बाल्यावस्था में भरद्वाज मुनि के आश्रम में रहने से भरद्वाज पुत्र द्रोण से इनकी मित्रता हो गई थी परन्तु बाद में वैर हो जाने पर द्रोण को मारने वाले पुत्र के लिए इन्होंने यज्ञ करवाया । उस सम्बन्ध में कहा गया है-

तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः ॥

(महाभार. आदि ६३।१०८)

वैताने कर्मणि ततः पावकात् समजायत ।
वीरो द्रोणविनाशाय धनुरादाय वीर्यवान् ॥१०९॥

पाञ्चाल नरेश द्रुपद की यागाग्नि से धृष्टद्युम्न का आविर्भाव हुआ, जो साक्षात् अग्निदेव के समान तेजस्वी था । पराक्रमी वीर धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य का विनाश करने के लिये धनुष लेकर प्रकट हुआ था ॥१०८-१०९॥

तत्रैव वेद्यां कृष्णापि जज्ञे तेजस्विनी शुभा ।
विभ्राजमाना वपुषा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥११०॥

उसी यज्ञ की वेदी से शुभस्वरूपा तेजस्विनी द्रौपदी उत्पन्न हुई, जो परम उत्तम रूप धारण करके अपने सुन्दर शरीर से अत्यन्त शोभा पा रही थी ॥११०॥

विराट और द्रुपद की वीरता की प्रशंसा करते हुए भीष्माचार्य दुर्योधन से कहते हैं कि-

अजेयौ समरे वृद्धौ विराटद्रुपदौ तथा ।
महारथौ महावीर्यौ मतो मे पुरुषर्षभौ ॥ (महाभार. उद्यो. १७०।८)

वृद्ध राजा विराट और द्रुपद भी युद्ध में अजेय हैं । इन दोनों महापराक्रमी नरश्रेष्ठ वीरों को मैं महारथी मानता हूँ ॥८॥

लोकवीरौ महेष्वासौ त्यक्तात्मानौ च भारत ।
प्रत्ययं परिरक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ॥१४॥

हे भारत ! महान् धनुर्धर तथा जगत् के सुप्रसिद्ध वीर वे दोनों नरेश अपने विश्वास और सम्मान की रक्षा करते हुए शरीर की परवा न करके युद्धभूमि में महान् पुरुषार्थ प्रकट करेंगे ॥१४॥

महारथी के विषय में लिखा है कि -

एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥

शस्त्र और शास्त्र विद्या में अत्यन्त निपुण उस असाधारण वीर को महारथी कहते हैं जो अकेला ही दस हजार धनुर्धारी योद्धाओं का युद्ध में संचालन करता हो ।।४।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

अन्वय :- **धृष्टकेतुः चेकितानः वीर्यवान् काशिराजःच पुरुजित् च कुन्तिभोजः, च नरपुंगवः शैब्यः ।**

अर्थ :- धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज एवं पुरुजित् और कुन्तिभोज तथा नरश्रेष्ठ शैब्य (महारथी हैं) ।

व्याख्या :- दुर्योधन ६ महारथियों का नाम इस श्लोक में बता रहा है - १-धृष्टकेतु ये चेदिदेश के राजा शिशुपाल के पुत्र थे । इनका परिचय देते हुए कहा गया है -

शिशुपालसुतो वीरश्चेदिराजो महारथः ।
धृष्टकेतुर्महेष्वासः सम्बन्धी पाण्डवस्य ह ॥
(महाभार. उद्यो. १७१।८)

शिशुपाल का वीर पुत्र महाधनुर्धर चेदिराज धृष्टकेतु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर का सम्बन्धी एवं महारथी है ।।८।। धृष्ट यानी ढिठाई जिसका केतु हो उसे धृष्टकेतु कहते हैं । अन्य लोगों के पताका जैसे अर्जुन का कपिध्वज आदि था, परन्तु यह अपनी ढीठता रूप पताका से ही पहचान लिया जाता था । यद्यपि इसका पिता शिशुपाल श्रीकृष्णभगवान् द्वारा मारा गया था परन्तु तब भी यह पाण्डवों के तरफ से ही आया था, जैसी आशा दुर्योधन नहीं करता था ।

२-**'चेकितानस्तु वार्ष्णेय'** (महाभार. भीष्म. ८४।२०) के अनुसार चेकितान वृष्णिवंशीय यादव थे, महारथी योधा और बड़े शूरवीर थे ।

१-काशिराज काशी के राजा थे, ये बड़े ही वीर थे, जैसा कहा भी गया है -

काश्यः परमशीघ्रास्त्रः श्लाघनीयो नरोत्तमः ॥
(महाभार. उद्यो. १७१।२२)

युद्ध में दूसरे वीरों से स्पर्धा रखने वाले तथा बहुत फुर्ती के साथ अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करने वाले प्रशंसनीय एवं उत्तम रथी नर-श्रेष्ठ काशिराज ।।२२।। काशिराज का नाम सेनाविन्दु और क्रोधहन्ता बतलाया गया है । दुर्योधन इस श्लोक में काशिराज का नाम लेकर यह संकेत कर रहा है कि काशी का इतना महत्त्व है कि उसका नाम लेने से अथवा सुनने से जन्म-मरण छूट जाता हैजैसा स्कन्दपुराण, काशीखण्ड में स्वयं वादरायण ने लिखा है -

श्रुतं कर्णामृतं येन काशीत्यक्षरयुग्मकम् ।
न समाकर्णयत्येव स पुनर्गर्भजां कथाम् ॥
(स्क. पु. काशी खं. अ. ६४)

जिसने काशी यह दो अक्षरों का अमृत कानों से पान कर लिया उसे गर्भजनित व्यथा-कथा नहीं सुननी पड़ती । इसलिए इसी निमित्त से काशिराज घटकीभूत काशी शब्द आ जायगा जिससे पुण्य प्राप्त होगा । ४-पुरुजित् और ५-कुन्तिभोज दोनों कुन्ती के भाई थे और युधिष्ठिर आदि के मामा थे । जैसा भीष्माचार्य स्वयं कहते हैं -

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः ।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः ॥ (महाभार. उद्यो. १७२।२)

कुन्तिभोज और राजा पुरुजित् जो भीमसेन के मामा हैं वे भी महाधनुर्धर और अत्यन्त बलवान हैं । मैं इन्हें भी अतिरथी मानता हूँ ।।२।।

एष वीरो महेष्वासः कृती च निपुणश्च ह ।
चित्रयोधी च शक्तश्च मतो मे रथपुङ्गवः ।।३।।

इनका धनुष महान् है । ये अस्त्रविद्या के विद्वान् और युद्धकुशल हैं । रथियों में श्रेष्ठ वीर पुरुजित् विचित्र युद्ध करने वाले और शक्तिशाली हैं ।।३।। बारबार जीतने से इनका नाम पुरुजित् है । कुन्तिभोज 'भुज्' धातु से भोजन के अर्थ में कुन्ती के साथ प्रायः बाल्यावस्था में भोजन साथ-साथ करने से कुन्तिभोज नाम पड़ा । ६छठें महारथी का नाम नरश्रेष्ठ शैब्य है जो धर्मराज युधिष्ठिर के श्वसुर थे । महाभारत के आदिपर्व में लिखा है कि -

युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवरे लेभे । (महाभार० आदि० ६५।७६)

युधिष्ठिर ने शिवि देश के राजा गोवासन की पुत्री देविका को स्वयंवर में प्राप्त किया ।।७६।। राजा शिबि के खानदान में होने से शैब्य नाम पड़ा । शिबि को नरश्रेष्ठ की उपाधि प्रदान की गई थी । इसी बात को जनाने के लिये नरपुङ्गव शब्द का प्रयोग किया गया है । गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं कि - 'सिबि दधिच हरिचन्द नरेसू । सहे धर्म हित कोटि कलेसू' ।

राजा शिबि को नरश्रेष्ठ उपाधि मिलने का कारण यह था कि वे सूर्योदय के समय स्नान करके बैठे थे, उसी समय इनकी परीक्षा करने की दृष्टि से इन्द्र और अग्नि क्रमशः बाज और कबूतर बन कर आये । कबूतर हाँफता हुआ राजा शिबि की गोद में गिर पड़ा और बाज पीछा करता हुआ राजा के समीप बैठ गया तथा देववाणी में कहा कि मेरा भोजन मुझे दे दो । शरणागत की रक्षा करना परम धर्म है, इसलिए राजा ने कबूतर के बदले बाज को उसी के बराबर अपना मांस देना स्वीकार कर लिया । तराजू के एक पलड़े पर कबूतर रखा गया और दूसरे पर राजा ने अपनी वाम भुजा, वाम जंघा काटकर चढ़ायी, पुनः कम रहने पर अन्त में स्वयं पलड़े पर बैठ गये । यह देख भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और

बोले कि गो, ब्राह्मण को कौन कहे एक कबूतर की रक्षा में आपने अपना शरीर तक दे दिया, इसलिए आपका वंश आज से 'नरपुङ्गव' कहा जायगा । इस प्रकार राजा शिबि की परम्परा को जनाने के लिए 'शैब्य' शब्द का प्रयोग किया गया है । यह आख्यायिका ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णित है ।

यह श्लोक एक और रहस्य को व्यक्त करता है । गीता के प्रथमाध्याय का यह पाँचवाँ श्लोक है । पाँचो श्लोकों के आदि में गुरु वर्ण है । **'संयोगे गुरु'** (पा. व्या.१।४।११) संयोग परे रहने पर पूर्व वर्ण को गुरु कहते हैं ।।११।। और **'हलोऽनन्तरा: संयोग:'** (पा. व्या.१।१।७) दो या तीन वर्ण जिसमें मिले रहते हैं उसको संयोग कहते हैं ।।७।। इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथमाध्याय के-१-**'धर्मक्षेत्रे'** (गी. १।१), २-**'दृष्ट्वा'** (गी. १।२), ३-**'पश्यैताम्'** (गी. १।३), ४-**'अत्रशूरा:'** (गी. १।४) तथा ५-**'धृष्टकेतुश्चेकितान:'** (गी. १।५) इन पाँचों श्लोकों में आदि का वर्ण 'ध', 'दृ', 'प', 'अ' तथा 'धृ' ये पाँचो वर्ण गुरु वर्ण हैं । इससे सूक्ष्म रूप से सर्वशास्त्रमयी गीता माँ संकेत करती है कि पाँच गुरुओं से ज्ञान का स्रोत जिस महापुरुष में गया हो, कलियुग में उसी में पूर्ण गुरुत्व है । ऐसे महापुरुष भगवत्पाद श्रीशेषावतार रामानुजाचार्य जी ही हैं जिनमें पाँच गुरुओं के ज्ञान का स्रोत गया है । जो इस प्रकार से है-

१- आपने श्रीकुमुदांश श्रीमहापूर्णाचार्य स्वामीजी से श्रीकाञ्चीपुरी में संस्कृताम्नाय प्राप्त किया था ।

२- श्रीसुमुखांश श्रीशैलपूर्णाचार्य स्वामी जी से श्रीवेंकटाद्रि के नीचे तिरुपत्ति में श्रीरामायण का विशेषार्थ ग्रहण किया था ।

३- श्रीपुण्डरीकांश श्रीगोष्ठीपूर्णाचार्य स्वामी जी से गोष्ठीपुरम् में मन्त्रार्थ प्राप्त किया था ।

४- श्री शंकुकर्णांश श्रीवररंगाचार्य स्वामी जी से द्राविडाम्नाय का प्रबन्ध पाठ सीखा था । तथा-

५- श्रीवनमालांश श्रीमालाधर स्वामी जी से अलगरतिरुमलै अर्थात् सुन्दरबाहु स्थल में तिरुवायमोल्ली आदि द्राविडाम्नाय प्रबन्धों का विशेषार्थ ग्रहण किया था ।

इससे गीता बताती है कि गुरुत्व की पूर्ति श्रीरामानुजाचार्य स्वामी जी में ही है, इसलिए जबतक उनसे सम्बन्ध नहीं होगा, तबतक जीव का कल्याण संभव नहीं है ।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथा: ।।६।।

अन्वय :- **विक्रान्त: युधामन्यु: च वीर्यवान् उत्तमौजा च सौभद्र: च द्रौपदेया:, सर्व एव (सर्वे एव) महारथा: ।**

अर्थ :- महापराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सौभद्र (यानी अभिमन्यु) और द्रौपदेय (द्रौपदी के पाँच पुत्र) ये सभी महारथी हैं ।

व्याख्या :- दुर्योधन तीसरे श्लोक में कुल मिलाकर १३ महारथियों के नाम गिना रहा है । १-युधामन्यु और २-उत्तमौजा ये दोनों पाञ्चालदेशीय राजकुमार थे । ये दोनों ही अर्जुन के रथ के पहिये की रक्षा करने पर नियुक्त किये गये थे । जैसा महाभारत के भीष्मपर्व में कहा गया है -

वामं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम् ॥ (महाभार. भीष्म. १५।१६)

अर्जुन के बायें पहिये की रक्षा युधामन्यु और दाहिने की रक्षा उत्तमौजा कर रहे हैं ।।१६।। युध + अमन्यु से दीर्घ होकर युधामन्यु बना है । युद्ध में शत्रुओं के वार करने पर क्रोध नहीं करता था, इसलिए यह नाम पड़ा तथा 'विक्रान्त' कहकर यह बताया गया है कि वह शत्रुओं पर 'वि' नाम विशेष रूप से 'क्रान्त' यानी आक्रमण करता था । उत्तम ओज जिसका हो उसे उत्तमौजा कहते हैं । यह भी बलसम्पन्न वीर था इसलिये इसे 'वीर्यवान्' विशेषण दिया गया है । इन दोनों वीरों की प्रशंसा करते हुए भीष्म जी कहते हैं-

उत्तमौजास्तथा राजन् रथोदारो मतो मम ।
युधामन्युश्च विक्रान्तो रथोदारो मतो मम ॥ (महाभार. उद्यो. १७०।५)

हे राजन् ! उत्तमौजा को भी मैं उदार रथी मानता हूँ । पराक्रमी युधामन्यु भी मेरे मत में एक श्रेष्ठ रथी हैं ।।५।।

पाण्डवैः सह राजेन्द्र तव सेनासु भारत ।
अग्निमारुतवद् राजन्नाह्वयन्तः परस्परम् ।।७।।

हे भारत ! हे राजेन्द्र ! वे दोनों पाण्डवों के साथ तुम्हारी सेना में प्रवेश करके एक दूसरे का आह्वान करते हुए अग्नि और वायु की भाँति विचरेंगे ।।७।। ३-सुभद्रा पुत्र को सौभद्र कहते हैं, जिस प्रकार कुन्ती पुत्र अर्जुन का नाम कौन्तेय पड़ गया उसी परम्परानुसार अभिमन्यु का भी यह नाम पड़ गया । सुभद्रा भगवान् श्रीकृष्ण की बहन थी जिसका विवाह अर्जुन से हुआ था । उन्हीं के गर्भ से उत्पन्न अभिमन्यु थे । इनका परिचय देते हुए महाभारत में लिखा है कि -

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा ।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ॥ (महाभार. आदि. २२०।६५)

तदनन्तर कुछ काल के पश्चात् श्रीकृष्ण की प्यारी बहन सुभद्रा ने यशस्वी सौभद्र को जन्म दिया, ठीक वैसे ही जैसे शची ने जयन्त को उत्पन्न किया ।।६५।।

दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिंदमम् ।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ।।६६।।

सुभद्रा ने वीरवर नरश्रेष्ठ अभिमन्यु को उत्पन्न किया, जिसकी बड़ी-बड़ी बाहें, विशाल वक्षःस्थल और बैल के नेत्र के समान विशाल नेत्र थे । वह शत्रुओं को दमन करने वाला था ।।६६।।

अभिश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् ।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ॥६७॥

वह अभि (निर्भय) एवं मन्युमान् (क्रुद्ध होकर लड़ने वाला) था, इसीलिये पुरुषोत्तम अर्जुनकुमार को 'अभिमन्यु' कहते हैं ॥६७॥

'द्रौपदेया:' कहकर द्रौपदी के पाँचो पुत्रों को गिनाया गया है । यह शब्द यह संकेत करता है कि **'लध्वर्थं अध्येयं व्याकरणम्'** अर्थात् थोड़े में बोलने के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए । इस श्लोक में तीन महारथियों को गिना कर अब चौथे महारथी द्रौपदी के पहले पुत्र प्रतिविन्ध्य, ५वें-महारथी, सुतसोम छठें-श्रुतकर्मा ७वें- शतानीक एवं ८वें- श्रुतसेन का परिगणन किया गया है । इन महारथियों का परिचय देते हुए महाभारत में लिखा है कि-

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ॥ (महाभार. आदि. २२०।७६)

युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा, नकुल से शतानीक ॥७६॥

सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्च महारथान् ।
पञ्चाली सुषवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ॥८०॥

सहदेव से श्रुतसेन उत्पन्न हुए थे । इन पाँच वीर महारथी पुत्रों को पाञ्चाली (द्रौपदी) ने उसी प्रकार जन्म दिया, जैसे अदिति ने बारह आदित्यों को ॥८०॥

शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यं तमूचु विप्रा युधिष्ठिरम् ।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ॥८१॥

ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर से उनके पुत्र का नाम शास्त्र के अनुसार प्रतिविन्ध्य बताया । उनका उद्देश्य यह था कि यह प्रहारजनित वेदना के ज्ञान में विन्ध्य पर्वत के समान हो । (इसे शत्रुओं के प्रहार से तनिक भी पीड़ा न हो) ॥८१॥

सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम् ।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ॥८२॥

भीमसेन के सहस्र सोमयाग करने के पश्चात् द्रौपदी ने उनसे सोम और सूर्य के समान तेजस्वी महान् धनुर्धर पुत्र को उत्पन्न किया था, इसलिए उसका नाम सुतसोम रखा गया ॥८२॥

श्रुतं कर्म महत् कृत्वातिवृत्तेन किरीटिना ।
जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ॥८३॥

किरीटधारी अर्जुन ने महान् एवं विख्यात कर्म के पश्चात् लौटकर द्रौपदी से पुत्र उत्पन्न किया था, इसलिये उनके पुत्र का नाम श्रुतकर्मा हुआ ॥८३॥

शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः ।
चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम् ।।८४।।

कौरवकुल के महामना राजर्षि शतानीक के नाम पर नकुल ने अपने कीर्तिवर्धक पुत्र का नाम शतानीक रख दिया ।।८४।।

ततस्त्वजीजनत् कृष्णा नक्षत्रे वाह्नदैवते ।
सहदेवात् सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति यं विदुः ।।८५।।

तदनन्तर कृष्णा ने सहदेव से अग्नि देवता सम्बन्धी कृत्तिका नक्षत्र में एक पुत्र उत्पन्न किया, इसीलिए उसका नाम श्रुतसेन रखा गया (श्रुतसेन अग्नि का ही नामान्तर है) ।।८५।।

एकवर्षान्तरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः ।
अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहितैषिणः ।।८६।।

हे राजेन्द्र ! ये यशस्वी द्रौपदी कुमार एक-एक वर्ष के अन्तर से उत्पन्न हुए थे और एक दूसरे का हित चाहने वाले थे ।।८६।। इस श्लोक में 'च' शब्द अनुक्तसचुच्चयार्थक है । इस प्रकार इस श्लोक में आठ महारथियों की गणना कर 'च' शब्द से 'अनुक्तसमुच्चयार्थक' पाँच और महारथियों की गणना की गयी है । इसलिए आठ के अतिरिक्त ९वें-यौधेय १०वें-सर्वग ११वें-निरमित्र १२ वें-सुहोत्र और १३ वें-घटोत्कच । इन महारथियों का परिचय इस प्रकार है -

युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्यशैब्यस्य देविकां नामकन्यां स्वयंवरे लेभे ।
तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम ।। (महाभार. आदि. ९५।७६)

युधिष्ठिर ने शिबि देश के राजा गोवासन की पुत्री देविका को स्वयंवर में प्राप्त किया और उसके गर्भ से एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम यौधेय था ।।७६।।

भीमसेनोऽपि काश्यां बलन्धरां नामोपयेमे वीर्यशुल्काम् तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास ।।७७।।

भीमसेन ने भी काशिराज की कन्या बलन्धरा के साथ विवाह किया, उसे प्राप्त करने के लिये बल एवं पराक्रम का शुल्क रखा गया था अर्थात् यह शर्त था कि जो अधिक बलवान् हो, वही उसके साथ विवाह कर सकता है । भीमसेन ने उसके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम सर्वग था ।।७७।।

नकुलस्तु चैद्यां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहत् ।
तस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाजनयत् ।।७९।।

नकुल ने चेदिनरेश की पुत्री करेणुमती को पत्नी रूप में प्राप्त किया और उसके गर्भ से निरमित्र नामक पुत्र को जन्म दिया ।।७६।।

सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे मद्रराजस्य द्युतिमतो दुहितरम् ।
तस्यां पुत्रमजनयत् सुहोत्रं नाम ॥८०॥

सहदेव ने भी मद्रदेश की राजकुमारी विजया को स्वयंवर में प्राप्त किया । वह मद्रराज द्युतिमान् की पुत्री थी । उसके गर्भ से उन्होंने सुहोत्र नामक पुत्र को जन्म दिया ॥८०॥

भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास ॥८१॥

भीमसेन ने पहले ही हिडिम्बा के गर्भ से घटोत्कच नामक राक्षस जातीय पुत्र को उत्पन्न किया था ॥८१॥ भीष्मजी इसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं -

भीमसेनिर्महाराज हैडिम्बोराक्षसेश्वरः ।
मतो मे बहुमायावी रथयूथपयूथपः ॥ (महाभार. उद्यो. १७२।६)

हे महाराज ! भीमसेन और हिडिम्बा का पुत्र राक्षसराज घटोत्कच बड़ा मायावी है । वह मेरे मत में रथयूथपतियों का भी यूथपति है ॥६॥ इस प्रकार इस श्लोक में कुल १३ महारथियों की गणना दुर्योधन ने किया है । 'युयुधानः' (गी. १।४) से लेकर 'द्रौपदेयाः' (गी० १।६) पर्यन्त सभी को दुर्योधन कहता है कि ये सब महारथी हैं ।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥

अन्वयः- द्विजोत्तम ! अस्माकं तु ये विशिष्टाः, मम सैन्यस्य नायकाः तान् निबोध, ते संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ।

अर्थ :- हे द्विजोत्तम ! हमारी सेना के जो विशिष्ट (योद्धा) हैं, जो मेरी सेना के नायक हैं, उन्हें जान लीजिए । आपकी जानकारी के लिए उनको मैं बतलाता हूँ ।

व्याख्या :- दुर्योधन इसके पहले पाण्डवों के महारथियों को बताकर अब अपने दल के महान् रथियों को जनाने के लिए विज्ञापन करता है । द्रोणाचार्य को 'द्रजोत्तम' सम्बोधन देकर यह बताता है कि आप ब्राह्मणों में भी श्रेष्ठ हैं । क्योंकि आपका जन्म माता के गर्भ में जहाँ मल, मूत्र, मांस, मज्जा रहता है उसमें से नहीं हुआ है । इसलिए आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं । यहाँ 'द्विज' शब्द ब्राह्मण में रूढ़ रहने से वही अर्थ होगा । द्विज उसे कहते हैं कि - **'द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायन्ते इति द्विजाः'** जो दो बार १-माता के गर्भ से २-यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा गायत्री माँ से जन्म हो उसको द्विज कहते हैं । सृष्टि के आदि से आज तक अविच्छिन्न परम्परानुसार ब्राह्मणों का यज्ञोपवीत संस्कार अवश्य किया जाता है, भले ही दीन-हीन क्यों न हो । ऐसा अन्य क्षत्रियादि में नहीं होता है । इसलिए यहाँ 'द्विज' करके ब्राह्मण से ही तात्पर्य है । **'विशेषेण शिष्टा विशिष्टाः'** अर्थात् 'वि' नाम विशेष रूप से जो हमारे कौरव दल में 'शिष्ट' नाम बड़े हैं उनका

आपको 'सं' नाम अच्छे प्रकार से 'ज्ञा' नाम जानने के लिये । जिससे आप भी समझ सकें । यद्यपि द्रोणाचार्य जानते थे फिर भी दुर्योधन के कहने का तात्पर्य यह है कि अच्छी बात गुरु को स्वयं जनाना चाहिये ।

इस श्लोक में 'विशिष्टा:' पद जो विशिष्ट का बहुवचन है आया है । इस विशिष्ट से समन्वित एक घटना जो मेरे साथ हुई है उसी का मुझे स्मरण हो आया है जिसे मैं कह दे रहा हूँ । घटना उस समय की है जब मैं रेल, बस आदि किसी सवारी से न जाकर पैदल ही कुछ महात्माओं के साथ तीर्थयात्र करता था । नेपाल राज्य में एक जनकपुर नाम का महान् तीर्थ है । जिसके विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है -

जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥ (बृहदा. उ. अ. २ ब्रा. १ श्रु. १)

राजा जनक जनक हैं अर्थात् सबके पिता हैं ऐसा निश्चय करके सबलोग उनके पास दौड़ते जाते हैं ।।१।। उस जनकपुर का महाभारत में माहात्म्य लिखा है कि-

जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः ।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥
(महाभार वन. ८४।१११)

राजर्षि जनक के देवताओं से पूजित कूप में स्नान करके मनुष्य विष्णुलोक को प्राप्त होता है ।।१११।। यह कूप अद्यावधि वर्तमान है । ज्ञानी तो वहाँ इतना होते थे कि वहाँ के धर्मव्याध ने कौशिक ऋषि के वेदान्त सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर दिया जिस कथा का महाभारत के वन पर्व के अध्याय २०६ से २१५ तक वर्णन किया गया है । इसी जनकपुर में पिंगला नाम की वेश्या रहती थी जिसने अपने कर्मों पर पश्चात्ताप कर भगवान् के चरणारविंद में प्रीति की । जिसकी कथा श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के अध्याय आठ में वर्णित है । इस जनकपुर का दूसरा नाम मिथिलापुरी भी है । इसी जनकपुर में मैं कुछ महात्माओं के साथ पैदल भ्रमण करते हुए चैत्र नवमी को पहुँचा । इसे देखकर मन हर्षित हो गया और मुझे संत तुलसदास द्वारा वर्णित इन पंक्तियों का स्मरण हो आया -

मंगलमय मन्दिर सब केरे । चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे ।
पुर नरनारि सुभग शुचि सन्ता । धर्मशील ज्ञानी गुणवन्ता ॥
सिय निवास सुन्दर सदन शोभा किमि कहि जात ॥ (रा. मा.१।२१३)

मैं मन में यह विचार करने लगा कि यहाँ तो बहुत से मन्दिर हैं फिर कहाँ ठहरूँ । ऐसा सोचते हुए मेरा मन स्फुरण द्वारा वाल्मीकि रामायण के इस वाक्य पर कि-

जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता । (वा. रा. १।२७)

जनक के कुल में देवमाया की भाँति सुन्दरी उत्पन्न सीता ।।२७।। तथा **'सीतायाश्चरितं महत्'** जिसमें सीता का महान् चरित्र है (वा. रा.४।७) और श्रीसम्प्रदाय के आचार्य श्रीपराशर भट्टाचार्य ने जो श्रीगुणरत्नकोश में **'मातर्मैथिलि'**

(श्रीगुण. श्लो. ५०) करके वर्णन किया है । इन सूक्तियों को हृदय में रखकर श्रीजानकी मन्दिर (जिसे नवलखा मन्दिर भी कहते हैं) के पास पहुँचा । उसी समय जनकपुर का मेला लगा हुआ था । इस समय की ही भाँति मैं अपने सामान्य वेश में तब भी रहा । मेरे पहुँचते ही वहाँ प्रचार हो गया कि त्रिदण्डी स्वामी जी पधारे हैं । वहाँ व्याख्यान सभा लगती थी, इसलिए मुझे आया हुआ जानकर विद्वान् लोग आग्रह करके व्याख्यान पाण्डाल में लिवा गये और मुझे ही सभा का सभापति भी चुन लिये, परन्तु मैंने कह दिया कि मेरा नियम है कि सूर्यास्त के समय से पूर्व ही व्याख्यान देता हूँ, इसलिए आपलोग मुझसे उसके पहले ही थोड़ा व्याख्यान दिलवा सकते हैं । अनेक विद्वानों ने भगवान् राम और अम्बा सीता के वैभव को बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया जैसा आप लोगों को विदित ही है कि मिथिला विद्वानों की पुरी ही है । यहाँ ही शुकदेव जी ने जनक से ज्ञान प्राप्त किया तथा शिवावतार होते हुए भी आद्य शंकराचार्य मंडन मिश्र की पत्नी से शास्त्रार्थ में झुक गये । सभा में वैष्णव स्मार्त सभी मैथिल भारी संख्या में एकत्र थे । एक सज्जन ने मेरे बोलने के पूर्व ही एक प्रश्न लिखकर दिया कि आपसे आज सबलोग यही सुनना चाहते हैं कि अद्वैत बड़ा है या विशिष्टाद्वैत । बड़े-बड़े स्मार्त विद्वान् वहाँ एकत्र थे । मैंने कहा कि मैं पैदल दूर से चलकर आया हूँ तथा अभ्यागत संन्यासी हूँ । आप ने अन्य विद्वानों से न पूछकर मुझसे ही प्रश्न किया और वह भी बड़ा छोटा का । जब कि रामचरित मानस का यहाँ सर्वत्र प्रचार है, जिसमें कहा गया है कि 'को बड़ छोट कहत अपराधू' अर्थात् बड़ा छोटा कहने में बड़ा अपराध होता है । इस प्रकार का प्रश्न तो अनादिकाल से होता आया है जैसा महाभारत में 'को धर्मः सर्वधर्माणाम्' (महाभारत अनु. वि. सहस्र. २) सब धर्मों में कौन धर्म बड़ा है ।।२।। तथा हमारे श्रीयामुनाचार्य स्वामी **'पुरुषोत्तमः कः'** (श्रीस्तोत्ररत्न १५) पुरुषों में उत्तम यानी बड़ा कौन ? ।।१५।। आपलोगों ने भी वादरायण और आचार्य के अनुसार प्रश्न कर दिया, इसलिये थोड़ा कह देता हूँ, परन्तु बड़े छोटे का निर्णय मैं नहीं करूँगा । ऐसा कहकर मैंने इसी श्लोक की चर्चा करते हुए कहा कि श्रीमद्भगवद्गीता के उपोद्घात के ७वें श्लोक में **'विशिष्ट'** शब्द आया है । दुर्योधन ११ अक्षौहिणी सेना में विशिष्ट का वर्णन करने जा रहा है । अक्षौहिणी किसे कहते हैं यह भी आपलोग समझ लें । इस विषय में मुझे बाल्यावस्था का एक श्लोक याद है जो इस प्रकार है-

अयुतं च नागाः त्रिगुणी रथानां लक्षैकयोधाः दशलक्ष वाजिनाम् ।
पदात्तिसंख्या षड्त्रिंशकोटयः अक्षौहिणीनां मुनयो वदन्ति ।।

अब इसके अनुसार ११ अक्षौहिणी संख्या में विशिष्ट वीर सात ही हैं जिनका वर्णन करता है और जैसे परशुराम वीर हैं और श्रीरामविशिष्ट वीर हैं क्योंकि जो धनुष परशुराम से नहीं चढ़ता था वह श्रीराम के हाथ में लेते ही क्षणमात्र में चढ़ गया । इसी से भगवान् श्रीकृष्ण गीता में **'रामः शस्त्रभृतामहम्'** (गी० १०।३१) शस्त्रधारियों में मैं श्रीराम हूँ ।।३१।। आप लोगों में बहुत से पंडित भी बैठे हैं । किसी को हम पंडित जी कहें और किसी को विशिष्ट पंडित जी कहें । इसी प्रकार एक अद्वैत है, दूसरा विशिष्ट शब्द से युक्त अद्वैत है । अब आपही निर्णय कर लें कि कौन बड़ा है । यहाँ मैं एक बात और कह देता हूँ कि अद्वैतवादी निर्विशेष ब्रह्म अर्थात् विशेषण रहित ब्रह्म को कहते हैं जब कि दुनिया में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका विशेषण न हो । स्वयं आप लोग भी जिस श्रीराम का यहाँ उत्सव मना रहे हैं उनका भी मानसकार

'**नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गम्**' (मानस २।२) तथा इसी को भाषा में भी '**नील सरोरुह स्याम**' (मा. १।३) विशेषण सहित वर्णन करते हैं । इसी रामचरित मानस का पूरा प्रचार यहाँ है ही और श्रीराम से बढ़कर कोई परतत्त्व नहीं है '**रामान्नास्ति परायणं परतरम्**' । इसलिए जो विशेषण रहित ब्रह्म कहते हैं वे अपनी शंका दूसरे दिन मुझसे दूर कर लेंगे । आज तो मुझे विशिष्ट शब्द की ओर संकेत करना है । इस प्रकार आप समझ गये होंगे कि दोनों अर्थात् अद्वैत तथा विशिष्ट शब्द से युक्त विशिष्टाद्वैत में कौन बड़ा है । यह सुनते ही करतल ध्वनि के साथ ही श्रीजनककिशोरी की जय का नाद गुञ्जरित हो उठा । और आम रास्ते पर लोग चर्चा करने लगे कि अब इस प्रश्न पर दूसरे दिन शंका करना ही व्यर्थ है क्योंकि यह तो इतना सरल ढंग का उत्तर मिला जिसे एक बालक भी समझ गया ।।७।।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।।८।।

अन्वय :- भवान् च भीष्मः च कर्णः च, समितिंजयः कृपः च अश्वत्थामा, च विकर्णः तथा एव सौमदत्तिः ।

अर्थः- आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थाम, विकर्ण और वैसे ही सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा ।

व्याख्या :- इस श्लोक में दुर्योधन अपने पक्ष की ११ अक्षौहिणी सेना में सात विशिष्ट वीरों का परिगणन कर रहा है । इसमें छः का तो नाम लेता है और द्रोण के स्थान में 'भवान्' पद का प्रयोग करता है । इससे यह संकेत किया गया है कि-

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ।। (स्मृति)

कल्याण की कामना वाला १-अपना नाम (अर्थात् अपने जन्म की राशि पर रखा गया नाम) २-गुरु का नाम ३-अति कृपण का नाम ४-ज्येष्ठ लड़के का नाम और ५-अपनी स्त्री का नाम न कहे।। इसलिये शास्त्र की मर्यादा के अनुसार दुर्योधन ने अपने आचार्य द्रोण का नाम नहीं कहा । १-द्रोण का परिचय देते हुए महाभारत में लिखा है कि-

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूव भगवानृषिः ।
भरद्वाज इति ख्यातः सततं संशितव्रतः ।। (महाभार. आदि. १२६।३३)

गङ्गाद्वार में भगवान् भरद्वाज नाम से प्रसिद्ध एक महर्षि रहते थे । वे सदा अत्यन्त कठोर व्रतों का पालन करते थे ।।३३।। 'एक दिन उन्हें एक विशेष प्रकार के यज्ञ का अनुष्ठान करना था । इसलिये वे भरद्वाज मुनि महर्षियों को साथ लेकर गङ्गाजी में स्नान करने के लिए गये' (३४) ।

ददर्शाप्सरसं साक्षाद् घृताचीमाप्लुतामृषिः ।
रूपयौवनसम्पन्नां मददृप्तां मदालसाम् ।।३५।।

वहाँ पहुँचकर महर्षि ने प्रत्यक्ष देखा, घृताची अप्सरा को जो रूपयौवन से सम्पन्न थी और जवानी के नशे में मद से उन्मत्त हुई जान पड़ती थी ।।३५।। 'वह पहले से ही स्नान करके नदी के तट पर खड़ी हो वस्त्र बदल रही थी । उसका वस्त्र खिसक गया और उसे उस अवस्था में देखकर ऋषि के मन में कामवासना जाग उठी' (३६)

तत्र संसक्तमनसो भरद्वाजस्य धीमतः ।
ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिद्रोण आदधे ।।३७।।

परम बुद्धिमान् भरद्वाज जी का मन उस अप्सरा में आसक्त हुआ; इससे उनका वीर्य स्खलित हो गया । ऋषि ने उस वीर्य को द्रोण (यज्ञकलश) में रख दिया ।।३७।।

ततः समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।।३८।।

तब उन बुद्धिमान् महर्षि को उस कलश से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह द्रोण से जन्म लेने के कारण द्रोण नाम से ही विख्यात हुआ । उसने सम्पूर्ण वेदों और वेदाङ्गों का अध्ययन किया ।।३८।। इन्होंने महर्षि अग्निवेश्य से और श्रीपरशुरामजी से रहस्य समेत समस्त अस्त्र-शस्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था । भीष्माचार्य ने इनके विषय में कहा है-

अस्त्रवेगानिलोद्धूतः सेनाकक्षेन्धनोत्थितः ।। (महाभार. उद्यो. १६७।१३)

द्रोणाचार्य अस्त्रवेगरूपी वायु का सहारा पाकर उद्दीप्त होंगे और सेनारूपी घास-फूस तथा ईंधनों को पाकर प्रज्वलित हो उठेंगे ।।१३।।

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यः स्थविरो गुरुः ।।१५।।

सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओं के ये आचार्य एवं वृद्ध गुरु हैं ।।१५।।
दूसरे नम्बर पर गुरु के बाद महात्मा का नाम लेता है ।
२- भीष्म का परिचय देते हुए महाभारत में लिखा है कि -

शान्तनुः खलु गंगां भागीरथीमुपयेमे । नाम्ना यमाहु भीष्ममिति ।। (महाभार. आदि. ९५/४७)

शान्तनु ने भागीरथी गङ्गा को अपनी पत्नी बनाया; जिसके गर्भ से उन्हें देवव्रत नामक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसे लोग भीष्म कहते हैं ।।४७।। महाराजा शान्तनु को सौंपते हुए भीष्म के विषय में गङ्गाजी ने कहा कि -

वेदानधिजगे साङ्गान् वसिष्ठादेष वीर्यवान् ।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि ।। (महाभार. आदि. १००।३५)

आपका यह बलवान् पुत्र महर्षि वसिष्ठ से अंगों सहित समस्त वेदों का अध्ययन कर चुका है । यह अस्त्र-विद्या का पण्डित है, महान् धनुर्धर है और युद्ध में देवराज इन्द्र के समान पराक्रमी है ।।३५।।

सुराणां सम्मतो नित्यमसुराणां च भारत ११३६॥

हे भारत ! देवता और असुर भी इसका सदा सम्मान करते हैं ॥३६॥ ये बालब्रह्मचारी और यथार्थ वक्ता थे । इनमें शौर्य, वीर्य, त्याग, सत्य स्पष्टवादिता, मातृ-पितृ-भक्ति आदि सद्गुण पूर्णरूप से विद्यमान् थे । ये भगवान् श्रीकृष्ण के परमप्रेमी भक्त थे । इनके मार्मिक उपदेशों को स्वयं भगवान् ने जाकर सुना ।

तीसरे विशिष्ट वीर कर्ण का (जो दुर्योधन का प्रिय सखा है) नाम लेता है । कर्ण का परिचय देते हुए बताया गया है कि -'भगवान् दुर्वासा ने पृथा की सेवाओं से सन्तुष्ट होकर उसे प्रयोगविधि सहित एक मन्त्र का विधिपूर्वक उपदेश किया और कहा-हे देवि ! तुम इस मन्त्र द्वारा जिस-जिस देवता का आवाहन करोगी, उसी-उसी के कृपा-प्रसाद से पुत्र उत्पन्न करोगी ।' (महाभार. आदि. ६७।१३४-१३५) दुर्वासा के ऐसा कहने पर वह सती-साध्वी यशस्विनी बाला यद्यपि अभी कुमारी कन्या थी, तो भी कौतूहलवश उसने भगवान् सूर्य का आवाहन किया । (१३६)

प्रकाशकर्ता भगवांस्तस्यां गर्भं दधौ तदा ।
अजीजनत् सुतं चास्यां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥ (महाभार. आदि. ६७।१३७)

तब सम्पूर्ण जगत् में प्रकाश फैलाने वाले भगवान् सूर्य ने कुन्ती के उदर में गर्भ स्थापित किया और उस गर्भ से एक पुत्र को जन्म दिया, जो समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ था ।१३७।

सकुण्डलं सकवचं देवगर्भश्रियान्वितम् ।
दिवाकरसमं दीप्त्या चारुसर्वाङ्गभूषितम् ॥१३८॥

वह कुण्डल और कवच के साथ ही प्रकट हुआ था । देवताओं के बालकों में जो सहज कान्ति होती है, उसी से वह सुशोभित था । अपने तेज से वह सूर्य के समान जान पड़ता था । उसके सभी अंग मनोहर थे, जो उसके सम्पूर्ण शरीर की शोभा बढ़ा रहे थे ॥१३८॥

पुरा नाम च तस्यासीद् वसुषेण इति क्षितौ ।
ततो वैकर्तनः कर्णः कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥१४७॥

पहले कर्ण का नाम इस पृथ्वी पर वसुषेण था फिर कवच और कुण्डल काटने के कारण वह वैकर्तन नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१४७॥

स कर्ण इति विख्यातः पृथायाः प्रथमः सुतः ॥१४८॥

वह पृथा का प्रथम पुत्र कर्ण नाम से सर्वत्र विख्यात था ॥१४८॥ इन्होंने द्रोणाचार्य और परशुरामजी से शस्त्रास्त्र विद्या सीखी थी । इनकी दानशीलता अद्वितीय थी । यह बलवान कर्ण नित्य सूर्यदेव की उपासना प्रातःकाल से लेकर सूर्य के पृष्ठभाग की ओर जाने तक किया करता था तथा-

तस्मिन् काले तु जपतस्तस्य वीरस्य धीमतः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत् किंचिद् वसु महीतले ॥ (महाभार. आदि. ११०।२६)

उस समय मन्त्र जप में लगे हुए बुद्धिमान् वीर कर्ण के लिये इस पृथ्वी पर ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जिसे वह ब्राह्मणों के माँगने पर न दे सके ।।२६।। इसी समय ब्राह्मण रूप में आये इन्द्र को उसने अपने कवच को शरीर से उधेड़कर एवं दोनों कुण्डलों को काटकर दे दिया । जिसको देखकर इन्द्र ने आश्चर्य से कहा कि देवता, दानव, यक्ष गन्धर्व नाग और राक्षस-इनमें से किसी को भी मैं ऐसा साहसी नहीं देखता । चौथे-विशिष्ट वीर कृपाचार्य को कहता है । कृपाचार्य का परिचय महाभारत के आदि पर्व में इस प्रकार वर्णित है-

महर्षेर्गौतमस्यासीच्छरद्वान् नाम गौतमः ।
पुत्रः किल महाराज जातःसह शरैर्विभो ॥(महाभार. आदि. १२६।२)

हे महाराज ! महर्षि गौतम के शरद्वान् गौतम नाम से प्रसिद्ध एक पुत्र थे । हे प्रभो ! कहते हैं, वे सरकंडों के साथ उत्पन्न हुए थे ।।२।।

न तस्य वेदाध्ययने तथा बुद्धिरजायत ।
यथास्य बुद्धिरभवद् धनुर्वेदे परंतप ॥३॥

हे परंतप ! उनकी बुद्धि धनुर्वेद में जितनी लगती थी, उतनी वेदों के अध्ययन में नहीं ।।३।। जैसे अन्य ब्रह्मचारी तपस्यापूर्वक वेदों को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने तपस्यायुक्त होकर सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये । वे धनुर्वेद में पारंगत तो थे ही, उनकी तपस्या भी बड़ी भारी थी; इससे गौतम ने देवराज इन्द्र को अत्यन्त चिन्ता में डाल दिया ।।(४-५)।।'

ततो जानपदीं नाम देवकन्यां सुरेश्वरः ।
प्राहिणोत् तपसो विघ्नं कुरु तस्येति कौरव ॥६॥

हे कौरव ! तब देवराज ने जानपदी नाम की एक देवकन्या को उनके पास भेजा और यह आदेश दिया कि 'तुम शरद्वान् ऋषि की तपस्या में विघ्न डालो' ।।६।। वह जानपदी शरद्वान् ऋषि के रमणीय आश्रम पर जाकर धनुषवाण धारण करने वाले गौतम को लुभाने लगी । गौतम ने एक वस्त्र धारण करने वाली उस अप्सरा को वन में देखा । संसार में उसके सुन्दर शरीर की कहीं तुलना नहीं थी । उसे देखकर शरद्वान् के नेत्र प्रसन्नता से खिल उठे । उनके हाथों से धनुष और बाण छूटकर पृथ्वी पर गिर पड़े तथा उसकी ओर देखने से उनके शरीर में कम्प हो आया (७-६) ।। जिससे उनका वीर्य स्खलित हो गया ।

शरस्तम्बे च पतितं द्विधा तदभवन्नृप ॥१३॥

हे राजन् वहाँ गिरने पर उनका वीर्य दो भागों में बँट गया ।।१३।।
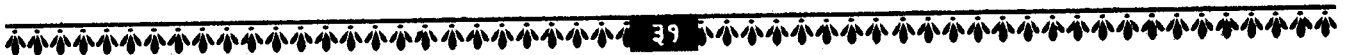
तस्याथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः ॥१४॥

तदनन्तर गौतमनन्दन शरद्वान् के उसी वीर्य से एक पुत्र और एक कन्या की उत्पत्ति हुई ।१४।। उस दिन दैवेच्छा से राजा शान्तनु वन में शिकार खेलने आये थे । उनके किसी सैनिक ने वन में उन युगल सन्तानों को देखा । वहाँ बाण सहित धानुष और काला मृगचर्म देखकर उसने यह जान लिया कि ये दोनों किसी धनुर्वेद के पारंगत विद्वान् ब्राह्मण की सन्तान हैं' ऐसा निश्चय होने पर उसने राजा को दोनों बालक और बाण सहित धनुष दिखाया । राजा उन्हें देखते ही कृपा के वशीभूत हो गये और उन दोनों को साथ ले अपने घर आ गये । वे किसी के पूछने पर यही परिचय देते थे कि 'ये दोनों मेरी ही सन्तान हैं' ।।(१४-१७)।।

गौतमोऽपि ततोऽभ्येत्य धनुर्वेदपरोऽभवत् ।
कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्धिताविति ॥१९॥

गौतम (शरद्वान्) भी उस आश्रम से अन्यत्र जाकर धनुर्वेद के अभ्यास में तत्पर रहने लगे । राजा शान्तनु ने यह सोचकर कि मैंने इन बालकों को कृपापूर्वक पाला-पोसा है ।।१६।।

तस्मात् तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः ।
गोपितौ गौतमस्तत्र तपसा समविन्दत ॥२०॥

उन दोनों के वे ही नाम रखदिये, कृप और कृपी । राजा के द्वारा पालित हुई अपनी दोनों संतानों का हाल गौतम ने तपोबल से जान लिया ।।२०।। भीष्मजी इनके बल की प्रशंसा करते हुए कहते हैं -

अग्निवत् समरे तात चरिष्यति विनिर्दहन् ॥ (महाभार. उद्यो. १६६।२२)

हे तात ! बहुत सी सेनाओं को अग्नि के समान दग्ध करते हुए ये समरभूमि में विचरण करेंगे ।।२२।। द्रोणाचार्य के पहले यही कौरव-पाण्डवों को धनुर्वेद की शिक्षा देते थे । युद्ध समाप्ति के बाद भी ये जीवित रहे और परीक्षित को अस्त्र विद्या इन्होंने सिखलायी । विजय प्राप्त करने में कुशलता के कारण ही दुर्योधन इन्हें 'समितिञ्जयः' विशेषण लगाकर कहता है । पाँचवें विशिष्ट अश्वत्थामा को कहता है । जिसके विषय में लिखा है कि -

शारद्वतीं ततो भार्यां कृपीं द्रोणोऽन्वविन्दत ।
अग्निहोत्रे च धर्मे च दमे च सततं रताम् ॥ (महाभार. आदि. १२६।४६)

द्रोणाचार्य ने पुत्र के लोभ से शरद्वान् की पुत्री कृपी को धर्मपत्नी के रूप में ग्रहण किया । कृपी सदा अग्निहोत्र, धर्मानुष्ठान तथा इन्द्रिय संयम में उनका साथ देती थी ।।४६।।

अलभद् गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमेव च ।
स जातमात्रे व्यनदद् यथैवोच्चैःश्रवा हयः ॥४७॥

गौतमी कृपी ने द्रोण से अश्वत्थामा नामक पुत्र प्राप्त किया । उस बालक ने जन्म लेते ही उच्चैःश्रवा घोड़े के समान शब्द किया ॥४७॥

तच्छ्रुत्वान्तर्हितं भूतमन्तरिक्षस्थमब्रवीत् ।
अश्वस्येवास्य यत् स्थाम नदतः प्रदिशो गतम् ॥४८॥

इसे सुनकर अन्तरिक्ष में स्थित किसी अदृश्य चेतन ने कहा-इस बालक के चिल्लाते समय अश्व के समान शब्द सम्पूर्ण दिशाओं में गूंज उठा है ॥४८॥

अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति ।
सुतेन तेन सुप्रीतो भारद्वाजस्ततोऽभवत् ॥४९॥

अतः 'वह अश्वत्थामा नाम से ही प्रसिद्ध होगा ।' उस पुत्र से भरद्वाजनन्दन द्रोण को बड़ी प्रसन्नता हुई ॥४६॥ भीष्मजी इनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि -

द्रोणपुत्रो महेष्वासःसर्वानेवातिधन्विनः ॥ (महा. उद्यो. १६७।३)

महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तो सभी धनुर्धरों से बढ़कर हैं ॥३॥ छठें-प्रधान वीर विकर्ण हैं जो धृतराष्ट्र का पुत्र था । ये बड़े धर्मात्मा, वीर और महारथी थे । इनके विषय में लिखा है कि-

तेषां धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां चत्वारः प्रधाना बभूवुः, दुर्योधनो दुःशासनो विकर्णश्चित्रसेनश्चेति ॥
(महाभार. आदि. ६५।५७)

धृतराष्ट्र के उन सौ पुत्रों में चार प्रधान थे - दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण और चित्रसेन ॥५७॥ ये इतने निर्भीक एवं साहसी थे कि कौरवों की राजसभा में द्रौपदी ने जब दुःशासन द्वारा पीड़ित होकर सभासदों से पूछा कि 'धर्म के अनुसार मैं जीती गई हूँ या नहीं' तब द्रोणाचार्य, भीष्म आदि से भी कोई उत्तर न मिलने पर विकर्ण ने क्रोधपूर्वक उत्तर दिया था कि -'**अहं मन्ये न विजितामिमाम्**' (महाभार. सभा. ६८।२४) 'मैं द्रुपदकुमारी कृष्णा को जीती हुई नहीं मानता' ॥२४॥

इस श्लोक में अन्तिम सातवें प्रधान वीर सौमदत्ति का नाम लेता है । ये सोमदत्त के पुत्र और शान्तनु के बड़े भाई बाह्लीक के पौत्र थे । इनका दूसरा नाम भूरिश्रवा था । इन्हों ने अनेक यज्ञ किया था । इनकी प्रशंसा करते हुए भीष्म जी कहते हैं -

भूरिश्रवाः कृतास्त्रश्च तव चापि हितः सुहृत् ॥
(महाभार. उद्यो. १६५।२८)

सौमदत्तिर्महेष्वासो रथयूथपयूथपः ।
बलक्षयममित्रणां सुमहान्तं करिष्यति ॥२९॥

सोमदत्त के पुत्र महाधनुर्धर भूरिश्रवा भी अस्त्र-विद्या के पण्डित और तुम्हारे हितैषी सुहद् हैं । ये रथियों के यूथपतियों के भी यूथपति हैं । अत: तुम्हारे शत्रुओं की सेना का महान् संहार करेंगे ।।२८-२६।। इस प्रकार दुर्योधन ने अपने दल के सात विशिष्ट वीरों के नाम गिनाया ।।८।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।९।।

अन्वय :- **अन्ये बहवः शूराः मदर्थे त्यक्तजीविताः च नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।।**

अर्थ :- (इसके अतिरिक्त) और भी बहुत से शूरवीर हैं जिन्होंने मेरे लिए जीवन समर्पण कर दिया है और अनेक प्रकार के अस्त्र और शस्त्र चलाने वाले सब के सब युद्ध-कला में अत्यन्त चतुर हैं ।

व्याख्या :- दुर्योधन इसके पहले सात महारथियों को बताकर इस श्लोक में अन्य शूरवीरों में १-शल्य २-जयद्रथ, ३-गान्धार, ४-भगदत्त और ५-बाह्लीक की ओर संकेत कर रहा है । जैसा बादरायण ने भी महाभारत को रणनदी बतलाते हुए 'शल्यग्राहवती', 'जयद्रथजला' और गान्धारनीलोत्पला' करके शल्य, जयद्रथ और गान्धार को शूरवीर बतलाया है ।

शल्य का परिचय देते हुए भीष्म जी कहते हैं -

मद्रराजो महेष्वासःशल्यो मेऽतिरथो मतः ।। (महाभार. उद्यो. १६५।२६)
सागरोर्मिसमैर्बाणैः प्लावयन्निव शात्रवान् ।।२८।।

महाधनुर्धर मद्रराज शल्य को भी मैं अतिरथी मानता हूँ ।।२६।। ये समुद्र की लहरों के समान अपने बाणों द्वारा शत्रु पक्ष के सैनिकों को डुबाते हुए से युद्ध करेंगे ।।२८।। शल्य की बहन माद्री का विवाह पाण्डु राजा से हुआ था ।

२-जयद्रथ-सिन्धुदेश के राजा वृद्ध क्षत्र का पुत्र था । इसका धृतराष्ट्र की एकमात्र कन्या दु:शला के साथ विवाह हुआ था । जैसा लिखा है कि -

दु:शला चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
जयद्रथाय प्रपदौ विधिना भरतर्षभ ।। (महाभार. आदि. ११६।१८)

हे भरत-श्रेष्ठ ! महाराजा धृतराष्ट्र ने विवाह के योग्य समय आने पर अपनी पुत्री दु:शला का राजा जयद्रथ के साथ विधिपूर्वक विवाह किया ।।१८।। इसके विषय में कहा गया है कि -

सिन्धुराजो महाराज मतो मे द्विगुणो रथः ।
योत्स्यते समरे राजन् विक्रान्तो रथसत्तमः ।। (महाभार. उद्यो. १६५।३०)

हे महाराज ! सिन्धुराज जयद्रथ को मैं दो रथियों के बराबर समझता हूँ । ये बड़े पराक्रमी तथा रथी योद्धाओं में श्रेष्ठ हैं । हे राजन् ! ये समराङ्गण में पाण्डवों के साथ युद्ध करेंगे ।।३०।। पाण्डवों के वनवास के समय उनकी

अनुपस्थिति में यह द्रौपदी को हर लाया था जिस पर पाण्डवों ने इसे बहुत कष्ट पहुँचाया था । उसीको भीष्मजी कह रहे हैं कि-

स एष रथशार्दूलस्तद् वैरं संस्मरन् रणे ।
योत्स्यते पाण्डवैस्तात प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ।। (महाभार. उद्यो. १६५।३३)

हे तात । ये रथियों में श्रेष्ठ जयद्रथ युद्ध में उस पुराने वैर को याद करके अपने दुस्त्यज प्राणों की भी बाजी लगाकर पाण्डवों के साथ संग्राम करेंगे ।।३३।।

३-गांधार का ही दूसरा नाम शकुनि है । जैसा लिखा भी है **'गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिः'** (महाभार. आदि. १०६।१५) गांधारराज का पुत्र शकुनि ।।१५।। उसकी बहन गान्धारी का विवाह धृतराष्ट्र से हुआ था जिसके दुर्योधनादि पुत्र थे । युधिष्ठिर को द्यूतक्रीडा में छलपूर्वक हराया था, जिसके कारण पाण्डवों को वनवास का कष्ट सहन करना पड़ा । इसकी वीरता के संबंध में कहा गया है-

शकुनिर्मातुलस्तेऽसौ रथ एको नराधिप ।
प्रयुज्य पाण्डवैर्वैरं योत्स्यते नात्र संशयः ।। (महाभार. उद्यो. १६७।१)

हे नरेश्वर ! यह तुम्हारा मामा शकुनि भी एक रथी है । यह पाण्डवों से वैर बाँधकर युद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है ।।१।।

४-भगदत्त का परिचय देते हुए भीष्म जी कहते हैं कि -

प्राग्जोतिषाधिपो वीरो भगदत्तः प्रतापवान् ।
गजाङ्कुशधरश्रेष्ठो रथे चैव विशारदः ।। (महाभार. उद्यो. १६७।३५)

प्राग्जोतिषपुर के राजा भगदत्त बड़े वीर और प्रतापी हैं । हाथ में अंकुश लेकर हाथियों को काबू में रखने वाले वीरों में इनका सबसे उच्चा स्थान है । ये रथयुद्ध में भी कुशल हैं ।।३५।।

५-बाह्लीक शान्तनु राजा का भाई है । जैसा लिखा है कि -

प्रतिश्रवसः प्रतीपः खलु । शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम ।
तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शान्तनुं बाह्लीकं चेति ।।
(महाभार. आदि. ९५।४४)

प्रतिश्रवा से प्रतीप उत्पन्न हुआ । उसने शिबिदेश की राजकन्या सुनन्दा से विवाह किया और उसके गर्भ से देवापि, बाह्लीक तथा शान्तनु-इन पुत्रों को जन्म दिया ।।४४।। भीष्मजी कहते हैं-

बाह्लीकोऽतिरथश्चैव समरे चानिवर्तनः ।
मम राजन् मतो युद्धे शूरो वैवस्वतोपमः ।। (महाभार. उद्यो. १६७।२८)

बाह्लीक अतिरथी वीर हैं । ये युद्ध से कभी पीछे नहीं हटते हैं । हे राजन् ! मैं समरभूमि में इन्हें यमराज के समान शूरवीर मानता हूँ ।।२८।।

दुर्योधन कहता है कि ये पाँचो शूरवीर मेरे लिए अपने प्राण को भी देने वाले हैं । ये सभी वीर अनेक प्रकार के शस्त्रों गदा, खड्ग, मूसल, ऋष्टि, फरसे, भिन्दिपाल, तोमर, लोहे के परिघ, प्रास, अंकुश, पट्टिश आदि से युक्त और सब के सब युद्ध में चतुर हैं । अर्थात् कई बार युद्ध में भाग ले चुके हैं ।।९।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।।१०।।

अन्वय :- अस्माकं भीष्माभिरक्षितं तत् बलं अपर्याप्तम् तु एतेषां भीमाभिरक्षितं इदं बलं पर्याप्तम् ।

अर्थ :- हमारा भीष्मद्वारा जो अभिरक्षित सैन्यबल है, वह अपर्याप्त (पाण्डवों पर विजय पाने में असमर्थ) है, परन्तु इनकी भीम द्वारा अभिरक्षित सेना पर्याप्त (हम पर विजय पाने में समर्थ) है ।

व्याख्या :- धृतराष्ट्र से संजय कहता है कि अत्यन्त भयभीत और खिन्न मन से दुर्योधन द्रोणाचार्य से कहता है कि हमलोगों का सैन्य बल पाण्डवों को जीतने में समर्थ नहीं है । इसका कारण यह है कि हमारी सेना के रक्षक भीष्म अत्यन्त वृद्ध और उभयदलीय हैं । जैसा वह आगे कहता भी है ''कुरुवृद्धः पितामहः' (गी. १।१२) कुरुवंश में सबसे वृद्ध और जैसे हमारे पितामह हैं वैसे ही युधिष्ठिर के भी पितामह हैं ।।१२।। एक साधारण मनुष्य भी जानता है कि सेनानायक वृद्ध होने पर सेवामुक्त कर दिया जाता है तथा प्रतिपक्ष दल का जो कट्टर विरोधी होता है वही सेनानायक बनाया जाता है । जबकि यह बात भीष्म में नहीं है । इसलिए हमारी सेना विजय पाने में समर्थ नहीं है । दूसरी ओर पाण्डवों का सैन्य बल हमारे सैन्यदल को जीतने के लिए अधिक शक्तिशाली है । इसीलिए उसने पहले 'पाण्डव-सैन्यदल को **'महतीं चमूम्'** (गी. १।३) कहकर महान सेना बतलाया है । इसका कारण यह है कि वह सेना भीम द्वारा अभिरक्षित है । जो भीम भयंकर कर्म करने वाले हैं । वृक् नाम की अग्नि को अपने उदर में रखने से उनका नाम वृकोदर भी है जो अत्यन्त तन्दुरुस्त होने का लक्षण है । ऐसा हमारे दल में कोई वीर नहीं है । वह भीम हमलोगों का कट्टर विरोधी भी है, जो उसके भयानक कर्मों और उसकी की गई भयंकर प्रतिज्ञा से ही सिद्ध है । उसने कीचक के सौ भाइयों को विचित्र ढंग से मार डाला । क्रोध उत्पन्न होने पर खून पी लेता है । द्रौपदी के चीर हरण के समय जब भीष्म, अर्जुन आदि कोई नहीं बोले तब वह कह चुका है कि-

यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः ।
पितामहानां पूर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम् ।। (महाभार. आदि. ६८।५२)

अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च ।
न पिबेयं बलाद् वक्षो भित्त्वा चेद् रुधिरं युधि ।।५३।।

हे भूमिपालों ! यह खोटी बुद्धिवाला दु:शासन भरत वंश के लिये कलंक है । मैं युद्ध में बलपूर्वक इस पापी की छाती फाड़कर इसका रक्त पीऊँगा । यदि न पीऊँ अर्थात् अपनी कही हुई उस **बात को** पूरा न करूँ, तो मुझे अपने पूर्वजों की श्रेष्ठ गति न मिले ॥५२-५३॥ तथा मेरे द्वारा जाँघ दिखाने पर भी प्रतिज्ञा कर चुका है

पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः ।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥ (महाभार. सभा. ७१।१४)

'हे दुर्योधन ! यदि महासमर में तेरी इस जाँघ को मैं अपनी गदा से न तोड़ डालूँ तो मुझ भीमसेन को अपने पूर्वजों के साथ उन्हीं के समान पुण्यलोकों की प्राप्ति न हो' ॥१४॥ इसीलिये आगे **'भीमकर्मा वृकोदरः'** (गी. १।१५) कहकर इन्हीं बातों की ओर संकेत करता है । इस प्रकार भीम के कट्टर विरोधी होने, भयानक प्रतिज्ञा करने तथा तरुण स्वस्थ सेनानायक होने से दुर्योधन कहता है कि उसकी यह सेना हम पर विजय पाने के लिये पूर्ण समर्थ है । इतना ही नहीं **'अनुक्तमप्यूहति पंडितो जनः'**- नहीं कही हुई बात को भी विद्वान् लोग तर्क से सिद्ध करते हैं- के अनुसार स्वयं दुर्योधन ने ही पाण्डव दल में भीम अर्जुन के तुल्य १-युयुधान, २-विराट, ३-द्रुपद (गी.१।४), ४-धृष्टकेतु, ५-चेकितान, ६-काशिराज, ७-पुरुजित्, ८-कुन्तिभोज, ६-शैब्य (गी. १।५), १०-युधामन्यु, ११-उत्तमौजा, १२-अभिमन्यु, तथा द्रौपदी के पाँचो पुत्र, १३-प्रतिविन्ध्य, १४-सुतसोम, १५-श्रुतकर्मा, १६-शतानीक और १७-श्रुतसेन इन सत्तरहों को महारथी गिनाया है तथा अपनी ओर के १-द्रोण, २-भीष्म, ३-कर्ण, ४-कृपाचार्य, ५-अश्वत्थामा, ६-विकर्ण और ७-भूरिश्रवा इन सात का ही नाम रखकर प्रधान वीर बताया है । इससे भी ज्ञात होता है कि दुर्योधन पाण्डव सेना को अधिक शक्तिशाली कह रहा है । और भी शंख बजाने में प्रकट एक भीष्माचार्य ही का नाम रखता है, जैसा (गीता १।१२) श्लोक से विदित है तथा पाण्डव दल में शंख बजाने वालों में १-भगवान् श्रीकृष्ण, २-अर्जुन, ३-भीमसेन (गी. १।१५), ४-युधिष्ठिर, ५-नकुल, ६-सहदेव, (गी. १।१६), ७-काशिराज, ८-शिखण्डी, ६-धृष्टद्युम्न, १०-विराट, ११-सात्यकि (गी. १।१७), १२-द्रुपद, १३-प्रतिविन्ध्य, १४-सुतसोम, १५-श्रुतकर्मा, १६-शतानीक, १७-श्रुतसेन और १८-अभिमन्यु (गी. १।१८) इन १८ शंख ध्वनि करने वालों का नाम गिनाया है । उसमें भी विलक्षणता यह है कि भीष्माचार्य आदि के पास एक भी दिव्य शंख और नामधारी शंख नहीं है, जब कि पाण्डव दल में दो दिव्य शंख हैं, जिनके बारे में कहता है **'माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः'** (गी. १।१४) श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन दोनों ने दिव्यशंखों को बजाया ॥१४॥ तथा नामधारी भी शंख थे १-भगवान् श्रीकृष्ण का पाञ्चजन्य, २-अर्जुन का देवदत्त ३-भीम का पौण्ड्र (गी. १।१५) ४-युधिष्ठिर का अनन्त विजय, ५-नकुल का सुघोष और ६-सहदेव का मणिपुष्पक (गी. १।१६) इसी से दुर्योधन पाण्डव दल को अत्यधिक शक्तिशाली कह रहा है । इसके अतिरिक्त दुर्योधन के दल में एक भी रथ और घोड़ा ऐसा नहीं है जिसे महान् कहा जा सके जबकि पाण्डव दल में खाण्डव दहन के समय देवताओं से प्राप्त शस्त्रास्त्रों से न मरने वाले श्वेत घोड़ों से युक्त महान रथ और जिसे **'महति स्यन्दने'** (गी. १।१४) करके वह स्वयं कहता है । उसमें भी साक्षात् परब्रह्म नारायण पाण्डव दल की तरफ हैं तथा समस्त प्राणियों का संहारक पाशुपतास्त्र लिये अर्जुन हैं । इन्ही सब बातों

से भयभीत दुर्योधन स्वयं ही पाण्डवों की सेना को भीम से सुरक्षित और अपनी सेना को भीष्म से अभिरक्षित देखकर 'पाण्डवों की सेना हम लोगों पर विजय पाने के लिये पर्याप्त (समर्थ) है और अपनी सेना उन पर विजय पाने के लिये पर्याप्त (समर्थ) नहीं है, यह बात आचार्य द्रोण से निवेदन करके वह मन में खिन्न हो गया । इस श्लोक का जो सज्जन उल्टा अर्थ करते हैं, वे अन्यत्र न जाकर केवल प्रथमाध्याय को ही सूक्ष्म बुद्धि से विवेचन करें तो उसीसे उन्हें यह अर्थ स्पष्ट हो जायगा ।।१०।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।।११।।

अन्वय :- **भवन्तः सर्वे एव हि सर्वेषु च अयनेषु यथाभागं अवस्थिताः भीष्मं एव अभिरक्षन्तु ।।**

अर्थ :- आप सब के सब ही सभी मोर्चों पर अपने-अपने स्थानों में अडिग रह भीष्म की अभिरक्षा (सभी ओर से रक्षा) कीजिए ।

व्याख्या :- **'ईयते अनेन इति अयनम्'** इस व्याकरण की व्युत्पत्ति से अयन का अर्थ मोर्चा का स्थान है । खिन्न मन हो अपने आचार्य से दुर्योधन कहता है कि आप सहित जो कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा विकर्ण और भूरिश्रवा ये छः विशिष्ट वीर हमारे दल में हैं वे सब के सब भीष्म की ही 'अभि' नाम अच्छी तरह से रक्षा करें । यदि किसी कारण भीष्म धनुष फेंक देंगे तो मारे जायेंगे, क्योंकि जब तक हाथ में धनुष है तभी तक ये सुरक्षित रहेंगे अथवा किसी युक्ति से पाण्डव शिखण्डी को ला देंगे तो भीष्म उससे युद्ध न कर सकने के कारण मारे जायेंगे क्योंकि वे कह चुके हैं **'नाहं हन्यां शिखण्डिनम्'** (महाभार-भीष्म १५।१५) मैं शिखण्डी को युद्ध में 'नहीं' मारूँगा ।।''१५।। इसलिए **'यथा न हन्यात् गाङ्गेयम्'** (महाभार. उद्यो. १५।२०) 'जिस प्रकार शिखण्डी गङ्गानन्दन को न मार सके' ।।२०।। उसके लिए सभी को विशेष रूप से भीष्म की रक्षा में तत्पर रहना चाहिए । यह बात आचार्य द्रोण से निवेदन करके वह मन में खिन्न हो गया ।।११।।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।।१२।।

अन्वय :- **तस्य हर्षं संजनयन् कुरुवृद्धः प्रतापवान् पितामहः उच्चैः सिंहनादं विनद्य शंखं दध्मौ ।**

अर्थ :- उस (दुर्योधन) के हर्ष को उत्पन्न करते हुए कौरवों में वृद्ध प्रतापशाली पितामह (भीष्म) ने सिंह के समान उच्चे स्वर में गरजकर शंख फूँका ।

व्याख्या :- यद्यपि भीष्म बाह्लीक से छोटे थे परन्तु जिस प्रकार बहुत से छाता वाले जाते हैं और उसमें एक बिना छाता वाला रहने पर भी उसे 'छत्रीन्याय' से सभी छाता वाले जा रहे हैं' कह दिया जाता है । उसी प्रकार एक बाह्लीक भीष्म से बड़े थे फिरभी भीष्म को दुर्योधन **'कुरुवृद्धः'** कुरुकुल में सबसे वृद्ध कहता है । भीष्म का कौरवों और पाण्डवों से

एक समान ही सम्बन्ध था । पितामह दोनों पक्ष के लोग उन्हें कहते थे । अधिक वृद्ध होने पर भी ये पराक्रम में बहुत बढ़कर थे, इसलिए इन्हें 'प्रतापवान्' कहा गया है । दुर्योधन ने जब द्रोणाचार्य से विषाद-युक्त होकर अपनीं सेना को पाण्डवों को जीतने में असमर्थ बताया तब पास में ही स्थित भीष्म ने उसके हृदय को प्रसन्न करने के लिए सिंह के समान बड़े जोरों से गरजकर विजय-सूचक शंख को बजाया अथवा **'हिंसि हिंसायाम्'** धातु से 'हिंस' शब्द बनता है, उस 'हिंस' से **'सिंहो वर्णविपर्ययात्'** इस न्याय से वर्ण विपर्यय होकर 'सिंह' शब्द हो जाता है । जिसका अर्थ मारना है । तात्पर्य यह कि युद्ध भूमि में युद्धारम्भ की घोषणा करने के लिए 'मारो' ऐसा कह-कर बड़े जोरों से शंख ध्वनि भीष्म ने की जिससे खिन्नमन दुर्योधन का मन प्रसन्न हो जाय ।।१२।।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।।१३।।

अन्वय :- **ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः सहसा एव अभ्यहन्यन्त, सः शब्दः तुमुलोऽभवत् ।**

अर्थ :- इसके बाद शंख और नगाड़े तथा ढ़ोल, मृदंग रणसिंघे आदि एक ही साथ बज उठे । उनका वह शब्द बहुत ही जोरदार हुआ ।

व्याख्या :- पितामह भीष्म ने स्वयं शंख बजाकर कौरवों में जितने शूर थे एक ही बार सबसे शंख भेरी आदि वाद्यों द्वारा ध्वनि करवायी जिससे दुर्योधन का मन प्रसन्न हो जाय । यह शब्द शंख, भेरी नाम नगाड़ा, पणव नाम ढोल, आनक नाम मृदंग तथा गोमुख नाम सिंघा का तथा चकार करके दुन्दुभि, डंका, पेशी, क्रकच आदि युद्ध संबंधी वाद्यों का था । एक ही साथ बजने से इनका महान् शब्द गूंजने लगा । शब्द के विषय में बताया गया है **'श्रोत्रग्राह्यगुणः शब्दः'** श्रोत्र नाम कर्णेन्द्रिय जिसको ग्रहण करती है, उसी को शब्द कहते हैं । शब्द दो प्रकार का होता है -(१) वर्णात्मक -जो वर्ण से युक्त हो । (२) ध्वन्यात्मक - जो शंख, भेरी आदि से आवाज निकले । यहाँ पर ध्वन्यात्मक शब्द से तात्पर्य है ।।१३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।।१४।।

अन्वय :- **ततः श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः च पाण्डवः एव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ।**

अर्थ :- तत्पश्चात् श्वेत अश्वों से युक्त विशाल रथ पर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने दिव्य शंखों को बजाया ।

व्याख्या :- यहाँ अर्जुन के रथ को बहुत ही विशाल और सर्वोत्तम बताया गया है क्योंकि उसमें बड़े सुन्दर सुसज्जित, सुरक्षित, बलवान और तेजी से चलने वाले, चाँदी के समान सफेद रंग वाले चार दिव्य अश्व जुते हुए थे । ये अश्व चित्ररथ गन्धर्व-जिसे भगवान् ने **'गन्धर्वाणां चित्ररथः'** (गी. १०।२६) गन्धर्वों में चित्ररथ ।।२६।।

कहकर अपनी विभूति बतलायी है, उसके सौ दिव्य घोड़ों में से थे । इसकी विशेषता बताते हुए महाभारत में कहा गया है कि -

श्वेतास्तस्मिन् वातवेगाः सदश्वा, दिव्या युक्ताश्चित्ररथेन दत्ताः ।
भुव्यन्तरिक्षे दिवि वा नरेन्द्र, येषां गतिर्हीयते नात्र सर्वा ॥ (महाभार. उद्यो. ५६।१३)

अर्जुन के उस रथ में वायु के समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम जाति के श्वेत अश्व जुते हुए हैं, जिन्हें गन्धर्वराज चित्ररथ ने दिया था । हे नरेन्द्र ! पृथ्वी आकाश तथा स्वर्ग आदि किसी भी स्थान में उन अश्वों की पूर्ण गति क्षीण या अवरुद्ध नहीं होती है ।।१३।। तथा उनमें से यदि कोई मारा जाता तो दिए हुए वर के प्रभाव से नया घोड़ा उत्पन्न होकर उसके स्थान की पूर्ति कर देता था । यही बात रथ के सम्बन्ध में भी थी । इस रथ को खाण्डव वन दहन के समय अग्निदेव ने प्रसन्न होकर अर्जुन को दिया था । इसकी विलक्षणता के संबंध में कहा गया है कि -

सर्वोपकरणैर्युक्तमजय्यं देवदानवैः ॥ (महाभार. आदि. २२४।११)

वह महान् रथ सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओं से युक्त तथा देवताओं और दानवों के लिए भी अजेय था ।।११।।

भानुमन्तं महाघोषं सर्वरत्नमनोरमम् ।
ससर्ज यं सुतपसा भौमनो भुवनप्रभुः ॥१२॥

उससे तेजोमयी किरणें छिटकती थीं । उसके चलने पर सब ओर बड़े जोर की आवाज गूँज उठती थी । वह रथ सब प्रकार के रत्नों से जटित होने के कारण बड़ा मनोरम जान पड़ता था । सम्पूर्ण जगत् के स्वामी प्रजापति विश्वकर्मा ने बड़ी भारी तपस्या द्वारा उस रथ का निर्माण किया था ।।१२।। उसके पहिये बड़े ही दृढ़ और विशाल थे । उसकी महानता में यह भी एक कारण था कि उसका ध्वज-दंड बड़ा सुन्दर और सुवर्णमय था तथा उसके ध्वज पर भयंकर आकृति वाले दिव्य वानर श्रीहनुमान् जी विराजमान थे । इन्द्रधनुष के समान प्रकाशयुक्त विचित्र रंगों की तरह दिखाई देता था । जिसको देखकर स्वयं संजय आश्चर्ययुक्त हो कहता है-

सिंहलाङ्गूलमाकाशे ज्वलन्तमिव पर्वतम् ।
असज्जमानं वृक्षेषु धूमकेतुमिवोत्थितम् ॥ (महाभार. भीष्म. ७१।३)

(अर्जुन का ध्वज) सिंह पुच्छ के समान वानर की पूँछ से युक्त था । वह प्रज्वलित पर्वत सा दिखाई देता था । वृक्षों में कहीं भी अटकता नहीं था और आकाश में उदित हुए धूमकेतु सा दृष्टिगोचर होता था ।।३।।

वहुवर्णं विचित्रं च दिव्यं वानरलक्षणम् ।
अपश्याम महाराज ध्वजं गाण्डीवधन्वनः ॥४॥

हे महाराज ! वह अनेक रंगों से सुशोभित, विचित्र, दिव्य एवं वानर चिह्न से युक्त था । इस प्रकार हमने गाण्डीवधारी अर्जुन के उस ध्वज को उस समय देखा ।।४।। अग्निदेव ने प्रसन्न होकर इस महान् रथ पर युद्ध करने के लिए धनुषों में रत्न के समान गाण्डीव तथा बाणों से भरे हुए दो अक्षय एवं बड़े तरकस भी अर्जुन को दिये थे । जिसकी विशेषता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

तदद्भु तं महावीर्यं यशः कीर्तिविवर्धनम् ।
सर्वशस्त्रैरनाधृष्यं सर्वशस्त्रप्रमाथि च ॥ (महाभार. आदि. २२४।६-७)

वह गाण्डीव धनुष अद्‌भुत था । उसमें बड़ी शक्ति थी और वह यश एवं कीर्ति को बढ़ाने वाला था । किसी भी अस्त्र शस्त्र से वह टूट नहीं सकता था और दूसरे सब शस्त्रों को नष्ट कर डालने की शक्ति उसमें मौजूद थी ।।६-७।। वह चिकना और छिद्र से रहित था । देवताओं दानवों और गन्धर्वों ने अनन्त वर्षों तक उसकी पूजा की थी (महाभार. आदि. २२४।८-९) ।'

इन सभी विलक्षणताओं से युक्त होने के कारण उसे महान् रथ कहा गया है । इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण को 'माधव' नाम से कहा गया है । जैसा महाभारत के अनुशासन पर्व में भी **'माधवो मधुसूदनः'** (महाभार. अनु. विष्णुसहस्र. श्लो. २१) माधव और मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण के नाम हैं ।।'२१।। कहकर बताया गया है । माधव नाम पड़ने का कारण बताते हुए लिखा है कि -

मौनाद् ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम् ॥ (महाभार. उद्यो. ७०।४)

हे भारत ! मौन ध्यान, और योग से उनका बोध अथवा साक्षात्कार होता है, इसलिए श्रीकृष्ण को आप 'माधव' समझें ।'४।। सर्वप्रथम सुमति ऋषि ने यह (माधव) नाम मंत्र जपा है । इसको जपने से सुमति मंत्रतत्त्वज्ञ हुए हैं । यह नाम मंत्रतत्त्वप्रद है। यह नाम मंत्र यजुर्वेद के अध्याय १३ के २५ वें मन्त्र में-

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे । वासन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥२५॥ ऐसा उल्लिखित है ।

ब्रह्मादि देवताओं के भी ईश्वर होने से भगवान् श्रीकृष्ण सर्वेश्वरेश्वर हैं । जैसा गीता में कहा गया है कि -

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ (गीता १०।१२)

आप (श्रीकृष्ण) परब्रह्म परमधाम और परम पवित्र हैं । आपको शाश्वत दिव्यपुरुष अजन्मा और व्यापक आदि देव कहते हैं ।।१२।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ (गी. १०।१३)

सभी ऋषि और देवर्षि नारद, असित, देवल व्यास सब ऐसा कहते हैं और आप स्वयं भी मुझसे ऐसा ही कहते हैं ।।१३।। क्योंकि भगवान् ने कहा भी है कि -

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय । (गी. ७।७)

हे धनंजय ! मुझसे श्रेष्ठतर दूसरा कुछ भी नहीं है ।।७।। पाण्डुपुत्र अर्जुन महान् धनुर्धर थे । श्रीभीष्मजी ने अर्जुन की प्रशंसा करते हुए कहा है कि-

आदित्यस्तेजसां श्रेष्ठो गिरीणां हिमवान् वरः ।
जातीनां ब्राह्मणः श्रेष्ठः श्रेष्ठस्त्वमसि धन्विनाम् ॥
(महाभार. भीष्म. १२१।३५)

जैसे तेजोमय पदार्थों में सूर्य श्रेष्ठ हैं, पर्वत में हिमालय महान् है, जातियों में ब्राह्मण श्रेठ है वैसे ही तुम सम्पूर्ण धनुर्धरों में श्रेष्ठ हो ।।३५।। इसीलिए -

अशक्यः पाण्डवस्तात युद्धे जेतुं कथंचन ।।४३।।

हे तात ! पाण्डुपुत्र अर्जुन को युद्ध में किसी प्रकार भी जीतना असम्भव है ।।४३।। ऐसे सर्वेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् और महारथी अर्जुन दोनों ने अपने दिव्य शंखों को बजाया । जिन दोनों के विषय में कहा गया है कि-

अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ ।
पूजनीयतमावेतावपि सर्वे सुरासुरैः ॥ (महाभार. आदि. २२७।२०)

यक्षराक्षसगन्धर्वनरकिन्नरपन्नगैः ।।२१।।

ये दोनों (श्रीकृष्ण और अर्जुन) पुरातन ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायण सम्पूर्ण देवताओं असुरों, राक्षसों, गन्धर्वों, मनुष्यों, किन्नरों तथा नागों के लिए भी परम पूजनीय हैं ।।२०-२१।।१४।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१५।।

अन्वय :- **हृषीकेशः पाञ्चजन्यं, धनंजयः देवदत्तं, भीकर्मा वृकोदरः पौण्ड्रं महाशंखं दध्मौ ।**

अर्थ :- श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख, अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख एवं भयानक कर्म करने वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया ।

व्याख्या :- यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण को हृषीकेश कहा गया है । महाभारत में भी लिखा है कि 'अप्रमेयो हृषीकेशः' (महाभार. अनु. वि. स. १६) अप्रमेय और हृषीकेश ये श्रीकृष्ण के नाम हैं ।।१६।।

हृषी + क + ईश से मिलकर हृषीकेश बना है, तात्पर्य यह कि -

हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते । (महाभार. उद्यो. ७०।६)

हृषी यानी हर्ष 'क' यानी सुख और ईश यानी सुखमय ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण श्रीकृष्ण भगवान् हृषीकेश नाम धारण करते हैं ॥६॥ सर्वप्रथम रैभ्य ऋषि ने यह नाम मन्त्र जपा है । इसको जपने से रैभ्य ऋषि को सत्यसंकल्पता सिद्धि प्राप्त हुई है । यह मन्त्र सत्यसंकल्पताप्रद है । यह मन्त्र यजु. अध्याय १७ के ५८ वें मन्त्र में -

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाऽजस्रम् ।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानिगोपाः ॥५८॥

ऐसा उल्लिखित है । हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण का पाञ्चजन्य शङ्ख अत्यन्त विलक्षण और तेजोमय था । अपने गुरु सांदीपनी मुनि से गुरुदक्षिणा के रूप में अपने मृत बालक को लाने के लिए कहने पर भगवान् ने समुद्र के पास जाकर कहा कि हमारे जिस गुरुपुत्र को बहा ले गये थे उसे लाकर शीघ्र दे दो । समुद्र ने कहा कि-

नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् ।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शंखरूपधरोऽसुरः ॥ (श्री मद्भा. १०।४५।४०)

देवाधिदेव श्रीकृष्ण ! मैंने उस बालक को नहीं लिया है । मेरे जल में पञ्चजन नाम का एक बड़ा भारी दैत्य जाति का असुर शंख के रूप में रहता है । अवश्य ही उसीने उस बालक को चुरा लिया ॥४०॥ यह सुनकर भगवान् ने शंखासुर को मारकर उसके शरीर का शंख ले लिया, यह पाञ्चजन्य शंख के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

राजसूय यज्ञ के अवसर पर बहुत से राजाओं को जीतकर अपार धन ले आने से अर्जुन का एक नाम धनञ्जय हो गया । भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं 'पाण्डवानां धनंजयः' (गी. १०।३७) पाण्डवों में धनंजय अर्जुन मैं हूँ ॥३७॥ 'देवदत्त' नामक शंख मयासुर ने अपने प्राण संकट से मुक्त हो प्रसन्न होकर अर्जुन को प्रदान किया जो वरुणदेव का था । इसके विषय में लिखा है कि -

गदां च भीमसेनाय प्रवरां प्रददौ तदा ।
देवदत्तं चार्जुनाय शंखप्रवरमुत्तमम् ॥ (महाभार. सभा. ३।२१)

उसने उस समय वह श्रेष्ठ गदा भीमसेन को और देवदत्त नामक उत्तम शंख अर्जुन को भेंट कर दिया ॥२१॥

यस्य शंखस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे ॥२२॥

उस शंख की आवाज सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे ॥२२॥ भयानक कर्म करने के कारण भीम को भीमकर्मा' तथा अधिक परिणाम में भोजन को पचाने की शक्ति होने से 'वृकोदर' कहा गया है । जैसा महाभारत में लिखा भी है-

न हि सोऽस्ति पुमाँल्लोके यः संक्रुद्धं वृकोदरम् ।
द्रष्टुमत्युग्रकर्माणं विषहेत नरर्षभम् ॥ (महाभार. भीष्म. १९।१२)

संसार में ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करने वाले क्रोध से भरे हुए नरश्रेष्ठ वृकोदर

की ओर देखने का साहस कर सके ।।१२।। ऐसे भीम ने बड़े आकार वाला और बड़ा भारी शब्दकरने वाला पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया ।।१५।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।।१६।।

अन्वय :- कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं नकुलः च सहदेवः सुघोषमणिपुष्पकौ ।।

(यह विशेषक श्लोक हैं । विशेषक उसे कहते हैं कि **'त्रिभिः श्लोकैः विशेषकम्'** जिसमें तीन श्लोकों का अन्वय एक साथ होता है । इसलिए इस १६वें श्लोक से लेकर १८वें श्लोक तक का एक साथ अन्वय होगा और अन्वय का नियम है कि-

आदौ कर्तृपदं वाच्यं द्वितीयादिपदं ततः।
क्त्वा ल्यप् तुमुन् मध्ये कुर्यादन्ते क्रियापदम् ।।

आदि में कर्ता का पद बोलना चाहिए इसके बाद द्वितीया आदि का पद उसमें भी विशेषण पद कहकर तब विशेष्य पद कहना चाहिए । क्त्वा, ल्यप्, तुमुन् को बीच में तथा क्रियापद को अन्त में कहना चाहिए । इस श्लोक में क्रिया पद नहीं है । इसलिए इस १६वें श्लोक का १८वें श्लोक के चौथे पाद **'शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्'** (गी. १।१८) को लेकर अर्थ होगा।

अर्थ :- कुन्तीपुत्र राजा युधिठिर ने अनन्तविजय नामक और नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख को बजाया ।

व्याख्या :- इस श्लोक में 'कुन्तीपुत्र' कहने का यह अभिप्राय है कि यद्यपि पाण्डु के ही पाँचो पुत्र हैं फिर भी अर्जुन, भीम को कहकर इस श्लोक में यहीं युधिष्ठिर तक ही कुन्ती के पुत्र हैं, आगे नकुल सहदेव की माता माद्री थी। अर्थात् पिता के एक होने पर भी माताएँ दो थीं । यद्यपि दो माँ के ये लोग पुत्र थे फिर भी सभी भाइयों में ऐसा संगठन था कि एक-दूसरे के लिए मरने-मिटने तक को तैयार रहते थे तथा दोनों की माताएँ भी एक-दूसरे से मिलकर रहती थीं । इससे यह शिक्षा मिलती है कि यदि किसी कारण पिता दो विवाह कर लें तो उनके लड़कों को परस्पर मिलकर रहना चाहिए तथा उसी प्रकार पत्नियाँ भी आपस में अच्छा व्यवहार रखें । दूसरा विशेषण 'राजा' दिया गया है । यहाँ पर यह शंका कि युधिष्ठिर तो दिलीश थे नहीं फिर उन्हें राजा पदवी कैसे दी गई । इसका तात्पर्य यह है कि - **'स्वराज्यकामो राजसूयेन यजेत'** इस श्रौत सिद्धान्तानुसार युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ करने से विश्व के सभी प्राणियों ने उनको 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया था । जब कि दुर्योधनके लिए **'राजा वचनमब्रवीत्'** (गीता. १।२) तथा धृतराष्ट्र के लिए **'राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य'** (गी. १८।७६) करके जो 'राजा' शब्द आया है, वह औपचारिक है क्योंकि दुर्योधन वैदिक आचरण से रहित और दुर्बुद्धि था जैसा आगे भी कहा गया है - **धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः** (गी. १।२३)

धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि दुर्योधन का ॥२३॥ तथा धृतराष्ट्र अज्ञानी था, इसलिए उसने 'मामका: पाण्डवाश्चैव' (गी. १।१) कहकर दुर्योधन आदि को अपना पुत्र तथा अपने भाई के पुत्रों को पाण्डव करके कहा । इससे यह ज्ञात हो जाता है कि इन दोनों को राजा पदवी कतिपय लोगों द्वारा दी गई औपचारिक थी तथा युधिष्ठिर को 'राजा' पद युक्ति-युक्त है । अनेक बार इस शंखनाद से विजय प्राप्त करने के कारण युधिष्ठिर के शंख का नाम अनन्तविजय था । भीष्मजी भी युधिष्ठिर के विषय में कहते हैं कि -

स्वयं राजा रथोदार: पाण्डव: कुन्तिनन्दन: ।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति न संशय: ॥ (महाभार. उद्यो. १६६।३)

हे तात ! कुन्ती का आनन्द बढ़ाने वाले स्वयं पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर एक श्रेष्ठ महारथी हैं । वे समरभूमि में अग्नि के समान सब ओर विचरेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥३॥

सुन्दर ध्वनिवाला होने से नकुल के शंख का नाम सुघोष तथा स्फटिक मणि और कुन्द पुष्प की भाँति शुभ्र होने से सहदेव के शंख का नाम मणिपुष्पक पड़ा था । इन दोनों की प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं -

माद्रीपुत्रौ च विक्रान्तौ त्रिदशानामिवेश्वरौ (महाभार. भीष्म. १०७।२७)

माद्रीकुमार नकुल और सहदेव भी पराक्रम में दो इन्द्रों के समान हैं ॥२७॥ अन्यत्र भी कहा गया है -

माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगा: । (पा. गी. २)

माद्री के दोनों लड़कों नकुल और सहदेव के नाम स्मरण करने से रोग नष्ट होता है ॥२॥ इस प्रकार युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव के अलग-अलग शंखों को बजाने को कहकर नामधारी शंखों की गणना समाप्त हो गई ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वास: शिखण्डी च महारथ: ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजित: ॥१७॥

अन्वय :- परमेष्वास: काश्य: च महारथ: शिखण्डी च धृष्टद्युम्न: च विराट: च अपराजित: सात्यकि: ।

अर्थ :- महाधनुर्धर काशिराज सेनाविन्दु एवं महारथी शिखण्डी तथा दृष्टद्युम्न और विराट एवं अजेय सात्यकि ने अलग-अलग शंख बजाये ।

व्याख्या :- यह विशेषक श्लोक है और इसमें केवल विशेषणयुक्त कर्तृ पद है, इसलिए १८वें श्लोक के चौथे पाद **'शंखान्दध्मु: पृथक्पृथक्'** (गी. १।१८) को लेकर इसका भी अर्थ होगा ।

व्याख्या :- सेना के विन्दु के समान अर्थात् ये जहाँ युद्ध में पहुँच जाते थे वहाँ दस गुना बल और साहस बढ़ जाता था । इसलिए इनका नाम सेना-विन्दु पड़ा था । जैसा भीष्मजी इनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं -

सेनाविन्दुश्च राजेन्द्र क्रोधहन्ता च नामत: ।
स योत्स्यति हि विक्रम्य समरे तव सैनिकै: ॥
(महाभार. उद्यो. १७१।२०-२१)

हे राजेन्द्र ! राजा सेनाविन्दु (जिनका दूसरा नाम क्रोधहन्ता भी है) समराङ्गण में तुम्हारे सैनिकों के साथ पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध करेंगे ।।२०-२१।।

मस्तक के केश के कलाप को शिखण्ड कहते हैं । इसे कलापूर्ण ढंग से सजाकर रखने से इसका नाम शिखण्डी था । शिखण्डी का परिचय देते हुए कहा गया है कि--

शिखण्डी द्रुपदाज्जज्ञे कन्या पुत्रत्वमागता ।
यां यक्ष: पुरुषं चक्रे स्थूण: प्रियचिकीर्षया ॥ (महाभार. आदि. ६३।१२५)

राजा द्रुपद से शिखण्डी नाम की एक कन्या हुई, जो आगे चल कर पुत्ररूप में परिणत हो गयी । स्थूणाकर्ण नामक यक्ष ने उसका प्रिय करने की इच्छा से उसे पुरुष बना दिया था ।।१२५।।

राजा द्रुपद ने जब संतान प्राप्ति के लिए घोर तपस्या की तो महादेवजी ने प्रसन्न होकर कहा कि भूपाल ! तुम्हें पहले पुत्री होगी फिर वह पुरुष हो जायेगी । शिखण्डी को पहले उसके माता-पिता ने गुप्त रूप से रखते हुए पुत्र के रूप में प्रसिद्ध किया और उसका विवाह भी दशार्णदेश के राजा हिरण्यवर्मा की कन्या के साथ कर दिया । बाद में यह बात किसी दासी द्वारा हिरण्यवर्मा को ज्ञात होने पर अपने दूत से द्रुपद पर आक्रमण करने का उसने समाचार भेजा । इस संकट से अपने पिता को दु:खी देखकर शिखण्डी अपने जीवन का अन्त कर देने का निश्चय करके गहन वन में चली गई और बहुत दिनों तक उपवास कर अपने शरीर को सुखाने लगी । उसे इस अवस्था में देखकर उस वन का संरक्षक स्थूणाकर्ण यक्ष को बड़ी दया आयी और अपनी शक्ति के आधार पर शिखण्डी को पुरुषत्व देकर स्वयं उसने स्त्रीत्व धारण किया । शिखण्डी अपने घर वापस हो गया और राजा हिरण्यवर्मा को अपने पुरुषत्व की परीक्षा देकर प्रसन्न कर दिया । बाद में चलकर कुबेर ने कुपित होकर स्थूणाकर्ण को स्त्री ही बने रहने का शाप दे दिया । इस प्रकार शिखण्डी पुरुष रूप में ही रह गया । यह बड़ा ही वीर महारथी था, जैसा भीष्मजी प्रशंसा करते हुए कहते हैं -

पञ्चालराजस्य सुतो राजन् परपुरंजय ।
शिखण्डी रथमुख्यो मे मत: पार्थस्य भारत ॥ (महाभार. उद्यो. १७१।१)

हे राजन् ! भरतनन्दन ! पाञ्चाल राजा द्रुपद का पुत्र शिखण्डी शत्रुओं की नगरी पर विजय पाने वाला है; उसे युधिष्ठिर की सेना का एक प्रमुख रथी मानता हूँ ।।१।। हे भारत ! वह तुम्हारी सेना में प्रवेश करके अपने पूर्व अपयश का नाश तथा उत्तम सुयश का विस्तार करता हुआ बड़े उत्साह से युद्ध करेगा (उद्यो. १७१।२) धृष्टद्युम्न शत्रुओं का सामना करने में समर्थ और अपरिमित शक्तिवाला था । भीष्मजी उसके सम्बन्ध में कहते हैं -

धृष्टद्युम्नश्च सेनानीः सर्वसेनासु भारत ।
मतोमेऽतिरथो राजन् द्रोणशिष्यो महारथः ॥ (महाभार. उद्यो. १७१।४)

हे भारत ! जो पाण्डवों की सम्पूर्ण सेना का सेनापति है वह द्रोणाचार्य का महारथी शिष्य धृष्टद्युम्न मेरे विचार से अतिरथी है ।।४।।

एष योत्स्यति संग्रामे सूदयन् वै परान् रणे ।
भगवानिव संक्रुद्ध पिनाकी युगसंक्षये ॥५॥

जैसे प्रलयकाल में पिनाकधारी भगवान् रुद्र कुपित होकर प्रजा का संहार करते हैं, उसी प्रकार यह संग्राम में शत्रुओं का संहार करता हुआ युद्ध करेगा ।।५।। श्रेष्ठस्वरूप वाले राजा विराट के सम्बन्ध में कहा गया है कि -

यदा विराटः परवीरघाती रणान्तरे शत्रुचमूं प्रवेष्टा ।
मत्स्यैः सार्धमनृशंसरूपै - स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ (महाभार. उद्यो. ४८।३७)

जब शत्रु वीरों का संहार करने वाले राजा विराट सौम्य स्वरूप वाले मत्स्यदेशीय योद्धाओं को साथ लेकर रणभूमि में शत्रु सेना के भीतर प्रवेश करेंगे; उस समय दुर्योधन युद्ध छेड़ने का परिणाम सोचकर शोक से संतप्त हो उठेगा ।।३७।। जिसे पहले गी. १।४ में युयुधान नाम से गिनाया गया है उसी को इस १७वें श्लोक में सत्यक के पुत्र होने से सात्यकि कहा गया है । ये शत्रुओं से पराजित नहीं होने वाले थे । संजय इनके विषय में कहता है -

यो दीर्घबाहु क्षिप्रास्त्रो धृतिमान् सत्यविक्रमः ।
तेन वो वृष्णिवीरेण युयुधानेन संगरः ॥ (महाभार. उद्यो. ५०।३६)

जिनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, जो बड़ी शीघ्रता से अस्त्र संचालन करते हैं तथा जो धीर एवं सत्य पराक्रमी हैं उन वृष्णिवीर सात्यकि के साथ आप लोगों का संग्राम होने वाला है ।।३६।। इस प्रकार उक्त सभी महारथियों ने अलग-अलग शंखों को बजाया ।।१७।।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

अन्वय :- **पृथिवीपते ! द्रुपदः च द्रौपदेयाः च महाबाहुः सौभद्रः सर्वशः पृथक् पृथक् शंखान्दध्मुः ।**

अर्थ :- हे पृथ्वीपते ! द्रुपद और द्रौपदी के पुत्र(प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन ये पाँच पुत्र) एवं सुभद्रा पुत्र महाबाहु अभिमन्यु इन सबों ने भी सभी ओर से अलग-अलग शंखों को बजाया ।

व्याख्या :- 'द्रु' नाम शीघ्रता से 'पद' नाम गति अर्थात् बड़ी शीघ्रता से शत्रुओं पर आक्रमण करने से उनका नाम द्रुपद था । इन्हें अस्त्र विद्या में निपुण तथा विपक्षियों के मस्तकों को शीघ्रता से काटने वाला बताया गया है (महाभार. उद्यो. ४८।३६) । द्रौपदी के पाँचों पुत्रों की प्रशंसा करते हुए संजय कहता है कि -

शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये द्रौपदेयैर्महात्मभिः । (महाभार. उद्यो. ५०।४२)

द्रौपदी के महामना पाँचों पुत्र देखने में बालक होने पर भी समर भूमि में दुर्जय हैं ।।४२।। तथा सुभद्रापुत्र अभिमन्यु को --

सौभद्रमिन्द्रप्रतिमं कृतास्त्रम्' (महाभार. उद्यो. ४८।३३)

सुभद्रा कुमार इन्द्र के समान शक्तिशाली तथा अस्त्र-विद्या में पारङ्गत हैं ।।३३।। बताया गया है । यहाँ अभिमन्यु के लिये 'महाबाहु' का प्रयोग किया गया है । जब कि महाभारत के उद्योगपर्व में कहा गया है कि-

बाहुभ्यां रोदसी विभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ।।

(महाभार. उद्यो. ७०।६)

अपनी दोनों बाहुओं द्वारा भगवान् इस पृथ्वी और आकाश को धारण करते हैं, इसलिए श्रीकृष्ण का नाम 'महाबाहु' है ।।६।। इसके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ही 'महाबाहु' कहलाते हैं । इसीलिए उनका प्रिय शिष्य अर्जुन उन्हीं के लिये कहता है -

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् । (गीता १८।१)

हे महाबाहो ! मैं संन्यास के तत्त्व को जानना चाहता हूँ ।।१।। इससे ज्ञात हो जाता है कि 'महाबाहु' भगवान् श्रीकृष्ण के लिए ही वस्तुत: प्रयोग किया जाता है । फिर अभिमन्यु को यह उपाधि किस प्रकार प्राप्त हुई ? इसका कारण यह है कि परम कारुणिक भगवान् ने अत्यन्त प्रिय होने से यह उपाधि अर्जुन को प्रदान कर दी थी जैसा वे स्वयं भी अर्जुन के लिए कहते हैं -

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे । (गीता १८।१३)

हे महाबाहो ! अर्जुन ! ये पाँच कारण तुम मुझसे समझो ।।१३।। और यह उपाधि जिस प्रकार यदि किसी का पूर्वज चारवेद के ज्ञाता होने से चतुर्वेदी उपाधि प्राप्त किया रहता है परन्तु उसका पुत्र वेद के ज्ञान से रहित रहने पर भी चतुर्वेदी उपाधि प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार अपने पिता अर्जुन को भगवान् द्वारा प्रदान की गई 'महाबाहु' उपाधि को पुत्र अभिमन्यु ने 'महाबाहु' न रहने पर भी प्राप्त कर ली । इसीलिए यहाँ सुभद्रापुत्र अभिमन्यु को महाबाहु विशेषण लगाकर कहा गया है । इस श्लोक में 'च' शब्द का प्रयोग करके पाण्डव दल में पूर्वपरिगणित -(१) धृष्टकेतु, (२) चेकितान, (३) काशिराज (४) पुरुजित्, (५) कुन्तिभोज, (६) शैब्य (गी० १।५) (७) युधामन्यु और (८) उत्तमौजा (गी० १।६) इन आठ महारथियों को भी शंख बजाने वालों में संकेत किया गया है । इस प्रकार उक्त सभी प्रमुख वीरों ने सब ओर से अलग-अलग अपने-अपने शंखो को बजाया ।।१८।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।।१९।।

अन्वय :- **सः तुमुलः घोषः नभः च पृथिवीं च एव व्यनुनादयन् धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।**

अर्थ :- पाण्डव के दल के महारथियों के शंखों का वह भयानक शब्द आकाश और पृथ्वी को तथा चकार से चार दिशाओं और चार विदिशाओं, (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अग्निकोण, नैऋत्यकोण, वायव्य कोण और ईशान कोण) को पूर्णरूप से प्रतिध्वनित करते हुए धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों के हृदय को विदीर्ण करने लगा। यानी उनके हृदय में भय उत्पन्न होने लगा कि कौरवी सेना अभी नष्ट हो जायेगी ।

व्याख्या :- आकाश का लक्षण लिखा है कि --

'शब्दगुणकमाकाशम्' (तर्कसंग्रह) जिसमें केवल शब्द हो उसे आकाश कहते हैं ।। और पृथ्वी का लक्षण लिखा है कि - **'गन्धवती पृथ्वी'** (तर्क-संग्रह) समवाय सम्बन्ध से जिसमें गन्ध हो उसको पृथ्वी कहते हैं ।।

धार्तराष्ट्र यानी धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों के नाम क्रमानुसार इस प्रकार थे --

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसंधः समः सहः ।। (महाभार. आदि. ११६।२)

१. दुर्योधन, २. युयुत्सु, ३. दुश्शासन, ४. दुस्सह, ५. दुश्शल, ६. जलसंध, ७. सम और ८. सह ।।२।।

विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ।।३।।

९. विन्द, १०. अनुविन्द, ११. दुर्धर्ष, १२. सुबाहु, १३. दुष्प्रधर्षण, १४. दुर्मर्षण, १५. दुर्मुख, १६. दुष्कर्म और, १७. कर्ण ।।३।।

विविंशतिर्विकर्णश्च शलः सत्त्वः सुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रशरासनः ।।४।।

१८. विविंशति, १९. विकर्ण, २०. शल, २१. सत्त्व, २२. सुलोचन, २३. चित्र, २४. उपचित्र, २५. चित्राक्ष और, २६. चारुचित्र शरासन (चित्रचाप) ।।४।।

दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ।।५।।

२७. दुर्मद, २८. दुर्विगाह, २९. विवित्सु, ३०. विकटानन, (विकट), ३१. उर्णनाभ, ३२. सुनाभ, (पद्मनाभ), ३३. नन्द तथा ३४. उपनन्द ।।५।।

चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ।।६।।

३५. चित्रबाण (चित्रबाहु), ३६. चित्रवर्मा, ३७. सुवर्मा, ३८. दुर्विरोचन, ३९. अयोबाहु, ४०. महाबाहु चित्राङ्ग (चित्राङ्गद), ४१. चित्रकुण्डल (सुकुण्डल) ।।६।।

भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः ।
उग्रायुधः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ।।७।।

४२. भीमवेग, ४३. भीमबल, ४४. बलाकी, ४५. बलवर्धन (विक्रम) ४६. उग्रायुध, ४७. सुषेण, ४८. कुण्डोदर और ४९. महोदर ।।७।।

चित्रायुधो निषङ्गी च पाशी वृन्दारकस्तथा ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रःसोमकीर्तिरनूदरः ।।८।।

५०. चित्रायुध (दृढायुध), ५१. निषङ्गी, ५२. पाशी, ५३. वृन्दारक, ५४. दृढ़वर्मा, ५५. दृढ़क्षत्र, ५६. सोमकीर्ति तथा ५७. अनूदर ।।८।।

दृढसंधो जरासंधः सत्संध सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ।।९।।

५८. दृढ़संध, ५९. जरासंध, ६०. सत्यसंध, ६१. सदःसुवाक् (सहस्रवाक्), ६२. उग्रश्रवा, ६३. उग्रसेन, ६४. सेनानी (सेनापति) ६५. दुष्पराजय ।।९।।

अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ।।१०।।

६६. अपराजित, ६७. पण्डितक, ६८. विशालाक्ष, ६९. दुराधर, (दुराधन), ७०. दृढ़हस्त, ७१. सुहस्त, ७२. वातवेग, और ७३. सुवर्चा ।।१०।।

आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तोऽग्रयाय्यपि ।
कवची क्रथनः दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ।।११।।

७४. आदित्यकेतु, ७५. बह्वाशी, ७६. नागदत्त, ७७. अग्रयायी (अनुयायी), ७८. कवची, ७९. क्रथन, ८०. दण्डी, ८१. दण्डधार, ८२. धनुर्ग्रह ।।११।।

उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ।।१२।।

८३. उग्र, ८४. भीमरथ, ८५. वीरबाहु, ८६. अलोलुप, ८७. अभय, ८८. रौद्रकर्मा, तथा ८९. दृढ़रथाश्रय (दृढ़रथ) ।।१२।।

अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी चित्रकुण्डलः ।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ॥१३॥

८०. अनाधृष्य, ८१. कुण्डभेदी, ८२. विरावी, ८३. विचित्र कुण्डलों से सुशोभित प्रमथ, ८४. प्रमाथी और ८५. वीर्यवान् दीर्घरोमा (दीर्घलोचन) ॥१३॥

दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः । कुण्डाशो विरजाश्चैव ॥१४॥

८६. दीर्घबाहु, ८७. महाबाहु व्यूढोरु, ८८. कनकध्वज (कनकाङ्गद), ८९. कुण्डाशी (कुण्डज) तथा १००. विरजा धृतराष्ट्र के ये सौ पुत्र थे ॥१४॥

उक्त सभी पुत्रों के हृदय पाण्डव दल के शंख की प्रतिध्वनि को सुनकर अत्यन्त पीड़ित हो गया ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिधवजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

अन्वय :- **अथ कपिध्वजः पांडवः शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते व्यवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् दृष्ट्वा धनुरुद्यम्य ।**

अर्थ :- इसके अनन्तर कपिध्वज (जिसकी ध्वजा पर श्रीहनुमान् जी विराजमान हैं) अर्जुन ठीक शस्त्रपात की तैयारी के समय युद्ध की इच्छा से व्यवस्थित रूप से सामने खड़े धृतराष्ट्रपक्षीय भीष्मद्रोणादि को देखकर, गाण्डीव धनुष हाथ में उठाकर (भगवान् श्रीकृष्ण से कहने लगा) ।

व्याख्या :- यह युग्म श्लोक है । **'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तम्'** जिसमें दो श्लोकों का अन्वय एक साथ हो उसे युग्म श्लोक कहते हैं । इस श्लोक में क्रियापद नहीं है, इसलिए इस श्लोक का आगे के २१वें श्लोक के पूर्वार्द्ध **'हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते'** (गी. १।२१) को लेकर अर्थ किया गया है । दूसरे, इस श्लोक के आदि में 'अथ' शब्द आया है । 'अथ' शब्द के विषय में लिखा है कि --

मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ ॥ (अमरको. का. ३ श्लो. २४७)

१. मंगल, २. अनन्तर, ३. आरंभ, ४. कार्त्स्न्य इन अर्थों में अथो और अथ शब्द का प्रयोग होता है ॥२४७॥ इसके अनुसार यहाँ जो अथ शब्द है वह अनन्तर वाचक है ।

यहाँ अर्जुन को कपिध्वज कहा गया है, इसका कारण यह है कि अर्जुन के रथ की विशाल ध्वजा पर लंकादहनकारी श्रीहनुमान् जी भीमसेन को दिये गये वचन के अनुसार विराजित रहते थे । भीमसेन और हनुमान् जी दोनों के वायुपुत्र होने से उनमें भाई का सम्बन्ध था, इससे युद्ध के समय ध्वजा पर रहते हुए सहायता का आश्वासन भीमसेन को श्रीहनुमान् जी दे चुके थे । इसी बात को संजय दुर्योधन को संकेत करते हुए कहता है --

भीमसेनानुरोधाय हनुमान् मारुतात्मजः ।
आत्मप्रतिकृतिं तस्मिन् ध्वज आरोपयिष्यति ॥ (महाभार. उद्यो. ५६।६)

भीमसेन के अनुरोध की रक्षा के लिए पवननन्दन हनुमान् जी उस ध्वज में युद्ध के समय अपने स्वरूप को स्थापित करेंगे ॥६॥ इसी कारण इस ध्वज की श्रेष्ठता को बताते हुए कहा गया है-

वानरो रोचमानश्च केतुः केतुमतां वरः । (महाभार. उद्यो. ५४।१३)

पताकावाले ध्वजों में वानर से उपलक्षित ध्वज ही श्रेष्ठ एवं प्रकाशमान है ॥१३॥ 'धनु' कहकर यहाँ गाण्डीव धनुष को ही बताया गया है, क्योंकि आगे स्वयं अर्जुन ही कहता है **'गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्'** (गी. १।३०) मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष फिसला जा रहा है ॥३०॥ इस गाण्डीव धनुष को उसने हाथ में चढ़ा लिया जैसा हाथ से गिरने की बात कहने से भी यही तात्पर्य व्यक्त होता है । इस गाण्डीव धनुष की श्रेष्ठता स्वयं धृतराष्ट्र स्वीकार करते हुए कहता है -

दुरासदं यस्य दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ।
वारुणौ चाक्षयौ दिव्यौ शरपूर्णौ महेषुधी ॥ (महाभार. उद्यो. ६०।१२)

जिस अर्जुन के पास उत्तम एवं दुर्धर्ष दिव्य गाण्डीव धनुष है, वरुण के दिये हुए बाणों से भरे दो दिव्य अक्षय तूणीर हैं ॥१२॥

इसलिये संजय भी कहता है-

अस्यतां फाल्गुनः श्रेष्ठो गाण्डीवं धनुषां वरम् ॥ (महाभार. उद्यो. ५४।१२)

बाण चलाने वाले वीरों में अर्जुन श्रेष्ठ हैं, धनुषों में गाण्डीव उत्तम है ॥१२॥ भगवान् श्रीकृष्ण को 'हृषीकेश' कहकर यह बताया गया है कि -

हृषीकाणीन्द्रियाण्याहुस्तेषामीशो यतो भवान् ।
हृषीकेशस्ततो विष्णो ख्यातो देवेषु केशव ॥ (हरिवंश २७६।४६)

हे विष्णो ! हृषीक इन्द्रियों को कहते हैं । आप उनके ईश (स्वामी) हैं, अतः हे केशव श्रीकृष्ण ! आप देवताओं में 'हृषीकेश' नाम से विख्यात हैं ॥४६॥ संजय कहता है कि ऐसे हृषीकेश श्रीकृष्ण भगवान् से अर्जुन ने यह वचन कहा ॥२०॥'

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

अन्वय :- **महीपते ! तदा हृषीकेशं इदं वाक्यं आह । (अर्जुन उवाच) अच्युत ! उभयोः सेनयोः मध्ये मे रथं स्थापय ।**

अर्थ :- हे राजन् (धृतराष्ट्र !) तब हृषीकेश यानी भगवान् श्रीकृष्ण से (अर्जुन ने) यह वाक्य कहा ।

अर्जुन बोले - हे अच्युत दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को खड़ा कीजिए ।

व्याख्या :- यह युग्म श्लोक है । इसमें कर्तृ पद नहीं है इसलिये इससे पहले जो २० वाँ श्लोक है उसमें से विशेषण विशेष्य वाला कर्तापद **'कपिध्वजः' 'पाण्डवः'** (गी. १।२०) को लेकर तब इस श्लोक का अर्थ किया गया है कपिध्वजपाण्डव यानी अर्जुन ने भगवान् अच्युत से दोनों सेनाओं के बीच अपना रथ खड़ा करने को कहा ।

यहाँ भगवान् को 'अच्युत' नाम से संबोधित किया गया है, क्योंकि लिखा है कि **'सिद्धिःसर्वादिरच्युतः'** (महाभार. अनु. वि. स. २४) सिद्धि, सर्वादि, अच्युत ये भगवान् श्रीकृष्ण के नाम हैं ।।२४।।

श्रीकृष्ण भगवान् भक्त के लिए कभी भी अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होते हैं, अतः इनका नाम अच्युत है । सर्वप्रथम महाशिरा ऋषि ने यह नाम मंत्र जपा है । इसको जपने से महाशिरा ऋषि को सर्वसिद्धियाँ प्राप्त हुईं तथा वे सिद्धों में अग्रणी हुए । यह नाम मंत्रसिद्धिप्रद है । अर्जुन ने इस नाम से संबोधित कर भगवान् के इसी महत्त्व की ओर संकेत किया है ।।२१।।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।।२२।।

अन्वय :- **अहं योद्धुकामानवस्थितान् एतान् यावद् निरीक्षे । अस्मिन् रणसमुद्यमे मया कैः सह योद्धव्यम् ।**

अर्थ :- मैं युद्ध की इच्छा वाले सज-धज कर खड़े इन योद्धाओं को जबतक अच्छी तरह देख लूँ । (अर्थात् यह देख सकूँ कि) इस रणक्षेत्र (रणरूपी समुद्यम यानी उद्योग) में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है ।

व्याख्या :- यहाँ पर यह संदेह हो सकता है कि जब युद्ध का समय हो और **'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते'** (गी. १।२०) शस्त्रपात की तैयारी ।।२०।। भी हो चुकी है तथा स्वयं अर्जुन भी युद्ध के लिये धनुष हाथ में उठा चुका है फिर उसका 'युद्ध भूमि में योद्धाओं को देखना' यह कहना असंगत सा मालुम पड़ता है, परन्तु अर्जुन का अभिप्राय दूसरा है । वह महासाध्वी कुंती का पुत्र है तथा भगवान् का भक्त है । इसलिये ऐसे नामी लोगों की बदनामी न हो इससे विचार कर वार करेगा, ताकि यदि अनुचित जान पड़ेगा तो संग्राम नहीं करेगा । इससे यह भी शिक्षा देता है कि समस्त तैयारी होने के बाद भी विचारशील व्यक्ति को एकाएक वार नहीं करना चाहिए, क्योंकि सहसा किया गया कार्य उचित नहीं होता है जैसा लक्ष्मण जी के लिये भी 'साजि सरासनु सायकु हाथा' (मानस २।२२६) के अनुसार धनुष पर बाण चढ़ाकर युद्ध के लिये तैयार हो जाने पर आकाशवाणी होती है कि -
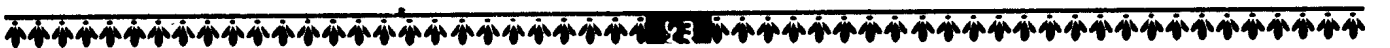
अनुचित उचित काजु किछ होऊ । समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ ॥

सहसा करि पाछे पछिताहीं । कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं ॥ (मानस २।२३०।३,५)

इसी कारण अर्जुन ने बाण छोड़ने के पूर्व रणक्षेत्र में अनुचित-उचित का विचार करने के लिए भगवान् से विज्ञापन किया है ।।२२।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।।२३।।

अन्वय :- **दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः ये एते अत्र समागताः, योत्स्यमानान् अहं अवेक्षे ।**

अर्थ :- दुर्बुद्धि धार्तराष्ट्र (यानी दुर्योधन) का युद्ध में हित या प्रिय चाहनेवाले जो ये सभी यहाँ एकत्र हैं, युद्ध की इच्छावालों को मैं भलीभाँति देख लूँ ।

व्याख्या :- यहाँ अर्जुन ने दुर्योधन को दुर्बुद्धि बतलाया है । भगवान् कृष्ण की महिमा और उनका झुकाव जानते हुए भी युद्ध करना चाहता है । वह जानता है कि भगवान् शरणागत-परित्राण, आश्रित-परतन्त्र और परब्रह्म हैं, क्योंकि राजसूय यज्ञ में सबों ने निर्विवाद रूप से इन्हीं को श्रेष्ठ मानकर पूजा की । सभा में द्रौपदी के नग्न करते समय भी वह वस्त्रावतार को देख चुका है तथा यह भी जानता है कि जिधर भगवान् श्रीकृष्ण रहेंगे उधर की ही विजय होगी । यही नहीं वह स्वयं अपने पिता से कहता भी है -

स हि पूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुललोचन : ।

त्रयाणामपि लोकानां विदितं मम सर्वथा ॥ (महाभार. उद्यो. ८८।५)

विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण इस लोक में ही नहीं, तीनों लोकों में सबसे श्रेष्ठ होने के कारण परम पूजनीय पुरुष हैं, यह बात मुझे सब प्रकार से विदित है ।।५।। इसपर भी कौरव-सभा में कहता है-

म्रियमाणे महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव ।

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव ।

तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ (महाभार. उद्यो. १२७।२५)

हे केशव ! इस समय मुझ महाबाहु दुर्योधन के जीते-जी पाण्डवों को भूमि का उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता, जितना कि एक बारीक सूई की नोक से छिद सकता है ।।२५।। इसीलिए अर्जुन उसे दुर्बुद्धि कहता है और उसका प्रिय करने के लिए जो वीर लोग युद्ध भूमि में हैं, उनकी भी बुद्धि ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यायी को रोकने की अपेक्षा वे उसका साथ दे रहे हैं । इससे मैं उन्हें अच्छी तरह देख सकूँ । तात्पर्य यह कि यद्यपि बहुत संख्या में सेनायें खड़ी हैं जिससे मेरा सभी को देख पाना सम्भव नहीं है, इसलिए आप कृपा कर यह शक्ति मुझे दें कि मैं सबको अच्छी तरह

से देख लूँ कि दुर्योधन का प्रिय करने वाले और अन्याय का समर्थन करने वाले कौन-कौन से वीर आये हैं । इससे अर्जुन शिक्षा देता है कि शुभ-चिन्तकों को अन्यायी का पक्ष न लेकर उसको युद्ध करने से रोकना चाहिए ताकि उसका प्रिय करने वाले उसका विनाश ही न करा डालें ।।२३।।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।।२४।।

अन्वय :- **संजय उवाच-भारत ! गुडाकेशेन एवं उक्तः हृषीकेशः उभयोः सेनयोः मध्ये रथोत्तमम् स्थापयित्वा ।**

अर्थ :- संजय बोले - हे भारतनिवासी धृतराष्ट्र ! निद्रा-विजयी (गुडाकेश) अर्जुन के इस प्रकार कहने पर हृषीकेश यानी भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच रथों में श्रेष्ठ उस रथ को (खाण्डव वन-दहन के समय जिसे अर्जुन को स्वयं अग्निदेव ने दिया था) स्थापित कर (ऐसा कहा) ।

व्याख्या :- यह युग्म श्लोक है । इस श्लोक में क्रिया पद नहीं है । इसलिए आगे के २५वें श्लोक के पूर्वार्द्ध **'भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्'** (गी. १।२५) तथा 'उवाच' इस क्रिया के पद को लेकर अर्थ किया गया है ।

संजय के विषय में लिखा है कि -

संजयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात् ।। (महाभार. आदि. ६३।६७)

गवल्गण से संजय नाम सूत का जन्म हुआ, जो मुनियों के समान ज्ञानी और धर्मात्मा थे ।।६७।। **'भारतोऽस्यास्ति इति भारत'** अर्थात् भारतवर्ष में रहने से धृतराष्ट्र को संजय 'भारत' सम्बोधन देता है । गुडाका+ईश से गुडाकेश बनता है । गुडाका निद्रा को कहते हैं उसके ईश नाम विजय करने वाला होने से अर्जुन गुडाकेश कहा जाता था । अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को हृषीकेश कहता है । हृषीकेश के विषय में कहा गया है कि-

बोधनात्स्वापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत् ।
अग्नीषोमकृतैरेवं कर्मभिः पाण्डुनन्दन ।
हृषीकेशो महेशानो वरदो लोकभावनः ।। (महाभार.)

हे पाण्डुनन्दन ! बोध से और स्वाप से संसार का हर्ष होता है । इस प्रकार अग्निषोम कृत कर्मो से लोकभावन वर देने वाले महाप्रभु श्रीकृष्ण का हृषीकेश नाम है ।। भगवान् अर्जुन के कहने पर रथ खड़ा करके यह संकेत करते हैं कि यद्यपि मैं स्वतन्त्र हूँ फिर भी भक्त के परतन्त्र रहता हूँ ।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

अन्वय :- **भीष्मद्रोणप्रमुखतः-सर्वेषां च महीक्षिताम् (रथोत्तमं स्थापयित्वा) इति उवाच-पार्थ ! एतान् समवेतान् कुरून् पश्य ।**

अर्थ :- भीष्म और द्रोण के सामने तथा समस्त भूपालों (शल्य, कर्ण, जयद्रथ आदि) के देखते-देखते (उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करके भगवान् श्रीकृष्ण बोले)-हे पृथापुत्र अर्जुन, इस कुरुक्षेत्र में संग्राम की इच्छा से जुटे हुए इन कुरुवंशी आदि को देख लो ।

व्याख्या :- यह युग्म श्लोक है । इस श्लोक में कर्तृपद नहीं है, इसलिए इसके पहले के २४वें श्लोक का कर्तृपद **'हृषीकेशः'** (गी. १।२४) तथा उसी श्लोक के उत्तरार्ध **'सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्'** (गी. १।२४) ऐसा समस्त पद को लेकर इसका अर्थ किया गया है ।

इस श्लोक में **'कुरूनिति'** इस पद का कुछ टीकाकारों ने यह अर्थ किया है कि 'कुरुवंशियों को' देख, परन्तु यह असंगत अर्थ है, क्योंकि आगे अर्जुन का आचार्य, मामा आदि को देखना बताया गया है । यदि भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करके अर्जुन ने कुरुवंशियों के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धियों को देखा तब तो **'आज्ञाद्रोही न मे भक्तः'** के अनुसार भगवान् का प्रिय नहीं कहा जायगा । जबकि भगवान् ने अर्जुन को **'प्रियोऽसि मे'** (गी. १८।६५) कहकर अपना अत्यन्त प्रिय बतलाया है । इसलिए यहाँ कोश के अनुसार 'इति' का अर्थ 'आदि' है । क्योंकि लिखा है कि 'इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु' (अमरको. का. ३ वर्ग. ३ श्लो. २४५) १-कारण, २-प्रकरण, ३-प्रकाश, ४-आदि, ५-समाप्ति इन अर्थों में 'इति' शब्द का प्रयोग होता है ।।२४५।। इससे अर्जुन द्वारा द्रोणाचार्य, सात्यकि आदि यदुवंशियों, शैब्य आदि सूर्यवंशियों तथा विराट आदि को देखना संगत है और भगवान् की आज्ञा का भी उल्लंघन नहीं है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि 'इति' पद यहाँ आदिवाचक है और कुरूनिति' का अर्थ 'कुरुवंशियों आदि' होगा ।।२५।।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥

अन्वय :- **अथ पार्थः तत्र स्थितान् पितृन्, पितामहान्, आचार्यान् मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् तथा सखीन् अपश्यत् ।**

अर्थ :- तदनन्तर पृथापुत्र (अर्जुन) ने वहाँ दोनों सेनाओं में युद्धार्थ सुसज्जित होकर स्थित, पितृजन, पितामहवृन्द, आचार्यगण, मामालोग, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों और मित्रों को देखा ।

व्याख्या :- यहाँ पर 'पितृन्' कहकर बताया गया है कि अर्जुन ने पिता को देखा । जबकि महाभारत के आदि पर्व में बताया गया है कि--

स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दनः ।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥ (महाभार. आदि. १२४।१२)

कुरुकुल को आनन्दित करने वाले परम धर्मात्मा महाराज पाण्डु इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी माद्री से समागम करके काल के गाल में पड़ गये ।।१२।। इससे विदित होता है कि संग्राम के पूर्व ही कुन्ती पुत्र अर्जुन के पिता काल कवलित हो गये थे । इसलिये यहाँ पर 'पितृन्' शब्द से यह संकेत किया गया है कि द्विजातियों के पाँच पिता होते हैं १-माता का पति । २--लड़का जिसकी गोद में चला जाता है । ३--लड़के का जो यज्ञोपवीत संस्कार कराता है । ४--जो अन्न खिलाकर पोषण करता है तथा ५--भय से जो रक्षा करता है । इसके अनुसार अर्जुन ने संग्राम में भूरिश्रवा आदि पितृव्य को देखा । आगे 'पितामहान्' कह कर पितामहों को देखना कहा गया है, परन्तु महाभारत के आदि पर्व के अनुसार -

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः ।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥ (महाभार. आदि. १०२।७०)

राजा विचित्रवीर्य ने उन दोनों पत्नियों अम्बिका और अम्बालिका के साथ सात वर्षों तक निरन्तर विहार किया, अतः उस असंयम के परिणामस्वरूप वे युवावस्था में ही राजयक्ष्मा के शिकार हो गये ।।७०।। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संग्राम के पूर्व ही अर्जुन के पितामह विचित्रवीर्य का देहावसान हो चुका था । इसलिए यहाँ 'पितामहान्' कहकर भीष्माचार्य, सोमदत्त और बाह्लीक आदि को संकेत किया गया है । आगे बतया गया है कि अर्जुन ने 'आचार्यान्' आचार्यों को देखा । आचार्य का लक्षण लिखा है कि--

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ।
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः ॥ (अद्वयतारकोप.)

जो वेद पढ़ा हो, तथा विष्णु का भक्त हो और मत्सर रहित हो, तथा योग को जाननेवाला हो और योगनिष्ठ हो, तथा सर्वदा योगात्मक हो और पवित्र हो तथा अपने गुरु का भक्त हो और पुरुष को विशेष रूप से जानने वाला हो, तो इन लक्षणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ।। इसके अनुसार कृपाचार्य और द्रोणाचार्य ये दो ही आचार्य थे । फिर बहुवचन कहने का यहाँ क्या अभिप्राय है ? इसका तात्पर्य यह है कि **'पिता वै जायते पुत्रः'** 'पिता ही पुत्र होकर उत्पन्न होता है ।' तथा **'समा गुरौ यथावृत्तिः''तत्पुत्रे च तथा कुर्वन्'** (महाभार. उद्यो. ४४।१३) आचार्य के प्रति शिष्य का जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्वक वर्ताव हो वैसा ही उसके पुत्र के साथ भी होना चाहिए ।।१३।। इसके अनुसार द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा भी आचार्य ही हैं । इसलिये भी संकेत किया गया है । इसी प्रकार 'मातुलाः' से पुरुजित्, कुन्तीभोज और शल्य आदि को, 'भ्रातृन्' से युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, दुर्योधन, दुःशासन आदि को, 'पुत्रान्' करके अभिमन्यु, प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक, श्रुतसेन, घटोत्कच, लक्ष्मण आदि को देखने का निर्देश किया गया है । लक्ष्मण

आदि के पुत्र जो अर्जुन के पौत्र लगते थे इन्हें तथा विकर्ण प्रभृति मित्रों को देखा । मित्र के विषय में श्रीरामानुज -भाष्य के अध्याय ६, श्लोक ६ के भाष्य में लिखा है कि-**'सवयसो हितैषिणो मित्राणि'** जो समान आयु वाले हितैषी हैं वे मित्र हैं ।।२६।।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अन्वय :- **उभयो एव सेनयोः श्वशुरान् च सुहृदः । सः कौन्तेयः तान् सर्वान् बन्धून् अवस्थितान् समीक्ष्य । परया कृपया आविष्टः विषीदन् इदं अब्रवीत् ।**

अर्थ :- दोनों ही सेनाओं में स्थित श्वशुरजन एवं सुहृदों को ('च' अनुक्त समुच्चयार्थक का तात्पर्य कि जो नहीं कहे गये हैं ऐसे धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और सुरथ आदि साले जयद्रथ आदि बहनोई और विराट आदि समधि को) देखा ।।२७।। तब कुन्तीपुत्र वह अर्जुन बन्धु बान्धवों सहित उन सभी सम्बन्धियों को देखकर करूणा में भर गया । (वह) विषाद करते हुए ऐसा बोला ।

व्याख्या :- यह युग्म श्लोक है । इसका अर्थ २६वें श्लोक के **'तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः'** (गी. १।२६) इस पद को लेकर किया गया है । अर्जुन ने कौरव सेनाओं में युद्ध की इच्छा से सुसज्जित श्वसुरों और सुहृदों को देखा । यहाँ **'श्वशुरान्'** पद से द्रुपद, शैब्य आदि को तथा 'सुहृदः' पद से सात्यकि आदि को बताया गया है । सुहृद् के विषय में श्रीरामानुज-भाष्य के अध्याय ६ के नवें श्लोक के भाष्य में लिखा है कि - **'वयोविशेषानङ्गीकारेण स्वहितैषिणः सुहृदः'** जो अवस्था विशेषका (छोटे-बड़े का) विचार न करके स्वाभाविक अपने हितैषी हैं वे 'सुहृद्' हैं । इस श्लोक में **'च'** शब्द अनुक्तसमुच्चयार्थक है । इससे जो नहीं कहे गये हैं वैसे धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और सुरथ आदि साले तथा जयद्रथ आदि बहनोई और समधी विराट आदि को देखने का संकेत किया गया है ।

यहाँ **'इदमस्तुसन्निकृष्टे'** (वाक्यपदीय) पास में 'इदम्' शब्द का प्रयोग होता है । इसके अनुसार 'इदम्' शब्द का प्रयोग यहाँ पास कहे जाने वाले वाक्य के लिये किया गया है । कौन्तेय शब्द से यह अभिप्राय है कि यद्यपि तैत्तिरीयोपनिषद् में **'मातृदेवो भव'** 'पितृ देवो भव' (तैत्ति. शिक्षावल्ली १।११) में माता पिता दोनों को बड़ा बताया गया है, परन्तु माता का स्थान प्रथम है, क्योंकि पिता का वीर्य और माता का रज मिल कर संतान उत्पन्न होता है फिर भी पिता के न रहने पर माता बालक का पालन पोषण अच्छी तरह कर लेगी परन्तु माता के न रहने पर पिता नहीं कर सकता । इसीलिये माता का स्थान बड़ा बताती हुई कौशल्या जी भगवान् राम से कहती हैं -

जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।। (मानस २।५५।१)

इसीको जनाने के लिए यहाँ अर्जुन को 'कौन्तेय' शब्द से कहा गया है ।।२७-२८।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच-कृष्ण ! युयुत्सुं इमम् स्वजनं समुपस्थितम् दृष्ट्वा ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे कृष्ण ! (इस कुरुक्षेत्र में) युद्ध की इच्छा से इस अपने स्वकीयजन को इकट्ठा देखकर (मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं)

व्याख्या :- इस श्लोक का पूर्वार्ध जिसका अर्थ हो चुका है संजय का भाषण था और उसी श्लोक का उत्तरार्ध अर्जुन का भाषण है, इसलिये यह श्लोक विलक्षण है । इसमें कर्तृपद और क्रिया पद दोनों नहीं हैं और बिना इन दोनों के अर्थ हो नहीं सकता, इसलिए आगे के २९वें श्लोक के प्रथम पाद **'सीदन्ति मम गात्राणि'** (गी.१।२९) को लेकर तब इस श्लोक का अर्थ होगा कि अखिलब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का अनुरागी, पलमात्र में समस्त सेना का संहार करने की शक्ति रखने वाला नरावतार अर्जुन बोला - हे श्रीकृष्ण ! इस कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से सुसज्जित मोर्चा पर खड़े इस समस्त स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे शरीर के सारे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं ।।

महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है कि-

'कृष्णो लोहिताक्षः प्रतर्दनः' (महाभार. अनु. वि. सह-२०) कृष्ण, लोहिताक्ष और प्रतर्दन ये भगवान् श्रीकृष्ण के नाम हैं ।।२०।। इनके विषय में कहा गया है कि - **'कृष्णो वै परमं दैवतम्'** (गोपालपूर्वतापिन्युप. १) निश्चय श्रीकृष्ण परब्रह्म देव हैं ।।१।।

श्रीकृष्ण नाम की व्युत्पत्ति बतलाते हुए लिखा है कि -

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥ (महाभार. उद्यो. ७०।५)

'कृष्' धातु सत्ता अर्थ का वाचक है और 'ण' शब्द आनन्द अर्थ का बोध कराता है, इन दोनों भावों से युक्त होने के कारण यदुकुल में अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं ।।५।। ये जन्म-मरण से खींच लेते हैं, अतः इनका नाम 'कृष्ण' है । सर्व प्रथम गर्ग ऋषि ने यह नाम मंत्र जपा है । इसको जपने से गर्ग ऋषि ज्योतिर्विदों में श्रेष्ठ तथा त्रिकालज्ञ हुए । यह मंत्र ज्योतिषशास्त्रज्ञता तथा त्रिकालज्ञता देने वाला है । यह नाम मंत्र यजुर्वेद के अध्याय २३ मंत्र १३ में -

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिर्वृद्ध्या ।
एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये । (यजु. २३।१३)

ऐसा संकेत किया गया है । अर्जुन ने श्रीकृष्ण सम्बोधन देकर इसी महत्त्व की ओर संकेत किया है । यहाँ 'गात्र'

में बहुवचन होने से अंग वाचक है । शरीर के अंगों की शिथिलता युद्ध के समय असगुन का द्योतक है । इसका तात्पर्य कि युद्ध में भीषण नर-संहार होने वाला है ।।२८।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।२९।।

अन्वय :- **मम गात्राणि सीदन्ति, च मुखं परिशुष्यति च मे शरीरे वेपथुः च रोमहर्षः जायते ।**

अर्थ :- (हे श्रीकृष्ण !) मेरे सारे अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है (परिशुष्यति यानी मुख पूरा सुख रहा है) शरीर में कम्प हो रहा है और रोंगटे खड़े हो रहे हैं ।

व्याख्या :- यह युग्म श्लोक है । २८वें श्लोक के सम्बोधन पद 'कृष्ण' को लेकर तब इसका अर्थ किया गया है । 'कृष्ण' कहकर भगवान् को सम्बोधित करते हुए यहाँ अर्जुन ताप कर रहा है, क्योंकि उसने विचार किया है कि हम भगवान् के बूआ के लड़के हैं, हमारा उभय वंश विशुद्ध है, आर्तत्राण-परायण भगवान् सारथि बने हैं और कुरुक्षेत्र जैसे पुण्य क्षेत्र में आकर मैं पाप करने जा रहा हूँ, इसलिये वह 'कृष्ण' नाम कहकर अपने मन के महापाप को दूर करता है । जैसा कहा भी गया है कि " 'कृष्ण' यह दो अक्षरों का नाम जिसकी वाणी से निकलता है उसका बड़ा भारी पाप तुरन्त ही नष्ट हो जाता है (पा. गी. ५४) ।" इसलिये अर्जुन पापमार्जनार्थ यह 'कृष्ण' नाम लेता है ।

'शुष्यति' के साथ 'परि' उपसर्ग लगने से इसका अर्थ सभी जगह अर्थात् भीतर बाहर सब जगह मुख सूख रहा है । शरीर के विषय में लिखा है कि - **'चेष्टाश्रयत्वं शरीरस्य लक्षणम्'** चेष्टा (करचरणानुकूल व्यापार) के आश्रय को शरीर कहते हैं । इस श्लोक में 'रोम' जातित्वात् एक वचन होने से समस्त रोम समुदाय का द्योतक है जैसे 'गां न हन्यात्' में 'गाय न मारना चाहिए' से पूरे गाय समुदाय से तात्पर्य है न कि किसी एक गाय को । इसी प्रकार रोम से शरीर के समस्त रोम को बताया गया है । यद्यपि प्रेमानन्द में भी रोम-हर्ष होता है परन्तु संग्राम के साहचर्य से यहाँ कुसगुन द्योतक रोम के खड़े होने से है । इस प्रकार अर्जुन अपने शरीर की दशा का यथार्थ रूप से वर्णन करते हुए यह शिक्षा देता है कि महापुरुष से कोई भी चीज छिपानी नहीं चाहिए ।।२९।।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।

अन्वय :- **हस्तात् गाण्डीवं स्रंसते च त्वक् एव परिदह्यते । मे मनः भ्रमति इव च अवस्थातुं च न शक्नोमि ।**

अर्थ :- हाथ से गाण्डीव धनुष फिसला जा रहा है, त्वचा पूर्णतः जल रही है, मेरा मन चक्कर-सा खा रहा है, मैं खड़ा भी नहीं रह सकता (और चकार से-तात्पर्य कि मेरी बायीं भुजा और बायीं आँख फड़क रही हैं)

व्याख्या :- इस श्लोक में अर्जुन ने अपनी शोचनीय स्थिति को व्यक्त किया है; क्योंकि जिस शक्तिमान् गाण्डीव धनुष

को संग्राम में मारने के लिये हाथ में उठा लिया था वह अपने से गिर रहा है । जो अभी पूर्ण स्वस्थ था उसकी त्वचा अग्नि की भाँति दहकने लगी तथा खड़ा रहने की भी शक्ति नहीं रह गई है । इतना ही नहीं अर्जुन के मन की दशा और विचित्र हो गई है। मन के विषय में लिखा है कि - **'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः'** सुख दुःखादि के साक्षात्कार करने में जो साधन इन्द्रिय है उसीको मन कहते हैं ।। मन को ही बन्धन और मोक्ष में कारण बताया गया है । अर्जुन का वही मन क्षण भर भी स्थिर न रहने के कारण चक्कर-सा काटने लगा है अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य-विमूढ हो गया है ।।३०।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।

अन्वय :- **केशव ! निमित्तानि च विपरीतानि पश्यामि च आहवे स्वजनम् हत्वा श्रेयः न अनुपश्यामि ।**

अर्थ :- हे केशव ! सारे लक्षणों को भी मैं उल्टा देख रहा हूँ और युद्ध में मैं स्वजन-समुदाय को मारकर कल्याण नहीं देखता हूँ ।

व्याख्या :- इस श्लोक में अर्जुन भगवान् को केशव सम्बोधन देता है । महाभारत में लिखा है कि -**'केशवः पुरुषोत्तमः'** (महाभार. अनु. वि.-सह. १६) केशव, पुरुषोत्तम ये श्रीकृष्ण के नाम हैं ।।१६।। केशी असुर को मारने से श्रीकृष्ण का नाम केशव है । सर्वप्रथम श्रीपरशुराम जी ने इस नाम मंत्र को जपा है । इससे श्रीपरशुराम जी क्षत्रिय-बध -जन्य पाप से मुक्त हुए हैं । यह मंत्र पापनाशक है । क्योंकि लिखा है कि -

यस्मात्त्वयैष दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन ।
तस्मात्केशवनाम्ना त्वं लोके ख्यातो भविष्यसि ।।

हे जनार्दन भगवन् ! जिससे आपने इस दुष्टात्मा केशी को मारा है उससे लोक में आप केशव नाम से प्रसिद्ध होंगे ।

यहाँ पर 'निमित्त' शब्द लक्षण के लिए आया है । भावी परिणाम की सूचना देने वाले चिह्नों को लक्षण कहा जाता है । अर्जुन लक्षणों को विपरीत बतलाकर संकेत कर रहा है कि-

''गोमायुसारंगगणानसम्यगायासिषु भीममरासिषु च''

स्यार और हरिण के समुदाय सम्यक् नहीं जाते हैं अर्थात् स्यार को वायें और हरिण को दायें जाना चाहिए जबकि वे दायें और वायें विपरीत जा रहे हैं तथा वे जाते समय जोर-जोर से डरावने आवाज कर रहे हैं । उन्हें युद्ध की शंख-ध्वनि आदि को सुनकर भी डर नहीं लगा । उस समय होने वाले अन्य उत्पातों की ओर भी अर्जुन का अभिप्राय है । जैसा बताया गया है कि -

पपात महती चोल्का प्राङ्मुखी भरतर्षभ ।

उद्यन्तं सूर्यमाहत्य व्यशीर्यत महास्वना ॥'(महाभार. भीष्म १६।३६)

हे भरतश्रेष्ठ ! पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बड़ी भारी उल्का गिरी और उदय होते हुए सूर्य से टकराकर बड़े जोर की आवाज के साथ बिखर गयी ॥३६॥ तथा **'सघोषं भूश्चचाल च'** (महा. भीष्म १६।४०) भारी आवाज के साथ धरती काँपने लगी ॥४०॥ इन्हीं सब कारणों से अर्जुन भगवान् से कहता है कि इन सब बुरे शकुनों से यही लग रहा है कि युद्ध का परिणाम अच्छा नहीं होगा । अच्छे प्रकार से वीरों को जहाँ बुलाया जाय उसका नाम 'आहव' है; अर्थात् युद्धस्थल को 'आहव' कहते हैं । इस युद्धस्थल में अपने सगे-सम्बन्धियों को मारकर उससे होने वाले पश्चात्तापजनित क्षोभ और उनके अभाव से दुःखमय जीवन होने की संभावना से मैं किसी प्रकार अपना कल्याण नहीं देख रहा हूँ ॥३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

अन्वय :- **कृष्ण! न विजयं काङ्क्षे च न राज्यं च सुखानि । गोविन्द ! नः राज्येन किं ? भोगैः वा जीवितेन किम् ?**

अर्थ :- हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ तथा नहीं राज्य और सुख । हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है ? भोगों अथवा जीवन से ही क्या लाभ ?

व्याख्या :- यहाँ अर्जुन भगवान् को 'कृष्ण' सम्बोधन देता है । महाभारत में लिखा है कि 'वेधाः स्वाङ्गोऽजितः कृष्णः' (महाभार. अनु-वि. सह. ७२) वेधा, स्वाङ्ग, अजित, कृष्ण ये भगवान् कृष्ण के नाम हैं ॥७२॥ ये मेघ के समान श्यामसुन्दर वर्ण वाले हैं, अतः इनका नाम श्रीकृष्ण है । प्राचीन काल में अष्टश्रवा ऋषि ने यह नाम मंत्र जपा । इसको जपने से अष्टश्रवा ऋषि को शौर्य-वृद्धि हुई है । यह नाम मंत्र शौर्य-प्रद है । यह यजुर्वेद के अध्याय ३३ के ४४वें मंत्र में -

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ (यजु. ३३।४४)

ऐसा उल्लिखित है ।

अर्जुन ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण से कहता है कि स्वजनों को मारकर मैं विजय, और राज्य नहीं चाहता तथा सुख भी नहीं चाहता । 'अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्'' जो मन के अनुकूल मालुम हो उसे सुख कहते हैं ॥ यह लौकिक और पारलौकिक दो प्रकार का होता है । सर्वसाधारण लौकिक सुख को ही चाहते हैं । लौकिक सुख के विषय में कहा गया है -

अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।

वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड्जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ (पंचतंत्र)

१. सर्वदा द्रव्य का आगमन होना २. हमेशा आरोग्य रहना ३. सुन्दर प्रिय भार्या होना ४. प्रिय मधुरभाषिणीपत्नी होना ५. आज्ञाकारी पुत्र होना और ६. अर्थकरी विद्या होना-हे राजन् ! ये छ: जीवलोक के सुख हैं ।

भगवान् को आगे 'गोविन्द' सम्बोधन अर्जुन देता है । महाभारत में लिखा है कि **'गोविन्दो गोविदां पतिः'** (महाभार. अनु. वि. सह. ३३) गोविन्द, गोविदां पति ये भगवान् कृष्ण के नाम हैं ।।३३।। इन्होंने पहले नष्ट पृथ्वी को लाया । इससे श्रीकृष्ण का गोविन्द नाम है । सर्वप्रथम वृषाकपि ऋषि ने यह नाम मंत्र जपा है । इस नाम मंत्र को जपने से वृषाकपि ऋषि निष्पाप हुए । अत: यह नाम मंत्र पापहारक है । गोविन्द के विषय में कहा गया है कि-

नष्टां वै धरणीं पूर्वमविन्दं यद् गुहागताम् ।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः ॥ (महाभार.)

मैं ने निश्चय करके पहले गुहागत नष्ट पृथ्वी को लाया इस कारण से देवताओं से और वेद वाणियों से गोविन्द इस नाम से कहा गया ।। ऐसे गोविन्द भगवान् को सम्बोधित करते हुए अर्जुन कहता है कि स्वजनों को मारने पर हमें जो राज्य मिलेगा अथवा जो भोग मिलेगा उससे और इन्हें मारकर जीवन से भी कोई लाभ मुझे नहीं दिखाई देता है ।।३२।।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
ते इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

अन्वय :- **येषां अर्थे नः राज्यं काङ्क्षितं, भोगाः च सुखानि, ते इमे प्राणान् च धनानि त्यक्त्वा युद्धे अवस्थिताः ।**

अर्थ :- जिनके लिए हमें राज्य चाहिये, भोग और सुख (चाहिये) वे ही ये सभी (सम्बन्धिगण) प्राण और धन (की आशा) त्यागकर युद्ध में खड़े हैं ।

व्याख्या :- यह युग्म श्लोक है, इसलिये आगे के ३४वें श्लोक के 'सम्बन्धिनः' पद अर्थ करने में लिया गया है तथा इस श्लोक में कर्तृपद है क्रिया पद नहीं है । बिना क्रिया के अर्थ होता नहीं । इससे **'यत् येन विना अनुपपन्नं तत् तेनैवाक्षिप्यते'** जिसके बिना जो अनुपपन्न हो उससे उसका आक्षेप होता है । इसलिये यहाँ बहुवचनान्त कर्तृपद के साथ बहुवचनान्त 'सन्ति' क्रियापद का आक्षेप करके तब अर्थ किया गया है ।

अर्जुन भगवान् से राज्य भोगादि को न चाहने का कारण बताते हुए कहता है कि मुझको अपने लिये तो राज्य, भोग, सुख चाहिए ही नहीं, मैं तो अपने भाई बन्धु आदि सम्बन्धियों के लिये ही इनकी इच्छा करता था, परन्तु आप की आज्ञा से मैं यह देखता हूँ कि ये सभी युद्ध में प्राण त्याग देने के लिये भी तैयार खड़े हैं । यहाँ 'प्राणान्' जिसको श्रीमद्भागवत में **'दशच्छदी'** (श्रीमद्भा. १०।२।२७) दस पत्र ।।२७।। कहकर वर्णन किया गया है । उन प्राणों के विषय

में लिखा है कि-

हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥ (योग चू. श्रु. २३)

हृदय में प्राणवायु और गुदा मार्ग में अपानवायु; नाभि देश में समान वायु और कण्ठ के मध्य में उदान वायु रहती है ॥२३॥

व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥२४॥

और व्यान वायु सब शरीर में रहती है, इस प्रकार से ये पाँच वायु प्रधान हैं ॥२४॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा ।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥२५॥

उगलना नाग वायु का कर्म है, सोना-जागना यह कूर्म वायु का कर्म, छींकना कृकर वायु का कर्म है और जम्भाना देवदत्त वायु का कर्म है ॥२५॥

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥२६॥

और धनञ्जय वायु समसत शरीर में व्याप्त रहती है, मरे शरीर को भी चार घटि पर्यन्त यह नहीं छोड़ती है । जीवरूपी ये (वायु) सब नाड़ियों में घूमा करती हैं ॥२६॥ इन प्राणों की भी परवाह न करके सभी स्वजन संग्राम के लिये खड़े हैं । धन से यहाँ तात्पर्य भूधन, गोधन, हयधन, गजधन, स्त्रीधन आदि से है । अर्थात् वे इन धनों की भी त्याग कर अस्त्र लेकर मरने मिटने को तैयार हैं । इसलिये मैं युद्ध नहीं करना चाहता । अर्जुन यह शिक्षा देता है कि उत्तम पुरुष आम जनता के कल्याण के लिये काम करते हैं जैसा कि वह अपने लिए नहीं वरन् अपने स्वजनों के ही सुखादि के लिए यहाँ युद्धभूमि में अपना आना कहता है ॥३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥३४॥

अन्वय :- **आचार्याः पितरः पुत्राः च तथा एव पितामहाः मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः तथा सम्बन्धिनः ।**

यह युग्म श्लोक है, इसलिए ३३वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से 'अवस्थिता-युद्धे प्राणांस्त्यक्तवा धनानि च' इन पदों को लेकर और आक्षिप्त 'सन्ति' क्रियापद को लेकर तब अर्थ होगा ।

अर्थ :- आचार्यगण, पितृवन्द, पुत्रलोग ('चकार' से भाईलोग) उसी प्रकार पितामहगण श्वशुर पौत्र और साले तथा बहनोई समधि आदि सम्बन्धिजन प्राण और धन (की आशा) का परित्याग कर युद्ध में सजधज कर खड़े हैं ।

व्याख्या :- यहाँ पर 'आचार्याः' कहकर अर्जुन ने कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा को, 'पितरः' से भूरिश्रवा आदि पितृव्यों को, 'पुत्राः' से अभिमन्यु, प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक, श्रुतसेन, घटोत्कच, लक्ष्मण आदि को 'चकार' से युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, दुर्योधन, दुःशासन आदि भाइयों को, 'पितामहाः' शब्द से भीष्माचार्य, सोमदत्त और बाह्लीक आदि को, 'मातुलाः' शब्द से पुरुजित्, कुन्तीभोज और शल्य आदि को श्वशुराः' से द्रुपद, शैब्य आदि को तथा 'पौत्राः' से लक्ष्मण आदि के पुत्रों को, 'श्यालाः' से धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और सुरथ आदि को, तथा 'सम्बन्धिनः' से जयद्रथ आदि बहनोई और विराट आदि समधी की ओर संकेत किया है । इस प्रकार अपने स्वजन समुदय का परिचय देकर अर्जुन कहता है कि जिन अपने सम्बन्धियों के लिये मैं राज्य आदि चाहता था वे ही प्राण, अपान, समान, उदान व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय इन दसों प्राणों को तथा गौ स्त्री पुत्र आदि धनों को छोड़कर युद्ध में मरने के लिए खड़े हैं ।।३४।।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।

अन्वय :- मधुसूदन ! घ्नतः अपि एतान् त्रैलोकराज्यस्य हेतोः अपि हन्तुं न इच्छामि, किं नु महीकृते ।

अर्थ :- हे मधुसूदन ! (इनके द्वारा) मारे जाते हुए भी मैं इन्हें त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी मारना नहीं चाहता, फिर भूमि के लिए कौन कहे ? (यानी पृथ्वी के लिए क्या ?)

व्याख्या :- यहाँ अर्जुन भगवान् को मधुसूदन सम्बोधन देता है । महाभारत में लिखा है कि **'माधवो मधुसूदनः'** (महाभार. अनु. वि. स. २१) माधव, मधुसूदन ये श्रीकृष्ण के नाम हैं ।।२१।। श्रीकृष्ण ने मधु नामक दैत्य का संहार किया है । अतः इनका नाम धुसूदन है । इस नाम मंत्र को शाकटायन ऋषि ने जपा है । इसके जपने से शाकटायन ऋषि परमजय तथा सुख को प्राप्त हुए । यह नाम मंत्र परमजय तथा सुख देने वाला है । लिखा है कि-

कर्णमलोद्भवं चापि मधुनाम महासुरम् । ब्रह्मणोऽपचितिं कुर्वन् जघान पुरुषोत्तमः ।।
तस्य तात वधादेव देवदानवमानवाः । मधुसूदन इत्याहुर्ऋषयश्च जनार्दनम् ।।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने कान के मल से उत्पन्न चतुर्मुख ब्रह्मा के साथ अपचार करने वाले मधु नामक महान् असुर को मारा । इससे हे तात ! उसके वध करने से देवता तथा दानव और मानव तथा ऋषि लोग दुष्ट जन के अर्दन करने वाले श्रीकृष्ण को मधुसूदन इस नाम से कहते हैं । यह नाम मंत्र यजुर्वेद के अध्याय १।७ में -

प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ।। (यजु. १।७)

ऐसा उल्लिखित है -

मधुसूदन सम्बोधन देकर अर्जुन कहता है कि यद्यपि युद्ध से निवृत्त होते देखकर मुझ पर शस्त्र कोई नहीं उठावेगा फिर भी यदि विपक्ष में स्थित सम्बन्धी लोग मुझे मारने की चेष्टा करेंगे तब भी अथवा भूलोक अन्तरिक्ष लोक और स्वर्ग लोक
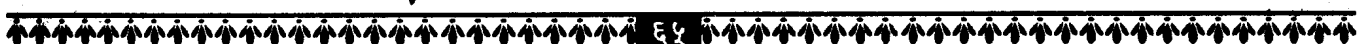
इन तीनों लोकों का राज्य भी इनके मारने पर मुझे प्राप्त हो जाय तो उसके लिये भी मैं इन सभी सम्बन्धियों को मारना नहीं चाहता । फिर पृथ्वी के राज्य और सुख की तो कोई बात ही नहीं है ॥३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

अन्वय :- **जनार्दन ! धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात् ? एतान् आततायिनः हत्वा अस्मान् पापम् एव आश्रयेत् ।**

अर्थ :- हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्रपक्षीय लोगों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? या क्या लाभ होगा ? बल्कि इन आततायियों को मारने से हमें पाप ही लगेगा ।

व्याख्या :- यहाँ अर्जुन भगवान् को जनार्दन सम्बोधन देता है । महाभारत में लिखा है कि **'विष्वक्सेनो जनार्दनः'** (महाभार. अनु. वि. सह. २७) विष्वक्सेन,जनार्दन ये श्रीकृष्ण के नाम हैं ॥२७॥ श्रीकृष्ण अकेले ही अघासुर, बकासुर, शकटासुर, तृणावर्त, केशी, कंस, चाणूर आदि दुष्ट जनों को पीड़ित करते हैं, अतः इनका नाम जनार्दन है । सर्वप्रथम विराज ऋषि ने यह नाम मंत्र जपा है । इसको जपने से विराज ऋषि सभी सुखों के भोक्ता हुए । यह नाम मंत्र सुखप्रद है । महाभारत में लिखा है कि - **'दस्युत्रासाज्जनार्दनः'** (महाभार. उद्यो. ७०।६) दस्युजनों को त्रास (अर्दन या पीडा) देने के कारण उनको जनार्दन कहते हैं ॥६॥

यहाँ 'प्रीति' शब्द लाभवाचक तथा 'धार्तराष्ट्रान्' शब्द धृतराष्ट्रदलीय वाचक है । अर्जुन कहते हैं कि विपक्ष में स्थित धृतराष्ट्र के दल वालों को मारने से हमारी कुछ भी इष्ट-सिद्धि नहीं होगी । इससे हमें कोई लाभ नहीं है, बल्कि लाभ की जगह पर इन आततायियों को मारने से पाप मुझे लगेगा । आततायी के विषय में लिखा है कि-

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥ (वसिष्ठस्मृति ३।१६)

१-आग लगाने वाला २-विष देने वाला, ३-हाथ में शस्त्र लेकर मारने को उद्यत, ४-धन हरण करने वाला, ५-जमीन छीनने वाला और ६-स्त्री को हरण करने वाला--ये छः ही आततायी हैं ॥१६॥

दुर्योधनादि में आततायी के ये छः लक्षण पूरे पाये जाते हैं । १--लाक्षागृह में आग लगाकर उन्होंने पाण्डवों को जलाने का प्रयास किया था ।

२-भीमसेन को मारने के लिये भोजन में विष मिला दिया था ।

३-हाथ में शस्त्र लेकर मारने के लिये तैयार ही थे ।

४-जुए में छल करके पाण्डवों का वे समस्त धन ले लिये थे ।

५-सम्पूर्ण राज्य लेकर उन्हें क्षेत्र से वंचित कर दिये थे ।

और ६-द्रौपदी को सभा में ले आकर अन्याय पूर्वक अपमानित किये और जयद्रथ द्रौपदी को हरणकर ले गया था ।

यहाँ पर कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि अर्जुन आततायी को मारने में पाप लगना क्यों कह रहा है, जबकि सबसे पहले विधान बनाने वाले मनु कहते हैं कि --

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥ (मनु. ८।३५०-५१)

अपना अनिष्ट करने के लिये आते हुए आततायी को बिना विचारे ही मार डालना चाहिए । आततायी को मारने से मारने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता ।।३५०-५१।।

इस शंका का समाधान यह है कि पहले अर्जुन के लिये कहा जा चुका है कि--**'कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्'** (गी. १।२८) अत्यन्त करुणा से युक्त होकर विषाद करता हुआ अर्जुन इस प्रकार कहने लगा ।।२८।। इसलिये असमय में बन्धुओं में अति स्नेह अत्यन्त करुणा और धर्म में अधर्म बुद्धि करके विपरीत ज्ञान हो जाने से मोह के द्वारा वह कहता है कि पाप लगेगा । आगे वह स्वयं कहता है-- **'धर्मसंमूढचेताः'** (गी. २।७) धर्म के विषय में मोहित चित्तवाला ।।७।। इसी कारण अर्जुन यहाँ पर आततायी को मारने पर पाप लगना कहता है ।

पाप चार प्रकार के होते हैं -

१-अकृत्यकरण पाप-जो शास्त्र में निषिद्ध हो उसे करना, जैसे 'न सुरां पिबेत्' मदिरा नहीं पीना चाहिए, परन्तु इसको न मानकर मदिरा पीना ।

२-भगवत् अपचार पाप- भगवान् राम कृष्ण के अवतारको परब्रह्म न मानकर एकजातीय आदि मानना आदि ।

३-भागवतापचार पाप - भगवान् के भक्तों को देखकर उनकी जाति आदि पूछना और उनका आदर सत्कार न करना ।

४-असह्यापचार पाप - गुरु के दिये हुए श्रौत मंत्र को त्यागकर अन्य क्षुद्र मंत्र को ग्रहण करना ।

अर्जुन यहाँ पर त्यक्तानुबन्ध ग्रहण से इन सभी पापों की ओर संकेत करते हुए कहता है कि ये सभी पाप हमें लगेंगे ।।३६।।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।

अन्वय :- तस्मात् स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं वयं न अर्हाः । माधव ! स्वजनं हि हत्वा कथं सुखिनः
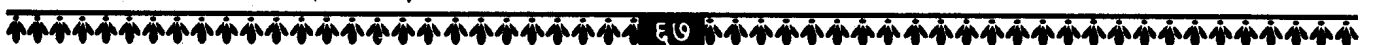
स्याम ?

अर्थ :- इसलिए धृतराष्ट्रपक्षीय अपने बन्धुओं को मारना हमारे लिए उचित नहीं है । हे माधव ! अपने ही कुटुम्ब को मारकर कैसे सुखी होंगे ?

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् को अर्जुन माधव सम्बोधन देता है । महाभारत में लिखा है **'माधवो मधुः'** (महाभारत अनु. वि. सह. ३१) माधव, मधु श्रीकृष्ण के नाम है ।।३१।। मा + धव से माधव बनता है । मा कहते हैं विद्या को धव कहते हैं स्वामी को **'वेत्ति अनया इति विद्या'** जिससे सत् असत् वस्तु जानी जाय उसे विद्या कहते हैं । विद्याएँ चौदह हैं-

पुराणं न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।। (याज्ञव. स्मृ. अ. १ श्लो. ३)

१-पुराण, २-न्याय ३-मीमांसा ४-धर्मशास्त्र ५-शिक्षा ६-कल्प ७-व्याकरण ८-निरुक्त ९-छन्द १०-ज्योतिष ११-ऋक्वेद १२-यजुर्वेद १३-सामवेद १४-अथर्ववेद ।।३।। इन चौदहों विद्याओं के स्वामी होने से श्रीकृष्ण कानाम माधव है । वाराह ऋषि ने यह नाम मंत्र जपा । इसको जपने से वाराह ऋषिको तपः सिद्धि प्राप्त हुई है । यह नाम मंत्र तपः सिद्धि प्रद है । हरिवंश में लिखा है कि-

मा विद्या श्रीहरेः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान् ।
तस्मान्माधव नामासि धवः स्वामीति शब्दितः ।। (हरि.)

मा श्रीहरि की विद्या को कहते हैं, उसका स्वामी आप हैं । इससे आप का नाम माधव है । धव यहाँ स्वामी को ही कहा गया है ।

'माधव' सम्बोधन देकर अर्जुन कहता है कि जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि इनको मारकर तीनों लोकों का राज्य नहीं चाहता, क्योंकि इन्हें मारने में कोई लाभ नहीं दिखाई देता बल्कि पाप ही लगेगा । इस कारण से धृतराष्ट्रदलीय बान्धवों को मैं मारना नहीं चाहता । बन्धु के विषय में कहा गया है कि-

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यः तिष्ठति स बान्धवः ।। (हितोप०)

विवाहादि कर्म में, विपत्ति में, अकाल समय में, राष्ट्रविप्लव में, राजद्वार पर, श्मशान में जो साथ दे (ठहरे) उसको बन्धु कहते हैं ।। यद्यपि दुर्योधनादि विपक्ष में हैं, परन्तु उक्त स्थानों में आते थे, इसलिये ये हमारे बन्धु हैं । अपने कुटुम्बियों को मारकर कोई कभी सुखी नहीं हुआ है । इसलिये हम कैसे सुखी होंगे ? इन्हीं कारणों से मैं युद्ध नहीं करना चाहता ।।३७।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

अन्वय :- **यद्यपि लोभोपहतचेतसः एते कुलक्षयकृतं दोषं च मित्रद्रोहे पातकम् न पश्यन्ति ।**

अर्थ :- यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्तवाले ये (धृतराष्ट्र के पक्षवाले लोग) कुलनाशजनित दोष को और मित्र-द्रोह से उत्पन्न पातक को नहीं देखते हैं ।

व्याख्या :- यहाँ पर 'एते' शब्द का अत्यन्त समीप के अर्थ में प्रयोग किया गया है, क्योंकि लिखा है कि-

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥ (वाक्यपदीय)

इदम् शब्द का पास के अर्थ में, एतत् शब्द का अत्यन्त समीप के अर्थ में अदस् शब्द का दूर के अर्थ में तथा तत् शब्द का परोक्ष के अर्थ में प्रयोग किया जाता है ।। अर्जुन कहता है कि ये धृतराष्ट्र के दलवाले लोग जो युद्ध के लिए खड़े हैं, इनका विवेक लोभ के कारण नष्ट हो गया है । लोभ को नरक का द्वार बताते हुए भगवान् ने आगे कहा भी है -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ (गीता १६।२१)

काम, क्रोध और लोभ-ये नरक के तीन द्वार आत्मा का पतन करने वाले हैं । इसलिये इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए ।।२१।। इसलिये वे कुल के नाश से जो सबसे बढ़कर पाप होता है उसे नहीं देख पाते हैं । जैसा स्मृतिकार ने कहा भी है कि --

स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम् ।

'जो अपने कुल का नाश करता है, वह सबसे बढ़कर पापी है ।।' और ज्ञान भ्रष्ट हो जाने से मित्र से वैर करने का जो भयंकर पाप होता है उसे भी लोभ से अन्धे हुए नहीं देख रहे हैं । जैसा स्वयं भगवान् राम भी कहते हैं कि -

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्हहि बिलोकत पातक भारी । (मानस ४।६।१)

मित्र चार प्रकार के होते हैं -

औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमागतम् ।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ (हितोपदे.)

१-औरस २-सम्बन्ध करने से ३-वंश की परम्परा से ४-विपत्ति में रक्षा करने वाला, इन चार प्रकारों से मित्र

जानना ।

मित्र के साथ द्रोह कहने का अभिप्राय अर्जुन का यह है कि 'द्रुह् जिघांसायाम्' धातु से द्रोह बनता है जिसका अर्थ मारने की इच्छा करना होता है । इसलिये मित्र को मारने की इच्छा करना ही बड़ा भारी पाप है ।।३८।।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।३९।।

अन्वय :- जनार्दन ! कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् ।

अर्थ :- हे जनार्दन ! कुल के नाश करने से होने वाले दोष भलीभाँति देखनेवाले हमलोगों से इस पाप से निबटने या निवृत्त होने को क्यों न सोंचा जाय या ज्ञान रखा जाय ?

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् को जनार्दन सम्बोधित करके कहता है ।

'जनैः अर्द्यते याच्यते इति जनार्दनः तत्सम्बुद्धौ हे जनार्दन'

भक्तजन अपने अभिमत की सिद्धि के लिये जिनसे याचना करते हैं उस पुरुष का नाम जनार्दन है, उसके सम्बोधन में हे जनार्दन होता है' । भगवान् श्रीकृष्ण जनार्दन हैं, क्योंकि भक्त अक्रूर, मालाकार, विदुर आदि ने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये उनसे याचना की । जनार्दन ! कुल के नाश करने से उत्पन्न जो दोष है उसको हम अच्छी तरह जानने वाले हैं, क्योंकि धृतराष्ट्रपक्षवालों की तरह हमलोग लोभ से भ्रष्टचित्त वाले नहीं हैं । इस कारण जानबूझकर इस घोर पाप में क्यों प्रवृत्त हों ? हमें तो विचार करके इस पाप से बचने का उपाय करना चाहिए और युद्ध से हट जाना चाहिए । इस प्रकार अर्जुन शिक्षा देता है कि आततायियों के आचरण को नहीं अपनाना चाहिए भले ही वे धनी, विद्वान् क्यों न हों । सर्वदा सदाचार देखकर ही आचार को ग्रहण करना चाहिए ।।३६।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

अन्वय :- **कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति उत धर्मे नष्टे कृत्स्नं कुलं, अधर्मः अभिभवति ।**

अर्थ :- कुल के नष्ट होने पर सदा से आते हुए यानी सनातन कुलधर्म अतिनष्ट हो जाते हैं और धर्म के नष्ट होने पर समस्तकुल को अधर्म सब ओर से दबा लेता है ।

व्याख्या :- इस संग्राम में भीष्माचार्य आदि वृद्ध और लक्ष्मण के पुत्र आदि से लेकर सभी वृद्ध और जवान आये हुए हैं । अर्जुन सोचता है कि यदि संग्राम करूँगा तो समस्त एकत्र कुल का नाश हो जायगा और कोई ज्ञानवयोवृद्ध उपदेश देनेवाला नहीं रह जायगा । इससे जो सनातन अर्थात् सदा से चला आने वाला जो कुछ धर्म है वह समूल नष्ट हो जायेगा । धर्म के विषय में कणाद महर्षि ने कहा है-**यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयस्-सिद्धिस्सः धर्मः**' (वैशेषिक अ. १ आह्नि. १ सू. २)

जिस प्रकार के कर्मों को करने से लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक कल्याण रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है वह धर्म है ।।२।। कुल धर्म का स्वरूप दस प्रकार का है-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। (नारद परि. उ. ३।२४)

१-धीरता २-क्षमा ३-मन रोकना ४-अन्याय से दूसरे का धन न लेना ५-पवित्रता ६-इन्द्रियों को रोकना ७-बुद्धि ८-आत्मज्ञान ६-सच बोलना और १०-क्रोध न करना ये दस धर्म के लक्षण हैं ।।२४।। यही सनातन कुल धर्म है । वह सभी के मारे जाने पर बचे हुए छोटे बालकों और स्त्रियों में यह कुल धर्म स्वभावतः नष्ट हो जायगा, क्योंकि उनका कोई मार्गदर्शक नहीं रहेगा और कुल धर्म के नष्ट होने पर बचे हुए मनमुखी समस्त कुल को अधर्म ढँक लेगा ।।४०।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।।४१।।

अन्वय :- **कृष्ण ! अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति । वार्ष्णेय ! स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसंकरः जायते ।।**

अर्थ :- हे श्रीकृष्ण ! अधर्म छा जाने पर कुल की स्त्रियाँ अति दूषित हो जाती हैं । हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न हो जाता है ।

व्याख्या :- यहाँ अर्जुन भगवान् को कृष्ण सम्बोधन देते हुए कह रहा है । **'कृष् विलेखने'** धातु से **'हे कर्षति इति कृष्ण'** यानी हे संसार से खींचने वाले श्रीकृष्ण भगवन् ! जब कुल धर्म का नाश हो जायगा तो अधर्म हमारे समस्त कुल को आच्छादित कर लेगा । जिसके परिणाम-स्वरूप भय और लज्जा का त्याग करके पवित्र कुल की स्त्रियाँ घृणित व्यभिचार-दोष से अत्यन्त दूषित हो जायेंगी, क्योंकि कोई उपदेश करने वाला उन्हें न रह जायेगा । उनमें काम भी अधिक होता है जैसे लिखा भी है-**'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः'** पुरुष से मैथुन की इच्छा स्त्रियों में अठगुनी अधिक होती है ।' इन सब कारणों से पहले कुल-स्त्री पर ही छाप पड़ेगा और वे इससे निरंकुश हुई अतिव्यभिचारिणी हो जायेंगी । आगे अर्जुन **'वार्ष्णेय'** सम्बोधन भगवान् को देकर कहता है कि हे वृष्णि-वंश में उत्पन्न होने वाले वासुदेव भगवन् ! श्री कृष्ण ने भी आगे कहा है कि **'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'** (गी. १०।३७) वृष्णिवंशियों में मैं (वसुदेव का पुत्र) वासुदेव हूँ ।।३७।। स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित होकर वर्णसंकर संतान को उत्पन्न करने लगेंगी । मनुस्मृति में लिखा है कि वर्णसंकर दो प्रकार के होते हैं -

अमृते जारजः कुण्डः मृते भर्तरि गोलकः । (मनु. ३।१७४)

पति के रहते हुए अन्य जार से जो संतान उत्पन्न होती है उसका नाम कुण्ड और पति के मरने पर जो अन्य से उत्पन्न पुत्र होता है उसका नाम गोलक है ।।१७४।। इस प्रकार कुल की पवित्रता नष्ट हो जायगी । अर्जुन इससे यह शिक्षा देता है कि कुलांगनाओं की विशेष देख-रेख रखनी चाहिए क्योंकि उनके बिगड़ने से कुल की मर्यादा नष्ट हो जाती

है ॥४१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

अन्वय :- **संकरः कुलघ्नानां च कुलस्य नरकाय एव हि एषां पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः पतन्ति ।**

अर्थ :- वर्णसंकर कुलघातियों और कुल को नरक में डालने वाला होता है; क्योंकि इनके पितर पिण्डदान और जलतर्पण आदि क्रियाओं के लुप्त हो जाने से गिर जाते हैं, यानी उनका नरक में पतन हो जाता है ।

व्याख्या :- युद्ध में कुल के संहार हो जाने पर जब कुल की स्त्रियाँ व्यभिचारिणी होकर, जिस प्रकार नारुन लता खरबूजे की लता की तरह होने पर भी विषैला फल उत्पन्न करती है उसी तरह वे भी अन्य सदाचारिणियों के पुत्र के रूप रंग की तरह होने पर भी विषैले पुत्रों को उत्पन्न करेंगी । वह संकर पुत्र निश्चय करके कुल का संहार करने वाले को तथा जो युद्ध में भाग नहीं ले सके ऐसे असमर्थ, कुल के अन्य सदस्यों को भी नरक में ले जाने वाला होता है । मनुस्मृति में इक्कीस नरकों का वर्णन किया गया है -

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ (मनु. ४।८८)

१-तामिस्र २-अन्धतामिस्र ३-महारौरव ४-रौरव ५-कालसूत्र और ६-महानरक ॥८८॥

संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं पूतिमृत्तिकम् ॥८९॥

७-संजीवन ८-महावीचि ९-तपन १०-संप्रतापन ११-संहात १२-सकाकोल १३-कुड्मल और १४-पूतिमृत्तिक ॥८९॥

लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥९०॥

१५-लोह शंकु १६-ऋजीष १७-पन्थान १८-शाल्मली १९-नदी २०-असिपत्रवन २१-लोहदारक ॥९०॥ ये इक्कीस नरक हैं ।

वह वर्णसंकर इन्हीं नरकों में अपने सम्पूर्ण कुल को पहुँचाने में कारण होता है। इतना ही नहीं वह उपदेशाभाव से तथा व्यभिचार द्वारा उत्पन्न होने से अत्यन्त उद्धत होकर माता आदि को भी कुवाच्य कहता हुआ श्राद्ध कर्मों में कुतर्क करते हुए कहने लगता है कि-

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् ।

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्था पाथेयकल्पना ॥ (चा.द. ६४)

यदि मरकर परलोक गये जीवों की तृप्ति श्राद्ध से होती है, तो फिर परदेश जाने वाला व्यक्ति व्यर्थ ही पाथेय ढ़ोता है, घर पर ही उसका श्राद्ध कर दिया जाता है जिससे रास्ते भर उसकी तृप्ति होती ।।४।। ऐसा कहते हुए वे श्राद्ध कर्म नहीं करते हैं । इसका फल यह होगा कि पिण्डदान रूप क्रिया और जलाञ्जलिदान रूप क्रिया दोनों लुप्त हो जायेंगी, जिससे कुलघातियों के पितरों का निश्चय ही पतन हो जायेगा । कहाँ पतन होगा ? नरक में, जैसा भगवान् आगे कहते हैं **'पतन्ति नरकेऽशुचौ'** (गी. १६।१६) आसुर जन घोर नरक में गिरते हैं ।।१६।। 'पितर:' पद उपलक्षण है, इससे पितामह और प्रपितामह का भी वाचक है । क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद में लिखा है कि-

पितृभ्य: स्वधायिभ्य: स्वधा नम: पितामहेभ्य:
स्वधायिभ्य: स्वधा नम: प्रपितामहेभ्य: स्वधायिभ्य: स्वधा नम: । (यजु. अ. १६ मं. ३६)

अन्न के प्रति गमन करते हुए पितरों के निमित्त स्वधा नामक अन्न प्राप्त हो । स्वधा के प्रति गमन करने वाले पितामह को स्वधानिमित्त अन्न प्राप्त हो । स्वधा के प्रति गमन करने वाले प्रपितामह को स्वधा-संज्ञक अन्न प्राप्त हो ।।३६।। इस मंत्र से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऐसे वर्णसंकरों द्वारा पिण्डोदक क्रिया के लुप्त हो जाने से श्राद्ध और तर्पण से वंचित पितर, पितामह और प्रपितामह तीनों निश्चय करके नरक में गिरते हैं । अर्जुन इससे यह शिक्षा देता है कि वर्णसंकरों के कुतर्कों में न पड़कर अपने पितर आदि के उद्धार करने के लिये पिण्डदान क्रिया और जलाञ्जलि दान क्रिया को अवश्य करना चाहिए, क्योंकि वेदावतार श्रीरामायण में लिखा है कि श्रीदशरथजी महाराज का मृतक श्राद्ध मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने किया है -

प्रगृह्य तु महीपालो जलापूरितमञ्जलिम् ।
दिशं याम्यामभिमुखो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ (वा. रा. अयो. १०३।२६)

पृथ्वी-पालक श्रीराम ने जल से भरी हुई अञ्जलि ले दक्षिण दिशा की ओर मुँह करके रोते हुए इस प्रकार कहा -

एतत् ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् ।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ।।२७।।

हे मेरे पूज्य पिता राजशिरोमणि महाराज दशरथ ! आज मेरा दिया हुआ यह निर्मल जल पितृलोक में गये हुए आपको अक्षयरूप से प्राप्त हो ।।२७।। इससे भगवान् राम का जलाञ्जलि देना सिद्ध हो जाता है ।

ततो मन्दाकिनीतीरं प्रत्युत्तीर्य स राघव: ।
पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभि: सह ।।२८।।

इसके बाद मन्दाकिनी नदी के जल से निकलकर किनारे पर आकर तेजस्वी श्रीरघुनाथजी ने अपने भाइयों के साथ मिलकर पिता के लिये पिण्डदान किया ।।२८।।

ऐङ्गुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे ।
न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥२९॥

उन्होंने इङ्गुदी (हिंगोट वृक्ष के फल) के गूदे में पके बेर के गूदे मिलाकर उसका पिण्ड तैयार किया और बिछे हुए कुशों पर उसे रखकर अत्यन्त दुःख से आर्त हो रोते हुए यह बात कही ॥२९॥

इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतोयदशना वयम् ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥३०॥

हे महाराज ! प्रसन्नतापूर्वक यह भोजन स्वीकार कीजिये, क्योंकि आजकल यही हमलोगों का आहार है । मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है, वही उसके देवता भी ग्रहण करते हैं ॥३०॥ इससे भगवान् राम का श्राद्ध करना सिद्ध हो जाता है और पंचमवेद महाभारत में लिखा है कि श्रीपाण्डु राजा के मरने पर उनका मृतक श्राद्ध किया गया ।

ततो भीष्मोऽथ विदुरो राजा च सह पाण्डवैः ।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः ॥ (महाभार. आदि. १२६।२८)

तदनन्तर भीष्म, विदुर, राजा धृतराष्ट्र तथा पांडवों के सहित कुरुकुल की सभी स्त्रियों ने राजा पाण्डु के लिये जलाञ्जलि दी ॥२८॥

चुक्रुशुः पाण्डवाः सर्वे भीष्मःशान्तनवस्तथा ।
विदुरो ज्ञातयश्चैव चक्रुश्चाप्युदकक्रियाः ॥२९॥

उस समय सभी पाण्डव पिता के लिये रो रहे थे । शान्तनुनन्दन भीष्म, विदुर तथा अन्य भाई बन्धुओं की भी वही दशा थी । सबने जलाञ्जलि देने की क्रिया पूरी की ॥२९॥

ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः ।
ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा ॥ (महाभार. आदि. १२७।१)

तदनन्तर कुन्ती, राजा धृतराष्ट्र तथा बन्धुओं सहित भीष्म जी ने पाण्डु के लिये उस समय अमृत स्वरूप स्वधामय श्राद्ध दान किया ॥१॥ इस विषय में जिसको अधिक जानना हो वह मेरे बनाये 'वैदिक-श्राद्ध दर्पण' नामक ग्रन्थ को देख ले ।

इसलिये सज्जनों को वर्ण-संकरों के कुतर्क में न पड़कर तथा उनकी ओर कभी उन्मुख न होकर पितरों का श्राद्ध कर्म अवश्य करना चाहिए ॥४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

अन्वय :- **एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः कुलघ्नानां शाश्वताः कुलधर्माः च जातिधर्माः उत्साद्यन्ते ॥**

अर्थ :- इन वर्णसंकरकारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म का उत्सादन यानी नाश कर दिया जाता है ।

व्याख्या :- अर्जुन वर्णसंकरकारक दोषों से हानि बतलाते हुए भगवान् से कह रहा है कि इससे युद्ध में अपने कुल का संहार करने वाले के कुल का सनातन कुलधर्म नष्ट भ्रष्ट हो जाता है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवद्गीता और मनुस्मृति में 'कर्म' और 'धर्म' पर्यायवाचक शब्द हैं । जैसे **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** (गी. ३।३५) अपने धर्म में मरना श्रेष्ठ है ।।३५।। इसमें जिसको 'धर्म' शब्द से कहे हैं उसी को 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' (गी. १८।४६) अपने कर्म से पूजकर ।।४६।। इसमें 'कर्म' शब्द से कहते हैं ।।

अर्जुन आगे कहता है कि वर्णसंकरजनित दोष बढ़ जाने से कुलघातियों के जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं । जाति के विषय में कहा गया है कि -

'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं जातेर्लक्षणम्'

नित्य होते हुए अनेक में समवाय सम्बन्ध से जो रहे उसी को जाति कहते हैं ।। जैसे ब्राह्मण अनेक हैं परन्तु ब्राह्मणत्व एक है । जिस प्रकार सनातन कुलधर्म सृष्टि के आदि से ही चला आ रहा है उसी प्रकार परब्रह्म नारायण से एक ही दिन जाति-धर्म भी निकला है जो सृष्टि के आरम्भ से ही चला आ रहा है । चारो वर्णों के अपने धर्म हैं, जिसका विशद वर्णन भगवान् ने १८वें अध्याय में किया है । अर्जुन कहता है कि वर्णसंकरताकारक दोष की वृद्धि हो जाने से कुलघातियों के ये जो जातिधर्म हैं सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं ।।४३।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।।४४।।

अन्वय :- जनार्दन ! उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नरके अनियतं वासः भवति इति अनुशुश्रुम ।

अर्थ :- हे जनार्दन ! जिनके कुल धर्म नष्ट हो गये हैं (यानी कुलनाशक) मनुष्यों का अनियत यानी अनिश्चित काल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है ।

व्याख्या :- जनार्दन सम्बोधन देकर अर्जुन यह कहता है कि जन+अर्दन हे 'जन' यानी भक्तजन नन्द विदुरादि को 'अर्दन' यानी प्राप्त होने वाले श्रीकृष्ण ! (इस ४४वें श्लोक का प्रथम पद उपलक्षण है, इससे **'उत्सन्नजातिधर्माणाम्'** होकर जिनका जाति धर्म नष्ट हो गया है ऐसा भी अर्थ होगा ।) इस प्रकार अर्जुन कहता है कि - ''कुल धर्म और जाति धर्म'' दोनों जिनके नष्ट हो गये हैं, उन कुल नाश करने वालों का दीर्घकाल तक भीषण यातनाओं वाले नरक में वास होता है। नरक के विषय में **'भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमाद्'** (योगसूत्रम् अ. १ पा. ३ सू. २६) सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान होता है ।।२६।। इस सूत्र के 'व्यासभाष्य' में लिखा है कि -

'तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरव कालसूत्रान्धतामिस्राः । यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुदीर्घमाक्षिप्य
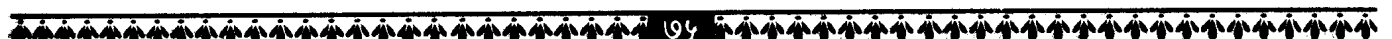
जायन्ते ।' (व्या. भा.)

उस भूलोक के अन्तर्गत अवीचि के ऊपर-ऊपर क्रमशः स्थित मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अन्धकार में प्रतिष्ठित महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र नामक छः महानरकभूमियाँ हैं । जिनमें अपने कर्मों से अर्जित दुःख का भोग करने वाले प्राणी ही कष्टकारी तथा दीर्घ आयु प्राप्त करके उत्पन्न होते (अर्थात् पहुँचते) हैं ।। 'अर्जुन कहता है कि ऐसे नरकों में अनियत काल तक ऐसे मनुष्य जो कुल को नष्ट करते हैं पड़े रहते हैं, ऐसा महानुभावों से मैंने सुना है । इसलिए हमें कुलनाश की चेष्टा कभी नहीं करनी चाहिए ।।४४।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।४५।।

अन्वय :- **अहो बत वयं महत्पापम् कर्तुं व्यवसिताः यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुम् उद्यताः ।।**

अर्थ :- अहो ! बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि हमलोगों ने बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर लिया है जो राज्य-सुख के लोभ से स्वजनों को ही मारने के लिए उद्यत हुए हैं ।

व्याख्या :- युद्ध के उद्योग रूप अपने कृत्य पर अर्जुन भगवान् से शोक प्रकट करता हुआ कह रहा है कि हम बड़े होकर अर्थात् आपकी बूआ के लड़के हैं, आप जैसे पुरुषोत्तम का सहवास मुझे प्राप्त है तथा पवित्र कुरुवंश के होकर बहुत आश्चर्य और शोक की बात है कि ऐसे पुण्य क्षेत्र में महान् पाप करने के लिये तैयार हैं । वेद में जिसे निषेध किया गया है उसे करना पाप कहलाता है जैसे-'न सुरां पिबेत्' मदिरा नहीं पीना चाहिए । इसे न मानकर मदिरा पीना पाप होता है और वह भी तुच्छ चीज राज्य और सुख की प्राप्ति के लोभ से अपने स्वजन सम्बन्धियों को मारना तो बड़ी भारी गलती है । इस प्रकार अर्जुन शिक्षा देता है कि बड़े लोगों को अपने में ही दोषानुसन्धान करना चाहिए । दूसरों के ही दोषों को देखना दुर्जनों का काम है । जैसा कि भगवद्यामुनाचार्य स्वामी कहते हैं कि **'न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।'** (स्तो. र. २६) इस लोक में जो निन्दित बुरा काम है उसको हजारों बार मैंने नहीं किया यह नहीं, किन्तु किया हूँ ।।२६।।

संत तुलसीदास जी अपने को कहते हैं कि -

कहि है कौन कलुष मेरे कृत कर्म बचन अरु मन के । (वि. प. ६६)

तथा भक्त सूरदास भी इसी प्रकार **मो सम कौन कुटिल, खल कामी** । (सू. सा. १४८) कहकर अपने में दोषानुसंधान करते हैं । इसलिए सज्जनों को अपने ही में दोषानुसंधान करना चाहिए ।।४५।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।४६।।

अन्वय :- **यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः अशस्त्रं अप्रतीकारं मां रणे हन्युः तत् मे क्षेमतरं भवेत् ।**

अर्थ :- यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्र पुत्र मुझ शस्त्रहीन और सामना न करनेवाले (यानी प्रतीकारहीन) को रण में मार डालें, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकर होगा ।

व्याख्या :- अर्जुन यहाँ कह रहा है कि राज्य और सुख के लोभ से जो सम्बन्धी कुटुम्बीजन को मारने का महान् पाप करने के लिये यहाँ हम तैयार हैं उस पाप से छूटने का एक ही उपाय है कि मैं बिना शस्त्र के खड़ा रहूँ और सामना करने को प्रस्तुत न हों तथा धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि शस्त्र लेकर इसी कुरुक्षेत्र के रणांगन में मुझे मार दें तो वह मृत्यु भी मेरे लिये अत्यन्त कल्याणकारक होगी । इससे एक तो मैं कुलघात रूप भयानक पाप से बच जाऊँगा, दूसरे अपने सगे सम्बन्धी और आत्मीय जनों की रक्षा हो जायेगी, तीसरे कुल की रक्षा करने का महान् पुण्य प्राप्त होगा जिससे कुल धर्म और जाति धर्म की रक्षा करने से मुझे मोक्ष की प्राप्ति भी सुलभ हो जायेगी । इसलिए इस तरह का मरना मेरे लिये अत्यन्त कल्याणकारी होगा । इस प्रकार अर्जुन शिक्षा देता है कि कोई भी कार्य हानि लाभ का विचार करके करना चाहिए ।।४६।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।४७।।

अन्वय :- **संजय उवाच- एवम् उक्त्वा शोकसंविग्नमानसः अर्जुनः सशरम् चापम् विसृज्य संख्ये रथोपस्थे उपाविशत् ।**

अर्थ :- संजय बोले - ऐसा कहकर शोक में निमग्न मनवाला अर्जुन बाण सहित धनुष का त्याग कर युद्धभूमि में रथ के पिछले भाग में बैठ गया ।

व्याख्या :- गावल्गण सूत का पुत्र जितेन्द्रिय सदाचारी सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन् ! महामना परमदयालु, परम बन्धु-स्नेही, परमधार्मिक अर्जुन के (अपने भाइयों सहित यद्यपि आप लोगों के द्वारा लाक्षागृह आदि अनेक अत्यन्त घोर मृत्युजनक उपायों से बार-बार धोखा खा चुका है, और परमपुरुष (भगवान् श्रीकृष्ण) की सहायता भी उसे प्राप्त है, तथापि आपके पुत्रों के मारे जाने का संयोग देखकर) बन्धुस्नेह, परमकृपा और धर्माधर्म के भय से सारे अंग पसीने से भर गये और 'मैं किसी तरह युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा कहकर वह (भावी) बन्धुवियोग-जनित शोक से खिन्न मन हो बाणों सहित गाण्डीव धनुष को छोड़कर महान् रथ के पिछले भाग में बैठ गया । इस पहले अध्याय में प्रधान विषय श्रवणाधिकारी है ।।४७।।

।। प्रथम अध्याय समाप्त ।।

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

अन्वय :- **संजय उवाच-तथा कृपया आविष्टं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं तम् मधुसूदनः इदं वाक्यं उवाच ।**

अर्थ :- संजय बोले - उस प्रकार से करुणा से ओत-प्रोत आँसूभरे व्याकुल नेत्रों वाले विषाद करते हुए अर्जुन से भगवान् मधुसूदन ने यह बात कही ।

व्याख्या :- सत्यवक्ता भगवान् श्रीकृष्ण के यथार्थ स्वरूप को बतानेवाले जितेन्द्रिय सञ्जय ने कहा कि पहले जैसा मैं कह चुका हूँ कि शोक से उद्विग्न मन होकर रथ के पिछले भाग में गांडीव धनुष को बाण सहित रख कर अर्जुन बैठ गया, उस अर्जुन की स्थिति इस प्रकार है कि वह दुर्योधनादि को देखकर बन्धुओं में स्नेह करता है । जिससे उस स्नेह के कारण बड़ी करुणा उसे हो गई । यहाँ पर 'कृपा' करुणावाचक है । करुणा उत्पन्न होने पर उसके नेत्र आँसू से पूर्ण तथा व्याकुल हो गये हैं और दुर्योधनादि के मार देने से जो कुलवध दोष होगा उससे हमारे पितर आदि नरक में गिरेंगे यह सोचकर तथा वह बन्धुओं के नाश से लगने वाले भयानक पाप से विषाद में निमग्न हो रहा है । ऐसे अर्जुन को देखकर मधुसूदन नाम वाले श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा । यहाँ 'मधुसूदन नाम का प्रयोग कर सञ्जय यह संकेत कर रहा है कि मधु+सूदन मिलकर मधुसूदन बनता है । '**षूदक्षरणे**' धातु से 'सूदन' शब्द निष्पन्न होता है । अभिप्राय यह कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को मारने के लिये उद्यत 'मधु' नाम के असुर को 'सूदन' यानी मारने से श्रीकृष्ण भगवान् का नाम 'मधुसूदन' पड़ा है । यानी दुष्टमर्दन भगवान् अर्जुन के युद्ध से मुँह फेर लेने पर भी तुम्हारे (धृतराष्ट्र के) अन्यायी पुत्रों को अवश्य मार देंगे, क्योंकि वे न्यायाधीश हैं । इससे अच्छा होगा कि अपने पुत्रों को समझाकर युद्ध से अब भी रोक दो जिससे यह संहार न हो ।।१।।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच - अर्जुन ! अनार्यजुष्टं अस्वर्ग्यं अकीर्तिकरं इदं कश्मलम् विषमे त्वा कुतः समुपस्थितम् ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - हे अर्जुन ! अनार्य जिसका आचरण करते हों (अथवा न आर्यजुष्टम्-जो आर्यजन के आचरण योग्य नहीं) परलोक विरोधी (यानी स्वर्गदेना वाला नहीं हो) और कीर्तिकारक नहीं है, ऐसी यह कायरता इस विषम वेला में तुझमें कहाँ से आ गयी ?

व्याख्या :- गीता में चार वेद, चार आश्रम, चार वर्ण अनादि हैं, इस बात को जनाने के लिये चार का ही भाषण है, जैसा दुनिया के किसी ग्रन्थ में नहीं है । पहला अध्याय जैसा मैं लिख चुका हूँ, उपोद्घात है, क्योंकि उसमें भगवान् का एक भी वाक्य नहीं है और इसका नाम भगवद्गीता है, अर्थात् भगवान् के गीत नाम कहा हुआ । सभी ग्रन्थों में जिसका भाषण रहता है उसका नाम लेकर कहा जाता है । गीता में भी धृतराष्ट्र उवाच, सञ्जय उवाच, अर्जुन उवाच ऐसा नाम लेकर कहा गया है परन्तु यहाँ पर श्रीकृष्ण न कहकर भगवान् उवाच कहा गया है । इसका कारण यह है कि अन्य सभी जीव कोटि में हैं; परन्तु श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं । श्रीकृष्ण षडैश्वर्य से युक्त स्वरूप वाले हैं; अतः इनका नाम भगवान् है । महाभारत में लिखा है कि **'भगवान् भगहानन्दी'** (महाभार. अनु. वि. सह. ७३) भगवान्, भगहा, नन्दी ये श्रीकृष्ण के नाम हैं ।।७३।। भगवान् किसे कहते हैं इस सम्बन्ध में विष्णु-पुराण में बताया गया है कि-

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ।। (वि. पु. ६।५।७६)

हेय गुणों से रहित समस्त ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज से युक्त को भगवान् कहते हैं ।।७६।। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** (श्रीमद्भा. १।३।२८)

श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं ।।२८।। प्राचीनकाल में अश्मरथ ऋषि ने यह नाम मंत्र जपा है । इसको जपने से अश्मरथ ऋषि को योग-सिद्धि प्राप्त हुई है । यह नाम मंत्र योगसिद्धिप्रद है । यह नाम मंत्र यजुर्वेद अध्याय ३४ के ३४वें मंत्र में -

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ।। (यजु. अ. ३४ मं. ३४)

ऐसा उल्लिखित है ।

अर्जुन सम्बोधन देकर भगवान् यह संकेत करते हैं कि अर्जुन सफेद को कहते हैं । सृष्टि तीन प्रकार की है उत्तम, मध्यम और निम्न । सात्त्विक उत्तम, राजस मध्यम तथा तामस निम्न है । जिसमें सात्त्विक का स्वरूप सफेद, राजस का लाल और तामस का काला है, तात्पर्य यह कि सात्त्विक भोजन, सात्त्विक ग्रन्थावलोकन और सात्त्विक सहवास से स्वरूप उज्ज्वल होता है । अर्जुन सात्त्विक है क्योंकि वह पशुपति अस्त्र रखते हुए भी राज्य और सुख को नहीं चाहता तथा अपने को स्वयं पापी कहते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों द्वारा मारे जाने पर भी अपना कल्याण देखता है । इसी बात को बताने के लिये भगवान् कहते हैं कि तुम परम सात्त्विक हो ।

इस श्लोक में 'कश्मल' शब्द शोक वाचक है । क्योंकि इससे पहले प्रथमाध्याय के अंतिम श्लोक में **'शोक -संविग्नमानसः'** (गी. १।४७) शोक में निमग्न मनवाला ।।४७।। कहा गया है तथा आगे **'यच्छोकमुच्छोषणम्'** (गी. २।८) जो सुखाने वाला शोक ।।८।। यहाँ पर भी शोक शब्द आया है । इसलिये तत्साहचर्य से यहाँ 'कश्मल' शब्द शोक वाचक है । अर्जुन के इस प्रकार रथ के पीछे बैठ जाने पर अज्ञानियों के द्वारा सेवित, परलोकविरोधी, अकीर्तिकारक 'यह बिना अवसर का शोक तुझमें कहाँ से आ गया ?' इस प्रकार आक्षेप करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा । इस श्लोक में 'अस्वर्ग्य' शब्द आया है । इसलिये स्वर्गलोक के विषय में कुछ बातें ज्ञातव्य हैं । -

'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (योगसूत्रम् अ. १ पा. ३ सू. २६) सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान होता है ।।२६।। इस सूत्र के 'व्यास भाष्य' में लिखा है कि-

तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः । चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः ।
त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथाजनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति ।
''ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् । माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तः ।।'' (व्या. भा०)

अन्तरिक्ष लोक के ऊपर पाँच प्रकार का स्वर्गलोक है । जिनमें तीसरा लोक इन्द्रलोक है । चौथा प्रजापति का महर्लोक है । फिर ब्रह्मलोक तीन प्रकार का होता है १-जनलोक २-तपलोक और ३-सत्यलोक । इस लोक सप्तक का संग्रह इस प्रकार किया गया है - जन, तपः सत्य इन तीन भागों वाला ब्रह्मलोक है । उसके नीचे प्रजापति का 'महर्लोक' है । फिर उसके नीचे इन्द्र का 'स्वर्गलोक' कहा गया है ।।२६।।२।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

अन्वय :- **पार्थ ! क्लैब्यं मा स्म गमः । त्वयि एतत् न उपपद्यते । परन्तप ! क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! तू नपुंसकता न ग्रहण कर, यह तुझे शोभा नहीं देती । हे परन्तप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता का त्याग करके (युद्ध के लिए) खड़ा हो जा ।

व्याख्या :- पूर्वार्ध में पार्थ सम्बोधन देकर भगवान् यह संकेत करते हैं कि कुन्ती का ही दूसरा नाम पृथा है और उसके पुत्र होने से तुम्हारा पार्थ नाम पड़ा । तुम्हारी माता की कटि यानी पश्चात् भाग स्थूल होने से पृथा नाम पड़ा था । वेद कहता है कि **'मातृदेवो भव'** (तैत्ति. उ. व. १ अनु., ११ श्रु. २) माता को देवता समझो ।।२।। तथा पद्म पुराण में माँ के विषय में लिखा है कि -

नास्ति मातृसमं तीर्थं पुत्राणाम्...। तारणाय हितायैव इहैव च परत्र च ।।
(पद्मपुराण, भूमिखण्ड ६३।१४)

पुत्रों के इस लोक और परलोक के कल्याण और उद्धार के लिये माता के समान कोई तीर्थ नहीं है ।।१४।।

माता न पूजिता येन तस्य वेदा निरर्थका: ॥१९॥

माता का जिसने पूजन नहीं किया, उसे वेदों से क्या प्रयोजन है ? (उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है) ॥१९॥

एष: पुत्रस्य वै धर्मस्तथा तीर्थं नरेष्विह ।

एष: पुत्रस्य वै मोक्षस्तथा जन्मफलं शुभम् ॥२१॥

पुत्र के लिए माता का पूजन ही धर्म है, वही तीर्थ है, वही मोक्ष है और वही जन्म का शुभ फल है ॥२१॥ तूने सर्वदा माता की आज्ञा का पालन किया है । युद्ध प्रारंभ होने से पूर्व तुम्हारी माँ ने यह प्रोत्साहित करते हुए मुझसे संदेश भिजवाया था कि-

अथो धनंजयं ब्रूयान्नित्योद्युक्तं वृकोदरम् ।

यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत: ॥ (महाभार. उद्यो. ९०।७५)

हे श्रीकृष्ण ! तुम अर्जुन तथा युद्ध के लिये सदा उद्यत रहने वाले भीमसेन से कहना कि क्षत्राणी जिस प्रयोजन के लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसे पूरा करने का समय आ गया है ॥७५॥

अस्मिंश्चेदागते काले मिथ्या चातिक्रमिष्यति ॥७६॥

यदि ऐसा समय आने पर भी तुम युद्ध नहीं करोगे तो यह व्यर्थ बीत जायगा ॥७६॥ इसलिये तुमको इस संदेश का स्मरण करते हुए माता के आदेश का पालन करना चाहिए । भगवान् कहते हैं कि हे पृथा देवी के पुत्र अर्जुन ! तू नपुंसकता को मत प्राप्त हो; क्योंकि तुझमें महान् से महान् महारथियों को कँपा देने वाला अतुलनीय शौर्य है । इससे तुझमें ऐसी नपुंसकता उचित नहीं जान पड़ती । उत्तरार्ध में द्वितीय सम्बोधन 'परन्तप' देते हुए भगवान् संकेत करते हैं कि तुम पर नाम शत्रुओं को ताप पहुँचाने वाले हो । निवातकवचादि शक्तिशाली असुरों को संहार करने वाले नरोत्तम हो, इसलिये हृदय की दुर्बलता से उत्पन्न अत्यन्त क्षुद्र इस असामयिक शोक को छोड़कर तू युद्ध के लिये खड़ा हो जा । यहाँ 'हृदय' शब्द आया है । हृदय का लक्षण लिखा है कि-

पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम् ।

अधोनिष्ठ्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति ॥ (तैत्तिरीयार. ना. ११)

लाल कमल के कोश के सदृश नीचे की ओर मुख वाला हृदय नाभि से ऊपर एक बित्ता के अन्त में अधोनिष्ठा से युक्त मांस पिण्ड देह में स्थित है ॥११॥

और योगचूडामण्युपनिषद् में लिखा है कि -

'पद्मं हृदये द्वादशारकम्' (यो. चू. श्रु. ४)

अनाहत चक्र जो हृदय में है वहाँ पर बारह दल वाला कमल है ।।४।।३।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

अन्वय :- **अर्जुन उवाच - मधुसूदन ! अहं संख्ये भीष्मं च द्रोणं प्रति इषुभिः कथं योत्स्यामि ? हे अरिसूदन ! (एतौ) पूजार्हौ ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे मधुसूदन मैं युद्ध में पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के प्रति बाणों से युद्ध कैसे करूँगा ? हे अरिसूदन ! (ये दोनों) पूजा के योग्य हैं ।

व्याख्या :- गीता द्वितीयाध्याय के दूसरे और तीसरे श्लोक में भगवान् ने बड़ा मार्मिक और अतिकल्याणकारक उपदेश दिया परन्तु बन्धुस्नेह, करुणा और धर्माधर्म के भय से व्याकुल आस्तिकाग्रगण्य अर्जुन भगवान् के द्वारा कथित उस उपदेश को न समझकर पुनः इस प्रकार कहने लगा । इस श्लोक के पूर्वार्ध में अर्जुन '**मधुसूदन**' सम्बोधन देकर और उत्तरार्ध में '**अरिसूदन**' सम्बोधन देकर कहता है कि आप '**मधु**' नाम के दैत्य को मारने के कारण मधुसूदन कहलाते हैं और कंस आदि का नाश करने के कारण अरिसूदन कहलाते हैं । पितामह भीष्म भागवत हैं, अतः परमसम्मानास्पद हैं, क्योंकि पाण्डवगीता' के प्रथम श्लोक '**भीष्मदाल्भ्यान्' (पा. गी.१)** पद के द्वारा ये भागवत करके परिगणित हैं और भागवत की महिमा बताते हुए श्रीमद्भागवत में लिखा है कि-

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ।। (श्रीमद्भा. १।१३।१०)

आप जैसे भागवत-भगवान् के प्रिय भक्त स्वयं ही तीर्थरूप होते हैं । आप लोग अपने हृदय में विराजित भगवान् के द्वारा तीर्थों को भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं ।।१०।। इसलिये उनको युद्ध में बाणों से कैसे मारूँगा । फिर आचार्य द्रोण ब्राह्मण हैं । ब्राह्मण के विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि-

उत्पत्तेरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। (मनु. १)

ब्राह्मण का देह ही धर्म की अविनश्वर मूर्ति होता है । वह निश्चय करके धर्म के लिये उत्पन्न होता है और वह आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है ।।१।। और महाभारत में भी लिखा है कि-

यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् ।
भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः ।। (महाभार.)

दीप्त अग्नि की रक्षा जैसे अरणी करती है वैसे ही भू देव ब्राह्मण की रक्षा करने के लिये देवकी देवी ने वसुदेवजी से जिस श्रीकृष्णदेव को उत्पन्न किया ।। इससे-

घ्नन्तं शपन्तं परुषं वदन्तं यो ब्राह्मणं न प्रणमेद् यथाहम् ।
स पापकृद् ब्रह्मदवाग्निदग्धो वध्यश्च दण्ड्यश्च, न चास्मदीयः ।

मारते हुए, शाप देते हुए, कड़ा वचन बोलते हुए, हमारे समान जो ब्राह्मण को प्रणाम नहीं करता है वह पाप कर्म करने वाला ब्रह्मदवाग्नि से जला हुआ वध्य और दण्डनीय है । वह कभी हमारा जन नहीं है ।। ऐसा आपने स्वयं कहा है तथा आप का अवतार ही ब्राह्मण के हित के लिये कहा गया है और श्रुति भी कहती है **'न ब्राह्मणं हन्यात्'** (श्रु.) ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए । इस वचनानुसार परमसम्मानास्पद द्रोणाचार्य ब्राह्मण को मैं युद्ध में कैसे मारूँगा । आप तो असुर और शत्रु को मारते हैं और मुझे भागवत और ब्राह्मण का वध करने को कहते हैं, इस प्रकार आप अपने स्वाभाविक गुणों के विपरीत मुझे युद्ध के लिये कैसे कह रहे हैं ? इसलिये मैं युद्ध करना उचित नहीं समझता ।।४।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

अन्वय :- **महानुभावान् गुरून् अहत्वा इह लोके भैक्ष्यम् भोक्तुं अपि श्रेयः । हि अर्थकामान् गुरून् हत्वा तु इह एव रुधिरप्रदिग्धान् भोगान् भुञ्जीय ।**

अर्थ :- महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भीख का अन्न खाना ही अच्छा है, क्योंकि इन अर्थकामी गुरुजनों को मारकर यहाँ उनके रुधिर से सने हुए भोगों को ही तो भोगना है ।

व्याख्या :- गुरु शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि - **'गृणाति तत्त्वमिति गुरुः'** जो तत्त्व को बतलावे उसे गुरु कहते हैं । 'अद्वयतारकोपनिषद्' में गुरु का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है -

गु शब्दस्त्वन्धकारस्स्यात् रु शब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ।। (अद्वयतार०)

'गु' नाम अन्धकार का है और 'रु' नाम उसके निरोधक यानी प्रकाश का है, अर्थात् जो अज्ञानरूपी अन्धकार को अपने सदुपदेशरूपी प्रकाश से दूर कर देता है उसे गुरु कहते हैं ।।

ऐसे द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा तत्त्वोपदेष्टा पितामह भीष्म आदि श्रेष्ठ पूज्य गुरुजनों को जो अत्यन्त अर्थ और विषयों में आसक्त हैं, क्योंकि द्रौपदी को नग्न करते समय वे कुछ भी नहीं बोले और यह जानते हुए भी कि अर्जुन की ही विजय होगी फिर भी अन्यायी दुर्योधन की ओर से समस्त व्यूह रचना करते हैं तथा द्रोणाचार्य स्वयं भी युधिष्ठिर से कहते हैं कि -

इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ (महाभार. भीष्म. ४३।५६)

हे महाराज ! यह सच्ची बात है कि मैं कौरवों के द्वारा अर्थ से बँधा हुआ हूँ ।।५६।। इसलिए यहाँ 'अर्थकामान्' पद 'गुरून्' का ही निशेषण है । अर्जुन कहता है कि सामान्य शास्त्र से विशेष शास्त्र बलवान होता है, इससे इस लोक में गृहस्थ क्षत्रिय को भीख माँग कर खाना पाप है, परन्तु पूजा योग्य गुरुजनों को मारना उससे भी बढ़कर पाप है । इसलिए उनको मारने की अपेक्षा भीख माँग कर खाना कल्याणकारक मानता हूँ और यदि मारता भी हूँ तो उनके द्वारा भोगे जाने वाले उन्हीं भोगों को उन्हीं के रक्त से सींचकर उन्हीं आसनों पर बैठकर कैसे भोगूँगा ? इसलिये ऐसे भोगों को प्राप्त करने के लिए गुरुजनों का वध कदापि उचित नहीं समझता ।।५।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम - स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

अन्वय :- **एतत् च न विद्मः, नः कतरत् गरीयः यत् वा जयेम यदि, वा नः जयेयुः यान् हत्वा न जिजीविषामः ते एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः ।**

अर्थ :- हम यह भी नहीं जानते हैं कि हमारे लिए क्या करना अच्छा है अथवा हम जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे । जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र पुत्र हमारे सामने उठकर खड़े हैं ।

व्याख्या :- अपने निश्चय में शंका करते हुए अर्जुन कहता है कि हम दोनों पाण्डव और कौरव दलों में कौन श्रेष्ठ है यह भी हमें नहीं ज्ञात होता है, क्योंकि एक तो हम अल्पज्ञ हैं, दूसरे विपत्ति में दोष हो जाने से मुझे निश्चय नहीं होता है । पापियों के साथ संग्राम करने की बात आपकी यदि हम मान भी लें तो यह भी हमें पता नहीं कि हम उन लोगों को जीतेंगे कि वे हम लोगों को जीतेंगे । यदि यह भी हम मान लें कि जीत हमारी ही होगी तौभी अन्य महात्मा, ब्राह्मण को कौन कहे जिन धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि पुत्रों को मैं मारकर जीने की इच्छा भी नहीं करता वे ही बन्धुजन मरने के लिए सामने खड़े हैं । यदि आप यह कहें कि इस प्रकार युद्ध का आरम्भ करके उससे हट जाने पर तुम लोगों को धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि पुत्र बलपूर्वक मार डालेंगे तो ऐसा भले ही हो, क्योंकि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उन गुरुजनों के वध में प्राप्त होने वाली अधर्मयुक्त विजय की अपेक्षा, उन धर्माधर्म का ज्ञान न रखने वाले लोगों के द्वारा हम लोगों को मारा जाना ही श्रेष्ठ है ।।६।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः, पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

अन्वय :- कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसमूढचेताः त्वां पृच्छामि । यत् निश्चितं श्रेयः स्यात् तत् मे ब्रूहि । अहं ते शिष्यः, त्वां प्रपन्नं मां शाधि ।

अर्थ :- दीनता के दोष से उपहत स्वभाव वाला (यानी दबी हुई स्वाभाविक वीरवृत्ति वाला), धर्म के विषय में मोहित अन्त:करण वाला मैं आप से पूछता हूँ । जो निश्चित रूप से कल्याणकारी हो, वह (बात) मेरे लिए कहिये । मैं आपका शिष्य हूँ । अपने शरणापन्न मुझे शिक्षा दीजिए ।

व्याख्या :- कृपण के भाव को कार्पण्य कहते हैं । कृपण शब्द लोक और शास्त्र दोनों में प्रसिद्ध है । जिसके पास पर्याप्त धन है परन्तु जो दान और भोगादि में न्यायसंगत व्यय नहीं करता है, लोक में उसे कृपण कहते हैं । शास्त्र में गीता के अनुसार **'कृपणाः फलहेतवः'** (गी. २।४६) फलासक्ति आदि से कर्म करने वाले मनुष्य कृपण होते हैं ।।४६।। परन्तु इस श्लोक में जिस प्रकार भोजन पर बैठा हुआ मनुष्य **'सैंधवमानय'** कहे तो समझदार व्यक्ति लवण अर्थ करेगा और यात्रा समय में 'सैंधवमानय' कहने पर घोड़ा वाचक अर्थ करेगा । उसी प्रकार प्रकरण अर्थ-निर्णायक होने से 'कार्पण्य' शब्द यहाँ 'कारुण्य' वाचक है । कृपा और करुणा पर्यायवाचक शब्द हैं । भगवद्गीता के प्रथमाध्याय में **'कृपया परयाविष्टः'** (गी. १/२८) परम करुणा से भर गया ।।२८।। यह कहा गया, पुनः **'कृपयाविष्टम्'** (गी. २।१) करुणा से ओतप्रोत ।।१।। यहाँ भी करुणा ही कही गयी है । और इसके तुरन्त बाद में ही यह श्लोक आया है । इससे सिद्ध होता है कि प्रकरण के अनुसार यहाँ पर 'कार्पण्य' शब्द 'कारुण्य' वाचक है । 'कार्पण्य दोष' यह शब्द उपलक्षण है । अपने जो कहा जाय उस शब्द को कहते हुए उससे अतिरिक्त का भी बोध हो उसे उपलक्षण कहते हैं । इससे यहाँ पर कारुण्य दोष के साथ ही स्वबन्धुओं में स्नेह और वधभीति दोष को भी कहा गया है, क्योंकि श्रीलोकाचार्य स्वामी जी ने अर्जुन के दोषों को कहा है कि -

बन्धुषु स्नेहः कारुण्यं वधभीतिश्च ।। (श्रीवचनभूषण सू. २३)

बिना समय बाण छोड़ने के समय में बन्धुओं के ऊपर स्नेह तथा करुणा और स्ववर्ण धर्म रूप वध में अधर्म बुद्धि से की हुई वधभीति ये अर्जुन के दोष हैं ।।२३।। अर्जुन भगवान् से कहता है कि इन तीनों दोषों से -'शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और ईश्वर भाव क्षत्रिय के जो स्वभाव हैं (गी. १८।४३)' यह सम्पूर्ण स्वभाव दब गया है । जो लोग बृहदारण्यकोपनिषद् के **'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति सःकृपणः'** (बृह. उ. ३।८।१०) हे गार्गि ! इस अविनाशी परब्रह्म नारायण को नहीं जानकर जो भी कोई इस लोक से मरकर जाता है वह कृपण है ।।१०।। इस श्रुति के प्रमाण को देकर आत्मज्ञान-रहित को कृपण सिद्ध किया गया है, उसके मानने पर भी कोई क्षति नहीं है, परन्तु वह अर्थ प्रकरण विरुद्ध है, इससे मैंने जो पहला अर्थ किया है, वही सिद्धान्त है । धर्म का लक्षण लिखा है कि **'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः'** (पूर्वमी. अ. पा. १ सू. २) प्रेरणालक्षण अर्थ धर्म है ।।२।। अर्जुन कहता है कि यद्यपि क्षत्रियों का युद्ध करना परम धर्म है, जैसा आगे कहा भी गया है -

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।। (गीता २।३१)

क्षत्रिय के लिये धर्मरूप युद्ध से बढ़कर दूसरा कुछ भी कल्याणकारक नहीं है ।।३१।।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।(गीता २।३२)

भाग्यशाली क्षत्रिय ही इस प्रकार के युद्ध को पाते हैं ।।३२।। **'युद्धे चाप्यपलायनम्'** (गी. १८।४३) युद्ध में न भागना ।।४३।। फिर भी मेरा चित्त इस धर्म के विषय में मोहित हो गया है । इसलिये मैं आप से पूछ रहा हूँ । जितेन्द्रिय मूर्धन्य अर्जुन उत्तमाधिकारी है, इससे इस श्लोक में और अन्यत्र भी श्रेयः (कल्याण) मार्ग की ही जिज्ञासा करता है । **'न च श्रेयोऽनुपश्यामि'** (गीता १।३१) मैं किसी प्रकार भी कल्याण नहीं देख रहा हूँ ।।३१।। **'येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'** (गी. ३।२) जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ ।।२।। प्रेय (प्रिय) मार्ग वह नहीं चाहता क्योंकि कठोपनिषद् में लिखा है कि -

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ।। (कठोप. अ. १ व. २ श्रु. १)

कल्याण का साधन-अतिप्रशस्त मोक्ष मार्ग अलग है और प्रिय लगने वाला भोग मार्ग भी अलग निश्चय करके है । वे श्रेय और प्रेय परस्पर भिन्न-भिन्न फल देने वाले दोनों-मोक्षमार्ग और भोगमार्ग पुरुष को बाँधते हैं-अर्थात् अपनी ओर आकृष्ट करते हैं । उन दोनों में से श्रेयमार्ग को ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है, अर्थात् वह संसार-बन्धन से छूट जाता है और निश्चय करके प्रेय मार्ग को जो पुरुष स्वीकार करता है वह पुरुषार्थ-भ्रष्ट हो जाता है ।।१।।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते..................................।।२।।

श्रेय और प्रेय ये दोनों ही मनुष्यों के सामने आते हैं । विवेकी पुरुष श्रेय और प्रेय उन दोनों के गुण दोषों पर भलीभाँति विचार करके, नीरक्षीर को हंस के समान अलग-अलग करता है और वह प्राज्ञ पुरुष प्रेय की उपेक्षा करके श्रेय को निश्चय करके ग्रहण करता है ।।२।। इसलिये उत्तमाधिकारी होने से अर्जुन ने श्रेय मार्ग की ही जिज्ञासा की और पहले के गुरु द्रोण का त्याग कर जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण को वह गुरु बनाता है, क्योंकि दुराचारी गुरु के परित्याग के विषय में शास्त्रानुमोदन है । अर्जुन भगवान् का प्रपन्न शिष्य बनता है । प्रपन्न का लक्षण बताते हुए बृहत् ब्रह्मसंहिता में लिखा है कि -

प्रपन्नो जायते कोऽपि ह्येकान्ती चक्रलांक्षितः ।। (बृ. ब्र. सं. १।१३।२३)

कोई भी एकान्ती चक्रांकित होने पर ही प्रपन्न होता है ।।२३।।

प्रपन्न के दो भेद हैं १-दृप्त प्रपन्न २-आर्त प्रपन्न । दृप्त प्रपन्न के विषय में कहा गया है -

शरीरस्थितिपर्यन्तमाद्योऽत्रैव यथोचितम् ।
प्राप्तदुःखादिभुञ्जानः शरीरान्तेऽवसीय च ।
महाबोधोऽतिविश्वासो मोक्षसिद्धिमवस्थितः ।। (पांचरात्र)

जो अपने शरीर की स्थिति पर्यन्त यथा उचित अपने प्रारब्ध कर्म करके प्राप्त हुये दुःख आदि को भोगता हुआ रहता है और जब उसके शरीर का नाश होता है, तब मोक्ष की स्थिति को निश्चय करके महाज्ञानी और महाविश्वासी होकर प्राप्त करता है उसको दृप्त प्रपन्न कहते हैं ।। श्रीहनुमान् जी दृप्त प्रपन्न हैं । और

अथान्त्योऽसहमानस्तत्क्षणमेव तु संसृतिम् ।
तथैव भगवत्प्राप्तौ सत्वरस्वान्त उच्यते ।। (पांचरात्र)

जो जन्म-मरण को और जन्म-मरण के दुःखों को क्षण मात्र भी सहन नहीं करता है और तैसे ही भगवान् की प्राप्ति के विषय में जिसका चित्त बहुत वेग वाला है उसको आर्त प्रपन्न कहते हैं ।।

श्रीचिन्तयन्ती गोपी आर्त प्रपन्न है । प्रपन्न शिष्य बनकर अर्जुन कहता है कि 'मेरे लिये जो निश्चित कल्याणकारक साधन हो, वह आपके शरणागत मुझ शिष्य से कहिये' ऐसी प्रार्थना करता हुआ अर्जुन अत्यन्त दीन होकर भगवान् के श्रीचरण-कमलों का आश्रित हो गया ।।७।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

अन्वय :- **हि भूमौ असपत्नं ऋद्धं राज्यं, च सुराणां आधिपत्यं अवाप्य अपि इन्द्रियाणां उच्छोषणं मम यत् शोकं अपनुद्यात्, न पश्यामि ।**

अर्थ :- क्योंकि पृथ्वी पर निष्कटंक समृद्धराज्य और देवताओं का आधिपत्य पाकर भी इन्द्रियों को सुखाने वाला मेरा जो शोक नष्ट हो जाय (ऐसा) नहीं देखता हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् का शिष्य बनकर उनसे उपदेश देने की प्रार्थना करने के बाद अर्जुन प्रार्थना का हेतु बतलाते हुए अपने विचार प्रकट करते हुए कहता है कि आपने जो मुझे युद्ध करने के लिये कहा उसमें विजय प्राप्त होने पर भी भूमण्डल का निष्कण्टक राज्य ही मिलेगा, पर भलीभाँति विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि भूमण्डल के राज्य को कौन कहे देवताओं का आधिपत्य मिलने से भी यह शोक दूर होने वाला नहीं है । देवता के सम्बन्ध में कहा गया है **'परोक्षप्रिया इव हि देवाः'** (ऐतरे. द्वितीयार. अ. ४ ख. ३ श्रु १४) । निश्चय करके परोक्षप्रिय के समान देवता होते हैं ।।१४।। **'विद्वांसो हि देवाः'** ये मन की बात भी जान लेते हैं तथा 'अनिमेषाः देवाः' इनकी पलकें नहीं गिरती हैं । शुक्ल यजुर्वेद में देवता के विषय में लिखा है कि-

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्योदेवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवादेवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता । (यजु. अ. १४ मं. २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, उञ्चास मरुत्देव, दस

विश्वेदेवदेव बृहस्पति देव, इन्द्रदेव, वरुणदेव देवता हैं ।।२०।। कुछ मुख्य देवताओं का वर्णन गीता में भी किया गया है -

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् (गीता. ११।१५)

कमल के आसन पर बैठे ब्रह्मादेव को और शिवदेव को ।।१५।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुत: ।। (गी. ११।२२)

ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, आठ वसुदेव, बारह साध्यदेव, दस विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमारदेव और उन्चास मरुत्‌देव हैं ।।२२।।

वायुर्यमोऽअग्निर्वरुण: शशाङ्क:, प्रजापति: । (गी. ११।३९)

वायुदेव, यमदेव, अग्निदेव, वरुणदेव, चन्द्रमादेव और प्रजापति देव ।।३९।। इत्यादि देवताओं के लोक का भी आधिपत्य मुझे मिल जाय तौभी इन्द्रियों के (इन्द्रियों के विषय में गीता में कहा गया है - **'इन्द्रियाणि दशैकं च'** (गी. १३।५) १-श्रोत्र २-त्वचा ३-चक्षु ४-रसना और ५-घ्राण--ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । १-वाक् २-हाथ ३-पैर ४-गुदा और ५-उपस्थ-- ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । ये दस हैं और एक मन कुल मिलाकर ग्यारह इन्द्रियाँ हैं ।।५।।) इन ग्यारहों के अच्छे प्रकार से सुखा देने वाला जो शोक है उसे दूर करने में यह राज्य-प्राप्ति समर्थ नहीं है । इसलिये मुझे कोई ऐसे उपाय का उपदेश करें जो सदा के लिये सुखी कर सके ।।८।।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेश: परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।९।।

अन्वय :- **संजय उवाच-परन्तप ! एवं उक्त्वा गुडाकेश: हृषीकेशं गोविन्दं न योत्स्ये इति ह उक्त्वा तूष्णीं बभूव ।**

अर्थ :- संजय बोले ! हे परन्तप (दूसरे या शत्रुओं के संतापक) राजन् ! ऐसा कहकर, निद्रा-विजयी अर्जुन हृषीकेश गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण से "मैं युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कह कर चुप हो गया ।

व्याख्या :- गुडाका+ईश=गुडाकेश, गुडाका यानी निद्रा के ईश यानी विजय करने से अर्जुन का गुडाकेश नाम है । निद्रा के विषय में लिखा है कि-

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।। (पा. यो. १।१०)

जाग्रत् तथा स्वाप्न वृत्तियों के अभाव के कारणभूत तमोगुण को विषय बनाने वाली वृत्ति निद्रा है ।।१०।। निद्राविजयी अर्जुन हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण से कहता है । हृषीकेश नाम के विषय में गीता के पहले अध्याय के १५वें श्लोक में कह चुका हूँ । फिर गोविन्द भगवान् से । गोविन्द के विषय में महाभारत में लिखा है कि--**'महावराहो गोविन्द:'** (महाभार. अनु. वि. सह ७१) महावराह, गोविन्द ये श्रीकृष्ण के नाम हैं ।।७१।। श्रीकृष्ण को वेदवाणी से भक्त लोग जानते हैं, अत: इनका नाम गोविन्द है । विष्णुतिलक में लिखा है कि -

मुखादेनांसि निर्यान्ति गोशब्दोच्चारणादपि ।
पुनर्यदि विशेयुश्चेद् विन्दस्तत्र कपाटवत् ।
गोभिरेव यतो वेद्यो गोविन्दः समुदाहृतः । (विष्णु तिलक)

गो+विन्द में 'गो' शब्द के उच्चारण करने से मुख से समस्त पाप निकल जाते हैं, फिर से वे शरीर में यदि प्रवेश करें तो वहाँ पर 'विन्द' शब्द कपाट के समान मुख को बन्द कर देता है । अतः पाप भीतर नहीं प्रवेश करता है । वेदवाणी से निश्चय करके जाने जाते हैं । इसलिए गोविन्द' शब्द से कहे जाते हैं ।। वि. ति. ।। गीता में भी कहा है -**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**, (गी. १५।१५) सम्पूर्ण वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ ।।१५।। पूर्व में कर्मशील ऋषि ने यह नाम मंत्र जपा है । इस नाम मंत्र जपने से कर्मशील ऋषि की धर्मवृद्धि हुई है । यह नाम मंत्र धर्मप्रद है । अर्जुन (गोविन्द भगवान् से) स्पष्ट यह कहकर कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गया । इस प्रकार असमय में उत्पन्न स्नेह और करुणा के कारण जो अपने स्वभाव से विचलित हो गया है, क्षत्रियों के लिये युद्ध परमधर्म होने पर भी जो उसको अधर्म मान रहा है और जो धर्म को समझने की इच्छा से भगवान् का शरणागत हो गया है, उस अर्जुन को निमित्त बनाकर परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण ने यह समझकर कि, आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान के बिना और फलाभिसन्धिरहित स्वधर्मरूप युद्ध आत्मा के यथार्थ ज्ञान का उपाय है - इस बात को समझे बिना, इसका मोह शान्त नहीं होगा, अध्यात्मशास्त्र का अवतरण किया । कहा भी गया है कि -

अस्थाने स्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम् ।
पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम् ।। (गीतार्थ संग्रह ५)

युद्ध के मैदान रूपी अनुचित स्थान में स्नेह और करुणा के कारण युद्ध रूपी शास्त्रोचित धर्म के विषय में अधर्म की बुद्धि से घबड़ाये हुए शरणागत पृथापुत्र अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवद्गीता शास्त्र का अवतरण किया गया है ।। जिस प्रकार परिभाषेन्दुशेखर के अध्ययन करने वाले विद्वान् जानते हैं कि परिभाषा का अवतरण होता है उसी प्रकार जो भगवद्गीता नामक शास्त्र है, इसके द्वितीय अध्याय के दसवाँ और ग्यारहवाँ ये दो श्लोक अवतरण हैं ।

शासन करने से गीता को शास्त्र कहा जाता है । इसमें तीन षट्क हैं । पहले षट्क में **'कुरु कर्म'** (गी. ३।८) कर्म कर ।।८।। **'योगी भव'** (गी. ६।४६) योगी बन ।।४६।। दूसरे षट्क में **'भजस्व माम्'** (गी. ६।३३) मेरा ही भजन कर ।।३३।। **'मां नमस्कुरु'** (गी. ६।३४) मुझको नमस्कार कर ।।३४।। तीसरे षट्क में **'तमेव शरणं गच्छ'** (गी. १८।३२) उस (ईश्वर) की ही शरण में जा ।।६२।। **'शरणं व्रज'** (गी. १८।६६) शरण में आ जा ।।६६।। इस प्रकार शासन किया गया है, इससे गीता को शास्त्र कहा जाता है ।।६।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।१०।।

अन्वय :- **भारत ! उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तम् तम् प्रहसन् इव,हृषीकेशः इदं वचः उवाच ।**

अर्थ :- हे भारत ! (यानी भरतवंश में उत्पन्न धृतराष्ट्र !) दोनों सेनाओं के बीच में विषाद करते हुए उस अर्जुन के प्रति हँसते हुए भगवान् श्रीकृष्ण यह वचन बोले ।

व्याख्या :- सर्वान्तर्यामी भगवान् विचार करते हैं कि अर्जुन ने मुझे गुरु भी बनाया और मेरी शरण होकर इसने कल्याण का साधन भी पूछा परन्तु मेरे बिना कुछ कहे ही युद्ध न करने की घोषणा भी कर देता है, इस प्रकार जो शरीर और आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण शोक में निमग्न हो रहा है, और साथ ही शरीर से आत्मा को अलग समझना ही जिसका हेतु है-ऐसे धर्म का भी वर्णन कर रहा है । उस परस्पर विरुद्ध गुणों से युक्त अर्जुन को युद्ध के लिए प्रस्तुत दोनों सेनाओं के बीच में अकस्मात् निश्चेष्ट देखकर परम पुरुष श्रीकृष्ण हँसते हुए से इस प्रकार बोले । अर्थात् परिहास वचन कहते हुए से उन्होंने आत्मा और परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का तथा उसकी प्राप्ति के उपायरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का बोध कराने वाले प्रसंग को कहा ।।१०।।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।।११।।

अन्वय :- श्रीभगवान् उवाच - त्वं अशोच्यान् अन्वशोचः च प्रज्ञावादान् भाषसे । गतासून् च अगतासून् पण्डिताः न अनुशोचन्ति ।

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिये उनके लिए तू शोक कर रहा है और पण्डिताई की बात या पण्डितों की बातें भी कर रहे हो । लेकिन पण्डित लोग (गतासु) यानी मरणशील शरीर और (अगतासु) यानी अविनाशी आत्माओं के लिए भी शोक नहीं किया करते ।

व्याख्या :- यहाँ 'भगवान्' पद कहकर यह बताते हैं कि 'भगवद्' शब्द परब्रह्म का वाचक है । जैसा विष्णुपुराण में कहा गया है -

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते ।

मैत्रेय ! भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ।। (वि. पु. ६।५।७२)

हे मैत्रेय ! भगवत् शब्द महाविभूति-सम्पन्न सभी कारणों के भी कारण शुद्ध परब्रह्म का वाचक है ।।७२।। और भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं । वे स्वयं कहते हैं ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चदस्ति धनञ्जय । (गी. ७।७)

हे अर्जुन ! मुझसे श्रेष्ठतर कोई दूसरा कुछ भी नहीं है ।।७।।

भगवान् कहते हैं कि जिनके लिये शोक करना उचित नहीं, उनके लिए तू शोक करता है और साथ ही-

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः । (गी. १।४२)

पिण्ड और जलकी क्रिया लुप्त होने के कारण इनके पितृगण नरक में पड़ते हैं ।।४२।। इत्यादि शरीर और आत्मा के स्वभाव-ज्ञान से संबंधित बातें भी कर रहा है, परन्तु शरीर और आत्मा का स्वभाव जाननेवालों के लिये यहाँ शोक का तनिक भी कारण नहीं है । उन दोनों के स्वभाव को यथार्थ रूप से जाननेवाले पुरुष 'गतासु'-मरणशील शरीरों के लिये, 'अगतासु'-अविनाशी आत्माओं के लिये भी शोक नहीं करते । परन्तु तुझमें ये परस्पर-विरोधी भाव प्राप्त हो रहे हैं, जो कि 'मैं इनको मारूँगा' इस प्रकार तू शोक कर रहा है और साथ ही शरीर से अलग आत्मा के ज्ञान जनित धर्माधर्म का वर्णन कर रहा है । इससे (यह सिद्ध होता है कि) तू न तो देह के स्वभाव को जानता है, न उससे भिन्न आत्मा को और न उसकी प्राप्ति के उपाय, युद्धादि धर्म को ही । वस्तुतः यही युद्ध यदि फलाभिसन्धिरहित होकर किया जाय तो आत्मा के यथार्थ रूप की प्राप्ति का साधन होता है । अभिप्राय यह है कि न तो आत्मा की सत्ता जन्माधीन है और न उसका अभाव ही मरणाधीन है, क्योंकि आत्मा के जन्म मरण हैं ही नहीं, इसलिये वह शोक का विषय नहीं है तथा शरीर जड़ है वह स्वभाव से ही परिणामी (परिवर्तनशील) है और उसका उत्पन्न तथा नष्ट होना भी स्वभाविक है; अतएव वह भी शोक का विषय नहीं है । प्रज्ञा से तात्पर्य **'प्रकर्षेण जानाति इति प्रज्ञा'** बड़े जोर से जिससे सत्-असत् का विचार किया जाय उसे 'प्रज्ञा' कहते हैं । इस श्लोक में 'पण्डित' शब्द आया है । पण्डित का लक्षण है-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।। (गी. ४।१९)

जिसके समस्त कर्म, कामना और संकल्प से रहित हैं, उस ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध हुए कर्मों वाले पुरुष को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं ।।१९।। गीतार्थ-संग्रह के **'अस्थाने'** (गी. सं. ५) इत्यादि पाँचवें श्लोक में समस्त प्रथम अध्याय के और द्वितीय अध्याय के ग्यारहवें श्लोक तक का सार संगृहीत है । **'अशोच्यान्'** (गी. २।११) इस श्लोक तक भगवद्गीता का उपोद्घात है, क्योंकि लिखा है-

चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते' ।

प्रकृत वस्तु की सिद्धि के लिये जो चिन्ता होती है उसीको उपोद्घात कहते हैं ।। जैसे 'हितोपदेश' के अध्ययन करने वाले जानते हैं कि 'हितोपदेश' की 'प्रस्तावना' 'हितोपदेश' ही है, वैसे ही भगवद्गीता का उपोद्घात भी भगवद्गीता ही है । यहाँ पर कुछ लोग कहते हैं कि गीताशास्त्र का उपक्रम और उपसंहार की एकता होनी चाहिए । गीताशास्त्र का उपसंहार **'मा शुचः'** (गी. १८।६६) है । यदि **'अशोच्यानन्वशोचः'** (गी. २।११) से इस शास्त्र का उपक्रम माना जाय तो दोनों उपक्रम और उपसंहार की एकता हो जाती है, क्योंकि **'अशोच्यान्'** (गी. २।११) में 'अ' नकारार्थक है और 'शुच्' धातु का प्रयोग है । **'मा शुचः'** (गी. १८।६६) में भी 'मा' नकारार्थक है और शुच्' धातु का प्रयोग है । फिर

भी क्या कारण है कि गीता का उपक्रम **'न त्वेवाहम्'** (गी. २।१२) से माना जाता है । इसके विषय में मैं कहता हूँ कि जैसा पहले कहा गया है उसके अनुसार -

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव । (गी. १६।५)

हे पाण्डुकुमार ! तू शोक मत कर, तू दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुआ है ।।५।। इस श्लोक में 'मा' नकारार्थक है और 'शुच्' धातु का प्रयोग है फिर यहाँ ही भगवद्गीता शास्त्र का उपसंहार क्यों नहीं मान लें ? उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना करना व्यर्थ है, इसलिये **'सर्वधर्मान्'** (गी. १८।६६) इस श्लोक को उपसंहार मानना प्रमत्त प्रलाप है । इससे यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो पता लगेगा कि गीताशास्त्र का वस्तुतः उपक्रम **'नत्वेवाहम्'** (गी. २।१२) से ही होता है । इसका कारण यह है कि गीता वेदान्तशास्त्र का सारांश मानी जाती है । अतएव इसका उपक्रम और उपसंहार वेदान्त प्रोक्त अर्थों से ही करना चाहिए । सबसे बड़ी बात यह है कि गीता वेदान्त का सारांश है ।

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (मु. उ. १ ख.२ श्रु. १२)

उस परब्रह्मनारायण को जानने के लिए वह मुमुक्षु पुरुष गुरु की शरण में निश्चय करके विनय पूर्वक चला जाय ।।१२।। इस नियमानुसार वेदान्तशास्त्र का उपक्रम गुरु-शिष्य सम्बन्ध को लेकर ही हुआ है, क्योंकि अर्जुन पहले से ही भगवान् से विज्ञापन कर चुका है **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (गी. २।७) उपर्युक्त **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'** (गी. २।११) इस श्लोक में गुरु का वाचक कोई शब्द नहीं है और शिष्य का वाचक 'त्वम्' पद है । इससे **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'** (गी. २।११) यह कभी गीताशास्त्र का उपक्रम नहीं हो सकता है ।

कुछ लोग भगवद्गीता का प्रमाण कहते हैं कि महाभारत में लिखा है-

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः ।। (महाभारत भीष्म. ४३।४)

इस गीता में छः सौ बीस श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण ने कहे हैं, सत्तावन श्लोक अर्जुन के कहे हुए हैं, सड़सठ श्लोक संजय ने कहे हैं ।।४।।

धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ।।५।।

एक श्लोक धृतराष्ट्र का कहा हुआ है । यह गीता का मान बताया जाता है ।।५।। यह प्रक्षिप्त श्लोक है । क्योंकि इससे पहले महाभारत के भीष्म पर्व में २५ वें अध्याय से प्रारम्भ करके ४२वाँ अध्याय पर्यन्त गीता कही गई है । वहाँ पर या पूर्वाचार्यों के भाष्य में ये प्रमाण नहीं मिलते हैं । इसलिये मैंने भगवद् रामानुजाचार्य के भाष्य के अनुसार प्रमाणित श्लोक की ही व्याख्या सर्वत्र की है, और करूँगा ।।११।।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

अन्वय :- **जातु अहं न आसम्, त्वं न इमे जनाधिपाः न, न तु एव च अतः परं वयं सर्वे न भविष्यामः एव न।**

अर्थ :- किसी काल में (यानी पहले कभी) मैं नहीं था, तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे, ऐसी बात नहीं है और इसके आगे हम सभी नहीं होंगे ऐसी बात भी नहीं है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि अब पहले आत्माओं का स्वभाव सुनो । मैं सर्वेश्वर इस वर्तमान समय से पूर्व अनादि काल में नहीं था-ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य था । मेरे शासन में रहने वाले तेरे सहित ये सभी क्षेत्रज्ञ (आत्मा) पहले नहीं थे, ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य थे । मैं और तुमलोग अर्थात् हमलोग सभी इसके बाद भविष्यकाल में नहीं रहेंगे, ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य रहेंगे । जिस प्रकार मैं सर्वेश्वर परमात्मा नित्य हूँ - इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, उसी प्रकार तुम सब क्षेत्रज्ञ आत्मागण भी निस्सन्देह नित्य हो, ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार जीवों का भगवान् सर्वेश्वर परमात्मा से और (जीवों का) परस्पर में भी भेद यथार्थ है, यह स्वयं भगवान् ने ही कहा है - ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि अज्ञान-मोहित अर्जुन के प्रति उस अज्ञान की निवृत्ति के लिए पारमार्थिक नित्यता का उपदेश करते समय मैं (अहम्), तुम (त्वम्), ये (इमे), सब (सर्वे) और हमलोग (वयम्) इन पदों का प्रयोग किया गया है । उपाधिकृत आत्म-भेद मान लेने पर आत्माओं का भेद तात्त्विक नहीं ठहरता, इसलिए तत्त्वज्ञान का उपदेश करते समय भेद का उपदेश करना सुसङ्गत नहीं है । भगवान् के द्वारा उपदिष्ट यह आत्मभेद स्वाभाविक है, यही बात श्रुति भी कहती है -

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना - मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

(कठोप. अ. २ व. २ श्रु. १३)

जो समस्त नित्य अनन्त चेतन जीवात्माओं की समस्त मनोभिलषित वस्तुओं को एक नित्य चेतन परब्रह्म परमात्मा कर्मानुसार देता है ।।१३।। आत्म-भेद दृष्टि को अज्ञान-जनित मानने वालों के मत में (जो दोष आता है, उसे बतलाते हैं-) परमार्थदृष्टि से युक्त परम पुरुष को निर्विशेष कूटस्थ नित्य चैतन्य आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार होने के कारण उनमें अज्ञान और उसके कार्य का अभाव है, अतएव उनके द्वारा अज्ञानजनित भेद-दर्शन और तज्जनित उपदेशादि के व्यवहार नहीं बन सकते ।

यदि यह कहा जाय कि जिनको द्वैतज्ञान प्राप्त हो चुका है, ऐसे परम पुरुष श्रीकृष्ण का बाधितानुवृत्तिरूप यह भेद-ज्ञान दग्ध वस्त्र आदि की भाँति उनके लिए बन्धनकारक नहीं होता, तो यह कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि मृगतृष्णादि में होनेवाला जलज्ञान (वास्तविक ज्ञान के द्वारा) बाधित हो जाने के बाद वह पूर्ववत् दीखता रहने पर भी जल भरने के लिये प्रवृत्त करने वाला नहीं होता । इसी प्रकार यहाँ भी अद्वैतज्ञान से बाधित किया हुआ भेदज्ञान कथन मात्र के लिये रहने पर भी उसका मिथ्यात्व निश्चित हो जाने के कारण वह उपदेशादि की प्रवृत्ति का कारण नहीं बन सकता । इसके अतिरिक्त, यह भी नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर पहले अज्ञानी थे, पीछे से वे शास्त्र द्वारा तत्त्वज्ञान को

प्राप्त हुए और उनमें बाधितानुवृत्ति द्वैतभाव रहा, क्योंकि ऐसा कहने से-**'य्र सर्वज्ञः सर्ववित्'** (मु. उ. १।१।१०) जो परमात्मा सामान्य रूप से सर्वविषयक ज्ञानवाला है और विशेष रूप से तत्तत् वस्तुगत सर्वप्रकारक ज्ञानवाला है ।।१०।।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । (श्वेता. ६।८)

इस परमेश्वर की-ज्ञान बल तथा क्रियारूप स्वाभाविक पराशक्ति विविध प्रकार की ही सुनी जाती है ।।८।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन । भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।। (गीता ७।२६)

हे अर्जुन ! मैं भूत, वर्तमान और भविष्य में होने वाले समस्त प्राणियों को जानता हूँ, मुझको कोई नहीं जानता ।।२६।। इत्यादि श्रुतिस्मृतियों से विरोध आता है । इसके अतिरिक्त उन (भेदभाव को अज्ञानजनित माननेवालों) को यह भी बतलाना चाहिए कि पर पुरुष और आजतक की गुरुपरम्परा से यह अद्वितीय आत्मस्वरूप का निश्चय हो जाने के उपरान्त कल्पित भेदज्ञान के रहने पर भी अपने निश्चय के अनुसार अद्वितीय आत्मज्ञान का उपदेश किसके प्रति करते हैं ? यदि कहा जाय कि प्रतिबिम्ब की भाँति प्रतीत होनेवाले अर्जुनादि के प्रति करते हैं, तो यह नहीं बन सकता, क्योंकि कोई भी मनुष्य जो उन्मत्त नहीं हो गया है, मणि, तलवार या दर्पण आदि में दीखनेवाले प्रतिबिम्बों को अपना और उनका अभेद जानता हुआ किसी प्रकार का भी उपदेश नहीं करता ।

वे (अद्वैतवादी) इस प्रसङ्ग में बाधितानुवृत्ति भी सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि (भेदज्ञान के) बाधक अद्वितीय आत्मज्ञान के द्वारा आत्मातिरिक्त अन्य भेदज्ञान के कारणरूप अज्ञानादि का विनाश हो चुका है । दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीखने आदि में तो चन्द्रमा की एकता का ज्ञान हो जाने पर भी दो चन्द्रमा दीखने के वास्तविक कारण तिमिरादि (चक्षुदोष) का नाश न होने से बाधितानुवृत्ति का होना उचित है तथा यह भी ठीक है कि दो चन्द्रमा का दिखाई देना आदि वैसा ही रहने पर भी प्रबल प्रमाण से बाधित हो जाने के कारण वह कुछ कर नहीं सकता, परन्तु यहाँ (अद्वैतज्ञान के विषय में) तो विषय और कारण सहित भेदज्ञान मिथ्या है, अत: वस्तु के यथार्थ ज्ञान से उसका समूल विनाश हो जाता है, ऐसी स्थिति में बाधितानुवृत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है । इसलिये (अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार) यदि सर्वेश्वर को और आजतक की गुरु-परम्परा को तत्त्वज्ञान है तब तो भेददर्शन और उसका कार्य उपदेशादि असंभव है । यदि कहा जाय कि (उनमें) भेददर्शन रहता है तो फिर अज्ञान और उसका कारण वर्तमान रहने से वे अज्ञानी सिद्ध होते हैं, इसलिए भी उनके द्वारा (यह) उपदेश कदापि संभव नहीं ।

इसके सिवा, गुरु को अद्वितीय आत्मज्ञान हो जाने से ही ब्रह्म के अज्ञान का कार्यसहित अत्यन्त अभाव हो जाने के कारण शिष्य को उपदेश देना व्यर्थ है । यदि कहा जाय कि गुरु और उसका ज्ञान भी कल्पित ही है; तो फिर शिष्य और उसका ज्ञान भी कल्पित है, अत: वह भी अज्ञानका निवर्तक नहीं होगा । यदि कहो कि किल्पित होने पर भी वह अज्ञान का विरोधी है, इसलिये उसका निवर्तक होता है, तो आचार्य के ज्ञान में भी वैसी ही शक्ति विद्यमान है; अत: वही समस्त अज्ञान का निवर्तक हो जाता है, फिर उपदेश तो व्यर्थ ही हुआ । अतएव जिनका खण्डन किया जा चुका है उन असमीचीन वादों (असंगत सिद्धान्तों) से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है ।

भगवद्गीता शास्त्र का प्रस्तुत **'न त्वेवाहम्'** (गी. २।१२) इत्यादि श्लोक से ही उपक्रम है क्योंकि इस श्लोक में शिष्य अर्जुन का निर्देश युष्मद् 'त्वम्' शब्द से किया गया है और इस श्लोक में आचार्य का वाचक 'अहम् अस्मद् शब्द है। इदम् 'इमे' से जगत् का निर्देश है। निषेधवाचक 'न' है और उपसंहार चरमश्लोक में है। इससे चरम श्लोक को मैं यहाँ कह देता हूँ -

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गी. १८।६६)

परम कल्याण की प्राप्ति के साधनभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग रूप सर्व धर्मों को मेरी आराधना के रूप में अत्यन्त प्रेम से अधिकारानुसार करता रह और उन्हें करते-करते मेरी रीति से फल, कर्म के सङ्ग और कर्तृत्व के त्याग के द्वारा सबका परित्याग करके मुझ एक को आराध्यदेव, सबका कर्ता और प्राप्त होने योग्य समझता रह तथा उस प्राप्ति का उपाय भी मुझको ही समझ। मैं अपनी प्राप्ति के विरोधी जो अकर्तव्य का करना और कर्तव्य का न करना रूप अनादि काल से सञ्चित अनन्त पाप है, उन सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर ॥६६॥ इस चरम श्लोक में (युष्मद्) 'त्वा' से शिष्य का, 'अहम्' (अस्मद्) से आचार्य का 'सर्व' शब्द से जगत् का और 'मा' से निषेध का निर्देश किया गया है। इस तरह स्पष्ट है कि गीताशास्त्र का उपक्रम 'न त्वेवाहम्' (गी. २।१२) इस श्लोक से ही मानना ठीक है ॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

अन्वय :- **देहिनः अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनं जरा, तथा देहान्तर-प्राप्तिः तत्र धीरः न मुह्यति ।**

अर्थ :- देहधारी (यानी जीवात्मा) को इस शरीर में जैसा कुमारावस्था, यौवन और बुढ़ापे की प्राप्ति होती है वैसे देहान्तर (अन्य शरीर) की भी प्राप्ति होती है। वैसे विषय में धीर मनुष्य मोहित नहीं होता है।

व्याख्या :- भगवान् आत्मा के लिए शोक करना अनुचित बताते हुए कहते हैं कि एक शरीर में वर्तमान जीवात्मा जब कुमार-अवस्था को छोड़कर यौवनादि अवस्थाओं को प्राप्त होती है, तब आत्मा जैसी पहले थी वैसी ही स्थिर है, इस बुद्धि के कारण जैसे बुद्धिमान पुरुष यह शोक नहीं करता कि 'आत्मा नष्ट हो गयी' वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति में भी आत्मा ज्यों-का-त्यों ही स्थिर है, ऐसा जानने वाला पुरुष शोक नहीं करता। अतएव आत्मा नित्य है, इसिलये यह शोक का विषय नहीं है।

जीवात्मा जो कि नित्य होते हुए भी अनादि कर्मों के अधीन होने के कारण उन-उन कर्मों के अनुसार शरीरों से सम्बन्धित है, उसका इतना ही कर्तव्य है कि वह बन्धन की निवृत्ति के लिए उन्हीं शरीर के द्वारा स्ववर्णोचित शास्त्रीय युद्धादि कर्म फलाभिसन्धि-रहित होकर करते हुए इन्द्रिय एवं विषयों के संयोग, जो शीतोष्णादिजनित सुख-दुःख देने वाले

हैं, उनको अनिवार्य मानकर जब तक शास्त्रीय कर्म की समाप्ति हो, तब तक सहन करते रहे ।

२४ तत्त्व के संघात को देह कहते हैं (गी. १३।५) और कौमारादि के विषय में लिखा है कि-

कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि ।
कैशोरमापञ्चदशाद् यौवनं तु ततः परम् ॥

पाँच वर्ष तक कौमार तथा दस वर्ष तक पौगण्ड, पन्द्रह वर्ष तक कैशोर, इसके बाद युवा कहा जाता है और ४० वर्ष के बाद जरावस्था कही जाती है ।।१३।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! मात्रास्पर्शाः तु शीतोष्णसुखदुखदाः आगमापायिनः अनित्याः, भारत ! तान् तितिक्षस्व ।**

अर्थ :- हे कुन्तीपुत्र ! ये विषय और इन्द्रियों के संयोग, सर्दी गर्मीरूप सुख-दुःख देने वाले उत्पत्ति-विनाशशील या आने-जाने वाले और अनित्य हैं, हे भारत ! तू उनको सहन कर ।

व्याख्या :- इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'कौन्तेय' सम्बोधन देकर भगवान् यह संकेत करते हैं कि तुम्हारी माँ सच्चरित्रा और वीर प्रसवा है तथा महात्मा की सेवा करके उसने शक्तिशाली वर प्राप्त किया । ऐसी माता से तुम्हारा जन्म है, फिरभी माता के गुण के विपरीत तुम शोक कर रहे हो, जो उचित नहीं है ।

उत्तरार्ध में 'भारत' सम्बोधन देकर बताते हैं कि तुम 'भा' नाम विज्ञान (प्रकाश) में रत हो, क्योंकि खाण्डव वन से तूने महान् रथ को प्राप्त किया जो भूमि, जल, आकाश सर्वत्र गमन करता है, फिर भी तुम शोक कर रहे हो यह ठीक नहीं है ।

जिनके द्वारा किसी वस्तु का माप किया जाय, उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे 'मात्रा' कहते हैं, मात्रा शब्द अनेकार्थक है । माण्डूक्योपनिषद् में लिखा है कि -

पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ (माण्डू. खं. ३ श्रु. १)

वैश्वानर तैजस प्राज्ञ आदिक पाद ही मात्रा है और अ तथा उ और म ये तीनों मात्राएँ पाद हैं ।।१।। इससे यहाँ अकार, उकार, मकार को मात्रा कहा गया । पाणिनि-शिक्षा के अनुसार ह्रस्व-दीर्घ प्लुत को भी मात्रा कहते हैं जैसा लिखा है कि -

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ॥ (पा. शि. ४६)

नीलकंठ एक मात्रा बोलता है, कौवा दो मात्रा बोलता है, कुक्कुट तीन मात्रा और नकुल आधा मात्रा बोलता

है ॥४६॥ यहाँ पर योगारूढि वलीयसी के अनुसार जिस प्रकार **'रथकारो वर्षासु अग्निमादधीत'** (श्रुति) रथकार वर्षाकाल में अगन्याधान करे । इसमें रथकार अनेकार्थक होते हुए भी बढ़ई के अर्थ में रूढ़ि होने से उसी के लिए आया है, उसी प्रकार रथकाराधिकरणन्याय से 'मात्रा' शब्द, शब्द स्पर्शादि का वाचक है । भगवान् पहले कहे गये अभिप्राय को ही इस श्लोक में कहते हैं कि शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध ये पाँचों विषय अपने अधिष्ठानों सहित तन्मात्राओं के कार्य हैं, अत: इनको 'मात्रा' कहते हैं । वराहोपनिषद् में भी लिखा है कि - **पञ्चशब्दादयस्तथा'** (वराहोप. अ. १, श्रु. ३) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय ॥३॥ इनके श्रोत्रादि के साथ सम्बन्ध को स्पर्श कहते हैं । श्रोत्रादि के विषय में कहा गया है -

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादय: ॥ (वराहोप. १ श्रु. २)

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण ये ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ॥२॥ भगवान् कहते हैं कि इन श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ उन शब्दादि विषयों के संयोग शीत, उष्ण, मृदु, कठोर आदि के रूप में सुख-दु:खों को देनेवाले होते हैं । मनोनुकूल को सुख और मन के प्रतिकूल होने को दु:ख कहते हैं । यहाँ शीत-उष्ण शब्द उपलक्षण के लिए हैं । अत: इनसे शस्त्रपातादि द्वारा होने वाले सभी प्रकार के सुख-दु:खों को ग्रहण करना चाहिए । उन विषय और इन्द्रियों के संयोग को तू युद्धादि शास्त्रीय कर्मों की समाप्ति पर्यन्त धैर्यपूर्वक सहन करता रह । वे आगमापायी यानीआने-जाने वाला होने के कारण धैर्यशील पुरुषों द्वारा सहन (उपेक्षा) करने योग्य हैं और ये अनित्य भी हैं, तात्पर्य यह कि बन्धन के हेतुभूत कर्मों का नाश होने पर नष्ट हो जाते हैं और आगमापायी (उत्पत्ति-विनाशशील) होने से भी इनका नाश होना स्वाभाविक है ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

अन्वय :- **पुरुषर्षभ ! हि समदु:खसुखं यं धीरं पुरुषं एते न व्यथयन्ति स: अमृतत्वाय कल्पते ।**

अर्थ :- हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! क्योंकि सुख और दु:ख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये*(विषय और इन्द्रिय के संयोग) व्यथित नहीं करते, वही अमृतत्व का पात्र होता है ।

व्याख्या :- भगवान् यहाँ पर अर्जुन को 'पुरुषर्षभ' सम्बोधन देकर बताते हैं कि तुम पुरुषों में 'ऋषभ' यानी श्रेष्ठ हो । इसीलिए नरोत्तम होने के कारण तुम्हें राजन्य धर्म से नहीं हटना चाहिए और विषयों के संयोग को सहज ही सहन करना चाहिए । उनको क्यों सहन करना चाहिए इसे बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि अनिवार्य दु:ख को सुख के समान समझने वाले तथा मोक्ष का साधन मानकर फलाभिसन्धिरहित स्ववर्णोचित युद्धादि कर्मों को करने वाले जिस धैर्यवान् पुरुष को उन कर्मों का अनुष्ठान करते समय होने वाले शस्त्रपातादि के कोमल-कठोर स्पर्श व्यथित नहीं कर सकते, वही अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है । श्रुति कहती है-

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् । (मुण्डकोपनिषद् मु. ३, ख. २, श्रु. ४)
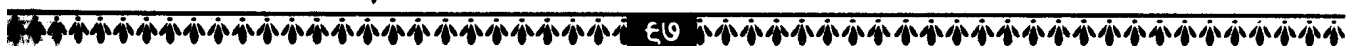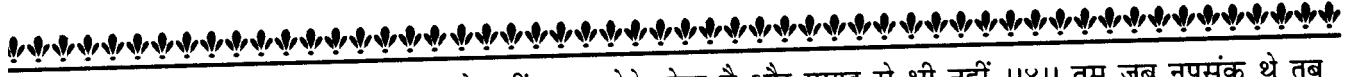
यह आत्मा बल से रहित पुरुष से नहीं प्राप्त होने योग्य है और प्रमाद से भी नहीं ।।४।। तुम जब नपुसंक थे तब भीष्म, द्रोणादि को मार कर गौ की रक्षा तूने की और इस समय जब वीरता दिखाने का समय आया तब स्वयं नपुंसकता को ग्रहण कर रहे हो और प्रमाद से स्वयं ज्ञानी बनकर कह रहे हो कि मैं युद्ध न करूँगा । तात्पर्य यह कि तुम जैसा दुःख सहन न कर सकने वाला अमृतत्व नहीं प्राप्त कर सकता । अतः आत्मा नित्य होने के कारण यहाँ इतना ही (इन सबको सहन करना ही) तुम्हारा कर्तव्य है, यह अभिप्राय है ।।१५।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।१६।।

अन्वय :- **असतः भावः न विद्यते तु सतः अभावः न विद्यते । तत्त्वदर्शिभिः अनयोः उभयोःअपि अन्तः दृष्टः ।**

अर्थ :- असत् का (शरीर का) भाव नहीं है और सत् का (आत्मा का) अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनों का यह निर्णय (अन्तः) तत्त्वज्ञानियों द्वारा प्रत्यक्ष किया गया है ।

व्याख्या :- असत् का (शरीर का) भाव नहीं है और सत् का (आत्मा का) अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनों का यह निर्णय तत्त्वज्ञानियों द्वारा प्रत्यक्ष किया गया है ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः । (गी. २।११)

पण्डित लोग मरणशील शरीरों के लिये और अविनाशी आत्माओं के लिए भी शोक नहीं करते ।।११।। इस श्लोक में आत्माओं के नित्यत्व और शरीरों के स्वाभाविक विनाशित्व को जो शोकनिवृत्ति का उपाय बताया गया है, उसी का उपपादन करने के लिये अगला प्रसंग आरम्भ किया जाता है । भगवान् कहते हैं कि असत् का- (देह का) सद्भाव (होनापन) नहीं है और सत्-आत्मा का असद्भाव (न होनापन) नहीं है । जानने में आने वाले देह और आत्मा-इन दोनों का यह अन्त-निर्णय यथार्थ ज्ञान-सम्पन्न तत्त्वदर्शी पराशरादिकों के द्वारा देखा गया है ।

निरूपण का अन्त निर्णय में होता है, इसलिये यहाँ निर्णय को 'अन्त' शब्द से कहा गया है । अभिप्राय यह कि देह का -अचित् (जड़) वस्तु का असत्ता ही स्वरूप है और आत्मा का-चेतन का सत्ता ही स्वरूप है, यह निर्णय देखा गया है । विनाशी (एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदल जानेवाले) स्वभाव का ही नाम 'असत्ता' है और अविनाशी (सदा एकरूप रहने वाले) स्वभाव का नाम 'सत्ता' है । जैसा कि भगवान् पराशरजी ने कहा है -

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुजातम् । (वि. पु. २।१२।४३)

इसलिये हे द्विज ! विज्ञान से अतिरिक्त कहीं, कभी, कोई भी वस्तु नहीं है ।।४३।।

सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत् । (वि. पु. २।१२।४५)

इस प्रकार मैंने तुमसे सद्भाव (परमार्थ) का वर्णन किया । केवल ज्ञान यानी आत्मा ही सत्य है, उससे भिन्न सब कुछ असत्य है ।।४५।।
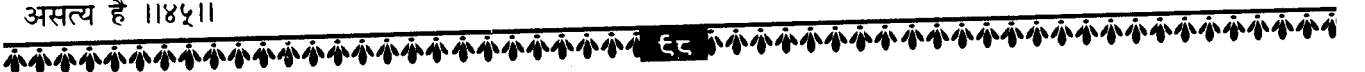
अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ।
तत्तु नाशि न संदेहो नाशिद्रव्योपपादितम् ॥ (वि. पु. २।१४।२४)

ज्ञानी पुरुषों ने यही स्वीकार किया है कि परमार्थ वस्तु अविनाशी है, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि जो नाशवान् वस्तु से उत्पादित है, वह तो नाशवान् ही है ॥२४॥

यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै ।
परिणामादिसंभूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम् ॥ (वि. पु. २।१३।१००)

हे राजन् ! जो वस्तु कालान्तर में भी कभी परिणाम आदि के कारण होने वाली किसी अन्य संज्ञा को नहीं प्राप्त होती, वही सद्वस्तु है, हे राजन् ! वह वस्तु क्या है (ज्ञानस्वरूप आत्मा) ॥१००॥

गीता में भी कहा गया है -

'अन्तवन्त इमे देहाः ।' (गी. २।१८)

ये सब शरीर अन्तवाले हैं ॥१८॥

'अविनाशी तु तद्विद्धि' (गी. २।१७)

अविनाशी तो उसको समझना चाहिए ॥१७॥

ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथन भी सत्त्व और असत्त्व का लक्षण करने के लिए ही है । क्योंकि यहाँ सत्कार्यवाद सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये यह श्लोक सत्कार्यवाद सम्बन्धी नहीं है । देह और आत्मा के स्वभाव को न जानने के कारण मोहित हुए मनुष्य के प्रति उसका मोह मिटाने के लिये उन दोनों (देह और आत्मा) के क्रम से नाशित्व और अविनाशित्वरूप स्वभाव का विवेचन कर देना ही इस श्लोक का अभिप्राय है ।

यही विषय **'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति'** (गी. २।११) मरणशील शरीरों के लिये और अविनाशी आत्माओं के लिये भी शोक नहीं करते ॥११॥ इस श्लोक में प्रस्तुत किया गया है और **'अविनाशी तु तद्विद्धि'** (गी. २।१७) अविनाशी तो उसको समझना चाहिए ॥१७॥

'अन्तवन्त इमे देहाः' (गी. २।१८) ये सब शरीर अन्तवाले हैं ॥१८॥ 'इन अगले श्लोकों में इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है । अतः इस श्लोक का अर्थ जैसा किया गया है वही ठीक है । इस श्लोक में **'तत्त्वदर्शिभिः'** पद है इससे मैं तत्त्व को कह देता हूँ कि - १-चित् तत्त्व, २-अचित् तत्त्व, ३-ब्रह्म तत्त्व हैं । क्योंकि श्रुति स्मृति में इस प्रकार कहा गया है -

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः । (श्वे. उ. ६।१६)

वह गुणेश्वर प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) दोनों का स्वामी है ॥१६॥

पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम् । (तै. ना. १०)

विश्व के पति और आत्मरूप सनातन शिव अच्युत ईश्वर को ।।१०।।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ । (श्वे. उ.१।९)

ज्ञानी और अज्ञानी, ईश्वर और अनीश्वर (जीवात्मा) ऐसे दो अजन्मा चेतन ।।९।।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥ (श्वे. उ. ६।१३)

जो नित्यों का भी नित्य है, चेतनों का भी चेतन है और अकेला ही बहुतों की कामना पूर्ण करता है ।।१३।।

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा । (श्वे. उ. १।६)

भोक्ता, भोग्य और प्रेरक को पृथक् जानकर ।

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ (श्वे. उ. १।६)

आत्मा और उसके प्रेरक को पृथक्-पृथक् समझकर फिर परमात्मा का प्रेमपात्र बना हुआ जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है ।।६।।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति । (मु. उ. ३।१।१)

इन दोनों में एक फलों का स्वाद लेता हुआ उसका भोग करता है और दूसरा उसे नहीं खाता हुआ हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्न रहता है ।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ (श्वे. उ. ४।५)

लाल (रजोगुण) सफेद (सत्त्वगुण) और काले (तमोगुण) रंगवाली अपने अनुरूप बहुत-सी सन्तानों को जन्म देने वाली अकेली अजा का (माया को) एक अज (जीव) अनुकूल होकर प्रेमपूर्वक भोग करता है और दूसरा अज (परमात्मा) उस भुक्तभोगा का त्याग कर देता है ।।५।।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (गी. ९।१०)

हे अर्जुन ! मुझ अध्यक्ष के द्वारा प्रेरित प्रकृति समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न करती है, इस हेतु से यह जगत् चलता रहता है ।।१०।।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । (गी. १३।१९)

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही तू अनादि जान ।।१९।।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ (गी. १४।३)

हे भारत ! सम्पूर्ण जगत् का कारणभूत जो महद्ब्रह्म यानी मेरी प्रकृति है, उसमें मैं गर्भ स्थापन करता हूँ । उससे यानी मेरे सत्यसंकल्प द्वारा किये गये परा-प्रकृति जीव के पुञ्जरूप राशि का अपराप्रकृति के संयोग से ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है ।।३।। इस प्रकार चित् तत्त्व, अचित् तत्त्व और ब्रह्म तत्त्व का वर्णन किया गया है ।।१६।।

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।१७।।

अन्वय :- **येन सर्वमिदं ततम् तत् तु अविनाशी विद्धि । कश्चित् अस्य अव्ययस्य विनाशं कर्तुम् न अर्हति ।**

अर्थ :- जिससे यह सम्पूर्ण (जड़वर्ग) व्याप्त है, उस (चेतन आत्म तत्त्व) को तू अविनाशी जान । इस अविनाशी का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है ।

व्याख्या :- आत्मा का अविनाशित्व कैसे सिद्ध होता है; इस विषय में भगवान् यहाँ कहते हैं कि जिस चेतन आत्मतत्त्व के द्वारा, उससे भिन्न यह समस्त अचेतन (जड़) तत्त्व व्याप्त है, उस आत्मतत्त्व को तू अविनाशी समझ । **'यन्न व्येति तदव्ययम्'** (महाभाष्य) जिसका कभी विकार न हो उसको अव्यय कहते हैं । यह जो विकार रहित आत्मा व्यापक होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म होने से नष्ट होने योग्य नहीं है, उस आत्मतत्त्व का उससे भिन्न अन्य कोई भी पदार्थ विनाश नहीं कर सकता; क्योंकि जड़ पदार्थ उससे स्थूल होने के कारण उस (आत्मतत्त्व) के व्याप्य हैं । शस्त्र, जल, अग्नि, वायु आदि जितने भी नाशक पदार्थ हैं, वे जिसका नाश करना होता है, उसमें प्रवेश करके उसको शिथिल-नष्ट करते हैं । मुद्गर आदि भी वेगयुक्त संयोग से वायु उत्पन्न करके उसके द्वारा ही उसका नाश करते हैं; परन्तु आत्मतत्त्व इन सबकी अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण ये सब उसमें प्रवेश नहीं कर सकते । अतएव आत्मतत्त्व अविनाशी है ।।१७।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।

अन्वय :- **अनाशिनः अप्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिणः इमे देहाः, अन्तवन्तः उक्ताः तस्मात् भारत युध्यस्व ।**

अर्थ :- अविनाशी अप्रमेय (अमाप) नित्य शरीरी (यानी शरीरधारक आत्मा) के ये सब शरीर नाशवान् या अन्त प्राप्त होने वाले कहे गये हैं, इसलिए हे भारत ! तू (शोक त्यागकर) युद्ध कर ।

व्याख्या :- देहों का स्वभाव ही नष्ट होना है, इस बात को समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि हे भारत ! यानी धर्मप्राण भारत में उत्पन्न होने वाले भारत ! 'देह' शब्द **'दिह उपचये'** इस धातु से बनता है, अतः उपचय अर्थात् अनेक अवयवों

क्र संघातरूप ये सब देह अन्तवान् विनाशशील हैं; वराहोपनिषद् में लिखा है कि-

षड्भावविकृतिश्चास्ति जायते वर्धतेऽपि च ।
परिणामं क्षयं नाशं षड्भावविकृतिं विदुः ॥ (वराहोप. अ. १, श्रु. ८)

षड्भाव विकृति हैं । १. है, २. उत्पन्न हुआ, ३. बढ़ता है, ४. परिणाम होता है, ५. क्षीण होता है, ६. नाश होता है । इन छः को भाव-विकृति सज्जन जानते हैं ॥८॥

अशना च पिपासा च शोकमोहौ जरामृतिः ।
एते षडूर्मयः प्रोक्ताः..................................॥९॥

और १. खाना, २. पीना, ३. शोक करना, ४. मोह करना, ५. बुढ़ापा और ६. मरण ये छः देह की उर्मियाँ कही गयी हैं ॥६॥

अवयवों के संघातरूप सभी घटादि पदार्थ अन्तवान् देखे गये हैं । नित्य आत्मा को कर्मफल भुगताने के लिए उत्पन्न भूत संघातरूप ये शरीर, जो-'पुण्यः पुण्येन' (बृ. उ. ४।४।५) पुरुष पुण्यात्मा होता है, अर्थात् पवित्र शरीर धारण करता है ॥५॥ इत्यादि शास्त्रों में बतलाये गये हैं, कर्मों की समाप्ति के साथ-साथ नष्ट होने वाले हैं, परन्तु आत्मा अविनाशी है, क्योंकि वह अप्रमेय (किसी माप-तौल या गणना से परिमाण में न आने वाली) है । आत्मा (शरीरादि की भाँति) प्रमेय रूप से उपलब्ध नहीं होती, बल्कि प्रमाता रूप से होती है । यह बात गीता में भी कहेंगे कि -

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ (गी. १३।१)

जो इसको जानता है उसको ज्ञानीजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥१॥

आत्मा अनेक अवयवों के समुदाय रूप में उपलब्ध नहीं होती । सारे शरीर में 'मैं इसको जानता हूँ' इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा की प्रमाताभाव से एक रूप में ही उपलब्धि होती है तथा देह आदि की भाँति देशभेद में प्रमाता आत्मा का आकारभेद नहीं प्राप्त होता; अतः एक रूप होने, अनेक अवयवों का समुदाय न होने एवं प्रमाता और व्यापक होने के कारण आत्मा नित्य है । देह अनेक अवयवों का समुदाय, आत्मा को कर्मफल भुगताने के लिए उत्पन्न-अनेक रूप और व्याप्त होने के कारण विनाशशील है । अतएव देह का स्वभाव विनाशी और आत्मा का स्वभाव नित्य होने के कारण दोनों ही शोक के विषय नहीं हैं, इसलिए शस्त्रपातादि अनिवार्य कठोर स्पर्शों को, जो कि अपने को और दूसरों को प्राप्त होने वाले हैं, धैर्य के साथ सहन करता हुआ तू अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए फलाभिसन्धिरहित युद्ध रूप कर्म का आरम्भ कर ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ (गी. २।३१)

क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्म रूप युद्ध से बढ़कर दूसरा कुछ भी कल्याणकारक नहीं है ॥३२॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

अन्वय :- य: एनं हन्तारं वेत्ति च य: एनं हतं मन्यते तौ उभौ न विजानीत:, अयं न हन्ति, न हन्यते ।

अर्थ :- इसे (यानी पूर्वोक्त इस आत्मा को) जो मारनेवाला समझता है, या मारा गया ऐसा जो मानता है वे दोनों ही नहीं जानते (यानी रहस्य नहीं समझते) क्योंकि यह शरीरी न तो किसी को मारता है न मारा जाता है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में 'एनम्' पद अन्वादेश है । **'उक्तस्य पुनरुक्तमन्वादेश:'** कही हुई बात को जो फिर से कहा जाता है उसको अन्वादेश कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि जो अविनाशी, नित्य, अप्रमेय रूप से पूर्वोक्त स्वभाव वाले इस आत्मा तत्त्व को मारने वाला-किसी को मारने में हेतु समझता है और जो इसे (आत्मा को) किसी भी हेतु से मरा समझता है, वे दोनों ही नहीं जानते । पहले बतलाये हुए कारणों से यह आत्मा नित्य है, अतएव यह किसी को मारने में हेतु नहीं होती और इसीलिए यह किसी से मारी भी नहीं जाती । यद्यपि यहाँ हिंसार्थक 'हन्' धातु का कर्म आत्मा है, तथापि उसका अर्थ शरीर से आत्मा का वियोग करना ही है, आत्मा को नष्ट करना नहीं । **न हिंस्यात् सर्वाभूतानि'** (श्रुति) समस्त प्राणियों की हिंसा से बचना चाहिए' ॥

'ब्राह्मणो न हन्तव्य:' (क. स्मृ. ८।२) ब्राह्मण मारने योग्य नहीं है ।।२।। इत्यादि शास्त्र वाक्य भी अविहित शरीर-वियोग करने का ही प्रतिषेध करने वाले हैं । कठोपनिषद् में भी गीता के इस श्लोक के भाव को लिखा है कि -

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ (कठोप. १।२।१६)

आत्म तत्त्व को जो मारने वाला जानता है और जो इसको मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है ।।१६।।१६।।

न जायते म्रियते वा कदाचि-न्नायं भूत्वा भविता वा न भूय: ।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

अन्वय :- अयं न कदाचित् जायते वा न म्रियते, वा न भूत्वा भूय: भविता । अयम् अज: नित्य: शाश्वत: पुराण:शरीरे हन्यमाने न हन्यते ।

अर्थ :- यह शरीरी (यानी आत्मा) न कभी जन्म लेता और न मरता है और न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता ।

व्याख्या :- पहले कहे गये कारणों से ही आत्मा नित्य और परिणामरहित होने के कारण उसमें अचेतन (जड़) देह के जन्म-मरणादि समस्त धर्म नहीं हैं, यह बात भगवान् यहाँ पर कहते हैं कि 'आत्मा जन्मती और मरती नहीं' इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान साधारण दृष्टि से सब शरीरों में सबके अनुभव में आने वाले जन्म और मृत्यु कभी किसी

भी समय आत्मा का स्पर्श नहीं करते । 'यह आत्मा होकर फिर नहीं होने वाली है' सो नहीं यानी 'यह कल्प के आरम्भ में उत्पन्न होकर फिर कल्प के अन्त में नहीं रहेगी' यह बात नहीं है । अभिप्राय यह कि किन्हीं प्रजापति आदि के शरीरों में कल्प के आरम्भ में होने वाले जन्म और कल्प के अन्त में होने वाले मरण, जो शास्त्रों में पाये जाते हैं, वे भी आत्मा का स्पर्श नहीं करते । अतएव चींटी से लेकर ब्रह्मा तक सभी देहों में स्थित आत्मा अजन्मा है; इसलिये नित्य है । नित्य के विषय में लिखा है कि- **'ध्वंसभिन्नत्वे सति ध्वंसाभावप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्'** जो ध्वंस से भिन्न हो और ध्वंस के अभाव के प्रतियोगी हो उसे नित्य कहते हैं । और शाश्वत है, प्रकृति की भाँति निरन्तर होने वाले अविशद (संकुचित-सूक्ष्म) परिणाम भी इसमें नहीं होते । इसीलिए यह पुराण पुरातन होने पर भी नवीन है । सर्वदा अपूर्व की भाँति ही अनुभव में आनेवाला है । अतएव शरीर के मारे जाने पर भी यह आत्मतत्त्व मारा नहीं जाता । कठोपनिषद् में इस श्लोक के भाव को इस प्रकार कहा गया है -

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (कठोप. १।२।१८)

यह आत्मा नहीं उत्पन्न होती है और न मरती है । (यह इस समय में भी जन्म-मरण-शून्य है) किसी से कोई भी जीव नहीं हुआ है । यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुराण है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारी जाती ।।१८।।२०।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

अन्वय :- **पार्थ ! यः पुरुषः एनं अविनाशिनं नित्यं अजं अव्ययं वेद सः कथं कं घातयति कं हन्ति ?**

अर्थ :- हे पार्थ ! जो पुरुष इस आत्मा को विनाशहीन यानी अविनाशी, नित्य अजन्मा और अव्यय (रूप में) जानता है, वह कैसे किसी को मरवाता है ? या मारता है ।

व्याख्या :- यहाँ 'पार्थ' सम्बोधन देकर भगवान् यह बताते हैं कि तुम वीरप्रसवा हमारी बूआ पृथा के नन्दन होकर अपनी माता की निन्दा मत कराओ । इस श्लोक में 'एनम्' पद अन्वादेश है । भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार जो पुरुष पूर्वोक्त इस आत्मा को जन्मरहित, विनाशरहित और व्ययरहित होने के कारण नित्य जानता है, वह देवता, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावर शरीरों में स्थित आत्माओं में से किसी भी आत्मा को कैसे मरवा सकता है, अथवा कैसे किसी को मार सकता है ? तात्पर्य यह कि कैसे किसी का नाश कर सकता है, अथवा कैसे इस कार्य के लिये किसी दूसरे का नियोजक हो सकता है ? अभिप्राय यह कि इन आत्माओं को 'मैं मरवाता हूँ और मारता हूँ'' इस प्रकार का शोक आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही होता है ।।२१।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

अन्वय :- **नरः यथा जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि गृह्णाति तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय अन्यानि नवानि संयाति ।**

अर्थ :- मनुष्य जैसे जीर्ण यानी पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार देही या शरीरी पुराने शरीरों को छोड़कर नवीन शरीरों को प्राप्त करता है, यानी नये शरीरों में चला जाता है ।

व्याख्या :- यद्यपि नित्य आत्माओं का शरीरों से वियोगमात्र ही किया जाता है, तथापि रमणीय भोगों के साधन शरीरों का नाश होने पर उनसे वियोग होना रूप शोक का कारण तो प्रत्यक्ष है ही, इस पर भगवान् कहते हैं कि धर्मयुद्ध में शरीर त्याग करने वालों को उस छोड़े हुए शरीर की (विविध भोगयुक्त नृप शरीर की) अपेक्षा अधिकतर कल्याणमय (दिव्य देवादि का) शरीर मिलता है, ऐसा शास्त्र से जाना जाता है । पराशर स्मृति के तृतीय अध्याय में लिखा है कि -

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमंडलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखोहतः ॥ (परा. स्मृ. ३।३२)

संसार में ये दो मनुष्य सूर्य मण्डल को भेद कर ब्रह्मलोक को जाते हैं, एक तो योगी संन्यासी ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय रणभूमि में सन्मुख होकर जो मरा है ।।३२।।

इसलिये भीष्म, विराट, द्रुपद अन्य सभी के मारे जाने पर तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है । शरीर के परिवर्तन होने का दृष्टान्त देकर भगवान् समझाते हैं । यहाँ 'नरः' एक वचन और 'वासांसि' बहुवचन बोलते हैं । तात्पर्य यह कि एक मनुष्य को कम से कम तीन वस्त्र (धोती, चादर, गमछा) अवश्य रखना चाहिए । 'जीर्ण' शब्द पुराना वाचक नहीं है क्योंकि बहुत से अमीर लोग जीर्ण होने के पूर्व ही वस्त्रों को त्याग देते हैं तथा अन्य कई लोग अति फटने पर भी वस्त्रों को पहनते हैं । इसलिये यहाँ पर 'जीर्ण' शब्द भोगजीर्ण वाचक है । अभिप्राय यह कि जैसे मनुष्य जीर्णभोग वाले वस्त्रों को त्यागकर नवीन भोग वाले वस्त्रों को पहनते हैं । वैसे ही जीर्णभोगवाले शरीरों को छोड़कर आत्मा नवीन भोगवाले शरीरों को ग्रहण करती है । यहाँ पर 'देही' शब्द एक वचन और 'शरीराणि' बहुवचन का प्रयोग किया गया है । तात्पर्य यह कि एक आत्मा के तीन शरीर होते हैं । वाराहोपनिषद् में लिखा है कि-

देहत्रयं स्थूलसूक्ष्मकारणानि विदुर्बुधाः ॥ (वराहोप. १।६)

बुधजन स्थूल, सूक्ष्म, कारण भेद से शरीर तीन प्रकार के जानते हैं ।।६।। शरीर के साथ 'जीर्ण' शब्द पुराना वाचक नहीं है क्योंकि युवा, बाल सभी अवस्था में आत्मा शरीर का त्याग करती है । इसलिये जीर्ण भोगवाला जैसा कह चुका हूँ उसी का वाचक है । अर्थात् जितने दिन तक की आयु प्राणी को भोगने के लिये मिली है वही उसकी जीर्णावस्था है । 'शरीर' शब्द से इस पाञ्चभौतिक शरीर की **'शीर्यते यत् तत्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार नश्यमान स्वभावता का ही ज्ञान होता है । अतएव पुराने वस्त्रों को त्यागकर नवीन उत्तम वस्त्रों के धारण करने वालों की भाँति यह शरीरों का परिवर्तन यहाँ हर्ष का ही निमित्त जान पड़ता है ।।२२।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२३।।

अन्वय :- **शस्त्राणि एनम् न छिन्दन्ति, पावकः एनम् न दहति,आपः एनं न क्लेदयन्ति च मारुतः न शोषयति ।**

अर्थ :- शस्त्र इसे (पूर्वोक्त इस आत्मा को) काट नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे गला नहीं सकता (अथवा गीला नहीं कर सकता) और न हवा सुखा सकती है ।

व्याख्या :- इस श्लोक से पहले बतलाये हुए आत्मा के अविनाशीपन को सुखपूर्वक ग्रहण करने के लिए पुनः स्पष्ट रूप से वर्णन करते हुए दृढ़ करते हैं । **'शसु हिंसायाम्'** इस धातु से 'शस्त्र' शब्द निष्पन्न होता है । इस श्लोक में 'शस्त्र' शब्द उपलक्षण के द्वारा अस्त्र का भी वाचक है । **'असु क्षेपणे'** धातु से 'अस्त्र' बनता है । जिसे हाथ से फेंककर प्राणवियोगानुकूल व्यापार किया जाता है उसे 'अस्त्र' कहते हैं जैसे चक्र और बाण । जिसे हाथ में रखते हुए प्राणवियोगानुकूल व्यापार किया जाता है उसे शस्त्र कहते हैं, जैसे गदा और खड्ग । इससे इसका यह अर्थ हुआ कि- शस्त्र और अस्त्र, इस आत्मा को काट नहीं सकते । अग्नि चार प्रकार की है - १. भौम अग्नि, २. दिव्य अग्नि, ३. औदर्य अग्नि, ४. आकरज अग्नि । त्यक्तानुबन्धग्रहण से बताते हैं कि चारो प्रकार की अग्नि इसे जला नहीं सकती तथा समस्त जल और उच्छ्वास वायु इसे भींगा और सुखा नहीं सकते; क्योंकि आत्मा सर्वव्यापी है एवं सब तत्त्वों में व्यापक स्वभाव वाला होने से सब तत्त्वों से सूक्ष्म है; इसलिये वे इसको व्याप्त नहीं कर सकते तथा काटना, जलाना, भिंगोना और सुखाना व्याप्त होकर ही किया जाता है । (**'पूञ् पवने'** धातु से 'पावक' बनता है । इससे पवित्र अग्नि की ओर संकेत करते हुए भगवान् शिक्षा देते हैं कि जिस प्रकार हव्यादि खाने वाली अग्नि पवित्र और मांस खाने वाली श्मशानाग्नि अपवित्र होती है उसी प्रकार अग्नि की भाँति मुख से उत्पन्न ब्राह्मण भी यदि मांस खाने वाला हो तो वह अपवित्र हो जाता है और उसे यज्ञादि कार्य में नहीं रखना चाहिए) ।।२३।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२४।।

अन्वय :- **अयं अच्छेद्यः, अयं अदाह्यः अक्लेद्यः च अशोष्यः एव । अयं नित्यः सर्वगतः अचलः स्थाणुः सनातनः ।**

अर्थ :- यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और निश्चय ही अशोच्य है ।' यह नित्य सर्वगत यानी सर्वव्यापी, अचल, स्थिर स्वभाव, (यानी स्थाणु) एवं सनातन है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में क्रिया नहीं है । जहाँ कोई क्रिया नहीं रहती वहाँ 'अस्ति' क्रिया का आक्षेप होता है, इससे 'अस्ति' क्रिया का आक्षेप करके मैं अर्थ कहता हूँ कि-यह आत्मा शस्त्र अस्त्रादि से छेदन करने योग्य नहीं है तथा भौम, दिव्य, औदर्य, आकरज अग्नियों से जलाने योग्य नहीं है और समुद्र, सरिता, सरोवर, वर्षा, कूपादि जलों से भिंजाने योग्य नहीं है और निश्चय करके मरीच्यादि उच्छ्वास वायुओं से सुखाने योग्य नहीं हैं । अतएव यह आत्मा नित्य, स्थाणु, अचल

और सनातन-स्थिर स्वभाव है, किसी से भी विचलित नहीं की जा सकने वाली और पुरातन है ।।२४।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

अन्वय :- **अयं अव्यक्त: अयं अचिन्त्य: अयं अविकार्य:उच्यते । तस्मात् एनं एवं विदित्वा अनुशोचितुम् न अर्हसि ।**

अर्थ :- यह शरीरी (यानी आत्मा) अव्यक्त है, यह अचिन्त्य है, यह निर्विकार कहलाता है । इसलिए इस आत्मा को ऐसा जानकर (इसके लिए) तुझे शोक नहीं करना चाहिये ।

व्याख्या :- आत्मा के स्वरूप को बताते हुए भगवान् कहते हैं कि काटने आदि की योग्य वस्तुएँ जिन प्रमाणों से व्यक्त की जा सकती हैं, उन प्रमाणों से यह आत्मा व्यक्त नहीं की जा सकती; इसलिए आत्मा अव्यक्त है । अत: जिन वस्तुओं को काटा-जलाया आदि जा सकता है, उनका यह विजातीय (उनसे सर्वथा भिन्न) है और समस्त वस्तुओं से विजातीय होने के कारण उन-उन वस्तुओं के स्वभाव से युक्त मानकर इसका चिन्तन भी नहीं किया जा सकता । अत: यह अचिन्त्य है तथा इसीलिए अविकारी है, विकार के योग्य नहीं है । ऐसा आदि कवि वाल्मीकि, भगवान् पाराशर श्रीवेदव्यास ने स्पष्ट अपने ग्रन्थों में कहा है । अतएव उक्त लक्षणोंवाली इस आत्मा को जानकर तुझे इसके लिए शोक नहीं करना चाहिए ।।२५।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

अन्वय :- **महाबाहो ! अथ एनम् नित्यजातं वा नित्यं मृतम् च मन्यसे, तथापि त्वं एवं शोचितुम् न अर्हसि ।**

अर्थ :- हे महाबाहो ! यदि तू इसे सदा जन्मनेवाला और सदा मरने वाला (शरीर) ही माने, तौभी तुझे इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है ।

व्याख्या :- 'अथ' शब्द यहाँ अनन्तर वाचक है । अब विषयान्तर को प्रारंभ करते हुए भगवान् कहते हैं कि हे दीर्घभुजावाले ! सत्सम्प्रदायानुसार यह आत्मा नित्य, स्थाणु, अचल और सनातन है । ऐसा जानकर तुझे इसके लिए शोक नहीं करना चाहिए । अब मैं तुझसे देहात्मवाद को लेकर कहता हूँ कि यदि सदा जन्मने और मरने वाले शरीर को ही तू आत्मा माने, आत्मा को शरीर से भिन्न उपर्युक्त लक्षणों वाली न माने तो भी तुझे इस प्रकार अतिमात्रा में (जिनका वर्णन पहले अध्याय के अट्ठाइसवें श्लोक से सैंतालिसवें श्लोक तक किया गया है) शोक करना उचित नहीं है; क्योंकि परिवर्तनशील शरीर के उत्पत्ति और विनाश अनिवार्य हैं ।।२६।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

अन्वय :- **हि जातस्य ध्रुवः मृत्युः च मृतस्य ध्रुवं जन्म । तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वं शोचितुम् न अर्हसि ।**

अर्थ :- क्योंकि जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है, इसलिए इस अनिवार्य (या अवश्यम्भावी) परिणाम के लिए तुझे शोक नहीं करना चाहिए ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि उत्पन्न वस्तु का विनाश निश्चित (अनिवार्य) देखा जाता है । इसी प्रकार नष्ट वस्तु का जन्म भी अनिवार्य है ।

प्रश्न- नष्ट वस्तु की उत्पत्ति (अनिवार्य) है, यह कैसे सिद्ध होता है ?

उत्तर- सत् की ही उत्पत्ति देखी जाती है, असत् की नहीं देखी जाती । उत्पत्ति और विनाश - ये दोनों सत् द्रव्य के अवस्था-विशेष हैं । तन्तु (सूत्र) आदि द्रव्य सत् रहते हुए ही रचना-विशेष से युक्त होकर पट (वस्त्र) आदि नामों से कहे जाते हैं । असत्कार्यवादी भी (तो) यही मानते हैं; क्योंकि उस वस्त्र में सूत्रों की विशेषरूप से स्थापना के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं दिखलाई देता । ऐसा मानने से ही कर्ता के व्यापार की, वस्तु के नामान्तर-धारण की और व्यवहार भेद की सफलता होती है, द्रव्यान्तर की कल्पना उचित नहीं है । अतः यह सिद्ध है कि उत्पत्ति और विनाश आदि सत् द्रव्य के ही अवस्था-विशेष हैं ।

उत्पत्ति नामक अवस्था को प्राप्त द्रव्य का उससे विरोधी दूसरी अवस्था को प्राप्त होना ही विनाश कहलाता है ।

मिट्टी रूप द्रव्य को पिण्डत्व, घटत्व, कपालत्व और चूर्णत्व प्राप्त होने की भाँति प्रत्येक परिणामी द्रव्य की परिणाम-परम्परा अनिवार्य है । वहाँ केवल पूर्वास्थित द्रव्य का दूसरी अवस्था को प्राप्त होना ही उसका नाश है और वही उस दूसरी अवस्था को प्राप्त द्रव्य की उत्पत्ति है। इस प्रकार परिवर्तनशील द्रव्य की यह उत्पत्ति-विनाश रूप परिणाम -परम्परा अनिवार्य है, अतः उसके विषय में तुझे शोक करना उचित नहीं है ।।२७।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२८।।

अन्वय :- **भारत ! भूतानि अव्यक्तादीनि अव्यक्तनिधनानि व्यक्तमध्यानि एव, तत्र का परिदेवना ।**

अर्थ :- हे भारत ! मनुष्यादि प्राणी के शरीरों की आदि यानी पूर्वावस्था अव्यक्त है यानी प्रत्यक्ष नहीं है, और निधनोपरान्त की अवस्था भी प्रत्यक्ष नहीं है, केवल मनुष्यत्वादि मध्य की वर्तमान अवस्था ही प्रत्यक्ष है, फिर इसके विषय में चिन्ता कैसी ?

व्याख्या :- सत् वस्तु को पूर्वावस्थाविरोधी दूसरी अवस्था की प्राप्ति देखकर जो थोड़ा शोक हुआ करता है, वह भी मनुष्य आदि प्राणियों के लिये नहीं बन सकता, यह समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि - हे भरत-वंशोत्पन्न ! ये मनुष्यादि प्राणी ऐसे ही सत् द्रव्य हैं जिनकी पूर्वावस्था-(जन्म से पूर्व की अवस्था) उपलब्ध (प्रत्यक्ष) नहीं है और उत्तरावस्था-(मृत्यु के बाद की अवस्था) भी उपलब्ध नहीं है केवल मनुष्यत्वादि मध्य की अवस्था-वर्तमान अवस्था ही

प्रत्यक्ष है और ये अपने स्वभाव में ही बरत रहे हैं; अत: इनके विषय में शोक का कोई भी कारण नहीं है । यही बात महाभारत स्त्री-पर्व के दूसरे अध्याय में श्रीविदुर जी ने भी कही है -

अदर्शनादापतिता: पुनश्चादर्शनं गता: ।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ।। (महाभार. स्त्री. २।१३)

जिनको तुम अपना मान रहे हो ये सब अदर्शन से आए हुए थे यानी जन्म से पहले अव्यक्त थे और पुन: अदर्शन को प्राप्त हो गये । अत: वास्तव में न ये तुम्हारे हैं और न तुम इनके हो; फिर इस विषय में शोक कैसा ? ।।१३।।२८।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन - माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य: ।
आश्चर्यवच्चैनमन्य: शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।२९।।

अन्वय :- **कश्चित् एनम् आश्चर्यवत् पश्यति च तथा एव अन्य: आश्चर्यवत् वदति च अन्य: एनम् आश्चर्यवत् शृणोति च एनम् श्रुत्वा अपि कश्चित् एव न वेद ।**

अर्थ :- कोई एक ही इसे आश्चर्य की भाँति देखता है तथा कोई (यानी विरले कोई) दूसरा आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है । इसी तरह आश्चर्य की भाँति अन्य सुनता है, पर सुनकर भी इसे (यानी इसके यथार्थ रूप को) कोई नहीं जानता ।

व्याख्या :- भगवान् देहात्मवाद, शरीर को आत्मा मानने के सिद्धान्त में भी शोक का कोई कारण नहीं है, यह बात कहकर अब यह कहते हैं कि शरीर से भिन्न आश्चर्यस्वरूप आत्मा के द्रष्टा, वक्ता और श्रोता दुर्लभ हैं एवं केवल श्रवण के द्वारा आत्मस्वरूप का निश्चय होना भी दुर्लभ है ।

अनन्त जीवों में से कोई एक (पुरुष), जिसके पाप महान् तप के द्वारा क्षीण हो चुके हैं और जिसने पुण्य का सञ्चय कर लिया है, उपर्युक्त स्वभाव वाली इस आत्मा को अपने से अतिरिक्त समस्त वस्तुओं से सर्वथा विजातीय (भिन्न) रूप में आश्चर्य की भाँति स्थित देखता है और वैसा ही कोई महापुरुष दूसरों को बतलाता है, इसी प्रकार कोई एक ही सुनता है और सुनकर भी इस आत्मा को, यह जैसी है ठीक वैसा ही, तत्त्व से कोई नहीं जानता । इससे भगवान् का यह अभिप्राय है कि वेदान्त, गुरु-वाक्यों में जिनका विश्वास नहीं है वे इसे सुनकर भी नहीं जानते । जैसा उपनिषद् में कहा गया है कि प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन दोनों को आत्मतत्त्व सुनाया परन्तु इन्द्र ने विश्वास से जान लिया और विरोचन को गुरुवाक्य में विश्वास नहीं था, इसलिए नहीं जाना । अथवा स्थूल पदार्थ की तरह आत्मा नहीं जानी जाती । इसी श्लोक से मिलता हुआ कठोपनिषद् का मन्त्र इस प्रकार है-

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य: शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्यु: ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट: ।। (कठोप. १।२।७)

जो आत्मतत्त्व बहुत पुरुषों करके सुनने के लिये भी नहीं प्राप्त हो सकता और सुनते हुए भी बहुत से लोग जिस आत्मा को नहीं जान सकते, इस गूढ़ आत्मतत्त्व का बड़ा चतुर कहने वाला अचरजरूप बड़ा दुर्लभ है और इस आत्मतत्त्व का बड़ा चतुर पाने वाला भी आश्चर्यमय बड़ा दुर्लभ है और जिसे तत्त्व की उपलब्धि हो गई है ऐसे चतुर आचार्य के द्वारा शिक्षा प्राप्त किया हुआ, आत्मतत्त्व को जानने वाला अचरजरूप परम दुर्लभ है ।।७।।

इस श्लोक में 'चकार' से यह तात्पर्य है कि द्रष्टा, वक्ता और श्रोताओं में भी तत्त्व से देखना, तत्त्व से कहना और तत्त्व से सुनना दुर्लभ है ।।२६।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

अन्वय :- भारत ! सर्वस्य देहे अयं देही नित्यम् अवध्यः । तस्मात् सर्वाणि भूतानि त्वं शोचितुम् न अर्हसि ।

अर्थ :- हे भरतवंशी अर्जुन ! सबके देह में रहने वाला देही (यानी आत्मा) सदा अवध्य (यानी वध या नाश से परे) है । इसलिए इन सभी प्राणिवर्ग के लिए तुझे शोक नहीं करना चाहिये ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि हे धर्मप्राण भारत में रहने वाले ! यह मानना चाहिये कि देवादि समस्त जीवों के देहों का वध हो जाने पर भी यह देही-आत्मा नित्य अवध्य ही है । इसलिए देवों से लेकर स्थावरपर्यन्त सब प्राणी विषम आकार वाले होने पर भी उपर्युक्त स्वभाव के अनुसार स्वरूपतः समान और नित्य हैं । विषमता और अनित्यता तो केवल शरीर में ही है । अतः केवल भीष्मादि श्रेष्ठ पुरुषों के उद्देश्य से ही नहीं, देवादि सभी प्राणियों के उद्देश्य से भी तुझे शोक नहीं करना चाहिए ।।३०।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।३१।।

अन्वय :- च स्वधर्मम् अवेक्ष्य अपि विकम्पितुम् न अर्हसि । हि धर्म्यात् युद्धात् क्षत्रियस्य अन्यत् श्रेयः न विद्यते ।

अर्थ :- तथा अपने धर्म (युद्धरूपी क्षात्र धर्म) को देखकर भी तुझे विचलित या विकम्पित नहीं होना चाहिये, क्योंकि धर्मरूप युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय का दूसरा कुछ भी कल्याणकारक नहीं है ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण ने तृतीय अध्याय में भी कहा है कि -

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। (गी. ३।३५)

अच्छी तरह से अनुष्ठान किये हुए पराये धर्म से अपना गुणरहित भी धर्म श्रेष्ठ है । अपने धर्म में मरना भी श्रेष्ठ है (परन्तु) पराया धर्म भयकारक है ।।३५।।

और पुन: इस श्लोक के पूर्वार्ध को १८वें अध्याय में ४७ वें श्लोक में जोर देकर कहते हैं कि -

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । (गी. १८।४७)

अपना धर्म विगुण (होने पर भी) भलीभाँति अनुष्ठान किये हुए परधर्म से श्रेष्ठ है ।।४७।। इसी को भगवान् कहते हैं कि यह आरम्भ किया हुआ युद्ध प्राणियों की हिंसा करने वाला होने पर भी इसे अग्नीषोमीय आदि यज्ञों की भाँति स्वधर्म समझकर तुझे घबड़ाना नहीं चाहिए; क्योंकि धर्म से, न्यायत: प्राप्त युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए दूसरा कुछ भी श्रेय नहीं है । आगे कहेंगे भी कि-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। (गी. १८।४३)

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाने का स्वभाव, दान और ईश्वरभाव-ये क्षत्रिय के स्वभाविक कर्म हैं ।।४३।। गीता में कर्म और धर्म पर्यायवाचक शब्द हैं ।

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत्' (श्रुति) अग्नीषोमीय पशु का आलभन करें ।। 'छागो यजेत्' (श्रुति) छाग पशु से देवपूजन करे ।। इस अग्नीषोमीय आदि यज्ञों में होने वाला पशु-बलिदान हिंसा नहीं है, वह तो वेद में अत्यन्त निकृष्ट छागादि शरीर को छुड़ाकर कल्याणमय देह और स्वर्गादि की प्राप्ति कराने वाला बताया गया है । श्रुति में कहा गया है -

न वा उ वे तन्म्रियसे न रिष्यसि देवां इदेषि पथिभि: सुगेभि: ।
यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्र त्वा देव: सविता दधातु ।। (तै. ब्रा. ३७, ७-१४)

हे पशो ! इस कर्म के द्वारा निश्चय ही तुम मर नहीं रहे हो, तुम्हें मारा नहीं जा रहा है; बल्कि सुगम मार्ग से तुम देवों को प्राप्त हो रहे हो, जहाँ केवल पुण्यकर्मा पुरुष ही जाते हैं, पापी नहीं । वहाँ तुम्हें सविता देव स्थापित करें ।।१४।।

यहाँ गीताशास्त्र में भी -

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति' (गी. २।२२)

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग करके दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है ।।२२।। इत्यादि श्लोक में युद्ध में प्राणत्याग करने वालों को कल्याणमय शरीर आदि की प्राप्ति बतलायी गयी है । अतएव अग्नीषोमीय आदि यज्ञों में होने वाला पशु-बलिदान, रोगी की रक्षा के लिए चिकित्सक के द्वारा चीरा देने के कर्म की भाँति उनकी रक्षा करना ही है ।।३१।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

अन्वय :- **पार्थ ! यदृच्छया उपपन्नम् च अपावृतम् स्वर्गद्वारम् ईदृशं युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! अपने आप यानी अनायास प्राप्त हुए और स्वर्ग के खुले हुए द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को सुखी यानी भाग्यशाली क्षत्रिय प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि तुमने यह युद्ध जानबूझकर तो खड़ा किया नहीं है, क्योंकि तुम लोगों ने सन्धि करने का प्रयत्न किया और तुम्हारा धरोहर के रूप में रखा हुआ राज्य वापस करने को दुर्योधन राजी नहीं हुआ तथा स्पष्ट उसने कह दिया 'सूई की नोक टिके इतनी जमीन भी मैं पाण्डवों को नहीं दूँगा' (महा. उद्यो. १२७।२५) तब बाध्य होकर युद्ध भूमि में आना पड़ा । इसलिए बिना प्रयत्न के अपने-आप प्राप्त हुए ऐसे बाधारहित निरतिशय सुख के साधनभूत इस स्वधर्मरूप युद्ध को सुखी रघु, इक्ष्वाकु, कुरु की भाँति पुण्यवान् क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं ॥३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अन्वय :- **अथ चेत् त्वं इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि, ततः स्वधर्मं च कीर्तिम् हित्वा पापम् आवाप्स्यसि ।**

अर्थ :- अब यदि तू इस धर्मरूप (यानी धर्ममय) संग्राम को नहीं करेगा तो अपने धर्म को और कीर्ति को खोकर पाप प्राप्त करोगे ।

व्याख्या :- यहाँ 'अथ' पद पक्षान्तर में है । तात्पर्य यह है कि अब प्रकारान्तर से युद्ध की कर्त्तव्यता बतलाते हैं । भगवान् अर्जुन को धर्म रूप युद्ध न करने से हानि दिखलाते हुए कहते हैं कि अब क्षत्रिय के स्वधर्मरूप इस आरम्भ किये हुए संग्राम को तू मोह, अज्ञान के कारण नहीं करेगा तो प्रारम्भ किये हुए धर्म का सम्पादन न करने के कारण तू स्वधर्म पालन के फल निरतिशय सुख और विजय से प्राप्त होने वाली निरतिशय कीर्ति को अथवा निवातकवचादि दानवों के साथ युद्ध में विजय पाने के कारण तथा भगवान् शिवजी के साथ युद्ध करने के कारण तुम्हारी जो संसार में बड़ी भारी कीर्ति छायी है उसे खोकर निरतिशय पाप को प्राप्त होगा । जिसको तुम स्वयं कह भी चुके हो कि स्वधर्म छोड़ने के पाप से 'नरकेऽनियतं वासः' (गी. १।४४) अनिश्चित काल तक नरक में वास होता है ॥४४॥ इसलिये किसी भी कारण से युद्ध का त्याग करना तुम्हारे लिये सर्वथा अनुचित है ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अन्वय :- **च भूतानि अपि ते अव्ययाम् अकीर्तिम् कथयिष्यन्ति । अकीर्तिः सम्भावितस्य मरणात् च अतिरिच्यते ।**

अर्थ :- और (यानी इतना ही नहीं) सब लोग भी तेरी अव्यय (यानी अडिग, सदा बनी रहने वाली) अकीर्ति की चर्चा करेंगे । अकीर्ति प्रतिष्ठित पुरुष के लिए मरने से भी अधिक दु:खदायी या बुरी होती है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि युद्ध से भागने पर न केवल निरतिशय सुख और कीर्ति की ही हानि होगी, बल्कि 'युद्ध आरम्भ होते ही अर्जुन भाग गया'-ऐसी कभी न मिटने वाली, सब देशों और सब समय में रहने वाली अकीर्ति भी समर्थ और असमर्थ सभी प्रकार के लोग कहेंगे । यदि कहो कि इससे क्या होगा तो कहते हैं कि शौर्य, वीर्य और पराक्रम आदि में सर्वजन-सम्मानित पुरुष के लिए उन शौर्यादि के विपरीत कायरता आदि के कारण होने वाली अकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर है । अभिप्राय यह कि ऐसी अकीर्ति की अपेक्षा तो तेरे लिए मरना ही श्रेष्ठ है ।।३४।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

अन्वय :- च महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते, येषां बहुमतो भूत्वा लाघवम् यास्यसि ।

अर्थ :- तथा वे महारथी तुझे भयवश रण से विरत (हटा हुआ) मानेंगे, जिनका बहुमान्य होकर तू अब लघुता को प्राप्त होगा ।

व्याख्या :- बन्धु-स्नेह और कृपा के कारण युद्ध से निवृत्त होने वाले मुझ वीर को अकीर्ति क्यों प्राप्त होगी ? अर्जुन के ऐसे विचार पर भगवान् कहते हैं कि जिन कर्ण-दुर्योधन, दु:शासन आदि महारथियों के मत में तू अब से पहले 'यह हमारा बड़ा वीर वैरी है' इस भाव से सम्मानित रहा है, क्योंकि विराट नगरी में अकेले ही बड़े-बड़ महारथियों को पराजित कर गायों को छुड़ा लिये थे, इस कारण वे अप्रत्यक्ष में बड़ी प्रशंसा किया करते थे, अब युद्ध उपस्थित होने पर यदि तू उससे निवृत्त हो गया तो बड़ी लघुता को - सहज ही शत्रुओं के हाथों पकड़े जाने की स्थिति को प्राप्त हो जायगा । अभिप्राय यह है कि वे शत्रु अन्यायी होने के कारण तुम्हें युद्ध से निवृत्त होते देखकर भी छोड़ेंगे नहीं वरन् निश्चय तुम पर वार करेंगे । वे महारथी समझेंगे कि तू डर कर ही युद्ध से विरत हो गया है, क्योंकि शूर वीरों का शत्रु-भय के सिवा, बन्धुस्नेह आदि करणों से विरत होना संभव नहीं है । 'महारथ' के विषय में लिखा है कि-

एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ।।

जो अकेला दस हजार धनुर्धारी योद्धाओं का युद्ध में संचालन करता हो, शस्त्र और शास्त्र विद्या में अत्यन्त निपुण उस असाधारण वीर को महारथी कहते हैं ।।३५।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दु:खतरं नु किम् ।।३६।।

अन्वय :- तव अहिताः तव सामर्थ्यं निन्दन्तः बहून् अवाच्यवादान् च वदिष्यन्ति, ततः दु:खतरम् नु किम् ?

अर्थ :- तेरे शत्रुगण तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत-सा नहीं कहने लायक दुर्वचन भी बोलेंगे, उससे बढ़कर दु:ख फिर क्या होगा ?

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि पहले कहे गये के अतिरिक्त 'हम वीरों के सामने यह पार्थ क्षणभर भी कैसे ठहर सकता है ? हम लोगों की सन्निधि से परे दूर-दूर ही इसकी डींग हाँकने का सामर्थ्य है ।' इस प्रकार तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए, तुम्हारी हानि से जिनको हर्ष होता है ऐसे 'अहित' तेरे शत्रु धृतराष्ट्र के पुत्र सब तुझे बहुत से न कहने योग्य वचन भी, (अर्जुन किस दिन का वीर है, वह तो जन्म का ही नपुंसक है । उसके गाण्डीव धनुष को और उसके पौरुष को धिक्कार है)-ऐसा कहेंगे । तेरे लिये इससे बढ़कर और दु:ख क्या हो सकता है ? इस प्रकार के दुर्वचन सुनने की अपेक्षा तो मरना ही उत्तम है, यह तू स्वयं ही मानने लगेगा ।।३६।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।३७।।

अन्वय:- **हे कौन्तेय ! हतो वा स्वर्गं प्राप्स्यसि जित्वा वा महीम् भोक्ष्यसे, तस्मात् युद्धाय कृतनिश्चयः उत्तिष्ठ ।**

अर्थ :- हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! (यदि युद्ध में) तू मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करोगे, विजयी हुए तो मही का भोग करोगे । इसलिए युद्ध के लिए निश्चय करके (यानी दृढ़ मन बनाकर) खड़ा हो जा ।

व्याख्या :- 'हे कौन्तेय' सम्बोधन देखकर भगवान् ने संकेत किया है कि तुझ कुन्ती-पुत्र के लिए संग्राम् करना ही उचित है । गीता के दूसरे अध्याय के छठें श्लोक में अर्जुन ने यह बात कही थी कि हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना श्रेष्ठ है या न करना तथा युद्ध में हमारी विजय होगी या हमारे शत्रुओं की । इस श्लोक में उसीका उत्तर देते हुए वीर के लिए अपने द्वारा दूसरों का मारा जाना या दूसरों के द्वारा अपना मारा जाना-दोनों ही कल्याणकारक होते हैं - यह समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि -धर्मयुद्ध में तू यदि दूसरों के द्वारा मारा गया, तो उसीसे परम कल्याण को प्राप्त हो जायगा; नहीं तो दूसरों को मार कर निष्कण्टक राज्य भोगेगा तथा फलाभिसन्धि रहित युद्ध रूपी धर्म परम कल्याण की प्राप्ति का उपाय है; इसलिये भी तू परम कल्याण को प्राप्त होगा । अतएव युद्ध के लिए उद्योग करना परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का साधन है, मन में ऐस निश्चय करके युद्ध के लिए खड़ा हो जा ।।३७।।

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।३८।।

अन्वय :- **सुखदु:खे लाभालाभौ जयाजयौ समे कृत्वा, ततः युद्धाय युज्यस्व, एवं पापं न अवाप्स्यसि ।**

अर्थ :- सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान कर (यानी किसी का अधिमान न रखते हुए) तब युद्ध में लग जाओ, इस प्रकार करने से तू पाप नहीं प्राप्त करोगे ।

व्याख्या :- मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष के लिये युद्ध करने की रीति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि -आत्मा शरीर से भिन्न है, शरीर के समस्त स्वभावों से वह सर्वथा सम्पर्क-शून्य है और वह नित्य है; इस प्रकार जानकर युद्ध में अवश्य होने वाले शस्त्रपातादिजनित सुख-दु:ख, धनादि पदार्थों के लाभ-हानि और जय-पराजयों में विकाररहित रहकर तथा स्वर्गादि की फलाभिसन्धि से रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धि से ही तू युद्ध का आरम्भ कर । इस प्रकार करने पर तुझे पाप नहीं होगा । अभिप्राय यह कि पाप, दु:ख रूप संसार तुझे नहीं मिलेगा । तू संसारबन्धन से मुक्त हो जायगा ।।३८।।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।३९।।

अन्वय :- **पार्थ ! एषा बुद्धिः ते सांख्ये अभिहिता, योगे तु इमां शृणु । यया बुद्ध्या युक्तः कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! यह बुद्धि तुझे सांख्य के विषय में (यानी सांख्यविषयक) कह दी गयी, अब कर्म-योग के विषय में उसे (यानी कर्मयोगविषयक बुद्धि को) सुनो, जिस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्मबन्धन का भली-भाँति त्याग कर देगा (यानी जिस बुद्धिके आश्रय से तू कर्म-बन्धन को दूर करेगा) ।

व्याख्या :- इस प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का उपदेश करके उस ज्ञान के सहित मोक्ष-साधन रूप कर्मयोग का वर्णन भगवान् आरंभ करते हुए कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्र ! **'न त्वेवाहं जातु नासम्'** (गी. २।१२) मैं सर्वेश्वर इस वर्तमान समय से पूर्व अनादि काल में नहीं था-ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य था ।।१२।। इस श्लोक से प्रारम्भ कर **'एषा तेऽभिहिता सांख्ये'** (गी. २।३९), बुद्धि का नाम संख्या है । इसलिए बुद्धि से धारण होने वाले आत्मतत्त्व का नाम सांख्य है । जानने योग्य आत्मतत्त्व के विषय में उसको जानने के लिए जो बुद्धि कहनी चाहिए, वह तुझसे मैंने कह दी ।।३९।। यहाँ तक सांख्य बुद्धि कही गई । तथा **'योगे त्विमांशृणु'** (गी. २।३९) अब आत्मज्ञान सहित मोक्षसाधनभूत कर्मानुष्ठान के लिए जो बुद्धियोग कहना है उस आगे कही जाने वाली बुद्धि को तू सुनो ।।३९।। इस श्लोक से प्रारम्भ कर **'तथा योगमवाप्स्यसि'** (गी. २।५३) अब तू आत्मदर्शन रूप कर्मयोग को प्राप्त करोगे ।।५३।। इस श्लोक पर्यन्त मैं कर्मयोग को कहूँगा, क्योंकि आगे चलकर भी हम कहेंगे-

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय । (गी. २।४९)

हे धनंजय ! कारण कि बुद्धियोग की अपेक्षा (सकाम) कर्मयोग अत्यन्त निकृष्ट है ।।४९।। उस योग के विषय में जो बुद्धि कहनी है, जिस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्म-बन्धन का नाश कर सकोगे, उस आगे कही जाने वाली बुद्धि को सुनो। कर्मों के द्वारा होने वाले बन्धन को 'कर्मबन्ध' कहते हैं, इसलिए कर्मबन्धन का अर्थ संसारबन्धन है ।

अब यहाँ पर कुछ लोग संदेह कर सकते हैं कि श्रीरामानुजभाष्य में लिखा है **'न त्वेवाहम्'** (गी. २।१२) से लेकर **'तस्मात् सर्वाणि भूतानि'** (२।३०) इस श्लोक तक ही सांख्य बुद्धि है और आप यहाँ कहते हैं कि **'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः'** (गी. २।३९) यहाँ तक सांख्य बुद्धि है । तो भाष्य विरुद्ध हुआ । इसका उत्तर यह कि मेरा
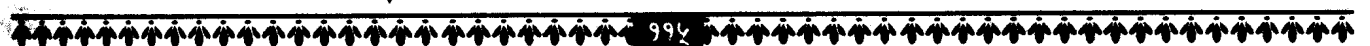
कथन श्रीयतिराजभाष्य के विरुद्ध नहीं है । उस श्रीरामानुज-भाष्य का यह तात्पर्य है कि प्रधानरूप से (गी. २।३०) तक ही सांख्य बुद्धि है उसके बाद मैं उससे अधिक जो कहा हूँ वह अप्रधान रूप से है ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

अन्वय :- **इह अभिक्रमनाशः न अस्ति, प्रत्यवायः न विद्यते । अस्य धर्मस्य स्वल्पम् अपि महतः भयात् त्रायते ।**

अर्थ :- यहाँ (यानी इस कर्मयोग में) आरम्भ का नाश नहीं है और प्रत्यवाय (उल्टा फलरूप दोष) भी नहीं है। उसका (कर्मयोग रूपी धर्म का) थोड़ा सा भी अंश बड़े भारी भय से रक्षा कर लेता है ।

व्याख्या :- आगे कही जानेवाली बुद्धि से युक्त कर्मों का माहात्म्य बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि इस कर्मयोग में अभिक्रम का नाश नहीं है । अभिक्रम कहते हैं 'आरम्भ' को । फल-साधनता के नाश को 'नाश' कहते हैं । आरम्भ किया हुआ कर्मयोग यदि पूर्ण होने से पहले बीच में ही खण्डित हो जाय तौभी वह निष्फल नहीं होता और आरम्भ होकर खण्डित हो जाने के कारण साधक को कोई प्रत्यवाय भी नहीं होता । इस कर्मयोग (स्वधर्म) का अत्यन्त थोड़ा-सा अंश भी महान् भय, संसार के जन्म-मरण भय से बचा लेता है । जैसे शबरी फल मात्र श्रीराघवेन्द्र को समर्पण करके जन्म-मरण के भय से निवृत्त हो गयी । यह श्रीरामायण में लिखा हुआ है -

मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ । (वा. रा. अरण्य. ७४।१७)
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पंपायास्तीरसंभवम् ॥१८॥

हे पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामजी ! मैंने अनेक प्रकार के जंगली फलों को इकट्ठा किया है ॥१७॥ हे पुरुष सिंह ! यह पंपा के तीर पर होने वाला फल आपके लिये रखा है ॥१८॥

अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छकामं यथासुखम् ॥ (वा. रा. अरण्य. ७४।३१)

हे कल्याणकारिणी ! तुमने मेरा पूरा सत्कार कर दिया अब अपने इच्छित लोक को सुखपूर्वक चली जा ॥३१॥

यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः ।
तत् पुण्यं शबरी स्थानं जगामात्मसमाधिना ॥ (वा. रा. अर. ७४।३५)

शबरी ने अपने चित्त को एकाग्र करके उस पुण्यधाम की यात्रा की, जहाँ उसके वे गुरुजन पुण्यात्मा महर्षि विहार करते थे ॥३५॥

यही बात -

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । (गी. ६।४०)

हे पार्थ ! उस (कर्मयोगी) का इस लोक में या परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता ।।४०।। इस प्रकार आगे चलकर छठें अध्याय में विस्तारपूर्वक कही जायगी ।

दूसरे-दूसरे जो सकाम लौकिक और वैदिक साधन हैं वे पूरे होने के पहले बीच में ही खण्डित हो जाने पर फल देने वाले नहीं होते, साथ ही प्रत्यवाय (पाप) के हेतु भी बन जाते हैं । जैसे राजा जड़ भरत मर करके हिरण हो गये । लिखा है कि -

मृग एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं
मृतमनु न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप ।। (श्रीमद्भा. ५।८।२७)

उनका चित्त मृग में लग रहा था । इस प्रकार की आसक्ति में ही मृग के साथ में उनका शरीर भी छूट गया । तदनन्तर उन्हें अन्त काल की भावना के अनुसार अन्य साधारण पुरुषों के समान मृगशरीर ही मिला ।।२७।।४०।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।४१।।

अन्वय :- **कुरुनन्दन ! इह व्यवसायात्मिका बुद्धिःएका । अव्यवसायिनां हि बुद्धयः अनन्ताः च बहुशाखाः ।**

अर्थ :- हे कुरुनन्दन । इस (शास्त्रीय कर्म) में निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है । निश्चयहीन व्यक्ति की बुद्धियाँ (यानी अव्यवसायी पुरुषों की बुद्धियाँ) अनन्त और बहुत शाखाओं वाली होती हैं ।

व्याख्या :- काम्यकर्मविषयक बुद्धि की अपेक्षा मोक्षसाधनभूत निष्काम कर्मविषयक बुद्धि की विशेषता बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि -हे कुरुवंश के नाम यश को बढ़ाने वाले ! यहाँ शास्त्रीय सभी कर्मों में व्यवसायात्मिका बुद्धि एक है । मुमुक्षु पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले कर्मों में होने वाली बुद्धि को 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' कहते हैं । व्यवसाय निश्चय का नाम है और वह बुद्धि आत्मस्वरूप के यथार्थ निश्चय से युक्त होती है, परन्तु **'स्वर्गकामो यजेत्'** (श्रुति) स्वर्गकामनावाला यजन करे, ऐसी काम्य कर्मविषयक बुद्धि अव्यवसायात्मिका (आत्मस्वरूप के यथार्थ निश्चय से रहित) होती है, क्योंकि वहाँ काम्यकर्मों के अधिकार में देह से भिन्न आत्मा के अस्तित्वमात्र का ज्ञान अपेक्षित है, आत्मस्वरूप के यथार्थ निश्चय का नहीं । कारण, आत्मस्वरूप का यथार्थ निश्चय न होने पर भी स्वर्गादि फल की कामना, उसके साधनों का अनुष्ठान और उन साधनों के फलों का अनुभव होना सम्भव है और इसमें शास्त्रों का भी कोई विरोध नहीं है ।

ऊपर बतायी हुई यह व्यवसायात्मिका बुद्धि एकमात्र मोक्षरूप फल के साधनभूत कर्मों को ही विषय करने वाली है; इसलिये एक है; क्योंकि मुमुक्षु के लिये समस्त कर्मों का विधान एकमात्र मोक्षरूप फल के लिए ही किया जाता है ।

अतः शास्त्र का अभिप्राय एक होने के कारण वह व्यवसायात्मिका बुद्धि सर्वकर्मविषयक होने पर भी एक ही है । जैसे एक ही फल की सिद्धि के लिये किये जाने वाले इतिकर्तव्यता सहित आग्नेय आदि छः कर्मों में शास्त्र के

अभिप्राय की एकता होने से तद्विषयक बुद्धि एक होती है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए ।

स्वर्ग, पुत्र, पशु और अन्न आदि फलों में साधनभूत कर्मों में अधिकार रखने वाले अव्यवसायी पुरुषों की बुद्धियाँ फलों की अनन्तता के कारण अनन्त होती हैं, इस पर वे बहुशाखावाली भी होती हैं । किसी एक फल के लिए ही विधान किए हुए दर्श-पूर्णमास आदि कर्म में भी **आयुराशास्ते सुप्रजस्त्वमाशास्ते**' 'लम्बी आयु की कामना करता है; सुन्दर सन्तान की इच्छा करता है ।' इत्यादि रूप से देखे जाने वाले अवान्तर फल-भेद होते हैं; इसलिए ये बुद्धियाँ बहुशाखा वाली हैं । अतएव अव्यवसायी पुरुषों की बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखा वाली होती हैं ।

कहने का अभिप्राय यह है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मों में जो प्रधान और अवान्तर फल श्रुति में प्रतिपादित हैं, उन सबका परित्याग करके केवल मोक्षरूप फल के लिए, उसी को शास्त्र का एकमात्र अभिप्राय जानकर समस्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए तथा जो स्ववर्णोचित काम्यकर्म हैं, उनके फल को छोड़कर मोक्षरूप फल के साधन रूप में, नित्य और नैमित्तिक कर्मों के साथ उनकी एकता करके उनका भी यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिए ।।४१।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।।४२।।

(यह श्लोक युग्म है, 'स्वर्गपराः'पद-आगे श्लोक से लेकर अर्थ किया जा रहा है ।)

अन्वय :- **पार्थ ! (स्वर्गपराः) वेदवादरताः अविपश्चितः नान्यत् अस्ति इति वादिनः इमां यां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! (स्वर्ग-परायण) केवल फलश्रुति में रत (यानी वेदों में जो स्वर्गादि फलों को बताने वाले वाक्य हैं, उनमें रत) अज्ञानी-अल्पज्ञ, इससे (यानी स्वर्गादि सुखों से) बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है, ऐसा जिस पुष्पित (सुहावनी) वाणी को कहा करते हैं ।

व्याख्या :- अब काम्यकर्म के अधिकारियों की निन्दा करते हुए भगवान् कहते हैं कि-हे महासाध्वी पृथा के पुत्र ! 'वेदवादरत' वेदों में जो स्वर्गादि फलों को बतलाने वाले वाक्य हैं-'**स्वर्गकामो यजेत्**' (श्रुति) स्वर्ग कामना वाला यजन करे । इत्यादि उनमें आसक्त अज्ञानीअल्पज्ञ पुरुष 'स्वर्गादि से अधिक कुछ दूसरा फल है ही नहीं' ऐसा कहने वाले, पुष्पमात्र फल वाली-आपात रमणीय (केवल पहले सुन्दर और सुखकर दीखनेवाली) इस वाणी को बोलते हैं । वे इस रहस्य को नहीं जानते कि -

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गी. १५।१५)

सम्पूर्ण वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ ।।१५।। ऐसा न समझने के कारण ही वेदोक्त सकाम कर्मों में, उनके फलों में आसक्त हो निर्गन्ध किंशुक के फूल की भाँति बड़ी रमणीय और सुन्दर वाणी कहते हैं जिससे सांसारिक मनुष्य परिणाम को न सोचकर उसके प्रलोभन में पड़ जाते हैं ।।४२।।

कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

(यह युग्म श्लोक है, इसमें क्रिया पद नहीं है । उपर के श्लोक से क्रिया पद 'प्रवदन्ति' और 'याम् इमां पुष्पितां वाचं' को लेकर अर्थ किया गया है)

अन्वय :- **कामात्मनः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदां भेगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां (याम् इमाम् पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति)**

अर्थ :- विषयासक्त, स्वर्गपरायण (अल्पज्ञ मनुष्य यानी अविपश्चितजन) पुनर्जन्मरूप कर्मफल देने वाली, भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए भाँति-भाँति की बहुत-सी क्रियाओं से युक्त जिस ऐसी पुष्पित (यानी सुहावनी) बात को कहा करते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि वे कामात्मा-भोगासक्तचित्त, स्वर्गपरायण पुरुष स्वर्गादि फल के पूरे होने पर पुनः जन्म और कर्मरूपी फल देने वाली, भोग-ऐश्वर्य की प्राप्ति का प्रतिपादन करने वाली तथा अनेक प्रकार की क्रियाओं के भेदवाली-तत्त्वज्ञान से रहित होने के कारण जिसमें क्रिया भेदों की अत्यन्त प्रचुरता है, ऐसी पुष्पमात्र फलवाली आपात रमणीय (केवल पहले सुन्दर और सुखकर दीखने वाली) इस वाणी को बोलते हैं ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अन्वय :- **तया अपहृतचेतसाम् भोगैश्वर्यप्रसक्तानां समाधौ व्यवसायात्मिका बुद्धिः न विधीयते ।**

अर्थ :- उस (यानी उपर्युक्त सुहावनी) वाणी से अपहृत (हर लिये गये) चित्तवाले, भोग-ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त मनुष्यों के मन में निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती ।

व्याख्या :- जिन भोगैश्वर्य में अत्यन्त आसक्त पुरुषों का आत्मज्ञान उन भोगैश्वर्यविषयक वाणी के द्वारा नष्ट हो चुका है, उनके मन में उपर्युक्त व्यवसायात्मिका बुद्धि का उदय नहीं होता है । **'समाधीयते अस्मिन् आत्मज्ञानम् इति समाधिः मनः'** 'इस मन में आत्मज्ञान भलीभाँति समाहित-प्रतिष्ठित किया गया है, इसलिए इस मन का नाम समाधि है ।' इस व्युत्पत्ति से । आज भी कर्मकाण्ड में पुण्याहवाचन में सभी के यहाँ बोला जाता है **'समाधीयताम्'** इस पर ऋत्विक् लोग कहते हैं **'समाहितमनसः स्मः'** समाहित मनवाले हम लोग हैं और 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ में लिखा है-**'सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः'** वृद्ध लोग सिद्ध शब्द के सान्निध्य से शब्द का अर्थ निर्णय करते हैं । यहाँ सिद्धपद 'बुद्धि' है इसलिए बुद्धि के सान्निध्य, तथा 'मञ्जूषा' ग्रन्थ में लिखा है कि - शब्द के अर्थ के लिए -

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता अर्थः प्रकरणम्'

अर्थनिर्णय में संयोग, विप्रयोग, साहचर्य और प्रकरण देखना । यहाँ साहचर्य 'बुद्धि' है और अन्तःकरण का

प्रकरण है । इस प्रकार व्युत्पत्ति से, बुद्धि के सान्निध्य से और साहचर्य तथा अन्तःकरण के प्रकरण होने से 'समाधि' शब्द का 'मन' अर्थ करना ही शास्त्रानुसार है । क्योंकि 'वराहोपनिषद्' में लिखा है कि-

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् । (वराहोप. अ. १ श्रु. ४)

मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ये चार अन्तःकरण हैं ।।४।। इससे स्वमताभिनिवेश में पड़कर जो लोग योगशास्त्र में वर्णित-

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (यो. अ. १ पा. ३ सू. ३)

ध्यान से प्राप्त वस्तु का ही केवल प्रकाश होना अपने देहादिक को भूल जाना ही समाधि है ।।३।। यह समाधि अर्थ करते हैं या परमात्मा का अर्थ करते हैं, वह भगवदुक्ति-संगत नहीं है ।

अभिप्राय यह कि उन लोगों के मन में आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निश्चय करने वाले ज्ञान से युक्त मोक्ष के साधनरूप कर्मों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि कभी उत्पन्न ही नहीं होती । अतएव मुमुक्षु पुरुषों को काम्य कर्मों में आसक्त नहीं होना चाहिए ।।४४।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।४५।।

अन्वय :- **अर्जुन ! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः । (त्वं) निस्त्रैगुण्यः नित्यसत्त्वस्थः निर्द्वन्द्वः निर्योगक्षेमः आत्मवान् भव ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! वेद (सत्त्व, रज और तम) तीनों गुणों वाले मनुष्यों को विषय करने वाले हैं, तू इन तीनों गुणों की अधिकता से रहित, सदा सत्त्वगुण में स्थित, समस्त द्वन्द्वों से अतीत और योग (सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति) तथा क्षेम (उनकी रक्षा) को न चाहनेवाला और आत्मपरायण हो जाओ ।

व्याख्या :- सहस्रों माता-पिता से भी अधिक वात्सल्य करके आत्मा का अभ्युदय और कल्याण करने के लिए जिनकी प्रवृत्ति हुई है, वे वेद इस प्रकार अत्यन्त अल्प फल और पुनर्जन्म देने वाले कर्मों का प्रतिपादन क्यों करते हैं ? तथा उन वेदप्रतिपादित कर्मों को त्याग करने के योग्य कैसे बतलाया जाता है ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं - हे परम सात्त्विक अर्जुन ! **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः**' (गी. १४।५) सत्त्व, रज और तम - ये गुण हैं ।।५।। इन तीनों गुणों का नाम त्रैगुण्य है, इसलिये सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की प्रचुरता से युक्त सभी पुरुष **'त्रैगुण्य'** शब्द से पुकारे जाते हैं । वेद उनको विषय करने वाले हैं, अतः वे वेद तमोगुण बहुल, रजोगुण बहुल और सत्त्वगुण बहुल पुरुषों के लिये उनपर वात्सल्य करके ही उनके हित का यथायोग्य उपदेश करते हैं ।

यदि वेद उनलोगों को उनके अपने गुणों के तारतम्यानुसार स्वर्गादि के साधन रूप हित का उपदेश न करें तो फिर वे रज और तम की अधिकता के कारण सात्त्विक फल-मोक्ष से विमुख हो जायेंगे और अपने लिये अपेक्षित फल के साधन

को न जानने के कारण भोगलोलुपता से विवश होकर, जो वस्तुतः सुख के साधन नहीं हैं, उन्हीं को भ्रम से सुख के साधन समझकर उन्हीं में प्रवेश करके नष्ट हो जायेंगे । इसलिये ये वेद त्रैगुण्यविषयक हैं । वेद के विषय में लिखा है कि- **'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** (आप. परि. १।३३) मंत्र भाग और ब्राह्मण भाग इन दोनों का नाम वेद है ।।३३।। **'तच्चोदकेषु मंत्राख्या'** (मीमांसा २।१।३२) प्रेरणालक्षण श्रुति का ही नाम मंत्र है ।।३२।। **'शेषे ब्राह्मणशब्दः'** (मी. २।१।३३) मंत्र से जो शेष वेद हैं वे ब्राह्मण शब्द से कहे जाते हैं ।।३३।। वेद चार हैं । पतंजलि महर्षि भी कहते हैं **'चत्वारो वेदाः'** (महाभाष्य १।१।१) चारो वेद ।।१।। वे हैं -

ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।। (यजु. ३१।७)

१-ऋग्वेद २-सामवेद ३-छन्द यानी अथर्ववेद और ४-यजुर्वेद उस पुरुष से उत्पन्न हुए ।।७।। गीता में भी भगवान् इसी को कहते हैं कि **'ऋक्सामयजुरेव च'** (गी. ९।१७) ऋक्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और चकार से अथर्ववेद ।।१७।। जो चार वेद हैं उनके विषय में लिखा है कि -

'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (मी. २।१।३५)

जहाँ पर अर्थवश से पाद की व्यवस्था हो उसे ऋग्वेद कहते हैं ।।३५।।

'गीतिषु सामाख्या' (मी. २।१।३६) गीति में सामवेद ऐसी आख्या होती है ।।३६।।

'शेषे यजुः शब्दः' (मी. २।१।३७) कहे हुए से शेष यजुः शब्द से कहा जाता है ।।३७।।

'निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्' (मी. २।१।३८) विशेष धर्म होने से निगद चतुर्थ अथर्ववेद कहा गया है ।।३८।। वेद की शाखाओं के संबंध में उल्लेख है -

एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः
एकविंशतिधाबह्वृच्यः नवधाऽथर्वणः ।। (महाभाष्य १।१।१)

एक सौ एक शाखाएँ यजुर्वेद की, हजार शाखाएँ सामवेद की, इक्कीस शाखाएँ ऋग्वेद की और नव शाखाएँ अथर्ववेद की हैं ।।१।। इस प्रकार कुल मिलाकर एक हजार एक सौ इकतीस (११३१) शाखाएँ हुईं । भगवान् कहते हैं कि तू निस्त्रैगुण्य हो । जैसे-**सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्'** कहकर फिर **'तक्रं कौन्डिन्याय'** कहने से 'सर्वे' शब्द का अर्थ 'कौन्डिन्य' को बराकर सभी ब्राह्मणों को दधि देने में है, उसी प्रकार **'निस्त्रैगुण्य'** कहकर फिर **'नित्यसत्त्वस्थः'** कहने से भगवान् का तात्पर्य रजोगुण और तमोगुण को त्याग कर एकदम सत्त्वगुण में रहने से है । इस समय तुझमें सत्त्वगुण अधिक है, तू उसी को बढ़ाओ, एक-दूसरे से मिले हुए तीनों गुणों की प्रचुरतावाला मत हो । तात्पर्य यह कि उन तीनों की प्रचुरता को मत बढ़ा । निर्द्वन्द्व-(समस्त सांसारिक स्वभावों से रहित) हो और नित्यसत्त्वस्थ दोनों, रज-तम

गुणों से रहित केवल बढ़े हुए सत्त्व में नित्य स्थित रह । यदि पूछे कि कैसे 'स्थित रहूँ तो उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि निर्योगक्षेम हो आत्मस्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय से भिन्न समस्त अर्थों के योग (प्राप्ति) और प्राप्त अर्थों के क्षेम (संरक्षण) दोनों को छोड़कर आत्मवान् हो, आत्मस्वरूप की खोज में तत्पर हो । इस प्रकार करने से रज और तम की प्रचुरता नष्ट हो जायगी और सत्त्व बढ़ जायगा । अप्राप्त की प्राप्ति को योग और प्राप्त की रक्षा को 'क्षेम' कहते हैं ।।४५।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।।४६।।

अन्वय :- **सर्वतः संल्पुतोदके उदपाने यावान् अर्थः विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु तावान् ।**

अर्थ :- सब ओर से परिपूर्ण जलाशय में (प्यासे को जितनी जरूरत है उतना ही जल लेता है) वैसे ही वेदविद् (या तत्त्वज्ञ) ब्राह्मण को सभी वेदों में उतना ही (ग्रहणीय है, जितना अंश आवश्यक हो)

व्याख्या :- वेदप्रतिपादित सभी बातें सबके लिए उपादेय नहीं हैं; किन्तु जैसे सबके लिए बनाये हुए और सब ओर से परिपूर्ण जलाशय में प्यासे मनुष्य को जितना प्रयोजन होता है - (उसे जितने जल की आवश्यकता होती है) वह उतना ही लेता है, सब नहीं; वैसे ही वेदार्थ जानने वाले ब्राह्मण । यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द उपलक्षण है, इससे समस्त वैदिक मुमुक्षुओं का वाचक है । इससे यह अर्थ हुआ कि वैदिक मुमुक्षु को सब वेदों में से जितना मोक्षसाधनविषयक वर्णन है, उतना ही ग्रहण करना चाहिए, दूसरा नहीं ।।४६।।

कर्मण्येवाधिकारस्तु मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

अन्वय :- **ते कर्मणि एव अधिकारः, फलेषु कदाचन मा, कर्मफलहेतुः माभूः, ते अकर्मणि संगः मा अस्तु ।**

अर्थ :- तेरा कर्म में ही अधिकार है, फलों पर कभी नहीं, कर्मफल का हेतु मत हो तथा अकर्म (कर्म नहीं करने में) तेरी आसक्ति न हो ।

व्याख्या :- सत्त्वगुण में स्थित मुमुक्षु के लिए कितना उपादेय है यह भगवान् बतलाते हैं । शास्त्र का लक्षण लिखा है कि -

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ।।

नित्य अथवा कृतक जिसके द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म पुरुषों को उपदेश दिया जाता है, उसी को शास्त्र कहते हैं ।। इसके अनुसार जिन कर्मों का शास्त्र में **'अहरहः संध्यामुपासीत'** (श्रुति) रोज-रोज सन्ध्योपासन करे । ऐसे नित्य और **'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत्'** (श्रुति) अमावस्या और पूर्णिमा के निमित्त बनाकर यजन करे ।। ऐसा नैमित्तिक तथा

'स्वर्गकामो यजेत्' (श्रुति) स्वर्ग की कामना वाला यजन करे ।। ऐसे काम्य कर्मों में तुझ सदा सत्त्वगुण में स्थित मुमुक्षु को केवल करने मात्र का अधिकार है । उन-उन कर्मों के सम्बन्ध जाने हुए फलों में तेरा अधिकार कभी नहीं है; क्योंकि फलसहित कर्म बन्धन-रूप हैं और फलरहित केवल मेरी आराधना के रूप में किये जाने वाले कर्म मोक्ष देने वाले हैं ।

इसके सिवा, तू कर्म और उसके फल का कारण भी मत बन । तेरे द्वारा कर्मों का अनुष्ठान किये जाने पर भी सदा सत्त्वगुण में स्थित तुझ मुमुक्षु को उन कर्मों में अपना अकर्तापन ही देखते रहना चाहिए और उन कर्मों से होने वाली क्षुधानिवृत्ति आदि फल का हेतु भी अपने को नहीं मानना चाहिए । इन कर्तापन और फल दोनों को सम्बन्ध या तो गुणों से समझना चाहिए अथवा मुझ सर्वेश्वर से, यह आगे कहेंगे । अतः तू इस प्रकार समझकर कर्म कर, क्योंकि श्रुति भी कहती है -

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (यजु. ४०।२)

इस लोक में नित्य, नैमित्तिकादिक निष्काम कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । इस प्रकार तुझ मनुष्य में कर्म नहीं संलग्न होता है । इससे प्रकारान्तर नहीं है ।।२।।

कर्म न करने में - जैसा कि तूने कहा है **'न योत्स्ये'** (गी. २।६) मैं युद्ध नहीं करूँगा ।।६।। इस प्रकार कर्म त्याग में तेरी आसक्ति न हो । किन्तु उपर्युक्त रीति से युद्धादि कर्म करने में ही तेरी प्रीति हो यह अभिप्राय है । भगवान् यह शिक्षा देते हैं कि ज्ञानी को भी कर्म करना चाहिए जैसा स्वयं ब्रह्म होते हुए भी मैं कर्म करता हूँ । जो कहते हैं कि कर्म बन्धन करता है, सो ठीक नहीं है ।।४७।।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।४८।।

अन्वय :- **धनंजय ! योगस्थः संगं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा कर्माणि कुरु, समत्वं योगः उच्यते ।**

अर्थ :- धनञ्जय ! योग में स्थित (यानी योग में अपनी स्थिति बनाये हुए) हो, आसक्ति को त्यागकर, तथा सिद्धि और असिद्धि में सम होकर, तू कर्म कर । इस समता का ही नाम योग है ।

व्याख्या :- सैंतालिसवें श्लोक की कही गई बात को फिर स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं कि-हे उत्तर कुरु के ध न को जीतने वाले धनञ्जय ! राज्य और बन्धु आदि में आसक्ति का त्याग करके तथा योग में स्थित होकर तू युद्धादि कर्मों को कर । उन कर्मों में होने वाली विजय आदि सिद्धि-असिद्धि में सम होकर कर्म कर । यह जो सिद्धि और असिद्धि में समत्व है इसी को 'योगस्थ' शब्द के अन्तर्गत 'योग' शब्द से कहा गया है । सिद्धि-असिद्धि में समत्वरूप चित्त-समाधान का नाम योग है ।

रुधादि में पठित **'युजिर् योगे'** धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'योग' शब्द निष्पन्न होता है । योग के विषय में उपनिषद् में लिखा है कि -

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा ।

सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ॥ (योगशि. श्रु. ६८)

एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते ॥६९॥

प्राण वायु और अपान वायु की एकता तथा अपना रज और रेत तथा सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी तथा जीवात्मा और परमात्मा इन सबों के संयोग को योग कहते हैं ॥६८॥६६॥ और पातञ्जल योगसूत्र में भी लिखा है कि -

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ (योग. अ. १ पा. १ सू. २)

पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियों को जो रोकना है, उसका नाम योग है ॥२॥ इन पाँच वृत्तियों के नाम और लक्षण इस प्रकार है-

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ (योग. १।१।६)

१-प्रमाण, २-विपर्यय, ३-विकल्प, ४-निद्रा, ५-स्मृति ये पाँच चित्त की वृत्तियाँ हैं ॥६॥ उनमें

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । (योग. १।१।७)

१-प्रत्यक्ष, २-अनुमान, ३-आगम ये तीन प्रमाण हैं ॥७॥ इन्द्रिय और अर्थ के व्यवधान रहित संयोग से घट पट आदिक अर्थों का जो विशेष रूप करके ज्ञान होता है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं और धूमादिक लिंग से दूरस्थ अग्नि आदिक पदार्थों का जो सामान्य रूप से ज्ञान होता है उसको अनुमान प्रमाण कहते हैं तथा यथार्थ वक्ता पुरुष का जो वाक्य है उसको आगम प्रमाण कहते हैं ।

विपर्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् । (योग. १।१।८)

अपने स्वरूप से विरुद्ध जो मिथ्या ज्ञान बुद्धि में स्थित हो उसको विपर्यय कहते हैं ॥८॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । (यो. १।१।६)

शब्द-जन्य ज्ञान के अनुसार जो वस्तु शून्य हो उसको विकल्प कहते हैं ॥६॥ तथा -

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ (यो. १।१।१०)

(जाग्रत् तथा स्वप्न वृत्तियों के) अभाव के कारण तमोगुण को विषय बनाने वाली वृत्ति निद्रा है ॥१०॥

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ (यो. १।१।११)

प्रत्यक्षादिक प्रमाण करके अनुभव किये हुए पदार्थों का जो अन्यकाल में संस्कार द्वारा स्मरण होता है उसको स्मृति कहते हैं ॥११॥ इन प्रमाणों से यहाँ पर चित्तवृत्तियों के निरोध का ही नाम 'योग' है ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

अन्वय :- **हे धनंजय ! बुद्धियोगात् कर्म दूरेण अवरम् । बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ, हि फलहेतवः कृपणाः ।**

अर्थ :- हे धनंजय ! बुद्धियोग (यानी समत्वरूप बुद्धियोग से संयुक्त कर्म) की अपेक्षा अन्य कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं । अतः तू बुद्धियोग के ही आश्रय की इच्छा कर, क्योंकि फल के हेतु बनने वाले (यानी फलासक्तिपूर्वक कर्म करने वाले) अत्यंत दीन (कृपण, संसारी) होते हैं ।

व्याख्या :- यह बात बार-बार क्यों कही जाती है, इस पर भगवान् कहते हैं कि हे धनञ्जय ! पहले **'बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु'** (गी. २।३९) अब कर्मयोग के विषय में उस बुद्धि को तू सुनो ।।३९।। कह चुके हैं उसी को यहाँ कहते हैं कि यह जो प्रधान फल का त्याग विषयक और अवान्तर फलरूप सिद्धि-असिद्धि में समत्वविषयक बुद्धियोग है - इस बुद्धियोग से युक्त कर्मों की अपेक्षा दूसरे कर्म अत्यन्त निकृष्ट हैं । दोनों में परस्पर उत्कर्ष और अपकर्ष रूप यह बड़ी भारी विषमता है-उपर्युक्त बुद्धियोग से युक्त कर्म तो समस्त सांसारिक दुःखों का पूर्णतया निवारण करके परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति कराते हैं और दूसरे बुद्धियोग से रहित कर्म अपरिमित दुःखरूप संसार को प्राप्त कराते हैं । अतएव कर्म करते समय तू उपर्युक्त बुद्धियोग का आश्रय लेने की इच्छा कर । **'शरणं गृहरक्षित्रोः'** (कोश ३।३।५३) शरण गृह और रक्षिता को कहते हैं ।।५३।। इस कोश के प्रमाण से वासस्थान (आश्रय) को शरण कहते हैं । तात्पर्य यह कि तू उस बुद्धियोग में ही स्थित रहकर कर्माचरण कर जैसे इक्ष्वाकु आदि राजाओं ने किया है । फलहेतुक मनुष्य कृपण हैं, यानी फलासक्ति आदि से कर्म करने वाले मनुष्य कृपण-संसारी (विषयी) होते हैं ।।४९।।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

अन्वय :- **बुद्धियुक्तः सुकृतदुष्कृते उभे इह जहाति । तस्मात् योगाय युज्यस्व, कर्मसु योगः कौशलम् ।**

अर्थ :- बुद्धियुक्त मनुष्य (यानी समबुद्धि से युक्त व्यक्ति) पुण्य और पाप दोनों को यहीं त्याग देता है । अतः तू कर्मयोग के लिए चेष्टा कर, कर्मों में योग ही कुशलता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे सात्त्विक अर्जुन ! यह जो प्रधान फल का त्याग विषयक और अवान्तर फल रूप सिद्धि-असिद्धि में समत्व विषयक बुद्धियोग है इस बुद्धियोग से युक्त होकर कर्म करने वाला पुरुष अनादिकाल से सञ्चित, बन्धन के हेतुभूत जो अनन्त पुण्य-पाप हैं इन दोनों को त्याग देता है । इसलिये तू उक्त बुद्धियोग के लिए प्रयत्न कर । कर्मों में योग ही कौशल है-कर्मों के आचरण में यह बुद्धियोग ही कौशल है-अत्यन्त सामर्थ्य है । अभिप्राय यह कि यह बुद्धियोग बड़ी शक्ति लगाने से ही सिद्ध होता है ।।५०।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।

अन्वय :- **हि कर्मजं फलं त्यक्त्वा बुद्धियुक्ताः मनीषिणः जन्मबन्धविनिर्मुक्ता अनामयम् पदं गच्छन्ति ।**

अर्थ :- इसलिये (हि-यानी सभी उपनिषदों में प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार) कर्मजनित फल का त्याग करके (कर्म करने वाले) बुद्धियोग से युक्त विवेकी पुरुष जन्मरूप बन्धन से मुक्त होकर निरामय पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! बुद्धियोगयुक्त पुरुष कर्मजनित फल का त्याग करके कर्म करते हैं, अतएव वे जन्मरूप बन्धन से भली-भाँति मुक्त होकर अनामय पद (मोक्ष) को जा पहुँचते हैं । जहाँ जाकर जीव फिर मरण-चक्र में नहीं लौटता । जैसा लिखा भी है-

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिःशब्दात्' (ब्र. सू. ४।४।२२)

मुक्त जीव का संसार में आगमन नहीं होता है, वेद प्रमाण से मुक्त जीव का संसार में आगमन नहीं होता है, वेद प्रमाण से ।।२२।। यहाँ 'हि' का अभिप्राय है कि यह सिद्धान्त सभी उपनिषदों में प्रसिद्ध है । श्रीनचिकेता, श्रीरैक्व, श्रीयाज्ञवल्क्य, श्रीहनुमान् ने इसी मार्ग को ग्रहण किया । उपनिषद् के विषय में 'मुक्तिकोपनिषद्' में लिखा है कि -

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ।। (मुक्तिको. अ. १ श्रु. १२)

श्रीराम जी कहते हैं कि -

हे मारुते ! ऋग्वेद की इक्कीस शाखायें हैं और यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखायें हैं ।।१२।।

सहस्त्रङ्संख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ।
अथर्वणस्य शाखा स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ।।१३।।

हे परंतप ! सामवेद की हजार शाखायें हैं और हे कपे ! अथर्ववेद की पचास शाखायें हैं ।।१३।।

एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता ।।१४।।

एक-एक शाखा की एक-एक उपनिषद् कही गई है ।।१४।।

पतंजलि महर्षि के समय में यजुर्वेद की आठ शाखायें और अथर्ववेद की इकतालिस शाखायें लुप्त हो गई थीं । आजकल विधर्मियों के शासन से बहुत ही कम शाखायें उपलब्ध हैं ।।५१।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

अन्वय :- **यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति तदा श्रुतस्य च श्रोतव्यस्य निर्वेदं गन्ताअसि ।**

अर्थ :- (इस प्रकार कर्म करते करते) जब तेरी बुद्धि मोह रूपी कीचड़ या दलदल को पार कर जायेगी, तब तू पहले सुने हुए और भविष्य में सुनने में आने वाले फलों या भोग से वैराग्य (निर्वेद) प्राप्त कर लोगे ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि उक्त प्रकार से कर्म का आचरण करते-करते जब उस आचरण के द्वारा पापरहित हो जाने पर तेरी बुद्धि, (विपरीत ज्ञान को मोह कहते हैं) इस मोह कलिल को-अत्यन्त अल्प फल की आसक्ति के हेतुभूत मोहरूपी कीचड़ को भली-भाँति लाँघ जायगी-तब मैंने इससे पूर्व दूसरे अध्याय के ४२वें और ४३वें श्लोकों में जो स्वर्ग और भोग ऐश्वर्य नश्वर कर्म के फल त्याज्य रूप में कहा है तथा १८वें अध्याय में -

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । (गी. १८।१२)

इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित-तीन प्रकार का कर्म फल ।।१२।। जो मैं कहूँगा-इन सबों से स्वयं ही तू विरक्त हो जायगा ।।५२।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।५३।।

अन्वय :- ते श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धिः यदा अचला (भूत्वा) समाधौ निश्चला स्थास्यति तदा योगम् अवाप्स्यसि ।

अर्थ :- (हमारे द्वारा) सुने हुए उपदेश से भलीभाँति प्रपन्न हुई तेरी बुद्धि जब अचल होकर मन (यानी समाधि) में निश्चल भाव से ठहर जायेगी, तब तू (आत्मदर्शनरूप) योग को प्राप्त होगा ।

व्याख्या :- योगे त्विमां शृणु' (गी. २।३९) अब कर्मयोग के विषय में उस बुद्धि को तू सुनो ।।३९।। इत्यादि श्लोकों द्वारा जिसका वर्णन किया गया है तथा जो आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से युक्त है, उस बुद्धि विशेष से संशोधित कर्मानुष्ठान का जो लक्ष्य है, उस 'योग' नामक फल का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि-हे सात्त्विक अर्जुन ! (श्रवण को श्रुति कहते हैं) हमसे सुनने के कारण विशेष रूप से प्रतिपन्न दूसरे समस्त अनात्म पदार्थों से विलक्षण, नित्य निरतिशय सूक्ष्म आत्मतत्त्व को विषय करने वाली स्वयं अचल-(एकरस) तेरी बुद्धि जब आसक्तिरहित कर्मानुष्ठान के द्वारा निर्मल किये हुए मन में निश्चल ठहर जायेगी, तब तू योग को, आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त होगा । कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्रजनित आत्मज्ञान सहित कर्मयोग स्थितप्रज्ञता नामक ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त कराता है और ज्ञाननिष्ठारूपा स्थितप्रज्ञता योग नामक आत्मसाक्षात्कार को सिद्ध करती है । इस श्लोक में भी 'समाधि' शब्द बुद्धि के सान्निध्य से मन का वाचक है, क्योंकि लिखा है कि **'समाधीयते अस्मिन् आत्मज्ञानम् इति समाधिः मनः'** ।। (गी. २।४४ श्रीरामानुज भाष्य) इस मन में आत्म ज्ञान भली-भाँति समाहित-प्रतिष्ठित किया जाता है, इसलिये मन का नाम समाधि है । इससे प्रकरण विरुद्ध जो 'समाधि' और 'योग' का अर्थ कुछ लोगों ने किया है, वह अमान्य है ।।५३।।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।५४।।

अन्वय :- **अर्जुन उवाच - केशव ! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा स्थितधीः किं प्रभाषेत किं आसीत किं व्रजेत ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे केशव ! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है वह स्थित बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ?

व्याख्या :- भगवान् के इस प्रकार कहने पर आसक्तिरहित कर्मानुष्ठान-रूप कर्मयोग के द्वारा सिद्ध होने वाली और (आत्मसाक्षात्कार रूप) योग की साधनरूपा स्थितप्रज्ञता का स्वरूप तथा स्थितप्रज्ञपुरुष के कर्मानुष्ठान की रीति जानने के लिये अर्जुन ने प्रश्न किया कि हे केशव ! 'क' यानी ब्रह्मा तथा 'ईश' यानी शिव इन दोनों देवों को अपने भीतर रखते हैं इससे श्रीकृष्ण का नाम केशव है । महाभारत में लिखा है कि **'केशवः केशिहा हरिः'** (महाभार. अनु. वि. स. ८२) केशव, केशिहा, हरि ये श्रीकृष्ण भगवान् के नाम हैं ।।८२।। प्राचीन समय में जितक्रोध ऋषि ने इस नाम मन्त्र को जपा था । अतएव जितक्रोध ऋषि इस नाम मन्त्र के ऋषि हैं । इस नाम मन्त्र को जपने से जितक्रोध ऋषि का क्लेश नष्ट हुआ । इससे यह नाम मन्त्र कलेश-नाशक है । 'केशव' शब्द से सम्बोधित करके अर्जुन यह बतलाता है कि- **'कश्च ईशश्च केशौ, केशौ वाति इति केशवः'** इस व्युत्पत्ति से क=ब्रह्मा, ईश=शिव इन दोनों को वाति=जो भीतर रखे उसे 'केशव' कहते हैं । स्वयं शिवजी स्कन्द-पुराण में कहते हैं--

क इति ब्रह्मणो नाम ईशोहं सर्वदेहिनाम् ।
आवां तवाङ्गसम्भूतौ तस्मात् केशव नामवान् ।। (स्क. पु.)

'क' यह ब्रह्मा का नाम है और सब देहवालों का 'ईश' मैं शिव हूँ । हम दोनों देव आप के अङ्ग में रहते हैं इससे आपका केशव नाम है । इसी बात को गीता में स्पष्ट कहा गया है -- **'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्'** (गी. ११।१५) कमलासन ब्रह्मा और पास में बैठे शिवजी को ।।१५।। इस प्रकार 'केशव' सम्बोधित करते हुए कहता है कि १-समाधिस्थ-स्थितप्रज्ञ पुरुष की भाषा क्या है-उसको बताने वाला कौन-सा लक्षण है ? यहाँ पर 'भाष्यते कथ्यते अनया इति भषा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप बतलाया जाय, उस लक्षण का नाम 'भाषा' है । अभिप्राय यह कि उसका स्वरूप कैसा होता है ? २-तथा वह स्थितप्रज्ञ पुरुष स्वयं क्या भाषण करता है ? अर्थात् कैसे बोलता है । ३-और वह स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बैठता है ? ४-तथा वह स्थितप्रज्ञपुरुष कैसे चलता है ? इस प्रकार से श्लोक में 'किम्' शब्द का प्रयोग करके चार प्रश्न किया गया है ।

भगवद्गीता के परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि जितने बार 'किम्' शब्द का प्रयोग हुआ है उतने प्रश्नबोधक हैं । जैसे इस श्लोक के पहले -

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैः (गी. १।३२)

हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है ? अथवा भोगों से क्या प्रयोजन है ? ।३२। यहाँ दो बार 'किम्' शब्द

आया है, इसमे दो प्रश्न का बोधक है और इस ५४ वें श्लोक के आगे आठवें अध्याय में अर्जुन ने पूछा है -

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ (गी. ८।१)

हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत क्या कहा गया है ? अधिदैव किसको कहा जाता है ? ।।१।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ (गी. ८।२)

हे मधुसूदन ! इस शरीर में यहाँ अधियज्ञ कैसे है ? और वह कौन है ? तथा मरने के समय संयत आत्मा वाले पुरुषों के द्वारा आप कैसे जाने जाते हैं ? ।।२।।

उक्त दोनों श्लोकों में आठ बार 'किम्' शब्द का प्रयोग है । इससे यहाँ भी आठ प्रश्न हैं इतना ही नहीं जो आकर ग्रन्थ 'महाभारत' है उसके अनुशासन पर्व में राजा युधिष्ठिर ने पूछा है -

किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम् ।
स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥ (महाभार. अनु. वि. सं. ४)

हे पितामह ! समस्त शास्त्रों में वर्णित उपासना के योग्य देवों में से परम प्रधान देव आपको कौन-से सम्मत हैं ? अत्यन्त उत्कृष्ट प्राप्य वस्तु (परायण) आपको मुख्यतया कौन-सी सम्मत है ? अधिकारी मनुष्य किसकी स्तुति करने से ? एवं किसका अर्चन करने से इस लोक तथा परलोक में शुभ पाते हैं ? ।।४।।

को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः ।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ।।५।।

कायिक, वाचिक, मानसिक जप, ध्यान, अर्चन आदि देवपूजन रूप सकल धर्मों में किस धर्म को आप सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ? और अधिकारी मनुष्य किसके गुण प्रतिपादक शब्दानुसन्धानरूप जप करके जन्म-मरणादिरूप क्लेश से मुक्त होता है ? ।।५।। यहाँ पर छः प्रश्न मानकर मायावादियों ने भी अर्थ किया है । इससे स्वोक्ति-विरोध का भी सज्जनों को ज्ञान नहीं है । और अन्यत्र भी देखिये लिखा है -

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः ।
क आसीच्छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थम् ॥
(ऋ. मं. ८ अ. ७ व. १८ मं. ३)

सबकी यथार्थ ज्ञान-बुद्धि कौन है ? मूर्ति कौन है ? सब संसार का कारण कौन है ? घृत के समान सार जानने योग्य कौन है ? और सीमा कौन है ? छन्द कौन है ? स्वतन्त्र तथा स्तुति करने योग्य कौन है ? ।।३।। यहाँ पर जितने 'किम्'

शब्द हैं उतने प्रश्न हैं । यजुर्वेद में भी-

मुखं किमस्यासीत्किबाहू किमूरू ॥ (यजुर्वे. अ. ३१ म. १०)

इस चतुर्मुख पुरुष का मुँह क्या हुआ ? भुजा क्या ? जंघा क्या ? ।।१०।। यहाँ तीन 'किम्' शब्द से तीन प्रश्न किया गया है । और श्रीरामायण में -

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् । (वा. रा. १।१।२)

इस समय संसार में गुणवान् कौन है ? और वीर्यवान कौन ? ।।२।। यहाँ दो बार 'किम्' शब्द आकर दो प्रश्न बोधक है । तथा -

किं त्वमेतच्छिरः किं नु ग्रीवा तव तथोदरम् ।
किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत्किं महीपते ॥ (वि. पु. २।१३।१०२)

क्या तू यह सिर है ? क्या यह ग्रीवा ? क्या यह पेट ? क्या और ये पैर आदि तू है ? हे राजन् ! क्या ये सब तेरे हैं ? ।।१०२।। यहाँ पर भी जितना 'किम्' शब्द आया है उतना प्रश्न बोधक है । और स्तोत्ररत्न में भी लिखा है कि-

कः श्रीः श्रियः परमसत्त्वसमाश्रयः कः कः पुण्डरीकनयनः पुरुषोत्तमः कः । (स्तो. र. १५)

श्रीलक्ष्मीदेवी जी की शोभा कौन है ? परम सत्त्वगुण का सम्यक् आश्रय कौन है ? कमल के समान नेत्रवाला कौन है ? पुरुषोत्तम कौन है ? ।।१५।। यहाँ पर भी चार बार 'किम्' शब्द आकर चार प्रश्न का बोधक है । इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होताहै कि गीता के इस ५४ वें श्लोक में चार प्रश्न हैं । इससे विरुद्ध स्वमताभिनिवेश में पड़कर जो लोग एक प्रश्न मानते हैं, वह विमत्सर विद्वत्-समाज में अमान्य है । यह अष्टांग योगवाला समाधि का प्रकरण भी नहीं है । इससे जो उस समाधिपरक अर्थ करते हैं, वह भी प्रकरण-विरुद्ध है ।।५४।।

श्रीभगवानुवाच
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।५५।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच पार्थ ! आत्मनि एव आत्मना तुष्टः यदा सर्वान् मनोगतान् कामान् प्रजहाति तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! मन से (आत्मस्वरूप का चिन्तन करते करते) उसी में (यानी आत्मा में) सन्तुष्ट (साधक) जब सभी मनोगत कामनाओं को प्रकृष्ट यानी पूर्ण रूप से त्याग देता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

व्याख्या :- यहाँ 'भगवान्' शब्द आया है जिसके विषय में महर्षि पराशर पुराणरत्न में कहते हैं -

एवमेष महाञ्छब्दो मैत्रेय भगवानिति ।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥ (वि. पु. ६।५।७६)

हे मैत्रेय ! यह भगवान् शब्द महान् अर्थ से सम्पन्न होने के कारण महान् है । इसके वाच्यार्थ परम ब्रह्म वासुदेव हैं, दूसरा कोई नहीं ।।७६।।

तत्र पूज्यपादार्थोक्ति परिभाषासमन्वितः ।
शब्दोऽयं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारतः ।।७७।।

क्योंकि यह शब्द परब्रह्म वासुदेव के पूज्य अवयवों को बतलाता हुआ उन्हीं के अर्थ में रूढ़ है । इस तरह उनके लिए इस शब्द का प्रयोग स्वाभाविक है । उनको छोड़कर जहाँ कहीं भी इसका दूसरे के लिए प्रयोग होता है वह औपचारिक (लाक्षणिक) प्रयोग है ।।७७।।

पूर्वोक्त लक्षण-विशिष्ट भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि-हे सात्त्विक पृथा-पुत्र ! आचरण भेद का वर्णन करने से स्वरूप का वर्णन भी हो जाता है । स्थितप्रज्ञ पुरुष के आचरण में चार प्रकार का भेद है । उसको अवरोहक क्रम से मैं कहता हूँ कि - जब मनुष्य आत्मा से, मन से केवल एक आत्मा का अवलम्बन करके आत्मा में ही संतुष्ट हो जाता है और उस सन्तोष के कारण उस (आत्मा) के अतिरिक्त अन्य समस्त मनोगत कामनाओं का पूर्णरूप से त्याग कर देता है, तब वह 'स्थितप्रज्ञ'कहलाता है । यहाँ पर 'आत्मना' पद मन का वाचक है । यह ज्ञानिष्ठा की काष्ठा (अन्तिम सीमा) है । यहाँ वशीकार संज्ञा का वर्णन है । वशीकार संज्ञा के विषय में लिखा है कि -

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा' (पा. यो. १।१।१५)

इस लोक में सुलभ होने वाले शब्दादि विषय और वेद में बताये गये स्वर्गलोकादि विषय इन दोनों प्रकार के विषयों से वितृष्ण अर्थात् वीतराग, विरक्त, निःस्पृह या उदासीन चित्त की 'वशीकार' संज्ञा होती है ।।५५।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।५६।।

अन्वय :- **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः मुनिः स्थितधीः उच्यते ।**

अर्थ :- दुःखों में उद्वेगरहित मनवाला, सुख में स्पृहारहित और रागभय तथा क्रोध से रहित मुनि स्थिर बुद्धि का कहलाता है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में ज्ञाननिष्ठ पुरुष की अन्तिम स्थिति के समीप की अवस्था का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि **'प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्'** मन के प्रतिकूल जो जाना जाय उसे दुःख कहते हैं । दुःख तीन प्रकार के होते हैं - १. दैहिक-देह में कुष्ठ, ज्वर, दर्द, आदि होना । २. दैविक-बिजली गिरना, पत्थर पड़ना आदि । ३. भौतिक-साँप, बिच्छू, बाघ आदि से प्राप्त होने वाले दुःख । इन्हीं दुःखों को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख भी कहते हैं । अथवा प्रियवियोगादि दुःख निमित्तों के उपस्थित होने पर भी जो अनुद्विग्न चित्त रहता है-उनसे दुःखी नहीं होता ।

'अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्' मनोनुकूल जानने योग्य चीज को सुख कहते हैं । छः सांसारिक सुख कहे गये हैं - १. धन की वृद्धि होना, २. सर्वदा आरोग्य रहना, ३. सुन्दर प्रिय भार्या होना, ४. प्रिय मधुरभाषिणी पत्नी होना ५. आज्ञाकारी पुत्र होना और ६. अर्थकरी विद्या होना । इन छः सुखों में स्पृहारहित रहता है अर्थात् प्रिय पदार्थों के सन्निकट रहने पर भी जो उनकी इच्छा नहीं करता तथा जो राग, भय और क्रोध से रहित हो गया है । १. अप्राप्त पदार्थों में स्पृहा को 'राग' कहते हैं । २. प्रिय के वियोग और अप्रिय की प्राप्ति के निमित्त को देखकर जो दु:ख होता है वह 'भय' कहलाता है । ३. प्रिय के वियोग और अप्रिय की प्राप्ति के निमित्तभूत दूसरे जीवों पर होने वाला जो दु:ख का हेतु अपने मन का विकार है, वह क्रोध है । जो इन तीनों दोषों से रहित है, ऐसा मुनि-(आत्ममननशील पुरुष) स्थितप्रज्ञ कहलाता है । यहाँ 'एकेन्द्रिय' संज्ञा का वर्णन है । एकेन्द्रिय संज्ञा के विषय में लिखा है कि -

'इन्द्रियप्रवर्तनासमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थानमेकेन्द्रियसंज्ञा ।

इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति में असमर्थ होने पर पक्व विषयों में जन्मान्तर के संस्कार से उत्सुकता मात्र को भी मन में अच्छी तरह से स्थापन करने को 'एकेन्द्रिय' संज्ञा होती है ।' ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

अन्वय :- **यः सर्वत्र अनभिस्नेहः तत् तत् शुभाशुभम् प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।**

अर्थ :- जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभाशुभ (यानी प्रिय पदार्थों के संयोग-वियोग) को प्राप्त कर न हर्ष करता है, न द्वेष, उसकी बुद्धि स्थिर है ।

व्याख्या :- उससे (पूर्वोक्त से) नीची स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि-जो सब जगह प्रिय वस्तुओं के स्नेह से रहित-(उदासीन) है तथा पदार्थों के संयोग रूप शुभ को प्राप्त कर जो हर्ष नहीं करता और वियोगरूप अशुभ को पाकर द्वेष नहीं करता । राग द्वेष का लक्षण लिखा है कि - **'सुखानुशयी रागः'** (योग. १।२।७) जो-जो सुख पहले प्राप्त हो चुके हैं या जिस जिस पदार्थ में यह ज्ञान हुआ है कि इससे सुख होता है अर्थात् यह सुख का साधन है ऐसे सुख या सुख साधन पदार्थ जाने हुए को जो उस सुख के स्मरण होने पर, उस सुख के होने में जो स्मरण से तृष्णा या लोभ होता है, उसको राग कहते हैं ।।७।। **'दु:खानुशयी द्वेषः'** (योग. १।२।८) जो-जो दु:ख या जिससे दु:ख पहले प्राप्त हुआ है उसके अनुस्मृति-पूर्वक स्मरण होने पर दु:ख में या उसके साधन में जो क्रोध होता है उसको द्वेष कहते हैं ।।८।। इनसे जो रहित है वह भी स्थितप्रज्ञ है । यहाँ 'व्यतिरेक' संज्ञा का वर्णन है । व्यतिरेक संज्ञा के विषय में लिखा है कि-

'तदारम्भे सति केचित् कषायाः पक्वाः पक्ष्यन्ते च केचित्,
तत्र पक्ष्यमाणेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकेणावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा ।
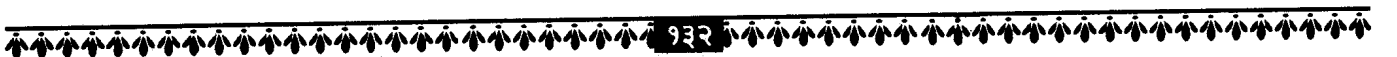
इन्द्रियों के विषयों के आरम्भ होने पर कुछ विषय परिपक्व हैं और कुछ विषय परिपक्व होंगे, उनमें परिपक्व होने वाले विषयों से परिपक्व विषयों के व्यतिरेक से मन में स्थापन करने को व्यतिरेक संज्ञा होती है ।।५७।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

अन्वय :- **कूर्मः अंगानि इव यदा च अयं इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः संहरते (तदा) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।**

अर्थ :- कच्छुआ जैसे अंगों को समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से सब ओर से समेट लेता है, (तब) उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ।

व्याख्या :- उससे (पूर्व से) नीची स्थिति बलाते हुए भगवान् कहते हैं कि हे पृथा-पुत्र ! श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण और त्वचा ये इन्द्रियाँ जब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन इन्द्रियों के विषयों को भोगने के लिये उद्यत हों उसी समय, जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है वैसे ही जो इन्द्रियों के विषयों से मन को सब प्रकार हटाकर केवल आत्मा में ही स्थापित कर लेता है, वह भी स्थितप्रज्ञ है । यहाँ 'यतमान' संज्ञा का वर्णन है । यतमान संज्ञा के विषय में लिखा है कि-

'रागादयः खलु कषायाश्चित्तवर्तिनस्तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यन्त तन्मा प्रावर्तिषतेन्द्रियाणि तत्तद्विषयेष्विति, तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नः सा यतमानसंज्ञा' ।

'निश्चय करके बहुत दिनों से चित्त में रहने वाले रागादिक इन्द्रियों को उनके विषयों में लगाते हैं, वे विषयों में न प्रवृत्त करें इसलिये इन्द्रियों को विषयों में लगने से हटाने के आरम्भ का जो प्रयत्न है वही 'यतमान' संज्ञा होती है ।।''

इनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अवस्थाएँ अपकृष्ट होती हैं । चारों अवस्थाओं में परस्पर निम्न प्रकार का भेद है । सर्वप्रथम उपासक अपनी बाह्य इन्द्रियों को विषयों से हटा कर मन को आत्मा में लगाने का प्रयास करता है । इसीका वर्णन **'यदा संहरते चायम्'** (गी. २।५८) के श्लोक में किया गया है । उपासक की इस अवस्था का नाम यतमानावस्था है और गीता के **'यः सर्वत्रानभिस्नेहः'** (गी. २।५७) के श्लोक से जिस अवस्था का वर्णन किया गया है वह स्थितधी की दूसरी अवस्था है । इस अवस्था में योगी शुभ और अशुभ को समान रूप से मानता हुआ राग द्वेष से परे हो जाता है । योगी की यह व्यतिरेकावस्था है । स्थितधी की तीसरी अवस्था एकेन्द्रियावस्था है । इस अवस्था का वर्णन **'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः'** (गी. २।५६) के श्लोक में किया गया है । इस स्थिति में साधक अवशिष्ट दोष के समाप्त हो जाने पर भी अनादि काल से प्रवृत्त विषय के अनुभव से जनित वासना का केवल अनुभव चाहने वाली बुद्धि को नष्ट कर देता है और दीर्घ काल के भुलाने के अभ्यास के द्वारा वासना को उन्मूलित कर देता है । स्थितप्रज्ञ की जिस अवस्था का वर्णन **'प्रजहाति यदा कामान्'** (गी. २।५५) इस श्लोक में किया गया है वह उसकी पराकाष्ठा है ।

इसका नाम वशीकार अवस्था है । यह मुमुक्षु के परम वैराग्य की दशा होती है । इस स्थिति में मोक्ष व्यतिरिक्त लौकिक पारलौकिक सभी विषयों में भी इसकी वितृष्णा हो जाती है ।

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (गी. २।५४) स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है ? ।।५४।। इस श्लोक में जो यह पहला प्रश्न है उसका उत्तर भगवान् ने भगवद्गीता के ५५ और ५६ तथा ५७ और ५८ इन चार श्लोकों के द्वारा दिया है ।

स्थितप्रज्ञ पुरुष भगवत्-चक्रावतार दिव्यसूरि श्रीभक्तिसार स्वामी जी थे । यह 'दिव्यसूरिचरित्र' और 'प्रपन्नामृत' नाम के गन्थ में स्पष्ट लिखा हुआ है ।।५८।।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।५९।।

अन्वय :- **निराहारस्य देहिनः विषया विनिवर्तन्ते रसवर्जं, अस्य रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते ।**

अर्थ :- निराहारी (विषयों से इन्द्रियों को हटा लेने वाले) पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस यानी राग को छोड़कर (यानी विषय-लालसा बनी रहती है) इस स्थितधी पुरुष का विषय-राग भी परम (सुख-रूप-आत्म-स्वरूप) का साक्षात्कार कर निवृत्त हो जाता है ।

व्याख्या :- अब ज्ञाननिष्ठा की दुर्लभता और उसकी प्राप्ति के उपाय बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ ! शब्दादि विषय इन्द्रियों के आहार हैं, निराहारी के-(इन्द्रियों के विषयों से हटा लेने वाले मनुष्य के) जो विषय छूटते हैं, यहाँ पर 'निराहारस्य' पद केवल भोजन के परित्याग के लिए नहीं आया है, क्योंकि भोजन के त्याग से केवल रसना इन्द्रिय के विषय की ही निवृत्ति होती है जबकि 'विषया:' पद में बहुवचन का प्रयोग करके शब्दादि समस्त विषयों के निवृत्त होने की बात कही गयी है । वे विषय रस के बिना छूटते हैं । आसक्ति को रस कहते हैं; तात्पर्य यह कि विषयों की आसक्ति विषय छूटने के साथ नहीं छूटती । जैसे रोग या मृत्यु के भय से डाक्टर के मना करने पर मनुष्य एक या अधिक विषयों का त्याग कर देता है, परन्तु उसकी आसक्ति बनी रहती है कि स्वस्थ होते ही उन विषयों को ग्रहण करूँगा, परन्तु विषयों की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ अतिशय सुखमय आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होने पर आसक्ति छूट जाती है ।

यहाँ प्राप्तावसर न्याय से **'स्थितधीः किं प्रभाषेत'** (गी. २।५४) स्थितप्रज्ञ पुरुष क्या भाषण करता है ? ।।५४।। इस श्लोक में जो यह दूसरा प्रश्न है उसका उत्तर भी योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने सूक्ष्म रूप से **'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गी. २।५९) इन पदों के द्वारा दिया है कि परम सुख रूप आत्मस्वरूप का साक्षात् करके इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की (यहाँ 'रसः' पद लक्षणा के द्वारा 'रसज्ञा' रसना का वाचक है), वह रसना प्राकृत विषयों के कहने से निवृत्त हो जाती है । तात्पर्य यह हुआ कि स्थितप्रपज्ञ पुरुष भगवत् विषय को ही बोलता है । जैसा कि 'द्विव्यसूरि चरित्र' में लिखा है कि चक्रावतार दिव्यसूरि श्रीभक्तिसार स्वामी ने दिव्य प्रबन्ध को ही कहा । इसी से पाण्डवगीता में पुलस्त्य ऋषि ने कहा है कि -

हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये ।
नारायणाख्यपीयूषं पिब जिह्वे निरन्तरम् ॥ (पा. गी. ६७)

हे रस के सार को जानने वाली तथा मीठी वस्तुओं को चाहने वाली रसने ! तू निरन्तर (सर्वदा) नारायण नामामृत को पिया कर ॥६७॥ इस प्रकार से यहाँ द्वितीय प्रश्न का उत्तर कहा गया ॥५६॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! हि प्रमाथीनि इन्द्रियाणि यततः विपश्चितः पुरुषस्य अपि मनः प्रसभं हरन्ति ।**

अर्थ :- हे कौन्तेय ! क्योंकि प्रमथनस्वभाववाली (यानी प्रमथनशील) इन्द्रियाँ यत्न करते हुए विवेकशील पुरुष के भी मन को बलपूर्वक हर लेती हैं ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को 'कौन्तेय' यानी हे कुन्ती-पुत्र ! सम्बोधन देकर यह बताते हैं कि प्रातः स्मरण मात्र से पवित्र कर देने वाली माता कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न होने से ही तूने युद्ध के समय स्थितप्रज्ञ जैसे सूक्ष्म प्रश्न किया है । अन्यथा ऐसा प्रश्न कौन कर सकता है ? इससे तुम्हारी माता की विलक्षणता ज्ञात होती है । आत्मसाक्षात्कार के बिना विषयासक्ति नहीं छूटती और विषयासक्ति के न छूटने पर निश्चय करके यत्न करने वाले विवेकशील पुरुष के भी मन को मथ डालने वली बलवती श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण- ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ- ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती (विषयों की ओर खींच लेती) हैं । मनुस्मृति में लिखा है कि - 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु. २।२१५) बलवान् इन्द्रियों का समूह ज्ञानी को भी (विषयों की ओर) खींच लेता है ॥२१५॥ इस प्रकार इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना आत्मसाक्षात्कार के अधीन है और आत्मदर्शन इन्द्रिय-विजय के अधीन है; अतएव ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति बड़ी कठिन है । यहाँ 'हि' शब्द निश्चयार्थक है । विपश्चित पुरुष के भी मन को इन्द्रियाँ मथ डालती हैं । इस सम्बन्ध में एक आख्यायिका का कथन यहाँ उपयुक्त है । श्रीवेदव्यास जी अपने शिष्य जैमिनि ऋषि को भगवान् के इसी श्लोक की व्याख्या समझा रहे थे । इस पर जैमिनि ने कहा कि ज्ञानी के मन को इन्द्रियाँ विचलित नहीं कर सकती हैं । इसलिए यह भगवान् का कहा हुआ 'विपश्चितः' पद नहीं है । श्रीमान् इसे हटा कर दूसरा पद लगा दें । इस पर श्रीव्यास जी जैमिनि को प्रमथन करने वली इन्द्रियों काअनुभव कराने के लिये अपने योगबल से अत्यन्त सुन्दरी स्त्री बनकर अन्य सखियों के साथ उनके सामने क्रीड़ा करने लगे । यद्यपि जैमिनि ऋषि एकान्त वास करने वाले, जंगल में गुफा बनाकर उसमें धूप आदि आने के लिये ऊपरी भाग में झरोखा बनाकर बहुत सावधानी के साथ रहते थे, परन्तु जब उस माघ के महीने में बूँद पड़ने से भींग कर साथ की सभी स्त्रियाँ भाग गईं तो अकेली सुन्दरी कन्या को देखकर जैमिनि को दया आ गई और उसके अनुनय को स्वीकार कर अपनी गुफा में उसे रात्रि निवास करने की उन्होंने आज्ञा प्रदान कर दी । स्वयं बाहर रहकर गुफा में जाती हुई कन्या को उपदेश दिया कि रात्रि में मेरे समान ही रूप बनाकर एक ब्रह्मराक्षस तुम्हारे पास यदि जाय तो अन्दर से बन्द किये द्वार को मत खोलना । वह हमारे सदृश अवाज भी करेगा फिर भी तुम सावधानीपूर्वक रहना । अर्धरात्रि जब होने लगी तो जैमिनि ऋषि का मन कन्या के

भींगने की स्थिति में देखे हुए अंग-प्रत्यंगों के स्मरण से व्याकुल हो उठा और उसके अत्यन्त पतले वस्त्रों से झलकते कमनीय सौन्दर्य को स्मरण कर कामातुर हो गुफा के द्वार पर जाकर खोलने के लिये आवाज देने लगे । स्वामीजी के दिये हुए उपदेश को सुनकर जब वह किसी प्रकार भी द्वार खोलने को राजी नहीं हुई तो क्षुब्ध मन वाले जैमिनि ऋषि गुफा के ऊपर पहुँच कर झरोखे को पत्थर से तोड़ कर नीचे आने के लिये लटक गये । इतने में श्रीव्यास जी ने ऊपर से उनकी शिखा पकड़ ली और कन्या ने उनका चरण पकड़ लिया । अन्त में लज्जित होने पर श्रीव्यास जी ने शिखा छोड़ दी और कन्या भी तिरोहित हो गई जिससे वे निराधार गुफा में गिर पड़े और उसमें रखी कील के धँसने से शरीर से रक्त निकलने लगा जिससे लिखी गई पुस्तक का नाम 'रक्त-गीता' पड़ा । इससे सिद्ध हो गया कि यत्न करते हुए ज्ञानी को भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ निश्चय करके भ्रष्ट कर देती हैं ।।६०।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६१।।

अन्वय :- **युक्तः तानि सर्वाणि संयम्य मत्परः आसीत हि यस्य इन्द्रियाणि वशे तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।**

अर्थ :- अतः युक्त पुरुष (यानी योगी) उन सबको (अर्थात् पूर्वोक्त इन्द्रियों को) ठीक से रोक कर मेरे परायण हो बैठे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे कुन्तीहृदयनन्दन ! समस्त (अन्योन्याश्रयादि) दोषों को दूर करने की इच्छा से, विषयानुराग से युक्त होने के कारण जिनपर सहज से विजय प्राप्त नहीं की जा सकती, उन सभी इन्द्रियों का संयम करके चित्त के शुभ आश्रयरूप मुझ (परमेश्वर) में मन को स्थिर करके सावधान होकर बैठना चाहिए । इस श्लोक के **'युक्त आसीत मत्परः'** इन पदों के आगे भगवद्गीता के छठे अध्याय में भी द्विबद्ध-सुबद्ध न्याय से भगवान् ने कहा है कि **'युक्त आसीत मत्परः'** (गी. ६।१४) सावधान एवं मेरे परायण होकर बैठे ।।१४।। और 'युक्त' का लक्षण भी उन्होंने कहा है कि -

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।। (गी. ६।८)

ढेले, पत्थर तथा सुवर्ण को समान समझनेवाला वह योगी युक्त कहा जाता है ।।८।। मन को मुझमें लग जाने पर, मेरे द्वारा समस्त पापों को पूर्णतया भस्म करके निर्मल किया हुआ विषयासक्ति-रहित मन, इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है, फिर इन्द्रियों को वश में कर लेने वाला मन आत्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है । कहा भी गया है -

यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम् ।। (वि. पु. ६।७।७४)

जैसे ऊँची लपटोंवाली प्रज्वलित अग्नि वायु का साथ पाकर घास के ढेर को भस्म कर देती है वैसे ही योगियों के चित्त में स्थित भगवान् विष्णु समस्त पापसमूह को भस्म कर डालते हैं ।।७४।। इसीलिये कहते हैं कि जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं; उसकी बुद्धि स्थित है ।

यहाँ पर भगवान् 'किमासीत' (गी. २।५४) स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बैठता है ? ।।५४।। यह जो अर्जुन का तीसरा प्रश्न है उसका उत्तर 'आसीत' पद से संकेत करते हुए देते हैं कि मेरे श्यामसुन्दर में मन लगाकर सावधान होकर बैठे। जैसे 'दिव्यसूरि चरित्र' में लिखा है कि चक्रावतार दिव्यसूरि श्रीभक्तिसार स्वामी तिरुमलसै दिव्यदेश में यानी महीसारपुर में सरोवर के तट पर सावधान होकर भगवान् में मन लगाकर बैठे थे। इनकी अकिंचनता को देखकर एक महात्मा द्वारा सिद्ध गुटका (पारस की भाँति सुवर्ण बना देने वाला) दिये जाने पर ढेला, पत्थर, सुवर्ण को समान समझने वाले युक्त योगी स्वामीजी ने नहीं लिया और उसके स्थान पर हाथ का मैल निकाल कर दे दिया जिसके फेंक देने पर सुवर्ण खनिज मैसूर राज्य में हो गया तथा भगवान् शंकर पार्वती के साथ जब उनके यहाँ गये और वर माँगने का कई बार आग्रह उन्होंने किया तो वे बोले कि मेरी सूई में डोरा चला जाया करे, यही वर दें। इससे अपना अपमान समझकर शंकरजी ने तृतीय नेत्र खोलकर अपनी ज्वाला उनके ऊपर छोड़ी, परन्तु वह दिव्यसूरि के चरण के नेत्र की ज्वाला से शान्त हो गई ।।६१।।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।

अन्वय :- **विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु संगः उपजायते सङ्गात् कामः संजायते, कामात् क्रोधो अभिजायते ।**

अर्थ :- (मेरे परायण न हो) विषयों का ध्यान करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध का आविर्भाव होता है।

व्याख्या :- इस प्रकार मुझ परमेश्वर में मन न लगाकर जो अपने प्रयत्न के बल से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का यत्न करता है, वह नष्ट हो जाता है। यह बात बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के भीतर विष है, इसलिये इनका नाम विषय है। जो विषयासक्ति का नाश नहीं कर चुका है और जिसने मुझमें मन नहीं लगा लिया है, वह चाहे इन्द्रियों का संयम करके ही क्यों न बैठ गया हो, अनादि पापवासना के कारण उसके द्वारा विषयों का चिन्तन होना अनिवार्य हो जाता है। विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति फिर से बहुत अधिक बढ़ जाती है। आसक्ति से काम उत्पन्न होता है। आसक्ति की परिपक्वावस्था का नाम 'काम' है। जिस दशा को प्राप्त होकर मनुष्य विषयों का भोग किये बिना रह नहीं सकता, वह दशा 'काम' है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है। काम बना रहे और कामनानुसार विषयों की प्राप्ति न हो तो उस समय पास रहनेवाले पुरुषों पर क्रोध होता है कि इन लोगों के द्वारा हमारा अभीष्ट विषय नष्ट कर दिया गया। इस प्रकार भगवान् संकेत करते हैं कि जो अपने योग, तप, ज्ञानादि के भरोसे इन्द्रियों को विषयों से हटा लेते हैं वे गिर जाते हैं और जो मेरे भरोसे रहते हैं उनकी इन्द्रियाँ विषयों से हट जाती हैं। इसीलिये आगे भी कहते हैं -

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । (गी. ९।३४)

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको नमस्कार कर ।।३४।। इसलिये भगवान् में मन लगाकर विषयों से इन्द्रियों को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए ।।६२।।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३।।

अन्वय :- **क्रोधात् संमोहः भवति, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।**

अर्थ :- क्रोध से संमोह (मूढ़ता यानी विवेक-शून्यता) होता है, अविवेक (या संमोह) से स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से वह बिल्कुल नष्ट हो जाता है (अर्थात् संसार-सागर में डूब जाता है)

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! क्रोध से संमोह होता है । कर्तव्याकर्तव्य का विवेक न रहना संमोह है, उसके कारण मनुष्य सब कुछ कर डालता है । उससे फिर, इन्द्रिय-जय आदि के लिये प्रारम्भ किये हुए प्रयत्न की स्मृति नष्ट हो जाती है । अभिप्राय यह कि भगवान् के नाम लेने, महात्माओं से श्रवण किये हुए उपदेश आदि के स्मरण की शक्ति नष्ट हो जाती है । स्मरण-शक्ति के नष्ट होने से निश्चयात्मिका बुद्धि नष्ट हो जाती है, आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये जो निश्चय किया गया था, उसका नाश हो जाता है । इस प्रकार बुद्धिनाश होने पर वह फिर से नष्ट हो जाता है - संसार में डूबकर नष्ट हो जाता है ।।६३।।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।६४।।

अन्वय :- **तु विधेयात्मा रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् प्रसादम् अधिगच्छति।**

अर्थ :- परन्तु मन को वश में रखने वाला पुरुष राग-द्वेष से रहित, अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करते हुए भी अन्तःकरण की निर्मलता को प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ ! जो पहले बतलायी हुई विधि के अनुसार चित्त के शुभ आश्रयरूप मुझ सर्वेश्वर भगवान् में मन का निक्षेप करने वाला पुरुष समस्त पाप पूर्णतया भस्म हो जाने के कारण राग द्वेष से रहित (सुखानुशयी को राग कहते हैं और दुःखानुशयी को द्वेष कहते हैं) और अपने वश में की हुई श्रोत्र, त्वचा चक्षु, रसना घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का सेवन करता है, यानी विषयों की उपेक्षा करके उनमें व्यवहार करता है । वह मन को वश में रखने वाला पुरुष प्रसाद को प्राप्त करता है । अभिप्राय यह कि उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है । इस श्लोक में 'आत्मा' शब्द मनवाचक है ।।६४।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।६५।।

अन्वय :- **प्रसादे अस्य सर्वदुःखानां हानिः उपजायते हि प्रसन्नचेतसः बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते ।**

अर्थ :- अन्तःकरण की निर्मलता पाने पर इसके सभी दुःखों का नाश हो जाता है, क्योंकि प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र (बहुत जल्द) स्थिर हो जाती है ।

व्याख्या :- भगवान् 'स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे चलता है ?' अर्जुन के इस चौथे प्रश्न का उत्तर देने के लिये पूर्व के श्लोक से ही भूमिका बाँधते हुए कहते हैं कि कौन्तेय ! मुझमें मन को लगाकर उसे वश में रखने वाले पुरुष का मन निर्मल हो जाने के कारण उसके प्रकृति-संसर्ग से प्रयुक्त समस्त आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःखों का नाश हो जाता है। उस प्रसन्नचित यानी आत्मसाक्षात्कार के विरोधी दोषों से रहित मनवाले पुरुष की प्रकृति-संसर्गरहित आत्मविषयक बुद्धि (जिसे 'व्यवसायत्मिका बुद्धिः' (गी० २।४१) निश्चयात्मिका बुद्धि ।।४१।। करके कह चुका हूँ) उसी क्षण मुझमें भलीभाँति स्थित हो जाती है। अतएव मन के प्रसाद से (निर्मल हो जाने से) समस्त दैहिक, दैविक, भौतिक दुःखों का नाश निश्चय ही हो जाता है ।।६५।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।

अन्वय :- **अयुक्तस्य बुद्धिः न अस्ति च अयुक्तस्य भावना न, अभावयतः शान्तिः न, च अशान्तस्य सुखं कुतः ?**

अर्थ :- अयुक्त (यानी मुझ में मन का निक्षेप न करने वाले) पुरुष की बुद्धि (आत्मविषयक) नहीं होती और न अयुक्त पुरुष की (आत्मविषयक) भावना ही होती है। भावना-रहित पुरुष को शान्ति नहीं और अशान्त को सुख कहाँ से ?

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ ! मन का मुझमें निक्षेप न करने वाले अपने ही प्रयत्न से इन्द्रियदमन में लगे हुए पुरुष में प्रकृतिसंसर्गरहित आत्मविषयक बुद्धि कभी सिद्ध नहीं हो सकती। अतएव उसकी आत्मविषयक भावना भी नहीं हो सकती। प्रकृतिसंसर्गरहित आत्मा की भावना न करनेवाले पुरुष की विषयेच्छा शान्त नहीं होती और शान्तिशून्य विषयलालसायुक्त पुरुष को नित्य निरतिशय सुख की प्राप्ति कहाँ ? इस सुख के विषय में भगवान् ने आगे कहा है कि-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।। (गी. ६।२१)

ऐसा जो इन्द्रियों से अतीत और बुद्धिग्राह्य आत्यन्तिक सुख है (उसको) जिस योग में वह जानता है और जिस योग में स्थित हुआ वह फिर आत्मस्वरूप से विचलित नहीं होता ।।२१।।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।। (गी. १८।३७)

वह जो पहले तो विष के समान और परिणाम में अमृततुल्य होता है और आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है ।।३७।।६६।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।

अन्वय :- **हि चरतां इन्द्रियाणां यत् मनः अनुविधीयते तत् अस्य प्रज्ञां हरति, वायुः अम्भसि नावं इव ।**

अर्थ :- क्योंकि विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के पीछे जो मन लगाया जाता है, वह उसकी बुद्धि को वैसे ही हर लेता है, जैसे वायु जल में नौका को ।

व्याख्या :- पहले बतलाई हुई विधि से इन्द्रियदमन न करने वाले मनुष्य को जिस अनर्थ की प्राप्ति होती है, परम कारुणिक भगवान् उसे फिर भी कहते हैं कि हे पार्थ ! **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** (वि. पु. ६।७।२८) मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है ।।२८।। इसलिये मनुष्य के द्वारा जो मन शब्दादि विषयों में विचरण करने वाली, विषय-सेवन में लगी हुई श्रोत्रादि इन्द्रियों के मार्ग में उनके साथ-साथ लगा दिया जाता है, वह मन उस मनुष्य की प्रकृति संसर्गरहित आत्मा की ओर प्रवृत्त प्रज्ञा (बुद्धि) हर लेता है, अर्थात् उसे विषयों की ओर प्रवृत्त कर देता है । ठीक उसी तरह जैसे जल में चलायी जाने वाली नौका को प्रतिकूल वायु बलपूर्वक हर लेती है, यानी मार्गच्युत कर देती है । (द्रवत्व होते हुए समवाय सम्बन्ध में शीत स्पर्श वाला जो हो उसे जल कहते हैं । रूप रहित होते हुए स्पर्श वाला जो हो उसे वायु कहते हैं) ।।६७।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।।

अन्वय :- **तस्मात् महाबाहो ! यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।**

अर्थ :- इसलिये हे महाबाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सभी ओर से निग्रह की हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् हे महाबाहो ! कहकर बड़ी विलक्षण मुद्रा से उपदेश दे रहे हैं । महान्-बड़ा श्रेष्ठ जिसकी भुजा हो उसे महाबाहो कहते हैं । यह पद सर्वदा भगवान् के लिए प्रयोग किया गया है । भगवद्गीता के प्रथम षट्क में अर्जुन कहता है -

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि । (गी. ६।३८)

हे महाबाहो ! वह ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ आश्रयरहित पुरुष ।।३८।। और द्वितीय षट्क में कहता है -

महाबाहो बहुबाहूरुपादम् । (गी. ११।२३)

हे महाबाहो ! बहुत भुजा जाँघ और पैरों वाले ।।२३।। फिर तृतीय षट्क में भी कहता है-

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् । (गी. १८।१)

हे महाबाहो ! संन्यास के तत्त्व को मैं जानना चाहता हूँ ।।१।। इस प्रकार तीनों षट्कों में अर्जुन ने भगवान् को 'महाबाहो' कहकर सम्बोधित किया है । भगवान् श्रीकृष्ण भी-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । (गी. ४।११)

जो प्रपन्न मुझको जैसे भजते हैं उनको मैं वैसे ही भजता हूँ ।।११।। अपने इस कथनानुसार अर्जुन को 'महाबाहो' सम्बोधन देकर कहते हैं कि तुम हमारे समान कौन कहे बढ़ करके हो, क्योंकि मैं तो सम्पन्न गृह में था, गोप बालकों के साथ गौ चराने जाता था तथा उस समय अघासुर बकासुर राक्षस मेरे पास आये थे जिनको मारकर गौओं की रक्षा मैंने की, परन्तु तुम तो विराट नगर में अज्ञातवास के समय महाविपत्ति और दरिद्रता में भी द्रोणाचार्य, भीष्माचार्य आदि को अकेले ही नुपंसक वेष में अपनी भुजाओं से पराजित कर गौओं की रक्षा की । इसलिये तुम वास्तव में महाबाहो कहलाने योग्य हो । इससे भगवान् यह बताते हैं कि गौ की सेवा ही महानता का चिह्न है । भगवान् की अपौरुषेय वेदवाणी गो माता की महिमा वर्णन करते हुए कहती है-

तुभ्यं गावो घृतं पयो बभ्रो दुदुह्रे अक्षितम् । (ऋ. मं ६ सू. ३१।५)

हे मानवो ! गायें तुम्हें स्थायी शक्ति देने वाला दुग्ध और घृत प्रदान करती हैं । इनकी सेवा करना ।।५।। इसीलिये गाय के महत्त्व को द्योतन करने क लिए भगवान् 'महाबाहो' सम्बोधन देते हुए कह रहे हैं कि -अतएव पहले बतलायी हुई विधि से शुभाश्रयरूप मुझ परमेश्वर में संलग्न मनवाले जिस पुरुष की श्रोत्रादि इन्द्रियाँ इन्द्रियों के शब्दादि विषयों से सर्वथा निगृहीत हैं, उसी की बुद्धि आत्मा में स्थिर होती है ।।६८।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९।।

अन्वय :- **सर्वभूतानां या निशा तस्यां संयमी जागर्ति, यस्यां भूतानि जाग्रति सा पश्यतः मुनेः निशा ।**

अर्थ :- सम्पूर्ण प्राणिवर्ग की जो रात्रि है, उसमें संयमी जागता है और जिसमें समस्त भूत (यानी प्राणिवर्ग) जागते हैं, वह आत्मदर्शी मुनि की रात्रि है ।

व्याख्या :- इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ वश में हो चुकी हैं और मन प्रसन्न (निर्मल) हो चुका है; उस पुरुष की सिद्धि का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि हे कौन्तेय ! जो आत्मविषयक बुद्धि समस्त प्राणियों के लिये रात्रि की भाँति प्रकाश से रहित है, उस आत्मविषयक बुद्धि में प्रसन्न (निर्मल) मनवाला इन्द्रिय-संयमी पुरुष जागता है-आत्मसाक्षात्कार करता रहता है । शब्दादि विषयों में लगी हुई जिस बुद्धि में समसत प्राणी जागते-(सावधान) रहते हैं, वह शब्दादि विषयों में लगी हुई बुद्धि आत्मा का साक्षात् कर लेने वाले मुनि के लिए रात्रि की भाँति प्रकाशरहित होती है ।

इस श्लोक में 'संयमी' पद आया है । सम्यक् यम जिस पुरुष में हो उसे संयमी कहते हैं । यम के विषय में लिखा है कि -

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं चेतियमा दश ।। (वरा. अ. ५ श्रु. १३)

१-अहिंसा, २-सत्य, ३-अस्तेय, ४-ब्रह्मचर्य, ५-दया, ६-कोमलता, ७-क्षमा, ८-धीरता, ६-मिताहार, १०-शौच ये दस यम हैं ।।१३।। और भी 'शाण्डिल्योपनिषद्' में तथा 'जाबालदर्शनोपनिषद्' में दस यम कहा है, इससे योगदर्शन में जो पाँच

ही वर्णन है वह वेद-विरुद्ध होने से त्याज्य है, इस बात को भगवान् वेदव्यास जी ने भी **'एतेन योगः प्रत्युक्तः'** (ब्र. सू. अ. २ पा. १ सू. ३) इस शारीरक सूत्र करके कहा है और श्रीभाष्यकार भी इस सूत्र के भाष्य में यह कहते हैं कि जो वेद से विरुद्ध योगशास्त्र का सिद्धान्त है वह इस सूत्र से खण्डित हो गया । अब अहिंसा आदिक को निरूपण करता हूँ ।

तत्र हिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदा क्लेशजननम् ॥ (शाण्डिल्योप. श्रु. १)

सर्वदा मन, वाणी, शरीर के कर्म से सब जीवों को दुःख देना इसको हिंसा कहते हैं और इससे जो विरुद्ध हो उसको अहिंसा कहते हैं ।।१।।

सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम् ॥ (शा. श्रु. १)

मन, वाणी, शरीर के कर्म से जीवों के हितार्थ जो यथार्थ कहा जाता है उसको सत्य कहते हैं ।।१।।

अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निस्पृहा ॥ (शा. श्रु. १)

मन, वाणी, शरीर के कर्मों से परद्रव्य में स्पृहा न करना इसको अस्तेय कहते हैं ।।१।।

ब्रह्मचर्यनाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः ॥ (शा. श्रु. १)

सब अवस्थाओं में मन, वाणी और शरीर के कर्मों से मैथुन त्याग देना इसको ब्रह्मचर्य कहते हैं ।।१।।

दयानाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः । (शा. श्रु. १)

सर्वत्र सब जीवों पर अनुग्रह करना इसको दया कहते हैं ।।१।।

आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहिता-विहितेषु जनेषु
प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम् ॥ (शा. श्रु. १)

वेद-विहित या अविहित कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों में प्रवृत्त हों या निवृत्त हों उन जनों में जो एकरूपता हो उसको आर्जव कहते हैं ।।१।।

क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम् ॥ (शा. श्रु. १)

प्रिय या अप्रिय करे, ताड़े या पूजे इन सबों को सह लेना इसको क्षमा कहते हैं ।।१।।

धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतः स्थापनम् ॥ (शा. श्रु. १)

अर्थ के लाभ और हानि में तथा अपने इष्ट बन्धु के वियोग और प्राप्ति में सर्वदा चित्त को दृढ़स्थापन करना इसको धृति कहते हैं ।।१।।

मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषसुस्निग्धमधुराहारः ॥ (शा. श्रु. १)

पेट के चौथा भाग बरा के सुन्दर, स्निग्ध और मीठा भोजन करना इसको मिताहार कहते हैं ।।१।।

शौचं नाम द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम् ।
मनः शुद्धिरान्तरम् तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् ॥ (शा. श्रु. १)

शौच बाह्य और आभ्यन्तर इस भेद से दो प्रकार का होता है, उसमें मिट्टी और जल से बाह्य शौच होता है और मन की शुद्धि से आभ्यन्तर शौच होता है। वह आभ्यन्तर शौच ब्रह्म-विद्या से प्राप्त होता है ।।१।। अब यम साधन से जो फल है उसको कहता हूँ ।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ (यो. अ. १ पा. २ सू. ३५)

जो योगी हिंसा को त्याग देता है उसके समीप में अन्य सब जीवों का वैर भाव छूट जाता है ।।३५।।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । (यो. १।२।३६)

जो योगी सर्वदा सच्चा बोलता है उसकी वाणी, क्रिया और मनोरथ सब सच्चे होते हैं ।।३६।।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् । (यो. १।२।३७)

जब साधक पुरुष चोरी को त्याग देता है तब उसको सब स्थान में रत्न प्राप्त होता है ।।३७।।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । (यो. १।२।३८)

जो योगी ब्रह्मचर्य पालन करता है उसको बल प्राप्त होता है ।।३८।।

जो योगी जीवों पर सर्वदा दया रखता है उसको संसार में निर्दय कोई भी नहीं मिलता है । जो योगी कोमल स्वभाववाला हो जाता है उसके समीप में अन्य सब जीव भी कोमल ही रहते हैं । जो योगी क्षमा रखता है उसके पास में क्रोधी नर भी शान्त हो जाता है । जिसकी धृति सिद्ध हो जाती है-उसका मन किसी प्रकार से उद्विग्न नहीं होता है । जो सर्वदा मिताहार करता है उसको कभी भी रोग अत्यन्त पीड़ित नहीं करता है । अब शौचका फल कहता हूँ ।

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ (यो. १।२।४०)

बाह्य शौच से अपने अंगों में घृणा और दूसरे से अपना शरीर मिलाने में संकोच करके सदा अलग रहता है ।।४०।।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ (यो. १।२।४१)

और आभ्यन्तर शौच से अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा मन की प्रसन्नता होती है और चित्त का ऐकाग्र्य होता है तथा इन्द्रियों को जीतता है, इसके बाद आत्मदर्शन के योग्य होता है ।।४१।।६६।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।७०।।

अन्वय :- आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठम् समुद्रम् यद्वत् आपः प्रविशन्ति, तद्वत् यं सर्वे कामाः प्रविशन्ति, सः शान्तिम् आप्नोति कामकामी न ।

अर्थ :- सब ओर से परिपूर्ण यानी भरे हुए अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में जैसे (यानी बिना कोई क्षोभ पैदा किये) नद-नदियों का जल समा जाता है, वैसे ही जिस पुरुष में समस्त काम (शब्दादि विषय) प्रवेश कर जाते हैं (यानी बिना क्षोभ उत्पन्न किये ही समा जाते हैं) वही शान्ति को प्राप्त करता है, भोगों की कामना वाला नहीं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे कौन्तेय ! जैसे अपने-आप से परिपूर्ण एकरूप समुद्र में नद-नदियों के जल प्रवेश करते हैं, उनके जलों के प्रवेश करने या न करने से समुद्र किसी भी विशेषता को नहीं प्राप्त होता, वैसे ही समस्त काम-(**'काम्यन्ते इति कामाः'** जिनकी कामना की जाय उनका नाम काम है इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दादि विषयों (भोगों) को काम कहते हैं) शब्दादि विषय जिस संयमी पुरुष में प्रवेश कर जाते हैं - उसकी इन्द्रियों के द्वारा सेवन किये जाते हैं, वह शान्ति पाता है । अभिप्राय यह कि श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषयों का सेवन किये जाने और न किये जाने में भी, जो पुरुष अपने आत्मसाक्षात्कार से सदा तृप्त रहने क कारण विकार को प्राप्त नहीं होता, वही शान्ति को प्राप्त करता है, भोगों की कामना करनेवाला नहीं, अर्थात् जो शब्दादि विषयों के द्वारा विकार को प्राप्त होता है, वह कभी भी शान्ति को नहीं पाता ।।७०।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।

अन्वय :- **यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निस्पृहः निर्ममः निरहंकारः चरति सः शान्तिम् अधिगच्छति ।**

अर्थ :- जो पुरुष सब विषयों को छोड़कर, उनमें स्पृहाहीन होकर ममता और अभिमान से रहित होकर आचरण करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! **'काम्यन्ते इति कामाः शब्दादयो विषयाः'** जिनकी कामना की जाय, उनका नाम काम है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दादि विषयों को काम कहते हैं । जो पुरुष शब्दादि सब विषयों को छोड़कर उनमें निःस्पृह यानी आसक्तिरहित और ममतारहित होकर एवं अनात्मा-(शरीर) में आत्माभिमान से रहित होकर विचरता है, वह आत्मा का साक्षात्कार करके शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

यहाँ पर भगवान् **'व्रजेत किम्'** (गी. २।५४) स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे चलता है ? ।।५४।। यह जो अर्जुन ने गत्यर्थक व्रज् धातु का प्रयोग करके प्रश्न किया है उसका उत्तर इस श्लोक में तदनुरूप गत्यर्थक चर् धातु के 'चरति' पद के द्वारा संकेत करके तीन पाद **'विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः । निर्ममो निरहंकारः'** के द्वारा कहते हैं, कि जो स्थितप्रज्ञ पुरुष है वह स्थितप्रज्ञ पुरुष शब्दादि सब विषयों को छोड़कर तथा उनमें निःस्पृह होकर और ममतारहित होकर एवं शरीर के आत्माभिमान से रहित होकर विचरता है । जैसे 'दिव्यसूरि चरित्र' में लिखा है कि चक्रावतार दिव्यसूरि श्रीभक्तिसार स्वामीजी श्रीकाञ्चीपुरी के श्रीयथोक्तकारी दिव्यदेश से उक्त लक्षण विशिष्ट होकर चले

और इस श्लोक के चौथा पाद **'स शान्तिमधिगच्छति'** इसमें यह बतलाया गया है कि वह स्थितप्रज्ञ पुरुष आत्मा का साक्षात्कार करके शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।।७१।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।७२।।
।। इति द्वितीयोऽध्यायः ।।

यहाँ आज दूसरा अध्याय समाप्त हो गया । इससे **'अध्यायान्तेद्विरुक्तिः स्यात्'** (गारुड सं. २।४।२३) अध्याय के अन्त के पद्य को दो बार पाठ करना चाहिए ।।२३।। इस आप्त वचन के अनुसार 'एषा ब्राह्मी स्थितिः' (गी. २।७२) इस श्लोक का दो बार पाठ करना चाहिए, क्योंकि ऐसा ही उपनिषदों में और ब्रह्म-सूत्र में देखा जाता है ।

अन्वय :- **पार्थ ! एषा ब्राह्मी स्थितिः, एनां प्राप्य न विमुह्यति, अन्तकाले अपि अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है, इसको पाकर (मनुष्य) फिर मोहित नहीं होता । अन्तकाल में भी इसमें स्थित होकर आत्यन्तिक सुखस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

व्याख्या :- इस दूसरे अध्याय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि हे हमारी बूआ पृथा के पुत्र तथा एकमात्र मेरे चरणयुगल का आश्रय करने वाले अर्जुन ! नित्य आत्मा के ज्ञान से युक्त, आसक्ति-रहित कर्मों में होनेवाली यह स्थिर बुद्धिरूपा स्थिति ब्राह्मी यानी ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली स्थिति है । इस प्रकार की कर्मस्थिति को पाकर पुरुष फिर मोहित नहीं होता-फिर संसार को प्राप्त नहीं होता । यहाँ तक कि अन्तिम आयु में भी इस स्थिति में स्थित होकर मनुष्य निर्वाण ब्रह्म को यानी शान्तिमय ब्रह्म को पा जाता है, अर्थात् एकतान सुखस्वरूप आत्मा को प्राप्त हो जाता है । इस श्लोक में 'ब्रह्म' पद आया है इससे मैं 'ब्रह्म' के विषय में कहता हूँ कि 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में लिखा है कि-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि
जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति'
(तैत्तिरी. भृगुव. ३ अनुवा. १।१)

जिससे ये सम्पूर्ण जीव उत्पन्न होते हैं तथा जो समस्त जीवों की रक्षा और संहार करता है तथा जिससे मोक्ष को प्राप्त होते हैं उसको जानने की इच्छा करो वही ब्रह्म है ।।१।।

और 'ब्रह्मसूत्र' में भी लिखा है कि - **'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्र. सू. १।१।२) इस समस्त जड़ चेतनात्मक संसार का जन्म, स्थिति, लय और मोक्ष जिससे होता है वही ब्रह्म है ।।२।।

इस प्रकार दूसरे अध्याय में आत्मा के यथार्थ स्वरूप को और युद्ध रूप कर्म उस आत्मा की प्राप्ति का साधन है, इस बात को न जाननेवाले, शरीर को आत्मा समझकर मोहित हुए और उसी मोह के कारण युद्ध से विरत हुए अर्जुन

के प्रति उसके मोह की शान्ति के लिये भगवान् ने नित्य आत्मविषयक सांख्यबुद्धि और उसके सहित आसक्तिरहित कर्मानुष्ठानरूप कर्मयोगविषयक बुद्धि बतलायी-

स्थितप्रज्ञतारूप योग को प्राप्त करनेवाली बुद्धि का वर्णन जिसे **एषा तेऽभिहिता सांख्ये**' (गी. २।३९) कह चुके हैं उसी को इस श्लोक में 'एषा' द्वारा समाप्त करते हैं । ऐसा ही 'गीतार्थ-संग्रह' में कहा गया है कि -

नित्यात्मासङ्गकर्मेहागोचरा सांख्ययोगधीः ।
द्वितीये स्थितधीलक्ष्या प्रोक्ता तन्मोहशान्तये ॥
(गीतार्थ-संग्रह श्लो. ६)

दूसरे अध्याय में उस अर्जुन के मोह की शान्ति के लिये नित्यात्मज्ञानविषयक सांख्यबुद्धि और आसक्तिरहित कर्मानुष्ठान विषयक योग-बुद्धि, जिनका साध्य 'स्थितप्रज्ञता' है, भगवान् ने कही ॥६॥७२॥

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।१।।

अन्वय :- **जनार्दन ! चेत् ते कर्मणः बुद्धि ज्यायसी मता, तत् केशव ! माम् घोरे कर्मणि किं नियोजयसि ?**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे जनार्दन ! अगर आपके मत में कर्म से बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो फिर हे केशव ! इस घोर कर्म (यानी युद्धरूपी हिंसात्मक) कर्म में क्यों लगाते हैं ?

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् के उपदेश को पूर्णरूप से न समझने के कारण संदेह कर रहा है । यहाँ भगवान् को जनार्दन सम्बोधित करके प्रश्न करता है । **'जनैः अर्द्यते याच्यते इति जनार्दनः'** भक्तजन अभिमत सिद्धि के लिये जिनसे याचना करते हैं उस पुरुष का नाम जनार्दन है । भगवान् श्रीकृष्ण जनार्दन हैं, क्योंकि भक्त अक्रूर, मालाकार, सौरन्ध्री, व्रजवनिताएँ, विदुर आदि ने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये उनसे याचना की ।

अर्जुन कहता है कि आप पहले कह चुके हैं कि - **'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय'** (गी. २।४६) क्योंकि धनंजय ! बुद्धियोग की अपेक्षा अन्य कर्म अत्यन्त निकृष्ट हैं ।।४६।। तथा **'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'** (गी. २।५०) ज्ञानयोग से युक्त जो नर-नारी हैं, पुण्य और पाप दोनों को यहाँ ही त्याग देते हैं ।।५०।। इससे सिद्ध होता है कि कर्मयोग से ज्ञान श्रेष्ठ है ।

फिर 'केशव' शब्द से सम्बोधित करके अर्जुन यह बतलाता है कि **'कश्च ईशश्च केशौ, केशौ वाति इति केशवः'** इस व्युत्पत्ति से क=ब्रह्मा, ईश=शिव इन दोनों को वाति=जो भीतर रखे उसे 'केशव' कहते हैं । इस प्रकार केशव सम्बोधित करते हुए कहता है कि आप मुझे घोर कर्म हिंसात्मक युद्ध में क्यों लगा रहे हैं ? आप कह भी चुके हैं- **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** (गी. २।१८) इसलिए भारत ! तू युद्ध कर ।।१८।। आगे **'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।'** (गी. २।३७) अतः युद्ध का निश्चय करके उसके लिए खड़ा हो जा ।।२७।। फिर आगे **'ततो युद्धाय युज्यस्व'** (गी. २।३८) उसके बाद तू युद्ध आरम्भ कर ।।३८।। इन वाक्यों से सिद्ध हो गया कि आप हिंसात्मक कर्म में लगा रहे हैं जबकि 'अहिंसा परमो धर्मः' कहा गया है । कहने का अभिप्राय है कि आप बता चुके हैं कि आत्मसाक्षात्कार का (एकमात्र) साधन ज्ञाननिष्ठा है, कर्मनिष्ठा तो केवल उसे उत्पन्न करने वाली है तथा आत्मसाक्षात्कार की साधनभूता वह ज्ञाननिष्ठा, समस्त इन्द्रियों और मन के शब्दादि विषय सेवन रूप व्यापार की उपरति से सिद्ध होने वाले आत्मज्ञान को प्राप्त करना ही आपको अभीष्ट है, तो समस्त कर्मों की निवृत्ति के साथ ज्ञाननिष्ठा में ही मुझे नियुक्त करना

उचित है, फिर आप मुझको इस आत्मज्ञान के विरोधी सब इन्द्रियों के व्यापार रूप घोर कर्म में क्यों लगाते हैं ? ।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।२।।

अन्वय :- **व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसि इव, तत् निश्चित्य एकं वद येन अहम् श्रेयःआप्नुयाम् ।**

अर्थ :- आप मिली-जुली सी बात कहकर मेरी बुद्धि को मानो मोह रहे हैं (अतएव) आप निश्चित करके एक ही बात कहिये जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ (यानी आत्मकल्याण को प्राप्त करूँ)

व्याख्या :- भगवान् के दिये हुए मार्मिक उपदेश को अर्जुन समझ न सका । पहले अर्जुन को ज्ञानयोग का उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा कि **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** ।।

'निर्योगक्षेम आत्मवान्' (गी. २।४५) अर्थात् सब गुणों को त्याग कर दो और योगक्षेम में रहित हो जा एवं आत्मपरायण हो ।।४५।। इस वाक्य से भगवान् ने ज्ञानयोग को कहा । आगे **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** (गी. २।४७) तेरा कर्म में ही अधिकार है ।।४७।। तथा **'कुरु कर्माणि'** (गी. २।४८) तू कर्म कर ।।४८।। इन वाक्यों से कर्मयोग को बतलाया गया है । इस प्रकार कभी ज्ञानयोग को और कभी कर्म योग को कल्याण का साधन बतलाते हैं । इन मिश्रित वचनों द्वारा मुझे ऐसा मालूम होता है कि मानो आप मुझे मोह में डाल रहे हैं, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार की साधनभूता ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप समस्त इन्द्रियों के व्यापार से उपरत होना है और आप उसके विपरीत कर्मों को उसका साधन बतलाकर यह कहते हैं कि तू उसी कर्म को कर । आपका यह कथन परस्पर विरुद्ध और व्यामिश्र है ।

यहाँ **'वाक्य'** शब्द आया है । वाक्य के सम्बन्ध में कात्यायन मुनि कहते हैं **'एक तिङ्वाक्यम्'** एक तिङन्त जिसमें विशेष्य हो उसी को वाक्य कहते हैं ।। जैसे कुरु कर्माणि इत्यादि । इस श्लोक में अर्जुन 'व्यामिश्रेण इव' तथा मोहयसि 'इव' दोनों में इव कहकर संकेत करता है कि आप यद्यपि मिली-जुली बात नहीं कह रहे हैं तथा मोह नहीं कराते हैं फिर भी हमें मालूम पड़ता है । इससे वह उपदेश देता है कि गुरु को दोष नही देना चाहिए । यदि मालूम भी हो तो अपने दोष का अनुसन्धान करना चाहिए । क्योंकि **'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः'** (मनु. २।२२६) आचार्य परमात्मा की मूर्ति हैं ।।२२६।।

ज्ञान के जिन तीन मार्गों का गीता में वर्णन किया गया है **'तद्विद्धि प्रणिपातेन प्ररिप्रश्नेन सेवया'** (गी. ४।३४) इसमें, दीपकदेहलीन्याय से अर्जुन मध्यम मार्ग (जिज्ञासु भाव) से प्रश्न करता है । जिन दो मार्गों का भगवान् ने अर्जुन से उपदेश दिया उनमें जो एक निश्चित कल्याण का साधन हो उसको स्पष्ट रूप से बतलाने के लिये अर्जुन जिज्ञासा करता है जिससे वह साधन के स्वरूप को निश्चित करके आत्म-कल्याण को प्राप्त कर सके । जैसा कि वह पहले भी कह चुका है -

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गी. २।७) मेरे लिए जो कल्याण का निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये ।।७।।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

अन्वय :- **श्रीभगवानुवाच- हे अनघ ! अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता, सांख्यानां ज्ञानयोगेन, योगिनाम् कर्मयोगेन ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले-हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा पहले मेरे द्वारा कही जा चुकी है । सांख्यों की ज्ञानयोग से और योगियों की कर्मयोग से ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् अर्जुन को -'अनघ' कहकर यह बतलाते हैं कि तुम १-कायिक २-वाचिक ३-मानसिक इन तीनों पापों से रहित हो । भगवान् कहते हैं, यद्यपि तुम पाप से रहित हो परन्तु जैसा तुम पहले कह चुके हो कि -

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ (गी. १।२९)

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

मेरे सारे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है, मेरे शरीर में कम्प हो रहा है, रोएँ खड़े हो रहे हैं ॥२९॥ गाण्डीव धनुष मेरे हाथ से फिसला जा रहा है और मेरी त्वचा जल रही है । मैं खड़ा रहने में असमर्थ हो रहा हूँ, मेरा मन चक्कर सा खा रहा है ॥३०॥

ये सब ज्वर के चिह्न हैं इसी कारण पहले कही हुई मेरी बात को अच्छी तरह समझ नहीं पाया । इसलिये मैं जो कह रहा हूँ उसे फिर समझो । संसार के अन्दर अनेक प्रकार के अधिकारी भरे हैं । अधिकारी के अनुसार मैं दो प्रकार की निष्ठा ज्ञान-विषयक और कर्म-विषयक अलग-अलग पहले ही बता चुका हूँ । जिसमें **'न त्वेवाहं जातु नासम्'** (गी. २।१२) मैं सर्वेश्वर इस वर्तमान समय से पूर्व अनादि काल में नहीं था ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य था ॥१२॥ से प्रारम्भ कर **'एषा तेऽभिहिता सांख्ये'** (गी. २।३९) (बुद्धि का नाम संख्या है । इसलिये बुद्धि से धारण होने वाले आत्मतत्त्व का नाम सांख्य है ।) जानने योग्य आत्मतत्त्व के विषय में उसको जानने के लिये जो बुद्धि कहनी चाहिये, वह तुझसे मैंने कह दी ॥३९॥ तथा **'योगे त्विमां शृणु'** (गी. २।३९) अब आत्मज्ञान सहित मोक्षसाधन-भूत कर्मानुष्ठान के लिये जो बुद्धियोग कहना है उस आगे कही जाने वाली बुद्धि को तू सुनो ॥३९॥ से प्रारम्भ कर **'तदा योगमवाप्स्यसि'** (गी. २।५३) तब तू आत्मदर्शनरूप कर्मयोग को प्राप्त करोगे ॥५३॥ पर्यन्त मैंने कर्मयोग को कहा ।

सभी मनुष्य ज्ञानयोग के अधिकारी नहीं हैं । बल्कि फलाभिसन्धि-रहित केवल परम पुरुष परमात्मा की आराधना के रूप में किये जाने वाले कर्मों से जिसके मन का मल नष्ट हो जाता है और जिसकी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं वही पुरुष ज्ञाननिष्ठा का अधिकारी होता है । संख्या बुद्धि को कहते हैं और जो उससे युक्त हैं वे सांख्य हैं, अर्थात् जो

एक मात्र आत्मविषयक बुद्धि से युक्त हैं, वे सांख्य हैं । जो ज्ञानयोग के योग्य नहीं, कर्मयोग के अधिकारी हैं वे योगी हैं । जो विषय-व्याकुल बुद्धि से युक्त हैं उनका कर्मयोग में अधिकार है । इस बात को मैं आगे भी कहूँगा कि-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (गीता १८।४६)

जिससे समस्त भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने वर्णाश्रमोचित कर्मों द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है ।।४६।। अतएव यहाँ न तो कुछ परस्पर विरुद्ध ही कहा गया है और न मिला-जुला ही है ।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

अन्वय :- **पुरुषः न कर्मणां अनारम्भात् नैष्कर्म्यं अश्नुते च न संन्यसनात् सिद्धिम् एव समधिगच्छति ।**

अर्थ :- मनुष्य न तो (वेदविहित) कर्मों के अनारम्भ से निष्कर्मता (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त होता है और न (शास्त्रीय) कर्मों के त्याग से ही सिद्धि को प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् ज्ञाननिष्ठा को बहुत कठिन बतलाते हैं । गीता में धर्म कर्म दोनों पर्यायवाचक हैं । जैसा **'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'** (गी. २।३१) अपने युद्ध रूप धर्म को देखकर ।।१।। इसीको **'स्वे स्वे कर्मण्णि'** (गी. १८।४५) अपने अपने कर्म में ।।४५।। इन वाक्यों से तात्पर्य वेद विहित कर्म से है । 'नैष्कर्म्य' से ज्ञाननिष्ठा को कहा गया है । भगवान् कहते हैं कि वेद-विहित कर्मों का आरम्भ न करने से कोई मनुष्य ज्ञाननिष्ठा को नहीं पा सकता, अर्थात् समस्त इन्द्रियों के व्यापार रूप कर्मों की उपरति से होनेवाली ज्ञाननिष्ठा को (कर्मों को अनारम्भ मात्र से) नहीं प्राप्त कर सकता ।

सिद्धि से ज्ञाननिष्ठा कही गई है । एव शब्द निर्धारणात्मक है । भगवान् आगे कहते हैं कि वेद-विहित कर्मों के त्याग कर देने से भी ज्ञाननिष्ठा को नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि जिन पुरुषों ने फल और आसक्ति को छोड़कर कर्मों के द्वारा भगवान् गोविन्द की आराधना नहीं की और अनादि काल से प्रवृत्त अनन्त पाप-राशि का नाश नहीं किया ऐसे मनुष्य के लिये इन्द्रियों की विकार रहित स्थिति होने पर प्राप्त होने वाली ज्ञाननिष्ठा का सम्पादन बड़ा कठिन है ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

अन्वय :- **हि कश्चित् जातु क्षणम् अपि अकर्मकृत् न तिष्ठति, हि अवशः सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः कर्म कार्यते ।**

अर्थ :- क्योंकि कोई पुरुष किसी अवस्था में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि परवश हुए सबों से प्रकृतिजनित गुणों द्वारा कर्म करवाया जाता है ।

व्याख्या :- ज्ञानयोग की कठिनता को बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि एक क्षण भी कोई मनुष्य बिना कर्म किये रह नहीं सकता । क्योंकि प्रकृति के जो गुण हैं जिसे आगे भगवान् ने १४ वें अध्याय में **'सत्त्व रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः'** (गी. १४।५) प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व रज और तम-ये तीन गुण ।।५।। कहे हैं । इन्हीं तीनों गुणों के द्वारा परतन्त्र (बाध्य) होकर सभी मनुष्यों को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कर्मों में प्रवृत होना पड़ता है । जैसे विश्वामित्र ने राज्य, स्त्री, धन आदि का त्याग किया और वे ज्ञाननिष्ठा सम्पादन करने लगे परन्तु जन्मान्तरीय संस्कार से तमोगुण उत्पन्न हुआ और उन्होंने मेनका से शकुन्तला नाम की कन्या को उत्पन्न किया । इसलिए भगवान् के द्वारा बताये हुए कर्मयोग से पुराने पापों के सञ्चय का नाश करके तथा सत्त्वादि तीनों गुणों को वश में करके निर्मल अन्तःकरण से ज्ञानयोग का सम्पादन करना चाहिए ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।६।।

अन्वय :- **यः कर्मेन्द्रियाणि संयम्य मानसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते सः विमूढात्मा मिथ्याचारः उच्यते ।**

अर्थ :- जो कर्मेन्द्रियों को (हठपूर्वक रोक कर) मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है वह विमूढात्मा (यानी आत्मा से विमुख) मिथ्याचारी कहा जाता है ।

व्याख्या :- यहाँ 'कर्मेन्द्रिय' शब्द कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ-दोनों का उपलक्षण है । भगवान् भी आगे 'इन्द्रियार्थान्' कहकर कर्मेन्द्रिय शब्द से समस्त इन्द्रियों को जानने के लिये संकेत करते हैं । वे दस इन्द्रियाँ हैं १-वाणी, २-हाथ, ३-पैर, ४-पायु, ५-उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ है तथा १-श्रोत्र, २-चक्षु, ३-त्वचा, ४-रसना, ५-घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । इन सभी का मालिक एक मन है । भगवान् कहते हैं कि जो हमारे कथनानुसार कर्मयोग करते हुए मन को स्थिर नहीं कर लिये और हठपूर्वक दसो इन्द्रियों को, उनके विषयों-वाणी का विषय बोलना, पाणि का विषय ग्रहण करना, पाद का विषय चलना, पायु का विषय मल त्याग करना, उपस्थ का विषय मूत्र त्याग करना, श्रोत्र का विषय सुनना, नेत्र का विषय देखना, त्वचा का विषय स्पर्श करना, रसना का विषय खाना, घ्राण का विषय सूंघना इन सभी विषयों से रोकते हैं वे पूर्वकृत पापों के नाश न होने के कारण अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को जीत नहीं सकते । जो दसों इन्द्रियों को संकल्प-विकल्पात्मक मन से स्मरण करता रहता है और आचरण कुछ और ही करता है, इससे वह मिथ्याचारी कहलाता है ।

अर्थात् आत्मज्ञान के लिये चेष्टा करता हुआ उससे विपरीत होकर नष्ट हो जाता है । काशी में अस्सी पर एक नवयुवक परमहंस के रूप में रहते थे और वहीं चातुर्मास्य व्यतीत करते थे । उनके स्थान के सामने ही उस पार एक वेश्या का गृह था । यद्यपि हठवश वे अपनी इन्द्रियों को विषयों से रोके थे परन्तु मन से उस वेश्या को देखने आदि का स्मरण किया करते थे। परिणामस्वरूप चातुर्मास्य व्यतीत होने पर मरकर वेश्या के यहाँ तबलची बने । इसलिए भगवान्

कहते हैं कि ऐसे लोग ढ़ोंगी कहलाते हैं । इस श्लोक में भगवान् ने मिथ्याचारी का लक्षण बतलाया है ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

अन्वय :- **तु अर्जुन ! यः मनसा इन्द्रियाणि नियम्य असक्तः कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमारभते सः विशिष्यते ।**

अर्थ :- परन्तु हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को रोक कर आसक्ति रहित हुआ, कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वही अति उत्कृष्ट या श्रेष्ठ है ।

व्याख्या :- यहाँ 'अर्जुन' सम्बोधन देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि अर्जुन सफेद को कहते हैं । सफेद सात्त्विकता का चिह्न है । श्रुति कहती है **'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'** (श्वेता. उ. ४।५) लाल (रजोगुण) सफेद (सत्त्वगुण) और काले (तमोगुण) रंगवाली ॥५॥ तथा गीता में **'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्'** (गीता १४।६) उनमें सत्त्वगुण निर्मल है ॥६॥ ऐसा कहा गया है । भगवान् उपदेश देते हैं कि जैसा अर्जुन परम सात्त्विक है उसी प्रकार सात्त्विक भोजन, सात्त्विक सहवास आदि करना तब गीता तुम्हारी समझ में आयेगी, अन्यथा नहीं ।

इस श्लोक के पूर्वार्ध में 'इन्द्रियाणि' कहकर उत्तरार्ध में 'कर्मेन्द्रियैः', कहते हैं । यहाँ 'कर्मेन्द्रियैः' पद उपलक्षण है, इसलिए कर्मेन्द्रिय से ज्ञानेन्द्रियों का भी ग्रहण होता है ।

भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष दसों इन्द्रियों से उनके दसों विषयों को करते हुए उनमें तथा वेद विहित कर्मों में लगी हुई इन्द्रियों को आत्मसाक्षात्कार में प्रवृत मन के द्वारा संयमित करके अनासक्ति पूर्वक कर्मयोग का आचरण करता है वह भावी प्रमाद के भय से रहित होने के कारण ज्ञाननिष्ठा के साधक पुरुष की अपेक्षा भी श्रेष्ठ होता है । जैसे कश्यप ऋषि । 'कं पश्यति' इस व्युत्पति में **'कं ब्रह्म'** (छा. उ. ४।१०।५) के अनुसार कं=ब्रह्म को जो सर्वदा देखता है उसे कश्यप कहते हैं । ये सिद्धाश्रम 'बक्सर' में अपनी धर्मपत्नी अदिति के साथ रहते हुए कर्मयोग का आचरण अनासक्तिपूर्वक करते थे। अपने यजन-याजन आदि कर्मों को करते हुए भगवद् आराधनात्मक कर्म करते थे । इससे ये ज्ञाननिष्ठा वाले पुरुषों से भी श्रेष्ठ गिने गये । कहा भी गया है-

कश्यपोत्रिः भरद्वाजो विश्वामित्रोथ गौतमः ।
जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयस्स्मृताः ॥

यहाँ पर श्रेष्ठ होने से ही प्रथम कश्यप का ही नाम आया है तथा स्वयं त्रिविक्रमावतारधारी भगवान् कहते हैं-

धारयिष्ये भुजे दिव्यं वह्निपूतं सुदर्शनं ।
वटुको वामनो भूत्वा मेखलाजिनदण्डधृत् ॥
(बृ. ब्र. सं. अ. २ पा. १ श्लो. १०२)

कश्यपादङ्कयित्वाङ्गं करिष्ये देवरक्षणम् ॥१३॥

मेखला, मृगचर्म तथा पलाश के दण्ड को धारण करके ब्रह्मचारी वामन होकर अग्नि से तपाये हुए दिव्यचक्र को दक्षिण भुजमूल में धारण करूँगा ।।१०२।। कश्यप महर्षि द्वारा चक्राङ्कित शरीर करके मैं देवताओं की रक्षा करूँगा ।।१३।। यानी भगवान् ने भी कश्यप की श्रेष्ठता अभिव्यक्त की ।

इसलिए भगवान् कर्मनिष्ठा को श्रेष्ठ बतलाते हैं ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।८।।

अन्वय :- **त्वं नियतं कर्म कुरु, हि अकर्मणः कर्म ज्यायः च अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिद्ध्येत् ।**

अर्थ :- नियत (यानी शास्त्रविधि द्वारा नियत किये हुए) कर्म को करो; क्योंकि अकर्म (ज्ञान-निष्ठा) की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है और अकर्म से तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं हो सकेगी ।

व्याख्या :- यहाँ पर 'नियत' का अर्थ व्याप्त है क्योंकि 'नि' पूर्वक 'यम्' धातु का व्यापक अर्थ है । इसलिए 'नियत' नाम नियमेन अर्थात् व्यापक से जिनकी उपस्थिति हो । प्रकृति से बने शरीर के साथ ही कर्म व्याप्त है । प्रत्येक जन्म से हर शरीर के साथ कर्म व्याप्त रहता है, इसलिए कर्म करने का स्वभाव बन गया है । अब यही करना है कि सुरदुर्लभ मानव शरीर पाकर वेद विहित कर्म को करे । इस प्रकार से यह ज्ञात होता है कि अनादि वासना के कारण जीवात्मा का प्रकृति से संसर्ग होता है और नियत होने से कर्म सुखसाध्य है तथा इसमें प्रमाद का भय भी नहीं है । इसलिए भगवान् कहते हैं कि तू कर्म ही कर ।

यहाँ 'अकर्म' शब्द ज्ञाननिष्ठा का वाचक है । **'नैष्कर्म्यं' पुरुषोऽश्नुते'** (गीता ३।४) इस श्लोक में प्रकरण का प्रारम्भ करते ही 'ज्ञाननिष्ठा' शब्द के बदले 'नैष्कर्म्य' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसलिए अकर्म शब्द से ज्ञाननिष्ठा ही कही गई है ।

ज्ञाननिष्ठा के अधिकारी के लिये भी ज्ञाननिष्ठा पहले से अभ्यस्त न रहने के कारण नियत नहीं है, अतः कठिनता से सिद्ध होने वाली है और उसमें प्रमाद का भी भय रहता है; इसलिये भी ज्ञाननिष्ठा की अपेक्षा कर्मनिष्ठा ही श्रेष्ठ है । दूसरे, कर्मों का आचरण करते समय आत्मा के यथार्थ स्वरूपज्ञान के द्वारा उसका अकर्तृत्व देखते रहना आगे कहा गया है । इसलिए कर्मयोग में आत्मज्ञान का भी अन्तर्भाव होने से वही श्रेष्ठ है ।

भगवान् आगे कहते हैं कि यदि समस्त कर्मों को छोड़कर तू केवल ज्ञाननिष्ठा को स्वीकार करोगे तो उस अवस्था में तुझे ज्ञाननिष्ठा की उसमें सहायता देने वाली शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी । और साधन के बिना साध्य नहीं प्राप्त होगा । ज्ञाननिष्ठा के लिए शरीर धारण करना आवश्यक है । शरीर का संरक्षण न्यायोपार्जित धन द्वारा पंचमहायज्ञ करके उससे बचे हुए अन्न के आहार करने से ही उचित है । कहा भी गया है-**'आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।'** (छा. उ. ७।२ ६।२) आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और उससे निश्चित स्मृति होती है ।।२।। यहाँ गीता में भी **'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'** (३।१३) जो केवल अपने लिए

ही पकाते हैं वे पापी पाप ही खाते हैं ।।१३।। इस बात को आगे कहेंगे । गीता में भी आहर बताया गया है - **'रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः'** (गी. १७।८) रसदार, चिकने स्थायी और चित्त को रमणीय लगने वाले आहर ।।८।। इसलिए ज्ञाननिष्ठ पुरुष की भी शरीर-यात्रा कर्म किये बिना नहीं सिद्ध हो सकती । पंचमहायज्ञ गृहस्थों को करना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि उनके यहाँ पाँच हिंसा का स्थान बतलाया गया है । वे हैं-

पञ्चसूनागृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः ।
कण्डनीचोदकुम्भश्च वध्यते यास्तुवाहयन् ॥ (मनु. ३।६८)

१-चुल्ही-यहाँ एक हत्या गिनी जाती है । २-चक्की यह एक हत्या का स्थल है । झाड़ू-एक हत्या का स्थान है । ४-ओखर मूसल-एक हत्या का स्थल है । ५-जल का कलश एक हत्या यहाँ भी गिनी जाती है । इन सबको अपने कार्य में लेने से इससे पाप से सम्बन्ध होता है । इन हत्याओं को दूर करने के लिए पंचमहायज्ञ को महर्षियों ने बताया है कि-

'देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति ।'
(शत. ब्रा. ११।५।५।१) इसी को मनुस्मृति में इस प्रकार कहा गया है-

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमोदैवो बलिभौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ (मनु. ३।७०)

१-पढ़ना पढ़ाना इसको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं ।
२-तर्पण करने को पितृयज्ञ कहते हैं ।
३-अग्नि में जो हवन होता है उसको देवयज्ञ कहते हैं ।
४-भूतबलि को भूतयज्ञ कहते हैं ।
और ५-अतिथि की पूजा को नृयज्ञ (मनुष्य यज्ञ), कहते हैं । इन पूर्वोक्त पञ्चमहायज्ञ को गृहस्थों को नित्य करना चाहिए । **'चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्'** अर्थात् चेष्टा का जो आश्रय हो उसको शरीर कहते हैं । इस प्रकार भगवान् बतलाते हैं कि शरीर रखने वाले ज्ञाननिष्ठ पुरुष को भी जब तक साधन की समाप्ति न हो जाय, पंचमहायज्ञादि, नित्य और नैमित्तिक कर्म अवश्य करना चाहिए । आत्मा के अकर्तृत्व की भावना से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कर्मयोग के अन्तर्गत है तथा प्रकृति से ओतप्रोत मनुष्य के लिये कर्मयोग सहज में आचरण करने योग्य और प्रमाद रहित भी है, तब ज्ञाननिष्ठा में समर्थ पुरुष के लिए भी ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है । अतएव भगवान् कहते है कि तू कर्मयोग का ही आचरण कर ।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

अन्वय :- **यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्मबन्धनः । कौन्तेय ! मुक्तसंगः तदर्थम् कर्म समाचर ।**

अर्थ :- यज्ञ के लिए किये जाने वाले कर्म के सिवा अन्य कर्म से यह लोक (मनुष्य लोक) कर्मबन्धन वाला बन जाता है (इसलिए) हे कुन्तीनन्दन ! आसक्तिरहित हो उस यज्ञ के लिए ही कर्तव्य कर्म करो ।

व्याख्या :- इस श्लोक से भगवान् अर्जुन को 'कौन्तेय' सम्बोधन के द्वारा माता की प्रधानता को जनाते हैं । वेद में **'मातृदेवो भव'** (तैति. उ. शि. व. ११।२) माता को देवता समझो ।।२।। कहा गया है । माता की प्रधानता का मुख्य कारण यह है कि बालक में पीता के वीर्य की अपेक्षा माता के रुधिर की अधिकता रहती है । दूसरे, बालक का प्रथम जीवन माता के यहाँ ही व्यतीत होता है । इसलिए माता के रहन-सहन का अधिक प्रभाव पड़ता है । मानसकार भी इसी आशय को कहते हैं, **'तौ जनिजाहु जानि बड़ि माता'** (मा. २।५५।१)

'यज्ञ' शब्द यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु' **'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्'** (पा. व्या. ३।३।९०) से नङ् प्रत्यय होकर बना है । जिसका अर्थ, जिसमें देवताओं की पूजा की जाय, सभी वर्ण आश्रम के लोग जिसमें एकत्र हों तथा अन्नादि का दान किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं ।

इसके पूर्व के श्लोक में जो पंचमहायज्ञादि करने का उपदेश भगवान् ने दिया उसपर यह संदेह होने पर कि यज्ञ के लिए द्रव्योपार्जन करने से अहंता और ममता आदि समस्त इन्द्रियों की व्याकुलता रूप दोष उत्पन्न होने से इस पुरुष का कर्मवासना से बन्धन हो जायेगा, इस पर भगवान् संदेह को दूर करते हुए कहते हैं कि यज्ञादि के लिए जो खेती, व्यापार नौकरी आदि न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जनादि कर्म है, उससे भिन्न जो अपने अथवा अपने परिवार के भोगों के लिये किया जाने वाला कर्म है, उससे यह मनुष्य लोक कर्म-बन्धन को प्राप्त होता है । इसलिए यज्ञादि के लिये न्यायोपार्जित द्रव्योपार्जनादि कर्म का अच्छी तरह आचरण कर, परन्तु उसमें जो निजी स्वार्थसाधन सम्बन्धी आसक्ति है उसको छोड़कर कर्माचरण कर । ऐसा करने का फल यह होगा कि यज्ञादि कर्मों के द्वारा आराधित परम पुरुष इस साधक की अनादि काल से प्रवृत जो कर्मवासना है उसे जड़ से काटकर इसे आत्मसाक्षात्कार प्रदान करता है । जैसा राजा दिलीप को प्राप्त हुआ । राजा दिलीप ने आसक्ति छोड़कर यज्ञादि कर्म किया जिसके फलस्वरूप लोक परलोक दोनों से आनन्द की प्राप्ति की । इसलिए श्रुति कहती है - **'यज्ञो वै श्रेष्ठतरं कर्म'** (शत. ब्रा. १।७।१।५) यज्ञ निश्चय करके सबसे बड़ा कर्म है ।।९।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।१०।।

अन्वय :- **प्रजापतिः पुरा सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा उवाच-अनेन प्रसविष्यध्वम् एषः वः इष्टकामधुक् अस्तु ।**

अर्थ :- प्रजापति (भगवान् नारायण) ने पहले यानी रचना के समय यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा था, "इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि करो (यानी बढ़ो या उन्नति करो), यह यज्ञ तुम्हें इच्छित भोगों को देने वाला (या कामनाओं को पूर्ण करने वाला) होवे" ।

व्याख्या :- कहीं-कहीं 'सहयज्ञाः' के स्थान पर 'सहयज्ञैः' पाठ भी मिलता है । **'सहयुक्तेऽप्रधाने'** (पा. व्या. २।३।१६) के अनुसार सह के योग में अप्रधान में तृतीय विभक्ति होती है ।।१६।। इसलीए 'सहयज्ञैः' हो जायेगा, परन्तु विशेष आचार्य लोगों ने 'सहयज्ञाः' करके ही पाठ किया है । बहुत से टीकाकार **'प्रजापतिः'** शब्द का ब्रह्मा अर्थ करते हैं वह ठीक नहीं है । **'प्रजा स्यात्संततौ जने'** (अमरकोश ३।३।३२) के अनुसार प्रजा संतति और जन को कहते हैं उसके पति यानी रक्षक । ब्रह्मा समस्त जन के रक्षक नहीं हैं । समस्त जनों के रक्षक भगवान् नारायण ही हैं । तैत्तिरीय नारायणोपनिषद् में भी कहा गया है - **'पतिं विश्वस्य आत्मेश्वरम्'** (तै. ना. ११।३) विश्व के पति और आत्मा के ईश्वर को ।।३।। यजुर्वेद में भी लिखा है - **'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः'** (यजु. ३१।१६) प्रजाओं की रक्षा करने वाले नारायण गर्भ के भीतर चलते हैं ।।१६।। गीता में अर्जुन भी कहता है- **'प्रजापतिस्त्वम्'** (गी. ११।३६) आप समस्त प्रजा के रक्षक हैं ।।३६।। महाभारत के अनुशासन पर्व में भी भगवान् का नाम प्रजापति बतलाया गया है - **ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः,** (महा. अनु. वि. सह. २१) इसलिये भगवान् को ही प्रजापति मानना ठीक है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है - **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्'** (श्वेता. ६।१८) जिस नारायण ने ब्रह्मा को पहले बनाया ।।१८।। जो ब्रह्मा स्वयं मधु, कैटभ से अपनी रक्षा नहीं कर सके, वे समस्त प्रजा के रक्षक कैसे हो सकते हैं ? मार्कण्डेय पुराण के दुर्गापाठ में भी लिखा है - **'विष्णुकर्णमलोद्भूतौ हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ'** (दु. स. १।६८) उस समय भगवान् विष्णु के कानों के मैल से दो भयंकर असुर उत्पन्न हुए, जो मधु और कैटभ के नाम से विख्यात थे, वे दोनों ब्रह्मा जी का वध करने को तैयार हो गये ।।६८।। इससे 'प्रजापति' का ब्रह्मा-परक जो अर्थ करते हैं वे श्रुति, स्मृति, पुराण विरुद्ध अर्थ करते हैं । इस प्रकार सिद्ध होता है कि इस श्लोक में उपाधिरहित रूप से 'प्रजापति' शब्द विश्व के रचयिता विश्वात्मा परम आश्रयरूप सर्वेश्वर नारायण वाचक है ।

जिस समय महाप्रलय में प्रजा के नाम रूप-विभाग का उपसंहार हो गया और भगवान् में लय होकर जड़ के समान तथा सब प्रकार का पुरुषार्थ साधन के अयोग्य हो गया, उस समय अपनी समस्त प्रजा को देखकर परम दयालु भगवान् प्रजापति ने सृष्टि के आदि में उस प्रजा के उज्जीवन करने की इच्छा से पृथ्वी, वृक्ष, दूध, अन्न आदि द्रव्य यज्ञ के साधनों के साथ यज्ञ को बनाया । कुछ लोग भगवान् को कुलालवत् सृष्टि का कर्ता मानते हैं, परन्तु, वह ठीक नहीं है, क्योंकि इससे व्यापकत्व की हानि होगी । देखने में आता है कि कुम्हार घड़े का निर्माण करता है, परन्तु वह घड़े में व्यापक नहीं है । उपादान कारण मिट्टी व्यापक रहती है । ब्रह्म निमित्त और उपादान कारण दोनों हैं । अतएव वे जगत् के सभी कारणों से भिन्न हैं । घट का उपादान मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्भकार । कुम्भकार घट का उपादान कारण इसलिए नहीं हो सकता कि उसमें अवस्थान्तराश्रयत्वरूपी उपादान योग्यता नहीं है । मिट्टी घट का निमित्त कारण नहीं हो सकती है, क्योंकि वह अचेतन है । परमात्मा में उक्त दोनों प्रकार की योग्यताएँ विद्यमान हैं । वे अपने सत्यसंकल्प के द्वारा अपने शरीर भूत-चेतनाचेतनांश से जड़चेतनात्मक जगत् के रूप में परिणत होकर उसके भीतर अन्तरात्मा रूप में परिणत होने से भगवान् जगत् का उपादान कारण हैं । जगत् का अन्तर्नियामक होने से वे जगत् के निमित्त कारण हैं । परमात्मा के सम्पूर्ण शक्तियोगों तथा सत्यसंकल्पत्व आदि का प्रतिपादन श्रुति भी करती है-**'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते**
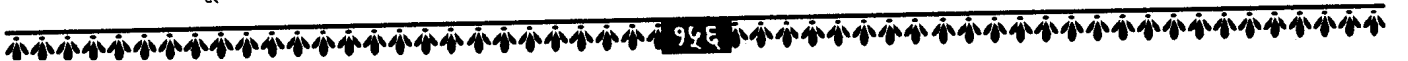
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वेता. ६।८) 'सत्यकाम: सत्यसंकल्प:' (छा. उ. ८।७।१) ।

इस प्रकार यज्ञ के साधन सहित यज्ञ को रचकर भगवान् ने अपनी समस्त प्रजा से कहा कि-इस यज्ञ के द्वारा तम लोग फूलो-फलो अर्थात् अपनी उन्नति करो । जैसे पिता अपने बालक को कुछ पूँजी देकर कहे कि इसे ले जाकर कुछ व्यापार करो और उससे अपनी वृद्धि करो । इसी प्रकार सबके पिता परमदयालु भगवान् ने अपनी प्रजा को आदेश दिया । इससे यह उपदेश देते हैं कि खेती, व्यापार, नौकरी आदि कर्म करते हुए समय-समय पर यज्ञ भी करते रहना, तभी तुम्हारी उन्नति होगी । नहीं तो थोड़े दिनों में धन-जन नष्ट हो जायेगा । यह यज्ञ तुम लोगों के लिए काम यानी परमपुरुषार्थ मोक्ष का और उसके साथ धन पुत्र आदि समस्त इच्छित भोगों को पूर्ण करने वाला हो ।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व: ।
परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ ॥११॥

अन्वय :- **अनेन देवान् भावयत, ते देवा:व: भावयन्तु, परस्परं भावयन्त: परं श्रेय: अवाप्स्यथ ।**

अर्थ :- इस (यज्ञ) के द्वारा (मेरी ही प्रतिमूर्ति) देवताओं की आराधना करो और देवता तुम्हारा पोषण करें । इस प्रकार एक दूसरे का (यानी परस्पर) पोषण करते हुए तुम दोनों परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होवोगे ।

व्याख्या :- देवताओं के विषय में लिखा है कि-

'अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता (यजु. अ. १४ श्रु. २०) अग्नि देव, वायुदेव, सूर्यदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्य देव, उञ्चास मरुत्देव, विश्वेदेव देव, बृहस्पति देव, इन्द्रदेव और वरुण देव हैं ॥२०॥ देवताओं की आराधना कौन लोग करते हैं ? इस विषय में गीता में बताया गया है **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'** (गीता १७।४) सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं ॥४॥ तथा किसी भी देवता के नाम से यज्ञ किया जाय भगवान् कहते हैं कि-**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'** (गीता ६।२४) मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ ॥२४॥ इससे ज्ञात होता है कि देवता भगवान् के शरीर हैं और भगवान् शरीरी हैं । ऐसे देवों की, इस देवाराधनरूप यज्ञ द्वारा तुमलोग आराधना करो और मेरे ही स्वरूप वे देव यज्ञ के द्वारा आराधित होकर तुमलोगों को अपनी आराधना के लिए आवश्यक अन्ना-पानादि देकर तुम्हारा पोषण करें । इस प्रकार परस्पर पोषण करते हुए तुम श्रेष्ठ ऐहिक धन प्राप्त करते हुए परम कल्याण मोक्ष को प्राप्त करोगे । देवताओं के बारे में बताया गया है कि यजनस्थल के पूर्व में इन्द्र की आराधना करो । जिसे भगवान् शरीरात्म सम्बन्ध लेकर कहते हैं **'देवानामस्मि वासव:'** (गीता १०।२२) देवों में उसका राजा इन्द्रदेव मैं हूँ ॥२२॥ अग्नि कोण में अग्नि देव की आराधना करें, जिसके लिए भगवान् कहते हैं, वसूनां पावकश्चास्मि (गी. १०।२३) आठ वसुओं में अग्निदेव मैं हूँ ॥२३॥ दक्षिण में यमदेव की आराधना करें, जिसके लिए भगवान् कहते हैं **'यम: संयमतामहम्'** (गीता १०।२९) दण्ड देने वालों में मैं यमदेव हूँ ॥२९॥ निऋति कोण पर निऋति देव की उपासना करें ।

पश्चिम में वरुण देवं की आराधना करें । जिसके लिये भगवान् कहते हैं **'वरुणो यादसामहम्'** (गीता १०।२६) जलचरों में उनका राजा वरुण देव मैं हूँ ।।२६।। वायु कोण पर वायुदेव की आराधना करे जिसके लिए भगवान् कहते हैं - **'पवनः पवतामस्मि'** (गीता १०।३१) गमन करने के स्वभाव वालों में वायुदेव मैं हूँ ।।३१।। उत्तर में कुबेर देव की आराधना करें जिसके लिए भगवान् कहते हैं - **'वित्तेशोयक्षरक्षसाम्'** (गीता १०।२३) यक्ष और राक्षसों में कुबेर देव मैं हूँ ।।२३।। ईशान में शंकर देव की आराधना करें जिसके लिए भगवान् कहते हैं कि **'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि'** (गीता १०।२३) एकादश रुद्रों में मैं शङ्कर देव हूँ ।।२३।। और शंकर देव के और इन्द्रदेव के बीच में ब्रह्मादेव की आराधना करें जिसको भगवान् कहते हैं **'धाताहं विश्वतोमुखः'** (गीता १०।३३) चारो ओर मुख वाला मैं ब्रह्मा देव हूँ ।।३३।। निऋति देव और वरुण देव के मध्य में अनन्त देव की आराधना करें जिसको भगवान् कहते हैं **'अनन्तश्चास्मि नागानाम्'** (गीता १०।२६) नागों में अनन्त देव मैं हूँ ।।२६।। इन्हीं दसो देवों को कर्मकाण्डी लोग दस दिक्पाल कहते हैं । देवताओं के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध आप्त वाक्य है जो इस प्रकार कहा जाता है -

ब्रह्मामुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशिभूमिसुतो बुधश्च ।
गुरुश्चशुक्रः शनिराहुकेतवः सर्वे ग्रहाः शान्तिकरा भवन्तु ॥

ब्रह्मादेव, मुरारि देव यानी विष्णुदेव, शंकर देव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, मंगलदेव, बुधदेव, बृहस्पतिदेव, शुक्रदेव, शनिदेव, राहुदेव, केतुदेव (ये पकड़ने वाले देव) यजमान के लिए शान्तिकारक हों ।। जिसमें विष्णुदेव को भगवान् कहते हैं- **'आदित्यानामहं विष्णुः'** (गीता १०।२१) बारह आदित्यों में सबसे श्रेष्ठ विष्णुदेव मैं हूँ ।।२१।। सूर्यदेव के लिए कहते हैं **'ज्योतिषां रविरंशुमान्'** (गीता. १०।२१) ज्योतियों में किरणों वाला सूर्यदेव मैं हूँ ।।२१।। चन्द्रदेव के लिए कहते हैं **'नक्षत्राणामहं शशी'** (गी. १०।२१) नक्षत्रों का पति चन्द्रदेव मैं हूँ ।।२१।। बृहस्पति देव के लिये कहते हैं **'पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्'** (गी. १०।२४) पार्थ पुरोहितों में श्रेष्ठ बृहस्पति देव मुझे जानो ।।२४।। शुक्रदेव के लिए कहते हैं **'कवीनामुशना कविः'** (गीता १०।३७) कवियों में मैं शुक्रदेव हूँ ।।३७।। स्कन्द देव के लिए कहते हैं -**'सेनानीनामहं स्कन्दः'** (गीता १०।२४) सेनापतियों में मैं स्कन्द देव हूँ ।।२४।। इस श्लोक में भगवान् 'देवान्' कहकर देवताओं के लिए ही कहते हैं, परन्तु उनका अभिप्राय देवियों के लिए भी है । जिस प्रकार काशी नरेश का गढ़ कहने से उनकी धर्मपत्नी के भी गढ़ का बोध हो जाता है उसी प्रकार देवता कहने से दवियों का भी बोध हो जाता है । वेद में 'श्री सूक्त' 'नीला सूक्त' करके देवियों का वर्णन किया गया है । भगवान् भी गीता में देवियों को अपना स्वरूप बताते हुए कहते हैं -

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा । (गीता. १०।३४)

देवियों में मैं श्री देवी, कीर्ति देवी, सरस्वती देवी, स्मृति देवी, मेधा देवी, धृति देवी और क्षमा देवी भी हूँ ।।३४।। इस प्रकार भगवान् आदेश देते हैं कि मद्आराधनात्मक यज्ञ के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करो और वे देवता आप लोगों का पोषण करेंगे । जो भगवान् का शरीर मानकर देवताओं की आराधाना करते हैं वे परम कल्याण को प्राप्त करते हैं ।
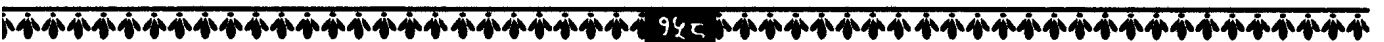
इस श्लोक के **'परस्परं भावयन्तः'** के सम्बन्ध में एक आख्यायिका उल्लेखनीय है । एक बड़े ग्राम में एक महात्मा विचरण करते हुए पहुँच कर कुछ दिन के लिए ठहर गये । वहाँ ही उन्होंने गीता के श्लोकों की व्याख्या करते समय इस श्लोक की भी व्याख्या की । इसे सुनकर एक शरारती व्यक्ति इस बात को लेकर बहस करने लगा कि ये कैसे हो सकता है कि एक दूसरे को देवता और मनुष्य सन्तुष्ट करें । उसी सभा में एक बड़े रईस व्यक्ति थे जो इस व्याख्या का समर्थन करने लगे । सभा समाप्त होने पर वे रइस महानुभाव महात्मा जी के पास गये और किस प्रकार लोगों को परस्पर का अर्थ समझा सकें उसका उपाय पूछे जिससे उस शरारती व्यक्ति के बहकावे में साधारण लोग न आ जायें । महात्मा के बताये हुए उपाय के द्वारा उस धनी व्यक्ति ने प्रयोजन किया जिसमें सभी वर्ण के लोगों को आमन्त्रित किया । भोजन परोसने के समय जो पाँतें बैठाई गईं उनमें दो-दो पाँत आमने सामने अलग-अलग वर्ण के लोग बैठाये गये अर्थात् प्रत्येक दो पाँतें एक-एक वर्ण की आमने-सामने बैठीं । पत्तल पर छप्पनों प्रकार के पदार्थ डाल दिये गये और एक चाँदी का बना हुआ लम्बा हाथ भर का खाने के लिए चम्मचा के सदृश सबको दाहिने हाथ में पहना दिया गया तथा भोजन करने को कहा गया । जब उस चाँदी के बने यंत्र से वे लोग भोजन मुख में डालने का प्रयास करने लगे तो उसके न मुड़ सकने के कारण किसी के मुख के समीप वे भोज्य पदार्थ न जा सके, इससे परेशान होकर सब उस रईस व्यक्ति की ओर देखने लगे । यह देखकर वे बोले कि अब आप लोगों को मैं उपाय बताता हूँ वैसा करें तब भोजन पा सकेंगे । अपने सामने बैठ व्यक्ति को दूसरा सामने बैठा हुआ व्यक्ति उसके पत्तल से जो सामान वह माँगे खिला दिया करे तथा दूसरा व्यक्ति अपने सामने वाले को उसके पत्तल का सामान उठाकर खिला दें । इस प्रकार का उपाय सुनकर सबों ने प्रसन्नता से भोजन किया और भगवान् के कहे परस्पर संतुष्ट होने का भाव भी समझ गये । जिसे देखकर शरारती व्यक्ति भी लज्जित हो गया ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

अन्वय :- **यज्ञभाविताः देवाः हि वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते, तैःदत्तान् एभ्यः अप्रदाय यः भुङ्क्ते सः स्तेनः एव ।**

अर्थ :- यज्ञ द्वारा आराधित देवता निश्चय ही तुम्हें इच्छित भोग देंगे । उन देवताओं के दिये हुए भोगों को जो पुरुष उन्हें बिना अर्पण किये भोगता है, वह निश्चय ही चोर है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि मेरी प्रतिकृति समझकर और मेरी आज्ञा मान कर जो देवताओं की आराधना करते हैं वे आराधित देवता तुमलोगों के अपने आराधन की उपयोगी जितनी चीजें हैं, अन्न, जल, पुष्प, फल, पुत्र, धन आदि सभी सामग्री तथा जो उत्तरोत्तर उनकी आराधना के लिये आवश्यक है, प्रदान करेंगे, इस प्रकार उनकी आराधना के लिये उन्हीं के द्वारा दिये हुए भोगों को उनके अर्पण किये बिना ही जो खाता है, वह चोर ही है । दूसरे की वस्तु को, जो कि उसीके काम में आने के लिए निर्मित की गई है, अपनी मानकर उससे अपना पोषण करना इसी का नाम चोरी है । इसलिए अपने उपयोग में लेने के पहले उसे भगवान् की वस्तु समझकर प्रसाद रूप से ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार

यज्ञादि कर्म न करने वाला केवल परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष के लिये ही अयोग्य नहीं हो जाता बल्कि उसे अनियत काल तक नरक में भी जाना पड़ता है ।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।१३।।

अन्वय :- **यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते । तु ये आत्मकारणात् पचन्ति ते पापाः अघम् भुञ्जते ।**

अर्थ :- यज्ञ से बचे हुए (पदार्थ) को खानेवाले सत्पुरुष सभी पापों से छूट जाते हैं, परन्तु केवल जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे पापी पाप ही खाते हैं ।

व्याख्या :- जो पुरुष भगवान् के शरीर इन्द्रादि देवताओं द्वारा प्रदान किये गये अन्न पानादि पदार्थों से भगवद् आराधनात्मक यज्ञ करते हैं और यज्ञ करके उससे बचे हुए प्रसाद रूप अन्न के आहार से शरीर निर्वाह करते हैं उनके द्वारा नित्य चूल्हे आदि द्वारा होने वाले पाप के सहित जो बन्धनकारक अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप ज्ञान के निरोधी जन्म-जन्मान्तरीय समस्त पाप हैं, उनसे छूट जाता है । ऐसे लोग संत हैं । जैसे ब्रह्मा के मानस पुत्र वसिष्ठ जी इसी प्रकार भगवत् प्रसाद समझकर यज्ञ से बचे पदार्थों का सेवन करते थे, इसलिए वे भगवान् के अत्यन्त प्रिय हुए, परन्तु जो पुरुष उपर्युक्त प्रकार से भगवान् की आराधना न कर अपने लिये अथवा अपने परिवार के लिये भोजन पकाते अथवा पकवाते हैं, वे सर्वसाधारण के देखने से भले सात्विक पदार्थों का सेवन करें लेकिन वास्तव में वे पापी हैं और पाप को ही खाते हैं । ऐसे अन्न से पाप बुद्धि उत्पन्न होती है । इसलिए ऐसे भोजन को पाप कहते हैं । इसी बात को मनु-स्मृति में कहा गया है कि -

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।। (मनु. ३।११८)

जो मनुष्य अपने लिए ही भोजन पकाते हैं वह केवल पाप को खाते हैं ।।११८।। जैसे श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में वर्णित धुन्धकारी । वह बहुत धनी रहने पर भी भगवत् स्वरूप देवताओं की यज्ञ द्वारा बिना आराधना किये ही, बिना भोग लगाये केवल अपने लिए ही पकाकर खाता था, इसलिए वैसा अन्न पाप का उत्पादक हुआ, जिससे वह वेश्यागामी होकर दरिद्र हो गया तथा आत्मसाक्षात्कार से विमुख होकर अधोगति को प्राप्त होते हुए प्रेतयोनि को उसने प्राप्त किया ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।१४।।

अन्वय :- **भूतानि अन्नात् भवन्ति, पर्जन्यात् अन्नसंभवः । पर्जन्यः यज्ञात् भवति यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।**

अर्थ :- सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होत हैं, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है ।

व्याख्या :- **'अद् भक्षणे'** धातु से **'अद्यते इति अन्नम्'** (तैत्ति. उ. २।२) इस व्युत्पत्ति से समस्त प्राणी जो भोजन

करते हैं वह अन्न है ।।२।। यह अन्न भगवद्गीता में चार प्रकार का बताया गया है **'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्** (गी. १५।१४) चार प्रकार से भोजन को पचाता हूँ ।।१४।।

१-भक्ष्य कूच-कूच कर जो खाया जाय जैसे रोटी भात आदि ।

२-पेय-जो पी लिया जाय जैसे दूध, चाय आदि ।

३-लेह्य जो चाटकर खाया जाय जैसे चटनी आदि ।

४-चोष्य जो चूस लिया जाय जैसे ईख आदि ।

यहाँ पर भगवान् अन्न से सभी प्राणी की उत्पत्ति बताते हैं । यदि स्थूल बुद्धि से अन्न से प्रजा की उत्पत्ति मानी जायगी तो छान्दोग्योपनिषद् के पाँचवें प्रपाठक में तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के छठवें अध्याय में जो पंचाग्निविद्या का वर्णन है उससे विरुद्ध होगा । 'श्रुतिप्राबल्याधिकरण न्याय' से **'विरोधेत्वनपे स्यादसाह्यनुमानम्'** (मीमांसा अ. १ पा. ३ सू. ३) इस जैमिनीय सूत्र से विरोध पड़ेगा, अतः **'अनुक्तमप्यूहति पंडितो जनः'** नहीं कही हुई बात को भी विद्वान् लोग तर्क से सिद्ध करते हैं । अतः इस श्रीमद्भगवद्गीता के वाक्य काअर्थ है कि अन्न से चौथी आहुति से रज-वीर्य होता है और ऋतुमती भार्या के गर्भ में वीर्य के संयोग रूप पाँचवी आहुति से तो प्राजा उत्पन्न होती है । इसीसे लिखा है कि **पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति'** (छा. उ. प्रपा. ५ खं. ३ श्रु. ३) भूतसूक्ष्म पाँचवी आहुति में पुरुष शब्दाभिलप्य होते हैं ।।३।। भगवान् श्रीकृष्ण के इसी आशय को श्रुति में भी कहा गया है -

'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति' (तै.उ. ३।२) अर्थात् ये सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होकर अन्न में ही जीते हैं ।।२।। अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है । यहाँ 'पर्जन्य' शब्द मेघ का वाचक है । मेघ के सम्बन्ध में महाकवि कालिदास कहते हैं **'धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः ?'** (मेघदूत पू. ५) धूआँ, प्रकाश, जल, वायु इन चार के सम्मिश्रण से मेघ होता है । जैसे 'मंचाः आक्रोशन्ति' मचान बोला रहा है में मचान शब्द मंचस्थ पुरुष का वाचक है, उसी तरह पर्जन्य शब्द वर्षा का वाचक है । यहाँ तक प्रत्यक्ष प्रमाण देकर अब भगवान् शास्त्र प्रमाण देते हैं । वर्षा यज्ञ से होती है । मनु भी कहते हैं -

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ (मनु. ३।७६)

अग्नि में भलीभाँति दी हुई आहुति सूर्य की किरणों में स्थित होती है, सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न होता है और अन्न से प्रजा होती है ।।७६।। इत्यादि शास्त्रवचनों से जाना जाता है । आहुति के विषय में लिखा है कि -

देवोद्देशेन बह्नौ मन्त्रेण हविः प्रक्षेप आहुतिः ॥ (कात्या. श्रौत २।१।२०)

देवताओं के उद्देश्य से मन्त्र से हविष्य समर्पण करने को आहुति कहते हैं। २०। तथा-

आह्वयंति देवाननया सा आहुतिः जुहोति प्रक्षिपति हविरनया इति वा ॥ (ऐत. ब्रा. १।१।२)

जिससे देवताओं को बुलाया जाय उसे आहुति कहते हैं तथा जिससे हविष्य का अग्नि में प्रक्षेप किया जाय उसे आहुति कहते हैं ।।२।।

आहुति देने की तीन मुद्रायें हैं -१-मृगी २-हंसी ३-शूकरी

शान्तिके तु मृगी हंसी पौष्टिक-कर्मणि ।
शूकरी त्वभिचारे तु कार्या तंत्रविदुत्तमैः ।।

शान्ति कर्म में मृगीमुद्रा तथा पौष्टिक कर्म में हंसी और अभिचार यानी मारणादिक कर्म में शूकरी मुद्रा उत्तम तंत्रवेत्ताओं के लिए करना उचित है ।।

कनिष्ठातर्जनीहीना मृगीमुद्रा निरुच्यते ।
हंसी मुक्तकनिष्ठा स्यात् करसंकोचशूकरी ।।

कानी और तर्जनी अंगुली को बराकर अनामिका मध्यमा और अंगूठा से जो आहुति दी जाती है उसको मृगी मुद्रा कहते हैं । और केवल कानी अंगुली को बराकर शेष चार अंगुलियों से जो आहुति दी जाती है उसे हंसीमुद्रा कहते हैं । और पाँचों अंगुलियों को मिलाकर जो आहुति दी जाती है उसे शूकरी मुद्रा कहते हैं ।। भगवान् आगे कहते हैं कि यह यज्ञ कर्ता पुरुष के व्यापार रूप द्रव्योपार्जनादि कर्म से समुत्पन्न होता है । इससे भगवान् यह उपदेश देते हैं कि बिना शास्त्र-विहित क्रिया के यज्ञ की सिद्ध नहीं होगी और मद्आराधनात्मक यज्ञ यदि नहीं करोगे तो उसके बाद वृष्टि नहीं होगी जिसके फलस्वरूप सृष्टि के जीवों का शरीर धारण और भरण-पोषण नहीं हो सकेगा ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।१५।।

अन्वय :- **कर्म ब्रह्मोद्भवम् विद्धि, ब्रह्म अक्षर समुद्भवम् । तस्मात् सर्वगतम् ब्रह्म नित्यम् यज्ञे प्रतिष्ठितम् (अस्ति)**

अर्थ :- कर्म को तू ब्रह्म (यानी चेतन-विशिष्ट शरीर) से उत्पन्न हुआ जान और ब्रह्म (यानी शरीर) अक्षर (जीवात्मा) से उत्पन्न हुआ है । इसलिये सर्वगत ब्रह्म (समस्त अधिकारिवर्ग को प्राप्त शरीर) सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है, यानी यज्ञमूलक है ।

व्याख्या :- कुछ लोग इस श्लोक के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ वेद, ब्राह्मण अथवा परमात्मा करते हैं परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है । यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से प्रकृति का परिणाम रूप शरीर निर्दिष्ट है । **'तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते'** (मु. १।१।६) उस परमात्म से यह ब्रह्म यानी शरीर, नाम रूप और अन्न उत्पन्न होता है ।।६।। इस प्रकार श्रुति में 'ब्रह्म' शब्द से 'प्रकृति' का निर्देश किया गया है । इसे गीताशास्त्र में भी भगवान् स्वयं आगे कहेंगे **''मम योनिर्महद्ब्रह्म'** (गी. १४।३) मेरी (प्रकृति) महद्ब्रह्म है ।।३।। तथा इस श्लोक में भी आगे ब्रह्म की उत्पत्ति (अक्षर से) बताते हैं ।

अतएव कर्म ब्रह्म से उत्पन्न है । इस कथन का तात्पर्य यह होता है कि प्रकृति के परिणाम शरीर से कर्म उत्पन्न होता है । ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न होता है । यहाँ अक्षर शब्द से 'जीवात्मा' का निर्देश है ।। **'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः'** (श्वे. उ. १।१०) प्रधान प्रकृति ही क्षर है और हर यानी अपने उपभोग के लिए प्रकृति का हरण करने वाली जीवात्मा अमृत एवं अक्षर है । प्रकृति और जीवात्मा इन दोनों पर वह एक देव परमात्मा शासन करता है ।।१०।। **'अव्यक्तमक्षरे लीयते'** (सुबालो. २) जिसका अक्षर यानी जीवात्मा में लय होता है ।।२।। **'यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद'** (सुबालो. ७) जिसका अक्षर यानी जीवात्मा शरीर है, जो जीवात्मा के भीतर विचरता है, जिसको जीव नहीं जानता है ।।७।। इस प्रकार श्रुति में 'अक्षर' शब्द से जीवात्मा को कहा गया है । इस गीताशास्त्र में भी **'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः'** (गी. ८।२१) वह अव्यक्त अक्षर यानी जीवात्मा नाम से कहा गया है ।।२१।। **'ये त्वक्षरम्'** (गी. १२।३) जो जीवात्मा का स्वरूप ।।३।। **'अक्षरादपि चोत्तमः'** (गी. १५।१८) जीवात्मा की अपेक्षा भी मैं अत्यन्त श्रेष्ठ हूँ ।।१८।। इस प्रकार कहेंगे । अतएव 'अक्षर' शब्द से जीवात्मा का निर्देश किया गया है । इस प्रकार जीवात्मा से अधिष्ठित और अन्नपानादि से परितृप्त शरीर कर्म करने में समर्थ होता है । कर्म का साधन रूप शरीर अक्षर यानी सर्वगत जीवात्मा से उत्पन्न होता है । अतएव ब्रह्म अर्थात् समस्त अधिकारी वर्ग को प्राप्त शरीर सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है, यानी यज्ञमूलक है ।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।१६।।

अन्वय :- **पार्थ ! एवं प्रवर्तितं चक्रं यः इह न अनुवर्तयति सः इन्द्रियारामः अघायुः मोघं जीवति ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! जो इस प्रकार प्रचलित चक्र के अनुसार नहीं चलता वह इन्द्रियों में रमण करने वाला (यानी केवल विषय भोग में रमण करने वाला) पाप-जीवन मनुष्य व्यर्थ ही जीता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि तुम महापतिव्रता पृथा देवी के पुत्र होने के कारण उपदेश के सच्चे अधिकारी हो इसलिए तुमसे कहता हूँ । **'अन्नाद् भवन्ति भूतानि'** इस १४ वें श्लोक से प्रारंभ कर **'नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'** इस १५वें श्लोक के अन्त तक इन दो श्लोकों में यज्ञ चक्र की महामहिमा यहाँ भगवान् वर्णन करते हैं । इसको अन्यत्र भी कहा है-

यज्ञेन हि देवा दिवंगताः यज्ञेनासुरानपानुदन्तः यज्ञेन द्विषन्तो
मित्रा भवन्ति । यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् यज्ञं परमं वदन्ति । (महाना. श्रु. ७६)

यज्ञ से देवताओं ने स्वर्ग प्राप्त किया और असुरों को परास्त किया, यज्ञ से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, यज्ञ में सब प्रकार के गुण हैं । अतः श्रेष्ठ जन यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म कहते हैं ।७६। **'अन्नाद् भवन्ति भूतानि'** इस वाक्य में 'भूत' शब्द से सजीव शरीरों का निर्देश है । इसके अनुसार सजीव शरीर अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से, यज्ञ कर्ता के व्यापार रूप कर्म से, कर्म सजीव शरीर से तथा सजीव शरीर पुनः अन्न से होता है । इस प्रकार एक

दूसरे के कार्य कारण रूप से जो चक्र की भाँति घूमता रहता है, ऐसे उपर्युक्त रूप से परम पुरुष के द्वारा प्रवर्तित यज्ञ चक्र का इस मोक्ष मार्ग के साधन में लगा हुआ जो मनुष्य, चाहे वह ज्ञाननिष्ठावाला हो अथवा कर्मनिष्ठावाला, यदि इसके अनुसार नहीं चलता, वह यज्ञ से बचे हुए प्रसाद से शरीर धारण न करने के कारण पापायु होता है। उसका जीवन पापों का प्रारम्भ करने के लिये है इसलिये, या उसका जीवन पापों का परिणाम है इसलिए अथवा दोनों ही प्रकार से वह पापायु है। इसलिए वह इन्द्रियों में रमण करने वाला होता है, आत्मा में रमण करने वाला नहीं। जैसे वह अपने लिए भोजन, वस्त्र, द्रव्य आदि माँगता है परन्तु यज्ञ के लिये नहीं। वह अपनी इन्द्रियों को आराम देने से इन्द्रियाराम है आत्माराम नहीं। इन्द्रियाँ ही उसके विश्राम की वाटिकाएँ होती हैं। उसका शरीर और मन यज्ञशिष्ट अन्न द्वारा संवर्धित न होने के कारण उसके रज तथा तम बढ़े होते हैं, वह आत्मसाक्षात्कार से विमुख होकर केवल विषय भोग में फँसा रहता है। अतएव ज्ञानयोगादि के लिए प्रयत्नवान् होने पर उसका प्रयत्न निष्फल होता है और इसलिए वह व्यर्थ ही जीता है। इस प्रकार भगवान् यज्ञ को अवश्य कर्तव्य बतलाते हैं। ज्ञाननिष्ठावाले और कर्मनिष्ठावाले दोनों को यज्ञ अवश्य करना चाहिए। जैसे विश्वामित्र जी ने सब कुछ छोड़ दिया पर वे यज्ञ बक्सर में करते थे। राजा दिलीप, महाराज दशरथ, भगवान् राम सबों ने यज्ञ किया और हमलोगों को भी इसी के अनुसार चलने का आदेश दिया है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

अन्वय :- **तु यः मानवः आत्मरतिःएव च आत्मतृप्तः च आत्मनि एव सन्तुष्टः स्यात् तस्य कार्यं न विद्यते।**

अर्थ :- परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला तथा आत्मा में ही तृप्त एवं आत्मा में ही सन्तुष्ट हो उसके लिए कर्तव्य नही है (यानी कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता)

व्याख्या :- भगवान् यहाँ पर यह बताते हैं कि जिसको आत्मसाक्षात्कार के लिए साधन करने की आवश्यकता नहीं रही ऐसे मुक्त पुरुष के लिए महायज्ञादि वर्णाश्रमोचित कर्मों का आरम्भ न करना युक्ति-सङ्गत है, परन्तु जो मुक्त नहीं हैं उनके लिए यज्ञादि कर्म अवश्य कर्तव्य हैं। मुक्त पुरुष के विषय में कपिलमुनि अपने सांख्य शास्त्र में लिखते हैं **'वामदेवोविर्मुक्तः'** (सां. अ. १ सू. १५८) वामदेव आदिक मुक्त हो गये हैं ॥१५८॥ ऐसा पुरुष जो ज्ञानयोग या कर्मयोग रूप साधनों की अपेक्षा नहीं रखता, अपने आप को आत्मा में प्रीति करता है, स्त्री, पुत्र, धनादि में प्रीति नहीं करता तथा आत्मसम्मुख आत्मा से ही तृप्त है। आत्मा के अतिरिक्त अन्नपानादि के द्वारा तृप्ति की आवश्यकता नहीं रखता तथा जो आत्मा में ही सन्तुष्ट है, पुष्पवाटिका, हार, चन्दन, संगीत, वाद्य और नृत्य आदि से नहीं, जिसके धारण पोषण और भोग आदि सबकुछ आत्मा ही है, उसको आत्मसाक्षात्कार के लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता, क्योंकि उसको तो अपने आप ही सब समय आत्मस्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त है, परन्तु साधनावस्था में रहने पर तो पंचमहायज्ञादि कर्म करना होगा।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

अन्वय :- **तस्य इह न कृतेन कश्चन अर्थः, न अकृतेन एव च सर्वभूतेषु अस्य न कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः ।**

अर्थ :- (क्योंकि) उसको इसलोक में न तो (साधन) करने से कोई प्रयोजन है और न नहीं करने से ही और नहीं उसका समस्त भूतों से भी कोई स्वार्थ का सम्बन्ध रहता है ।

व्याख्या :- मुक्त पुरुष के लिए न तो आत्मसाक्षात्कार के लिये तत्सम्बन्धी साधन करने का कोई प्रयोजन है और न आत्मसाक्षात्कार के लिए साधन न करने से ही कोई हानि है । उसका आत्मसाक्षात्कार साधन के अधीन नहीं है । इस प्रकार जो अपने आप ही आत्मा के अतिरिक्त सब जड़ पदार्थों से विमुख है, उस पुरुष का प्रकृति के परिणाम विशेष आकाशादि समस्त भूतों से और उनके कार्यों से (उनसे बने हुए पदार्थों से) प्रयोजन के रूप में या साधन के रूप में कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता, जिससे उनकी ओर से अपने को विमुख करने के लिए कोई साधन करना पड़े । वह तो मुक्त ही है ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

अन्वय :- **तस्मात् सततं असक्तः कार्यं कर्म समाचार हि असक्तः पूरुषः कर्म आचरन् परम् आप्नोति ।**

अर्थ :- इसलिए सदा आसक्ति रहित होकर कर्तव्य कर्म करो, क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ ही परम (आत्मा) को प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- जिसका आत्मसाक्षात्कार साधन के अधीन नहीं है, केवल उसी की प्रवृत्ति साधन में नहीं होती, कर्मयोग सुशक्य (सुख-साध्य) एवं प्रमादरहित होने और उसके अन्तर्गत आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान भी आजाने के कारण साधन में प्रवृत्त ज्ञानयोगी के लिए भी शरीर यात्रा के निमित्त कर्म का आचरण अपेक्षित है, तब तो आत्मसाक्षात्कार के लिए कर्मयोग ही सब प्रकार से श्रेष्ठ है । इसलिये तू आसक्ति रहित होकर लगातार कर्म कर, क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ ही परम (आत्मा) को प्राप्त हो जाता है । भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग की श्रेष्ठता बता चुका हूँ । इसलिए समस्त कर्मों में और उनके फलरूप समस्त भोगों में आसक्ति का त्याग करके केवल कर्तव्य समझकर ही जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो जाय निरन्तर भलीभाँति कर्म ही करता रह । आगे कर्मयोग का फल बताते हैं कि यदि मेरे बताये हुए के अनुसार कर्मयोग करोगे, तो कर्तव्य समझकर आगे मेरी बतलायी हुई रीति से अकर्तापन को लक्ष्य में रखता हुआ जो पुरुष अनासक्त होकर कर्म करता है, वह कर्मयोग से ही परमपद को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् आत्मा को पा जाता है ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

अन्वय :- **हि जनकादयः कर्मणा एव संसिद्धिम् आस्थिताः लोकसंग्रहम् सम्पश्यन् अपि कर्तुम् एव अर्हसि ।**

अर्थ :- क्योंकि जनकादि (आसक्ति रहित) कर्म के द्वारा ही परम सिद्धि (या सम्यक् सिद्धि) को प्राप्त हुए । लोक-संग्रह को देखते हुए भी तुझे कर्म ही करना चाहिये ।

व्याख्या :- **'जनकादयः'** इस पद में आदि शब्द से राजा जनक की भाँति कर्मयोग द्वारा परमसिद्धि को प्राप्त करने वाले इक्ष्वाकु, अश्वपति तथा अम्बरीष आदि महापुरुषों को संकेत किया गया है । मिथिला के राजा जनक ज्ञानी थे, क्योंकि विष्णुपुराण में लिखा है -

इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः ।
ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया ॥ (वि. पु. अंश. ६ अ. ६।१२)

शास्त्रश्रवणजन्य ब्रह्मज्ञानवाले उस जनक राजा ने भी निदिध्यासन रूपा ब्रह्मविद्या ज्ञान को आश्रयण करके विद्याङ्गभूतकर्म से भक्त्युत्पत्तिविरोधी प्राचीन कर्म को पार करने के लिए ज्योतिष्टोमादिक बहुत से यज्ञों को किया ।।१२।। और मिथिला के जनक राजा के विषय में बृहद् ब्रह्म-संहिता में लिखा है कि-

प्राप्स्यन्ति जानकी जानेः सुग्रीवाद्यास्तथापरे ।
विभीषणो महातेजाः प्रह्लादो जनको ध्रुवः ॥ (बृह.ब्र.अ. २ पा. १ श्लो. १०६)

यमः शिवः कुमाराश्च भक्ता ये भूतभाविनः ।
चक्रांकिता भविष्यन्ति याता यास्यन्ति चापरे ।।१०७।।

और सुग्रीवादिक श्रीरामचन्द्र जी से पंचसंस्कार को प्राप्त करेंगे । महातेजस्वी विभीषण, प्रह्लाद, जनक और ध्रुव भी तप्त चक्र को धारण करेंगे ।।१०६।। और यमराज, शिवजी, सनत्कुमार आदिक जितने भक्त हुए हैं, उन सबोंने तप्त चक्र धारण किया है तथा और जो होवेंगे वे भी चक्रांकित होवेंगे ।।१०७।। यहाँ जनक के विषय में एक आख्यायिका उल्लेखनीय है । श्रीशुकदेव जी जनक राजा के यहाँ उपदेश सुनने के लिये गये । जब वहाँ उपदेश प्रारम्भ हुआ तो शुकाचार्य के मन में यह भाव उत्पन्न होने लगा कि जनक जी परिवार वाले हैं, घर में रहते हैं और मैं महात्यागी हूँ, फिर पिता जी ने इनके पास क्यों भेजा ? इसी समय जनक के गढ़ में आग लग गई और उसकी लपटें शुकाचार्य के बैठने वाले स्थल के समीप में आने लगीं । राजा जनक शान्त मुद्रा से उपदेश देते थे । उनका मन जरा भी चंचल नहीं हुआ, परन्तु श्री शुकाचार्य यह सोचकर कि कहीं मेरा कौपीन आदि न जल जाय चंचल हो उठे । यह देख राजा जनक ने कहा कि श्रीमान् जी लंगोटी के लिए इतना क्यों चंचल हो गये । मेरी कोठी आदि जल रही है, परन्तु मुझे कोई चंचलता नहीं है, फिर मैं राजा हूँ, आपको अनेक लंगोटी आदि दे सकता हूँ । इससे ज्ञात होता है कि जनक ज्ञानी थे । भगवान् कहते हैं कि जो ज्ञानयोग का अधिकारी है, उसको भी आत्मसाक्षात्कार के लिए कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, इसीलिये ज्ञानियों में अग्रगण्य जनकादि राजर्षिगण भी कर्मयोग के द्वारा ही आत्मा को प्राप्त हुए । इस प्रकार पहले यह बात कहकर कि जो मुमुक्षु ज्ञानयोग के अधिकारी न होने के कारण कर्मयोग के अधिकारी हैं, उनके लिये कर्मयोग ही कर्तव्य है, फिर युक्तियों

के साथ भगवान् ने यह बतलाया कि ज्ञानयोग के अधिकारियों के लिए भी ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। अब जो मनुष्य संसार में श्रेष्ठ रूप से आदर्श माना जाता है उसके लिए तो सर्वथा कर्मयोग ही कर्तव्य है, यानी कहते हैं कि लोक-संग्रह को देखकर भी तुझे कर्म ही करना चाहिए। शास्त्रानुसार आचरण करने वाले आदर्श पुरुष कहे जाते हैं। वे अपने आदर्श के द्वारा दूसरे लोगों को दुर्गुण दुराचर से हटाकर सदाचार में लगाते हैं - यही लोक-संग्रह है। इस प्रकार भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा वालों को भी कर्मयोग करने को कहा और अन्त में जो आदर्श पुरुष हैं उनको भी कर्म करने की बात कहकर तीनों (यानी ज्ञानयोग, एवं कर्म योगवाले एवं आदर्श पुरुष) के लिये कर्मयोग का आचरण करना बताया है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

अन्वय :- **श्रेष्ठः यत् यत् आचरति इतरः जनः तत् तत् एव सः यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तत् अनुवर्तते।**

अर्थ :- (क्योंकि) श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता अन्य पुरुष भी वैसा ही (यानी वही-वही) आचरण करता है। वह श्रेष्ठ पुरुष जितने प्रमाण में करता है, संसार उसी का अनुवर्तन करता है (यानी पीछे चलता है)

व्याख्या :- समस्त शास्त्रों को जानने वाला और उसके अनुसार चलने वाला श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है। वह जो आचरण करता है, अज्ञानी लोग भी उसको देखकर वही-वही आचरण करते हैं। इसलिये श्रेष्ठ पुरुष को लोग-संग्रह की ओर ध्यान रखते हुए सावधानी के साथ सभी कर्मों को करना चाहिए। अन्यथा उसके देखा-देखी अज्ञानी जन भी उसीको कर्तव्य समझकर उसीके अनुसार बरतने लगेंगे। आचरणीय कर्म को भी श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रमाण से जिस अङ्ग से युक्त करता है, अज्ञानी लोग भी उतने ही अंगो सहित उसे करते हैं। उदाहरण स्वरूप कोई श्रेष्ठ पुरुष अर्चावतार भगवान् के भोग लगाने वाले कर्म को करता है। उसमें वह जिन-जिन अंगों को प्रमाण मानता है जैसे उसमें तुलसी पत्र डालता है, सुरभि मुद्रा दिखाता है, आचमनी से जल प्रदान करता है तथा पवित्र स्वच्छ वस्त्र के टुकड़े से मुख पोंछता है। उसके इन अंगों सहित भोग लगाने के कर्म को देखकरअन्य अज्ञानी जन भी वैसा ही करते हैं। इसी प्रकार सभी कर्मों में अंग होता है। इसलिये जो विशेष रूप से प्रसिद्ध है उस श्रेष्ठ पुरुष को लोक-रक्षा के लिये अपने वर्णाश्रमानुकूल सब कर्म सदा ही करते रहना चाहिए। नहीं तो लोक-नाश-जनित पाप उसको ज्ञानयोग से भी गिरा देगा। श्रुति भी कहती है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (ईशोप. श्रु. २)

इस लोक में नित्य नैमित्तिकादिक निष्काम कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार तुझ मनुष्य में कर्म नहीं संलग्न होता है। इससे प्रकारान्तर नहीं है ॥२॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

अन्वय :- **पार्थ ! मे त्रिषु लोकेषु न किञ्चन कर्तव्यम् अस्ति च न अनावप्तम् अवाप्तव्यं, कर्मणि एव वर्ते ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! मेरे लिए तीनों लोकों में न तो कुछ भी कर्तव्य है और न (किसी) अप्राप्त (वस्तु) को प्राप्त करना है, (फिर भी) मैं कर्म में ही बरतता हूँ (यानी कर्म करता ही रहता हूँ)

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प और समस्त लोकों में देव मनुष्यादि का रूप धारण करके स्वच्छन्द आचरण करने वाले मुझ सर्वेश्वर को । इसी को **'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'** (मु. उ. १।१।६) जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है ॥६॥ **'सत्कामः सत्यसङ्कल्पः'** (छा. उ. ८।७।१) वह सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है ॥१॥ **'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'** (श्वे. उ. ६।१६) वह गुणेश्वर प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) दोनों का स्वामी है ॥१६॥ इत्यादि श्रुतियों तथा -

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ (गीता ७।२६)

और हे अर्जुन ! मैं भूत, वर्तमान और भविष्य में होने वाले समस्त प्राणियों को जानता हूँ, मुझको कोई नहीं जानता ॥२६॥

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः । (गीता १०।२)

क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियों का सब प्रकार से आदि हूँ ॥२॥ **'परं ब्रह्म परं धाम'** (गीता १०।१२) आप परमब्रह्म और परमधाम हैं ॥१२॥ इत्यादि गीता वचनों से भी उपर्युक्त अर्थ प्रमाणित हो जाता है । भगवान् आगे कहते हैं कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अवाप्त समस्त काम मेरे लिये यद्यपि कुछ भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि मुझे कोई किञ्चिन्मात्र भी अप्राप्त वस्तु को कर्मों द्वारा प्राप्त नहीं करना है, फिर भी मैं संसार के कल्याण के लिये अर्थात् लोकरक्षा के लिये वेद विहित कर्म का अनुष्ठान करने में ही लगा रहता हूँ । यहाँ पर 'चकार' से भगवान् संकेत करते हैं कि अन्य कर्म को कौन कहे मैं अत्यन्त छोटा कर्म कोचवानी भी कर रहा हूँ । वह भी समस्त एकत्र हुए राजाओं के सम्मुख तथा प्रसन्नतापूर्वक । क्योंकि तूने स्वयं कहा है-

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत । (गीता १।२१)

अच्युत ! आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए ॥२१॥ तथा मुझे यह सुनकर किसी प्रकार की नाराजगी नहीं हुई और प्रसन्नतापूर्वक मैंने नौकर की भाँति मालिक की आज्ञा मानते हुए रथ खड़ा कर दिया, जैसा संजय कहता है - **सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्'** । (गीता १।२४) उस उत्तम रथ को दानों सेनाओं के बीच में खड़ा करके ॥२४॥ इतना ही नहीं मैंने पार्थसारथी नाम भी सहर्ष रखवा लिया । इससे भगवान् यह उपदेश देते हैं कि मैं

परमात्मा होते हुए कर्म करता हूँ, इसलिए तुमलोग कर्म का त्याग कभी नहीं करना ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

अन्वय :- **हि पार्थ ! यदि अहं अतन्द्रितः जातु कर्मणि न वर्तेयम् मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ।**

अर्थ :- क्योंकि हे पार्थ ! यदि मैं सजग रहकर कदाचित् कर्म में प्रवृत्त न होऊँ तो सभी मनुष्य सभी तरह से मेरा मार्ग अनुसरण करते हैं । अर्थात् (यानी) ऐसा ही अनुसरण कर वे भी कर्म में प्रवृत्त न होंगे) ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि मैं सत्यसंकल्प, तथा अपने संकल्प मात्र से ही जगत् का सृजन, पालन और संहार रूप लीला करने वाला सर्वेश्वर यद्यपि जगत् का उपकार करने के लिये स्वच्छन्द रूप से ही मनुष्य रूप में प्रकट हुआ हूँ तौभी **'सर्वयादवभूभूजाम्'** (श्रीमद्भा.) के अनुसार समस्त यदुवंशियों के राजाओं की राजधानी मथुरापुरी में मनुष्य में श्रेष्ठ जनों में अग्रगण्य श्रीवसुदेव जी के घर में अवतीर्ण होकर यदि उनके कुलोचित कर्मों को सदा सजग रहकर अर्थात् जिन कर्म में जिन अंगों की आवश्यकता है उसके साथ करते हुए न आचरण करूँ तो जो अल्पज्ञ तथा उत्तम पुरुष मुझ श्रेष्ठ जनाग्रणी वसुदेव नन्दन के मार्ग का सब प्रकार से **'यही धर्म है'** ऐसा मानकर अनुसरण करते हैं, वे भी (मेरी देखा देखी), अपने कर्तव्य का अनुष्ठान न करने के कारण कर्म-त्याग जनित पाप से आत्मा को न पाकर नरकगामी हो जायें ।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

अन्वय :- **चेत् अहं कर्म न कुर्याम्, इमे लोकाः उत्सीदेयुः, च संकरस्य कर्ता स्याम्, इमाः प्रजाः अपहन्याम् ।**

अर्थ :- (फलतः) यदि मैं कर्म न करूँ तो (मेरे पीछे चलकर यानी कर्महीन बनकर) ये लोग भी नष्ट हो जायें, और मैं फिर वर्णसंकर-कर्ता बनूँ और इन प्रजाओं का नाश करूँ (यानी इनका नाशक बनूँ)

व्याख्या :- यहाँ **लोकस्तु भुवने जने'** (अमर को. ३।३।३२) के अनुसार लोक शब्द जन के लिये आया है । भगवान् कहते हैं कि अखिल ब्रह्माण्डनायक हेयप्रत्यनीक, कल्याण एकतान, स्वेतर समस्त वस्तुओं से विलक्षण जो मैं हूँ यदि कुलोचित कर्म न करूँ तो सभी श्रेष्ठ पुरुष जो मेरे आचार को आदर्श मानकर धर्म का निश्चय करने वाले हैं, यह सोचकर कि श्रीकृष्ण श्रेष्ठ महान पुरुष हैं, बड़े राजा के पुत्र हैं, सांदीपनि गुरु के शिष्य हैं और जब वे कर्म नहीं करते तो मैं भी न करूँ । इस प्रकार केवल कर्म न करने के कारण नष्ट हो जायें । यहाँ पर जिस तरह 'लोक' शब्द जन वाचक है, उसी तरह **प्रजास्यात् संततौ जने'** (अमर कोश ३।३।३२) के अनुसार प्रजा शब्द भी जनवाचक है । भगवान् आगे कहते हैं कि और मैं वेदानुसार वर्णाश्रमोचित आचारों का पालन न करने के कारण समस्त श्रेष्ठ कुलीन पुरुषों को संकर बनाने वाला होऊँ और इसी कारण इस सारी प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ, क्योंकि तुम्ही कह चुके हो **'संकरो**

नरकायैव' (गीता १।४२) वर्ण संकर निश्चय करके नरक के लिए होता है। ।।४२।। इसी प्रकार तू भी श्रेष्ठ पुरुषों में अग्रणी धर्मात्मा पाण्डु का पुत्र, युधिष्ठिर का छोटा भाई, सदाचारी, मेरा सहवासी होकर यदि ज्ञाननिष्ठा को उत्तम समझकर स्वीकार कर लोगे तो तेरे पीछे चलने वाले अल्पज्ञ तथा उत्तम पुरुष भी जो मुमुक्षु हैं अपने अधिकार को न जानने के कारण कर्म-निष्ठा को स्वीकार न करके नष्ट हो जायेंगे । अत: आदर्श माने जाने वाले विद्वान् को कर्म ही करना चाहिए ।

सक्ता: कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

अन्वय :- **भारत ! कर्मणि सक्ताः अविद्वांसः यथा कुर्वन्ति, विद्वान् असक्तः लोकसंग्रहं चिकीर्षुः तथा कुर्यात् ।**

अर्थ :- हे भारत ! कर्म में आसक्त अज्ञानी लोग जैसे कर्म करते हैं वैसे ही विद्वान् (ज्ञानी को) अनासक्त हो लोक-संग्रह (लोगों की भलाई) के लिए कर्म करना चाहिए ।

व्याख्या :- यहाँ 'भारत' सम्बोधन देकर भगवान् अर्जुन को खान्दानी सिद्ध करते हैं । **भरतस्येदं भारतम्'** सोमवंश के महाधर्मात्मा राजा दुष्यन्त के अत्यन्त ओजस्वी पुत्र भरत के वंश में होने से अर्जुन को 'भारत' कहते हैं । भगवान् का संकेत है कि अपने पूर्वजों की ओर देखना चाहिए । इसी कारण तुम्हें बड़ा खान्दानी जानकर मैंने अपना सम्बन्ध किया अर्थात् मेरी बुआ कुंती और बहन सुभद्रा का विवाह सम्बन्ध स्थापित हुआ । भगवान् कहते हैं कि जो अज्ञानी हैं- आत्मा को भली-भाँति जानने वाले नहीं हैं, कर्मों में अनिवार्य सम्बन्ध रखने वाले हैं, आत्मा को भली-भाँति जानने वाले न होने के कारण जो उसके अभ्यास रूप ज्ञानयोग के अधिकारी नहीं हैं, कर्मयोग के ही अधिकारी हैं, वे जैसे आत्मसाक्षात्कार के लिये कर्मयोग ही किया करते हैं । वे अज्ञानी कर्मों का उसके अंग सहित पूर्ण ज्ञान न होने से बड़े पुरुषों को देखकर कर्म करते हैं परन्तु कर्तृत्वाभिमान तथा फल की चाहना लेकर अत्यन्त आसक्त होकर कर्म करते हैं । **'यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्'** जो श्रौत-स्मार्त्त कर्मों को करता है वही विद्वान् है । ऐसे ज्ञानी जन जो आत्मा को भली-भाँति जानने वाला होने के कारण कर्मों में अनासक्त हैं और ज्ञानयोग के अधिकारी हैं, पर आदर्श एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं, उन्हें भी अज्ञानी की ही भाँति कतृत्वाभिमान और फल की चाहना न लेकर, जन के सम्यक् कराने के लिये, लोक रक्षा के लिये अपने आचरणों से श्रेष्ठ पुरुषों का धर्म निश्चित करने की इच्छा से कर्म-योग ही करना चाहिए ।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

अन्वय :- **विद्वान् कर्मसंगिनाम् अज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत्, युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत् ।**

अर्थ :- ज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भेद न उत्पन्न करे (वरन्) योगयुक्त कर्म करते हुए सभी कर्मों में उनकी प्रीति उत्पन्न करे (यानी सभी कर्म प्रीतिपूर्वक करवाये) ।

व्याख्या :- जो क्रियावान् पुरुष हैं उन्हें विद्वान् कहते हैं तथा युक्त के विषय में आगे छठें अध्याय में भगवान् ने कहा है-

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (गीता ६।८)

जो मिट्टी पत्थर तथा सुवर्ण को समान समझने वाला है, वह योगी युक्त कहा जाता है ।।८।। भगवान् कहते हैं कि जो क्रियावान् और युक्त पुरुष है, अर्थात् आत्मा को पूर्णरूप से जानने वाला होने के कारण जो ज्ञानयोग के साधन में समर्थ है, उसे भी चाहिए कि जो लोग आत्मा को पूर्णरूप से न समझने के कारण ज्ञानयोग के सम्पादन में असमर्थ हैं और अनादि कर्मवासना के द्वारा कर्मों में ही लगे रहने के कारण कर्मयोग के ही अधिकारी हैं, ऐसे कर्मासक्त अज्ञानी मुमुक्षुओं के अन्तःकरण में 'कर्मयोग' के सिवा अन्य किसी प्रकार से भी आत्मसाक्षात्कार हो सकते हैं' ऐसा बुद्धिभेद न उत्पन्न करे, क्योंकि जो अत्यन्त आसक्त हैं तथा बिना फल के कर्म करेंगे नहीं, यदि उनको निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया जाय अथवा आसक्ति (फल) छोड़कर कर्म करने को कहा जाय तो वे पहले तो करेंगे नहीं यदि ऐसा किये भी तो जो कर्म सकाम भावना से कर रहे हैं वह एकदम से छोड़ देंगे और इस प्रकार उनका अधःपतन हो जायेगा जिसका पाप उस विद्वान् युक्त पुरुष को भी लगेगा । इसलिए ऐसे ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि को चंचल न करे, किन्तु नित्य नैमित्तिक कर्म स्वयं अच्छी तरह आचरण करते हुए, पहले बतलायी हुई रीति के अनुसार 'ज्ञानयोग' की अपेक्षा न रखने वाला कर्मयोग ही आत्मसाक्षात्कार का साधन है, ऐसी बुद्धि से युक्त होकर स्वयं कर्मों का आचरण करते हुए अल्पज्ञ पुरुषों की, समस्त कर्मों में प्रीति उत्पन्न करे । **'जुष प्रीतिसेवनयोः'** धातु से जुष बनता है जिसका प्रीति अर्थ है । वसिष्ठ जी ऐसे ही युक्त विद्वान् पुरुष थे जिन्होंने महाराजा दशरथ को आसक्ति फल लेकर कर्म कराया ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

अन्वय :- **कर्माणि सर्वशः प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि । अहङ्कारविमूढात्मा अहं कर्ता इति मन्यते ।**

अर्थ :- कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये होते हैं (परन्तु) अहंकार से मूढ़ात्मा (मोहित अन्तःकरण वाला) 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है ।

व्याख्या :- प्रकृति के विषय में कहा गया है **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** (श्वे. उ. ४।१०) माया तो प्रकृति को समझना चाहिए ।।१०।। प्रकृति के गुणों को बताते हुए भगवान् ने आगे कहा है -**'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः'** (गीता १४।५) सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण ।।५।। उनमें **'सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्'** (गीता १४।६) सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक है ।।६।। **'रजो रागात्मकं विद्धि'** (गी. १४।७) रजोगुण को तू रागात्मक जान ।।७।। तथा **'नीलतमः'** तम का रंग काला है ।। **'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि'** (गी. १४।८) तमोगुण को तू अज्ञानजन्य जान ।।८।। भगवान् कहते हैं कि प्रकृति के सत्त्वादि तीनों गुणों द्वारा उन्हीं के अनुरूप किये गये कर्मों के सम्बन्ध में अहंकार-विमूढात्मा ऐसा मानता है कि इन्हें करने वाला मैं हूँ, जब कि कूप खुदवाना, यज्ञ करना, तीर्थ, व्रत करना आदि कर्म प्रकृति के गुणों के कारण

होते हैं । आत्मा तो सूक्ष्म है । जिसका मन अहङ्कार से विमूढ़ हो रहा है उसे अहङ्कार-विमूढ़ात्मा कहते हैं । अहं आत्मा को कहते हैं । जो अहं का विषय नहीं है, उस प्रकृति में 'मैं पन' का अभिमान कर लेना अहङ्कार है । उस अहङ्कार के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता वह मनुष्य गुणों के द्वारा होने वाले कर्मों में मैं करने वाला हूँ, ऐसा मानता है, जैसे राजा नहुष । वह यज्ञ करते हुए अपने को कर्ता समझता था जिससे अहंकार के कारण उसका अन्तःकरण निर्मल नहीं हुआ । सौ अश्वमेध यज्ञ करके इन्द्रपुरी का नायक हो गया, परन्तु प्रकृति के सत्त्वगुण द्वारा यज्ञादि कर्म न मानकर, मैं करने वाला हूँ' उसने ऐसा समझा । जिसका परिणाम यह हुआ कि दुष्ट बुद्धि उत्पन्न हो गई और इन्द्राणी को अपनी रानी बनाने की इच्छा उसे उत्पन्न हो गई । अन्त में सप्तर्षियों को वाहन बनाया और सर्प-सर्प कहकर शीघ्र चलने को कहा जिससे कुपित हो विश्वामित्रजी ने सर्प हो जाने का शाप दे दिया और वह अजगर हो गया । इस प्रकार उसको अधोगति हुई ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

अन्वय :- **तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् गुणाः गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ।**

अर्थ :- परन्तु हे श्रेष्ठ भुजाओं वाले अर्जुन । गुण-कर्म-विभाग के तत्त्व को जानने वाला 'गुण ही गुणों में बरत रहे हैं' ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को 'महाबाहो' सम्बोधन देकर संकेत करते हैं कि श्रेष्ठ भुजा बड़े घर में जन्म लेने, बड़े धनवान होने या केवल लम्बी भुजा होने से नहीं होती, बल्कि गौ की सेवा करने से ही श्रेष्ठ भुजा कही जाती है । इस श्लोक में 'विभाग' शब्द का गुण एवं कर्म दोनों के साथ अन्वय होगा । भगवान् कहते हैं कि सत्त्वादिक गुण-विभाग के और उन-उन के कर्म विभाग के विषय में जो पुरुष उनके तत्त्व को जान चुका है वह पुरुष, सत्त्वादि गुण ही अपने कार्य रूप नाना प्रकार के गुणों और कर्मों में बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उन गुण-कर्मों में इसका कर्ता मैं हूँ, इस प्रकार आसक्त नहीं होता ।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

अन्वय :- **प्रकृतेः गुणसमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु । कृत्स्नवित् अकृत्स्नविदः तान् मन्दान् न विचालयेत् ।**

अर्थ :- प्रकृति के गुणों से मोहित (यानी मूढ़ हुए मनुष्य) गुण-कर्मों में आसक्त होते हैं, पूर्ण जानने वाला (ज्ञानी) अल्पज्ञ उन मन्दबुद्धिवालों को चलायमान न करे ।

व्याख्या :- अपनी आत्मा को साक्षात्कार करने की चेष्टा में लगे हुए अल्पज्ञ मनुष्य प्रकृति-संसर्गयुक्त होने के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप के विषय में प्रकृति के गुणों से सम्मोहित हो रहे हैं तथा गुण और कर्मों में, क्रियाओं में ही

आसक्त रहते हैं, उन गुण कर्मों के संसर्ग से रहित आत्मस्वरूप में नहीं । इसलिए वे ज्ञान-योग के साधन में समर्थ नहीं हैं, अतः उनका अधिकार कर्मयोग में ही है । ऐसे मन्दबुद्धि उन अल्पज्ञ मनुष्यों को पूर्णज्ञानी पुरुष स्वयं ज्ञानयोग में स्थित होकर (कर्मयोग से विरक्त होकर) विचलित न करे, क्योंकि वे मन्दुबद्धि मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषों के आचार का ही अनुकरण किया करते हैं, वे जब ज्ञानी पुरुष को कर्मयोग से विरत देखेंगे तो उनका मन भी कर्मयोग से हट जायेगा । इसलिए श्रेष्ठ पुरुष को उचित है कि स्वयं भी स्थित रहता हुआ आत्मा के यथार्थ स्वरूप-ज्ञान द्वारा आत्मा के अकर्तापन को समझता हुआ तथा यह दिखाता हुआ कि 'कर्मयोग' ही आत्मसाक्षात्कार का निरपेक्ष साधन है, उन मन्दबुद्धि अल्पज्ञ मनुष्यों को कर्मों में लगावे, यह अभिप्राय है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि ज्ञानयोग के अधिकारी के लिए भी ज्ञानयोग की अपेक्षा यह कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । अतएव आदर्श पुरुष को लोकसंग्रह के लिए कर्म ही करना चाहिए । प्रकृति-संसर्ग रहित आत्मा के स्वभाव का निरूपण करते हुए गुणों में कर्तापन का आरोप करके कर्म करने की रीति बतलायी गयी । यहाँ जो अन्वयव्यतिरेक के द्वारा विवेचनपूर्वक यह समझना है कि यह कर्तापन आत्मा में स्वभाविक नहीं है, किन्तु गुणों के सम्बन्ध से किया गया है, अतः सब कर्म गुणों के द्वारा ही किये गये हैं, यही गुणों में कर्तापन का अनुसन्धान करना है ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अन्वय :- **अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य निराशीः निर्ममः विगतज्वरः भूत्वायुध्यस्व ।**

अर्थ :- अध्यात्मचित्त से सब कर्मों को मुझमें निक्षेप करके (यानी मुझमें सौंप कर) आशा, ममता, संताप से रहित ओकर युद्ध करो ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि किया जाता हुआ कर्म बन्धन-कारक न हो उसका उपाय मैं बताता हूँ । समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा-रूप मुझ सर्वेश्वर में आध्यात्मचित्त से सब कर्मों का निक्षेप (समर्पण) करके आशा ममता से रहित और विगतज्वर होकर युद्धादि समस्त वेदविहित कर्मों को कर । यहाँ आत्म-विषयक चेतना (ज्ञान) को ही अध्यात्मचित्त के नाम से कहा गया है । तात्पर्य यह कि समस्त श्रुति, स्मृति आदि के सिद्ध आत्म-स्वरूप विषयक ज्ञान के द्वारा सब कर्मों को मुझमें समर्पण करके कर्म कर ।

'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा
अन्तः प्रविष्टं कर्तारमेतम्' (तै० आ० ३।११)

सबकी आत्मा (परमेश्वर) सबके भीतर प्रविष्ट हुआ सब जीवों का शासक है................अन्तर में प्रविष्ट इस कर्ता को ।।१।।

'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद ।
यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः (बृ. उ. ५।७)

जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा के भीतर है, जिसको आत्मा नहीं जानती, जिसका आत्मा शरीर है, जो इस आत्मा का अन्तर्यामी रूप से नियमन करता है, वह अन्तर्यामी अमृत स्वरूप परमेश्वर तेरी आत्मा है ।।७।।-इत्यादि श्रुतियाँ भी परम पुरुष के शरीररूप इस आत्मा को परम पुरुष के द्वारा प्रवर्तित की जानेवाली और परम पुरुष को प्रवर्तक बतलाती हैं । तथा **'प्रशासितारं सर्वेषाम्'** (मनु. १२।१२२) सबका भली-भाँति शासन करने वाले परमेश्वर को ।।१२२।। इत्यादि स्मृतियाँ भी (यही कहती हैं) इसके अतिरिक्त गीता में भी **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** (गीता १५।१५) मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ ।।१५।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ (गीता १८।६१)

अर्जुन ! ईश्वर यन्त्रारुढ़ समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमाते हुए सब प्राणियों के हृदय में स्थित हैं ।।६१।। यह बात कहेंगे । इसलिए भगवान् कहते हैं कि आत्मा मेरा शरीर होने के कारण वह मेरे ही शासन में मेरी ही शक्ति से बरतने वाली है । उसके स्वरूप को ऐसा समझकर समस्त कर्म मेरे द्वारा (भगवान् के) ही किये हुए हैं, इस भाव से मुझ परम पुरुष में सब कर्मों को समर्पण करके और उनको केवल मेरी आराधना मानकर उनके फल में आशा रहित होकर और इसी भाव से उन कर्मों में ममता रहित होकर सन्ताप रहित हुआ (तू) युद्धादि कर्म कर । अभिप्राय यह है कि सर्वशेषी, परम पुरुष, सर्वेश्वर भगवान् अपनी ही जीवात्मा रूपी कर्ता द्वारा अपनी ही आराधना के लिए, अपने आप ही अपने कर्म करवाते हैं, ऐसा समझकर कर्मों में ममता रहित हुआ और अनादि काल से प्रवृत अनन्त पापों के पुराने सञ्चय से 'मेरी क्या दशा होगी ? इस प्रकार के आन्तरिक सन्ताप को छोड़कर तथा 'इन कर्मों द्वारा आराधित परम पुरुष ही सब बन्धनों से छुड़ा देंगे' इस बात का स्मरण करता हुआ सुख के साथ केवल कर्मयोग का ही आचरण करता रह । क्योंकि भगवान् सर्वेश्वरत्व तथा सर्वशेषित्व **'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्'** (श्वेता. ६।७) उस ईश्वरों के भी परम महान् ईश्वर, उस देवताओं के परम देव को ।।७।। **पतिं विश्वस्य'** (महानारा. उ. ३।१) विश्व के स्वामी को ।।१।। **'पतिं पतीनाम्'** (श्वेता. ६।७) पतियों के पति को ।।७।। इत्यादि श्रुतियों से सदा ही सिद्ध है । ईश्वर का अर्थ नियन्ता और 'शेषी' का अर्थ स्वामी है ।। भगवान् १८ वें अध्याय में इसी श्लोक में कहे गये त्याग की चर्चा करते हुए कहते हैं-

त्यागो ही पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः । (गी. १८।४)

हे पुरुषसिंह अर्जुन ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है । वह है-किये जाने वाले वैदिक कर्मों का ही फल-विषयक, कर्म-विषयक और कर्तृत्व-विषयक त्याग । कर्म से होने वाले स्वर्गादि फल मुझे न मिले, इस भावना का नाम फल-त्याग है । 'मेरे फल का साधन होने से यह कर्म मेरा है' इस प्रकार कर्म में होने वाली ममता का परित्याग कर्म-विषयक त्याग है तथा जो सर्वेश्वर परमेश्वर को कर्ता समझकर अपने कर्तापन का त्याग है, वह कर्तृत्व-विषयक त्याग है ।।४।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

अन्वय :- **ये मानवाः अनसूयन्तः श्रद्धावन्तः मे इदं मतं नित्यं अनुतिष्ठन्ति ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते ।**

अर्थ :- जो मनुष्य दोष न देखते हुए, श्रद्धा रखते हुए मेरे इस मत का सदा अनुष्ठान (यानी अनुसरण) करते हैं, वे भी कर्मों से (यानी बन्धनकारक कर्मों के बन्धन से) मुक्त हो जाते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि जो मैंने तुमसे फल-विषयक, कर्म-विषयक और कर्तृत्व-विषयक त्याग के साथ वर्णाश्रमोचित कर्मों को करने को कहा है, यही सिद्धान्त साक्षात् उपनिषदों का सार है । मेरे बताये हुये के अनुसार कर्म करना समस्त मनुष्यमात्र का अधिकार है । इसे किसी एक जाति या व्यक्ति-विशेष के लिए ही नहीं कहा गया है । जो आत्मनिष्ठ शास्त्र के अधिकारी मनुष्य मेरे इस मत को 'यही सब शास्त्रों का निचोड़ है' ऐसा निश्चय करके, साधन करते हैं तथा जो साधन न करके इस शास्त्र के निचोड़ रूप मेरे मत में श्रद्धा रखते हैं । श्रद्+धा से श्रद्धा शब्द हुआ । (श्रद्नाम सत्य, और धानाम धारण करना, अर्थात् जिस क्रिया से सत्य वस्तु धारण की जाय उसे श्रद्धा कहते हैं,) अथवा वेदान्त, गुरु-वाक्यों में विश्वास करने को श्रद्धा कहते हैं । अनसूया के विषय में लिखा है -

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता ॥ (अत्रि स्मृ. ३४)

जो गुणवानों के गुणों का खण्डन नहीं करता, थोड़े गुणवालों की भी प्रशंसा करता है और दूसरों के दोषों में प्रीति नहीं करता, मनुष्य का वह भाव अनसूया कहलाता है ॥३४॥ और जो श्रद्धावान् न होते हुए भी 'शास्त्रों का निचोड़ ऐसा नहीं हो सकता' यों कहकर मेरे मत की निन्दा नहीं करते अर्थात् इस महान् गुण रूप शास्त्र के निचोड़ में दोष देखने वाले नहीं होते, वे सभी बन्धन के कारण रूप अनादि काल से चले आते हुए समस्त कर्मों से छूट जाते हैं । यहाँ **'तेऽपि कर्मभिः'** इस प्रकार 'अपि' शब्द से इन श्रद्धालु और निन्दा न करने वालों को पृथक् किया गया है । अभिप्राय यह कि जो इस शास्त्र के निचोड़ रूप मेरे मत में श्रद्धा रखने वाले और इसकी निन्दा नहीं करने वाले हैं, वे यद्यपि इस समय इसके अनुसार अनुष्ठान नहीं करते, तथापि श्रद्धा और अनसूया से अनेक पापों का क्षय हो जाने पर वे शीघ्र ही इसी शास्त्र-सिद्धान्त के अनुसार अनुष्ठान करके मुक्त हो जाते हैं ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

अन्वय :- **तु ये मे एतत् मतम् अभ्यसूयन्तः न अनुतिष्ठन्ति तान् सर्वज्ञानविमूढान् अेचतसः नष्टान् विद्धि ।**

अर्थ :- परन्तु जो मेरे इस मत को दोष-दृष्टि से देखते हुए (यानी दोष निकालते हुए) उसका अनुष्ठान यानी अनुसरण नहीं करते उनको तू सर्वज्ञान से मूढ़ (घोर मूर्ख) चेतना-रहित और नष्ट समझो ।

व्याख्या :- समस्त आत्मपदार्थ मेरा शरीर होने के कारण मेरे ही आधार पर स्थित मेरा ही अङ्गभूत तथा केवल मेरे द्वारा ही चलाये जाने वाला है, इस प्रकार के उस मेरे मत का जो अनुसरण नहीं करते, जो ऐसा मानकर सब कर्म नहीं करते तथा जो इस मत में दोषारोपण करते रहते हैं। ये साधारण मनुष्य हैं। ग्वाल बालों के साथ रहे हैं, एक छोटे से नन्द ग्राम के रहने वाले हैं, किसी विद्यालय में उन्होंने शिक्षा नहीं प्राप्त की है। जंगलों में घूमने वाले हैं, इनकी बात हम क्यों मानें, इस प्रकार भगवान् के जन्म के दिन का भी जिन्हें ज्ञान नहीं है, ऐसे अनादि पाप-वासना से दूषित दुष्ट बुद्धि वाले, ऐसा कहा करते हैं। ऐसे लोगों को तू सब प्रकार से ज्ञानों में विशेष रूप से मूढ़ अर्थात् मूर्ख तथा इसी कारण नष्ट एवं चेतना-रहित समझ। वस्तु को यथार्थ समझ लेना ही चेतना का कार्य है, उसका उनमें अभाव है, इसलिए वे चेतना-रहित विपरीत ज्ञान वाले और सभी विषयों में सर्वथा मूढ़ हैं। ऐसे मूढ़ लोगों की अधोगति होती है। भगवान् गीता में कहते हैं -

आसुरीयोनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । (गी. १६।२०)

वे मूढ़ लोग जन्म-जन्म में और भी नीच गति को ही प्राप्त होते हैं ।।२०।। असूया वालों की तथा 'तु शब्द से जो श्रद्धावाले नहीं हैं उनकी भी इस प्रकार दोनों की निन्दा भगवान् करते हैं। अभिप्राय यह कि जो कि हमारे मत में श्रद्धा भी नहीं रखते ऐसे लोग भी नष्ट ज्ञानवाले हैं। उनकी भी अधोगति होती है। गीता में आगे कहा भी गया है **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** (गी. ४।३९) श्रद्धावान् ज्ञान को प्राप्त करते हैं ।३९। इससे भगवान् यह बतलाते हैं कि यदि तुम्हारे पास धन आदि न भी रहे तो मन से श्रद्धा रखना।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३३।।

अन्वय :- **ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते । भूतानि प्रकृतिं यान्ति । निग्रहः किं करिष्यति ।**

अर्थ :- ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति (पूर्ववासना) के सदृश चेष्टा करता है। सभी प्राणी (अपनी) प्रकृति की ओर जा रहे हैं फिर निग्रह क्या करेगा ?

व्याख्या :- करचरणानुकूल व्यापार को चेष्टा कहते हैं। भगवान् इस श्लोक से ज्ञानयोग का आचरण दुःसाध्य होने के कारण उसमें प्रमाद का भय है, इस बात को बतलाते हुए कहते हैं कि समस्त शास्त्र आत्मा को नित्य, शुद्ध, निर्मल, प्रकृति-संसर्ग से रहित बताते हुए उसी का सर्वदा अनुसंधान करने के लिए कहते हैं। इस बात को जानने वाला ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति अर्थात् जो पूर्व वासना है उसीके अनुसार प्राकृत विषयों में चेष्टा करता है, क्योंकि सभी प्राणी जड़ प्रकृति से संसर्ग युक्त अनादि काल से प्रवृत्त वासना का ही अनुसरण करते हैं। वासना का अनुगमन करने वाले उन प्राणियों को शास्त्र-जनित निग्रह क्या करेगा ? जैसे कपिल मुनि जिन्होंने सांख्य शास्त्र बनाया, आत्मा के गुणों का परिशीलन किया, एकान्त में जाकर समाधि लागई। ज्ञानयोग से यद्यपि उन्होंने इन्द्रियों को उनके विषयों से रोक लिया परन्तु पहले की हुई वासना के कारण वे क्रोध के वशीभूत हो गये। गीता में क्रोध को भी भगवान् नरक का द्वार कहते हैं -

त्रिविधं नरकस्यैतद्द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभः..................॥ (गी. १६।२१)

काम, क्रोध और लोभ ये नरक के तीन द्वार आत्मा के पतन करने वाले हैं ॥२१॥ उस क्रोध के वश में होकर निरपराध सगर राजा के ६० हजार पुत्रों को भस्म कर दिया । इसलिए भगवान् कहते हैं कि ज्ञानयोग का आचरण दुःसाध्य है-उसमें प्रमाद का भय है तथा शरीर निर्वाहादि के लिए आवश्यक होने से उसे कर्मों की अपेक्षा है । इन सब कारणों से कर्मयोग के अधिकारी को और ज्ञानयोग के अधिकारी को भी यों समझकर कि प्रकृति से संसर्ग रखने वाली जीवात्मा का प्रकृति के गुणों की अधिकता से उत्पन्न जो कर्तापन है, वह परम पुरुष के अधीन है, कर्मयोग ही करना चाहिए ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अन्वय :- **इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे रागद्वेषौ व्ययस्थितौ, तयोः वशम् न आगच्छेत् हि तौ अस्य परिपन्थिनौ ।**

अर्थ :- इन्द्रिय-इन्द्रिय के विषय में (यानी समस्त इन्द्रियों के भोगों में) जो राग-द्वेष स्थित हैं, उनके वश में नहीं आना चाहिये, क्योंकि वे दोनों इस पुरुष के बटमार (यानी राह के रोकने वाले) हैं ।

व्याख्या :- यहाँ दो बार इन्द्रिय शब्द का प्रयोग सर्वसाधारण लोगों को अच्छी तरह समझ लेने के लिए भगवान् ने किया है, क्योंकि अन्यत्र **'इन्द्रियाणि'** (गी. ३।४२) शब्द से समस्त इन्द्रियों को कहा है, परन्तु यहाँ उसी को दो बार इन्द्रिय शब्द से समझा रहे हैं । इन्द्रिय में दो विभाग हैं । एक ज्ञानेन्द्रिय, दूसरा कर्मेन्द्रिय । भगवान् कहते हैं कि श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि विषयों में और वागादि कर्मेन्द्रियों के वचनादि विषयों में उन-उन विषयों को भोगने की इच्छारूपी प्राचीन वासनाजनित राग (आसक्ति) अनिवार्य रूप से बना हुआ है और उनके अनुभव में (विषय भोग में) बाधा पड़ने पर द्वेष भी अनिवार्य रूप से बना है । वे ही राग द्वेष, जो मनुष्य सारी इन्द्रियों का संयम करके ज्ञानयोग के लिये प्रयत्न करता है, उसे अपने वश में करके जबरदस्ती अपने कामों में लगा देते हैं । अभिप्राय यह कि रागद्वेष ज्ञान मार्गावलम्बी को धोखा देकर विषयों में फँसा लेते हैं और उसके कल्याण मार्ग में बाधा उत्पन्न कर मनुष्यजीवन रूपी अमूल्य धन को लूट लेते हैं । इसलिए ये दोनों बटमार हैं । अर्थात् ज्ञानयोग के मार्ग में चलने वाले साधक से मित्रता कर, उसकी इन्द्रियों में प्रवेश करके फँसाकर पापाचार में प्रवृत्त कर देते हैं । इस प्रकार साधक आत्मस्वरूप के अनुभव से विमुख होकर नष्ट हो जाता है । अतएव उन (राग-द्वेष) के वश में नहीं होना चाहिए । तात्पर्य यह है कि ज्ञानयोग का आरंभ करके राग-द्वेष के वश में होकर नष्ट नहीं होना चाहिए । वे रागद्वेष ही विघ्न डालने वाले दुर्जय शत्रु हैं । वे ही उसके आत्मज्ञान-विषयक अभ्यास को छुड़ा देते हैं । इसलिए कर्मयोग ही करना श्रेयस्कर है ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अन्वय :- **स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्, स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मः भयावहः ।**

अर्थ :- अच्छी तरह से अनुष्ठान किये हुए पराये धर्म से अपना गुण रहित भी धर्म श्रेष्ठ है, अपने धर्म में मरना भी श्रेष्ठ है, (परन्तु) पराया धर्म भयावह है ।

व्याख्या :- **'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः'** (मीमांसा अ. १ पा. १ सू. २) प्रेरणा लक्षण अर्थ धर्म है ॥२॥ धर्म के विषय में कहा गया है-**'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'** (मनु. अ. ८ श्लो. १५) नष्ट किया हुआ धर्म ही नाश कर देता है और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है ॥१५॥ धर्म से ही अर्थ, काम, मोक्ष सब प्राप्त होते हैं । यहाँ 'स्व' करके जीवात्मा का धर्म कहा गया है । स्वधर्म और परधर्म से यहाँ कर्मयोग और ज्ञानयोग को बताया गया है, क्योंकि इन्हीं दोनों का विचार चल रहा है । भगवान् कहते हैं कि प्रकृति-संसर्ग-युक्त जीव के लिए कर्मयोग सुखसाध्य होने के कारण स्वधर्म है और विगुण होने पर भी प्रमाद से रहित है, इसलिये वह (कर्मयोग) कुछ काल साधन किये हुए परधर्म रूप उस ज्ञानयोग की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है, जो कि गुण-युक्त होने पर भी दुःसाध्य होने के कारण प्रमादयुक्त है । अपने-आप ही सुगमता से सम्पादन करने योग्य होने के कारण जो स्वधर्म है, ऐसे कर्मयोग में लगे हुए पुरुष का एक ही जन्म में मोक्षरूप फल को प्राप्त न होकर मर जाना भी उत्तम है । विघ्नों से नष्ट न होने के कारण दूसरे जन्म में भी सावधानी के साथ कर्मयोग का आरम्भ होना सम्भव है । प्रकृति संसर्गयुक्त जीव के लिए अपने आप प्राप्त करना अशक्य होने के कारण जो परधर्म रूप है ऐसा ज्ञानयोग तो प्रमाद भरा होने से भयदायक (ही) है । भगवान् 'द्विबद्ध सुबद्ध' न्याय से इसी बात को फिर १८वें अध्याय में भी कह रहे हैं-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ (गी. १८।४७)

कर्तापन आदि के त्याग पूर्वक होने वाला मेरा आराधन रूप कर्म स्वधर्म है, अपने आप ही किये जाने योग्य होने से ध र्म है । प्रकृति-संसर्ग युक्त पुरुष के द्वारा उस इन्द्रिय व्यापार रूप कर्मयोगात्मक धर्म का सम्पादन सुगमता से हो सकता है । इसलिये कर्मयोग नामक स्वधर्म विगुण होने पर भी परधर्म की अपेक्षा यानी इन्द्रिय-विजय करने में निपुण पुरुष का धर्मरूप ज्ञानयोग, जिसके सम्पादन में सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करने की कठिनता होने के कारण प्रमाद की आशङ्का बनी है, (इसलिये उसका भली-भाँति अनुष्ठान कदाचित् ही सम्भव है) उस (ज्ञानयोगरूप परधर्म) की अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥४७॥ इसी बात को सिद्ध करते हैं, सभी कर्म इन्द्रिय व्यापार रूप हैं, इस कारण प्रकृति से संसर्ग युक्त पुरुष के लिये ये स्वभाव से ही नियत हैं । अतः मनुष्य कर्म करता हुआ पाप को-(संसार को) नहीं प्राप्त होता, क्योंकि कर्म में प्रमाद नहीं है । ज्ञानयोग सारी इन्द्रियों को वश में करने से सिद्ध होता है, इसलिये वह प्रमादयुक्त है (उसमें प्रमाद होने की आशङ्का है) अतएव उसमें निष्ठा रखने वाला कभी प्रमाद से किल्बिष (संसार) को भी प्राप्त हो सकता है । इससे भगवान् ने निष्कण्टक राजमार्ग कर्मयोग को ही सिद्ध किया है । कहा गया है -

एष निष्कण्टकः पंथा यत्र सम्पूज्यते हरिः ।
कुपथं तं विजानीयात् गोविन्द-रहितागमम् ॥ (महाभारत)

जिस मार्ग में भगवान् नारायण का आराधनात्मक कर्म किया जाता है वह निष्कण्टक राजमार्ग है, इसके अतिरिक्त जो मार्ग है उसे कुमार्ग जानना । यही बात मनुस्मृति में भी कही गई है -

वरं स्वधर्मो विगुणः न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥ (मनु. १०।९७)

गुण रहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, परन्तु भली-भाँति पालन किया हुआ परधर्म श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि परधर्म से जीवन धारण करने वाला मनुष्य जाति से तुरन्त ही पतित हो जाता है ।।९७।।

अर्जुन उवाच
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३६।।

अन्वय :- **अर्जुन उवाच - वार्ष्णेय ! अथ अयं पूरुषः अनिच्छन् अपि केन प्रयुक्तः पापं चरति, इव बलात् नियोजितः ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे वार्ष्णेय ! (वृष्णिवंश में श्रेष्ठ श्री कृष्ण !) फिर यह पुरुष न चाहते हुए भी किससे प्रेरित होकर पाप करता है, मानो जबरदस्ती लगा दिया गया हो ।

व्याख्या :- यहाँ अर्जुन भगवान् को 'वार्ष्णेय' शब्द से सम्बोधित करता है । भगवान् को वृष्णिवंश अत्यन्त प्रिय है क्योंकि वे स्वयं कहते हैं - **'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'** (गीता १०।३७) मैं वृष्णियों में (वसुदेव पुत्र) वासुदेव हूँ ।।३७।। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार अर्जुन राज्य की इच्छा नहीं रखते हुए कहता है 'न काङ्क्षे-राज्यम्' (गी. १।३२) मैं राज्य नहीं चाहता हूँ ।।३२।। इसी तरह राजा ययाति का पुत्र यदु था जो बड़ा ही धर्मशील था । उसने पिता द्वारा विषय हेतु जवानी माँगने पर यह विचार किया कि इस शरीर से माता के साथ विषय करने में मैं भी कारण बनूँगा, अतः देने से इन्कार कर दिया । बड़ा पुत्र होने से जो राज्य प्राप्त होता उसे भी ठुकरा दिया । ऐसे त्यागी महाराजा यदु की खानदान में आप (श्रीकृष्ण) अवतार लिये हैं । श्रीमद्भावगत में लिखा है -

यदोवंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतः ॥ (श्रीमद्भा. ९।२३।१९-२०)

परीक्षित ! महाराज यदु के वंश का वर्णन जो मनुष्य श्रवण करेगा, वह समस्त पापों से मुक्त हो जायगा ।।१९।। इस वंश में स्वयं भगवान् परब्रह्म श्रीकृष्ण ने मनुष्य के रूप में अवतार लिया था ।।२०।। इसे जनाने के लिये अर्जुन भगवान् को 'वार्ष्णेय' सम्बोधन देता है । अर्जुन भगवान् से पूछता है कि अब (यह बतलाइये कि) यह ज्ञानयोग में लगा हुआ पुरुष स्वयं विषयों का अनुभव करना न चाहता हुआ भी किसके द्वारा प्रेरित होकर जबरदस्ती लगाये हुए की भाँति विषयानुभव रूप पाप का आचरण करता है ।। श्रीमद्भगवद् गीता में दस बार अथ शब्द आया है -

१- **अथ व्यस्थितान्दृष्ट्वा** (गी. १।२०) इसके बाद विशेष रूप से ठहरे हुए वीरों को देखकर ।।२०।।

२- **पितृनथ पितामहान्** (गी. १।२६) यहाँ पितृन्+अथ है । पिता यानी चाचा और पितामहों को देखा ।।२६।।

३- **अथ चैनम्** (गी. २।२६) यदि तू इसको ।।२६।।

४- **अथ चेत्त्वम्** (गी. २।३३) अब यदि तू ।।३३।।

५- **अथ केन** (गी. ३।३६) अब किससे ।।३६।।

६- **शतशोऽथ सहस्त्रशः** (गी. ११।५) यहाँ पर शतशः + अथ है । सैकड़ों और हजारों रूपों को ।।५।।

७- **नमः पुरस्तादथ** (गी. ११।४०) यहाँ पर पुरस्ताद्+अथ है । आपको आगे से नमस्कार है ।।४०।।

८- **अथ चित्तम्** (गी. १२।६) यदि चित्त को ।।६।।

६- **अथैतदप्यशक्तोऽसि** (गी. १२।११) यहाँ पर अथ + एतत् है । तू मदर्थ कर्म करने में असमर्थ हो ।।११।।

१०- **अथ चेत्त्वमहंकारात्** (गी. १८।५८) और यदि अहंकार से तू ।।५८।।

इस प्रकार गीता में १० बार 'अथ' शब्द का प्रयोग करके सत्सम्प्रदायावलम्बियों को यह संकेत किया गया है कि दिव्यसूरियों के प्रबन्धों से प्रस्थानत्रयी का अर्थ निर्णय करना, नहीं तो संसारावर्त में पड़े रहोगे । उन दिव्यसूरियों को मैं कह देता हूँ :-

१- श्रीपाञ्चजन्यशंखावतार दिव्यसूरि **श्रीसरोयोगी** स्वामी जी

२- श्री कौमोदकी गदावतार दिव्यसूरि **श्रीभूतयोगी** स्वामी जी

३- श्री नन्दक खड्गावतार दिव्यसूरि **श्रीमहायोगी** स्वामी जी

४- श्री चक्रावतार दिव्यसूरि **श्रीभक्तिसार** स्वामी जी

५- श्री वैकुण्ठसेनापत्यवतार दिव्यसूरि **श्रीशठकोप** स्वामी जी

६- श्री कौस्तुभमण्यवतार दिव्यसूरि **श्रीकुलशेखर** स्वामी जी

७- श्री वनमालावतार दिव्यसूरि **श्रीभक्तांघ्रिरेणु** स्वामी जी

८- श्रीवत्सावतार दिव्यसूरि **श्री योगिवाहन** स्वामी जी

६- श्री गरुड़ जी के अंशावतार श्री भट्टनाथ **श्रीविष्णुचित्त** स्वामी जी

१०- श्री शार्ङ्गधनुषावतार दिव्यसूरि **श्रीपरकाल** स्वामी जी

ये ही १० दिव्यसूरि हैं । यहाँ गीता के तीसरे अध्याय के इस ३६वें श्लोक में आस्तिकाग्रगण्य अर्जुन ने मध्य में मंगलार्थ (अथ) शब्द प्रयोग किया है । इस श्लोक में वस्तु-निर्देशात्मक मंगल है, क्योंकि लिखा है कि -

ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं निर्भिद्य निर्यातौ तेन मांगलिकावुभौ ।।
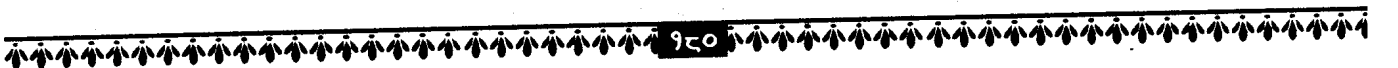
सृष्टि के प्रारंभ में चतुर्मुख ब्रह्मा के कंठ को भेदन करके मुख से दो शब्द 'ओम्' और 'अथ' निकले। इसलिए ये दोनों शब्द मांगलिक हैं। अमर-कोश में कहा गया है -

'मंगलानन्तरारंभप्रश्नकात्स्न्येष्वथो अथ' (अमर. का. ३ व. ३ श्लो. २४७)

१-मंगल २-अनन्तर ३-आरंभ ४-प्रश्न और ५-सम्पूर्ण अर्थ में 'अथो' और 'अथ' शब्द का प्रयोग होता है ।।२४७।। और अन्यत्र भी मध्य में मंगलार्थ 'अथ' शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे -

'तव वृक्षोऽथ विल्वः (ऋक् वे. मण्डल ४ अनुवा. ४ सूक्त ३५ श्रु. ६। यहाँ पर वृक्षः और अथ पद हैं। इस श्रुति का अर्थ है-आपका श्रीफल वृक्ष उत्पन्न हुआ ।।६।।

'अथारयिं सर्ववीरं दधातन' (शुक्ल यजु. अ. १६ श्रु. ५६) हे-अग्निष्वात पितर सर्ववीर धन को स्थापना करें ।।५६।।

'अथ वायुमब्रुवन्' (केनोप खं. ३ श्रु. ७) देवता सब वायु को बोले ।।७।।

'अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा' (कठोप. अ. २ व. १ श्रु. २) इसके बाद धीर पुरुष अमृतत्व को जानकर ।।२।।

'अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते' (छान्दो. उ. ५।१०।३) जो यहाँ ग्राम में रहकर इष्टापूर्त और दानादि सकाम करते हैं ।।३।।

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये' (बृ. उ. अ. ४ ब्रा. ५ श्रु. १) निश्चय करके याज्ञवल्क्य महर्षि की दो पत्नियाँ हैं ।।१।।

'शृङ्गवद्वाथ वत्सस्य' (याज्ञवल्क्य शि. श्लो. ६४) यहाँ पर वा + अथ ऐसा पदच्छेद है। इसका अर्थ यह हुआ कि बछड़े के दो सींग के समान ।।६४।।

'मुक्तिद्वारं त्वमेवाथ सहस्त्रार' (बृहद् ब्र. सं. अ. २ पा. १ श्लोक ८३) यहाँ पर एव + अथ शब्द है। हे चक्र सुदर्शन ! तुम मुक्ति का द्वार हो ।।८३।।

'अथ मामब्रवीत् सीता' (वाल्मी. सु. का. ५ स. ५८ श्लो. १०३) इसके बाद सीता देवी ने मुझसे कहा ।।१०३।।

'दुर्धरोऽथापराजितः' (महाभा. अनु. प. विष्णु सह. श्लो. ७६) यहाँ दुर्धरः + अथ और अपराजितः है। अर्थात् विष्णु का दुर्धर और अपराजित नाम है ।।७६।।

'वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातम्' (श्रीमद्भा. १०।१।१४) यहाँ भगवान् + अथ है। श्रीव्यास के पुत्र भगवान् शुकदेवजी परीक्षित राजा को सम्बोधित कर ।।१४।।
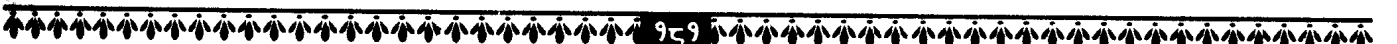
'अथ सुदर्शनतां प्रयाति शत्रोः' (भविष्य पु. उत्तर पर्व. ४ अ. १६० श्लो. २७) सुवर्ण के सुदर्शन के दान मे शत्रु की सुदर्शनता को प्राप्त करता है ।।२७।।

'प्रणमेद्वाथ यः कृत्वा विश्वचक्रं दिने-दिने' (मत्स्य पु. अ. २५८ श्लो २०) यहाँ पर वा + अथ है । जो विष्णु भगवान् के चक्र को बनाकर रोज-रोज साष्टांग प्रणाम करता है ।।२०।।

पूर्वोक्त श्रुति स्मृति, इतिहास, पुराणों के वचनों से सिद्ध हो गया कि मध्य में माङ्गलिक 'अथ' शब्द का प्रयोग होता है । इसी को देखकर हमारे पूर्वाचार्यों ने भी मध्य में 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है -

'यद्यप्येवमथापि नैव युवयोः सर्वज्ञता हीयते' (श्रीस्तव श्लो. ८)

यद्यपि ऐसा है तौभी निश्चय करके हे देवि ! आपकी और भगवान् की सर्वज्ञता नष्ट नहीं होती ।।८।।

'अन्तर्याम्यथ योगिनां हृदयगः' (भवमंगलाष्टक ५)

और योगियों के हृदय में प्राप्त अन्तर्यामी भगवन् ।।५।।

'अथाम्ब त्वं लज्जसे' (श्री गुण-रत्न कोश ५८) ऐ माँ तुम लजाती हो ।।५८।। इत्यादि । यही नहीं आधुनिक कवि ने भी मंगलार्थ 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है । जैसे -

'अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये, कतिचिदवनिपालः शर्बरीः शर्वकल्पः ।
पुरमविविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीनां, कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ।।

(रघुवंश ११।९३)

अवशिष्ट मंगलवाले दशरथ ने अति नवीन सुन्दर शिविर वाले मार्ग में कुछ रात बिताकर सीता के दर्शनवाली सुन्दरियों के नेत्रों के द्वारा कमलायमान खिड़कियों वाली अयोध्या पुरी में प्रवेश किया ।।९३।।

अथान्यमुद्दिश्य नृपं कृपामयी, मुखेन तद्दिङ्मुखसंमुखेन सा ।
दमस्वसारं वदति स्म देवता, गिरामिलाभूवदतिस्मरश्रियम् ।। (नैषध. १२।५२)

इसके पश्चात् अतिकृपावाली उस वाणी की देवी सरस्वती ने मुख से दूसरे राजा को निर्देश करके पुरूरवा के समान कामदेव की शोभा को जीतने वाले उस राजा की ओर संकेत करके दमयन्ती से कहा ।।५२।।

उपर्युक्त स्थलों में 'अथ' शब्द का प्रयोग विक्रयार्थ दधि जैसे मंगलार्थ भी होता है, उसी तरह भिन्नार्थक होते हुये भी मध्य में मंगलार्थ भी है ।।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।३७।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-रजोगुणसमुद्भवः एषः कामः एषः क्रोधः महाशनः महापाप्मा इह एनं वैरिणम् विद्धि ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खाने वाला (यानी नहीं अघाने वाला) महापापी है, यहाँ तू इसको शत्रु जानो ।

व्याख्या :- यहाँ 'श्री भगवानुवाच, कहकर श्री वेदव्यास जी यह संकेत करते हैं कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं अन्य नहीं । अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि उत्पन्न और क्षीण होने के रूप में बरतती हुई त्रिगुणमयी प्रकृति से सम्बन्धित रहने पर भी जिसने ज्ञानयोग का साधन आरम्भ कर रखा है, उस मनुष्य का रजोगुण से समुद्भूत-प्राचीन वासनाओं से उत्पन्न और शब्दादि विषयों से सम्बन्ध रखने वाला तथा बहुत खानेवाला यह काम ही शत्रु है, यही उसको खींचकर शब्दादि समस्त विषयों में लगाता है । यहाँ भगवान् सतोगुण से उत्पन्न काम को नहीं परन्तु रजोगुण से उत्पन्न काम को कह रहे हैं । काम इच्छा को कहते हैं । यह ज्ञानयोग में लगे साधन की इन्द्रियों को बहिर्मुखी कर देता है जिससे वह भ्रष्ट हो जाता है । यही महापापी काम जब अपनी गति में बाधा पाता है तब उस बाधा में हेतु बने हुए चेतनों (प्राणियों) के प्रति क्रोध के रूप में परिणत होकर उसे परहिंसा में प्रवृत्त कर देता है । दूध ही दधि के आकार का हो जाता है । उसी प्रकार काम ही क्रोधाकार हो जाता है । इसलिए रजोगुण से उत्पन्न काम को ही तू ज्ञानयोग का स्वाभाविक विरोधी (शत्रु) समझ । इस प्रकार भगवान् यहाँ ज्ञानयोग की कठिनता और कर्मयोग की श्रेष्ठता बता रहे हैं ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

अन्वय :- **यथा धूमेन वह्निः च मलेन आदर्शो आव्रियते यथा उल्बेन गर्भः आवृतः तथा तेन इदम् आवृतम् ।**

अर्थ :- जैसे धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढ़क जाते हैं, जैसे जेर (यानी झिल्ली) से गर्भ ढ़का रहता है, वैसे उससे (यानी काम से) यह (जीव समुदाय) ढका हुआ है ।

व्याख्या :- भगवान् ज्ञानमार्ग की कठिनता का वर्णन करते हुए जिस प्रकार काम ज्ञान को आच्छादित करके मनुष्य को पापों में प्रवृत्त करता है यह समझाते हैं । अग्नि को धुआँ दोष से ढका हुआ बताकर भगवान् यह संकेत करते हैं कि सभी कार्यों में कुछ न कुछ दोष रहता है परन्तु उसका ध्यान न देकर सत्कर्मों को करना चाहिए । जैसे तुलसी-दल तोड़ने में दोष लगता है, परन्तु भगवान् की अर्चना, भोगादि उनके बिना नहीं होता, इसलिए वही तुलसी तोड़कर भगवान् को समर्पित करना भगवद् आराधनात्मक कर्म है । अत: ऐसे कार्यों में दोष नहीं विचार करना चाहिए । इसी बात को भगवान् १८ वें अध्याय में भी कहते हैं - **धूमेनाग्निरिवावृताः**' (गीता. १८।४८) धूएँ से अग्नि की भाँति आवृत है ।।४८।। और मल दोष से दर्पण के ढक जाने पर मुख के बिम्ब की ग्राहकता शक्ति उसकी नष्ट हो जाती है तथा झिल्ली दोष से गर्भ के ढक जाने पर गर्भ धारण करने की शक्ति नष्ट हो जाती है, इसी तरह काम जीवसमुदाय को ढक लेता है ।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! ज्ञानिनः नित्यवैरिणा च दुष्पूरेण एतेन कामरूपेण अनलेन ज्ञानम् आवृतम् ।**

अर्थ :- हे कुन्तीनन्दन ! ज्ञानियों के नित्य वैरी और बड़ी कठिनता से तृप्त होने वाले, 'अलं भाव से रहित' (यानी पूर्ण हो गया इस 'अलं' भाषा से हीन) कामरूपी (शत्रु) से ज्ञान ढका हुआ है ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को कौन्तेय शब्द से संबोधित करते हैं । इससे यह बताते हैं कि-तुम महासाध्वी पतिव्रता कुन्ती देवी की संतान हो इसलिए महासात्त्विक हो । यही कारण है कि तुमसे इस रहस्य को कहता हूँ । दूसरे कुन्ती देवी के गर्भ में रहने और माता के सहवास से तुम्हारी बुद्धि ऋतंभरा हो गई है, इसलिए मेरी बात को समझ सकते हो । ज्ञान ही जिसका स्वभाव है ऐसे उस जीव का आत्मविषयक ज्ञान बड़ी कठिनता से पूर्ण होने वाले अर्थात् कभी तृप्त न होने वाले, अलं भाव से रहित, कभी बस नहीं करने वाले (यानी बस कहकर तृप्ति नहीं बताने वाले) विषयों में व्यामोह उत्पन्न करने के कारण नित्य वैरी काम से ढका हुआ है । इस काम का रूप इच्छा ही है । जो किसी प्रकार पूर्ण न हो, उसे दुष्पूर कहते हैं । तथा 'बस, और नहीं चाहिए' ऐसी तृप्ति का वाचक 'अलम्' है, इसका जिसमें अभाव हो उसे 'अनल' कहते हैं । अथवा 'अनल' नाम आग है । अर्थात् मनुष्य जैसे-जैसे विषयों को भोगता है वैसे-वैसे आग की तरह उसका काम बढ़ता जाता है । श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (श्रीमद्भा. ६।१६।१४)

विषयों के उपभोग से 'काम' कभी शान्त नहीं होता, बल्कि घृत से अग्नि की भाँति और अधिक बढ़ता जाता है ।।१४।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

अन्वय :- **इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य अधिष्ठानम् उच्यते । एषः एतैः ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् विमोहयति ।**

अर्थ :- इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस (काम) के अधिष्ठान कहलाते हैं । यह (काम) इन्हीं के द्वारा ज्ञान को ढक कर जीवात्मा को विविध प्रकार से मोहित करता है ।

व्याख्या :- यहाँ पर भगवान् काम के वासस्थान और उसके द्वारा जीवात्मा के मोहित किये जाने का प्रकार बतलाते हैं । अर्थात् यह काम किन-किन उपकरणों से आत्मा को अपने वश में कर लेता है । इस विषय में कहते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय, त्वक् इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, हस्त, पाद, पायु तथा उपस्थ इन्द्रिय ये पाँच कर्मेन्द्रिय, इस प्रकार से दस इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियों का मालिक संकल्प विकल्पात्मक मन और निश्चयात्मिका बुद्धि, इन (तीनों) के द्वारा यह काम आत्मा पर अपना आधिपत्य जमा लेता है । इसलिए इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये इस काम के

अधिष्ठान अर्थात् वासस्थान कहलाते हैं । यह काम अपने इन अधिष्ठान रूप विषय-प्रवण इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा आत्मा के ज्ञान को ढककर इस प्रकृति-संसर्ग युक्त जीव को विविध भाँति से मोहित करता है, अर्थात् आत्मज्ञान से विमुख और विषयानुभवपरायण करता है ।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।४१।।

अन्वय :- **भरतर्षभ ! तस्मात् त्वं आदौ इन्द्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशनम् एनम् पाप्मानं हि प्रजहि ।**

अर्थ :- हे भरत-श्रेष्ठ ! इसलिये पहले इन्द्रियों को रोककर ज्ञान-विज्ञान के नाश करने वाले इस पापी (काम) को निश्चय ही मारो (काम को नष्ट करो)

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को भरतश्रेष्ठ सम्बोधित करके उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं । अर्जुन के श्रेष्ठ कार्य ही उसे श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं । विराट नगरी में अकेले ही कौरव दल को पराजित कर उसने गायों की रक्षा की । दूसरे, शत्रु होते हुए भी दुर्योधन को चित्ररथ द्वारा बाँधकर ले जाते समय छुड़ाया, जब कि दुर्योधन ने पाण्डवों को लाह के गृह में जलाने का षड्यन्त्र किया था । वह द्रौपदी को भरी सभा में नंगी कर रहा था, फिर भी उसका कल्याण किया । तीसरे, कौरवों की समस्त सेना को एक ही पाशुपतास्त्र से मार देने की शक्ति रखते हुए भी यह विचार करके कि इसमें ब्राह्मणों की भी हत्या हो जायगी, उसे नहीं छोड़ा । इन सब कारणों से अर्जुन भरत-वंश में श्रेष्ठ गिना गया । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानयोग में लगे हुए साधक समस्त विषयों से इन्द्रियों को हटा लिये हैं फिर भी यह काम रूपी शत्रु विषय की ओर प्रवृत्त करके, आत्मज्ञान से विमुख कर देता है, इसलिए प्रकृति-संसर्ग से युक्त होने के कारण इन्द्रिय-व्यापार की ओर झुका हुआ तू पहले मोक्ष साधन का आरम्भ करते समय इन्द्रियों को इन्द्रिय-व्यापार रूपी कर्मयोग में अर्थात् वर्णाश्रमोचित कर्मों में लगाकर इस आत्मस्वरूप विषयक ज्ञान का और आत्मस्वरूप विषयक विवेक रूप विज्ञान का नाश करने वाले पापी काम रूपी वैरी का समूल नाश कर दो ।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।४२।।

अन्वय :- **इन्द्रियाणि पराणि आहुः, इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः तु परा बुद्धिः, यः बुद्धेः तु परतः सः ।**

अर्थ :- इन्द्रियाँ प्रबल कही गयी हैं, इन्द्रियों से प्रबल मन है, मन से भी प्रबल बुद्धि है, जो बुद्धि से भी प्रबल है,-वह काम है । (प्रकरण से यहाँ सः का काम अर्थ है)

व्याख्या :- ज्ञान के विरोधियों में जो प्रधान है उसे बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि ज्ञान का विरोध करने में पहले इन्द्रिय प्रधान है, क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त रहते आत्मविषयक ज्ञान नहीं होता । इन्द्रियों से बढ़कर मन है, क्योंकि इन्द्रियों के कर्मों से उपरत हो जाने पर भी मन विषयों की ओर झुका है तो आत्मज्ञान नहीं हो सकता । मन से भी बढ़कर बुद्धि है, क्योंकि मन के अन्य विषयों से विमुख हो जाने पर भी यदि बुद्धि विपरीत निश्चय में लगी है तो आत्मज्ञान नहीं

होता । बुद्धि तक मनके सब विषयों से उपरत हो जाय, इसके बाद भी यदि, जिसका नाम इच्छा है, वह रजोगुण से उत्पन्न काम वर्तमान रहता है, तो वही इन इन्द्रिय, मन और बुद्धि को भी अपने-अपने विषयों में लगाकर आत्मज्ञान को रोक देता है, इसलिये भगवान् कहते हैं कि जो बुद्धि से भी बढ़कर (विरोधी) है, वह काम है ।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।४३।।

अन्वय :- **एवं दुरासदम् कामरूपम् शत्रुम् बुद्धेः परं बुद्ध्वा, महाबाहो ! आत्मना आत्मानं संस्तभ्य जहि ।**

अर्थ :- इस प्रकार दुर्विजय कामरूप शत्रु को बुद्धि से भी प्रबल जानकर, महाबाहो ! आत्मा से (कर्मयोग में स्थापित बुद्धि से) आत्मा (यानी मन) को रोककर, मार डालो (नाश करो) ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को महाबाहो सम्बोधित कर रहे हैं, क्योंकि अर्जुन **'वैष्णवानां यथा शंभुः'** (श्रीमद्भा. १२।१३।१६) वैष्णवों में श्रीशंकर जी जैसे श्रेष्ठ हैं ।।१६।। इस श्रीवेदव्यास के वचनानुसार ऐसे श्रीवैष्णव की उन्हें अपनी भुजा से सेवा करके प्रसन्न किया, पाशुपत नामक अस्त्र की प्राप्ति की, जिससे पल मात्र में शत्रुओं का संहार किया जा सकता है । इसलिए भगवान् अर्जुन को, श्रीवैष्णव-शेषता को जनाने के लिये यह सम्बोधन दे रहे हैं । यह संकेत करते हैं कि श्रीवैष्णव की सेवा करने वाला महाबाहु कहा जाता है । दूसरे, जिस प्रकार अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र प्राप्त होने पर भी उसका दुरुपयोग नहीं किया उसी तरह बड़े लोगों से जो प्राप्त हो उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए ।

भगवान् कहते हैं कि ४२वें श्लोक में कहे हुए इस प्रकार से बुद्धि से भी बढ़कर काम को ज्ञान विरोधी (शत्रु) समझकर मन को बुद्धि से कर्मयोग में लगाकर इस कामरूप दुर्विजय शत्रु का विनाश करे । यहाँ द्वितीयान्त आत्मा शब्द मन वाचक तथा तृतीयान्त आत्मा शब्द बुद्धिवाचक है ।

।। तीसरा अध्याय समाप्त ।।

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-अहं इमं अव्ययं योगं विवस्वते प्रोक्तवान् विवस्वान् मनवे प्राह मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत् ।**

अर्थ :- श्री भगवान् बोले - मैंने इस अव्यय योग (यानी विकार रहित कर्मयोग) को सूर्य से कहा था, सूर्य ने (अपने पुत्र) मनु से कहा था और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु से कहा ।

व्याख्या :- **'इदमस्तु सन्निकृष्टे'** (मनोरमा) **'इदम्'** का पास में प्रयोग किया जाता है । भगवान् कहते हैं कि यह जो तीसरे अध्याय में कर्मयोग तुझे बतलाया गया है, सो केवल इसी समय युद्ध में प्रोत्साहन देने के लिये ही मैंने कहा है, ऐसा नहीं मानना चाहिए । मन्वन्तर के आदि में अखिल जगत् के उद्धार के लिये मैंने ही परम पुरुषार्थरूप मोक्ष के साधन रूप इस योग को विवस्वान् (सूर्य) के प्रति कहा था, क्योंकि लिखा है **'चक्षोः सूर्योऽजायत'** (यजु. ३१।१२) भगवान् के नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुए ।।१२।। श्रीसूर्यदेव ने अपने बेटे वैवस्वत मनु के प्रति कहा । किस मनु को ? वैवस्वत मनु को । वैवस्वत मनु के विषय में लिखा है-

मनुष्याणामधिपतिं चक्रे वैवस्वतं मनुम् । (वायु. अ. ७० श्लो. १८)

मनुष्यों के अधिपति वैवस्वतमनु को राजा किये ।।१८।। वैवस्वत मनु ने इक्ष्वाकु राजा को इसका उपदेश दिया । जिस इक्ष्वाकु राजा का परिचय वेदावतार श्रीरामायण में लिखा है - **इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः'** (श्रीवाल्मी. बा. का. १।८) इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगों में राम नाम से विख्यात हैं ।।१८।। यहाँ पर भगवान् अर्जुन के व्याज से गरुपरम्परा को बतलाते हैं । यह गुरुपरम्परा ऊपर से नीचे की ओर अवरोह के क्रम से कही गई है । इसी प्रकार श्रुति में कहा गया है -

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यावरिष्ठा -
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ (मुण्डक उ. १।१।१)

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा - थर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

उस ब्रह्मा ने सबसे बड़े पुत्र अथर्वा नामवाले के लिये समस्त विद्याओं के आश्रयभूत ब्रह्मविद्या को भलीभाँति

उपदेश किया ।।१।। चतुर्मुख ब्रह्मा ने जिस ब्रह्मविद्या को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वानाम वाले ऋषि के लिए उपदेश दिया था उस ब्रह्मविद्या को अथर्वा नाम वाले ऋषि ने पहले अपने शिष्य अङ्गिर् नाम वाले ऋषि के लिये कहा था । उस अंगिर् नाम वाले ऋषि ने भरद्वाज गोत्रवाले अपने शिष्य सत्यवाह नामवाले ऋषि के लिए उपदेश दिया और भरद्वाज गोत्री सत्यवाह ऋषि ने पर और अवर सब विद्याओं की प्राप्ति के कारण 'परावर' कही जाने वाली विद्या को अपने शिष्य अङ्गिरस् नाम वाले ऋषि के लिये उपदेश दिया ।।२।। तथा इसी अवरोह के क्रम का वासुदेव-संहिता में वर्णन किया गया है कि -

श्रीविष्णुलोके भगवान् हरिर्नारायणः स्वयम् ।
प्रोक्तवान् मंत्रराजादीन् श्रियै तापादिपूर्वकम् ।।
सा च प्रोक्तवती प्रीत्या तापपुण्ड्रादिपूर्वकम् ।
सेनेशाय प्रिया विष्णोर्मूलमन्त्रद्वयादिकम ।
सेनेशस्स्वयमागत्य प्रीत्या श्रीनगरीं शुभाम् ।
शठकोपाय मुनये तिंतिडीमूलवासिने ।
तापादिपूर्वकं श्लोकं मंत्ररत्नद्वयादिकम् ।
विष्णुपत्न्या विशालाक्ष्या नियोगादुपदिष्टवान् ।। (वासु. सं.)

श्रीवैकुंण्ठलोक में भगवान् नारायण ने स्वयं तापादिपूर्वक श्रीदेवी को मंत्रराज प्रदान किया । भगवान् नारायण से प्रसादित मूलमंत्र एवं द्वयमंत्र को श्रीदेवीने भगवान् के सेनापति श्रीविष्वक्सेन जी को प्रदान किया । तदुपरान्त श्रीविष्वक्सेन जी ने विशालाक्षी विष्णुपत्नी श्रीदेवी की आज्ञा से स्वयं कुरुकापुरी में आकर श्री इमली वृक्ष के मूल में निवास करने वाले श्रीशठकोप स्वामी जी को चरमश्लोक के सहित सब मन्त्रों को प्रदान किया । इसलिए निगम, आगम, स्मृति के मतानुसार श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयंकर मठ में अवरोह के क्रम में ही गुरु-परम्परा की स्तुति की जाती है ।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के माध्यम से उपदेश देते हैं कि पिता को सबसे पहले पुत्र को उपदेश देकर सुधारना चाहिए। दूसरे, राजा को उपदेश देना बताकर यह बतलाते हैं कि राजा के सुधरने से समस्त प्रजा की भलाई हो जाती है तथा सर्वशास्त्रमयी गीता के अन्दर गुरुपरम्परा बताकर यह बतलाते हैं कि इसकी जानकारी अवश्य रखनी चाहिए।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।।२।।

अन्वय :- **परंतप ! एवं परम्पराप्राप्तं इमं राजर्षयः विदुः, सःयोगः महता कालेन इह नष्टः ।**

अर्थ :- हे (कामादि शत्रुओं को तपाने वाले) अर्जुन ! इस प्रकार (सत्सम्प्रदाय की) परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, वह योग बहुत काल से इस लोक में नष्टप्राय हो गया ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को 'परंतप' सम्बोधन देकर यह बता रहे हैं कि स्वर्गभूमि अमरावती पुरी में जब अर्जुन गया था तब अयोनिजा उर्वशी ने अर्जुन से विषय करना चाहा, परन्तु वे अपनी भारतीय संस्कृति से जरा भी विचलित नहीं हुए तथा उस अप्सरा का (नपुंसक होने का) शाप उन्होंने अङ्गीकार कर लिया । इसका फल यह हुआ कि अर्जुन के नाम लेने से कामादि शत्रु नष्ट हो जाते हैं । जैसा पाण्डव गीता में कहा भी गया है- **'शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन** (पा. गी. २) भगवान् कहते हैं कि इस चौथे अध्याय के पहले श्लोक में जो सत्सम्प्रदाय की परम्परा मैंने बतायी है उसी परम्परा से प्राप्त यह जो अविनाशी कर्मयोग है, इसको रघु, कुरु, अम्बरीष आदि राजर्षियों ने जाना था । जो राजा होते हुए वेदानुसार आचरण करे और करावे उसे राजर्षि कहते हैं । इस श्लोक में भगवान् योग को नष्ट होना कह रहे हैं और पूर्व के श्लोक में योग को अविनाशी कहते हैं । इससे स्वोक्ति-विरोध हो जाता है, क्योंकि सत् वस्तु का अभाव नहीं होता जैसा गीता में ही भगवान् कहते हैं - **'नाभावो विद्यते सतः'** (गी. २।१६) सत् का अभाव नहीं होता ।।१६।। तथा जो अविनाशी है उसका विनाश नहीं होता जैसा भगवान् स्वयं कह भी चुके हैं -

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति । (गी. २।१७)

अविनाशी के नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है ।।१७।। इसलिए यहाँ पर जो 'योगो नष्टः' कहकर जो योग का नष्ट होना है उससे भगवान् का अभिप्राय तिरोभाव होने से है । अर्थात् वह कर्मयोग श्रोता के मंदबुद्धि होने के कारण इस भूलोक में बहुत दिनों से तिरोहित अथवा लुप्तप्राय हो गया था । जिस प्रकार आँख की पुतली नहीं दिखाई देती परन्तु न दिखाई देने से उसका अभाव नहीं कहा जाता । उसी तरह यह योग बहुत काल तक तिरोहित हो गया था, इससे इसका अभाव नहीं कहा जायगा । इस प्रकार भगवान् का कथन परस्पर विरोधी नहीं है ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।३।।

अन्वय :- **मे भक्तः सखा च असि इति सः एव अयम् पुरातनः योगः अद्य मया ते प्रोक्तः हि एतत् उत्तमम् रहस्यम् ।**

अर्थ :- तू मेरा भक्त, सखा (चकार से) प्रपन्न शिष्य हो, इसलिए वही यह पुराना योग मेरे द्वारा तुझे कहा गया (या बताया गया), क्योंकि यह अति उत्तम रहस्य है ।

व्याख्या :- **'तदिति परोक्षे विजानीयात्'** (मनोरमा) तत् शब्द का परोक्ष में प्रयोग होता है । भगवान् कहते हैं कि जो मैंने सूर्य को उपदेश दिया था वही पुरातन कर्मयोग, जिसका स्वरूप अविचल बना है वह आज तुझको अङ्ग प्रत्यङ्गों सहित विस्तार से बतलाया । इसका कारण यह है कि एक तो तुम मेरे भक्त हो । भक्त का लक्षण स्कन्द-पुराण में लिखा है कि-

भक्तानां लक्षणं मातः शृणु गुह्यं समाहिता ।
शंखचक्राङ्किता नित्यं भुजयुग्मे वसुन्धरे ।।

(स्कन्द पु. वैष्णव खण्ड २ वेंकटाचलमाहात्म्य १ अ. ६ श्लोक ५१)

एवं लाञ्छनयुक्ता ये भक्तास्ते वैष्णवाः स्मृताः ।
तैरेव लभ्यं तद्ब्रह्म सदाचार-समन्वितैः ॥६६॥

हे मातः भक्तों के गुह्य लक्षण समाहित होकर तुम सुनो । हे वसुन्धरे ! जिनके दोनों भुजमूल शंखचक्र से नित्य अंकित हैं उनको भक्त कहते हैं ॥१॥ इस प्रकार के जो तप्त शंख-चक्र से अंकित बाहुमूलवाले वैष्णव हैं वे ही भक्त कहे गये हैं । सदाचार से युक्त उन चक्रांकितों से ही वह ब्रह्म प्राप्त होने योग्य है ॥६६॥ यही नहीं 'श्रीमद्भगवद्गीता में चौदह बार 'भक्तः' पद आया है -

१. **भक्तोऽसि मे'** (गी. ४।३) मेरा भक्त हो ॥३॥

२. **भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति'** (गी. ७।२१) भक्त श्रद्धा से पूजना चाहता है ॥२१॥

३. **मद्भक्ता यान्ति मामपि'** (गी. ७।२३) मेरे भक्त मेरे को ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

४. **भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः'** (गी. ९।२३) श्रद्धा से युक्त हुए भक्त पूजते हैं ॥२३॥

५. **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** (गी. ९।३१) मेरा भक्त नष्ट नहीं होता है ॥३१॥

६. **'भक्ता राजर्षयस्तथा'** (गी. ९।३३) और भक्त राजऋषि लोग ॥३३॥

७. **'मन्मना भव मद्भक्तः'** (गी. ९।३४) मेरे में मन वाला हो और मेरा भक्त हो ॥३४॥

८. **'मद्भक्तः सङ्गवर्जितः'** (गी. ११।५५) सङ्ग रहित मेरा भक्त ॥५५॥

९. **'भक्तास्त्वां पर्युपासते'** (गी. १२।१) भक्त तुमको अति श्रेष्ठ भाव से उपासना करते हैं ॥१॥

१०. **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** (गी. १२।१४) जो मेरा भक्त है वह मेरे को प्रिय है ॥१४॥

११. **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** (गी. १२।१६) जो मेरा भक्त है वह मेरे को प्रिय है ॥१६॥

१२. **'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः'** (गी. १२।२०) वे भक्त मेरे को अत्यन्त प्रिय हैं ॥२०॥

१३. **'मद्भक्त एतद्विज्ञाय'** (गी. १३।१८) मेरा भक्त इसको तत्त्व से जानकर ॥१८॥

१४. **'मन्मना भव मद्भक्तः'** (गी. १८।६५) मेरे में मनवाला हो और मेरा भक्त हो ॥६५॥

इससे गीता माँ यह संकेत करती हैं कि जो चौदह विद्याएँ हैं, जैसा लिखा है कि -

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशा ॥ (याज्ञव. स्मृ. अ. १ श्लो. ३)

१-पुराण २-न्याय ३-मीमांसा ४-धर्मशास्त्र ५-शिक्षा ६-कल्प ७-व्याकरण ८-निरुक्त ९-छन्द १०-ज्योतिष ११-ऋक्वेद १२-यजुर्वेद १३-सामवेद १४-अथर्ववेद ॥३॥ इन चौदहों विद्याओं में ऐक्य कण्ठ से बताया है कि वासुदेव के भक्त बनो । यदि हितैषिणी माँ की बात न मानकर पौण्ड्रक के सामान वासुदेव बनोगे तो धन-जन के साथ तुम्हारा संहार हो जायेगा । यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में लिखा है कि-

एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः ।

द्वारकामाविशत् सिद्धैर्गीयमानकथामृतः ॥ (श्रीमद्भा. १०।६६।३३)

इस प्रकार अपने साथ डाह रखने वाले पौण्ड्रक को और उसके सखा को मारकर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी राजधानी द्वारिका में लौट आये । उस समय सिद्धगण भगवान् की अमृतमयी कथा का गान कर रहे थे ।।२३।। इसलिए वासुदेव का भक्त बनना चाहिए । दूसरे भगवान् कहते हैं कि तुम मेरे सखा हो । महाभारत में भीष्म-पर्व में उन्होंने कहा है-

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च । (महा. भीष्म १०७।३३)

हे युधिष्ठिर ! आपके भाई अर्जुन मेरे सखा हैं, सम्बन्धी हैं, और शिष्य भी हैं ।।३३।। अर्जुन भी कहते हैं - **'सखेति मत्वा'** (११।४१) 'सखा' ऐसा मानकर ।।४१।। सम आयु वाला होते हुए सर्वदा हितैषी हो उसे सखा कहते हैं । और तीसरे, तुम शिष्य हो । भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार भक्त, सखा और शिष्य होने के कारण ही जो मेरे सिवा दूसरे किसी के भी द्वारा न तो जाना जा सकता है और न कहा जा सकता है, वह वेदान्त-वर्णित उत्तम रहस्य ज्ञान को तेरे प्रति कहा । यहाँ 'अद्य' अर्थात् 'आज' कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान् का अर्जुन के साथ यद्यपि अकाट्य प्रेम बहुत दिनों से था जैसा युक्ति बताकर स्वयं अपनी बहन सुभद्रा का हरण कराने, रजस्वला समय में द्रौपदी के लिए वस्त्रावतार लेने, दूत बन कर दौत्य कर्म करने तथा रणभूमि में कोचवान बनने से ज्ञात हो जाता है, फिर भी जबतक अर्जुन ने भगवान् से गुरु-शिष्य का सम्बन्ध नहीं लगाया तबतक उन्होंने रहस्य-ज्ञान आदि नहीं प्रदान किया । इससे यह बतलाते हैं कि बिना गुरु बनाये रहस्य प्राप्त करने का अधिकारी नहीं बनोगे ।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।

अन्वय :- **अर्जुन उवाच-भवतः जन्म अपरं, विवस्वतः जन्म परं, त्वं आदौ एतत् प्रोक्तवान् इति कथं विजानीयाम् ।**

अर्थ :- हे श्रीकृष्ण ! आपका जन्म तो पीछे (यानी अब) हुआ है, सूर्य का जन्म बहुत पहले का है, (तब) आपने आदिकाल में इस योग को कहा था - ऐसा कैसे जानूँ ?

व्याख्या :- शिष्य का लक्षण बताया गया है कि **'प्रश्नकालप्रतीक्षः'** प्रश्न करने के समय की प्रतीक्षा करना । परम सात्त्विक अर्जुन योग्य शिष्य की भाँति भगवान् से समयानुसार प्रश्न करता है कि आपका जन्म काल संख्या की दृष्टि से अट्ठाइसवें द्वापर में वसुदेव के यहाँ मेरे जन्म का समकालीन है । यथा सूर्य के विषय में वेद में कहा गया है कि **'चक्षोः सूर्योऽजायत'** (यजु. ३१।१२) सृष्टि के आदि में भगवान् के नेत्र से सूर्य का जन्म हुआ ।।१२।। इस प्रकार काल-संख्या की दृष्टि से सूर्य का जन्म अट्ठाइस चतुर्युगी पूर्व का है । अतएव आपने ही इस योग को सृष्टि के आदि में सूर्य को उपदेश दिया था, इस असंभव बात को मैं विशेष रूप से यथार्थ कैसे जानूँ ? ।।

यहाँ पर यह शंका उपस्थित होती है कि अर्जुन जब जानता है कि वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं जैसा वह स्वयं आगे कहता है -

परं ब्रह्म परंधाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।। (गी. १०।१२)

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।।१३।।

आप पर ब्रह्म, परमधाम और परम पावन हैं । सम्पूर्ण तत्त्व को यथार्थ जानने वाले ऋषिगण, देवर्षि नारद और असित, देवल तथा व्यास आदि सभी आपको शाश्वत 'दिव्य पुरुष' आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी बतलाते हैं । आप स्वयं भी मुझसे ऐसा कहते हैं ।।१२-१३।। द्रौपदी के लिए वस्त्रावतार धारण करने आदि द्वारा वह जानता है तथा भीष्मादि के द्वारा भी सुना है कि

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिप्रभवाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम् ।। (महा. सभा. ३८।२३)

श्रीकृष्ण ही समस्त लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हैं, यह सारा चराचर जगत् श्रीकृष्ण के ही लिये प्रकट हुआ है, अर्थात् यह सरा जगत् श्रीकृष्ण का ही शेषभूत (शरीर रूप) है ।।२३।। इससे अर्जुन जब वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् जानता था तो समझ सकता था कि भगवान् ने इस योग को जन्मान्तर में अथवा नेत्र से सूर्य को उत्पन्न होने पर कहा होगा फिर वह अनजान की भाँति क्यों पूछ रहा है ? इससे मालूम होता है कि अर्जुन का अभिप्राय अपने मन में रखे हुए इन सात प्रश्नों से था जो इस प्रकार है -

१-जो समस्त हेयगुणों के विरोधी एकतान अनन्त कल्याण गुणगण सम्पन्न सर्वज्ञ सर्वेश्वर और सत्य संकल्प हैं, जिनको समस्त (दिव्य) भोग सब प्रकार से प्राप्त है, उन भगवान् का कर्मपरवश देव मनुष्यादि के सदृश प्रतीत होने वाला जन्म क्या इन्द्रजाल आदि की तरह से मिथ्या है ?

२-किं वा सत्य है ?
३-यदि सत्य है तो उस जन्म का प्रकार क्या है ?
४-उसका यह शरीर कैसा है ?
५-उसके जन्म में हेतु क्या है ?
६-तथा वह जन्म कब होता है ?
और ७-किस उद्देश्य से होता है ?

इन सब प्रश्नों का संतोष-जनक समाधान पाना ही अर्जुन के प्रश्न का तात्पर्य है । यह भगवान् द्वारा आगे दिये गये उत्तर से ज्ञात हो जाता है ।।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

अन्वय :- **श्रीभगवानुवाच-अर्जुन । मे च तव बहूनि जन्मानि व्यतीतानि । अहं तानि सर्वाणि वेद, परंतप ! त्वं न वेत्थ ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - हे अर्जुन मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं । मैं उन सभी (जन्मों) को जानता हूँ, परंतप ! तू नहीं जानता ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को शुद्ध सात्त्विक और कामादिशत्रुओं को तपाने वाले कहकर यह संकेत करते हैं कि जब कामादि शत्रुओं पर विजय करते हुए अपना आचरण शुद्ध रखोगे तभी बड़े कहे जाओगे, केवल बड़े घर में जन्म लेने से बड़े नहीं बनोगे । इस श्लोक में भगवान् अर्जुन के अभिप्रायानुसार अवतार तत्त्व का रहस्य समझाते हुए उसके प्रारंभ के दो प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं कि मेरा जन्म इन्द्रजालिक नहीं है, सत्य है । दृष्टान्त रूप से इसको उपस्थित करते हुए कहते हैं कि जैसे मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं उसी तरह तेरे भी बहुत से जन्म बीत चुके हैं । इस बात को स्वत: प्रमाण वेद भी कहता है -

रूपं रूपंप्रतिरूपो बभूव तदस्यरूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रोमायाभि: पुरुरूप ईयतेयुक्ता ह्यस्यहरय:शतादश ॥
(ऋग्वे. मं. ६ अ ४ सू. ४७ मं १८)

परमेश्वर अपने अनन्त सामर्थ्यों से अनेक रूप वाला होता है सो इस अपने रूप को सब भक्तों पर विख्यात करने के लिये जैसे-जैसे रूप की इच्छा हो तैसा-तैसा हुआ । निश्चय इस परमेश्वर के रूप सैकड़ों हैं । उसमें दस अवतार मुख्य हैं । इस मन्त्र में जो इन्द्र शब्द है वह 'इन्द्रमित्र' (मं. १ सू. १६ मं. ४६) के अनुसार भगवान् वाचक है ॥ जहाँ **'माया'** से जन्म लेने को कहा गया है वहाँ **'माया वयुनं'** शब्द **'ज्ञान'** वाचक है, परन्तु अनादि पाप वासना से दूषित **अन्त:करण** वाले ही भगवान् को इन्द्रजालवत् जन्म लेना कहते हैं । भगवान् आगे कहते हैं - अपने और तुम्हारे जन्मों **को मैं** जानता हूँ । जैसा भगवान् ने स्वयं आगे कहा है -

वेदाहं समतीतानी वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ (गी. ७।२६)

अर्जुन जो प्राणी अतीत हो गये हैं, जो वर्तमान हैं और जो होने वाले हैं उन सब को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई नहीं जानता ॥२६॥ इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन के दो प्रश्नों का कि आप का जन्म इन्द्रजाल के समान है अथवा सत्य है, उत्तर आज के इस श्लोक में दे दिया ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

अन्वय :- **अजः अव्ययात्मा सन् अपि भूतानाम् ईश्वरः सन् अपि स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय आत्ममायया संभवामि ।**

अर्थ :- अजन्मा, अविनाशी स्वरूप होते हुए भी सभी प्राणियों का ईश्वर रहते हुए भी अपने सवभाव को साथ लेकर (यानी अपनी प्रकृति में स्थित रहकर) अपनी माया (यानी अपने सङ्कल्प) से प्रकट होता हूँ ।

व्याख्या :- यहाँ प्रकृति का अर्थ स्वभाव है । भगवान् अर्जुन के प्रथम दो प्रश्नों का उत्तर देने के पश्चात् इस श्लोक में जन्म का प्रकार क्या है ? उसका शरीर कैसा है ? और उसके जन्म में हेतु क्या है ? इन तीन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि मैं अजत्व, अव्ययत्व और सर्वेश्वरत्व आदि समस्त परमेश्वरीय स्वभावों को न छोड़ते हुए ही अपने स्वभाव में स्थित होकर अपनी माया से यानी अपने ही (दिव्य) स्वरूप से और अपनी ही इच्छा से प्रकट होता हूँ । भगवान् के स्वरूप को बताते हुए श्रुतियों में कहा गया है-

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।' (यजुर्वे. ३१।१८) आदित्य के समान वर्णवाले अन्धकार से अत्यन्त दूर ।।१८।।

'क्षयन्तमस्य रजसः पराके ।' (साम. १७।१।४।२) इस रजोमय लोक से दूर रहने वाले ।।२।।

'य एषोऽन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषः' (छा. उ. १।६।६) जो यह आदित्य में हिरण्यमय पुरुष है ।।६।।

'तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयोऽमृतो हिरणमयः' (तै. उ. १।६।१) उसमें यह मोनमय (इच्छामय) अमृतमय हिरण्मय पुरुष है ।।१।।

'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' (यजुर्वे. ३२।२) उस विद्युन्मय (प्रकाशपुञ्ज) पुरुष से सब निमेष उत्पन्न हुए हैं ।।२।।

'भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्माः सर्वकामः सर्वगन्धःसर्वरसः' (छा. उ. ३।१४।२) वह प्रकाश रूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध और सर्वरसरूप है ।।२।।

'माहारजनं वासः' (बृ. उ. २।३।६) उस परमात्मा का रूप ऐसा है जैसा हल्दी में रंगा हुआ वस्त्र ।।६।।

'माया वयुनं ज्ञानम्' (वे. नि. घ. व. २२) के अनुसार माया शब्द ज्ञान का पर्यायवाची है । आप्त पुरुषों का प्रयोग भी ऐसा ही है - **'मायया सततं वेत्ति प्राणिनां च शुभाशुभम्'** भगवान् अपनी माया यानी ज्ञान से निरन्तर प्राणियों के शुभाशुभ को जानते रहते हैं ।। इसलिये आत्ममाया से प्रकट होने का अभिप्राय यह है कि मैं अपने ज्ञान से, अपने संकल्प से प्रकट होता हूँ । अतएव मैं अपहतपाप्मत्व (सर्वदोषशून्यता) आदि समस्त कल्याणमय गुणों से युक्त होना रूप सम्पूर्ण ईश्वरीय स्वभाव का त्याग न करते हुए अपने ही रूप को अपने सङ्कल्प से देव मनुष्यादि के सदृश आकार में करके उन देवादि के रूपों में प्रकट होता हूँ । श्रुति भी कहती है -**'अजायमानो बहुधा विजायते'** (यजुर्वे. ३१।१६) वह (परमेश्वर) न जन्मता हुआ भी बहुत प्रकार से जन्मता है ।।१६।। तथा गीता में भी भगवान् कह चुके हैं ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि..................................।। (गी. ४।५)

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ ।।५।। आगे भी कहेंगे - **तदात्मानं सृजाम्यहम्** ।। (गी. ४।७) उस समय मैं अपने को रच लेता हूँ ।।७।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।। (गी. ४।६)

मेरा जन्म कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो तत्त्व से जानता है ।।६।। इससे पूर्वापर विरोध न होने के कारण यही अर्थ ठीक है कि श्री भगवान् अन्य साधारण मनुष्यों की भाँति जन्म नहीं लेते, वे पूर्वोक्त प्रकार से अपने संकल्प के द्वारा ही देव मनुष्यादि रूप से जन्म लेते हैं । इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन के तीन प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक में दे दिया ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।७।।

अन्वय :- **भारत ! हि यदा यदा धर्मस्य ग्लानिः अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति तदा अहं आत्मानं सृजामि ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! क्योंकि जब-जब धर्म की हानि और अधर्म का अभ्युत्थान (पूरी वृद्धि) होता है, तब-तब मैं अपने को रच लेता हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन को भारत सम्बोधन देते हैं । 'भा दीप्तौ' धातु से भा बनता है । भा ज्ञानरूपी प्रकाश में रत । युद्ध भूमि में जहाँ भीष्म जैसे महात्मा युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हैं, वहाँ स्त्रीपुत्रवाला होकर अर्जुन अवतारवाद के रहस्य का प्रश्न करता है, इसलिए भगवान् उसे 'भारत' शब्द से सम्बोधित करते हैं । इससे यह उपदेश देते हैं कि अपने वर्णाश्रमोचित कर्म करते हुए शूकर, कूकर, की भाँति केवल रोटी की समस्या हल करने में सुरदुर्लभ मानव शरीर को व्यर्थ मत कर देना वरन् अवतारवाद के भी रहस्य को तत्त्वोपदेष्टा गुरु के पास जाकर श्रवण करना । इस श्लोक में अर्जुन के छठे प्रश्न कि आपका जन्म कब होता है ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् अपने जन्म का समय बतलाते हैं कि मेरे प्राकट्य के लिये कोई काल का नियम नहीं है, जब-जब ही वेदोक्त धर्म की, चारोवर्णों और चारो आश्रमों के व्यवस्थापूर्वक स्थित मानव समाज के कर्तव्य की हानि होती है और जब-जब उस धर्म के विपरीत अधर्म की अच्छी तरह वृद्धि होती है तब-तब मैं स्वयं अपने सत्य-संकल्प से पूर्वोक्त प्रकार से अपने को रच लेता हूँ ।

धर्म के विषय में लिखा है -

धर्मं चर । धर्मान् मा प्रमदितव्यम् । (तैत्तिरी. अ. १ व. १ अनु. ११ श्रु. १)

धर्म करो । धर्म से प्रमाद नहीं करना ।।१।। धर्म का लक्षण बताते हुए जैमिनि महर्षि ने कहा है कि **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।।'** (पूर्व मी. अ. १० पा. १ सू. २) प्रेरणालक्षण अर्थ धर्म है ।।।२।। और भी लिखा है कि-

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ।। (तैत्ति. आ. प्रपा. १ अनु. ६२)

धर्म समस्त संसार की प्रतिष्ठा है । लोक में सब जन धर्मिष्ठ के समीप जाते हैं । धर्म से जब लोग पाप को दूर करते हैं । धर्म में सब प्रतिष्ठित हैं, इससे सब लोक धर्म को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ।।६३।। धर्म की हानि से तात्पर्य जब धर्म का नाश सा हो जाता है, जैसे हिरण्यकशिपु के समय राम का नाम तक लेना बंद कर देना, यज्ञ दान, जप, तप, पाठ आदि शुभकर्म को बलात्कार से बन्द कर देना तथा प्रह्लाद जैसे भक्त को बिना अपराध के नाना प्रकार के कष्ट देना और अधर्म की वृद्धि से अभिप्राय दुराचार, अत्याचार, वेद-निषिद्ध कर्मों का अच्छी तरह बढ़ जाना है । ऐसे समय में भगवान् ने नृसिंह रूप धारण किया । इसी प्रकार दूसरे अवतारों में भी पाया जाता है जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंस- राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ।
त्वं पासि नःत्रिभुवनं च यथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥

(श्रीमद्भा. १०।३।४०)

प्रभो ! आपने जैसे अनेको बार मत्स्य, हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राम, कृष्ण, परशुराम और वामन अवतार धारण करके हमलोगों की और तीनों लोकों की रक्षा की है, वैसे ही आप इस बार भी पृथ्वी का भार हरण कीजिये । यदुनन्दन ! हम आपके चरणों में वन्दना करते हैं ।।४०।।

गीता के इसी श्लोक का भाषा में वर्णन करते हुए संत तुलसीदास मानस में कहते हैं :-

जब-जब होई धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा । (रा. म. १।२०।६, ७, ८)

इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन के छठे प्रश्न का उत्तर दिया ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।८।।

अन्वय :- **साधूनाम् परित्राणाय, दुष्कृताम् विनाशाय च धर्मसंस्थापनार्थाय युगे युगे संभवामि ।**

अर्थ :- साधुओं का परित्राण करने के लिए, दुष्टों का विनाश करने के लिए और (वैदिक) धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन के अन्तिम ७वें प्रश्न का (कि) आपका जन्म किस उद्देश्य से होता है ? उत्तर देते हुए कहते हैं कि वेदानुसार चलने वाले, धर्मशील, वैष्णवाग्रणी तथा मेरे समाश्रयण में प्रवृत साधु पुरुष मेरे नाम, कर्म और स्वरूप का वाणी तथा मन से भी ग्रहण न हो सकने के कारण मेरे दर्शन प्राप्त किये बिना अपने जीवन के धारण-पोषण में जरा भी सुख न पाते हुए, तथा मेरे दर्शन के बिना क्षणमात्र के समय को भी हजारों कल्पों के समान मानते हुए (मेरे विरहताप से) सारे अङ्ग शिथिल हो जाने के कारण नष्ट हो जायेंगे, अतः उनको अपने स्वरूप और लीलाओं का दर्शन तथा अपने

साथ बातचीत आदि करने का सुअवसर देकर उनका (विरहताप से) परित्राण करने, वेद में निषेध किये गये आचरण करने वाले जो साधुओं के विरोधी दुष्ट हैं, उनका समूल नाश करने तथा क्षीण हुए मेरे आराधन रूप वैदिक धर्म का मुझ आराध्य स्वरूप के साक्षात् दर्शन के द्वारा संस्थापन करने के लिये मैं युग-युग में देव-मनुष्यादि के रूप में प्रकट होता हूँ। अभिप्राय यह है कि भगवान् के प्रकट होने में सत्युग त्रेता आदि का कोई विशेष नियम नहीं है। जब भी उपर्युक्तप्रयोजन उपस्थित होता है वे अपने सत्यसंकल्प से प्रकट हो जाते हैं। साधु के विषय में लिखा है कि-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ (गी. ६।३०)

यदि कोई अति दुराचारीभी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझे भजता है तो वह साधु यानी वैष्णवों में आगे बढ़ा हुआ ही मानने योग्य है, क्योंकि वह ठीक-ठीक निश्चय वाला है ।।३०।। श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥ (श्रीमद्भा. १०।८४।११)

केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं कहलाते और केवल मिटी या पत्थर की प्रतिमाएँ ही देवता नहीं होतीं, संत पुरुष ही वास्तव में तीर्थ और देवता हैं, क्योंकि उनका बहुत समय तक सेवन किया जाय तब वे पवित्र करते हैं, परन्तु संत पुरुष तो दर्शनमात्र से ही कृतार्थ कर देते हैं ।।११।। अन्यत्र भी कहा गया है-

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधु-समागमः ॥

साधुओं का दर्शन पवित्र है, क्योंकि तीर्थ स्वरूप साधु हैं। तीर्थ का पुण्यफल समय से होता है, परन्तु साधु के दर्शन से ही फल प्राप्त होता है ॥ और -

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च सद्यः साधु-समागमः।

गंगा पाप को दूर करती है, चन्द्रमा ताप को दूर करता है, कल्पतरु दीनता को दूर करता है और साधु-समागम शीघ्र ही पाप, ताप और दीनता तीनों को दूर कर देता है ॥ अवतार के प्रयोजन को तुलसीदास जी कहते हैं कि-

................................हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ॥
जग विस्तारहिं विसद जस राम जन्म कर हेतु ॥ (रा०मा० १।१२१)

इस प्रकार भगवान् ने प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन के अन्तिम ७ वें प्रश्न का उत्तर दे दिया ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥
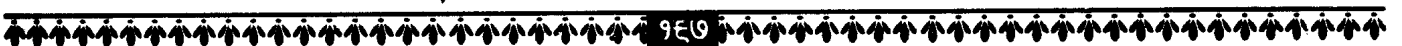
अन्वय :- **अर्जुन ! मे जन्म च कर्म दिव्यम् एवम् यः तत्त्वतः वेत्ति, सः देहम् त्यक्त्वा पुनः जन्म न एति, माम् एति ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! मेरा (वह) जन्म और कर्म दिव्य है ऐसा जो मनुष्य तत्त्व से जान लेता है, वह शरीर को त्याग कर पुनः जन्म को नहीं प्राप्त करता है, मुझको ही प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- भगवान् अपने जन्मों और उनमें किये जाने वाले कर्मों की दिव्यता को तत्त्व से जानने का फल बताते हुए कहते हैं कि कर्म जिसके मूल हैं ऐसी हेयरूपा त्रिगुणात्मिका प्रकृति के संसर्ग रूप जन्म से रहित, सर्वेश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सत्यसंकल्पत्व आदि समस्त कल्याणमय गुणों से समन्वित मुझ परमेश्वर के एकमात्र साधुओं का परित्राण करने, उन्हें अपना समाश्रयण प्रदान करने के उद्देश्य से ही होने वाले मेरे दिव्य-(अप्राकृत) असाधारण जन्म और उसके द्वारा की हुई लीलाओं को जो तत्त्व से जानता है, वह इस वर्तमान शरीर को त्यागकर पुनः जन्म को नहीं पाता, मुझको ही प्राप्त होता है । जैसा कि भगवान् ने अन्यत्र भी कहा है-

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।। (गी. ८।१६)

हे कुन्तीपुत्र ! मुझे पा लेने के बाद पुनः जन्म नहीं होता ।।१६।। देह के विषय में भगवान् कहते हैं कि - **'अन्तवन्त इमे देहाः'** (गी. २।१८) अनेक अवयवों के संघातरूप ये सब देह विनाशशील हैं ।।१८।। भगवान् सत्यसंकल्प से दिव्य जन्म ले लेते हैं । यहाँ एक आख्यायिका उल्लेखनीय है । एक बीन जाति का व्यक्ति था, जिसकी वृद्धावस्था आ गई थी । सत्संग द्वारा यह जानकर कि कोई साथ नहीं देता है एक इमली के वृक्ष के नीचे यह कहकर कि भगवान् को देखकर ही प्राण छोड़ेंगे, बैठ गया । घूमते हुए नारद जी वहाँ आये उन्हें देखकर साष्टांग प्रणाम किया और कहा कि बड़े भाग्य से आपका दर्शन प्राप्त हुआ है । जब नारद ने अपने वैकुण्ठ जाने की बात कही तो उसने कहा कि मैंने बड़ा पाप किया है, आप दया करके भगवान् से पूछेंगे कि मुझे कब दर्शन देंगे ? नारद जी भगवान् के पास गये और उन्होंने उस बीन के प्रश्न को पूछा । भगवान् ने कहा कि इमली के वृक्ष में जितने पत्ते हैं उतना जन्म लेगा तब दर्शन दूँगा । लौटकर नारद जी ने वही बात उस बीन से कही । वह इतनी प्रसन्नता से नाच उठा कि बेहोश हो गया । नारद जी यह सोचकर कि हत्या का पाप हमें न लग जाय वहाँ से चल दिये । वहाँ अपने सत्य-संकल्प से तुरन्त प्रकट होकर भगवान् ने इसे दर्शन दिये । इसलिए भगवान् कहते हैं कि मेरा जन्म दिव्य है । दूसरे, इनके कर्म भी दिव्य हैं । जैसा कि उनके जन्म के समय से ही माता के स्थान पर भगवान् को पिता द्वारा देखाजाना, नदी का थाह हो जाना, ६ महीने की रात्रि बना देना इत्यादि उनके सभी कर्म दिव्य हैं । इस तरह भगवान् के अवतार को गुरुओं द्वारा यथार्थ रूप से जो जानता है वह किसी भी वर्णाश्रम का हो फिर से जन्म नहीं लेता । इसलिए भगवान् उपदेश देते हैं कि जब तक मुझको नहीं प्राप्त कर लोगे तब तक ब्रह्मा के लोक आदि से भी वापस जन्म-मरण चक्र में आ जाओगे । दूसरे, अवतारवाद में अवश्य निष्ठा रखना ।।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।१०।।
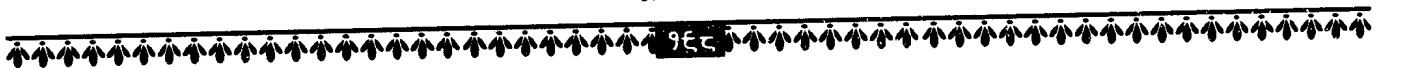
अन्वय :- **वीतरागभयक्रोधाः मन्मयाः माम् उपाश्रिताः बहवः ज्ञानतपसा पूताः मद्भावम् आगताः ।**

अर्थ :- राग, भय और क्रोध से रहित, (केवल) मुझमें ही ओत-प्रोत, मेरे आश्रित (यानी मेरे आश्रय में आये) बहुत से पुरुष तत्त्वज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं ।

व्याख्या :- राग के विषय में लिखा है कि - **'सुखानुशयी रागः'** (यो. अ. १ पा. २ सू. ७) जो जो सुख पहले प्राप्त हो चुके हैं, या जिस-जिस पदार्थ से यह ज्ञान हुआ है कि इससे सुख होता है, अर्थात् यह सुख का साधन है ऐसे सुख या सुख साधन पदार्थ जाने हुए को जो उस सुख के स्मरण होने पर उस सुख के होने में जो स्मरण से तृष्णा या लोभ होता है उसको राग कहते हैं ।।७।। प्रिय के वियोग और अप्रिय की प्राप्ति के निमित्त को देखकर जो दुःख होता है, वह 'भय' कहलाता है । प्रिय के वियोग और अप्रिय की प्राप्ति के निमित्त से दूसरे जीव पर होने वाला जो दुःख का हेतुभूत अपने मन का विकार है, वह क्रोध है । इन तीनों विकारों से जो रहित हैं वे मेरे स्वरूप हैं, जैसा वाल्मीकि, पराशर, व्यास आदि । मेरी शरण ग्रहण करने वाले बहुत से भक्त लोग मेरे जन्म कर्म के तत्त्वज्ञानरूप तप से पवित्र होकर, जैसा श्रुति भी कहती है - **'तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्'** (श्रुति) धीर पुरुष उसके जन्म को भली-भाँति जानते हैं ।।४।। ऐसे मेरे भाव को प्राप्त कर चुके हैं, अर्थात् हमारे समान हो गये हैं । यहाँ भगवान् 'बहवः' कहकर जो लोग एक आत्मा मानते हैं उसको खण्डन करते हुए आत्मा की अनेकता सिद्ध करते हैं तथा भगवान् के समान से तात्पर्य भोग-मात्र में समानता से है । जैसा भगवान् स्वयं कहते हैं-

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ (गी. १४।२)

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरी समता को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिकाल में उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय काल में भी उनका नाश नहीं होता ।।२।। जैसे वामदेव प्रभृति ।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

अन्वय :- **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् अहं तथा एव भजामि । पार्थ ! मनुष्याःसर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ।**

अर्थ :- जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ । हे पार्थ ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन (अनुसरण) करते हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि मेरा आश्रय चाहने वालों का उद्धार मैं केवल देव मनुष्यादि के रूप में अवतीर्ण होकर ही करता हूँ ऐसी बात नहीं, किन्तु मेरी शरण लेने की अपेक्षा रखने वाले जो पुरुष अपनी अपेक्षा के अनुसार जिस प्रकार मेरे रूप की कल्पना करके मेरा समाश्रयण करते हैं उनको मैं वैसे ही उनके मनोवाञ्छित प्रकार से ही दर्शन देता हूँ । इस विषय में अधिक क्या कहना है, मेरा अनुवर्तन करना ही जिनका एक मात्र मनोरथ है, ऐसे सभी मनुष्य मेरे मार्ग का मेरे सारे स्वभाव का, जो योगियों के भी मन वाणी से अगोचर है-अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा सर्वथा अपने अपेक्षित स्वरूप में सब प्रकार से अनुभव करते हुए बरतते हैं ।। भक्त की इच्छा के अनुसार दर्शन देने की

बात श्रुति भी कहती है - **'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'** (ऋग्वे. ३।४।५३।८) इस श्रुति पर यास्काचार्य ने कहा है कि भक्त जिन-जिन रूपों की कामना करता है भगवान् उन्हीं रूपों को धारण करके उसे दर्शन देते हैं ।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

अन्वय :- **कर्मणां सिद्धिं काङ्क्षन्तः इह देवताः यजन्ते । हि मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रंभवति ।**

अर्थ :- (लौकिक सकाम मनुष्य) कर्मों की सिद्धि चाहते हुए यहाँ (यानी इस संसार में) देवताओं को पूजते हैं; क्योंकि मनुष्यलोक में कर्म-जन्य सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ।

व्याख्या :- भगवान् कर्मयोग के अधिकारी की दुर्लभता बतलाते हुये कहते हैं कि तुरन्त फल चाहने वाले सकामी सभी मनुष्य इन्द्रादि देवताओं की शास्त्र-विधि से पूजा करते हैं । वे अज्ञानी लोग यह नहीं जानते कि **'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता'** (गी. ६।२४) मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता हूँ ॥२४॥ इसको न जानने से वे लोग उन इन्द्रादि देवताओं के आत्मारूप समस्त यज्ञों के भोक्ता मुझ परमेश्वर को फलाभिसन्धि से रहित होकर कोई भी नहीं पूजता । इसका कारण यह है कि इस मनुष्य लोक में ही देवताओं के पूजन से पुत्र, पशु, अन्न आदि की प्राप्ति रूप कर्मजनित सिद्धि तुरन्त प्राप्त हो जाती है । यहाँ 'मनुष्य लोक' शब्द स्वर्गादि लोकों का भी उपलक्षण है । भगवान् के कथन का अभिप्राय यह है कि अनादिकाल से प्रवृत्त अनन्त पाप राशि का नाश न होने के कारण सभी लौकिक मनुष्य विवेक-शून्य और तुरंत फल चाहने वाले हो रहे हैं, इसलिये वे पुत्र, पशु, अन्नादि और स्वर्गादि भोगों की इच्छा से अपने सारे कर्म केवल इन्द्रादि देवताओं की आराधना के रूप में ही करते हैं, हृदय में संसार से घबड़ाकर मोक्ष की इच्छा से उपर्युक्त लक्षणों वाले मेरी आराधना रूपी कर्मयोग का आरम्भ कोई भी नहीं करता, परन्तु **'अन्तवत्तु फलं तेषाम्'** (गी. ७।२३) केवल इन्द्रादि देवताओं के पूजन करने वाले मनुष्य को उस आराधना का फल अन्तवाला मिलता है ॥२३॥ देवता के विषय में लिखा है कि-

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् (गी. ११।१५)

कमल के आसन पर बैठे ब्रह्मा को और शिव को ॥१५॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतः ॥ (गी. ११।२२)

ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वे देव, दो अश्विनी कुमार और उनचास मरुत्देव हैं ॥१२॥

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परन्तपः ॥ (महा.आदिप. १ अ. ६६ श्लो. २)

दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥३॥

१-मृगव्याध २-सर्प ३-और महायशस्वी निर्ऋति ४-अजैकपाद ५-अहिर्बुध्न्य और ६-परन्तप पिनाकी ॥२॥ ७-दहन ८-ईश्वर और ६-महाद्युति कपाली १०-स्थाणु और ११-भगवान् भग, इन ग्यारहों को रुद्र देवता कहते हैं ॥३॥ बारह आदित्य-

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥
(महाभार. आदि. प. १ अ. ६५ श्लो. १५)

एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकाः ॥१६॥

१-धाता २-मित्र ३-अर्यमा ४-शक्र ५-वरुण और ६-अंश ७-भग ८-विवस्वान् ६-पूषा और १०-सविता ॥१५॥ ११-त्वष्टा और १२-विष्णु यानी वामन । इन समस्त बारह आदित्यों में सबसे अधिक गुण होने के कारण छोटे वामन भगवान् सबसे श्रेष्ठ हैं ॥१६॥ आठ वसु-

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टाविति स्मृताः ॥ (महाभार. आदि. प. १ अ. ६६ श्लो. १८)

१-धर २-ध्रुव ३-सोम ४-अहः ५-अनिल ६-अनल ७-प्रत्यूष और ८-प्रभास इन आठो को वसु देवता कहते हैं ॥१८॥ बारह साध्य देव-

मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान् ॥ (वायु. पु. ६६।११)

चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा ।
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे ॥१६॥

१-मन २-अनुमन्ता ३-प्राण ४-नर ५-यान ॥१५॥ ६-चित्ति ७-हय ८-नय ६-हंस १०-नारायण ११-प्रभव और १२-विभु ये बारह साध्य देवता हैं ॥१६॥ दस विश्वेदेव-

विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः ॥
क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा ।
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश ॥ (वायु. पु. अ. ६६ श्लो. ३१-३२)

धर्म की पत्नी दक्ष-कन्या से इन दस विश्वेदेव देवताओं की उत्पत्ति हुई थी, वे विश्रुत हैं ॥३१॥ १-क्रतु २-दक्ष ३-श्रव ४-सत्य ५-काल ६-काम तथा ७-धुनि ८-कुरुवान् ६-प्रभवान् और १०-रोच-मान् ये दस विश्वेदेव हैं ॥३२॥ अश्विनी कुमार, ये दोनों सूर्य की पत्नी संज्ञा से उत्पन्न माने जाते हैं । (वि. पु. ३।२।७) उनचास मरुत् देव-

१-सत्त्वज्योति २-आदित्य ३-सत्यज्योति ४-तिर्यग्ज्योति ५-सज्योति ६-ज्योतिष्मान् ७-हरित ८-ऋतजित ६-सत्यजित् १०-सुषेण ११-सेनजित् १२-सत्यमित्र १३-अभिमित्र १४-अरिमित्र १५-कृत १६-सत्य १७-ध्रुव १८-धर्ता १६-विधर्ता २०-विधारय २१-ध्वान्त २२-धुनि २३-उग्र २४-भीम २५-अभियु २६-साक्षिप २७-ईदृक्, २८-अन्यादृक् २६-यादृक्

३०-प्रतिकृत् ३१-ऋक् ३२-समिति ३३-संरम्भ ३४-इदृक्ष ३५-पुरुष ३६-अन्यादृक्ष ३७-चेतस ३८-समिता ३९-समिदृक्ष ४०-मरुति ४१-सरत ४२-देव ४३-दिश ४४-यजुः ४५-अनुदृक् ४६-साम ४७-प्रतिदृक्ष ४८-मानुष ४९-विश् ।। (वायु. पु. अ. ६६ श्लो. १२३ से १३० पर्यन्त ।।)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।१३।।

अन्वय :- **गुण कर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् । तस्य कर्तारम् अपि मां अव्ययं अकर्तारम् विद्धि ।**

अर्थ :- गुण कर्म के विभाग से चारो वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरे द्वारा रचे गये हैं । उनका कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी (सर्वेश्वर) को तू अकर्ता ही जान ।

व्याख्या :- अनादि काल से जीवों के जन्म-जन्मान्तरों में किये हुए कर्म हैं जिनका फल-भोग नहीं हो गया है, उन्हीं के अनुसार उनमें यथायोग सत्त्व, रज और तमोगुण की न्यूनाधिकता होती है । भगवान् सृष्टि रचना के समय जब मनुष्यों का निर्माण करते हैं तब उन-उन गुण और कर्मों के अनुसार उन्हें ब्राह्मणादि वर्णों में उत्पन्न करते हैं । इसी बात को भगवान् कहते हैं कि चतुर्वर्ण-प्रधान यह ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त जगत् सत्त्वादि गुण-विभाग से और उनके ही अनुरूप शम आदि कर्म-विभाग से भलीभाँति विभक्त किया हुआ-मेरे द्वारा ही रचा गया है । इस श्लोक में 'सृष्टम्' पद उपलक्षण है । उपलक्षण उसे कहते हैं कि अपने को बोध कराते हुए अन्य को भी बोध करावे । इससे यह अर्थ हुआ कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त समस्त संसार की रचना, संरक्षण और संहार भी मेरे ही द्वारा किये जाते हैं । इस विचित्र सृष्टि आदि के मुझ कर्ता को भी तू अकर्ता ही जान ।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।१४।।

अन्वय :- **न कर्माणि मां लिम्पन्ति, न मे स्पृहा कर्मफले, इति यः मां अभिजानाति सः कर्मभिः न बध्यते ।**

अर्थ :- न तो कर्म मुझे लिप्त करते (यानी बाँध नहीं पाते) और नहीं मेरी स्पृहा (लालसा) कर्म फल में है, - इस प्रकार से जो मुझको भलीभाँति जानता है वह कर्मों से नहीं बँधता ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् अपने को कर्ता होने पर भी किस प्रकार अकर्ता कहे जाते हैं इसे बताते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त जो विचित्र सृष्टि मेरे द्वारा की जाती है उसका मैं स्वतन्त्र कर्ता नहीं हूँ । यह रचना जीवों के द्वारा किये गये पुण्य-पाप रूप कर्म विशष के अनुसार ही होती है; इसलिये सृष्टि आदि कर्म मुझे बाँधते नहीं हैं क्योंकि ये रचे हुए जीव, जिनको सृष्टि के नियमानुसार इन्द्रियाँ और शरीर मिले हैं, फलासक्ति आदि से बने हुए अपने कर्मों के अनुरूप सृष्टि के नियमानुसार प्राप्त भोगों को भोगते हैं तथा सृष्टि आदि कर्मों के फल में उन्हीं की स्पृहा होती है, मेरी स्पृहा नहीं होती । इस प्रकार न मैं कर्ता हूँ और न भोक्ता ही, क्योंकि जो कर्ता होता है वही भोक्ता भी । मैं तो न्यायाधीश की भाँति जीव के कर्मों के अनुसार उसे दुःखी-सुखी, धनी, गरीब, मनुष्य, पशु आदि बनाता हूँ । इसमें उसके द्वारा किये हुए कर्म ही कारण हैं । इसलिए अज्ञानी जन ही मुझमें विषमता और निर्दयता का दोष लगाते हैं । वेदान्त

सूत्रकार भगवान् व्यास ने भी यही कहा है - **'वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्'** (ब्र. सू. २।१।३४) ईश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष नहीं है, क्योंकि (सृष्टि-रचना कर्म) सापेक्ष है ।।३४।। भगवान् पराशर भी ऐसा ही कहते हैं-

निमित्तमात्रमेवायं सृज्यानां सर्गकर्मणि ।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ।। (वि. पु. १।४।५१)

निमित्तमात्रं मुक्त्वैवं नान्यत् किञ्चिदपेक्षते ।
नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम् ।।५२।।

अभिप्राय यह है कि इन रचे जाने वाले देवादि क्षेत्रज्ञों (जीवों) की सृष्टि में यह परम पुरुष तो केवल निमित्त कारण है, देवादि की विचित्र रचना में प्रधान कारण तो उन रचे जाने वाले जीवों की प्राचीन कर्मशक्तियाँ ही हैं ।।५१।। इसलिये ये देवादि क्षेत्रज्ञ-गण अपनी देवादि-रूपा विचित्र सृष्टि में निमित्त मात्र को छोड़कर, सृष्टिकर्ता परमपुरुष को छोड़कर और किसी की अपेक्षा नहीं रखते । अर्थात् ये अपने प्राचीन कर्मों की शक्ति से ही देवादि स्वरूप को प्राप्त कराये जाते हैं ।।५२।। इसी को शेषावातार श्रीलक्ष्मण जी निषादराज को उपदेश देते हुए कहते हैं-

काहु न कोउ सुख दुख कर दात । निज कृत करम भोग सबु भ्राता ।। (मानस २।९१।४)
इसलिए-**कालहि कर्महि ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाई ।** (मानस ७।४३)

भगवान् आगे कहते हैं कि उपर्युक्त प्रकार से जो मुझ सृष्टि आदि के कर्ता को भी अकर्ता और सृष्टि आदि कर्मों की फलासक्ति से रहित जानता है, वह कर्मयोगारम्भ के विरोधी फलासक्ति के कारणरूप प्राचीन कर्मों से नहीं बँधता अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है ।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।।१५।।

अन्वय :- **पूर्वैः मुमुक्षुभिः अपि एवं ज्ञात्वा कर्म कृतम्, तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतं कर्म एव कुरु ।**

अर्थ :- पहले (होने वाले) मुमुक्षु पुरुषों द्वारा भी इस प्रकार जानकर कर्म किया गया है । अतएव तू भी पूर्वजों द्वारा (यानी पूर्व के लोगों द्वारा) पूर्वकाल में किये जाने वाले कर्म को ही कर ।

व्याख्या :- अब मुमुक्षु पुरुषों के उदाहरण पूर्वक फलासक्ति छोड़कर उसी प्रकार कर्म करने के लिये अर्जुन को आज्ञा देते हुए भगवान् कहते हैं कि पूर्वजन्म के कर्मानुसार समस्त प्राणियों की सब वस्तुएँ-वर्ण और धनादि मैं बनाता हूँ । इस प्रकार से मुझको जानकर पापों से छूटे हुए पूर्व में होने वाले जो मोक्ष को चाहने वाले राजा शिवि, राजा कुरु आदि के द्वारा भी मेरे कर्मों की दिव्यता का तत्त्व समझ कर मेरी ही भाँति कर्मों में ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकार का त्याग कर निष्काम भाव से अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार कर्म किये गये हैं । इसलिए तू भी उपर्युक्त प्रकार के मेरे स्वरूपज्ञान के द्वारा पाप रहित होकर वैवस्वत मनु आदि राजर्षि पूर्वजों के द्वारा आचरित अत्यन्त प्राचीन कर्म को-जो उस काल में मेरे द्वारा उनको बतलाये हुए, आगे कहे जाने वाले कर्म को ही कर । मुमुक्षु का लक्षण बृहन्नारदीय पुराण में इस प्रकार

कहा गया है-

रागद्वेषविहीनो यः शमादिगुणसंयुतः ।
हरिध्यानपरो नित्यं मुमुक्षुरभिधीयते ॥ (वृ. ना. पु. १।३३।५१)

जो रागद्वेष से रहित, शमदमादिगुण सम्पन्न एवं नित्य भगवान् नारायण का ध्यान-परायण है, उसे मुमुक्षु कहते हैं ।।५२।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।

अन्वय :- **कर्म किं अकर्म किम् इति अत्र कवयः अपि मोहिताः तत् कर्म ते प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे ।**

अर्थ :- कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? इस प्रकार इस विषय में (अतिक्रान्त द्रष्टा) कवि यानी विद्वान् भी मोहित हैं । (इससे) वह कर्म तुझे भलीभाँति बताऊँगा जिसे जानकर तू अशुभ (यानी संसार-बन्धन) से मुक्त हो जाओगे ।

व्याख्या :- कर्मों की दुर्विज्ञेयता बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि मुमुक्षु पुरुष के लिये आचरण करने योग्य कर्म का क्या स्वरूप है और अकर्म का क्या स्वरूप है ? यहाँ 'कर्म' शब्द से फलाभिसन्धि-रहित भगवदाराधना रूप कर्म विवक्षित है और 'अकर्म' शब्द से कर्ता आत्मा का यथार्थ स्वरूप ज्ञान बतलाया गया है । अभिप्राय यह है कि आचरण योग्य कर्म का और उसके अन्तर्गत आत्मज्ञान का क्या स्वरूप है । काव्य रचना करने वाले को कवि कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि जो अतिक्रान्तदर्शी कवि वाल्मीकि महर्षि, शुक्राचार्य आदि हैं वे भी इन दोनों बातों को जानने में मोहग्रस्त हैं, अर्थात् इन्हें यथार्थ रूप से नहीं जानते । वाल्मीकि ने काव्य की रचना की है इसलिए कवि हैं, क्योंकि लिखा है कि-

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥ (वा. रा. का. १ स. २ श्लो. ३५)

इस रामायण काव्य में आपकी एक भी बात झूठी नहीं होगी ।।३५।।

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ।
तथा सर्गशतान्पंच षट् काण्डानि तथोत्तरम् ॥ (वा. रा. १।४।२)

वाल्मीकि महर्षि ने श्रीरामायण में चौबीस हजार श्लोकों को तथा पाँच सौ सर्गों को और बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध, उत्तर इन सात काण्डों को कहा है ।।२।। तथा-

काव्यं रामयणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् । (वा. पु. १।४।७)

महाकाव्य श्रीरामायण सम्पूर्ण सीता जी का महच्चरित्र है ।।७।।

रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थ-सम्मतम् ॥

(स्कन्द. उत्तर खंड रामा. अ. ५ श्लो. ६४)

सम्पूर्ण वेदों के अर्थ से सम्मत रामायण आदि काव्य है ॥६४॥ शुक्राचार्य कवि हैं । जैसा भगवान् स्वयं कहते हैं-'**कवीनामुशना कविः**' (गी. १०।३७) कवियों में मैं शुक्राचार्य कवि हूँ ॥३७॥ शुक्राचार्य ने 'शुक्रनीति' बनायी है । शुक्राचार्य भार्गवों के अधिपति, सब विद्याओं में विशारद, संजीवनी विद्या के जानने वाले, कवियों में प्रधान, महान् बुद्धिमान् और परम नीति-निपुण हैं । काव्य के लक्षण आदि के विषय में जिनको जानना हो उन्हें 'काव्यप्रकाश' और 'रस-गंगाधर' ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिए । इस प्रकार जिसके अन्तर्गत ज्ञान है ऐसा जो कर्म है, वह मैं तुझसे कहूँगा । जिसको जानकर तू संसार-बन्धन से मुक्त हो जायगा क्योंकि कर्तव्य कर्म के ज्ञान का फल उसका अनुष्ठान करना ही है 'यद् ज्ञात्वा' से तात्पर्य आचरण करने से है, क्योंकि जानना वही है जो आचरण में लाया जाय । भगवान् संकेत करते हैं कि यद्यपि मैं बहुत पहले इस बात को कह चुका हूँ फिर भी मैं और आगे कहूँगा । उसे सुनकर आचरण में लाना ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

अन्वय :- **कर्मणः अपि बोद्धव्यम् च अकर्मणः बोद्धव्यं च विकर्मणः बोद्धव्यं हि कर्मणः गतिः गहना ।**

अर्थ :- कर्म के विषय में भी जानना चाहिये और अकर्म (ज्ञान) के विषय में भी जानना चाहिये तथा विकर्म के विषय में भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति गहन (यानी समझ में अति कठिन) है-

व्याख्या :- कर्म जानने की कठिनता को बताते हुए भगवान् कहते हैं कि चूँकि मोक्ष के साधनभूत शास्त्रजनित 'कर्म' के स्वरूप के विषय में भी जानने योग्य है । नित्य, नैमित्तिक और काम्य रूप से, तथा उनके साधन द्रव्योपार्जनादि रूप से विविध भावों को प्राप्त कर्म विकर्म कहलाते हैं । उस विकर्म के विषय में भी जानने योग्य है और (अकर्म) ज्ञान के विषय में भी जानने योग्य है, क्योंकि मुमुक्षु पुरुषों के कर्म की गति बड़ी गहन है-(समझने में बड़ी कठिन है) । विकर्म के विषय में जानने योग्य है- नित्यकर्म जैसे **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत्'** प्रति दिन संध्योपासना करनी चाहिए ॥ नैमितिक कर्म जैसे **'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत्'** (कात्या. श्रौ. सू. ४।२।४७) अमावस्या पूर्णिमा के दर्श और पौर्णमास यज्ञ करें ॥४७॥ काम्य कर्म जैसे **'पुत्रेष्ट्या पुत्रकामो यजेत्'** पुत्र की कामना वाला पुत्रेष्टियाग करे। द्रव्योपार्जनादि कर्मों में फलभेद जनित विविधता को छोड़कर एकमात्र मोक्ष रूप फल को लक्ष्य करके शास्त्र की एकार्थता को समझना । इस बात को विशेषरूप से भगवान् पहले ही कह चुके हैं ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ (गी. २।४१)

कुरुनन्दन ! इस शास्त्रीय कर्म में निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है और निश्चयहीन मनुष्यों की बुद्धियाँ अनन्त एवं बहुत शाखाओं वाली होती हैं ॥४१॥ यहाँ शास्त्रीय सभी कर्मों में व्यवसायात्मिका बुद्धि एक है । मुमुक्षु पुरुषों द्वारा किये जाने वाले कर्मों में होने वाली बुद्धि को 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' कहते हैं । अतएव अव्यवसायी पुरुषों की बुद्धियाँ अनन्त और

बहुशाखा वाली होती हैं । कहने का अभिप्राय यह होता है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मों में जो प्रधान और अवान्तर फल श्रुति में प्रतिपादित है उन सबका परित्याग करके मोक्षरूप फल के लिये उसीको शास्त्र का एकमात्र अभिप्राय जानकर समस्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए तथा जो स्ववर्णोचित काम्य कर्म हैं, उनके फल को छोड़कर मोक्ष रूप फल के साधनरूप में नित्य और नैमित्तिक कर्मों के साथ उनकी एकता करके उनका भी यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिए ।।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।१८।।

अन्वय :- **यः कर्मणि अकर्म पश्येत् च यः अकर्मणि कर्म, सः मनुष्येषु बुद्धिमान्, सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।**

अर्थ :- जो पुरुष कर्म में अकर्म (आत्मज्ञान) और अकर्म (ज्ञान) में कर्म देखे, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही युक्त है, (तथा) सब कर्मों को करनेवाला है ।

व्याख्या:- **'अकर्म'** शब्द से यहाँ कर्म से अतिरिक्त, प्रकरण में आया हुआ आत्मज्ञान कहा गया है । किये जाने वाले कर्म में ही जो आत्मज्ञान देखता है और वर्तमान आत्मज्ञान में ही जो कर्म देखता है, इस कथन का अभिप्राय यह है कि क्रियमाण कर्म को ही, उसमें आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुसन्धान रहने के कारण जो ज्ञान स्वरूप समझता है और कर्मों के अन्तर्गत आजाने के कारण उस ज्ञान को जो कर्मस्वरूप समझता है (वह ठीक समझता है), क्योंकि क्रियमाण कर्म में कर्तारूप आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव करते रहने से ये दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं । इस प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान जिसके अन्तर्गत है, ऐसे कर्म को जो समझता है, वह बुद्धिमान् है, यानी समस्त शास्त्र के अभिप्राय को जानने वाला है । वह मनुष्यों में युक्त यानी मोक्ष का अधिकारी है और वही सब कर्मों को करने वाला है; अर्थात् समस्त शास्त्र के अभिप्राय के अनुसार चलने वाला है ।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।१९।।

अन्वय :- **यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः तम् ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम् बुधाःपण्डितं आहुः ।**

अर्थ :- जिसके सम्पूर्ण (कर्मों के) आरम्भ कामना और संकल्प से रहित हैं, उस ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए कर्मोंवाले पुरुष को ज्ञानी या बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं ।

व्याख्या:- प्रत्यक्ष क्रियमाण कर्म की ज्ञानस्वरूपता कैसे सिद्ध होती है इसे बताते हुए भगवान् कहते हैं कि जिस मुमुक्षु पुरुष के द्रव्योपार्जनादि लौकिक कर्मों सहित नित्य अग्नि-होत्रादि, नैमित्तिक-दर्शपौर्णमासादि और काम्यरूप स्वर्गकामादि सभी कर्म-समारम्भ फलासक्ति रहित और संकल्प से भी रहित होते हैं । प्रकृति और प्रकृति के गुणों के साथ आत्मा की एकता करके समझने का नाम 'संकल्प' है, पर उसके कर्म प्रकृति से पृथक् आत्मस्वरूप के अनुसन्धान पूर्वक किये जाने के कारण उस (संकल्प) से रहित होते हैं । इस प्रकार कर्म करते हुए, कर्मान्तर्गत आत्मा के यथार्थ स्वरूप-ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा प्राचीन कर्मों को भस्म कर देने वाले उस मुमुक्षु को तत्त्वज्ञ पुरुष पण्डित कहते हैं । इसलिए कर्मों की ज्ञानरूपता सिद्ध होती है । पण्डित का लक्षण अन्यत्र लिखा है-

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यःपश्यति स पण्डितः ॥

दूसरे की स्त्रियों में माता के समान, तथा दूसरे के द्रव्यों में मिट्टी के ढेले के समान और सब भूत प्राणियों में अपने समान जो देखता है, वह पण्डित है ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

अन्वय :- **कर्मफलासङ्गम् त्यक्त्वा नित्यतृप्तः निराश्रयः सः कर्मणि अभिप्रवृत्तःअपि किञ्चित् एव न करोति ।**

अर्थ :- कर्मफल की आसक्ति को त्याग कर नित्य (यानी नित्यवस्तु 'आत्मा' में ही) तृप्त और निराश्रय (यानी प्रकृति के आश्रय से रहित, (ऐसा) वह व्यक्ति कर्म में भलीभाँति प्रवृत्त हुआ कुछ भी नहीं करता है ।

व्याख्या :- ऐसा पुरुष नित्य आत्मा में ही संतुष्ट रहता है । आत्मा की नित्यता श्रुति भी कहती है -

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् (श्वे. उ. ६।१३)

जो नित्यों का भी नित्य है, चेतनों का भी चेतन है ॥१३॥ तथा गीता में भी भगवान् ने कहा है- **'अविनाशी तु तद्विद्धि'** (गी. २।१७) उस चेतन आत्मतत्त्व को तू अविनाशी जान ॥१७॥ तथा वह अस्थिर प्रकृति में आश्रय बुद्धि नहीं रखता है, अर्थात् प्रकृति और प्रकृति-सम्बन्धी वस्तु के अधीन नहीं होता । ऐसा वह कर्मपरायण होकर कर्म में लगा हुआ भी कुछ भी कर्म नहीं करता । अभिप्राय यह कि वह तो कर्म के नाम पर ज्ञान का ही अभ्यास करता है ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

अन्वय :- **नीराशीः यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषम् न आप्नोति ।**

अर्थ :- आशा (यानी फलासक्ति) रहित जीते हुए चित्त और आत्मा (मन) वाला, सब परिग्रह का त्यागी पुरुष केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप (संसार) को प्राप्त नहीं होता ।

व्याख्या :- कर्मों की ज्ञानस्वरूपता को ही स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं कि जो किसी भी कर्म से या मनुष्य से किसी प्रकार के भोग की प्राप्ति की किञ्चिन्मात्र भी आशा नहीं रखता, अर्थात् फलाभिसन्धि से शून्य होकर भगवान् से अतिरिक्त किसी की आशा नहीं करता । क्योंकि कहा भी गया है-

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥ (श्रीमद्भा ११।८।४४)

सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है, क्योंकि पिङ्गला वेश्या ने जब पुरुष की आशा त्याग दी, तभी वह सुख से सो सकी ॥४४॥ और जो चित्त और मन को जीत चुका है । अभिप्राय यह कि

जिसके चित्त और मन में राग-द्वेष न होने के कारण उनमें शब्दादि विषयों के सङ्ग का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता तथा एकमात्र आत्मा में ही अपना प्रयोजन समझने के कारण जिसने प्रकृति और प्राकृत वस्तुओं में ममता रहित होकर समस्त भोग सामग्रियों के संग्रह का भलीभाँति त्याग कर दिया है, क्योंकि कहा गया है कि-

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम् ।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् सस्त्वकिंचनः ॥ (श्रीमद्भा ११।६।१)

राजन् ! मनुष्यों को जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकट्ठा करना ही उनके दुःख का कारण है । जो बुद्धिमान् पुरुष यह बात समझकर अकिंचन भाव से रहता है-शरीर की तो बात ही अलग मन से भी किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता-उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है ।।१।। उपर्युक्त लक्षणों वाला पुरुष केवल शौच-स्नान, खान-पान और शयन आदि शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप को यानी संसार को प्राप्त नहीं होता । अभिप्राय यह है कि ज्ञाननिष्ठा के व्यवधान से रहित केवल इस प्रकार के कर्मयोग से ही वह आत्मा का दर्शन कर लेता है । इस प्रकार कर्म में ही आत्मज्ञान को देख लेता है ।।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।२२।।

अन्वय :- **यदृच्छालाभसंतुष्टः द्वन्द्वातीतः विमत्सरः सिद्धौ च असिद्धौ समः, कृत्वा अपि न निबध्यते ।**

अर्थ :- यदृच्छा-लाभ से सन्तुष्ट (यानी बिना किसी चेष्टा के अपने आप यानी सहज प्राप्त वस्तु से ही संतुष्ट) द्वन्द्वों से रहित, मत्सरतारहित (यानी ईर्ष्यारहित), सिद्धि और असिद्धि में समान पुरुष कर्म करके भी नहीं बँधता है ।

व्याख्या :- जो बिना किसी चेष्टा के अपने आप प्राप्त हुई केवल शरीरधारणोपयोगी वस्तु में ही सन्तुष्ट है । जैसा श्रीमद्भागवत में कहा गया है -

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ (श्रीमद्भा. ११।८।२)

बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल जाय वह चाहे रूखा-सूखा हो चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक हो या थोड़ा-बुद्धिमान् पुरुष अजगर के समान-उसे ही खाकर जीवन निर्वाह कर ले और उदासीन रहे ।।२।। तथा साधन की समाप्ति पर्यन्त अनिवार्य-सर्दी-गर्मी आदि को सहता है और अनिष्ट प्राप्ति में अपने ही कर्मों को हेतु मानकर दूसरों के प्रति मत्सरता (डाह या क्रोध) नहीं करता तथा युद्धादि कर्मों में जय-पराजयादिरूप सिद्धि-असिद्धि में समुचित रहता है, ऐसा पुरुष केवल कर्म करके भी ज्ञाननिष्ठा के बिना भी बँधता नहीं-संसार को प्राप्त नहीं होता । वह उसी कर्म से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।२३।।

अन्वय :- **गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः यज्ञाय आचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।**

अर्थ :- आसक्ति रहित, मुक्त (सभी परिग्रहों से छुटे हुए) आत्मज्ञान में स्थित चित्तवाले और यज्ञ के लिए आचरण करने वाले पुरुष के कर्म पूर्णतया (यानी समग्र रूप में) विलीन हो जाते हैं ।

व्याख्या :- मन के आत्मविषयक ज्ञान में स्थित हो जाने के कारण आत्मा से अतिरिक्त अन्य पदार्थ में जिसकी आसक्ति नहीं रह गयी है और इसी कारण से जो समस्त परिग्रहों से सर्वथा छूटा हुआ है तथा पूर्वोक्त लक्षणों वाले यज्ञादि कर्मों के सम्पादन में लगा है, ऐसे पुरुष के बन्धन के हेतुभूत प्राचीन कर्म समग्र लीन हो जाते हैं - (सब के सब) निःशेष रूप से नष्ट हो जाते हैं । यहाँ **'मुक्तस्य'** पद का तात्पर्य प्रकृति और प्राकृत पदार्थों से रहित होना है । यज्ञ के विषय में लिखा है कि-

यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः । याज्ञ्यो भवतीति वा
यजुर्भिरन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यव यजूँष्येनं नयन्तीति वा । (निरुक्त ३।४।१६)

यज्ञ क्यों कहलाता है ? यज् धातु का अर्थ देवपूजा आदि लोक और वेद में प्रसिद्ध ही है, ऐसा निरुक्त के विद्वान् कहते हैं, अथवा जिस कर्म में लोग यजमान से अन्नादिक की याचना करते हैं, अथवा यजमान ही देवताओं से वर्षा आदि की प्रार्थना करता है, अथवा देवता ही यजमान से हवि की याचना करते हैं, उस कर्म को 'यज्ञ' कहते हैं । अथवा कृष्ण यजुर्वेद के मन्त्रों की जिसमें प्रधानता हो उसे यज्ञ कहते हैं । यज्ञ में यजुर्वेद के मन्त्रों का अधिक उपयोग होता है ।।१६।। यज्ञ का लक्षण बताया गया है -

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा ।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते ।। (मत्स्यपुराण १४४।४४)

जिस कर्म-विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विक्, और दक्षिणा-इन पाँचों का संयोग हो, उसे यज्ञ कहते हैं ।।४४।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।२४।।

अन्वय :- **अर्पणम् ब्रह्म, हविः ब्रह्म ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन गन्तव्यम् ब्रह्म एव ।**

अर्थ :- अर्पण (यानी जिससे आहुति का अर्पण किया जाय, वह स्रुवा इत्यादि) ब्रह्म है हवि (यानी हवनीय पदार्थ) ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्नि में ब्रह्मरूप कर्ता द्वारा हवन किया गया है । (इस प्रकार निश्चय करने वाले) ब्रह्मकर्म समाधि पुरुष के द्वारा प्राप्त होने योग्य (अर्थात् गन्तव्य) ब्रह्म ही है ।

व्याख्या :- प्रकृति के संसर्ग से सर्वथा रहित आत्मस्वरूप को समझते हुए कर्म करने से वे कर्म ज्ञानरूप हो जाते हैं, यह कहा गया । अब, अङ्गों सहित समस्त कर्मों को परब्रह्मरूप परम पुरुष का स्वरूप समझते हुए करने से भी वे ज्ञान

स्वरूप हो जाते हैं, यह बताते हुए भगवान् कहते हैं कि - जिसके द्वारा हवि (हवन सामग्री) (अग्नि में) अर्पित की जाय उस स्रुवा आदि के अर्पण कहते हैं। 'अर्प्यते अनेन इति अर्पणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अर्पणम्' पद का अर्थ जिसके द्वारा घृत आदि द्रव्य अग्नि में छोड़े जाते हैं, ऐसे स्रुवा को अर्पण कहते हैं। स्रुवा के विषय में लिखा है-

खादिरःस्रुवः (का. श्रौ. सू. १।३।३३)
अरत्निमात्रः स्रुवोऽङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करः। (का. श्रौ. सू. १।३।३३)

खादिरस्य स्रुवः कार्यो हस्तमात्रप्रमाणतः।
अंगुष्ठपर्वखातं स्यात् सर्वकामार्थसिद्धये॥

एक हाथ लम्बा (चौबीस अंगुल का) खैर की लकड़ी का स्रुवा बनाना चाहिए। वह अंगुष्ठ के पर्व के सदृश गहरा (अंगूठे के पोरुवे के सदृश गहरा) होता है, जो समस्त कामना की सिद्धि के लिये कहा गया है॥ स्रुवा के धारण करने के सम्बन्ध में बताया गया है-

कनिष्ठाङ्गुलिमानेन चतुर्विंशतिकाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलं परित्यज्य अग्रे चैव द्विरष्टकम्॥
चतुरङ्गुलं च तन्मध्ये धारयेच्छंखमुद्रया॥ (मत्स्यपुराण)

कनिष्ठिका अंगुली के मान से (नाप से) चौबीस अंगुली की स्रुवा होती है। उसके आगे चार अंगुल और पीछे मूल की ओर सोलह अंगुल छोड़कर चार अंगुल का उसका जो मध्य भाग शेष रहता है उसे शंखमुद्रा से पकड़े। स्रुवा के दण्ड का पाँच भाग करना चाहिए। पश्चात् उसका जो दूसरा भाग हो, उसी जगह स्रुवा को धारण करना चाहिए। शंखमुद्रा के विषय में बताया गया है कि-

तर्जनीं च बहिः कृत्वा कनिष्ठां च बहिस्ततः।
मध्यमाऽनामिकाऽङ्गुष्ठैः स्रुवं धारयते द्विजः॥ (संस्कार भास्कर)

तर्जनी अंगुली को तथा कनिष्ठिका अंगुली को बाहर कर मध्यमा अनामिका और अंगुष्ठा से ब्राह्मण स्रुवा को धारण करते हैं। वह (स्रुवा) ब्रह्म का कार्य होने से ब्रह्म ही है। ब्रह्म का लक्षण लिखा है कि-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म॥ (तैत्ति. उ. ३।१।१)

जिससे ये सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं तथा जो समस्त जीवों की रक्षा और संहार करता है तथा जिससे मोक्ष को प्राप्त करते हैं उसको जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है॥१॥ वेदान्त-दर्शन में भी लिखा है कि-**'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्र. सू. १।१।२) जिससे सम्पूर्ण चर अचररूप संसार की उत्पत्ति, पालन, संहार और मोक्ष होता है, वही ब्रह्म है॥२॥ ऐसा ब्रह्म जिस हवि का अर्पण है, उस हवि का नाम ब्रह्मार्पण है, इस प्रकार 'ब्रह्मार्पण' शब्द हवि का विशेषण है। हवि के विषय में लिखा है कि-

व्रीहीन् यवान्वा हविषि (कात्या. श्रौ. सू. १।९।१) तथा
होमं समारभेत् सर्पिर्यवव्रीहितिलादिना ॥ (अनुष्ठान प्रकाश)

इत्यादि श्रुति स्मृति-प्रमाणों से तिल, यव, चावल और घृत की ही हविर्द्रव्य संज्ञा सिद्ध होती है ॥ तथा -

तिलार्धं तण्डुलादेयास्तण्डुलार्धं यवास्तथा ।
यवार्धं शर्करा प्रोक्त तदर्धं गुग्गुलादिकम् ॥ (पांचरात्र)

तिल का आधा चावल तथा चावल का आधा जौ देना चाहिए और जौ का आधा शर्करा कही गई है तथा शर्करा का आधा गुग्गुल, गड़ी, छुहाड़ा, घृत आदि कहा गया है ॥ और चरु के विषय में लिखा है कि-

चरति होमादिकमस्मादसौ चरुः ओदनविशेषः ।

यह (होता) जिससे होम करता है वह चरु कहलाता है अर्थात् ओदन-विशेष (एक प्रकार का भात) ।

चरुर्वै देवानामन्नमोदनो हि चरुः । (श. ब्रा. ४।४।२।२१)

चरु देवताओं का अन्न है । ओदन (भात) को चरु कहते हैं ।।२१।।

अनिर्गतोष्मा सुस्विन्नो ह्यदग्धोऽकठिनश्चरुः ।
न चातिशिथिलः पाच्यो न च वीतरसो भवेत् ॥ (सार-संग्रह)

जिसकी उष्णता (गर्मी) निकल न गई हो अर्थात् गर्मागर्म जो खूब पका हो, जला न हो और कड़ा न हो वह चरु है । उसे इस तरह पकाना चाहिये जिससे वह न तो बहुत गीला रहे और न उसका गीलापन बिल्कुल चला जाय ॥ अन्यत्र हवि के विषय में कहा गया है कि-

तिलाक्षतयवाश्चापि शर्कराऽऽज्यं तथैव च ।
एतच्छाकल्यमित्याहुः पूर्वाचर्या महर्षयः ॥

तिल, चावल, जौ और घृत इन सभी को पूर्वाचार्य और महर्षियों ने शाकल्य कहा है । वह (हवि) स्वयं भी **ब्रह्म है-** ब्रह्मरूप है और ब्रह्मरूप कर्ताद्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में होम की गयी है । अग्नि भी ब्रह्म है क्योंकि कहा गया **है 'मुखादग्निरजायत'** (यजुर्वे. ३१ वाँ अध्याय श्रु. १२) मुख से अग्नि उत्पन्न हुई ।।१२।। इस प्रकार सभी कर्म ब्रह्मात्मक **होने** के कारण ब्रह्ममय ही हैं । जैसा श्रुति भी कहती है- **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा. उ. ३।१४।१) निश्चय यह सब **ब्रह्म** सर्व शरीरक हैं ।।१।। इस प्रकार जो समाधान (निश्चय) करता है, वह 'ब्रह्मकर्म समाधि' है । ऐसे ब्रह्मकर्म **समाधिरूप** के द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु भी ब्रह्म ही है । वह अपने को ब्रह्मात्मक समझता है, इसलिये उसका प्राप्तव्य **ब्रह्मरूप** पदार्थ भी आत्मस्वरूप ही है । अभिप्राय यह कि मुमुक्षु पुरुष के द्वारा किये हुए कर्म ये सब परब्रह्म के ही स्वरूप

हैं, इस भावना से युक्त होने के कारण ज्ञान स्वरूप हैं-आत्मसाक्षात्कार के प्रत्यक्ष साधन हैं, ज्ञान-निष्ठा के व्यावधान से नहीं ।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

अन्वय :- **अपरे योगिनः दैवम् यज्ञम् एव पर्युपासते, अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञेन एव यज्ञम् उपजुह्वति ।**

अर्थ :- अन्य योगी (कर्मयोगि-जन) देवपूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान करते हैं, दूसरे ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ का हवन करते हैं ।

व्याख्या :- **'यज्ञो हि श्रेष्ठम् कर्म'** (शत. ब्रा. १।७।१।१५) यज्ञ सबसे श्रेष्ठ कर्म है ॥५॥ श्रेष्ठतम यज्ञ कर्म बारह प्रकार का होता है । उसमें दो प्रकार के यज्ञ का वर्णन भगवान् इस श्लोक में करते हैं । निरुक्त में लिखा है कि-

तिस्त्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः
सूर्योद्युस्थानस्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ॥

(निरु. दैवतकां. अ. ७ खं. ५)

निरुक्त के अनुसार ये तीन प्रकार के देवता हैं । अग्नि देवता पृथ्वी स्थान में, वायु देवता और इन्द्र देवता अन्तरिक्ष स्थान में और सूर्य देवता द्युस्थान में हैं । इन देवताओं के महाभाग्य होने से एक-एक के बहुत से नाम होते हैं ॥५॥ भगवान् कहते हैं कि अन्य कर्मयोगी देव-सम्बन्धी देवार्चन रूप यज्ञ करते हैं । अर्थात् उपर्युक्त देवताओं के कारण रूप जो दिव्यदेव नारायण हैं-जैसा श्रुति भी कहती है, **'दिव्यो देव एको नारायणः'** (सुबालो. खं. ६) दिव्य देव एक नारायण हैं ॥ तथा **'मूलं हि विष्णुर्देवानाम्'** (श्रीमद्भा. १०।४।३६) देवताओं की जड़ विष्णु हैं ॥३६॥ इसके अनुसार नारायण देव की भलीभाँति सेवा करते हैं, उसीमें अपनी निष्ठा करते हैं । श्रुति भी आदेश देती है-

अर्चत प्रार्चतप्रियमेधासो अर्चन्तु । अर्चन्तु पुत्रका उत्पुरं न घृष्ण्वर्चत ॥

(ऋग्. अष्ट. ६ अ. ५ सू. ५८ श्रु. ८)

हे प्रिय मेध सम्बन्धी या प्रिय मेधा के गोत्रवाले ! तुम परमात्मा का पूजन करो । स्तुति विशेष से पूजन करो । तुम सब पूजन करो और पुत्र भी पूजा करें । जैसे घर्षणशील पुरुष को पूजते हैं, वैसे तुम पूजो ॥८॥ १-इस श्रुति के अनुसार श्रीबदरी नारायण धाम में **'देवर्षि नारद'** ने सब देवताओं के मूल नारायण के षोड़शोपचार से देवार्चन रूप यज्ञ किया है । पूजा के विषय में जिसको विशेष जानना हो वह मेरी बनायी **'महानारायण पूजा--विधि'** जो लक्ष्मीनारायण मन्दिर, चरित्रवान बक्सर से प्रकाशित है, देख लें । पहले यज्ञ का वर्णन कर अब भगवान् दूसरे यज्ञ का वर्णन करते हैं कि - अन्य कर्मयोगी ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ का हवन करते हैं-यज्ञस्वरूप ब्रह्मात्मक घृतादि पदार्थों का यज्ञसाधन रूप स्त्रुवा आदि से होम करते हैं । इस श्लोक में **'यज्ञम्'** पद का प्रयोग हवि में और **'यज्ञेन'** पद का प्रयोग स्त्रुवा आदि यज्ञ के साधन रूप पदार्थों में हुआ है । अभिप्राय यह कि कितने ही कर्मयोगी - **'ब्रह्मार्पण ब्रह्म हविः'** इस पूर्वोक्त न्याय से या हवनादि में निष्ठा करते हैं । स्त्रुवा आदि यज्ञपात्र के विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि-

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।

चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ (मनु. ५।११६)

चरूणां स्त्रुक्स्त्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।

सफ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥११७॥

यज्ञ कर्म में यज्ञ पात्रों की शुद्धि हस्त द्वारा मार्जन करने से और चमस तथा ग्रह नाम के पात्रों की शुद्धि जल से धोने से होती है ॥११६॥ चरु तथा स्त्रुक् और स्त्रुवा आदि यज्ञपात्रों की शुद्धि गर्म जल से और स्फ्य, शूर्प, शकट, मुसल और ओखली की शुद्धि जल के द्वारा प्रक्षालन से होती है ॥११७॥

चमस-चमत्यस्मिन्नसौ चमसः । पलाशादिकाष्ठनिर्मितो
यज्ञियपात्रविशेषः । तथा च कर्कः-

यह इसमें खाता है । पलाशादि काष्ठ से बनाया हुआ यज्ञीय पात्र विशेष को चमस कहते हैं । ऐसा ही कर्क ने कहा है-

स च चमसश्चतुरस्रो द्वादशांगुलदीर्घश्चतुरङ्गुलखातः सवृन्तश्च भवति । इति ।

वह चमस चारखुटा बारह अंगुल लम्बा चौड़ा चार अंगुल गहरा वृन्त के साथ होता है ॥

ग्रह--गृह्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या सोमाधारभूतं पात्रं ग्रहशब्देनाभिधीयते ।

'गृह्यते अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से सोम के आधारभूत पात्र को 'ग्रह' शब्द से कहा जाता है । यह भी पलाश के काष्ठ का होता है ॥

स्त्रुक्-पाणिप्रमाणवदना हंसास्यैकप्रणालिका ।

विलान्विता मूलदण्डा बाहुमात्रा शुभप्रदा ॥

हथेली के सदृश मुख हो, हंस के मुख की तरह नाली हो, छिद्र से युक्त हो, मूलदण्डवाली अर्थात् अग्रमुखवाली और बाहुमात्र (३६ अंगुली की) स्त्रुक् यज्ञ में शुभप्रद कही गयी है ।

स्फय-खड्गाकारोऽरत्निमात्रः खादिरः स्फ्यः प्रकीर्तितः ।

असुराणां विनाशाय वज्ररूपो मखे स्मृतः ॥

तलवार के आकार का अरत्निमात्र (चौबीस अंगुल का) खैर की लकड़ी का 'स्फ्य' कहा गया है, जो कि असुरों के विनाश के लिये वज्ररूप में यज्ञ में उपयुक्त होता है ।

शूर्प--शूर्प्यते धान्यादिकमनेनेति शूर्पः, श्रौतप्रयोगे सूर्पस्योपयोगो भवति' ।

धान्यादिक जिससे फटका जाता है, उसे शूर्प कहते हैं । श्रौत यज्ञ में शूर्प का उपयोग होता है ।

शकट--अनडुद्वहनकाष्ठनिर्मितं शकटशब्देनोच्यते ।

बैल से होने वाला काठ का बना हुआ शकट यानी बैलगाड़ी शब्द से कहा जाता है ।।

मुसल--धान्यकण्डनसमर्थं मुसलं काष्टपात्रम् । अथवा मुहुर्मुहुः सरति
व्रीह्यादिषु इति मुसलन् । उक्तं च यास्केन-'मुसलं मुहुः सरं भवति । (निरुक्त ६।२।३६)

धान को कूटने में समर्थ काष्ठपात्र को मुसल कहते हैं । अथवा बारबार धान्यादि पर जो गिरे उसे मुसल कहते हैं, इस बात को यास्काचार्य ने कहा है ।

ओखली--धान्यादिधारणसमर्थं उलूखलमित्युच्यते ।

धान्यादिधारण में जो समर्थ हो उसे उखल कहते हैं ।।

अथवा--ऊर्ध्वं खम् उलूखं तत् लाति गृह्णाति इति उलूखलम् ।
उलूखलशब्दस्य यास्केन तु अन्यथा निरुक्तिर्दर्शिता । यथा (निरुक्त ९।२।२१)

'उलूखलमुरुकरं वोर्करं वोर्ध्वखं वोषु मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुलूखलमभवत् ।
उरुकरं चैतदुलूखलमित्याचक्षतेऽपरोक्षेणेति च ब्राह्मणम् ।'

प्रणीता-प्रणीता वारणा ग्राह्यया द्वादशांगुलसम्मिता ।
खातेन हस्ततलवदाकृत्या पद्मपत्रवत् ।।

'वारण' (वरने की लकड़ी) काष्ठ का बारह अंगुल का 'प्रणीता पात्र' होता है । वह हथेली के सदृश खुदा हुआ कमल-पत्र की तरह होता है ।।' प्रोक्षणी-

वारणं पाणिमात्रं च द्वादशांगुलविस्तृतम् ।
पद्मपत्राकृतिर्वापि प्रोक्षणीपात्रमीरितम् ।। (कर्मप्रदीप)

वारण काष्ठ की हथेली के सदृश बारह अंगुल चौड़ा और कमल के पत्र के आकार का 'प्रोक्षणी पात्र' कहा गया है ।। २-उपर्युक्त शास्त्रानुसार सभी साधनों के साथ श्रीजगन्नाथ धाम में इन्द्रद्युम्न राजा ने इस ब्रह्मात्मक यज्ञ को किया है ।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।२६।।

अन्वय :- **अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति । अन्ये शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।**

अर्थ :- अन्य योगिजन (यानी कर्मयोगी) श्रोत्रादि इन्द्रियों को संयमरूप अग्नि में हवन करते हैं । दूसरे शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूप अग्नि में हवन किया करते हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् इन्द्रियसंयम रूप यज्ञ का और विषय हवन रूप यज्ञ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अन्य कर्मयोगी श्रोत्रादि इन्द्रियां जिसको भगवान् **'इन्द्रियाणि दशैकं च'** कहते हैं (गी. १३।५) श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन ये ग्यारह इन्द्रियाँ कही गयी हैं ।।५।। इसी को यहाँ श्रोत्रादि से कहते हैं । इन श्रोत्रादि इन्द्रियों को संयमरूप अग्नियों में हवन करते हैं अर्थात् संयम के लिये प्रयत्न किया करते हैं । तात्पर्य यह कि समस्त इन्द्रियों को वश में करके उनमें मन को विचलित करने की शक्ति न रहने देना तथा उन्हें सांसारिक भोगों में प्रवृत्त न होने देना । अग्नि के विषय में लिखा है कि - प्रदत्त हविर्द्रव्य को अग्नि के द्वारा भोजन करने के कारण अग्नि को 'देवताओं का मुख' कहा गया है-

अग्निर्वै देवानां मुखम् । (गोपथब्रा. उत्त. १।२३।१)
अग्निर्हि देवानां मुखम् । (शतपथब्रा. ३।७।४।१०)
अग्निर्वै देवतानां मुखम् । (शतपथब्रा. ३।६।१।६)
अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम् । (ऐतरेयब्रा. १।१।२)
अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम् । (काठकसंहिता ४।११४)
मुखं देवानामग्निः । (कपिष्ठल कठसंहिता ३१।२०)
देवानां मुखमग्निः । (ब्रह्मपुराण ८।१२६)
अग्निमुखा वै देवाः । (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।६।१।६)
अग्निमुखा वै देवाः । (ताड्यमहाब्राह्मण २५।१५।४)
अग्निमुखा एव देवाः । (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।१।८)

अग्नि के द्वारा भोजन करने वाले देवताओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि -

देवा अग्निमुखा अन्नमदन्ति, यस्यै कस्यै च देवतायै च जुह्वति,
अग्नावेव जुह्वति, अग्निमुखा हि तद्देवा अन्नमकुर्वत । (शतपथब्रा. ७।२।२।४)

स यदग्नौ जुहोति तद्देवेषु जुहोति । (शतपथ ब्रा. २।३।१।१६)

यदन्नं होमान् जुहोति, देवानेव तत् प्रीणाति । (शतपथ ब्रा. १३।२।१।१)

अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति । (शतपथब्रा ३।१।३।१)

ऋग्वेद और अथर्ववेद में लिखा है कि यज्ञ की अग्नि में डाला हुआ पदार्थ देवताओं को प्राप्त होता है । उपर्युक्त प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट है कि देवताओं के उद्देश्य से अग्नि में जो हवन किया जाता है, वह देवताओं के मुख में ही जाता है और उससे देवता तृप्त एवं प्रसन्न होते हैं । ३-पोरबन्दर यानी सुदामापुरी में श्रीकृष्ण प्रभु के सहाध्यायी

'सुदामा ब्राह्मण' ने इन्द्रिय संयम रूप यज्ञ किया है ।

अन्य कर्मयोगी शब्दादि विषयों का इन्द्रिय रूपी अग्नि में हवन करते हैं । शब्दादि विषय को भगवान् ने दूसरे अध्याय में **'मात्रास्पर्शास्तु'** (गी. २।१४) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों को 'मात्रा' पद से व्यक्त किया है ।।१४।। तथा इसी को **'पञ्चचेन्द्रियगोचरा:,** (गी. १३।५) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच इन्द्रियों के विषय हैं ।।५।। कह कर व्यक्त किया गया है । इस प्रकार यहाँ शब्दादि इन्द्रिय से तात्पर्य केवल ज्ञानेन्द्रिय के विषय में है । शब्दादि विषयों का इन्द्रिय रूपी अग्नि में हवन करने का अभिप्राय यह है कि शब्द का श्रोत्र में, स्पर्श का त्वचा में, रूप का नेत्र में, रस का रसना में तथा गन्ध का घ्राण में हवन करना अर्थात् इन्द्रियों की शब्दादि विषय-परायणता को रोकने का प्रयत्न करना । ४-श्रीकाशीपुर में **तुलाधार वैश्य** ने शब्दादि विषय का इन्द्रियाग्नि में हवन रूप यज्ञ किया है ।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।२७।।

अन्वय :- **अन्ये ज्ञानदीपिते आत्म-संयमयोगाग्नौ सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि च प्राणकर्माणि जुह्वति ।**

अर्थ :- दूसरे कर्मयोगी ज्ञान-दीपित (यानी ज्ञान से प्रज्वलित) आत्मसंयम रूप योगाग्नि में समस्त इन्द्रियों के कर्मों और प्राण के कर्मों का हवन करते हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् आत्मसंयमयोग रूप यज्ञ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि - अन्य कर्मयोगी ज्ञान से प्रदीप्त मन के संयमरूप योगाग्नि में समस्त इन्द्रियों के कर्मों का और प्राणादि के कर्मों का हवन करते हैं- मन से इन्द्रियों और प्राणों की कर्मपरायणता को रोकने का प्रयत्न करते हैं । यद्यपि भगवान् ने पाँचवें अध्याय में इनके कर्मों का सूक्ष्म रूप से संकेत किया है कि -

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।। (गी. ५।८)
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।। (गी. ५।९)

देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता ।।८।। बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, आँखें खोलता और मीचता हुआ भी ।।९।। और हम स्पष्ट देखते हैं कि - श्रोत्र का कर्म सुनना २-त्वचा का कर्म स्पर्श करना ३-नेत्र का कर्म देखना ४-रसना का कर्म बोलना ५-घ्राण का कर्म गंध लेना ६-वाक् का कर्म बोलना ७-हाथ का कर्म ग्रहण करना ८-पैर का कर्म चलना ९-गुदा का कर्म मलत्याग करना १०-उपस्थ का कर्म मूत्र त्याग करना है और ११-मन का कर्म संकल्प विकल्प करना है । प्राणादि के विषय में लिखा है कि-

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते मध्ये
समानः । एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति ।। (प्रश्नोप. प्र. ३ श्रु. ५)

मुख्य प्राण मलद्वार और मूत्रद्वार में अपान को रखता है, अपने आप प्राण मुख नासिका से निकलता हुआ नेत्र

और श्रोत्र में स्थित होता है तथा शरीर के मध्य भाग में समान रहता है । निश्चय करके यह समान वायु इस प्राणाग्नि में हवन किये हुए यानी भोजन किये हुये खाद्य अन्न को सब शरीर में समान रूप में पहुँचाती है ।।५।।

अत्रैकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्तति:
प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति । तासु व्यानश्चरति ।। (प्रश्नो प्र. ३ श्रु. ६)

इस हृदय में नाड़ियों का मूल रूप एक सौ प्रधान है । उन नाड़ियों में से एक एक नाड़ी में सौ शाखायें हैं । प्रत्येक शाखानाड़ी की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ होती हैं । उन बहत्तर करोड़ नाड़ियों में व्यान वायु विचरती है ।।६।।

अथैकयोर्ध्वं उदान: पुण्येन पुण्यं लोकं नयति ।
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।। (प्रश्नो. प्र. ३ श्रु. ७)

इसके अनन्तर बहत्तर करोड़ नाड़ियों से अलग सर्वश्रेष्ठ सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वमुख उदान वायु ऊपर की ओर विचरती है और पुण्य कर्म करके पुण्य स्वर्ग लोक को ले जाती है और पाप कर्म करके पाप यानी नरकादि लोक को ले जाती है और निश्चय करके पुण्य और पाप इन दोनों प्रकार के कर्म करके मनुष्यलोक को ले जाती है ।।७।। दस प्राणादि हैं । इसी दस प्राणादि को **'दशच्छदी'** (श्रीमद्भा. १०।२।२७) दस प्राण ही इसके (सनातन वृक्ष के) दस पत्ते हैं ।।२७।। कहकर वर्णन किया गया है । यहाँ पर 'ज्ञानदीपिते' कहकर भगवान् यह संकेत करते हैं कि प्रज्वलित अग्नि में हवन करना चाहिए । ५-मिथिला यानी जनकपुर में **'धर्मव्याध'** ने समस्त इन्द्रियों के और प्राणों के कर्मों का ज्ञानदीपित आत्मसंयमरूपी योगाग्नि में हवन किया है ।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतय: संशितव्रता: ।।२८।।

अन्वय :- **अपरे संशितव्रता: यतय: द्रव्ययज्ञा: तपोयज्ञा: तथा योगयज्ञा: च स्वाध्यायज्ञानयज्ञा: ।**

अर्थ :- दूसरे शंसितव्रत (दृढ़संकल्प वाले) यत्नशील कर्म योगी द्रव्य यज्ञ करने वाले, वैसे ही कई (व्रतादि रूप) तप यज्ञ करने वाले और कई योग (तीर्थ सेवन रूप) यज्ञ करने वाले और (दूसरे कई) स्वाध्याय (वेदाध्ययन) एवं ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान करने वाले हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, पवित्र तीर्थ-संयोग रूप योगयज्ञऔर स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ इन चार यज्ञों का वर्णन करते हैं । कितने ही कर्मयोगी न्याय से धनोपार्जन करके उसे देवार्चन में तथा प्राकार, गोपुर, मंडप, विद्यालय औषधालय, अनाथालय, गोशाला, कुएँ, तालाब आदि में द्रव्य लगाने का यत्न करते हैं । और दान में होम में यथाशक्ति द्रव्य को व्यय करते हैं । ये सभी द्रव्य यज्ञ करने वाले हैं । ६-उभय काबेरी मध्य श्रीरंगधाम में, श्री शार्ङ्ग-धनुष के अवतार दिव्यसूरि श्रीपरकाल स्वामी ने सात प्राकार, चतुरानन गोपुर सहस्र-स्तंभ का मण्डप बनवाकर तथा तदीयाराध न और श्रीवैष्णवों के लिए वस्त्र, भूषण, तिलक पेटी आदि देकर द्रव्य यज्ञ किया है । कितने ही तप-यज्ञ करने वाले हैं-कृच्छ्र, चान्द्रायण-उपवासादि में निष्ठा करते हैं । तप के विषय में लिखा है कि -

वेदोक्त-प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः ॥ (जबालदर्श. उ. खं. २।३)

वेदोक्त प्रकार से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखाना है उसी को बुधजन तप कहते हैं ।।३।। कृच्छ्र व्रत के विषय में लिखा है कि-

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहं भुंक्ते त्वयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ (अत्रिस्मृ. श्लो. ११७)

तीन दिन प्रात: काल में और तीन दिन सायंकाल में और तीन दिन बिना माँगे हुए जो मिले उसको भोजन करे, इसके पीछे तीन दिन तक उपवास करे, इन बारह दिनों में होने वाले व्रत को प्राजापत्य कहते हैं ।।११७।।

सायं तु द्वादशग्रासाः प्रातः पंचदश स्मृताः ।
अयाचितैश्चतुर्विंधं परैस्त्वनशनं स्मृतम् ॥११८॥

इस व्रत में सायंकाल के समय बारह ग्रास और प्रात:काल में पन्द्रह ग्रास और बिना मांगे हुए चौबीस ग्रास खाय, इसके पीछे तीन दिन तक उपवास करे ।।११८।।

कुक्कुटांडप्रमाणं स्याद्यावद्वास्यविशेन्मुखे ।
एतद् ग्रासं विजानीयाच्छुद्ध्यर्थं कायशोधनम् ॥११९॥

मुर्गे के अण्डे के समान या जितना सुखपूर्वक मुख में पैठ जाय इसी को ग्रास जानना । यह देह को शुद्ध करने वाला है ।।११९।। चान्द्रायण व्रत के विषय में लिखा है कि-

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ (मनु. ११।२१७)

मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय में लिखा है कि प्रात:काल, मध्याह्न काल और सायंकाल में स्नान करता हुआ पूर्णमासी के दिन पन्द्रह ग्रासों को खाकर कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के क्रम से एक-एक ग्रास घटावे । ऐसे चतुर्दशी को एक ग्रास भोजन करके अमावस्या को व्रत करे, फिर शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से लगा के एक-एक ग्रास बढ़ाता जाय, ऐसे पूर्णमासी को पुनः पन्द्रह ग्रास भोजन करे, इसको पिपीलिका मध्य नाम का चान्द्रायण कहते हैं ।।२१७।।

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥२१८॥

और यव मध्यनाम के चान्द्रायण में भी शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से एक-एक ग्रास को बढ़ाकर पूर्णमासी को पन्द्रह ग्रास करे, उसके पीछे कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से एक-एक ग्रास घटा करके अमावास्या को उपवास करे, इसको यव मध्य-नाम का चान्द्रायण कहते हैं ।।२१८।।

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥२१९॥

और एक महीने तक जो मध्याह्न के समय में प्रतिपादित आठ ग्रास भोजन करके दिन रात बिताता है उसको यति-चान्द्रायण कहते हैं ॥२१६॥

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्राः समाहिताः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥२२०॥

और प्रातःकाल चार ग्रास भोजन करे तथा सूर्य के अस्त होने पर चार ग्रास भोजन करे तो इसको शिशुचान्द्रायण मुनियों ने कहा है ॥२२०॥ तपस्या के फल के विषय में लिखा है कि-

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । (यो. १।२।४२)

तपस्या से अशुद्धि क्षय के द्वारा शरीर और इन्द्रिय सिद्ध हो जाते हैं ॥४३॥ ७-जाह्नवी गंगा के दक्षिण तट पर सिद्धाश्रम बक्सर चरित्र वन में ब्रह्मर्षि **श्रीविश्वामित्र महामुनि** ने तपोयज्ञ किया है । दूसरे कई योग यज्ञ करने वाले हैं-पवित्र तीर्थों में पवित्र स्थान प्राप्त करने में निष्ठा करते हैं । यहाँ कर्मनिष्ठा के भेद का प्रकरण होने से योग शब्द तीर्थ-प्राप्ति के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त है । कुछ लोग स्वमताभिनिवेश में पड़कर 'योग' का अर्थ अष्टांग योग करते हैं । परन्तु यह गीता के सिद्धान्त के विरुद्ध है, क्योंकि अष्टांग योग के आठ अंग हैं, जो इस प्रकार है -

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ (यो. १।२।२९)

१-यम २-नियम ३-आसन ४-प्राणायम ५-प्रत्याहार ६-धारणा ७-ध्यान और ८-समाधि ये आठ योग के अंग हैं ॥२६॥ इन आठ अंगों में दूसरे अंग का नाम नियम है । जिसके विषय में लिखा है कि-

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ (यो. १।२।३२)

१-शौच २-सन्तोष ३-तप ४-स्वाध्याय और ५-ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं ॥३२॥ इस 'नियम' में, तप और स्वाध्याय, नियम के अन्तर्गत कहा गया है । इससे सिद्ध होता है कि तप और स्वाध्याय अष्टांग योग के ही अन्तर्गत आते हैं । जब कि इस २८वें श्लोक में भगवान् ने **'तपोयज्ञाः' 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः'** कहकर ये दो अलग यज्ञ गिनाया है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'योगयज्ञाः' अष्टांग योग का वाचक नहीं है, क्योंकि यदि गीता का सिद्धान्त ऐसा होता तो तपोयज्ञ और स्वाध्यायज्ञानयज्ञ 'योगयज्ञाः' में ही गतार्थ हो जाते फिर अलग से वर्णन करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । और भी आगे तीन यज्ञ को भगवान् अलग वर्णन करते हैं जो अष्टांग योग के ही अन्तर्गत आने वाले चौथे अंग 'प्राणायाम' से सम्बन्धित हैं । जैसा इस श्लोक से मालूम हो जाता है कि-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ॥३०॥ (गी. ४।२९-३०)

अन्य नियताहारी प्राणयामपरायण पुरुष अपान में प्राण का हवन करके पूरकयज्ञ करते हैं, दूसरे प्राण में अपान का हवन करने रेचक यज्ञ करते हैं और अन्य कई प्राण अपान की गति रोक कर प्राणों का प्राणों में हवन करके कुंभक यज्ञ करते हैं ।।२६-३०।। इस प्रकार २८वें श्लोक में दो यज्ञ तथा २६वें एवं ३०वें तीन यज्ञ कुल मिलाकर ५यज्ञों का वर्णन अष्टांग योग से ही गतार्थ हो जायगा जो गीता के सिद्धान्त के विपरीत है । इससे सिद्ध हो जाता है कि इस श्लोक में **'योगयज्ञा:'** पद का अर्थ जो मैं 'पवित्र तीर्थों में संयोग करना, कहा हूँ, वही श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धान्तानुसार है । तीर्थ के विषय में लिखा है कि-

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिण: । (यजु. १६।६१)

हाथ में वज्रबाण लिये तरकस वाले जो श्रीरामलक्ष्मण आदि बक्सर चरित्रवन प्रभृति तीर्थों में घूमते हैं ।।६१।। अन्यत्र बताया गया है कि-

तिस्र: कोट्योर्धकोटी च तीर्थानि भुवनत्रये । (बृद्धहा. अ. ११ श्लो. २६२)

साढ़े तीन करोड़ तीर्थ तीनों भुवनों में हैं ।।२६२।। परन्तु ये सभी तीर्थ मनुष्यों से हो नहीं सकते, इससे परमकारुणिक दिव्यसूरियों ने १०८ प्रधान दिव्य देश यानी तीर्थ वर्णन किये हैं । जिन सज्जनों को इन १०८ तीर्थों के विषय में जानना हो उन्हें (पूर्व प्रकाशित) 'त्रिदण्डिव्याख्यान माला' के 'तृतीय भाग' का अवलोकन करना चाहिए ।

जिस तीर्थ में जाना चाहिए उस तीर्थ में जो प्रधान नदी या कुण्ड आदि हो उसमें मेरा बनाया हुआ **'यतीन्द्र धर्ममार्तण्ड'** के कथनानुसार नित्य क्रिया यानी स्नान, तिलक, सन्ध्यावन्दनादि कर्म करके दिव्य देश में जाना चाहिए और कमर में चादर आदि बाँधकर गरुडस्तम्भ के यहाँ दाहिने से साष्टांग प्रणिपात करना चाहिए । और सब सन्निधियों में कम से कम तुलसी पुष्प अर्चना और कुछ कदली, नारिकेल, मिश्री आदि का भोग लगवाकर कर्पूर से आरती करवानी चाहिए । जो विद्वान् हों उनको उस भगवान् की प्रपत्ति, मंगलाशासन और सुप्रभातम् आदि का पाठ करना चाहिए और जिनके अवतार स्थल तीर्थ में जायें उनके बनाये हुए प्रबन्ध या स्तोत्र का भी पाठ करना चाहिए । ८-श्रीद्वारिकाधाम तीर्थ से तीर्थ यात्र करते हुए वेंकटाद्रि तीर्थ में **श्रीशेषावतार बलराम** जी ने पवित्र तीर्थ संयोग रूप यज्ञ किया है ।

कितने ही स्वाध्याय के अभ्यास में लगे रहते हैं, कितने उसके अर्थज्ञान के अभ्यास में नियुक्त रहते हैं । स्वाध्याय के विषय में लिखा है कि -**'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:'** (यजु. रा. २।१५) स्वाध्याय (वेद) का अध्ययन करना चाहिए ।।१५।। व्रत के विषय में लिखा है कि-

व्रतं नाम वेदोक्त-विधि-निषेधानुष्ठाननैयत्यम् । (शा. अ. श्रु. २)

सर्वदा वेदोक्त विधि और निषेध का अनुष्ठान करना इसको व्रत कहते हैं ।।२।। स्वाध्याय के फल के विषय में कहा गया है कि-

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोग: (यो० १२।४४)

स्वाध्याय से इष्ट देवता का संयोग होता है ॥४४॥ स्वाध्याय का साहचर्य से इस श्लोक में 'ज्ञान' शब्द का **अर्थ** गीता का अध्ययन करना है । क्योंकि भगवद्‌गीता में लिखा है कि-

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ (गी. १८।७०)

जो हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन मात्र भी करेगा उससे मैं ज्ञानयज्ञ के द्वारा पूजित होऊँगा, ऐसी मेरी मति है ॥७०॥ ६-श्रीकाञ्ची पुरी में श्रीयादवप्रकाशाचार्य एकदण्डी स्वामी जी की सन्निधि में **भगवत्पाद श्रीमद्रामानुजाचार्य** स्वामी ने स्वाध्यायज्ञान-यज्ञ किया है । इससे विन्ध्याटवी में व्याध के वेष में उनको श्रीवरदराज भगवान् प्राप्त हुए हैं ।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अन्वय :- **तथा अपरे (नियताहाराः) प्राणायामपरायणाः अपाने प्राणं प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणे अपानं जुह्वति ।**

अर्थ :- (२९ और ३० युग्म श्लोक हैं, २९ के अर्थ करने में ३० वें श्लोक से 'नियताहाराः पद लेकर अर्थ होगा) और अन्य नियताहारी प्रणायाम-परायण (यानी प्राणायाम में निष्ठा रखने वाले) कर्म योगीअपान में प्राण और प्राण एवं अपान की गति रोककर प्राण में अपान का हवन करते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में दो यज्ञों का वर्णन करते हैं । शास्त्र में जो निश्चित आहार योगी के लिये बताया गया है उस आहार को करने वाले को 'नियताहारी' कहते हैं । निश्चित आहार के विषय में लिखा है कि-

अभ्यास-काले प्रथमं शस्तं क्षीराज्य-भोजनम् । (योगतत्त्वोपनिषद् श्रु. ४८)

पहले-पहले काल में दूध और घृत खाना श्रेष्ठ है ॥४८॥

गोधूम-मुद्‌ग-शाल्यन्न-योग-वृद्धिकरं विदुः ॥ (योगत. उ. श्रु. ४९)

गेहूँ, मूँग, चावल आदि शुद्ध अन्न योग को वृद्धि करने वाला जानना ॥४९॥ वह भी किस प्रकार आहार करना चाहिए कि मिताहार हो, जिसे भगवान् ने गीता में **'युक्ताहारविहारस्य'** (गी. ६।१७) परिमित आहार-विहार करने वाला ॥१७॥ कहा है । मिताहार के विषय में लिखा है कि-

मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेष-सुस्निग्ध-मधुराहारः ॥ (शाण्डि उ. श्रु. १)

पेट के चौथा भाग बरा के सुन्दर स्निग्ध और मीठा भोजन करना इसको मिताहार कहते हैं ॥१॥ इस भोजन को भगवान् ने आगे २७ वें अध्याय में-

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः । (गी. १७।८)

रसदार, चिकने, स्थायी और चित्त को प्रसन्न करने वाले आहार ।।१।। ऐसे नियताहारी पुरुष जो प्राणायाम में निष्ठा रखते हैं । प्राणायाम के विषय में लिखा है कि-

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । (यो. १।२।४६)

आसन सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद करना ही प्राणायाम है ।।४६।। तथा प्राणायाम के फल के विषय में कहा गया है-

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । (यो. १।२।५२)

प्राणायाम से आत्मप्रकाश का आवरण नष्ट हो जाता है ।।५२।। ऐसे कई कर्मयोगी अपान में प्राण का हवन करते हैं । तथा

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानञ्च षड्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम् ।। (योगचू. उ. श्रु. ४)

१-आधार चक्र जो गुदा द्वार है उसमें चार दल वाला कमल और २-स्वाधिष्ठान चक्र जो लिङ्गमूल है उसमें छः दल वाला कमल और ३-मणिपूर चक्र जो नाभिमूल है उसमें दस दल वाला कमल, और ४-अनाहत चक्र जो हृदय में है वहाँ पर बारह दल वाला कमल है ।।४।।

षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्त्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि ।।

५-विशुद्धचक्र जो कण्ठस्थान है वहाँ पर सोलह दल वाला कमल और ६-आज्ञा चक्र जो भ्रूमध्य में है वहाँ पर दो दल का कमल वर्तमान है । इसके ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र मार्ग है वहाँ पर हजार दल वाला कमल है ।।५।। इस प्रकार अनाहत चक्र हृदय में है, वहाँ की वायु को आधार चक्र जो गुदा पर है, वहाँ ले जाकर हवन करते हुये पूरक यज्ञ करते हैं । पूरक के विषय में लिखा है कि-

बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरकोहि सः । (जबालद. खं. उ. ६ श्रु. १३)

बाहर की वायु को खींचकर पेट की ओर समस्त शरीर को पूरण यानी भर देना इसको पूरक कहते हैं ।।१३।। तथा

इडया वायुमारोप्यो शनैः षोडशमात्रया । (योगत. उ. श्रु. ४१)

वाम नासिका से सोलह मात्रा काल पर्यन्त पूरक प्राणायाम करे ।।४१।। और मात्रा के विषय में लिखा है कि-

जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अंगुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते ॥ (योगत. उ. श्रु. ४०)

न तो शीघ्रता से और न तो विलम्ब से जंघा के चारो तरफ प्रदक्षिणा करके हाथ से एक चुटकी बजावे तो इसे मात्रा कहते है। ॥४०॥ पूरक प्राणायाम में मूलबन्ध करना चाहिए । मूलबन्ध के विषय में लिखा है कि-

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य पायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ (योगशि. उ. अ. १ श्रु.१०४)

पार्ष्णि से गुदा मार्ग को भली तरह पीड़ित करके वायु को बल से इस प्रकार बारंबार आकर्षण करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपर के भाग में पहुँच जाय यह मूलबन्ध कहा जाता है ॥१०४॥ सुषुम्ना के विषय में कहा गया है कि -

इडावामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ।
सषुम्ना मध्यदेशे तु ....॥ (योगचू. उ. श्रु. १८)

वाम नाक में इडा नाड़ी और दाहिने नाक में पिङ्गला नाड़ी और इन दोनों के बीच में सुषुम्ना नाड़ी रहती है ॥१८॥ १०-श्रीवेगवती नदी के तट पर श्रीकाञ्चीपुरी में तिरुवेक्का दिव्य देश है, जिसका संस्कृत में यथोक्तकारी दिव्य देश नाम है । उसमें श्रीपाञ्चजन्य शंखावतार दिव्यसूरि **श्रीसरोयोगी** ने पूरक यज्ञ को किया है ।

दूसरे नियताहारी प्राणायाम-परायण पुरुष प्राण में अपान का हवन यानी आधार चक्र में रहने वाली जो अपान वायु है उसे अनाहतचक्र में ले जाकर हवन करते हुये रेचक करते हैं । रेचक के विषय में लिखा है कि-

योबहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः । (जाबालद. उ. खं. ६ श्रु. १३)

शरीर के भीतर की वायु को निकाल देना इसको रेचक कहते हैं ॥१३॥ तथा -

रेचयेत्पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ॥ (योगता. उ. श्रु. ४२)

दाहिने नाक से बत्तीस मात्रा काल पर्यन्त रेचक प्राणायाम करें ॥४॥ रेचक में उड्डीयान बन्ध करना चाहिये । उड्डीयान के विषय में लिखा है कि -

रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डीयानकः ।
बन्धोयेनसुषुम्नायांप्राणस्तूड्डीयते युतः ॥ (योगशि. उ.अ. १ श्रु. १०६)

रेचक के आदि में उड्डीयान बन्ध करना चाहिये । जिस बन्ध से प्राणवायु सुषुम्ना नाड़ी में उड़ जाती है ॥१०६॥

तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥१०७॥

उसको योगी लोभ उड्डीयान बन्ध कहते हैं । सहज उड्डीयानबन्ध को गुरु के उपदेश से जो सदा ॥१०७॥

अभ्यसेदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणोभवेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि त्राणं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥१०८॥

बिना आलस्य से करता है वह वृद्ध भी तरुण के तुल्य आचरण करता है । नाभि के ऊपर और नीचे के पेट को सावधानी से पीठ में सटा दे तो इसको उड्डीयान कहते हैं ॥१०८॥

षणमासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥१०९॥

छः महीना इस बन्ध का बारंबार अभ्यास करे तो मृत्यु को जीतता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१०६॥ ११-समुद्र के तटपर तिरुक्कडलमलै दिव्य देश है । इसका संस्कृत में महाबलिपुरम् नाम है । इस दिव्यदेश में श्रीकौमोदकी गदावतार दिव्यसूरि **श्रीभूतयोगी** ने रेचक यज्ञ किया है ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अन्वय :- **अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति । एते सर्वे अपि यज्ञविदः यज्ञक्षपितकल्मषाः ।**

अर्थ :- अन्य कई नियताहारी (प्राणायाम-परायण पुरुष प्राण अपान की गति को रोककर) प्राणों को प्राणों में हवन करते हैं । (यानी 'कुम्भक' यज्ञ करते हैं) ये सभी ही यज्ञ को जानने वाले और यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर डालने वाले हैं ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में १२ वें अन्तिम कुंभक यज्ञ का वर्णन करते हैं । कुंभक के विषय में लिखा है कि-

प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥ (योगकुण्ड उ. अ. १ श्रु. १६)

बाहर और भीतर जो वायु आती जाती है उसको रोकने को कुंभक प्राणायाम कहते हैं ॥१६॥

स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥ (योगकु. उ. अ. १ श्रु. २०)

प्राण वायु का रोकना रूप जो कुम्भक है, वह दो प्रकार का है, एक सहित कुम्भक दूसरा केवल कुंभक और जब तक केवल कुम्भक न सिद्ध हो तबतक सहित कुंभक का अभ्यास करे ॥२०॥ अब सहित कुंभक को मैं कहता हूँ-

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका ।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहित-कुम्भकः ॥ (योगकु. उ. अ. १ श्रु. २१)

१-सूर्य भेदन २-उज्जायी ३-शीतल और ४-भस्त्रिका इन सबों से युक्त जो कुम्भक हो उसको सहित कुम्भक कहते हैं ॥२१॥ इन सबों के लक्षण और अनुष्ठान के विषय में लिखा है कि-

पवित्रे निर्जने देशे शर्करादि-विवर्जिते ।

धनुः प्रमाण-पर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥ (योगकु. उ. अ. १ श्रु. २२)

धनुष भर के अन्दर शीत उष्ण और जल न हो तथा कङ्कण पत्थर न हो ऐसे निर्जन देश में ।।२२।।

पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे ।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ।।२३।।

अत्यन्त उच्च या नीच न हो ऐसे पवित्र सुख देने वाले कोमल आसन पर बैठकर पद्मासन करके सरस्वती का चालन करे ।।२३।।

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥ (योगकु. १।२४)

दाहिने नाक से बाहर की वायु को धीरे-धीरे खींच करके पूरक करे इसके बाद यथाशक्ति कुंभक करके वाम नाक से रेचक करे अर्थात् धीरे-धीरे वायु को छोड़ दे ।।२४।।

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् ।।२५।।

इसको सूर्यभेदन कुम्भक कहते हैं, इसको बारंबार करना चाहिए ।।२५।।

चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ।।२५।।

यह सूर्यभेदन कुम्भक चार प्रकार के वात दोष को और पेट में पैदा हुआ जो कृमि-दोष है, उसको नष्ट करता है ।।२५।।

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।।२६।।

मुख को बन्द करके दोनों नाकों से धीरे-धीरे वायु को खींचे ।।२६।।

यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।।२७।।

जिसमें शब्द करती हुई वह वायु कण्ठ से हृदय पर्यन्त स्पर्श करे और पूर्ववत् दाहिने नाक से खींच कर वायु को यथाशक्ति कुंभक करे, वाम नाक से रेचक करे ।।२७।।

गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ।।२८।।

इसका नाम उज्जायी कुम्भक है । इसको चलते, बैठते सब काल में करना चाहिये ।

शीर्षोदिता मलहरं गलश्लेष्महरं परम् ।

रोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ।
नाडी जलोदरं धातु-गत-दोष-विनाशनम् ॥२९॥

यह उज्जायी कुम्भक सिर की गर्मी को हटाता है तथा गले के कफ रोग को दूर करता है और सम्पूर्ण रोगों को दूर करके जठराग्नि बढ़ाता है तथा नाड़ीगत जलोदर रोग को और समस्त धातुओं के दोषों को दूर करता है ॥२८॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु ।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधी ॥३०॥

पक्षी की चंचु के समान जीभ को मुख से कुछ बाहर निकाल कर जीभ से वायु को भीतर खींच इसके बाद पूर्ववत्कुम्भक करके धीरे-धीरे सुधी नाक के छेदों से रेचक करे तो इसको शीतली कुम्भक कहते हैं ॥३०॥

गुल्मप्लीहादिकान्दोषान् क्षयं पित्तं ज्वरतृषाम् ।
विषाणि शीतलीनाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥३१॥

यह शीतली कुम्भक गुमा प्लीहा आदि रोग ज्वर, पित्त, क्षय, क्षुधा, तृषा और सर्प आदि का विष इन सबों को नष्ट करता है ॥३१॥

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधी ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥३२॥

भले प्रकार पद्मासन को बाँध कर गर्दन और पेट को बराबर करके बुद्धिमान् मुख को रोककर धीरे-धीरे नाक से वायु को छोड़े ॥३२॥

यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनस्ततः ।
वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत् पद्मावधि मारुतम् ॥३३॥

जिसमें शब्द सहित वायु कण्ठ से मस्तक को स्पर्श करे फिर वेग से हृदय के कमल पर्यन्त वायु को पूर्ण करे ॥३३॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रावेगेन चाल्यते ॥३४॥

फिर उसी प्रकार जैसे लोहार की भाथी वेग से चलती है वैसे बराबर रेचक और पूरक करे ॥३४॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥३५॥

इस प्रकार अपने शरीर में स्थित पवन को जब तक देह में श्रम हो तब तक बुद्धिमानी से चलावे पश्चात् सूर्य नाड़ी से पूरक करे ॥३५॥

यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ।
धारयन्नासिकामध्य-तर्जनीभ्यां विना दृढम् ।।३६।।

जिसमें वायु से शीघ्र ही पेट भर जाय और पेट भर जाने पर तर्जनी और मध्यमा अंगुली को बचाकर अंगूठा, अनामिका और कनिष्ठिका इन अंगुलियों स नांकों के छिद्रों को बन्द करके ।।३६।। .

कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।।३७।।

कुम्भक करे पश्चात् वाम नासिका से रेचक करे इसका नाम भस्त्रिका कुम्भक है ।।३७।।

कुण्डली-बोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्राह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गल-नाशनम् ।।३८।।

कुण्डलिनी का ज्ञान और पवित्र सुख तथा पाप का नाश ब्रह्म नाड़ी के मुख में स्थित कफ आदि का भी भस्त्रा के करने से नाश होता है ।।३८।।

गुणत्रय-समुद्भूत-ग्रन्थित्रय-विभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ।।३९।।

और तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रन्थियों का नाश होता है, इससे भस्त्रा नाम के कुम्भक को अवश्य करना चाहिएँ ।।३९।। तथा-

प्रातर्मध्यं दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीति पर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ।। (योगत. उ. श्रु. ४३)

सूर्योदय से पहले १-प्रात:काल में और २-मध्याह्न काल में तथा ३-सायंकाल में और ४-अर्द्ध रात्रि में इन चारो समय में अस्सी-अस्सी कुम्भक करे ।।४३।।

प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ।। (योगत. उ. श्रु. ५१)

पहले-पहले कुम्भक प्राणायाम करने से शरीर में पसीना आता है उसको देह ही में मिला देना चाहिए ।।५१।।

ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः ।
कम्पोभवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ।।५२।।

इससे अधिक धीरे-धीरे वायु के रोकने का अभ्यास करने से आसनस्थ साधक का शरीर काँपता है ।।५२।।

ततऽधिकतराभ्यासाद्दर्दुरीस्वेन जायते ।
तथा च दर्दुरोभाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति ।।५३।।

इससे भी अधिक अभ्यास करने से बेंग (मेढ़क) के समान पृथ्वी पर कूद-कूद कर चलता है ।।५३।।

पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ।
ततोधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते ।।५४।।

पद्मासन में स्थित योगी और अधिक अभ्यास करने से भूतल पर तथैव चलता है । इससे भी अधिक अभ्यास करने से आकाश में चलता है ।।५४।। पद्मासन के विषय में लिखा है कि-

ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे ।
पद्मासनं लभेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम् ।। (शाण्डिल्योप उ. श्लो. ३)

हे शाण्डिल्य ! वाम जंघे पर दाहिने पैर को उत्तान रख करके दाहिने जंघे पर वाम पैर को उत्तान रखे, इसको पद्मासन कहते हैं । यह सब में श्रेष्ठ है ।।३।। कुम्भक प्राणायाम करते समय में जालन्धर बन्ध करना चाहिए । जालन्धर बन्ध के विषय में लिखा है -

कण्ठ-सङ्कोचरूपोऽसौ वायुमार्ग-निरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया ।। (योगशि. उ. अ. १ श्लो. ११०)

कण्ठ सङ्कोच और हवा रोकने वाला जालन्धर-बन्ध है । कण्ठ के बिल सङ्कोच करके ठुढ़ी को अपनी छाती पर दृढ़ रीति से स्थापित करे ।।११०।।

बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताप्यायकारकः ।।१११।।

तो अमृत को रोकने वाला इसको जालन्धर बन्ध कहते हैं ।।१११।। इस प्रकार प्राणों का प्राणों में हवन करते हैं, यानी कुम्भक यज्ञ करते हैं । ये सभी द्रव्य-यज्ञ से लेकर कुम्भक यज्ञ पर्यन्त जो अपने द्वारा किये जाने वाले कर्मयोग के १२ भेद हैं, उनमें लगे हुये ये सभी लोग पहले **'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा'** (गी. ३।१०) इस प्रकार बतलाये हुए महायज्ञादि सहित नित्य, नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञ को जाननेवाले हैं - उनमें निष्ठा रखने वाले हैं और इसी कारण पापों का नाश कर डालने वाले हैं । भगवत्पाद श्रीमद्रामानुजाचार्य स्वामी ने इस तीसवें श्लोक के भाष्य में, **'सहयज्ञैः प्रजाः सृष्ट्वा'** (गी. ३।१०) ऐसा पाठ लिखा है और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र कवितार्किक-केशरी श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी ने भी 'गीतार्थ संग्रह' के पच्चीसवें श्लोक की **'रक्षा'** नाम की व्याख्या में भी **'सहयज्ञैः प्रजाः सृष्ट्वा'** । (गी. ३।१०) ऐसा ही लिखा है । इससे श्रीसम्प्रदायावलम्बियों को यही पाठ मानना चाहिए । इस पाठ में पाणिनि महर्षि का **'सहयुक्तेऽप्रधाने'** (पा. व्या. २।३।१९) इस सूत्र से अप्रधान **'सह'** इस पद में **'यज्ञैः'** के योग में तृतीया विभक्ति हुई है । यह भी अनुकूलता है । 'सहयज्ञाः' इस पाठ में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है । इससे यह पाठ मायावादियों का प्रचार किया हुआ है । इस श्लोक में यज्ञ के द्वारा पाप का नाश होना बताया गया है, क्योंकि यज्ञ के विषय में लिखा है कि-

यज्ञं वष्टु धिया वसुः (शु.य. २०।८४)
यज्ञ से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है ।।८४।।

यज्ञो भुवनस्य नाभिः (शु. य. २०।६२)
यज्ञ ही समस्त ब्रह्माण्ड को बाँधनेवाला नाभि स्थान है ।।६२।।

यज्ञं वष्टु धिया वसुः । (समावेद, पूर्वा २।८।५)
यज्ञ से अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है ।।५।।

यज्ञ इन्द्रमवर्धयत् । (समावेद, पूर्वा २।१।७)
यज्ञ के द्वारा ही इन्द्रदेव समृद्धिशाली हुए ।।७।।

ज्योतिर्यज्ञस्य पवते । (समावेद, उत्तरा. ७।१।१)
यज्ञ की ज्योति मनुष्य को पवित्र करती है ।।१।।

यज्ञ विश्वस्य भुवनस्य नाभिः । (अथर्ववेद ६।१०।१४)
यज्ञ समस्त भुवनों का केन्द्रस्थान है ।।१४।।

यज्ञ इन्द्रमवर्धयत् । (अथर्ववेद २०।२७।५)
यज्ञ से इन्द्रदेव ने उन्नति की ।।५।।
यज्ञो हि देवानां महः । (शतपथब्रा. १।५।१।११)
यज्ञ ही देवताओं की विभूति है ।।११।।
यज्ञो वसुः । (शतपथब्रा. १।७।१।६)
यज्ञ ही ऐश्वर्य को देने वाला है ।।६।।
यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । (शतपथब्रा. १।६।२।५)
यज्ञ से ही सन्तति की उत्पत्ति होती है ।।५।।

मनुष्या एव हि यज्ञेनाप्नुवन्ति चन्द्रलोकम् । (शतपथ. ब्रा. ७।३।१।२०)

यज्ञ करने से मनुष्य चन्द्रलोक में जाते हैं ।।२०।।

यज्ञो वै देवानामात्मा । (शतपथ ब्रा. ६।३।२।७)
यज्ञ ही देवताओं की आत्मा (जीवन) है ।।७।।

यज्ञ उ देवानामात्मा । (शतपथ. ८।६।१।१२०)
यज्ञ ही देवताओं की आत्मा है ।।१२०।।

सर्वेषां देवानामात्मा यद् यज्ञः । (शतपथ. १३।३।२।१)
यज्ञ समस्त देवताओं की आत्मा है ।।१।।

यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति । (शतपथ. ब्रा. ६।४।१।२०)
यज्ञ ही समस्त प्राणियों का रक्षण (पालन) करता है ।।२०।।

सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद्।
यज्ञस्तस्य समृद्धिमनु यजमानः प्रजया पशुभिर्ऋद्ध्यते ॥ (शतपथब्रा. १४।३।२।१)

यज्ञ समस्त प्राणियों और समस्त देवताओं की आत्मा (जीवन) है । अतः यज्ञ करते रहने से यजमान सन्तति और पशु आदि से परिपूर्ण हो जाता है ।।१।।

यज्ञो वै भुवनम् । यज्ञ एव यजमानं प्रजया पशुभिः प्रथयति ॥
(तैत्तिरीयब्रा. ३।३।७)

यज्ञ ही भुवन (लोक) है । यज्ञ ही यजमान को सन्तति और पशु से समृद्ध करता है ।।७।।

यज्ञो वै भुवनेषु ज्येष्ठः । (शाङ्खायन ब्रा. २५।११)
यज्ञ ही समस्त भुवनों में श्रेष्ठ है ।।११।।

१२-समुद्र के तटपर मद्रास के मुहल्ला मैयलापुर में श्रीनन्दक खड्गावतार दिव्यसूरि **श्रीमहायोगी** ने कुम्भक यज्ञ किया है ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

अन्वय :- **यज्ञशिष्टामृतभुजः सनातनम् ब्रह्म याति । कुरुसत्तम ! अयज्ञस्य अयं लोकः न अस्ति अन्यः कुतः ?**

अर्थ :- यज्ञ से बचे हुए अमृत को खाने वाले (कर्मयोगी) सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञ-रहित पुरुष का यही लोक नहीं है तो फिर दूसरे (मोक्ष) की तो बात ही कहाँ से ?

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् यज्ञों के करने से होने वाले लाभ तथा न करने से होने वाली हानि को बतलाते हुए यज्ञ करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं । भगवान् पहले तीसरे अध्याय में कह चुके हैं कि-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । (गी. ३।१३)

यज्ञ से बचे हुए पदार्थों को खाने वाले सत्पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं ।।१३।। इस बात को पुष्ट करते हुये कहते हैं कि जो यज्ञ से बचे हुए अमृत को खाकर शरीर धारण करते हैं वे कर्मयोग में लगे हुए पुरुष ही सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं और जो महायज्ञादि सहित नित्य नैमित्तिक कर्म नहीं करने वाले हैं उनको यह प्राकृत (साधारण) लोक भी नहीं मिलता । अभिप्राय यह कि उसके प्राकृत लोक से सम्बन्ध रखने वाले धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ भी सिद्ध नहीं होते । इस प्रकार उसे सात्त्विक सुख नहीं मिलता बल्कि नाना प्रकार की भोग-वासना के कारण निरन्तर शोक और चिन्ताओं के सागर में ही डूबे रहना पड़ता है । फिर इनसे भिन्न मोक्षरूप पुरुषार्थ की तो बात ही क्या है ? शास्त्रों में मोक्ष को परम पुरुषार्थ बताकर उसकी स्तुति की जाने के कारण उससे अन्य पुरुषार्थों का यहाँ 'अयं लोकः' के नाम से निर्देश किया गया है, क्योंकि वे प्राकृत हैं ।। यज्ञ-रहित के विषय में लिखा है कि-

अयज्ञियो हतवर्चो भवति । (अथर्ववे. १२।२।३७)

यज्ञ न करने वाले पुरुष का तेज नष्ट हो जाता है ।।३७।।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।।३२।।

अन्वय :- **एवं बहुविधाः यज्ञाः ब्रह्मणः मुखे विततः तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि, एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।**

अर्थ :- इस तरह से बहुत प्रकार के यज्ञ (कर्मयोग) ब्रह्म के मुख में विस्तृत हैं उन सबों को कर्मजन्य जान, ऐसा जानकर तू मुक्त हो जायेगा ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि तुमको जो मैंने बारह प्रकार के यज्ञ बतलाये हैं, इतने ही यज्ञ नहीं हैं, किन्तु इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञ (कर्मयोग) ब्रह्म के मुख में विस्तृत हैं, अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति के साधनरूप में स्थित हैं । इस प्रकार जिनके लक्षणों और भेदों का वर्णन किया गया है, उन समस्त कर्मयोगों को तू प्रतिदिन किये जाने वाले नित्य, नैमित्तिक कर्मानुष्ठान से उत्पन्न जान । ऐसा जानकर और बतलाये हुए प्रकार से उनका अनुष्ठान करके तू मुक्त हो जायेगा । वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन मिलता है, उनमें पाँच प्रकार के ही यज्ञ प्रधान माने गये हैं-

स एष यज्ञः पञ्चविधः-अग्निहोत्रम्,
दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोम इति । (ऐतरेय ब्राह्मण)

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम-ये पाँच प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं ।। इन्हीं पाँच प्रकार के यज्ञों में श्रुतिप्रतिपादित वैदिक यज्ञों की समाप्ति हो जाती है । गौतम धर्म-सूत्र में यज्ञों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है-

''औपासनहोमः, वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासिकश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्तपाकयज्ञसंस्थाः । अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरुढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति सप्त हवियज्ञसंस्थाः । अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः उक्थ्यः षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, आप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः ।।'' (गौतमध. सू. ८।१८)

गौतमधर्मसूत्रकार ने पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ भेद से तीन प्रकार के यज्ञों का भेद दिखलाकर प्रत्येक के सात-सात भेद दिखला करके २१ प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया है । इसमें स्मार्त्त सात पाकयज्ञ-संस्थाओं का उल्लेख गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में मिलता है । अग्निहोत्र से लेकर सोमसंस्थान्त १४ यज्ञों का उल्लेख कात्यायनादि श्रौतसूत्रों में मिलता है । उपर्युक्त १४ वैदिक यज्ञ तथा ७ पाक यज्ञ के अतिरिक्त गृह्य-सूत्रों और धर्मसूत्रों में पञ्चमहायज्ञों का भी उल्लेख किया गया है जो कि नित्यकर्म और आवश्यक अनुष्ठेय माने जाते हैं । वे पञ्चमहायज्ञ ये हैं-

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिभौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।। (मनुस्मृति ३।७०)

१-ब्रह्मयज्ञ २-पितृयज्ञ ३-देवयज्ञ ४-भूतयज्ञ और ५-मनुष्य यज्ञ इन्हें पञ्चमहायज्ञ कहते हैं । वेदों के अध्ययनाध्यापन को **'ब्रह्मयज्ञ'** कहते हैं । अर्यमादि नित्य पितरों की तथा परलोकगामी नौमित्तिक पितरों को पिण्डप्रदानादि से किये जाने वाले सेवारूप यज्ञ को **'पितृयज्ञ'** कहते हैं । अपने इष्टदेव की उपासना के लिये परब्रह्म परमात्मा के निमित्त अग्नि में किये हुए यज्ञ को **'देवयज्ञ'** कहते हैं । कृमि, कीट, पतङ्ग और पशु आदि की सेवा को **'भूतयज्ञ'** कहते हैं । क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित मनुष्य के घर आ जाने पर उसकी भोजनादि से की जाने वाली सेवा को **'मनुष्य यज्ञ'** कहते हैं । ये पाँचों महायज्ञ अभी तक अविकल रूप में प्रचलित हैं ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

अन्वय :- **परंतप ! द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान् । पार्थ ! सर्वं कर्म अखिलं ज्ञाने परिसमाप्यते ।**

अर्थ :- हे परन्तप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है (यानी बढ़कर है) हे पार्थ ! सब कर्म पूर्णतया (अखिल ढंग से) ज्ञान में समाप्त होते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् यहाँ अर्जुन को दो सम्बोधन देकर यह बतलाते हैं कि पितृवंश और मातृवंश दोनों की शुद्धता से संतान शुद्ध होती है और उसी संतान में विवेक रहता है । रावण के मातृवंश ठीक न होने से और कंस की उत्पत्ति में वीर्य शुद्ध न होने से महर्षि विश्वश्रवा और राजा उग्रसेन की संतान शुद्ध नहीं हुई । कर्मों के अन्तर्गत ज्ञान होने के कारण कर्मों को ज्ञानस्वरूप बतलाया गया है । अब यह कहते हैं कि जिनके अन्तर्गत ज्ञान है, उन कर्मों में ज्ञान के अंश की प्रधानता है ।

अग्नि में विधिपूर्वक हवि का हवन करना, दान देना, मन्दिर, कूप आदि बनवाना जो द्रव्यमय यज्ञ है उसकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है । इस प्रकार ज्ञान और द्रव्य इन दोनों आकार वाले कर्मों में द्रव्यमय अंश की अपेक्षा ज्ञानमय अंश ही श्रेष्ठ है क्योंकि वेद-शास्त्रों में वर्णित समस्त कर्म और उससे अन्य जो कुछ भी उपादेय है, वह सबका सब ज्ञान में समाप्त हो जाता है । अर्थात् द्रव्यमय यज्ञ के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञान होता है और ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति होती है । इसलिये ज्ञानमय अंश ही श्रेष्ठ है । तब उन समस्त साधनों से प्राप्त होने वाले ज्ञान को कर्मों के अन्तर्गत मानकर जब उसका अभ्यास किया जाता है तब वह ज्ञान अभ्यास करते-करते क्रमशः प्राप्त होने योग्य दशा में आ जाता है । इससे यह शिक्षा देते हैं कि ज्ञानांश जो शरणागति है, उसमें निष्ठा करनी चाहिए ॥

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

अन्वय :- **तत् विद्धि, तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ते ज्ञानं उपदेक्ष्यन्ति ।**

अर्थ :- उसे (यानी उस आत्मविषयक ज्ञान) को तू (तत्त्वज्ञ ज्ञानियों) से सीखो । तत्त्व-द्रष्टा ज्ञानी साष्टांग प्राणिपात करने, (जिज्ञासु भाव से) प्रश्न करने से और सेवा करने से तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे ।

व्याख्या:- भगवान् जिस ज्ञान का उपदेश पहले **'अविनाशी तु तद् विद्धि'** (गी. २।१७) (उस चेतन आत्मतत्त्व को तू अविनाशी जान ।।१७।।) यहाँ से लेकर-

एषा तेऽभिहिता सांख्ये । (गी. २।३९)

यह बुद्धि तूझे सांख्य के विषय में कह दी गयी ।।३९।। यहाँ तक दे चुके हैं, उस आत्मविषयक ज्ञान को तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जा कर समझ । तत्त्वदर्शी ज्ञानी उसे कहते हैं जो -

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा । (श्वे. उ. १।१२)

भोक्ता, (चित्) भोग्य (अचित्) और प्रेरक (ईश्वर) को पृथक् जानकर ।।१२।। अर्थात् जीव, माया और ब्रह्म तत्त्व को जानने वाले हैं उनके पास जाकर समझ । उस ज्ञान को प्राप्त करने का तरीका बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि श्रद्धाभक्तिपूर्वक सरलता से साष्टांग प्रणाम करने से । साष्टांग प्रणाम के विषय में लिखा है कि-

उरसा, शिरसा, वाचा, मनसा, चक्षुषा तथा ।
पद्भ्यां, कराभ्यां, जानुभ्यां प्रणामोऽष्टांगमुच्यते ।।

उर से, सिर से, वाणी से, मन से, दृष्टि से, दोनों पैरों से, दोनों हाथों से, दोनों जंघे से जो भूतल पर पड़कर (दाहिने से पड़कर) प्रणाम किया जाता है उसे साष्टांग प्रणाम कहते हैं ।। उसी को सत्यनारायण व्रत कथा में **'ननाम दण्डवत् भूमौ''** भूमि में दण्ड के समान पड़े । जैसा भरत जी **'भूतल परे लकुट की नाई''** (मानस २३९।२) इस प्रकार प्रणाम करते हैं । भगवान् द्वारा बतलाये हुये कर्मों को करते-करते उस ज्ञान के परिपक्व होने के योग्य समय आने पर सच्ची जिज्ञासा से प्रश्न करने से । अभिप्राय यह कि श्रद्धा और भक्तिभाव से मैं कौन हूँ ? इत्यादि आत्मविषयक ज्ञान का प्रश्न करना । जैसे वाल्मीकि महर्षि देवर्षि नारद के पास आकर समय से प्रश्न करते हैं कि-

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् । (वा. रा. १।२)

(हे मुने !) इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान् कौन है ? ।।२।। तथा छल छिद्र छोड़कर श्रद्धाभक्ति पूर्वक तत्त्वदर्शी ज्ञानी की सेवा करने से । तात्पर्य यह कि उनके पास निवास करने, उनकी आज्ञा का पालन करने और उनके मानसिक भावों को समझकर हरेक प्रकार से उनको सुख पहुँचाने की चेष्टा करने से वे स्वयं उस ज्ञान का उपदेश करेंगे । इसी का याज्ञवल्क्य शिक्षा में **'गुरुशुश्रूषया विद्या'** (या. शि.) गुरु की अच्छी तरह सेवा करने से विद्या यानी ज्ञान प्राप्त होता है ।। - कहा गया है, जैसे जाबालि को गौतम ऋषि ने उपदेश दिया ।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से प्रणामादि के द्वारा सेवा करने पर वे आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी जन ज्ञान की जिज्ञासा से भलीभाँति प्रश्न करने से तेरे आशय को समझकर तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे ।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि: ।।३५।।

अन्वय :- पाण्डव ! यत् ज्ञात्वा पुनः एवं मोहं न यास्यसि । येन अशेषेण भूतानि आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि ।

अर्थ :- हे पाण्डुनन्दन । जिसे (यानी आत्मविषयक ज्ञान को) जानकर फिर इस प्रकार के मोह को प्राप्त नहीं होगे । जिससे समस्त (यानी बिना शेष बचे) प्राणियों को अपने में और फिर मुझ में देखोगे ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् यथार्थस्वरूप विषयक साक्षात्कार रूप ज्ञान के लक्षण बतलाते हैं । आत्मविषयक ज्ञान को तत्त्वदर्शी ज्ञानी जन से जान लेने पर जो तुम्हें शरीरादि में आत्माभिमान और उससे होने वाले ममतादि दोषों के स्थान रूप मोह प्राप्त हो गया है, इस मोह को प्राप्त नहीं होगा तथा जिससे देव मनुष्यादि रूप में पृथक्, पृथक् स्थित हुये सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में ही देखोगे, क्योंकि प्रकृति के संसर्ग से छुटी हुई अन्य जीवात्माओं की और तेरी ज्ञान विषयक एकरूपता होने के कारण (उनके साथ) समता है । प्रकृति के संसर्गदोष से छुटी हुई सभी आत्माओं का स्वरूप सम है, यह बात **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गी. ५।१९) क्योंकि निर्दोष एवं सम आत्मा है ।।१६।। इस प्रकार आगे कहेंगे भी । इस श्लोक में **'अथ'** शब्द अनन्तर वाचक है । फिर तू इस ज्ञान से सभी भूतप्राणियों को अशेप रूप से मुझमें देखोगे, क्योंकि परिशुद्ध समस्त आत्मवस्तु की मेरे स्वरूप से भी समता है । यह बात -

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । (गी. १४।२)

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरी समता को प्राप्त हुए ।।२।। यह बात श्लोक में कही जायगी । तथा यही बात श्रुति भी कहती है कि-

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति । (मु. उ. ३।१।३)

उस समय ज्ञानवान् पुरुष पुण्य पापों को धोकर निर्मल हो जाने पर परम पुरुष की समता पा जाता है ।।३।। इसलिए यह सिद्ध होता है कि प्रकृति से मुक्त समस्त आत्मास्वरूप वस्तु परस्पर सम है, और सर्वेश्वर परम पुरुष के साथ भी उसका साम्य है ।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।३६।।

अन्वय :- **चेत् सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकृत्तमः असि, ज्ञानप्लवेन एव सर्वम् वृजिनम् संतरिष्यसि ।**

अर्थ :- अगर तू सभी पापियों से भी बढ़कर पाप करने वाला है, (तौभी) तू (आत्मविषयक) ज्ञान-रूप नौका से ही सम्पूर्ण समुद्र को (पूर्वार्जित पापरूप समुद्र को) सर्वथा पार कर जाओगे (संतरिष्यसि-यानी ठीक से पार कर जाओगे)

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् ज्ञान का प्रभाव और माहात्म्य बतलाते हैं । **'पापेभ्यः'** पद का अर्थ 'पापों से' होता है परन्तु मत्वर्थीय अश आदिभ्यो अच् (पा. व्या. ५।२।१२७) इस पाणिनि सूत्र से मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय हुआ है, अर्थात् 'मतुप्' के अर्थ में अच् प्रत्यय होगा । जैसे गीता के सातवें अध्याय के १९ वें श्लोक में **'वासुदेवः'** पद का अर्थ 'वासुदेव वाला' होगा उसी तरह यहाँ **'पापेभ्यः'** का अर्थ पाप करनेवाला होगा । भगवान् कहते हैं कि तुम वास्तव में पापी नहीं हो तथा मेरे भक्त और सखा हो फिर भी आत्मज्ञान प्राप्त करने का इतना प्रभाव है कि यदि तुम अकृत्यकरण कृत्याकरण

रूप अनन्त अपराध करने वाले पापियों से भी बढ़कर पाप करने वाला है तौभी समस्त अपराधरूप समुद्र को आत्मज्ञान रूप नौका से पार कर जाओगे । इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है ।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।३७।।

अन्वय :- **अर्जुन ! यथा समिद्धः अग्निः एधांसि भस्मसात् कुरुते, तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते ।**

अर्थ :- हे अर्जुन जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि इन्धन को भस्ममय (यानी सर्वथा भस्म) कर देती है, उसी तरह ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को भस्मसात् कर देती है (यानी जलाकर राख कर देती है)

व्याख्या :- अर्जुन सम्बोधन देकर भगवान् यह बताते हैं कि अर्जुन-सफेद को कहते हैं और सफेद सात्त्विक का चिह्न है-जैसो गीता में कहे भी हैं -

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकम् । (गी. १४।६)

उनमें सत्त्वगुण निर्मल होने से प्रकाशक है ।।६।। इससे अर्जुन को परम सात्त्विक बतलाते हैं । जैसा उसने भगवान् से श्रेय मार्ग को बताने की प्रार्थना भी की है । उसके सात्त्विक होने से ही अब रहस्य की बात बताते हैं । दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जैसे पूर्ण रूप से प्रज्वलित अग्नि इन्धन के ढेर को भस्म कर देती है वैसे ही आत्मा के स्वरूपविषयक यथार्थ ज्ञान रूप अग्नि जीवात्मा में स्थित अनादिकाल से कृत्याकरण अकृत्यकरण रूप पाप करने वाले अनेकों कर्म सञ्चयों को भस्म कर देती है ।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमहि विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८।।

अन्वय :- **हि इह ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् न विद्यते । योगसंसिद्धः कालेन तत् स्वयम् आत्मनि विन्दति ।**

अर्थ :- निस्सन्देह इस दुनिया में ज्ञान के समान पवित्र (दूसरा कुछ भी) नहीं है । योग के द्वारा (यानी कर्मयोग से) संसिद्ध होकर पुरुष समय पर उसे स्वयं आत्मा में ही पा लेता है ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् आत्मविषयक ज्ञान की महिमा बतलाते हुये कहते हैं कि इस लीलाविभूति के अन्दर आत्मस्वरूप ज्ञान के समान शुद्ध करने वाली दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं । अभिप्राय यह कि आत्मज्ञान समस्त पापों का नाश कर देने का सामर्थ्य रखता है । इस प्रकार तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग जिस ज्ञानाकार कर्मयोग का उपदेश देते हैं उनके कथनानुसार आसक्ति फल को त्यागकर अनुष्ठान करते-करते साधक ज्ञानाकार कर्मयोग द्वारा संसिद्ध होकर समय पर अपने आप ही आत्मा में उस आत्मविषयक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है ।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।३९।।

अन्वय :- **श्रद्धावान् तत्परः संयतेन्द्रियः ज्ञानं लभते । ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण पराम् शान्तिम् अधिगच्छति ।**

अर्थ :- श्रद्धावाला (यानी सात्त्विक श्रद्धामय), तत्पर (उसी में एकनिष्ठ-यानी तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी से उपदिष्ट ज्ञान में ही परायण) संयत इन्द्रिय वाला ज्ञान को पा लेता है । ज्ञान को पाकर तुरत ही (फिर) परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

व्याख्या :- श्रद्धा के भेद बतलाते हुए भगवान् ने आगे कहा है -

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति............ ।। (गी. १७।२)

प्राणियों की यह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की होती है ।।२।। इस दूसरे श्लोक के भाष्य में भगवद् रामानुजाचार्य कहते हैं-

श्रद्धा हि 'स्वाभिमतं साधयति एतत्' इति विश्वासपूर्विका साधने त्वरा ।

क्योंकि 'अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा' इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है, उसका नाम श्रद्धा है । सात्त्विक श्रद्धावाले की पहचान बताते हुए भगवान् ने बताया है कि **'यजन्ते सात्त्विका देवान्'** (गी. १७।४) सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं ।।४।। इस श्रद्धा के विषय में श्रुति कहती है कि-

श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ।। (ऋग्वेद ८।८।६)

श्रद्धा से ही यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित की जाती है, श्रद्धा से ही हवनीय पदार्थों की आहुती दी जाती है । श्रद्धा ही धन के मस्तक के ऊपर रहती है, अतः समस्त आराध्य की प्रधानभूता श्रद्धा का हम स्तवन करते हैं ।।६।। **श्रद्धया सत्यमाप्यते** । (शुक्ल यजुर्वेद १६।३०) श्रद्धा से ही सत्यता की प्राप्ति होती है ।।३०।। तथा भगवान् मनु ने भी कहा है-

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ।। (मनु. ४।२२६)

सावधान होकर श्रद्धा से सर्वदा यज्ञ करे और कूप, तालाब बनवावे, क्योंकि न्यायपूर्वक आये हुए धन के द्वारा श्रद्धापूर्वक जो यागादि किये जाते हैं, वे मोक्ष को देते हैं ।।२२६।। जो ऐसी सात्त्विक श्रद्धा वाला पुरुष इस प्रकार उपदेश के द्वारा ज्ञान को पाकर, फिर उस ऊपदिष्ट ज्ञान की वृद्धि के लिये तत्पर होता है- (उसमें मन को नियुक्त करता है) और उससे भिन्न अन्य विषयों की ओर इन्द्रियों को नहीं जाने देता, वह शीघ्र ही पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त विपाकदशा को प्राप्त हुए ज्ञान को पा जाता है और इस प्रकार के ज्ञान को पाकर शीघ्र ही परम शान्ति को जा पहुँचता है, अर्थात् परम निर्वाण को प्राप्त हो जाता है ।।

अज्ञश्चश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४०।।

अन्वय :- **अज्ञः च अश्रद्दधानः संशयात्मा विनश्यति । संशयात्मनः न अयं लोकः अस्ति न परः च न सुखम् ।**

अर्थ :- अज्ञानी और अश्रद्धालु संशयात्मा (यानी जिसके मन में संशय ही संशय भरा हो) मनुष्य नष्ट हो जाता है । (उस) संशयात्मा के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् अज्ञ, श्रद्धारहित और संशययुक्त मनुष्य की निन्दा करते हुये कहते हैं कि इस प्रकार उपदेश द्वारा प्राप्त ज्ञान से रहित तथा उपदिष्ट ज्ञान की वृद्धि के उपायों में श्रद्धा न रखने वाला अर्थात् उनके अनुष्ठान में शीघ्रता न करने वाला और उपदिष्ट ज्ञान के प्रति संशय युक्त मन वाला मनुष्य नष्ट हो जाता है । इस आत्मा के यथार्थ स्वरूप विषयक उपदिष्ट ज्ञान में सन्देह रखने वाले को न तो यह प्राकृत लोक मिलता है और न परलोक ही यानी उसके धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ ही सिद्ध नहीं हो पाते, फिर मोक्ष की तो बात ही क्या है ? क्योंकि समस्त पुरुषार्थ शास्त्रविहित कर्मों से सिद्ध होने वाले हैं और शास्त्रीय कर्मजनित सिद्धि शरीर से अतिरिक्त आत्मस्वरूप के निश्चय से होती है । अतः आत्मा के सम्बन्ध में संशय-युक्त मनुष्य तनिक सा भी सुख का भागी नहीं हो सकता । अतः भगवान् उपदेश देते हैं कि मनुष्य को श्रद्धा से युक्त होकर सभी कार्य करना चाहिए । श्रुति भी कहती है कि-

प्र दैवोदासो अग्निर्देवा अच्छा न मज्मना ।
अनु मातरं पृथिवीं विं वावृते तस्थौ नाकस्य सानवि ।। (ऋग्वेद ८।१०३।२)

दिवोदास ने अश्रद्धा से अग्निदेव का आवाहन किया था, अतः वे अश्रद्धा से बुलाने के कारण स्वर्ग लोक से भूमि पर उपस्थित नहीं हुए और न देवताओं के लिये हवनीय पदार्थ को ले जाने में समर्थ हुए ।।२।। गीता में भी भगवान् ने कहा है - 'अर्जुन ! अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया होता है, वह 'असत्' ऐसा कहलाता है । वह कर्म न तो मरने पर फल देता है, और न इस लोक में ही ।। (गी. १७।२८)

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।४१।।

अन्वय :- **धनञ्जय ! योगसंन्यस्तकर्माणम् ज्ञानसंछिन्नसंशयम् आत्मवन्तं कर्माणि न निबध्नन्ति ।**

अर्थ :- हे धनञ्जय ! योग के द्वारा त्यागे हुए (ज्ञानाकार बनाये हुए) कर्मों वाले, ज्ञान के द्वारा कटे हुए संशयवाले आत्मवान् पुरुष को कर्म नहीं बाँधते ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् आत्मज्ञान के द्वारा संशय को नष्ट करने वाले और मनस्वी कर्मयोगी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार उपदेश दिये हुए कर्मयोग के द्वारा जिसने कर्मों को ज्ञानस्वरूप बना लिया है तथा उपदिष्ट आत्मज्ञान के तलवार द्वारा जिसने आत्मा के विषय में अपने संशय को भलीभाँति काट डाला है ऐसे आत्मवान् मनस्वी पुरुष को अर्थात् उपदिष्ट सिद्धान्त में मन को दृढ़ता के साथ स्थिर रखने वाले पुरुष को बन्धन के हेतु भूत अनादि काल के संचित कर्म बन्धन नहीं करते हैं । **'धनञ्जय'** सम्बोधन द्वारा भगवान् यह संकेत करते हैं कि जिस प्रकार अर्जुन ने उत्तर कुरु के धन को जीतकर उसे जनता जनार्दन की सेवा में लगाया उसी प्रकार हमें अपने धन को केवल अपने उपभोग में ही न लाकर भगवत्, भागवत, आचार्य की सेवा में लगाना चाहिए ।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।४२।।

अन्वय :- **भारत ! तस्मात् अज्ञानसंभूतम् हृत्स्थम् एनम् संशयम् आत्मनः ज्ञानासिना छित्त्वा योगम् आतिष्ठ, उत्तिष्ठ ।**

अर्थ :- भारत ! इसलिए (अनादि) अज्ञान से उत्पन्न हृदय में बैठे हुए इस संशय को (यानी आत्मविषयक संशय को) आत्मज्ञान रूप तलवार से काटकर कर्मयोग में लग जा और उसके लिए उठकर खड़ा हो जा ।

व्याख्या :- 'भारत' सम्बोधन देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि तुम विज्ञान रूपी प्रकाश में रत हो क्योंकि तुम राज्य, सुख, विजय कुछ नहीं चाहते हो बल्कि अपने कल्याण मार्ग की कामना करते हो । जो संशय अज्ञान से उत्पन्न होता है उसका स्थान हृदय है । इस हृदय में रहने वाले आत्मविषयक संशय का आत्मज्ञान रूपी तलवार से छेदन करके अपने वर्णाश्रम के कर्म में लग जा और खड़े हो जाओ अर्थात् आचरण में लग जाओ ।।४२।।

।। चौथा अध्याय समाप्त ।।

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच-कृष्ण कर्मणाम् संन्यासं च पुनः योगम् शंससि, एतयोः यत् एकम् सुनिश्चितम् श्रेयः तत् मे ब्रूहि ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे श्रीकृष्ण ! कभी कर्मों के संन्यास (यानी ज्ञानयोग) की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा आप करते हैं, इन दोनों में जो एक सुनिश्चित श्रेष्ठ है, उसे मुझसे कहिये ।

व्याख्या :- नियम है कि **'नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्'** (मनु. २।११०) 'बिना पूछे कुछ नहीं कहना चाहिए ।।' इसलिये अर्जुन प्रश्न करता है । यहाँ पर 'कृष्ण' सम्बोधन द्वारा अर्जुन यह भाव दिखलाता है कि आप सर्वशक्तिमान् परब्रह्म नारायण हैं । श्रीकृष्ण के विषय में लिखा है कि -

कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् । (कृष्णोप. श्रु. १२)

शाश्वत परब्रह्म नारायण ही कृष्ण हैं ।।१२।। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है -

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् । (श्रीमद्भा. १।३।२८)

कृष्ण तो स्वयं परब्रह्म नारायण भगवान् हैं ।।२८।। इसलिए मेरे इस प्रश्न के उत्तर देने में आप ही पूर्ण समर्थ हैं । आप पहले तो कर्म-संन्यास ज्ञानयोग का, कि 'पहले मुमुक्षु को कर्मयोग ही करना चाहिए । उसके बाद जब कर्मयोग के आचरण से अन्तःकरण के दोष नष्ट हो जाएँ, तब ज्ञानयोग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना चाहिए । इस बात का दूसरे अध्याय में प्रतिपादन करके फिर तीसरे और चौथे अध्याय में आप इस प्रकार कर्मनिष्ठा की प्रशंसा करते हैं कि ज्ञानयोग की अधिकार दशा को प्राप्त पुरुष के लिये कर्मनिष्ठा ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह ज्ञाननिष्ठा की कोई अपेक्षा न रखकर अकेली ही आत्मप्राप्ति की साधिका है' इतना ही नहीं इस चौथे अध्याय के **'तद्विद्धि प्रणिपातेन'** (गी ४।३४) उस आत्मज्ञान को प्रणिपात से तू जानो ।।३४।। तथा -

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि । (गी. ४।३६)

सब पाप रूप समुद्र को ज्ञानरूपी नौका से तू तर जायगा ।।३६।। इन श्लोकों में आपने ज्ञानयोग को कहा है। और फिर -

योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति । (गी. ४।३८)

कर्मयोग के द्वारा संसिद्ध होकर पुरुष समय पर उसे स्वयं आत्मा में ही पा लेता है ।।३८।। और

योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत । (गी. ४।।४२)

हे भारत ! कर्मयोग के लिये लग जा और उठकर खड़ा हो जा ।।४२।। इन श्लोकों में कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं तथा मुझे ही सम्बोधित करके आपने कहा भी है । इसलिये ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनों में जो एक साधन आत्मा की प्राप्ति का साधक होने में सुखसाध्यता और शीघ्रता की दृष्टि से श्रेष्ठ हो, निश्चित रूप से हमारा कल्याण करने वाला उत्तम हो, वह मुझे बतलाइये । इस प्रकार अर्जुन ने अब तक तीन बार 'श्रेयोमार्ग' की कामना की है, प्रथम -

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे । (गी. २।७)

जो मेरे लिये कल्याण का निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये ।।७।। दूसरा-

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।। (गी. ३।२)

एक निश्चित बात कहिये जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ ।।२।। और तीसरे, इस पाँचवें अध्याय के पहले श्लोक में । इससे यह उपदेश मिलता है कि हमेशा हित की बात ही पूछना, जिससे कल्याण हो ।।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।२।।

अन्वय :- **संन्यासः च कर्मयोगः उभौ निःश्रेयसकरौ, तु तयोः कर्मसंन्यासात् कर्मयोगः विशिष्यते ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले संन्यास (यानी ज्ञान-योग) और कर्मयोग दोनों कल्याणकारक हैं, तौभी उन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है (यानी विशिष्ट है)

व्याख्या :- श्रीमद्भागवत में लिखा है कि-

अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम ।
अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ।। (श्रीमद्भा. ३।७।३६)

द्विजवर ! दीनवत्सल गुरुजन अपने अनुगत शिष्यों और पुत्रों को बिना पूछे भी उनके हित की बात बतला दिया करते हैं ।।३६।। श्रीकृष्णजी को भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे नारायणावतार हैं-

एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णव-निकेतनः ।
नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरां पुरीम् ।। (महाभार. वन. ८८।२४)

क्षीरसागर में निवास करने वाले ये साक्षात् श्रीमान् नारायण शेषशय्या को छोड़कर यहाँ मथुरापुरी में आ गये हैं ॥२४॥ जैसे भोजन करने के समय में **'सैंधवमानय'** का अर्थ नमक ले आने से और यात्रा के समय घोड़ा ले आने से होगा उसी प्रकार इस पाँचवें अध्याय में **'संन्यास'** शब्द कर्मयोग के साहचर्य से ज्ञानयोग का वाचक है । भगवान् कहते हैं कि जो ज्ञानयोग करने में समर्थ हैं उन लोगों के लिये भी, ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए कल्याण करने वाला होने पर भी ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग करना ही श्रेष्ठ है । क्योंकि अनादि काल से कर्म करने का इन्द्रियों का अभ्यास है, इसलिए कर्मयोग सुकर है और इसमें अध:पतन की सम्भावना नहीं है ॥

ज्ञेय: स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

अन्वय :- **महाबाहो ! य: न द्वेष्टि न काङ्क्षति स: नित्यसंन्यासी ज्ञेय:, हि निर्द्वन्द्व: सुखम् बन्धात् प्रमुच्यते ।**

अर्थ :- हे महाबाहो ! जो न द्वेष करता है, न आकाँक्षा करता है, वह नित्य संन्यासी (यानी ज्ञाननिष्ठ) ही समझा जाना चाहिये, क्योंकि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

व्याख्या :- ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ बतलाकर अब उसी बात को सिद्ध करने के लिये इस श्लोक में भगवान् कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं । जो कर्मयोगी उस कर्मयोग के अन्तर्गत रहने वाले आत्मानुभव से तृप्त है और उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आकाँक्षा नहीं करता, क्योंकि उसे आत्मसुख से अतिरिक्त सांसारिक सुख उसी तरह तुच्छ मालुम होते हैं जैसा श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी कहते हैं कि -

स्थितेऽरविन्दे मकरन्द-निर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते ॥ (स्तो. र. ३०)

कमल में स्थित रहने पर अर्थात् जब तक रस से भरा हुआ कमल का फूल मिलता है तब तक भ्रमर निश्चय करके नीरस तालमखाने के रस को अनुभव नहीं करता है ॥३०॥ इसी कारण किसी से द्वेष नहीं करता तथा इसी कारण शीत-उष्ण, मानापमान, सुख-दु:खादि द्वन्द्वों को सहन करने में समर्थ है, वह नित्य संन्यासी यानी नित्य ज्ञाननिष्ठ है, ऐसा जानना चाहिए । सुखसाध्य कर्मयोग में स्थित होने के कारण वह बड़ी आसानी के साथ बन्धन से छूट जाता है । इसी बात को भगवान् आगे भी कहते हैं-

अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: ।
स संन्यासी च योगी च ॥ (गी. ६।१)

स्वर्गादि कर्मफलों का आश्रय न लेकर जो पुरुष कर्मानुष्ठान ही करने योग्य है, ऐसा समझकर कर्म करता है वही ज्ञानयोगनिष्ठ भी है और वही कर्मयोगनिष्ठ भी है ॥१॥

सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता: ।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

अन्वय :- **सांख्ययोगौ पृथक् प्रवदन्ति बालाः न पण्डिताः, एकम् 'अपि सम्यक् आस्थितः उभयोः फलं विन्दते।**

अर्थ :- सांख्य (ज्ञानयोग) और योग (यानी कर्मयोग) अलग-अलग या भिन्न हैं - (ऐसा) जो कहते हैं, वे बालक (यानी ज्ञान-शून्य) पण्डित (यानी सबकुछ जानने वाले) नहीं हैं। (वस्तुतः) एक में भी ठीक तरह से स्थित व्यक्ति दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या :- **'सम'** पूर्वक **'ख्या'** धातु से संख्या शब्द बना है और **'चर्चा संख्या विचारणा'** (अमरको. का. १ व. ५ श्लो. २) अमरकोश के अनुसार चर्चा तथा संख्या और विचारणा ये पर्यायवाचक शब्द हैं। तो यह अर्थ हुआ कि जिससे सम्यक् विचार किया जाय उस बुद्धि को 'संख्या' कहते हैं। गीता के दूसरे अध्याय के -

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु। (गी. २।३९)

इस श्लोक के भाष्य में भगवद् रामानुजाचार्य ने कहा है।

संख्या बुद्धिः, बुद्ध्यावधारणीयम् आत्मतत्त्वं सांख्यम्।

ज्ञातव्ये आत्मतत्त्वे तज्ज्ञानाय या बुद्धिः अभिधेया, ... सा एषा अभिहिता।

बुद्धि का नाम संख्या है, इसलिये बुद्धि से धारण होने वाले आत्मतत्त्व का नाम सांख्य है। जानने योग्य आत्मतत्त्व के विषय में उसको जानने के लिये जो बुद्धि कहनी चाहिए वह तुझको कही जा चुकी ॥

'आत्मज्ञानपूर्वकमोक्षसाधनभूतकर्मानुष्ठाने यो बुद्धियोगो वक्तव्यः, स इह योगशब्देन उच्यते।'

'आत्मज्ञान सहित मोक्षसाधनभून कर्मानुष्ठान के लिये जो बुद्धियोग कहना है, वह यहाँ 'योग' शब्द से कहा जाता है।' ज्ञानयोग और कर्मयोग के फल में एकता प्रतिपादन करते हुए भगवान् कहते हैं कि जो ज्ञानयोग और कर्मयोग को फल भेद से पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, वे बालक हैं - ज्ञानशून्य हैं, पंडित नहीं, यानी सबकुछ जानने वाले नहीं हैं, क्योंकि पण्डित के विषय में पहले ही कह चुके हैं कि -

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ (गी. ४।१९)

जिसके समस्त कर्म कामना और संकल्प से रहित हैं, उस ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध हुए कर्मोंवाले पुरुष को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं ॥१९॥ अभिप्राय यह कि कर्मयोग तो केवल ज्ञानयोग को प्राप्त कराता है, आत्मा का साक्षात्कार तो केवल ज्ञानयोग ही कराता है, इस प्रकार फल भेद से जो दोनों को पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, वे पण्डित नहीं हैं। एकमात्र आत्मसाक्षात्कार ही जिनका फल है, ऐसे इन दोनों साधनों में से, दोनों का एक फल समझते हुए किसी एक में स्थित मनुष्य उसी फल को पा लेता है ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

अन्वय :- **सांख्यैः यत् स्थानम् प्राप्यते योगैः अपि तत् गम्यते । यः साङ्ख्यम् च योगम् एकम् पश्यति सः च पश्यति ।**

अर्थ :- सांख्य योगियों (यानी ज्ञानयोगियों) द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । (इस प्रकार) जो पुरुष सांख्य और योग को एक देखता वही यथार्थ देखता है ।

व्याख्या :- चौथे श्लोक में कही हुई बात को भगवान् और स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि सांख्य-योगियों यानी ज्ञाननिष्ठावालों को जो आत्मसाक्षात्काररूप फल मिलता है, वही कर्मयोगनिष्ठा वालों को भी मिलता है, क्योंकि अष्टावक्र प्रभृति ने जिस आत्मसाक्षात्कार को ज्ञानयोग के द्वारा प्राप्त किया इसको वसिष्ठ, वामदेव प्रभृति ने कर्मयोग के द्वारा प्राप्त किया । इस प्रकार दोनों के एक फल होने के कारण जो सांख्य और योग को श्रुति, स्मृति रूपी नेत्रों से एक अर्थात् वैकल्पिक देखता है, वही यथार्थ देखता है - वही पण्डित है ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

अन्वय :- **महाबाहो! तु संन्यासः अयोगतः आप्तुम् दुःखम् योगयुक्तःमुनिः न चिरेण ब्रह्म अधिगच्छति ।**

अर्थ :- हे महाबाहो (भगवत्, भागवत, आचार्य की सेवा करने वाले दीर्घभुज अर्जुन !) किन्तु संन्यास (यानी ज्ञानयोग) बिना कर्मयोग के पाये जाने में कठिन है । कर्मयोगयुक्त मुनि बिना देर के यानी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

व्याख्या :- कर्मयोग की विशेषता बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि ज्ञानयोग तो कर्मयोग के बिना प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु कर्मयोग में लगा हुआ मुनि यानी आत्ममननशील पुरुष स्वयं ही आसानी के साथ कर्मयोग का सम्पादन करके अल्प समय में ही ब्रह्म यानी आत्मा को प्राप्त कर लेता है । मुनि का लक्षण भगवान् कहते हैं कि -

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (गी. २।५६)

दुःख में उद्वेग रहित मनवाला, सुख में स्पृहारहित तथा राग, भय और क्रोध से रहित स्थित बुद्धि मुनि कहलाता है ॥ ज्ञानयोग में लगा हुआ पुरुष बड़ी कठिनता से ज्ञानयोग का सम्पादन कर पाता है । इस प्रकार ज्ञानयोग कष्टसाध्य होने के कारण और कठिनता से प्राप्त होने वाला होने के कारण उसके द्वारा साधक बहुत समय के बाद आत्मा को प्राप्त होता है ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

अन्वय :- **योगयुक्तः विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन् अपि न लिप्यते ।**

अर्थ :- कर्मयोग से युक्त विशुद्धात्मा, मन पर विजय पाया हुआ, इन्द्रिय-विजयी सभी प्राणी की आत्मा को अपनी आत्मा समझने वाला (यानी प्राणिमात्र के साथ एकाकार आत्मा वाला) पुरुष कर्म (यानी परमपुरुष का आराधनात्मक कर्म) करते हुए भी लिप्त नहीं होता है ।

व्याख्या :- कर्मयोग-युक्त साधक श्रुति में कहे गये- **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** (ईशोप. श्रु. २) इस लोक में नित्य नैमित्तिकादिक निष्काम कर्मों को करता हुआ ॥२॥ तथा **'कुरु कर्म त्वम्'** (गी.३।८) तू कर्म कर ॥८॥ इस गीताशास्त्र में भगवान् की आज्ञा समझ कर उसके आराधनारूप शास्त्रीय विशुद्ध कर्मों में लगा रहता है, इससे जिसका मन विशुद्ध हो गया है, जो मन पर विजय पा चुका है, अर्थात् अपने अभ्यस्त कर्मों में हृदय से लगे रहने के कारण जिसका मन आसानी के साथ जीता हुआ है । दसो इन्द्रियों को वश में करने वाला है और कर्ता आत्मा के यथार्थ स्वरूपज्ञान में परिनिष्ठित होने के कारण जो **'सर्वभूतात्मभूतात्मा'** है । जिसकी आत्मा देवादि समस्त भूत प्राणियों का आत्मरूप हो गयी है, वही **'सर्वभूतात्मभूतात्मा'** है, क्योंकि जो आत्मा के यर्थाथ स्वरूप का अनुभव करने वाला है, उसी की अपनी और देवादि भूतप्राणियों की आत्मा एकाकार होती है, देवादि के भेद (शरीरादि) प्रकृति के परिणाम विशेष होने के कारण उनकी आत्माकारँता संभव नहीं है । प्रकृति के संसर्ग से रहित आत्मा देवादि समस्त शरीरों में ज्ञान की एकाकारता के कारण समान है । यह बात **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गी. ५।१९) क्योंकि निर्दोष आत्मा सम है ॥१९॥ इस प्रकार इसी अध्याय में कहेंगे । ऐसा वह कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी अनात्म वस्तुओं में आत्माभिमान करके उनसे लिप्त नहीं होता उससे कभी बँधता नहीं, इसलिये वह शीघ्र ही आत्मा को पा जाता है, यही अभिप्राय है ॥७॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

(यह युग्म श्लोक है, इसलिये नवें श्लोक के उत्तरार्द्ध को लेकर अर्थ किया गया है)

अन्वय :- **तत्त्ववित् युक्तः पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन् (इन्द्रियाणि इन्द्रियेषु वर्तन्ते इति धारयन्), किञ्चित एव न करोमि इति मन्येत ।**

अर्थ:- तत्त्व को जाननेवाला युक्त पुरुष देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता हुआ (ऐसा निश्चय कर या धारणा बनाकर कि इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषय में बरत रही हैं) मैं कुछ भी नहीं करता हूँ, ऐसा माने ।

व्याख्या :- सुख-साध्यता और शीघ्रता की दृष्टि से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, अतः उसके लिए किस बात की अपेक्षा है,

इसे बताते हुए भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार आत्म-तत्त्व को जानने वाला युक्त पुरुष - जिस युक्त पुरुष के विषय में लिखा है कि -

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ (गी. ६।१८)

जब सब ओर से रुका हुआ चित्त आत्मा में ही स्थित होता है तब वह समस्त भोगों से निःस्पृह हुआ (योगी) युक्त है, ऐसा कहा जाता है ।।१८।। वह नेत्र से देखता हुआ, कान से सुनता हुआ, त्वचा से स्पर्श करता हुआ, घ्राण से सूँघता हुआ, जीभ से स्वाद लेता हुआ, पैर से चलता हुआ, कूर्म वायु से सोता हुआ, प्राण वायु से श्वास लेता हुआ, ऐसा निश्चय करके माने कि मैं कुछ भी नहीं करता, ये इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में बरतती हैं । अभिप्राय यह कि यह समझे कि मुझे ज्ञानस्वरूप का यह कर्तापन कर्म के हेतुभूत इन्द्रिय और प्राणों के सम्बन्ध से किया हुआ है, स्वरूपतः प्रयुक्त (स्वाभाविक) नहीं है ।।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।९।।

अन्वय :- **(तत्त्ववित् युक्तः) प्रलपन् विसृजन् गृहणन् उन्गिषन् निमिषन् अपि, इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन् (किञ्चित् एव न करोमि इति मन्येत)**

अर्थ :- तत्त्व को जाननेवाला युक्त पुरुष बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलक खोलता हुआ, पलक मूँदता हुआ भी - इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषय में बरत रही हैं, ऐसी धारणा बनाते हुए (मैं कुछ भी नहीं करता हूँ-ऐसा माने)

व्याख्या :- आत्मतत्त्व को जानने वाला युक्त पुरुष वाणी से बोलता हुआ और पायु से मल त्याग करता हुआ और उपस्थ से मूत्र त्याग करता हुआ तथा अपान वायु से अधोवायु विमोक्षण करता हुआ और हाथ से ग्रहण करता हुआ और कूर्म वायु से आँखें खोलता और मूँदता हुआ, यद्यपि पहले आठवें श्लोक में (कूर्म) वायु से सोता हुआ यह कहा गया है फिर भी यहाँ पर द्विबद्ध-सुबद्ध न्याय से 'उन्मिषन्निमिषन्' नाम आँखें खोलता और मींचता हुआ कहा गया है । इस नवें श्लोक में 'अपि' शब्द अनुक्तसमुच्चयार्थक है । इससे यह अर्थ होता है कि-नागवायु से उगलता हुआ तथा कृकर वायु से छींकता हुआ और देवदत्त वायु से जम्हुवाता हुआ । ये सभी इन्द्रियाँ और प्राणादि अपने-अपने विषयों में बरतते हैं, ऐसी धारणा निश्चय करके मैं कुछ नहीं करता, यह समझे ।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।१०।।

अन्वय :- **यः कर्माणि ब्रह्मणि आधाय संगम् त्यक्त्वा करोति । सः पापेन न लिप्यते, पद्मपत्रम् अम्भसा इव ।**

अर्थ :- जो मनुष्य कर्मों को ब्रह्म (प्रकृति) में छोड़कर और आसक्ति को त्याग कर, (कर्म) करता है वह (वैसे ही) पाप से नहीं लिप्त होता है, जैसे कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता ।

व्याख्या :- इस श्लोक में 'ब्रह्म' शब्द से प्रकृति का वर्णन है । क्योंकि-

यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ (मु. उ. १।१।६)

जो सर्वज्ञ है, सर्वविद् है, जिसका ज्ञानमय तप है, उससे यह ब्रह्म तथा नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं ।।६।। इस श्रुति में 'ब्रह्म' नाम से प्रकृति को कहा गया है । गीता में भी इस श्लोक के पहले तीसरे अध्याय में **'कर्म ब्रह्मोद्भवं विधि'** (गीता ३।१५) कर्म को तू ब्रह्म यानी शरीर से उत्पन्न हुआ जान ।।१५।। और आगे भी **'मम योनिर्महद्ब्रह्म'** (गीता १४।३) मेरी महद्ब्रह्म योनि (प्रकृति) है ।।३।। ब्रह्म के नाम से प्रकृति को कहेंगे ।

इन्द्रियाँ प्रकृति के ही परिणामविशेष हैं, इसलिये इन्द्रियाकार में स्थित प्रकृति में **'पश्यञ्शृण्वन्'** (गीता ५।८) इत्यादि श्लोकों द्वारा बतलायी हुई रीति से कर्मों को स्थापित कर (इन्हें प्रकृति के द्वारा किया हुआ मानकर) और फलासक्ति का त्याग करके **'नैव किंचित्करोमि'** (गीता ५।८) मैं कुछ भी नहीं करता ।।८।। इस भाव से जो कर्म करता है, वह प्रकृति में आत्माभिमानरूप बन्धन के हेतुभूत पाप से वैसे ही लिप्त नहीं होता जैसे जल से कमल का पत्र । अभिप्राय यह है कि जैसे कमल का पत्र जल के संसर्ग से युक्त रहने पर भी उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह भी लिप्त नहीं होता ।।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

अन्वय :- योगिनः कायेन, मनसा, बुद्ध्या केवलैः इन्द्रियैः अपि सङ्गं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति ।

अर्थ :- योगिवृन्द (यानी कर्मयोगी लोग) शरीर, मन, बुद्धि (और) केवल इन्द्रियों से भी आसक्ति को त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं ।

व्याख्या :- चेष्टाश्रयत्व को कार्य कहते हैं । इस प्रकार इससे (शरीर से) संकल्प-विकल्पात्मक मन से, निश्चयात्मिका बुद्धि से और केवल श्रोत्रादि इन्द्रियाँ जो हैं, उन सबसे कर्मयोगी लोग शास्त्रविहित नित्य नैमित्तिकादि कर्म स्वर्गादि फलासक्ति को त्याग कर केवल आत्मशुद्धि के लिये करते हैं । अभिप्राय यह कि आत्मा में स्थित प्राचीन कर्म-बन्धन का विनाश करने के लिये कर्म करते हैं ।।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

अन्वय :- युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा नैष्ठिकीम् शान्तिम् आप्नोति, अयुक्तः कामकारेण फले सक्तः निबध्यते ।

अर्थ :- युक्त पुरुष कर्म फल को त्याग कर नैष्ठिकी शान्ति (परम या अचलशान्ति) पा लेता है, अयुक्त पुरुष कामनाके द्वारा फल में आसक्त, बँध जाता है ।

व्याख्या :- युक्त पुरुष के विषय में भगवान् ने छठे अध्याय में कहा है कि जब सब ओर से रुका हुआ चित्त आत्मा में ही स्थित होता है, तब वह समस्त भोगों से निःस्पृह हुआ योगी युक्त है, ऐसा कहा जाता है' (गी. ६।१८) इस प्रकार आत्मा से अतिरिक्त अन्य फलों के लिये चञ्चल न होने वाला, एक आत्मा में ही लगा हुआ युक्त पुरुष नित्य नैमित्तिकादिक कर्म के फल स्वर्गादि का त्याग करके केवल आत्मशुद्धि के लिये कर्मों का अनुष्ठान करके आत्मानुभवरूप स्थिर तृप्ति को प्राप्त होता है । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार नदियाँ अपनी चंचलता का त्याग कर समुद्र में शान्त हो जाती हैं, उसी प्रकार वह युक्त पुरुष आत्म-प्राप्ति रूप शान्ति को प्राप्त कर लेता है, परन्तु आत्मा से अतिरिक्त अन्य फलों के लिये चञ्चल रहने वाला आत्मसाक्षात्कार से विमुख अयुक्त पुरुष कामनावश फल में आसक्त होकर कर्म करता हुआ सदा कर्मों से बँधता है, यानी नित्य संसारी (जन्म-मरणशील) बना रहता है । इसलिये यह कहा गया है कि फलासक्ति से रहित साधक को इन्द्रियाकार में परिणत प्रकृति में ही कर्मों का निक्षेप करके केवल आत्मा का बन्धन काटने के लिये ही कर्म करना चाहिए ।।१२।।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।१३।।

अन्वय :- वशी देही मनसा सर्वकर्माणि नवद्वारे पुरे संन्यस्य न कुर्वन् न कारयन् एव सुखं आस्ते ।

अर्थ :- अपने को वश में रखने वाला देही (यानी वशी देहधारी) मन के द्वारा सब कर्मों को नव द्वारवाले पुर में ठीक से छोड़कर (स्वयं) न (कुछ) करता हुआ, न कराता हुआ सुखपूर्वक रहता है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् देहाकार में परिणत प्रकृति में कर्तापन के निक्षेप का वर्णन करते हैं । 'आत्मा में यह कर्मों का कर्तापन प्राचीन कर्ममूलक देह सम्बन्ध से ही प्रयुक्त है, स्वरूपतः नहीं है' इस प्रकार विवेक युक्त मन से नित्य, नैमित्तिक, काम्य सभी कर्मों को दो कान, दो आँख, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ इन नौ द्वार वाले शरीररूप पुर में जिसे श्रीमद्भागवत में **'नवाक्षः'** (श्रीमद्भा. १०।२।२७) नौ खोढ़र हैं ।।२७।। कहकर वर्णन किया गया है, इसमें निक्षेप करके आत्मदर्शन, इन्द्रियों को सब प्रकार से अपने वश में रखने वाला पुरुष देहाधिष्ठान द्वारा किये जाने वाले प्रयत्न को न तो स्वयं करता है और न शरीर से ही कराता है, यानी अपने को करने-करानेवाला न मानकर सुख से रहता है ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।१४।।

अन्वय :- न लोकस्य कर्तृत्वं, न कर्माणि न कर्मफलसंयोगम् प्रभुः सृजति, तु स्वभावः प्रवर्तते ।

अर्थ :- न तो भूत प्राणियों के कर्तापन को, न कर्मों को, न कर्मफल के संयोग को प्रभु (यानी आत्मा) रचता है, वरन्, (इन सबों में) स्वभाव ही प्रवृत होता है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् साक्षात् आत्मा के स्वाभाविकरूप का वर्णन करते हैं । **'लोकस्तु भुवने जने'** (कोश ३।३।२) इस अमरकोष के अनुसार लोक शब्द यहाँ जन-वाचक है । प्रकृति के संसर्ग से देव, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावरादि के रूप में वर्तमान इस लोक का जो देवादि शरीरों से सम्बन्ध विशिष्ट कर्तृत्व है, उस उससे सम्बन्ध रखने वाले जो विशिष्ट कर्म हैं तथा उन-उन कर्मों से होने वाले देवादि शरीरों की प्राप्ति रूप जो फल संयोग है, उनको यह प्रभु यानी कर्मों के वश में न होने वाला अपने स्वाभाविक रूप में स्थित आत्मा नहीं उत्पन्न करती । तो फिर कौन रचता है ? इसपर भगवान् कहते हैं कि स्वभाव ही प्रवृत्त होता है । यह प्रकृति सम्बन्धी वासना का नाम स्वभाव है । अभिप्राय यह है कि कि अनादिकाल से प्रवृत्त पूर्व कर्म-जनित देवादि शरीरों के आकार से परिणत प्रकृति के संसर्ग से उन-उन शरीरों से होने वाला जो आत्माभिमान है, उससे वासना उत्पन्न होती है और उसी वासना के द्वारा किये हुए इस प्रकार के ये सब कर्तृत्वादि भाव हैं । ये आत्मा में स्वरूपतः प्रयुक्त (स्वाभाविक) नहीं हैं ।।

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।१५।।

अन्वय :- विभुः न कस्यचित् पापम् च न सुकृतम् एव आदत्ते, अज्ञानेन ज्ञानम् आवृतम्, तेन जन्तवः मुह्यन्ति ।

अर्थ :- (यह) विभु न किसी के पाप को और न पुण्य को ही ग्रहण करता है । अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे जीव मोहित हो रहे हैं ।

व्याख्या :- यहाँ **'विभुः'** पद का तात्पर्य (**'विशेषेण भवति इति विभुः'** विशेष रूप से जिसकी सत्ता हो उसे विभु कहते हैं ।) जीव से है क्योंकि यहाँ जीवात्मा का प्रकरण है । इसलिये यहाँ विभु का व्यापक अर्थ करना ठीक नहीं है । व्यापक सर्वत्र रहता है जब कि जीवात्मा एक देश में रहती है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, जैसा **'अणवश्च'** (ब्र. सू. २।४।६) जीव अणु है ।।६।।

तथा -

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः ।। (श्वे. अ. ५ श्रु. ९)

बाल के अग्रभाग के सौवाँ भाग का सौवाँ हिस्सा, उसी भाग को जीव जानना ।।६।। यही नहीं निगमागम सम्मत अपने ग्रन्थ को बनाने वाले संत श्रीतुलसीदास जी भी अपने मानस में **'विभुं व्यापकम्'** (मानस ७।१०८) एक स्थान पर कहकर प्रार्थना करते हैं । इसलिये यदि विभु पद का व्यापक अर्थ होता है तो पुनरुक्ति दोष हो जायगा और मानस को दोष रहित कवि कहता है । अन्यत्र भी बताया गया है-

सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम् ।

समस्त मूर्त द्रव्य से जिसका संयोग हो उसे 'विभु' कहते हैं । इससे स्पष्ट हो गया कि 'विभु' पद यहाँ पर जीवात्मा का वाचक है । भगवान् कहते हैं कि जीवात्मा किसी भी अपने सम्बन्धियों के रूप में माने हुये पुत्रादि के पाप को नहीं लेता । यहाँ पाप शब्द पाप के फल का वाचक है । इसी को श्रीमद्भागवत में **'द्विफल:'** (श्रीमद्भा. १०।२।२७) सुख और दु:ख दो फल हैं ।।२७।। कहकर वर्णन किया गया है । इससे पाप से तात्पर्य पाप के फल दु:ख को ग्रहण नहीं करता अर्थात् दूर नहीं करता है और न किसी भी प्रतिकूल रूप में माने हुए (विरोधी पुरुष) के सुन्दर कर्म के फल सुख को ग्रहण करता है अर्थात् दूर करता है । इसका कारण यह है कि जीवात्मा किसी एक ही देश से सम्बन्ध रखने वाली नहीं है । देवादि के शरीर रूप किसी विशेष स्थान में रहने वाली नहीं है, इसलिये वह न किसी का सम्बन्धी है और न किसी का विरोधी । इस प्रकार जीवात्मा अपने किसी प्रेमी के पाप के फल दु:ख को नहीं ले सकती और न तो अपने से द्वेष करने वाले के सुख को ही ले सकती है । ऊंपर कहे गये अनुकूल प्रतिकूल भाव वासना के ही रचे हुए हैं । इस प्रकार के स्वभाववाली आत्मा में विपरीत वासना के उत्पन्न होने का कारण बताते हुए भगवान् कहते हैं कि अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है-ज्ञान के विरोधी पूर्व-पूर्व कर्मों के द्वारा अपने फलों का अनुभव कराने की योग्यता सम्पादन करने के लिये इसके ज्ञान को संकुचित कर दिया गया है । उस ज्ञानावरण रूप कर्म से इसका देवादि शरीरों से संयोग और उन उनमें आत्मभिमानरूप मोह भी हो जाता है । उससे फिर वैसे ही आत्माभिमानरूप वासना और उसी के अनुरूप कर्मों की वासना उत्पन्न होती है । उस वासना से विपरीत आत्माभिमान और कर्मों का आरम्भ होता रहता है । यहाँ **'जन्तव:'** बहुवचन कहकर भगवान् जीवैकात्मवाद का खण्डन करते हैं ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं तेषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।१६।।

अन्वय :- **तु येषाम् तत् अज्ञानम् आत्मनः ज्ञानेन नाशितम् तेषाम् तत् परम् ज्ञानम् आदित्यवत् प्रकाशयति ।**

अर्थ :- परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है उनका वह (स्वाभाविक) परम ज्ञान, सूर्य के समान (सब वस्तुओं को) प्रकाशित कर देता है ।

व्याख्या :- ज्ञानरूपी नौका के द्वारा सब पापों से तर जायेगा' (गी. ४।३६) तथा वैसे ही ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है' (गी. ४।३७) ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है, (गी. ४।३८) इत्यादि रूप से पहले कहे हुए वचनों की (इस समय अनुकूल प्रकरण आने पर) भगवान् संगति उपस्थित करते हुए कहते हैं कि-उपर्युक्त स्थितिवाली समस्त जीवात्माओं में से जिन-जिन जीवों में वह ज्ञान को ढँकने वाला अनादि काल से प्रवृत्त अनन्त कर्म-जनित संशय रूप अज्ञान पूर्वोक्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप के उपदेश से उत्पन्न, प्रतिदिन के विशेष अभ्यास के कारण वृद्धि को प्राप्त, आत्म-विषय अत्यन्त पवित्र ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिया गया है उनका वह अपरिमित-(असंकुचित) स्वाभाविक परमज्ञान सूर्य के सदृश समस्त वस्तुओं को यथावत् रूप में प्रकाशित कर देता है । यहाँ जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है, ऐसे पुरुषों के लिये 'तेषाम्' इस पद के द्वारा बहुवचन का प्रयोग होने से जीवात्मा की अनेकता सिद्ध होती है । पहले -

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनधिपाः । (गी. २।१२)

मैं सर्वेश्वर इस वर्तमान समय से पूर्व अनादि काल में नहीं था ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य था । मेरे शासन में रहने वाला तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य थे । यहाँ पर **'अहम्'** (मैं), **'त्वम्'** (तू) **'इमे'** (ये सब) इन पदों का प्रयोग किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि जीवों का भगवान् सर्वेश्वर परमात्मा से और जीवों का परस्पर में भी भेद यथार्थ है ।।१२।। इस उपक्रम से तथा श्रुति भी कहती है-

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां
यो विदधाति कामान् । (श्वे. ६।१३)

बहुत से नित्य चेतन आत्माओं की जो एक नित्य चेतन आत्मा है, वह उनकी कामनाओं को पूर्ण करती है ।।१३।। इसी को यहाँ और भी स्पष्ट रूप में कहा गया है । यह बहुसंख्यकता उपाधिकृत नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है, उनमें उपाधि की गन्ध भी नहीं रहती । **'तेषामादित्यवज्ज्ञानम'** ऐसा कहकर उनका औरों से पार्थक्य सूचित किया गया है, इसलिये ज्ञान आत्मस्वरूप से सम्बन्ध रखनेवाला है, यह बतलाया गया तथा सूर्य के दृष्टान्त से ज्ञाता और ज्ञान की स्थिति भी प्रभा और प्रभावान् के सदृश बतलायी गयी है । इसीसे संसार दशा में कर्मों द्वारा ज्ञान का संकोच और मोक्ष दशा में ज्ञान का विकास होना भी सिद्ध हो जाता है ।।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।१७।।

अन्वय :- **तद्बुद्धयः तदात्मानः तन्निष्ठाः तत्परायणाः ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः अपुनरावृत्तिम् गच्छन्ति ।**

अर्थ :- उस आत्मा में बुद्धिवाले, उसी में मनवाले, उसी में निष्ठावाले, उसी के परायण रहनेवाले, ज्ञान के द्वारा धुले हुए पापों वाले पुरुष अपुनरावृत्ति को (आत्मा को) प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या :- 'तत्' शब्द यहाँ पूर्वपरामृष्ट का वाचक है । उपर्युक्त स्वरूप वाली आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये ही जिनका दृढ़ निश्चय है, उसी में जिनका मन लगा है, उसी के अभ्यास में पूर्णतया लगे हैं तथा वह आत्मसाक्षात्कार ही जिनका परम आश्रय है, इस प्रकार अभ्यास किये जाने वाले ज्ञान से जिनके समस्त प्राचीन पाप धुल चुके हैं, वे पुरुष उपर्युक्त स्वरूपवाली पुनरावृत्तिरहित आत्मा को प्राप्त हो जाते हैं । अभिप्राय यह कि जिस अवस्था को प्राप्त हुई आत्मा की फिर वहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती है, वैसी अवस्था में स्थित आत्मा 'अपुनरावृत्ति' अपने स्वरूप में स्थित रहने वाली कहलाती है, उस आत्मा को वे प्राप्त हो जाते हैं ।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।१८।।

अन्वय :- **पण्डिताः विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे च गवि हस्तिनि शुनि च श्वपाके एव समदर्शिनः ।**

अर्थ :- (वे) पण्डितगण विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण और गौ, हाथी कुत्ते तथा चाण्डालों में भी समदर्शी होते हैं।

व्याख्या :- (यह) विषमाकार तो प्रकृति का है आत्मा का नहीं । आत्मा तो ज्ञान की एकाकारता के कारण सब जगह सम है, ऐसा पण्डितगण अनुभव करते हैं । विद्या के विषय में लिखा है कि-

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति ।
परा चैवापरा च । (मु. उ. १ ख. १ श्रु. ४)

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं । ऐसा निश्चय करके ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं, एक परा दूसरी अपरा ।।४।।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराण-न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणीति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।।५।।

उन दोनों में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, श्रीरामायणादि इतिहास, विष्णु, पद्म, आदि पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये सब अपरा विद्या हैं और जिससे वह अक्षर अविनाशी जाना जाता है वह परा विद्या है ।।५।। इस प्रकार उपर्युक्त परा और अपरा इन विद्याओं से युक्त तथा **'विद्या ददाति विनयम्'** विद्या विनय को देती है । इसके अनुसार विद्या से प्राप्त विनय से युक्त । ब्राह्मण के विषय में लिखा है कि-

तद् वै नाऽब्राह्मणः पिबेत् (शत० ब्रा० २।३।१।३९)

निश्चय करके अग्निहोत्र के अवशिष्ट हवि का पान केवल ब्राह्मण करे ।।३६।। महर्षि कात्यायन के -

ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्षप्रतिषेधादितरयोः । (का. श्रौ. सू. १।२।८)

तथा यज्ञपरिभाषासूत्रकार के - **'ब्राह्मणानामार्त्विज्यम्'** (२४) इस सूत्र से स्पष्ट है कि याग में केवल ब्राह्मण ही आचार्य हो सकता है । **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** (शु. य. ३१।११) **'मुखादग्निरजायत'** (शु. य. ३१।१२) इसके अनुसार ब्राह्मण और अग्नि की उत्पत्ति प्रजापति के मुख से हुई है । अतः ब्राह्मण और अग्नि सहोदर भाई हैं । इसलिये ब्राह्मण मुख से ही अपना विद्याबल दिखाता है-

तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति मुखतोहि सृष्टः । (ताड्यमहाब्रा. ६।१।६)

वस्तुतः ब्राह्मणों का मुख्य बल विद्याबल है, जिसका प्रदर्शन ब्राह्मणों के मुख से ही होता है ।।६।।

तदध्येव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद्ब्रह्मवर्चसी स्यादिति ।

ब्राह्मण को देवमय वेद का इष्ट होना चाहिये, जिससे वह ब्रह्मवर्चसी हो जाय ।।१६।।

यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषां वीर्यवत्तमः । (शतपथब्रा. ४।५।७५)

जो ब्राह्मणों में परम विद्वान् है, वही अत्यन्त बलवान् कहा जाता है ।।५।। इससे श्रीवैष्णव ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ

अति पूज्य हैं। और पशुओं में उत्तम गौ के विषय में लिखा है कि - **'सास्नादिमत्वं.गोर्लक्षणम्'** जिसके गर्दन में ललरी लटकती हो उसे गौ कहते हैं। शुक्ल यजुर्वेद में लिखा है कि - **'साव्विश्वायुः'** (शु. य. १।४) वह गौ विश्व की आयु है ।।४।।

गावो वितन्वते यज्ञं गावः सर्वौघसूदनाः । (विष्णुसंहिता २३।५८)

गौएँ घृत आदि के द्वारा यज्ञ का विस्तार करती हैं और वे समस्त प्रकार के पापों का नाश करने वाली हैं ।।५८।।

देवी गौर्धेनुका देवाश्चादिदेवी त्रिशक्तिका ।
प्रसादाद् यस्य यज्ञानां प्रभवो हि विनिश्चितः ।।
(पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड ५०।१३५)

गौ देवी है, देवता है और त्रिशक्तिस्वरूपा आदि देवी है, अतः गौ की कृपा से ही समस्त यज्ञों की उत्पत्ति होती है, यह निश्चित है ।।१३५।।

त्वं माता सर्वदेवानां त्वं च यज्ञस्य कारणम् ।
त्वं तीर्थं सर्वतीर्थानां नमस्तेऽस्तु सदानघे ।।
(स्कन्द. ब्रह्म. धर्मारण्य. १०।१८)

हे पापरहित गौ ! तुम समस्त देवताओं की माता, यज्ञ की कारणरूपा और समस्त तीर्थों की तीर्थरूपा हो। अतः हम तुम्हें नमस्कार करते हैं ।।१८।। पशुओं में मध्यम हाथी के विषय में कहा गया है-

मुखशुण्डाभ्यां पानवत्वं हस्तिनो लक्षणम् ।

मुख और सूँढ़ से जो पान करे उसको हाथी कहते हैं। कुत्ते के विषय में बतलाया गया है कि-

स्वल्प-निद्रावत्वं शुनो लक्षणम् ।

अत्यन्त अल्प निद्रा वाले को कुत्ता कहते हैं। श्वपाक के विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि -

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचार-विहारवान् ।
क्षत्र-शूद्रवपुर्जन्तुरुग्रोनाम प्रजायते ।। (मनु. १०।९)

क्षत्रिय पुरुष से शूद्र की कन्या में क्रूर आचार और विहार करने वाला, क्षत्रिय तथा शूद्र के शरीरवाला उग्र नाम की जाति से युक्त उत्पन्न होता है ।।९।। और मनुस्मृति में लिखा है -

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
वैश्यराजन्य-विप्रेषु जायन्ते वर्णसंकराः ।। (मनु. १०।१२)

शूद्र से वैश्य स्त्री में आयोगव तथा शूद्र से क्षत्रिय स्त्री में क्षत्ता और शूद्र से ब्राह्मणी स्त्री में मनुष्यों में नीच चाण्डाल ये वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं ।।१२।। तथा मनुस्मृति में लिखा है कि-

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते ॥ (मनु. १०।१६)

क्षत्ता पुरुष से उग्रा स्त्री में जो उत्पन्न होता है उसको श्वपाक ऐसा कहते हैं ।।१६।। इससे सह साबित हुआ कि शूद्र से क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र क्षता होता है और क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न पुत्री उग्रा होती है । उस क्षता से उग्रा में उत्पन्न पुत्र श्वपाक कहा जाता है । इससे उपर्युक्त समस्त देहधारियों में आत्मा को समान देखता है और पिण्ड में भेद देखता है वही पण्डित है ।

इहैव तैर्जितः सर्गोयेषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

अन्वय :- **येषाम् साम्ये स्थितम् मनः तैः इह एव सर्गः जितः हि निर्दोषम् ब्रह्म समम् तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः ।**

अर्थ :- जिनका मन समता में स्थित है, उनके द्वारा यहीं (साधन दशा में ही) संसार जीत लिया गया है, क्योंकि निर्दोष ब्रह्म सम है, इसलिए वे (समदर्शी) ब्रह्म में स्थित हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि जिनका संकल्प विकल्पात्मक मन उपर्युक्त रीति के अनुसार सब आत्माओं की समता में स्थित है, उन्होंने यहीं साधन का अनुष्ठान करते समय ही संसार को जीत लिया, क्योंकि निर्दोष एवं सम आत्मा ब्रह्म अर्थात् प्रकृति के संसर्ग रूप दोष से रहित होने के कारण जो सम आत्मतत्त्व है, वह ब्रह्म है, इसलिये यदि वे आत्म-समता में स्थित हैं तो ब्रह्म में ही स्थित हैं । ब्रह्म में स्थित होना ही संसार पर विजय पा लेना है । अभिप्राय यह कि ज्ञान की एकाकारता से समस्त आत्माओं में समता देखने वाले पुरुष मुक्त ही हैं ।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

अन्वय :- **स्थिरबुद्धिः असंमूढः ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः प्रियम् प्राप्य न प्रहृष्येत् च अप्रियम् प्राप्य न उद्विजेत् ।**

अर्थ :- स्थिरबुद्धि, मोहसे रहित, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्म में स्थित पुरुष प्रिय (वस्तु) को पाकर न अत्यन्त हर्ष को और अप्रिय को पाकर न (तो) उद्वेग करे (यानी उद्विग्न हो जाये) ।

व्याख्या :- जिस प्रकार से स्थित होने पर कर्मयोगी के समदर्शन रूप ज्ञान की विपाकदशा सिद्ध होती है, उस प्रकार को बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि कर्मयोगी जिस प्रकार के शरीर में स्थित हो और जिस परिस्थिति में हो उसके अनुसार प्राचीन कर्मवासना से उसको जो प्रिय पुत्रादि की प्राप्ति और अप्रिय दुष्टादि की प्राप्ति होती है, उन दोनों को पाकर उसे हर्ष उद्वेग नहीं करना चाहिए । कैसे नहीं करना चाहिए ? स्थिर बुद्धि और असम्मूढ़ होकर, जिसकी बुद्धि स्थिर आत्मा में स्थित है, वह स्थिर बुद्धि है और अस्थिर शरीर के साथ स्थिर आत्मा की एकता करने के कारण जो मोह होता है वह सम्मोह है, उससे जो रहित है वह असमूढ़ है । उपर्युक्त प्रकार के अनुसार हो हर्ष शोक नहीं करना चाहिए ।

ऐसा किस प्रकार बने ? यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी महात्मा के उपदेश के द्वारा ब्रह्म को जानकर और उस ब्रह्म में अभ्यास करने वाला होकर वैसा बने । अभिप्राय यह कि तत्त्ववेत्ता पुरुषों के उपदेश से आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला होकर उसी के लिये प्रयत्न करता हुआ देहाभिमान का परित्याग करके स्थिर स्वरूप आत्मा के साक्षात्काररूप प्रिय अनुभव में भलीभाँति स्थिर रहे और प्रकृतिजनित क्षणभङ्गुर प्रिय तथा अप्रिय को पाकर हर्ष और उद्वेग न करे ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

अन्वय :- **बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा आत्मनि यत् सुखम् विन्दति सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा अक्षयम् सुखम् अश्नुते ।**

अर्थ :- बाह्यस्पर्श (यानी आत्मेतर बाह्य विषयों में) आसक्तिरहित मनवाला पुरुष आत्मा में जब सुख प्राप्त करता है, (तब) वह ब्रह्मयोग युक्त मनवाला होकर अक्षय (ब्रह्मानुभवरूप) सुख को भोगता है ।

व्याख्या :- यहाँ स्पर्श शब्द उपलक्षण के द्वारा और चारो शब्द, रूप, रस, गन्ध का भी वाचक है । आत्मा शब्द यहाँ मन वाचक है । उपर्युक्त प्रकार से जिनका मन आत्मा से अतिरिक्त अन्य शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध विषयों के अनुभव में आसक्त नहीं है, अन्तरात्मा में सुख प्राप्त करता है ।

अनुकूलतया वेदनीयं सुखम् ।

जो मनोनुकूल मालुम हो उसे सुख कहते हैं ।। वह ब्रह्माभ्यास में लगे हुए मनवाला पुरुष प्रकृति-विषयक अभ्यास को छोड़कर ब्रह्म-अनुभव रूप अक्षय सुख को प्राप्त होता है । यह सुख अवाङ्मनसगोचर है । इसकी तुलना किसी सुख से नहीं की जा सकती । सांसारिक भोगों में जो सुख की प्रतीति होती है वह नाशवान् और क्षणिक है ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

अन्वय :- **हि कौन्तेय ! ये संस्पर्शजाः भोगाः ते दुःखयोनयः एव आद्यन्तवन्तः, तेषु बुधः न रमते ।**

अर्थ :- क्योंकि हे कौन्तेय ! जो संस्पर्शजन्य भोग (यानी विषय और इन्द्रियों के संसर्ग से होने वाले भोग) हैं वे दुःख की ही योनियाँ हैं, आदि अन्तवाले हैं, इससे बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता ।

व्याख्या :- **'कौन्तेय'** सम्बोधन देकर भगवान् यह संकेत करते हैं कि माता को बड़ा जानना । क्योंकि श्रुति भी कहती है - **'मातृदेवो भव'** (तैत्ति. शि. व. ११।२) माता को देवता समझो ।।२।। पिता के वीर्य की रक्षा माता से ही होती है । यदि माता मर जाय तो उसका गर्भ भी नष्ट हो जाता है, परन्तु पिता के मरने पर भी माता ही पालन पोषण भलीभाँति कर सकती है । माता के न रहने पर पिता बालक का पालन पोषण बड़ी कठिनाई से कर सकता है । इसी को जनाने

के लिए यहाँ कुन्तीपुत्र कहते हैं । प्रकृति-जनित भोग का त्याग करना सुगम है, इसे बताते हुए भगवान् कहते हैं कि विषय और इन्द्रियों के संसर्ग से होने वाले जो भोग हैं वे भविष्य में दु:ख को उत्पन्न करने वाले हैं और आदि-अन्तवाले हैं, क्योंकि वे अल्प समय तक ही ठहरते देखे जाते हैं, इसलिये उन भोगों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला पुरुष उनमें नहीं रमता । इसी बात को भगवान् १८वें अध्याय में भी कहते हैं-

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ (गी. १८।३८)

विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न वह सुख जो पहले भोगानुभव के समय अमृत के तुल्य प्रतीत होता है परन्तु परिणाम में विष के सदृश होता है, वह राजस कहा गया है ॥३८॥ इसलिये कहा गया है कि-

उरोमुखं स्तनं स्त्रीणां कटाक्षं हास्यमेव च ।
विनाशबीजं रूपं च विपदां कारणं सदा ॥ (ब्र. वै. पु. कृ. ४।७५।२१)

स्त्री का उरु, मुख, स्तन, कटाक्ष एवं हास्य विनाश का बीज तथा विपत्ति का मूल करण है ॥२१॥ इससे बुद्धिमान् पुरुष अनर्थों से बचने के ध्येय से, भोगों में नहीं रमता है ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं संयुक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

अन्वय :- **यः शरीरविमोक्षणात् प्राक् इह एव कामक्रोधोद्भवम् वेगम् सोढुम् शक्नोति सः नरः युक्तः सः सुखी ।**

अर्थ :- जो शरीर छूटने से पहले यहाँ ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ होता है, वही मनुष्य युक्त है, वही सुखी है ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् काम क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन करने वाले पुरुष की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि जो नर-नारी शरीर छूटने से पहले यहीं साधनावस्था में ही आत्मानुभव की प्रीति के कारण काम-क्रोध के वेग को रोकने में समर्थ होता है वह आत्मानुभव का पात्र है । वह शरीर छूटने के उत्तरकाल में एकमात्र आत्मानुभव स्वरूप सुख का भागी बनेगा । विषय भोग की इच्छा का नाम काम है । दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के कारणरूप चित्तविकार का नाम क्रोध है । चेष्टा के आश्रय का नाम शरीर है । शरीर के विषय में लिखा है कि - **'अन्तवन्त इमे देहाः'** (गी. २।१८) ये सब शरीर अन्तवाले हैं ॥१८॥

तत्तु नाशि न संदेहो नाशिद्रव्योपपादितम् ॥ (वि. पु. २।१४।२४)

इसमें कुछ संदेह नहीं कि जो नाशवान् वस्तु से उत्पादित है, वह तो नाशवान् ही है ॥२४॥ यहाँ काम, क्रोध

से अभिप्राय यह है कि-जो काम शास्त्रविरुद्ध हो उसे रोकना चाहिए तथा दुराचारी अत्याचारी को दण्ड देने का क्रोध तो उचित ही है । जैसा कि राघवेन्द्र ने यज्ञविध्वंस करने वालों के प्रति किया ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

अन्वय :- **यः अन्तः सुखः अन्तरारामः तथा यः अन्तर्ज्योतिः एव सः ब्रह्मभूतः योगी ब्रह्मनिर्वाणम् अधिगच्छति ।**

अर्थ :- जो अन्तरात्मा में सुख वाला, अन्तरात्मा में ही रमण करने वाला और जो अन्तरात्मा में ही ज्योतिवाला है, वह ब्रह्मस्वरूप योगी ब्रह्मनिर्वाण (यानी आत्मानुभवरूप सुख) को प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- जो समस्त बाहरी विषयों के अनुभवों को छोड़कर एकमात्र आत्मानुभव रूप सुख वाला हो गया है जो एकमात्र आत्मा के ही अधीन है, आत्मा ही अपने गुणों से जिसके सुख को बढ़ानेवाली है तथा जो केवल आत्मा के ही ज्ञान से युक्त है, ऐसा वह ब्रह्मभूतयोगी आत्मानुभव रूप सुख को प्राप्त होता है ।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

अन्वय :- **छिन्नद्वैधाः यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः क्षीणकल्मषाः ऋषयः ब्रह्मनिर्वाणम् लभन्ते ।**

अर्थ :- द्वन्द्वों से छुटे हुए, यतात्मा (यानी आत्मा में ही मन को संयमित किये हुए) सब प्राणी की भलाई या हित में लगे हुए जिनके सब पाप नष्ट हो चुके हैं, (ऐसे) ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करने वाले पुरुष का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जो शीत-उष्ण मानापमान आदि द्वन्द्वों से विल्कुल छुटे हुए हैं, आत्मा में ही मन को नियन्त्रित रखने वाले हैं तथा अपनी ही भाँति समस्त भूतप्राणियों के हितों में लगे हैं और आत्मसाक्षात्कारपरायण प्रत्यक्ष द्रष्टा हैं, ऐसे वे आत्मप्राप्ति के विरोधी समस्त पापों का पूर्णतया क्षय कर देने वाले पुरुष ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करते हैं ।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विजितात्मनाम् ॥२६॥

अन्वय :- **कामक्रोधवियुक्तानाम् यतीनाम् यतचेतसाम् विजितात्मनाम् ब्रह्मनिर्वाणम् अभितः वर्तते ।**

अर्थ :- काम-क्रोध से रहित, यत्नशील, संयमित चित्तवाले विजितात्मा मनुष्यों के लिए ब्रह्मनिर्वाण सब ओर से (प्राप्त) रहता है ।

व्याख्या :- विषयभोग की इच्छा का नाम काम है । और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के कारणरूप चित्त विकार का नाम क्रोध है । **'यति प्रयत्ने'** धातु से यति बनता है । यहाँ आत्मा शब्द मन वाचक है । भगवान् कहते हैं कि - जो काम-क्रोध से भली-भाँति छूट गये हैं, यत्नशील हैं, संयमित मनवाले हैं और सर्वदा अपने मन को वश में किये हैं उनकी सब ओर ब्रह्मनिर्वाण रहता है । अभिप्राय यह कि ब्रह्मनिर्वाण सुख ऐसे पुरुषों की हथेली में रहता है ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

(यह युग्म श्लोक है, आगे वाले श्लोक में 'यः' कर्तृपद एवं 'अस्ति' आक्षिप्त क्रियापद को लेकर अन्वय और अर्थ होंगे ।)

अन्वय :- (यः) बाह्यान् स्पर्शान् बहिः एव, च चक्षुः भ्रुवोः अन्तरे नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा (अस्ति) ।

अर्थ :- (जो) बाह्य विषयों को बाहर ही करके और नेत्र को भ्रुवों के बीच में करके तथा नासिका के भीतर विचरने वाले प्राण और अपान को सम कर के (रहता है)

व्याख्या :- भगवान् अपने लक्ष्यभूत योग शीर्षक उक्त कर्मयोग का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जो पुरुष बाहर के विषय शब्द, रूप स्पर्श, रस और गन्ध भोगों को बाहर करके समस्त बाह्य इन्द्रिय व्यापार को समेट कर, योगसाधन के उपयुक्त आगे छठें अध्याय में कहे गये -

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ (गी. ६।११)

जहाँ न तो अशुद्ध पुरुष रहते हों, न उनके द्वारा (वह स्थान) लिया हुआ हो और न अशुद्ध वस्तुओं के द्वारा जो स्पर्श किया हुआ हो, ऐसे पवित्र स्थान में जो न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा ही हो तथा जिस पर वस्त्र, मृगछाला और कुशा एक के ऊपर एक बिछे हुए हों ऐसे काष्ठ आदि से बने हुए आसन को स्थापित करके ।।११।। आसन पर बैठे और छठे अध्याय के ही १३वें श्लोक के अनुसार-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ (गी. ६।१३)

काया, सिर और गले को सम, अचल एवं स्थिरतापूर्वक धारण करके अन्य दिशाओं को न देखता हुआ अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर ।।१३।। स्थिर बैठे और आँखों को भौंहों के मध्य से अथवा 'चकार' से नासिका के अग्रभाग पर लगाकर, नासिका के भीतर विचरने वाले प्राण और अपान को सम करके उच्छ्‌वास और निःश्वास की गति को सम करके अर्थात् केवल कुंभक करके बैठता है । जिसको पतंजलि महर्षि कहते हैं-

श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ (यो. १।२।४६)

श्वास, प्रश्वास की गति का विच्छेदन करना ही प्राणायाम है ।।४६।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

(यह युग्म श्लोक है, इस लिए पूर्व श्लोक के स्पर्शान्....आदि पद और 'अस्ति' आक्षिप्त क्रियापद

को लेकर अर्थ होगा ।)

अन्वय :- **यतेन्द्रियमनोबुद्धिः मोक्षपरायणः मुनिः यः विगतेच्छाभयक्रोधः सः सदा एव मुक्तः ।**

अर्थ :- (जो बाह्य विषयों को बाहर ही करके और नेत्रों को भ्रुवों के बीच में करके तथा नासिका के भीतर विचरने वाले प्राण और अपान को समान करके) इन्द्रियों (दसो इन्द्रियों) मन और बुद्धि के वश में करने वाला मोक्षपरायण मुनि जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह सदा ही मुक्त है ।

व्याख्या :- जो आत्मसाक्षात्कार के सिवा अन्यत्र कहीं भी न लगने योग्य दस इन्द्रिय, संकल्प विकल्पात्मक मन, व्यवसायात्मिका बुद्धि से युक्त है और इसी कारण जो इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित होकर मोक्ष-परायण हो गया है, अर्थात् एकमात्र मोक्ष ही जिसका प्रयोजन रह गया है, ऐसा जो मुनि यानी आत्मदर्शनशील पुरुष है वह सदा मुक्त ही है, अर्थात् वह साधन-दशा में भी सिद्धावस्था की भाँति मुक्त ही है ।। भय के विषय में १६वें अध्याय के पहले श्लोक के श्रीरामानुजभाष्य में लिखा है कि -

इष्टानिष्टावियोगसंयोगरूपस्य दुःखस्य हेतुदर्शनजं दुःखं भयम् ।

इष्टवियोग और अनिष्ट-संयोगरूप दुःख के कारण को देखकर होनेवाले दुःख का नाम 'भय है । तथा क्रोध के विषय में १६वें अध्याय के चौथे श्लोक के श्रीरामानुज-भाष्य में लिखा है कि-

क्रोधः परपीडाफलचित्तविकारः ।

दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के कारण रूप चित्त-विकार का नाम 'क्रोध' है ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृछति ॥२९॥

अन्वय :- **मां यज्ञतपसां भोक्तारम् सर्वलोकमहेश्वरम् सर्वभूतानाम् सुहृदम् ज्ञात्वा शान्तिम् ऋच्छति ।**

अर्थ :- मुझको यज्ञ-तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर (और) सभी का (सम्पूर्ण प्राणी का) सुहृद् जानकर शान्ति को प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- नित्य और नैमित्तिक कर्मों की इतिकर्तव्यता विषयकयोग शीर्षक पूर्वोक्त कर्मयोग की सुख-साध्यता बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि यज्ञ-तपों का भोक्ता, यज्ञ विषय में गीता के १६वें अध्याय के पहले श्लोक के श्रीरामानुजभाष्य में लिखा है कि-

यज्ञः फलाभिसन्धिरहितभगवदराधनरूपमहायज्ञाद्यनुष्ठानम् ।

फलाभिसन्धिरहित भगवदराधन के रूप में किये जाने वाले पंचमहायज्ञादि के अनुष्ठान का नाम 'यज्ञ' है । यज्ञ के तीन भेद बताते हुए भगवान् १८वें अध्याय में कहते हैं-

१- फलकामना से रहित पुरुषों के द्वारा 'यज्ञ करना ही कर्तव्य है' इस भाव से मन का समाधान करके जो

यज्ञ शास्त्रविधि के अनुसार किया जाता है, वह सात्त्विक है ।। (गी. १७।११)

२- परन्तु भरतश्रेष्ठ ! जो फल को लक्ष्य बनाकर और दम्भ के लिये भी किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान ।। (गी. १७।१२) और-

३- विधिहीन, शास्त्रविहित अन्न से रहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धारहिन यज्ञ को तामस कहते हैं ।। (गी. १७।१३) तथा तप के विषय में १६वें अध्याय के पहले श्लोक के श्रीरामानुज-भाष्य में लिखा है कि-

तपः कृच्छ्रचान्द्रायणद्वादश्युपवासादेः भगवत्प्रीणनकर्म-योग्यतापादनस्य करणम् ।

भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्म करने की योग्यता उत्पन्न करने वाले कृच्छ्र चान्द्रायण तथा द्वादशी-उपावासादि व्रतों के करने का नाम 'तप' है ।। तप भी तीन प्रकार के वर्णन करते हुए भगवान् गीता में कहते हैं कि-

२- देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी का पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शारीरिक तप कहलाता है ।। (गी. १७।१४)

२- उद्वेग न करने वाले, सत्य प्रिय और हितकर वाक्य तथा स्वाध्याय का अभ्यास यह वाचिक तप कहलाता है ।। (गी. १७।१५)

३- मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मविनिग्रह और भावसंशुद्धि-इतना यह मानस तप कहलाता है ।। (गी. १७।१६) ये तप भी सात्त्विक, राजस तामस तीन प्रकार के होते हैं । (१७वें अध्याय में देख लेंगे) । आगे भगवान् कहते हैं कि सर्वलोकमहेश्वर और सब भूतों के सुहृद् जिसके विषय में भगवद्गीता के छठे अध्याय के ६वें श्लोक के श्रीरामानुज-भाष्य में लिखा है कि -

वयोविशेषानङ्गीकारेण स्वहितैषिणः सुहृदः ।।

जो अवस्थाविशेष का (छोटे-बड़े का) विचार न करके स्वाभाविक ही अपने हितैषी हैं वे 'सुहृद्' हैं । ऐसा सुहृद् जानकर मनुष्य शान्ति को पाता है, अर्थात् कर्मयोग के सम्पादन में ही सुख प्राप्त करता है । यहाँ 'सर्वलोकमहेश्वर' का अर्थ समस्त लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर है । श्रुति भी कहती है-

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् । (श्वे. उ. ६।७)

उस ईश्वरों के भी परम महेश्वर को ।।७।। अभिप्राय यह कि मुझे सर्वलोक महेश्वर और सबका सुहृद् जानकर तथा कर्मयोग को मुझ परमेश्वर की आराधना मानकर मनुष्य सुखपूर्वक उसमें प्रवृत्त हो जाता है, क्योंकि सुहृदों की आराधना (सेवा) में सब लोग सहज ही प्रवृत्त हुआ करते हैं ।।२६।।

।। पाँचवा अध्याय समाप्त ।।

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।

अन्वय :- **श्रीभगवानुवाच-कर्मफलं अनाश्रितः यः कार्यम् कर्म करोति, सः संन्यासी च योगी, न च निरग्निः च न अक्रियः ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले कर्म फल का आश्रय नहीं लेनेवाला, जो पुरुष कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है, न कि अग्निरहित और न क्रियारहित (पुरुष)।

व्याख्या :- भगवान् संन्यासी और योगी को बताते हुए कह रहे हैं कि कर्मफल का आश्रय नहीं लेता अर्थात् जिसके हृदय में कर्म फल की भावना नहीं रहती है, बिना कर्मफल का अनुसंधान किये ही वेदविहित करने योग्य कार्यों को करता है, उसे ही संन्यासी और योगी कहते हैं, केवल अग्निरहित और क्रियारहित पुरुष को योगी और संन्यासी नहीं कह सकते। जो लोग कर्मों के त्याग को संन्यास मानते हैं वे सूर्य को प्रकाश-हीन बताने का साहस करते हैं । देहधारियों से कर्मों का त्याग असम्भव है । चलना, फिरना, देखना आदि सब कर्म ही हैं । गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान् ने स्वयं कहा है-

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

देहधारी पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग असम्भव है । जो कर्मफल का त्याग करते हैं उन्हें ही त्यागी कहते हैं । इसलिये जो लोग कर्म-त्याग को संन्यास मानते हैं और कहते हैं कि संन्यासी और योगियों को कर्म नहीं करना चाहिए, वे लोग मन्द-बुद्धि का परिचय देते हैं । परब्रह्म परमात्मा, राम-कृष्ण, जनक वशिष्ठ, शुकदेव, श्रीशंकराचार्य जी, श्रीरामनुजाचार्य जी आदि कर्मों के करने से क्या आत्म-ज्ञानी, संन्यासी और योगी नहीं थे ? देहधारियों से कर्मों का त्याग होना ही असम्भव है । कुछ लोग गोस्वामी जी की इस पंक्ति को **"कर्म कि होहिं-स्वरूपहि चिन्हें"** को बिना समझ ही यह कहते हैं कि स्वरूप का लाभ होने पर कर्मों का त्याग स्वतः हो जाता है । ऐसे कहने वालों को वास्तव में पंक्ति के अर्थ का ज्ञान ही नहीं है । यहाँ पर "कि" कुत्सित वाचक है । इसका अर्थ यह है कि आत्म स्वरूप का ज्ञान होने पर कुत्सित कर्म नहीं होते हैं । सत्य बात तो यह है कि आत्म-स्वरूप का ज्ञान होने पर ही तो त्यागी सुकर्मों को करता है । जब तक आत्म ज्ञान नहीं होता तब तक पशुओं के कर्म होते हैं, मनुष्यों के नहीं । इसलिये संन्यासी और योगी को केवल कर्म फल का त्याग करना चाहिए । "कृपणाः फलहेतवः" फलाकाँक्षी कृपण ही

होते हैं । वेदविदित कर्मों को यज्ञ, दान, तप, सन्ध्या आदि को नित्य ही करना चाहिए । केवल अग्नि का त्याग करने से संन्यासी नहीं कहा जा सकता है । संन्यासियों का वाह्य चिह्न मुख्य रूप से कमण्डलु और गैरिक वस्त्र की अपेक्षा दण्ड ही है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने स्पष्ट लिखा है- **'दण्ड यतिन कर भेद जहँ'** वाह्य चिह्नों को धारण करने वालों को संन्यासी अथवा योगी नहीं कह सकते । जबतक उनका आभ्यंतर चिह्न कर्म-फल-त्याग पुष्ट नहीं रहेगा तबतक अग्नि के त्यागने से क्रिया-त्यागी ही संन्यासी अथवा योगी नहीं कहे जा सकते हैं । इसलिये जोलोग संन्यासी अथवा योगी बनना चाहते हैं उन्हें कर्मों के फल की तृष्णा का त्याग कर देना चाहिये और वेदवहित कर्मों को नित्य ही करना चाहिए । जो लोग कर्म-फलों का त्याग कर यज्ञ-दान-तप करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् की वन्दना करते हैं वे निश्चय ही लौकिक सुखों को पाकर अंत में परमानन्द को प्राप्त करते हैं ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

अन्वय :- **पाण्डव ! यं संन्यासम् इति प्राहुः तम् योगम् विद्धि, हि असंन्यस्तसंकल्पः कश्चन योगी न भवति ।**

अर्थ :- हे पाण्डुनन्दन अर्जुन ! जिसको संन्यास (ज्ञानयोग) कहते हैं, उसीको तू योग (कर्म-योग) जान, क्योंकि संकल्पों का त्याग नहीं करने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ।

व्याख्या :- भगवान् पाण्डव कह कर पितृभक्ति की व्याख्या करते हैं ।

पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः ॥

पिता ही स्वर्ग, धर्म, तपस्या हैं । पिता के प्रसन्न होने पर सभी देवता प्रसन्न होते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि अपने पिता की सेवा करते हुए व्यक्ति को जगत्पिता परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए । परमपिता के प्रसन्न होने पर ही सभी देव प्रसन्न होते हैं । इन्द्र-पुत्र जयन्त पर परमपिता राम के क्रोधित होने पर उसके पिता इन्द्र, अन्य देवता, ब्रह्मा और शिव के समान महादेव भी जयन्त की रक्षा नहीं कर सके । इतना बताकर भगवान् इस श्लोक में योगी और संन्यासी के अर्थ को पूर्ण रूप से स्पष्ट करते हैं ताकि अर्जुन संन्यासी और योगी को दो न समझ ले । जिसको संन्यास कहते हैं उसीको योग भी कहा जाता है । संन्यास का अर्थ है अच्छी तरह से त्याग, अर्थात् जो वेद-विहित कार्य कर्म हैं उनको करते हुये कर्म-फल की स्पृहा को त्याग देते हैं उन्हें संन्यासी कहते हैं । यज्ञ, दान, तप आदि को यह सोच कर न करे कि इसके करने से मुझे स्वर्ग या मोक्ष मिलेगा वरन् यह सोचकर करे कि इन कर्मों को करना मेरा धर्म है । चाहे स्वर्ग मिले या न मिले । फलानुसंधान अनुग्रह करके कार्य को करना, संन्यास से विमुख होना है । गीता के अठारहवें अध्याय में जैसा कि भगवान् ने कहा है-

'काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः'

जिसने संकल्पों को अच्छी तरह नहीं त्यागा है वह योगी नहीं कहा जा सकता है । योगी का अर्थ होता है

जोड़ने वाला । अर्थात् अपने चित्त को परम आत्मा में जोड़ देता है उसे योगी कहते हैं । चित्त को आत्मा में जोड़ना बालकों का खेल नहीं है ।

साधारण जोड़ सीखने के लिये बालक को गुरु के पास जाना पड़ता है । उसी भाँति इस योग को सीखने के लिए गुरु के पास जाना पड़ेगा । गुरु के पास जाकर अभ्यास करना पड़ता है । यह अभ्यास तभी सफल होता है जब चित्त के कर्म-फल के संकल्प नष्ट हो जाते हैं । जब तक चित्त रूपी सरिता में संकल्पों की विचियाँ उठती रहेंगी तब तक आत्म-स्वरूप-दर्शन होगा ही नहीं । जब विचियाँ समाप्त हो जाती हैं, तब आत्म-स्वरूप दर्शन हस्तामलक बन जाता है । अथवा चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं । जब तक चित्त की वृत्तियों, संकल्प-विकल्पों का निरोध नहीं होगा तबतक चित्त आत्मा में नहीं लग सकता है । चित्त की वृत्तियों को निरोध करने के लिए निष्काम कर्मों को करना पड़ेगा । कर्म-फलासक्ति के त्याग को योग या संन्यास इसलिए कहते हैं कि संन्यास और योग से मनुष्य परम शान्ति प्राप्त करता है । यह परम शान्ति तब मिलती है जब उसका चित्त निश्चल समुद्र की भाँति शान्त हो जाता है । चित्त शान्त तब तक नहीं होता जबतक मनुष्य के हृदय में स्वत्व भावना रहती है । जब व्यक्ति अपने धन-जन को नष्ट होते हुए देखता है तब उसका चित्त चंचल हो जाता है और रुदन करने लगता है, उसी भाँति जब कर्म में फलासक्ति रहेगी तो फल न मिलने पर चित्त विकल हो जाता है और दु:खी होकर कर्म-त्याग कर देता है । कर्म-त्याग करने से देव-पित्रादि कष्ट पाते हैं । जब देव पित्रादि कष्ट पाने लगते हैं तब वह नरक-गामी बन जाते हैं तब उसे परमसुख न मिल कर महादु:ख मिलने लगता है । इसीलिए भगवान् ने कर्म-फल-आसक्ति के त्याग को संन्यास बताया है जो परम सुख को प्रदान करने वाला है ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारुढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

अन्वय :- **योगम् आरुरुक्षोः मुनेः कर्म कारणम् उच्यते । तस्य एव योगारुढस्य शमः कारणम् उच्यते ।**

अर्थ :- योगारुढ़ होने की इच्छावाले मुनि के कर्म (यानी) कर्मयोग कारण (यानी साधन) कहा गया है और उसी योगारुढ़ (जब वह योग में प्रतिष्ठित हो जाय) पुरुष के लिए शम (कर्म की निवृत्ति) कारण कहा जाता है ।

व्याख्या :- कर्म की ओर संकेत करते हुये ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है :-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।२।

जो लोग कर्मों को नहीं करते हैं वे आत्महन कहे गए हैं, उन आत्म हत्यारों को दुर्गति का वर्णन, उसी उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है :-

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

मनुष्य शरीर सुर दुर्लभ है । ऐसे अद्वितीय शरीर को पाकर जो मनुष्य अपने कर्म-समूहों को ईश्वर-पूजा के लिए समर्पण नहीं करते और कामोपभोग को ही जीवन का लक्ष्य मानकर कर्म-फलासक्त रहते हैं वे वस्तुत: आत्महत्या करने वाले ही हैं । इसीलिए मननशील मुनि के हेतु, योगी बनने के लिए कर्म ही प्रधान साधन है । कर्मत्याग से नरकगामी बनना पड़ता है । योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं कर्म करते थे । दो हाथों के कार्य को एक ही हाथ से करते थे । अथवा जो लोग योगी बनने की इच्छा करते हैं, उन्हें चित्तवृत्ति के निरोध के लिए यम नियमासन, प्राणायाम, धारणा ध्यान, समाधि स्वरूप कर्मों को अवश्य करना पड़ेगा । जबतक इन कर्मों को नहीं करेंगे तबतक चित्त निर्मल होकर आत्मा में लीन नहीं हो सकता है ।

जब योगी योगारूढ़ हो जाता है अर्थात् योग-सिद्धि अथवा समत्व बुद्धि की प्राप्ति हो जाती है तब शम ही उसका कारण हो जाता है, अर्थात् उसके कर्म-फल की स्पृहा नष्ट हो जाती है । जब मनुष्य का चित्त आत्मा में लीन हो जाता है तब उसे सदा सर्वत्र परमात्मा के दर्शन होते रहते हैं ।

जब व्यक्ति योगारूढ़ हो जाता है अर्थात् जब आत्मसाक्षात्कार कर लेता है तब वह कर्मों के प्रति मोह शोक से रहित होकर परमानन्द में मग्न रहता है । उसकी चित्त की वृत्तियाँ एकदम शान्त हो जाती हैं । अथवा प्राणायामादि कर्मों से समाधिस्थ हो जाता है । तब उसकी चित्त-वृत्तियाँ शान्त होकर आत्मा में मिल जाती हैं । जैसे सम्पूर्ण नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं उसी भाँति सम्पूर्ण इन्द्रिय रूपी सरितायें आत्मा रूपी समुद्र से मिल कर शान्त हो जाती हैं । इसलिए योगारूढ़ के लिए शम कारण बताया गया है ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारुढस्तदोच्यते ।।४।।

अन्वय :- **यदा हि न इन्द्रियार्थेषु न कर्मसु अनुषज्जते, तदा सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारुढः उच्यते ।**

अर्थ :- जब (योगी पुरुष) निश्चयपूर्वक (हि=निश्चयार्थक है) न तो इन्द्रियों के अर्थों में आसक्त होता है (और) न कर्मों में तब सभी संकल्पों का त्याग करने वाला (वह पुरुष) 'योगारुढ' कहलाता है ।

व्याख्या :- पूर्व के श्लोक में भगवान् ने अर्जुन से योगारूढ़ होने के लिए साधन बताया था । इसमें भगवान् योगारूढ़ के चिह्न को बता रहे हैं जिसके द्वारा यह आसानी से समझा जाय कि योगी का चित्त समाहित हो गया है । जब योगी योगयुक्त हो जाता है तब उसकी ज्ञानेन्द्रियों में न आसक्ति रहती है न कर्मेन्द्रियों में । अर्थात् सांसारिक रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श की स्पृहा को त्याग कर अंतर के रूप, रस और गंध शब्द में आनन्द लेने लगता है । वाह्य रूप रसादि में उसकी इन्द्रियां रहती हैं किन्तु उसका मन नहीं रहता । वह कर्मेन्द्रियों-वाक्, पाणी, पाद आदि से वेद-विहित- कार्य कर्मों को करता है किन्तु फल-प्राप्ति के दृष्टिकोण से नहीं करता ।

"ग्रामं गच्छन् तृणम् स्पृशन्" की भाँति कर्मों को करता है ।

इसके अतिरिक्त वह सभी संकल्प और विकल्पों का परित्याग कर देता है । जब तक मन में संकल्प रहता है तबतक काम नष्ट नहीं होता है और जबतक काम नष्ट नहीं होता तबतक सुख नहीं मिलता । गोस्वामी तुलसीदास

जी लिखते हैं-

''काम अछत सुख सपनेहु नाहीं''

इसलिए काम को नष्ट करने के लिए संकल्प का परित्याग करना आवश्यक है । महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है :-

काम जानामि ते मूलं संकल्पात्त्वं हि जायसे ।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यति ॥१७७।२५॥

''हे काम मैं तेरे मूल कारण को जानता हूँ । तू नि:संदेह संकल्प से ही उत्पन्न होता है । मैं तेरा संकल्प नहीं करूँगा । अत: तू मुझे प्राप्त नहीं होगा । ''

कहने का तात्पर्य यह कि योगयुक्त योगी वाक् आदि दसो इन्द्रियों को हटाकर मन में विलीन कर देता है, जिससे मन में विषयों का स्फुरण न रहे । तब संकल्प विकल्पात्मक मन को ज्ञान स्वरूप बुद्धि में विलीन कर देता है । अर्थात् एकमात्र विज्ञान स्वरूप निश्चयात्मिका बुद्धि की वृत्ति के अतिरिक्त मन की कोई सत्ता नहीं रह जाती है । जिससे अन्य प्रकार का चिन्तन भी नष्ट हो जाता है । जब बुद्धि निश्चयात्मिका हो जाती है तब स्वत: जीवात्मा से परमात्मा का दर्शन होने लगता है । जैसा कि कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय में कहा गया है :-

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । (कठो. अ. १ व. ३ श्रु. १३)

इसलिये योगारुढ़ होने के लिए व्यक्ति को गीताध्ययन एवं प्राणायाम करते हुए कर्मेन्द्रियों के विषयों में आसक्ति न रखते हुए संकल्पों का त्याग करना चाहिये ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

अन्वय :- **आत्मना आत्मानम् उद्धरेत्, आत्मानम् न अवसादयेत्, हि आत्मा एव आत्मनो बन्धुः आत्मा एव आत्मनः रिपुः ।**

अर्थ :- (मनुष्य) आत्मा (यानी मन) से आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को नीचे न गिरावे (यानी उसका पतन न करे), क्योंकि आत्मा (मन) ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा (मन) ही आत्मा का शत्रु (यानी अपना शत्रु) है ।

व्याख्या :- योगारूढ़ व्यक्ति ही जन्म-बंधन के पाश से विमुक्त होता है । इसीलिए व्यक्ति को योगारूढ़ होने के लिए स्वत: प्रयत्न करना चाहिये । योगाभ्यास के द्वारा संस्कृत निश्चल मन के द्वारा अपनी जीवात्मा को संसार-सागर से उद्धार करे । **विषयासक्त** मन से अपने को नरक के गर्त में न ले जाय । मन ही आत्मा के उद्धार और पतन का कारण है । श्रीमद्भागवत महापुराण के ग्यारहवें स्कन्ध में कहा गया है :-

मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं, परिर्वतयेद्यत्'' २३।४३

मन ही संसार-चक्र को नित्य चलाया करता है । जिसका मन विषयों से हट जाता है वह समाधि को प्राप्त कर लेता है ।

''परोहि योगो मनसः समाधिः', श्रीमद्भा० ॥११।२३।४६॥

मन ही इस जीवात्मा का बंधु है । और वही शत्रु है । जिस व्यक्ति का मन निर्मल रहता है वही मन बंधु की भाँति आत्मा का उद्धार करता है । यदि मन विषयानन्द में मग्न रहता है तो आत्मा को शत्रु की भाँति निरन्तर महान कष्ट देता है । मन कल्पतरु के समान है । जिस प्रकार कल्पतरु के नीचे जैसी कामना की जाती है वैसा ही फल प्राप्त होता है । यदि कल्पतरु के नीचे भी हम सिंह या राक्षस या बुरी वस्तुओं की कल्पना करें तो हमारा नाश शीघ्र हो जाता है । यदि वहाँ संकल्प हमारा शुभंकर होता है तो हम शीघ्र ही आत्मोत्थान कर लेते हैं । उसी भाँति मन में जैसा संकल्प होता है वैसा ही फल पाते हैं । मन में ही ऋग्-यजु, साम और अथर्ववेद हैं और इसीमें नरक के द्वार हैं । यह दुधारी तलवार है । इससे आत्मोद्धार होता है और आत्महनन भी ।

इसीलिए यजुर्वेद में मन को शिव-संकल्प होने के लिए प्रार्थना की गयी है ।

''तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु''

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को योगाभ्यास से निर्मल बनने का प्रयत्न करना चाहिए । मन आत्मा का उद्धारक है और विषयासक्त मन, आत्म-हननकर्ता है । मन को निर्मल बनाने के लिए सत्संग करके ज्ञानार्जन से विषय विमुख होने का प्रयत्न करना चाहिए । मन के वश में कर लेने से मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति होती है ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अन्वय :- **येन आत्मना आत्मा जितः तस्य आत्मा एव आत्मनः बन्धुः तु अनात्मनः आत्मा एव शत्रुवत् शत्रुत्वे वर्तेत ।**

अर्थ :- जिसके द्वारा आत्मा से आत्मा (यानी मन) जीत लिया गया है, उसके लिए आत्मा (मन) ही उसका बन्धु है, किन्तु जिसने मन को नहीं जीता है, उसका मन (आत्मा) ही शत्रु की भाँति शत्रुता में बरतता है, यानी शत्रु की भाँति बर्ताव करता है ।

व्याख्या :- भगवान् ने बताया कि - इस संसार में अपना बन्धु अपनी आत्मा ही है दूसरा नहीं । जिस व्यक्ति ने अपनी आत्मा द्वारा अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीत लिया है, अर्थात् इन्द्रिय रूपी घोड़ों को अच्छी तरह मन रूपी लगाम में वश में कर लिया है । उसी व्यक्ति की आत्मा अपना बन्धु है । कहने का तात्पर्य यह है कि जो लोग जिह्वा, नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियों के विषय के वशीभूति रहते हैं अर्थात् जिह्वा के स्वाद के लिये जो हिंसा करते हैं, कर्ण-सुख के लिये दूसरों की बुराई सुनते हैं, नेत्र-सुख के लिये किसी के अपमान आदि को देखना चाहते हैं और चोरी-व्यभिचार आदि में जिन्हें सुख मिलता है ऐसे व्यक्तियों की आत्मा, अपना ही शत्रु है । जिस व्यक्ति ने उपर्युक्त बुराइयों से अपनी आत्मा को जीत लिया है उसकी आत्मा अपना बन्धु है । इसके विपरीत जिस व्यक्ति ने सुरदुर्लभ मनुष्य के शरीर को पाकर आत्मा का अपने
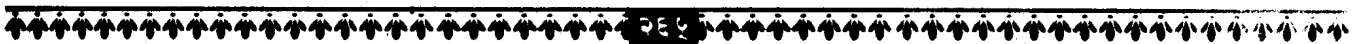
वश में नहीं किया है-अर्थात् चोरी, पर-स्त्री गमन हिंसादिक कार्यों में लगा रहता है उसको स्वयं ही शत्रु की भांति शत्रु भाव से मानने लगता है । अर्थात् अजितेन्द्रिय व्यक्तियों को शत्रु अनायास ही हो जाते हैं ।

रावण यदि जगज्जननी सीता को न चुराता तो राम उसके शत्रु न होते, इस प्रकार अपना शत्रु और मित्र व्यक्ति स्वयं ही है । इसलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि जन्मजन्मांतर से विषय भोग में आसक्त इन्द्रिय रूपी घोड़ों को मन रूपी लगाम से अपने वश में रखकर किसी की हिंसा, बुराई चोरी आदि कार्य न करे । सभी व्यक्तियों से मिल-जुल कर रहते हुये जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करे । संत-महात्माओं की सभा में जाकर सदुपदेश ग्रहण कर मानवोचित कर्मों को करना चाहिये । ज्ञातव्य है कि सभी मनुष्य, जन्म से मनुष्य नहीं होते । रावण ने अपनी मूर्खतावश नहीं, किन्तु चातुर्य के कारण ही ब्रह्मा से यह वरदान माँगा कि मैं मनुष्य और बंदरों के अतिरिक्त किसी अन्य से न मारा जाऊँ, क्योंकि मनुष्य कोई ऐसा होगा ही नहीं । कुछ मनुष्य यज्ञ, तपस्यादि करने से देव हो जायेंगे और कुछ कुकर्म करने से राक्षस होंगे । मनुष्य कोई हो नहीं सकता केवल श्री रामचन्द्र जी ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने मानवोचित कर्म किया, इसलिये व्यक्ति मनुष्य होने के लिये श्रीराम की भाँति माता-पिता और गुरुओं की आज्ञा माने और उनकी सेवा करे । चोरी व्यभिचार हिंसादिक कामों में अपना मन न लगावे ।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

अन्वय :- **शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।**

अर्थ :- शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान अपमान में जो जितात्मा है (यानी जिसका मन जीता हुआ है), (ऐसे) प्रशान्त पुरुष के (मन में) परमात्मा समाहित रहता है यानी सम्यक् रूप से स्थित रहता है ।

व्याख्या :- श्रेष्ठ आत्मा मनुष्य के समीप में है किन्तु उसे पाने का प्रयत्न नहीं करते हैं । यदि हम प्रयत्न करें तो अवश्य ही सफल हो सकते हैं । जिस प्रकार हमारे समीप की पृथ्वी के नीचे जल है किन्तु उसे हम तबतक नहीं पा सकते हैं जब तक खुदाई कर पृथ्वी का आवरण हम नहीं हटा लेंगे । उसी प्रकार श्रेष्ठ आत्मा को पाने के लिये शरीर के बाह्याभ्यंतर शौच की आवश्यकता है । जिस व्यक्ति ने शीत-उष्ण, सुख-दुःख को जीत लिया है और मान-अपमान में जो समान रहता है उसी जितेन्द्रिय प्रशान्त चित्त वाले पुरुष को श्रेष्ठ आत्मा की प्राप्ति होती है । शरीर में मुख के उदाहरण से स्पष्ट है कि शीत और उष्ण को हम आसानी से जीत सकते हैं । जब तक अमीर फकीर नहीं बनता तबतक उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती है । मुख शरीर का सबसे कोमल अंग प्रधान है किन्तु यह सम्पूर्ण अंगों की अपेक्षा शीत और उष्ण को सहता है, शरीर के अन्य अंग शीत और उष्ण के समय वस्त्र से ढक जाते हैं किन्तु मुख नहीं । इसलिए मुख की अधिक प्रतिष्ठा होती है । यदि हम प्रयत्न करें तो मुख की भाँति सम्पूर्ण अंगों से शीत और उष्ण को सहन कर सकते हैं । सभी मानव का शरीर समान है, किन्तु सहनशीलता के अभ्यास के कारण निम्नवर्गीय दीन व्यक्ति शीत और उष्ण को सरलता से सहन कर लेते हैं । जब कि धनी वर्ग के लोग समान शीत और गर्मी को सहन नहीं कर पाते हैं । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक और परलौकिक कार्य के लिये शीत और उष्ण का भय नहीं करना चाहिए ।

सुख दो प्रकार के होते हैं । १-लौकिक एवं २-पारलौकिक । जिसमें लौकिक सुख ६ प्रकार के होते हैं जिस व्यक्ति को छः सुख प्राप्त होता है वही सुखी माना जाता है । दूसरे प्रकार का सुख ब्रह्मानन्द सुख है जिसे बिरले लोग ही प्राप्त करते हैं । दु:ख भी तीन प्रकार के होते हैं - दैहिक, भौतिक, दैविक । दैहिक दु:ख के अन्तर्गत शारीरिक व्याधि है, दैविक दु:ख उसे कहते हैं जो एकाएक दैविक कारण से होता है । जैसे वज्रपात होना, ओला पड़ना आदि । भौतिक दु:ख के अन्तर्गत सर्प काट लेना आदि है । इन सुख-दु:ख में व्यक्ति को समान रहना चाहिये । दु:ख में अपने धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये । राजा हरिश्चन्द्र ने विपत्ति में अपने धर्म को नहीं छोड़ा । इसी से उनकी आज भी प्रतिष्ठा है । इसलिये व्यक्ति को दु:ख में अपने धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये । मान और अपमान में भी समान रहना चाहिये । संन्यासियों को ही केवल मान और अपमान में समान रहना चाहिये ऐसी बात नहीं है । सभी को मान और अपमान में समान रहना चाहिये । अपमान का बदला लेने के लिये तैयार नहीं होना चाहिये; क्योंकि इससे शत्रुता अत्यधिक बढ़ती है, घटती नहीं । उग्रसेन की भाँति मान अपमान, सुख-दु:ख में समान रहना चाहिये । जो अपमान के बदले किसी की हत्या कर देते हैं वे लोक में भी अप्रतिष्ठित होते हैं और उनकी सन्तान भी भविष्य में कष्ट पाती रहती है । इसलिये जो व्यक्ति शीत-उष्ण, सुख-दु:ख और अपमान को जीत लेते हैं वे नरक के द्वार काम, क्रोध, लोभ, मोह मंद और मात्सर्य को बिना प्रयास ही जीत लेते हैं ।

इन्द्रियों को वश में जिसने कर लिया है ऐसे जितेन्द्रिय पुरुष को, जिसका चित्त प्रशान्त है, अर्थात् किसी भी प्रकार की सांसारिक विपत्तियों से घबढ़ाने वाला न हो ऐसे व्यक्तियों के पास श्रेष्ठ आत्मा सर्वत्र प्राप्त रहती है । प्रह्लाद का चित्त बिल्कुल समुद्र की भाँति प्रशान्त था । पिता के द्वारा दी गई विपत्तियों में वह शांत बना रहता था । इसलिये श्रेष्ठ आत्मा उसके समीप थी । इसी प्रकार जो व्यक्ति परम आत्मा को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें जितेन्द्रिय और प्रशान्तचित्त वाला बनना चाहिये । यदि चित्त में कभी विकार भी आवे तो उसी प्रकार, जैसे जल में लाठी मारने से विकार होता है और शीघ्र नष्ट हो जाता है ।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

अन्वय :- **ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थः विजितेन्द्रियः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः योगी युक्तः इति उच्यते ।**

अर्थ :- जिसकी आत्मा (यानी मन) ज्ञान, विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ है, विजितेन्द्रिय है और मिट्टी, पत्थर तथा स्वर्ण को समान समझनेवाला है, वही योगी युक्त है, ऐसा कहा ज़ाता है ।

व्याख्या :- जो व्यक्ति परम आत्मा के समीप है अर्थात् जिसका मन और अन्तःकरण परम-श्रेष्ठ आत्मा में लगा है उसका बाह्याभ्यंतर चिह्न जानना आवश्यक है । बिना चिह्न जाने हम नहीं जान सकते हैं कि वह व्यक्ति परम आत्मा के समीप है । अपने को हिन्दु घोषित करने वाले ब्राह्मण हिन्दु को, शिखा आदि वाह्य चिह्न का परित्याग नहीं करना चाहिये । वास्तव में बिना लिंग के लिंगी को नहीं जाना जा सकता है । कुछ लोग यह कहते हैं कि वाह्याडंबर को त्याग कर केवल अभ्यंतर शुद्धि पर ध्यान देना चाहिये लेकिन बिना वाह्य शुद्धि के अंतर शुद्धि की संभावना करना सिकता से तेल निकालना है । चाँदी के सुन्दर पात्र के वाह्य भाग में मलालेपन कर यदि किसी तृषित को जल दिया जाय तो वह उसका पान वाह्य

शुद्धि के अभाव में नहीं कर सकेगा । इसलिए वाह्य और अंतर शुद्धि दोनों की आवश्यकता है ।

इसी हेतु श्रीकृष्ण भगवान् ने परम आत्मा के समीपस्थ के दोनों चिह्नों को बताया है । जिसका मन और अंत:करण परमात्मा में लगा रहता है, उसके अंतर ज्ञान, विज्ञानकूटस्थता और विजितेन्द्रियत्व ही अभ्यंतर चिह्न हैं । अब प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान किसे कहते हैं और ज्ञान का अधिकारी कौन है ?

आहार, निद्रा, भय, मैथुन के हेतु मनुष्य का तन नहीं मिला है । केवल ज्ञान-विशिष्ट होने के कारण मनुष्य सबसे दुर्लभ प्राणी है । इसलिए ज्ञान का अधिकारी केवल मनुष्य ही है । जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता है तब वह श्रेष्ठ आत्मा के समीपस्थ हो जाता है । वह ज्ञान क्या है ? अपना बड़प्पन प्रकट न करना, दम्भ न करना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की उपासना करना, वाह्यान्तर शुद्धता रखना, अपने मोक्ष मार्ग में स्थिर रहना, आत्म-विनिग्रह करना, इन्द्रिय आदि के विषय में वैराग्य होना, अहंकार न करना, जन्म-मृत्यु-जरा व्याधि-भय दु:खों के दोषों को देखना, आसक्ति रहित रहना, पुत्र-स्त्री-गृह आदि में मोह न करना, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में नित्य सम चित्तता रखना, अनन्य योग से भगवान् में निश्चल भक्ति रखना, एकान्तसेवी बनना, दुष्ट-जन-समुदाय में अरति रखना, आत्मा-विषयक ज्ञान में नित्य भाव रखना, तत्त्व ज्ञान के अर्थ को बार-बार देखना ही ज्ञान है । यह ज्ञान केवल मूर्तिपूजा या माला-जप से नहीं प्राप्त किया जा सकता है । यह तो ज्ञानी महात्मा और तत्त्वदर्शी के पास प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा से प्राप्त किया जा सकता है । परमब्रह्म होते हुये भी श्रीकृष्ण ने संदीपनि मुनिके यहाँ और श्रीराम ने विश्वामित्र जी के यहाँ ज्ञान प्राप्त किया है । उपर्युक्त ज्ञान के भाव को अपने अंत:करण में प्रत्यक्ष अनुभव को विज्ञान कहते हैं । जैसे वस्त्र से ढँके हुए मणि से वस्त्र को हटा देने से मणि प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार अन्त:करण में ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण होने से आत्मा प्रकाशित हो जाती है । इस प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से तृप्त आत्मावाले कूटस्थ और विजितेन्द्रिय व्यक्ति का अंत:करण आत्मा के समीप रहता है ।

कूटस्थ का तात्पर्य यह है कि निहाय की भाँति विपत्ति के हथौड़े को सहते हुये प्रसन्न रहना । राजा जनक और वसुदेव जी कूटस्थ थे । आठ-२ संतानों को कंस के द्वारा काल के मुख में जाते हुये देखकर भी वसुदेव जी अविचल रहे । वाल्मीकि ऋषि दीमक से आच्छादित हो गये, किन्तु वे टस से मस न हुये ।

इसी प्रकार जो परम आत्मा के पास रहने की इच्छा करता है उसे बड़ी से बड़ी विपत्ति में कूटस्थ रहना चाहिये ।

विजितेन्द्रिय उसे कहते हैं जिसने इन्द्रियों के विषय को जीत लिया हो और जिसके मन से विषय की रुचि और वासना भी नष्ट हो गई हो । जिस प्रकार हींग के पात्र में हींग न रहने पर वास रहता है उसी प्रकार पुरुष की वासना भी अंत:करण में रहती है, किन्तु विजितेन्द्रिय व्यक्ति की वासना भी नष्ट हो जाती है । उदाहरणार्थ नग्ना रम्भा के आलिंगन करने पर भी शुकदेव जी के मन में किंचिन्मात्र का भी विकार नहीं आया । इसलिये प्रत्येक मानव को शुकदेव जी की भाँति विजितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना चाहिये । जो योगी मिट्टी और सुवर्ण को समान समझता है, अर्थात् दूसरे के धन को मिट्टी की भाँति अग्राह्य समझता है, वही समाहित चित्त वाला कहा जाता है । यह बाह्य चिह्न है । इस प्रकार जिस व्यक्ति के पास उपर्युक्त दोनों प्रकार के वाह्यांतर चिह्न रहते हैं उसे ही युक्त (अर्थात् जिसका मान और अंत:करण

परम आत्मा से मिल गया है) कहते हैं ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अन्वय :- **सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु, च साधुषु पापेषु अपि समबुद्धिः विशिष्यते ।**

अर्थ :- सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुओं में और साधुओं में एवं पापियों में भी जो समबुद्धि (यानी समानबुद्धि रखने वाला) है, वह श्रेष्ठ (यानी विशिष्ट) है ।

व्याख्या :- जो स्वार्थ न चाहता हुआ दूसरे का हित चाहता है उसे सुहृद् कहते हैं । जैसे श्रीकृष्ण, सुदामा के सुहृद् थे । प्रत्युपकार चाहने वाले को मित्र कहते हैं । जैसे श्रीराम और सुग्रीव । श्रीराम ने सुग्रीव की स्त्री और राज्य को इसलिए दिलवाया कि उनको भी स्त्री (सीता) का पता सुग्रीव द्वारा लग सके । ऐसे मित्र चार प्रकार के होते हैं । (१) औरस-जैसे पुत्र पौत्र आदि, (२) कृत संबंध जैसे-विवाह आदि के संबंधी । (३) वंशक्रमागत जैसे-राम और श्याम मित्र हैं । उनके पुत्रों में भी यदि मैत्री रहती है तो इसे वंशक्रमागत कहेंगे । (४) महती विपत्ति के समय रक्षा करने वाला ।

अरि उसे कहते हैं जो माता पिता का अपमान करे और भरी सभा में अकारण किसी को अपमानित करे; जैसे-रावण जिसने अनरण्य राजा को अयोध्या की यज्ञशाला में मार डाला था ।

उदासीन उसे कहते हैं जो दो दलों में अलग (पक्षपात-रहित) रहे । मध्यस्थ वे हैं जो परस्पर विरोध करने वाले दोनों व्यक्तियों का हितैषी हो । जो दूसरों की प्रतिष्ठा आदि में अकारण द्वेष करता है, जैसे-राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण की पूजा होने पर शिशुपाल ने कृष्ण से द्वेष किया था-वह द्वेष्य कहा जाता है । बंधु उसे कहते हैं जो उत्सव, विपत्ति, अकाल, राष्ट्र-विप्लव, राजद्वार और श्मशान आदि में साथ देता हो । साधु उसे कहते हैं जो अच्छे मार्ग पर चलने वाले धर्मावलम्बी होते हैं । केवल गेरुआ कमण्डलधारी को ही साधु नहीं कहते ।

पापी उसे कहते हैं जो चोरी व्यभिचार दुराचार आदि में लगा रहता है ।

उपर्युक्त सुहृद् से लेकर पापियों तक में जो समान बुद्धि रखता है, वही श्रेष्ठ महात्मा कहा जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ महात्मा यह नहीं देखता कि जो मेरी सेवा कर रहा है वह मेरे लिए प्रिय है और जो मुझे अपमानित कर रहा है अथवा जो व्यभिचार आदि में फंसा है वह मेरे लिये अप्रिय है । श्रेष्ठ महात्मा तो सबको समान भाव से मानते हैं । उनके लिये सभी समान हैं । जैसे सूर्य चन्द्रमा जल वायु किसी का पक्षपात नहीं करते । सबके साथ चाहे श्वपच हो या ब्राह्मण, राजा हो या भिखारी, संत हो या दुष्ट एक-सा बर्ताव करता है । योगारूढ़ों में श्रेष्ठ योगी शीतोष्ण दु:खादि का सहन करे और समान व्यवहार सबों के प्रति करे ।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

अन्वय :- **यतचित्तात्मा योगी रहसि एकाकी स्थितः निराशीः अपरिग्रहः आत्मानम् सततम् युञ्जीत ।**

अर्थ :- चित्त और आत्मा (यानी मन) को वश में करलेने वाला योगी एकान्त में अकेला स्थित होकर, आशा और परिग्रह से रहित होकर अपने आपको निरन्तर (आत्मा में) युक्त करे ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् ने बताया है कि जो श्रेष्ठ महात्मा बनने के हेतु समबुद्धि को प्राप्त करना चाहता है उस योगी को निम्नलिखित साधनों के अनुकूल चलना चाहिये । जिसकी सत्ता संभव है उसे मनुष्य अपने प्रयत्न से प्राप्त कर सकता है । इसलिये योगी को एकान्त में चाहे गुफा हो चाहे नदी के किनारे या मन्दिर बाग आदि हो-अकेला ही बैठकर विषय-भोग और दुष्कर्मों से इन्द्रियों को जीतकर निरन्तर अपने मन को आत्मा में लगाना चाहिये । उदाहरण के लिए जब तक एक कुमारी के हाथ में दो कंकण थे तब-तक शब्द होता रहा । जब अकेला कंगन रह गया तभी उस कन्या को शान्ति मिली । इसलिये श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

वासे बहूनाम् कलहो वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत् तस्मात् कुमार्या इव कंकणः ॥ (श्रीमद्भा. स्कं. ११२)

इसलिये योगी अकेले एकान्त में सुखासन से बैठकर चित्त और आत्मा अर्थात् शरीर का निग्रह करके मन को आत्मा में लगावे । कहा गया है; 'रे चित्त ! चिन्तय चरणौ मुरारेः' । योगी को निराशी रहना चाहिये अर्थात् दूसरे की आशा न करे । केवल एकमात्र ईश्वर की आशा करे ।

निराशी योगी को अपरिग्रही बनना चाहिये । परिग्रह का अर्थ होता है 'परितः ग्रहः', अर्थात् चारों ओर से पकड़ने वालों का त्याग करे । ये परिग्रह पुत्र वनिता और धन हैं । अर्थात् जब तक व्यक्ति पुत्र वनिता और धन को अपना समझकर उनकी रक्षा के लिये अनेक कठिनाइयाँ को सहता रहता है जिससे उसकी बुद्धि मलिन होकर भगवद्-भक्ति विरत हो सांसारिक प्रपंचों में फँसी रहती है, तबतक व्यक्ति श्रेष्ठ महात्मा कदापि नहीं बन सकता । जबतक व्यक्ति किसी को अपना समझता है तभी तक उसे दुःख होता है । अपने पुत्र, धन, स्त्री आदि के नष्ट होने पर वह दुःखी होता है, क्योंकि इनमें उसकी स्वत्वबुद्धि रहती है । यदि वह अपने धन-पुत्र वनिता को दूसरे का समझ ले, तो उसे कभी दुःख नहीं हो सकता है । 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखी स्याम माधव' के कारण ही अर्जुन को मोह हुआ था ।

जबतक मन में सुत, वित्त और नारी की ईषणा बनी रहती है, तबतक व्यक्ति अपरिग्रही नहीं बन सकता है। विरक्त को कनक-कामिनी से सर्वदा बचना चाहिये । इसलिये समबुद्धित्व प्राप्त करने के लिए प्रत्येक योगी को चाहिये कि एकान्त में अकेले बैठकर आशा रहित हो अपरिग्रही बनकर सर्वदा मन को विषयों से हटाकर आत्मा में लगावे ।

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

(क्रिया पद न होने से - आगे के श्लोक में दिये गये 'युञ्ज्यात्' पद को लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- **शुचौ देशे न अत्युच्छ्रितं न अतिनीचम् चैलाजिनकुशोत्तरम् आत्मनः स्थिरम् आसनम् प्रतिष्ठाप्य-**

अर्थ :- शुद्ध स्थान में, न अत्यंत ऊँचा और न बहुत नीचा, (क्रमशः) वस्त्र, मृगछाला और कुशा एक के उपर एक (बिछाकर) अपना स्थिर आसन स्थापित करके (योगसाधन करे)

व्याख्या :- योगी को समबुद्धि प्राप्ति हेतु मन और इन्द्रिय को आत्मा में लगाने के लिये जो एकान्त स्थान बताया गया है उसमें भ्रम की संभावना है, क्योंकि श्मशान, कब्रिस्तान, शौचालय आदि सभी एकान्त स्थान हैं । एकान्त पवित्र देश में होना चाहिये । जिस देश में कृष्णसार मृग, पुण्य जल वाली गंगा यमुना आदि नदियाँ हों, और कम से कम बसंत ऋतु हो उसे पवित्र देश कहते हैं । ऐसे ही देश में योग हो सकता है । इस देश में भी श्मसान, कब्रिस्तान, गो-हत्या, बाल-हत्या आदि के अपावन स्थान में योग-साधन नहीं करना चाहिये । नदी के किनारे श्रीफल वृक्ष के नीचे, आनन्दवन या तपोवन मैं गोबर से लिपे हुये स्थान में मच्छर-खटमल लुप्त, हंस आदि जीव हों-वहाँ योगाभ्यास करना चाहिये । जिस प्रकार योग के लिये वाह्याभ्यंतर पवित्र भूमि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वाह्याभ्यंतर शुद्ध शरीर की । जिस व्यक्ति का अभ्यंतर शरीर मैथुन से उत्पन्न होने वाले मांस खाने से अशुद्ध है वह तेल साबुन आदि वाह्य उपचार की शुद्धि से भी उसी प्रकार अशुद्ध और संहारक है जैसे कब्रिस्तान और श्मशान भूमि पर बना हुआ पवित्र महल । इसलिये पवित्र चीजों के आहार से शरीर को भी बाहर भीतर शुद्ध रखना आवश्यक है ।

ऐसे पवित्र देश में न हिलने डुलने वाला आसन अर्थात् चौकी या भूमिमय आसन पर योगभ्यास करना चाहिये । यह आसन अपना हो दूसरे का नहीं । क्योंकि

आसनं शयनं वस्त्रं जायापत्यं कमण्डलुः ।
आत्मनः शुचिः एतानि परेषां न शुचिर्भवेत् ॥

आसन, शयन, वस्त्र, पत्नी, पुत्र और कमण्डलु अपने ही पवित्र होते हैं, दूसरे के नहीं । इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वस्त्रादि न दूसरे का प्रयोग करे न अपना दूसरों को दे । नहीं तो रोग होने की संभावना रहती है । इस प्रकार के अपने ही आसन को न अत्यन्त ऊँचे स्थान पर न अत्यन्त नीचे स्थान पर रखना चाहिये, क्योंकि ऊँचे स्थान पर आसन रहने से प्राणवायु को वश में करते समय यदि प्राकृतिक वायु का झोंका आ जायेगा तो योगी को रोगी होना पड़ेगा । इसी प्रकार अत्यन्त नीचा स्थान कंदरा गुफा आदि में आसन रहने से वात आदि रोगों की संभावना रहती है । इसलिये समतल भूमि पर आसन होना चाहिये ।

आसन कैसा हो ? सबसे पहले कुश, उसके उपर अजिन तब वस्त्र वाला ऐसा आसन नहीं होना चाहिये । यदि कपड़े को सबसे ऊपर बिछाते हैं तो गर्मी के कारण वदन में वह सट जायेगा और उसमें से दुर्गन्धि आने लगेगी । इसलिए इसको हम सबसे नीचे बिछाते हैं, जिससे अजिन आदि में दीमक न लगे क्योंकि अजिन आदि की अपेक्षा कपड़े में दीमक कम लगते हैं । कपड़ा कपास का होना चाहिये, रेशम का नहीं । कपड़े के ऊपर सर्वाङ्ग युक्त, नर-मृग के चर्म को मुख भाग को सामने और पृष्ठ भाग को पीछे करके बिछाना चाहिये । मृगचर्म ही उपयुक्त है, मृगा की अपेक्षा सर्वपूज्य गाय अधिक पवित्र है किन्तु इसके चर्म को नहीं बिछाना चाहियै क्योंकि सर्वप्रथम बहुत सी गाय मल भक्षण करती हैं, इसलिए मल का परमाणु भाग चर्म में रहने से गो-चर्म अशुद्ध है । दूसरी बात यह है कि गाय अत्यन्त शान्त पशु है । जब इसके चर्म पर बैठ कर योगाभ्यास करेंगे तो हमारे भीतर की शान्ति को गो-चर्म खींच लेगा, क्योंकि बड़ा चुम्बक छोटे चुम्बक को खींच लेता है । इसके विपरीत मृग-चर्म बहुत ही पवित्र होता है, क्योंकि मृग पवित्र उपवन के घास एवं जल का भक्षण किया करते हैं, इसीलिये उनका चर्म अति पवित्र रहता है । दूसरी बात यह है कि मृग अत्यन्त चंचल होता है

इसलिए उसका चंचल चर्म हमारे चंचल मन के चंचलत्व को खींच लेगा, जिससे मन शान्त होकर आत्मा में सरलता से लग सकेगा ।

मृग-चर्म के ऊपर कोमल कुश के बने हुये आसन को रखना चाहिये । कुश को ही क्यों रखना चाहिये दूसरे को नहीं, क्योंकि कुश में अन्य तृणों (वनस्पतियों) की अपेक्षा विद्युत्-शक्ति अधिक है । इसलिये देवपितृ-कर्म दानादि में कुश ही प्रयोग में लाते हैं । जिस प्रकार अधिक विद्युन्मय ताम्र के कंगन आदि के द्वारा शरीर के बहुत से रोग दूर किये जाते हैं उसी प्रकार कुश के आसन से रोग के कारण शरीर की विद्युत् शक्ति नष्ट होने से रोकी जाती है । इस प्रकार जो योगी पवित्र देश के एकान्त स्थान में समतल भूमि पर उपर्युक्त कहे गये आसन को बिछाकर बैठकर मन और इन्द्रिय को वश में करते हुये अपने अंत:करण और मन को निरन्तर आत्मा में लगाता है वह सर्वश्रेष्ठ महात्मा हो जाता है और वह समबुद्धि को प्राप्त करता है ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

अन्वय :- **तत्र आसने उपविश्य यतचित्तेन्द्रियक्रियः मनः एकाग्रम् कृत्वा आत्मविशुद्धये योगम् युञ्ज्यात् ।**

अर्थ :- वहाँ (उपर्युक्त वर्णित शुद्ध स्थान में) आसन पर बैठ कर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए, मन को एकाग्र कर आत्मशुद्धि के लिए योग का साधन करे ।

व्याख्या :- पूर्वोक्त 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' के अनुसार आसन बिछाकर ८४ आसनों में प्रमुख आसन जिसे भगवान् नारायण के शिष्य ब्रह्मा जी ने लगाया था उस कमलासन का अर्थात् बायें पैर की एड़ी को दायीं जंघा और दायें पैर की एड़ी को बायीं जंघा पर रखकर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखकर ध्यान-मुद्रा से बैठना चाहिए । इसके उपरान्त चित्त और इन्द्रियों को वश में करना चाहिए । अर्थात् कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के कर्मों को रोकना चाहिए । नेत्र, कर्ण, रसना, आदि ज्ञानेन्द्रियाँ जो सांसारिक रूप रस-गंध आदि में आनन्द ले रही हैं उन्हें आत्म-दर्शन रूपी रूप, वारुणी रूपी रस, अनहद-नाद के श्रवण का आनन्द लेना चाहिए । जिस प्रकार ज्ञान से पूर्ण होती हुई भी ज्ञानेन्द्रियाँ सांसारिक रूप रसादि में फँसने के कारण आत्म-स्वरूप को नहीं समझ पातीं उसी प्रकार शिक्षित व्यक्ति भी यदि वह प्रेम-मार्गी है तो आत्म-स्वरूप को नहीं जान सकता । इसलिये शिक्षितों को भीतर के (आभ्यंतर) संगीत-नाटक आदि को अवश्य देखने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इस प्रकार आसन लगाकर चित्त और इन्द्रियों को वश में करके मन एकाग्र करके या मन को एक को यानी ब्रह्म के अग्र लगाकर आत्मस्वरूप दर्शन रूपी दर्पण को विशुद्ध करने के लिये योगाभ्यास करना चाहिये । इसलिये जो योगी सर्वश्रेष्ठ बनना चाहता हो उसे अंत:करण की शुद्धि के लिये उपर्युक्त बताये गये आसन पर बैठकर मन को एकाग्र कर निरन्तर योगाभ्यास करना चाहिये ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

(क्रियापद 'आसीत' आगे के श्लोक से लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- कायशिरोग्रीवम् समम् अचलम् धारयन् च दिशः अनवलोकयन् स्वम् नासिकाग्रम् संप्रेक्ष्य स्थिरः (आसीत)

अर्थ :- काया, सिर और गले को सीधे अचल (बिना हिल-डुल के) धारण करते हुए अन्य दिशाओं को न देखते हुए (केवल) अपनी नासिकां के अग्रभाग को देखते हुए स्थिर (मेरा परायण होकर) बैठे ।

व्याख्या :- जो सर्वश्रेष्ठ महात्मा बनना चाहते हैं, पूर्वोक्त बनाये गये आसन पर कमलासन से बैठकर ग्रीवा और सिर को समान रखें । काया का अर्थ शरीर होता है किन्तु यहाँ काया से तात्पर्य शरीर के मध्य भाग से है । कमर से नीचे का नहीं । इसलिये इन तीनों (सिर, ग्रीवा एवं कन्धा) को एक सीध में करें अथवा सबको एक समान बनावे । जिस प्रकार खेत में गेहूँ उगाने के लिये खेत के ढेले को फोड़कर समतल बनाते हैं उसी प्रकार मुक्त होने के लिये, शरीर रूपी क्षेत्र को समतल करने के लिये बड़े-बड़े ढेले रूपी ६-चक्रों, १-मूलाधार चक्र, २-स्वाधिष्ठान चक्र ३-मणिपूरक चक्र, ४-अनाहत चक्र, ५-विशुद्ध चक्र, ६-आज्ञा चक्र तोड़कर एक बराबर करना चाहिये ।

इन चक्रों को तोड़ने के लिये महात्माओं की सेवा करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है -

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

इस प्रकार शरीर रूपी क्षेत्र को बराबर कर अचल और स्थिर रहना चाहिये । अर्थात् इन्द्रियों को इधर-उधर न घूमने देना चाहिये, और योगाभ्यास में धैर्य धारण करना चाहिये, घबड़ाना नहीं चाहिये । जिस प्रकार परिवार धनादिक के नष्ट होने पर भी हम क्षेत्र के लिये मर मिटते हैं और एक वर्ष की फसल नष्ट होने पर भी दूसरे वर्ष अच्छी फसल के लिये तैयारी करते हैं, उसी प्रकार शरीर रूपी क्षेत्र को समतल बनावे । जिसे 'मैं' कहते हैं उस आत्मा रूपी फसल को पाने के लिये धैर्य धारण करना चाहिये । असफलता मिलने पर भी घबड़ाना नहीं चाहिये । बार-बार उसी आत्म-दर्शन के लिये प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार कायशिर और ग्रीवा को समान करके अचल और स्थिर होकर, चोरों की भाँति अन्य दिशाओं और चञ्चल चित्त की भाँति, चित्र संगीत आदि की ओर न देखता हुआ अपनी नासिका के अग्र भाग को देखे । बहुत से लोग कहते हैं कि नेत्र बन्द करके ध्यान करना चाहिये । नेत्र बंद करने से नींद लगने की संभावना रहती है पर नासिका के अग्रभाग की ओर देखने से नींद आदि दोष नहीं आ पायेगा । और दूसरा लाभ मृत्यु-ज्ञान का होगा । इसलिये उपर्युक्त बताये गये विधानों का पालन करते हुये नासिका के अग्रभाग की ओर देखते हुए योगी योगाभ्यास करे ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

अन्वय :- प्रशान्तात्मा विगतभीःब्रह्मचारिव्रते स्थितः युक्तः मनः संयम्य मच्चित्तः मत्परः आसीत ।

अर्थ :- प्रशान्तात्मा भयरहित और ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर युक्त पुरुष (यानी योगी) मन को ठीक से रोककर मुझमें चित्त लगाकर तथा मेरे परायण होकर (आसन पर) बैठे ।

व्याख्या :- समबुद्धित्व प्राप्त करने की इच्छा वाले योगी को सर्वप्रथम ब्रह्मचारी के व्रत को धारण करना चाहिये । जो वेदानुकूल अपना जीवन बिताता है वह ब्रह्मचारी कहा जाता है, अथवा ब्रह्म माने परमात्मा और चर-गति, अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं । ब्रह्मचारी को अष्टांग मैथुनो -

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पो अध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेवच ॥ (अत्रि-संहिता)

किसी सुन्दरी का स्मरण करना, कीर्तन करना, उसके साथ हास्य-क्रीड़ा करना, गीध दृष्टि से देखना, एकान्त में बात-चीत करना, या उसकी प्राप्ति के लिये संकल्प और प्रयत्न करना, तथा मैथुन करना-इन्हें त्याग कर गुरु में निष्ठा रखते हुए उभय संध्या और गायत्री मंत्र के अनुसंधान के साथ-साथ साक्षर को स्वाध्याय और निरक्षर को गुरु-मंत्र का जाप करना चाहिए । 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' के अनुसार चलने वाला गृहस्थ भी ब्रह्मचारी बनकर योगाभ्यास कर सकता है ।

यह ऊपर कहे हुए की भाँति ब्रह्मचर्य व्रत में रहने वालों को भय त्याग कर देना चाहिए । जबतक भगवान् के चरणारविंद में मन-मधुप नहीं लगेगा तबतक अभय सुखों की प्राप्ति नहीं होगी । भर्तृहरि ने कहा है -

भोगे रोगभयं, कुले च्युतिभयं-वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं, बले रिपुभयं, रूपे जराया भयम्
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि, विष्णोः पदम् निर्भयम् ॥

निर्भय होकर जनक राजा की भाँति उद्वेग कारक बातों में भी अच्छी तरह से शान्त आत्मा वाला बनना चाहिये । मन को अच्छी तरह से वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये । जबतक मन वश में नहीं होगा तबतक योगाभ्यास सफल नहीं हो सकता है । इसलिये मन को अच्छी तरह वश में करके भगवान् में इस प्रकार चित्त लगाना चाहिये जैसा कि बाण बनाने में लगे शिल्पी का चित्त था, जिसके सामने से राजा की सशस्त्र सेना चली गयी लेकिन उसका ज्ञान उसको नहीं रहा । भगवान् में चित्त लगाने से सांसारिक रोग और घर-द्वार अपने आप छूट जाते हैं । जब गोपियों का चित्त भगवान् में लग गया तब न उन्हें अपने देह का ध्यान रहा न वस्त्र का न पति का, न घर द्वार का ही । जब भगवान् में चित्त लग जाता है तब व्यक्ति को अपनी सुधि भी भूल जाती है । विदुर की पत्नी का चित्त भगवान् में जबतक लगा रहा तबतक वह भगवान् को केले के छिलके खिलाती रही और भगवान् खाते रहे जब चित्त केले में लग गया तब भगवान् ने भी छिलका भी खाना बन्द कर दिया ।

इसलिये भगवान् में चित्त लगाकर भगवान् को ही सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिये क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है-

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७।७॥

भगवान् के समान ही कोई नहीं है तो अधिक कहाँ से हो सकता है । अर्जुन ने स्वयं गीता में कहा है

"न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो" ॥ ११।४३ ॥

भगवान् से बढ़कर निर्गुण ब्रह्म नहीं होता । निर्गुण उसे कहते हैं जो प्राकृतिक गुणों से रहित हो और सगुण उसे कहते हैं जो दिव्य गुणों से युक्त हो इसलिये निर्गुण और सगुण में कुछ भेद नहीं है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने स्पष्ट कहा है -

"निर्गुण सगुनहिं नहिं कछु भेदा" ।

इसलिये भगवान् को ही सर्वश्रेष्ठ समझे अथवा सांसारिक कार्यों में जैसे मन लगता है उसी भाँति भगवान् में लीन होना चाहिये । भगवान् में व्यक्ति जब तत्पर हो जाता है तब उसकी विपत्ति भी अपने आप दूर हो जाती है जैसाकि गोस्वामी जी ने लिखा है-

मंत्र महामनि विषय व्याल के ।
मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥

इसलिये उपर्युक्त क्रियाओं को करते हुये युक्त होकर अर्थात् ज्ञान-विज्ञान से तृप्तात्मा वाला और विजितेन्द्रिय होकर मिट्टी सोना और पत्थर को समान समझता हुआ योगाभ्यास के लिये योगी को बैठना चाहिये । ऐसा नहीं समझना चाहिये कि गृहस्थ योगी नहीं बन सकता है । जो गृहस्थ उपर्युक्त क्रियाओं को करता है वह योगी कहलाता है । क्योंकि गृहस्थ अर्जुन को भी कृष्ण भगवान् ने 'तस्मात् योगीभवार्जुन" ६।४६ अर्थात् योगी होने का ही उपदेश दिया है ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

अन्वय :- **एवम् सदात्मानम् युञ्जन् नियतमानसः योगी मत्संस्थाम् निर्वाणपरमाम् शान्तिम् अधिगच्छति ।**

अर्थ :- इस प्रकार सदा आत्मा (मन) को (मुझमें) जोड़ता हुआ निश्चल मन वाला योगी मुझमें स्थित निर्वाण की पराकाष्ठा रूपी शान्ति को प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- योगी को नित्य ही आत्मसाक्षात्कार करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये । वेदों में भी "अहरहः संध्यामुपासीत्" कहा गया है । संध्या का अर्थ होता है- सम अच्छी तरह और 'ध्या' का अर्थ ध्यान करना । अच्छी तरह से भगवान् का ध्यान करना चाहिये । ध्यान प्रतिदिन करना चाहिये । वेदों में भोजन आदि के लिये प्रतिदिन का विध ान नहीं किया गया है क्योंकि भोजनादि रागतः किये जाते हैं । इसलिये भगवान् योगी को प्रतिदिन योगाभ्यास करने के लिये चेतावनी देते हैं । योगी चार प्रकार के होते हैं -

१-मंत्र योगी-उसे कहते हैं जो प्रतिपाद्य देवता के मंत्र को १२ वर्ष तक जपता है ।

२-लय योगी-जो इन्द्रियों को बाह्य रूप रस गंध स्पर्श श्रवण से रोककर अंतर रूपादि दर्शन के लिये प्रयत्न करता है, उसे लय योगी कहते हैं ।

३-हठयोगी-जो सूर्य और चन्द्र अर्थात् पिंगला और इड़ा नाड़ियों में बहने वाले प्राण प्रवाहों अथवा प्राण और अपान वायुओं को एक में मिलाता है, उसे हठयोगी कहते हैं । सिद्धसिद्धांत पद्धति में हठ की परिभाषा इस प्रकार दी गई है ।

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगी निगद्यते ।।

४-राजयोगी-राजयोगी उसे कहते हैं जो अष्टांग योगों को सिद्ध करता हुआ समाधि तक पहुँचता है । राजयोग ही सबसे बड़ा योग है । इसकी प्रशंसा में कहा गया है-"**राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा, राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ।'**

('नि' माने) निश्चय करके (यत माने) उपरत हो गया है विषयों से मन जिसका ऐसे चारो प्रकार के योगी पूर्वोक्त बताये गये नियमों के अनुसार आसन पर बैठकर आत्मसाक्षात्कार के लिये प्रयत्न करते हैं अथवा अपने मन को आत्मा में लगाते हैं । उन्हें भगवान् में स्थित, दु:ख रहित परमशांति की प्राप्ति होती है । जब तक व्यक्ति को शांति नहीं मिलती तबतक व्यक्ति को सुखप्राप्ति नहीं होती । धन, वनिता, पुत्रादि प्राप्ति से मानव को शांति कभी नहीं मिल सकती । जबतक चित्त अशांत रहता है तबतक विश्व की सम्पूर्ण निधि रहने पर वह दु:खी ही रहता है । गीता में स्वयं भगवान् ने कहा है -"अशांतस्य कुतः सुखम् ।" अशान्त को सुख कहाँ ?

जिस प्रकार नदी का जल अचल परिपूर्ण समुद्र में पहुँचकर शांत हो जाता है उसी प्रकार जब सम्पूर्ण विषय वासनाओं की इच्छायें आत्मा में लीन हो जाती हैं, तब व्यक्ति को परम शांति मिलती है, जैसा कि गीता में भगवान् ने कहा है-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।२।७०।।

उदाहरणार्थ भृगु मुनि के हरि के वक्षस्थल में पद प्रहार करने पर भी भगवान् ब्रह्मा और शिव की भाँति क्रुद्ध न होकर 'अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने' कि हे तात । मेरा वक्षस्थल वज्र के समान कठोर है और आपके चरण अत्यंत कोमल हैं ऐसा कहकर भृगु मुनि के चरणों को सहलाने लगते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि जो योगी नित्य ही विषयों से मन को हटाकर आत्मा में मन लगाता है वह दुखत्रय से घबड़ाता नहीं है । उसका चित्त अथाह समुद्र की भाँति शांत हो जाता है और उसे भगवान् में परम शांति की प्राप्ति हो जाती है ।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि जिस प्रकार वह खेती करते-करते मर जाता है उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार के लिये मर मिटे ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।१६।।

अन्वय :- **अर्जुन ! न तु अत्यश्नतः च न एकान्तम् अनश्नतः, न अतिस्वप्नशीलस्य च न जाग्रतः एव योगः अस्ति ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! न तो अति भोजन करने वाले का और न सर्वथा भोजन न करने वाला का, न बहुत शयन करने के स्वभाव वाले का और न (सदा) जगने वाले का ही योग (सम्पन्न) होता है ।

व्याख्या :- योगाभ्यासी को सात्त्विकी आहार भी अत्यधिक नहीं करना चाहिये । उसे बादाम, किसमिस, पूड़ी इत्यादि के रसास्वादन में अपने को नष्ट नहीं करना चाहिये, नहीं तो योग की अपेक्षा रोग सिद्ध होने लगेगा । अमिताहारी थोड़े ही दिनों में कालमुख में अपने को स्वत: डाल देता है । साधु महात्माओं को पुण्य-लाभ हेतु आग्रह करके अधिक भोजन नहीं कराना चाहिये । जब वे अधिक भोजन कर लेंगे तो भजन पूजा आदि करने में असमर्थ हो जायेंगे । यदि सम्भवत: रोग-ग्रस्त हो गये तो पुण्य की अपेक्षा पाप ही होगा । अत्यधिक भोजन में मांसादि वृद्धि होने से आसन सिद्धि के अभाव में योग-सिद्धि-प्राप्ति की आशा करना सिकता से तेल की आशा करना है । यह भी बात नहीं है कि जो लोग बिल्कुल नहीं खाते हैं उन्हें योग की प्राप्ति होती है । अनशन से यद्यपि इन्द्रियाँ विषय से उपरत हो जाती हैं, किन्तु राग नहीं नष्ट होता है । जैसाकि गीता में कहा गया है -

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥२।५९॥

अनाहार से योग सिद्ध नहीं होता । अतएव व्रत उपवास के समय में भी न इतना अधिक खा ले कि भगवान् की भक्ति न हो सके । न कुछ खाये ही नहीं जिससे उसका मन भगवान् में न लगकर अन्न और जल में लगा रहे ।

योग-सिद्धि न अत्यन्त जागने वालों को होती है न अत्यन्त सोने वालों को । जो अत्यन्त शयन करता है वह अल्पायु बन जाता है और शीघ्र ही रोगग्रस्त हो जाता है । कुम्भकर्ण अत्यन्त वीर था, किन्तु अधिक सोने के कारण ही एक दिन युद्ध नहीं कर सका । इसीलिये शास्त्र में प्रात: काल उठने और दिन में नहीं सोने का आदेश दिया गया है ।

जो लोग अत्यन्त जाग्रत रहते हैं उन्हें भी योग-सिद्धि नहीं होती । इसीलिये गुडाकेश-नींद को जीतने वाले सात्त्विकवृत्ति स्वरूप अर्जुन को संबोधित करते हुये भगवान कहते हैं कि अत्यन्त जागने वाला योगी भी योग-सिद्धि में सफल नहीं हो सकता है, क्योंकि न सोने वालों को उन्माद का रोग हो जाता है । दूसरी बात यह है कि न सोनेवालों को ध्यान के समय निद्रा देवी का आनन्द मिलने लगता है ।

भगवान् ने 'च' शब्द का प्रयोग कर यह बताया है कि उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त जो लोग अधिक चलते हैं, अधिक परिश्रम करते हैं अत्यन्त शीत और आग में रहते हैं, अत्यन्त स्नान करते हैं, उन्हें योग-सिद्धि नहीं होती । गीता में सबसे कठिन अर्थ 'च' शब्द का ही है । एकबार जब कालिदास वाराणसी के पास रामनगर में आये तब वहीं पर व्यासजी की प्रतिमा को देखकर उनके उदर पर हथेली से थपथपाते हुये उन्होंने कहा कि इस उदर में बहुत ही 'च' भरा है, अर्थात् आपने पदपूर्ति के लिये अपने ग्रंथों में बहुत ही च का प्रयोग किया है । इतना कहते ही कालिदास की हथेली प्रतिमा में चिपक गई । आकाशवाणी के अनुसार कालिदास जी ने जब व्यासाष्टक लिखा तब उनकी हथेली छूटी । हथेली छूटने के बाद कालिदास ने काशी में जाकर 'चार्थ' पढ़ा ।

इसीलिये जो समत्व योग प्राप्त करना चाहता है उसे न अधिक आहार करना चाहिये न अनाहार ही । उसे न अधिक शयन और न अधिक जागरण करना चाहिए । उपर्युक्त अवगुणों को केवल योगी को ही नहीं, अपितु गृहस्थादि सभी को त्याग देना चाहिये । यदि उपर्युक्त.दोष नहीं त्यागे जायेंगे तो अध्ययन-अध्यापन कृषि, व्यापार नौकरी आदि सांसारिक कार्य भी नहीं हो सकते हैं । सांसारिक कामों में कुशलता लाना भी योग ही है । गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है -

योगः कर्मसु कौशलम् (गी. २।५०)

इसलिए प्रत्येकवर्ण और आश्रम के लिए उपर्युक्त दोष परित्याज्य हैं ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

अन्वय :- युक्ताहारविहारस्य कर्मसु युक्तचेष्टस्य युक्तस्वप्नावबोधस्य दुःखहा योगो भवति ।

अर्थ :- युक्त यानी नियमित आहार विहार करने वाले का, कर्मों में युक्त (यथायोग्य) चेष्टा करने वाले का और नियमित सोने एवं जागनेवाले का दुःखों को नष्ट करनेवाला योग (सम्पन्न) होता है ।

व्याख्या :- वेद के शब्दों का वही अर्थ करना चाहिए जो लोक में अर्थ होता है । यहाँ जो लोग आहार शब्द का अर्थ इन्द्रियों का आहार करना मानते हैं, वे सूर्य को दीपक दिखाने का साहस करते हैं । योगसिद्धि के लिये युक्त आहार की आवश्यकता होती है । युक्त आहार क्या है, इसका निरूपण करते हुये भगवान ने स्वयं १७ वें अध्याय में कहा है-

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

अर्थात् आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला आहार जिससे योग-सिद्धि होती है रस युक्त स्निग्ध, स्थिर, और हृदय को प्रिय लगने वाला होना चाहिए । आहार रस रहित, वासी, अस्निग्ध, रूखा-सूखा, अस्थिर शीघ्र पचने वाला अहृद्य एवं गरिष्ठ नहीं होना चाहिए । ताजा फल, गाय का दूध, मूँग की दाल, चावल का भात, आदि आहार योगी के लिए उपयुक्त होता है । शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जो अपने शरीर के अनुसार अन्न खाया जाता है वह रक्षा करता है, वह कष्ट नहीं देता । जो उससे अधिक होता है वह कष्ट देता है और जो प्रमाण से कम होता है वह रक्षा नहीं करता । इसलिए युक्त आहार करना चाहिये । युक्त आहार के लिए बताया गया है कि -

अर्द्धमन्नस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु ।
वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥

पेट का आधा भाग अन्नादि व्यंजनों से और तीसरा हिस्सा जल से तथा चौथे को हवा आने जाने के लिए खाली रखना चाहिये ।

योगी को युक्त विहार करना चाहिए । प्रात:काल उठकर वायु में टहलना चाहिए । लम्बी यात्रा नहीं करनी **चाहिये**, चलना फिरना बिल्कुल बन्द न कर दिया जाय, जिससे तमोगुण रूपी आलस्य तथा प्रमाद उत्पन्न होकर भजन **में बाधक** हो जायें । इसके अतिरिक्त वेद-विहित कर्मों को करना चाहिये । यज्ञ, दान और तप को प्रधान कर्म समझना **चाहिये** । जब परब्रह्म परमात्मा श्रीराम ने संध्यादि कर्मों को नहीं त्यागा तो साधारण योगी को उन्हें क्यों छोड़ना चाहिये **गोस्वामी** तुलसीदास जी भगवान् राम के विषय में लिखते हैं - 'संध्या करन चले दोउ भाई' - रा. मा. १।२३६।६

योगी को इतना अधिक शारीरिक श्रम नहीं करना चाहिये जिससे योग में बाधा उत्पन्न हो ।

आहार-विहार के साथ-साथ योगी का शयन और जागरण समयानुकूल होना चाहिये । अधिक जागने से भजन **के समय** नींद आती है । इसलिये दोनों युक्त होना चाहिये । प्रात:काल उठकर नित्य क्रिया करके योगाभ्यास करना **चाहिये** । जो लोग श्रेष्ठ गृहस्थ बनना चाहते हैं वे सन्यासियों के उठने के पहले ही उठें, क्योंकि उनके ऊपर गाय-बैल, **साधु**-संन्यासी परिवार आदि सभी का भार रहता है । राघवेन्द्र श्रीरामजी गुरु के उठने के पहले ही उठ जाते थे, जैसा **कि** तुलसीदास जी ने लिखा है --

"गुर ते पहिलेहिं जगत पति जागे राम सुजान" (- रा. मा. १।२६)

गुरु, संन्यासी, और परिवार के मालिक को भी प्रात:काल सबसे पहले उठना चाहिये । यदि वे ही पहले नहीं उठेंगे तो अपने अनुयायियों को कैसे उठावेंगे । दिन में, प्रात: काल, संध्या समय, शयन नहीं करना चाहिये ।

जो व्यक्ति उपर्युक्त बताये गये नियमों का पालन करते हैं उन्हें सम्पूर्ण दु:खों को नष्ट करने वाला योग सिद्ध **होता** है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
नि:स्पृह: सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

अन्वय :- **यदा विनियतम् चित्तम् आत्मनि एव अवतिष्ठते, तदा सर्वकामेभ्य: नि:स्पृह: युक्त: इति उच्यते ।**

अर्थ :- जब सब प्रकार से रुका हुआ चित्त आत्मा में ही स्थित होता है, तब सभी भोगों से नि:स्पृह हुआ योगी युक्त है, ऐसा कहा जाता है ।

व्याख्या :- स्नान आदि से तो बाह्य शरीर शुद्ध हो जाता है किन्तु चित्त का मल नष्ट नहीं होता है । जबतक चित्तरूपी दर्पण मल-रहित नहीं हो पायेगा तबतक आत्मा रूपी स्वरूप का दर्शन असम्भव है । चित्त का मल मन की चंचलता है । अनादि काल से अनेक योनियों में भ्रमण करने से मन चंचल हो जाता है । मनुष्य शरीर पाकर पूर्वाभ्यास के कारण **विष** रूपी विषय रस को ही चाहता है । विषय भोग की लालसा चित्त को निर्मल नहीं होने देती । जब योगी पूर्व के **बताये** आसन पर बैठकर नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ, युक्ताहार, विहार, आदि को करता हुआ योगाभ्यास करता **है तब** चित्त विषयों के चिन्तन को छोड़कर जिसके कारण शरीर की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ जीवित रहती हैं और जिसे मैं, मैं, कहा करते हैं, उस आत्मा में इस प्रकार स्थित हो जाता है जैसे नदियों का जल अपनी चंचलता को छोड़कर समुद्र में जाकर स्थिर हो जाता है । जब चित्त आत्मा में स्थिर हो जाता है तब योगी सम्पूर्ण ऐहिक-पुत्र, धन, स्त्री सुख और

स्वर्गिक--उर्वशी-इन्द्र पदवी-ऐरावत की कामनाओं की स्पृहा को इस प्रकार त्याग देता है जैसे सर्प केंचुल को । जब तक योगी कामनाओं की स्पृहा को नहीं छोड़ देता तबतक उसे शान्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती । कामनाओं की पूर्ति से कामना शान्त नहीं होती किन्तु और बढ़ती है । राजा ययाति कामवश होकर वृद्धावस्था में नवयुवती से विवाह कर अपने छोटे पुत्र से युवावस्था माँग कर भी कामनाओं की पूर्ति न कर सके । काम त्याग करने पर ही उन्हें शान्ति हुई । मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है -

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

अर्थात् काम के उपभोग से काम कभी शान्त नहीं होता, वह इसी प्रकार बढ़ता है जैसे हविष से अग्नि । इसलिए विषयों को विष की भाँति त्याग कर देना चाहिए । यदि हम स्वस्थ बुद्धि से विषय को सोचें तो स्पष्ट पता चल जायगा कि विषय (विषं याति) विषपूर्ण है । जो योगी योग-युक्त होना चाहता है उसके समक्ष आत्मा के अतिरिक्त सम्पूर्ण ऐहिक और पारलौकिक सुख तृण के समान रहता है ।

नचिकेता को यमराज मुक्तहस्त से ऐहिक और स्वर्गिक सुख दे रहे थे, लेकिन उसने यमराज को फटकारते हुए कहा-

''तवैव वाहास्तव नृत्यगीते'' (कठो.अ. १।व.१।२७)
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्व तदास्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्-वर्णरतिप्रमोदा-नतिदीर्घे जीविते को रमेत ।।२९।।

हे यमराज ! मनुष्य जीर्ण होनेवाला और मरणधर्मा है, इस तत्त्व को अच्छी तरह समझने वाला मनुष्य लोक का कौन बुद्धिमान् निवासी, जरा-मरण-शून्य मुक्त जीवों को जानकर स्त्रियों के रति-प्रमोद का ध्यान करते हुए इस लोक में जीवित रहने में आनन्द मानेगा ।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सांसारिक कामना रूपी मृग-मरीचिका में अपने प्राण को व्यर्थ नहीं अर्पण करना चाहिये । योग-युक्त होने के लिए पूर्व के बताये गये नियमों का पूर्णरूपेण पालन करना चाहिए । ऐसा नहीं कि योग गृहस्थ के लिए नहीं है । संन्यास लेने से ही योग नहीं होता है । योगाभ्यास करने से होता है । भगवान् श्रीकृष्ण ने योगी को उपदेश नहीं दिया है । एक गृहस्थ को उपदेश दिया है ।

यदा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जते योगमात्मनः ।।१९।।

अन्वय :- **यदा निवातस्थः दीपः न इङ्गते, योगम् युञ्जतः यतचित्तस्य योगिनः आत्मनः सा उपमा स्मृता ।**

अर्थ :- जैसे वायुरहित स्थान में स्थित दीपक हिलता-डुलता नहीं है, योग का अभ्यास करते हुए संयतचित्त योगी के आत्मस्वरूप की वही उपमा बतलायी गयी है (वैसी ही उपमा याद करायी गयी है)

व्याख्या :- जब योगी पूर्वोक्त बताये गये आसन पर बैठ कर काय ग्रीवा और सिर को समान करके नासिका के अग्रभाग में देखता हुआ नित्य ही आत्म-शुद्धि के लिए योगाभ्यास करता है तब उसका चित्त वायु रहित स्थान में रखे हुए प्रज्वलित दीप की भाँति उर्ध्वगामी हो जाता है । जिस प्रकार दीपक के प्रज्वलित होने पर अन्धकार विनष्ट होकर स्थान प्रकाशित हो जाता है उसी प्रकार योग सिद्ध होने पर योगी के चित्त का मलावरण नष्ट होकर आत्मा में मिल जाता है और उसे परम प्रकाश की प्राप्ति होती है । इसी परम प्रकाश में जीव अपने को माया की ग्रन्थि से मुक्त करता है । जबतक दीप निवातस्थान में न जाता रहेगा तबतक वह उर्ध्वज्वलित नहीं हो सकेगा । उसी भाँति जबतक चित्त वात-रहित नहीं होवेगा तबतक दीपशिखा की भाँति बुद्धि सूक्ष्म होकर उर्ध्वगामी नहीं बन सकेगी । अथवा जब योगी के अपान प्राण उदान आदि वायु सहस्रार चक्र से मिल जाते हैं, जब उसके चित्त की स्थिति निवातस्थ दीप शिखा की भाँति हो जाती है । निवातस्थ शब्द का प्रयोग कर गीताकार ने यह बताया कि योगाभ्यास वायु रहित स्थान में करना चाहिये अथवा दीप शिखा की भाँति, उर्ध्वज्वल हेतु चित्त को वायु (विषय) रहित रखना चाहिये । जबतक वह वायु रूपी विषय हृदय में रहेगा तबतक दीप प्रज्वलित नहीं हो सकेगा । गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है -

''जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई ।
तबहि दीप विज्ञान बुझाई ॥ (रा. मा. ७।११७।१३)

अथवा योगी को अपानादि वायु को जीतने के प्रयत्न करके निवातस्थ दीप की भाँति होना चाहिये । जब विषयों से चित्त को हटाकर योगी आत्मा में लगा देते हैं तब वे समबुद्धित्व को पाकर सांसारिक कार्यों को करते हैं, किन्तु कमल के पत्ते की भाँति निर्लिप्त रहते हैं । राजा जनक सांसारिक कार्यों को करते थे, किंतु उनमें उनकी आसक्ति नहीं रहती थी । इसलिए इससे यह सिद्ध होता है कि गृहस्थ भी पूर्ण योगी बन सकते हैं । भक्तिसारस्वामी के योग-युक्त होने पर निवातस्थ दीप की भाँति उनके उर्ध्वज्वलित तेज को देखकर शिवा सहित शिव जी मर्त्य वेश में आकर महात्मा से वरदान माँगने के लिए कहा, किन्तु उन्होंने कुछ नहीं माँगा । शंकर भगवान् के बार-बार हठ करने पर उन्होंने सुई में सूत डालने के लिए नेत्रों में शक्ति माँगी जिससे फटे कपड़ों की सिलाई आसानी से हो जाय । इस अपमान से, पत्नी की इच्छा से स्वामी जी को जाड़ा गर्मी और उष्ण विनाशक चादर को देने की इच्छा रखने वाले शंकर भगवान् ने क्रुद्ध होकर अपना तीसरा नेत्र खोल दिया । महात्मा ने अपने पदस्थित चक्रज्योति से उनकी ज्योति को रोक दिया । प्रलयकारी स्थिति आने पर भगवान् विष्णु ने स्वयं आकर निबटारा कराया ।

कहने का तात्पर्य यह कि योग-युक्त योगी की ज्योति अतुलनीया है । इसके समक्ष ब्रह्म भी नतमस्तक हो जाते हैं । इसलिए प्रत्येक मानव को उभय लोक के सुखों को प्राप्त करने के लिए पूर्वोक्त बताये गये नियमों के अनुसार योगाभ्यास करते हुए अपने चित्त को आत्मा में लगाने का प्रयत्न करना चाहिये । यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जब मानव मोक्षदायी भक्ति-मार्ग सम्प्रदाय का तुलसीदास जी की भाँति वर्ण गौरव को छोड़ कर दास बनता है ।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

अन्वय :- **योगसेवया निरुद्धम् चित्तम् यत्र उपरमते, च यत्र आत्मना आत्मानम् पश्यन् आत्मनि एव तुष्यति ।**

अर्थ :- योग के अभ्यास या सेवा से निरुद्ध चित्त जिस योग में उपरत (या उपराम) हो जाता है और जिस योग में आत्मा (यानी मन) से आत्मा को देखते हुए आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में आत्मा शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है । इसलिए यहाँ आत्मा नानार्थक है, क्योंकि एक ही चीज एकही समय में कई कामों में नहीं प्रयुक्त हो सकती है । यदि आत्मा शब्द का अर्थ केवल जीवात्मा ही होगा तो आत्मा में सप्तमी, द्वितीया और तृतीया का प्रयोग एक ही समय में नहीं हो सकता । आत्मा, शब्द के बहुत अर्थ होते हैं, जैसा कि कोश में लिखा गया है -

'आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे ब्रह्मणि रति'

जब योगी का चित्त योगाभ्यास के विषय से उपरत हो जाता है तब वह सुसंस्कृत मन से अपनी जीवात्मा में परमात्मा नारायण को देखता हुआ परम सन्तोष को प्राप्त हो जाता है । यत्र का प्रयोग करके गीताकार ने यह बताया है कि यह निश्चित नहीं कि योग केवल जीवन के उत्तरार्द्ध अवस्था में सिद्ध हो सकता है । कौमार, यौवन या वृद्धावस्था में पूर्व के बताये गये आसन पर बैठकर युक्ताहार विहार करता हुआ जब योगी का चित्त विषयों से उपरत हो जाता है । अर्थात् उसके चित्त में विषय की वासना और रुचि भी नहीं रहती तब-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (गीता) व्यापक रूप से सबके हृदय में रहने वाले ईश्वर को अपनी आत्मा में, आत्मा अर्थात् मन में देखता हुआ परमानन्द को प्राप्त करता है । जिस प्रकार मन्दिर में स्थापित मूर्ति में व्यापक ईश्वर की अर्चना करता हुआ भक्त अपनी सुधि बुधि खो देता है । उसी भाँति मन्दिर रूपी शरीर में प्रतिमा रूपी जीवात्मा के भीतर अन्तर्यामी व्यापक परमात्मा का दर्शन जब योगी एक बार भी विशुद्ध मन से कर लेता है तब उसका मोह शोक सब नष्ट हो जाता है और जीव को अकथनीय आनन्द प्राप्त हो जाता है । ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है --

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

अर्थात् योग की क्रियाओं को करता हुआ योगी जब परमात्मा को जान लेता है तब वह इतना आनन्दमय हो जाता है कि शोक मोह आदि विकारों की छाया भी उसके चित्त-प्रदेश में कहीं नहीं रह जाती । लोगों को देखने में सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः अपने प्रभु से ही क्रीड़ा करता है । आपनी आत्मा में विशुद्ध मन से भगवान् का दर्शन करने वाले मुनि सुतीक्ष्ण की दशा का वर्णन करते हुए गोस्वामीतुलसीदास जी ने लिखा है -

निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी, कह न जाइ सो दसा भवानी । (रा. मा. ३।९।१०)

साक्षात् परमपिता राम जगा रहे हैं पर परमानन्द लेने वाला योगी जगे कैसे ? उसके रोम रोम में तो प्रभु ही रम रहे हैं ।

मुनहि राम बहु भाँति जगावा । जाग न ध्यान जनित सुख पावा ।।

जब भगवान् चतुर्भुज रूप दिखाते हैं तब भी वे योगी द्विभुजरूपधारी रूपी मणि के बिना सर्प की भाँति व्याकुल हो जाते हैं-

मुनि अकुलाई उठा तब कैसे । विकल हीन मनि फनि कर जैसे ।

जब द्विभुजधारी भगवान् मिल जाते हैं तब उनकी दशा चित्रलिखित की भाँति हो ज़ाता है-

राम बदनु विलोक मुनि ठाढ़ा । मानहु चित्र माझ लिख काढ़ा ।''

कहने का तात्पर्य यह कि योगी को परमानन्द-प्राप्ति हेतु परमात्मा का दर्शन आवश्यक है । यह दर्शन लौकिक इन्द्रियों से अगम्य है । इसके लिए योगाभ्यास से चित्तवृत्तियों का निरोधकर बुद्धि को, सूक्ष्म मन को निश्चल और चित्त को विषय-वासना से मुक्त करना पड़ेगा ।

सुखमात्यन्तिकं एतद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

अन्वय :- **यत् तत् अतीन्द्रियम् बुद्धिग्राह्यम् आत्यन्तिकम् सुखम् यत्र वेति च यत्र स्थितः तत्त्वतः न चलति ।**

अर्थ :- जिस इन्द्रियों से अतीत, बुद्धिग्राह्य (यानी केवल एक आत्मविषयक बुद्धि से ग्रहण करने योग्य) आत्यंतिक सुख को जिस योग में वह समझ लेता है और जिसमें (यानी जिस योग में) स्थित हो वह फिर तत्त्व से विचलित नहीं होता है ।

व्याख्या :- जब योगी योगाभ्यास से सुसंस्कृत सूक्ष्म बुद्धि के माध्यम से अतीन्द्रिय ब्रह्मानन्द सुख को प्राप्त कर लेता है तब वह वास्तविक तत्त्वों के ज्ञान से विचलित नहीं होता है, अर्थात् जबतक योगी की सूक्ष्म बुद्धि नहीं होती तबतक परमात्मा को नहीं जान सकता है । कठोपनिषद् में कहा गया है -

''दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' अ. १ व ३।१२।

कि जिन्होंने भगवान् का आश्रय लेकर अपनी बुद्धि को योगाभ्यास से तीक्ष्ण बना लिया है, वे सूक्ष्मदर्शी ही सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उन्हें देख पाते हैं । वह इस सूक्ष्म बुद्धि के अतिरिक्त प्राकृत इन्द्रियों से नहीं जाना जाता है, जैसा कि केनोपनिषद् में कहा गया है-

''यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते'' ख १।४।
''यन्मनसा न मनुते'' ख. १।५।

वह ब्रह्म वाणी, मन, नेत्र श्रोत्र से नहीं जाना जाता है । इसीलिए सुख को अतीन्द्रिय कहते हैं । जब योगी क्षेत्र रूपी शरीर में रहने वाला क्षेत्रज्ञ जीवात्मा के द्वारा ''प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'' परमात्मा को जान लेता है तब उसे विषय और विद्यानन्द से उत्तमोत्तम ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है ।

आत्यन्तिक अतीन्द्रिय सुख को जब योगी अच्छी तरह समझ लेता है तब वह ब्रह्म, जीव और माया तत्त्व के ज्ञान पर दृढ़ हो जाता है और किसी प्रकार इससे विचलित नहीं होता, इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन गोस्वामी तुलसीदास

जी ने किया है । सुतीक्ष्ण जी ब्रह्मानन्द में मग्न हैं । भगवान् के जगाने पर केवल सत्य ब्रह्म को ही नहीं देखते हैं, वे तो ब्रह्म जीव और प्रकृति को भी देखते हैं - आगे देखि राम तन श्यामा । सीता अनुज सहित सुख धामा ।। केवल ब्रह्म ही सत्य नहीं है प्रकृति और पुरुष भी सत्य हैं, जो अनादि काल से चला आ रहा है । गीता में भगवान् स्वयं कहते हैं -

हे अर्जुन ! प्रकृति अर्थात् माया और पुरुष अर्थात् जीवात्मा को अनादि समझो । इसका बड़ा ही सुन्दर विवेचन श्वेताश्वतरोपनिषद् में किया गया है --

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा- वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता, त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥१।९॥

ईश्वर सर्वज्ञ और शक्तिमान् हैं, जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्ति वाला है, ये दोनों ही अजन्मा हैं । इसके सिवा एक तीसरी शक्ति भी अजन्मा है, जिसे प्रकृति कहते हैं । यह भोक्ता जीवात्मा के लिए उपयुक्त भोग-सामग्री प्रस्तुत करती है, यद्यपि ये तीनों ही अजन्मा हैं- अनादि हैं, फिर भी ईश्वर शेष दो तत्त्वों से विलक्षण हैं, क्योंकि वे परमात्मा अनन्त हैं, जैसा कि गीता के पन्द्रहवें अध्याय में कहा गया है -'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' ।१७। वे विश्वरूप हैं और कर्तापन के अभिमान से रहित हैं । मनुष्य जब इस प्रकार इन तीनों की विलक्षणता और विभिन्नताओं को अच्छी तरह समझ लेता है, तब वह सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मानन्द-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए । इसी ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने के लिए भर्तृहरि राजा सम्पूर्ण राजपाट के वैभव को छोड़कर योगी बन गये । सुर-दुर्लभ मनुष्य तन को विषयानन्द और विद्यानन्द में ही नहीं गवाँ देना चाहिए, यह फिर प्राप्त होने वाला नहीं है ।

मानुष तन दुर्लभ अहै, होय न दूजी वार ।
पक्का फल जो गिर पड़ा, पुनः न लागे डार ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्नियतो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

अन्वय :- **च यम् लब्ध्वा ततः अधिकं अपरम् लाभम् न मन्यते, यस्मिन् स्थितः गुरुणा दुःखेन अपि न विचाल्यते ।**

अर्थ :- और जिसे (जिस योग को) प्राप्त कर उससे बड़ा दूसरा लाभ नहीं समझता, जिसमें स्थित हुआ (योगी) बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं किया जा सकता ।

व्याख्या :- मन्दिर रूपी शरीर की प्रतिमारूपी जीवात्मा में निवास करने वाले अन्तर्यामी भगवान् का साक्षात्कार जब योगी योग-संस्कृत सूक्ष्म बुद्धि से कर लेता है तब उसे अन्य सांसारिक और स्वर्गिक भोगों की वासना और रुचि तक नहीं रहती । विषयानन्द और विद्यानन्द की बात तो दूर रही, उसे ब्रह्मानन्द से अधिक दूसरे आनन्द (यद्यपि कि ब्रह्मानन्द के समान अन्य आनन्द है ही नहीं) की स्पृहा भी नहीं रहती । वह ब्रह्मानन्द में इतना डूबा रहता है कि उसे महान से

महान कष्ट का ज्ञान ही नहीं रहता । यदि उसे कोई प्राण-दण्ड भी देवे तो उस स्थिति से विचलित नहीं होता । प्रह्लाद को महान से महान कष्ट देने के बाद जलती हुयी अग्नि की ज्वाला में डाला गया लेकिन वह अपने पथ से विचलित नहीं हुआ । भविष्य पुराण की एक आख्यायिका है । इलाहाबाद के झूसी में एक माण्डव्य नामक ऋषि रहते थे । एक बार कुछ चोरों ने राजा के यहाँ से स्वर्णादि चुराकर माण्डव्यऋषि की कुटिया की चारों ओर फेंक दिया । इस कारण राजा के सिपाहियों ने ब्रह्मानन्द-मग्न ऋषि को पकड़ कर राजा के यहाँ उपस्थित किया । राजा के मृत्यु दण्ड देने पर भी वे ध्यान से हटे नहीं । अन्त में उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया फिर भी ब्रह्मानन्द को न छोड़ सके ।

कहने का तात्पर्य यह कि जिस योगी को उपर्युक्त आनन्द प्राप्त हो जाता है उसे विश्व की कोई शक्ति भी उस दशा से हटा नहीं सकती है । इसलिए प्रत्येक मानव को योगाभ्यास करते हुए सांसारिक कष्टों को सहना चाहिए । आचार्य की सन्निधि में जाकर ज्ञानार्जन करते हुए अपने को आचार्य चरणों में निछावर कर देना चाहिए । ऐसा करने वालों को अवश्य निर्वाण पद प्राप्त होता है ।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

अन्वय :- **तम् दुःखसंयोगवियोगम् योज्ञसंज्ञितम् विद्यात् । सः योगः निश्चयेन अनिर्विण्णचेतसा योक्तव्यः ।**

अर्थ :- उस दुःख-संयोग के वियोग (यानी जिसमें दुःख का संयोग ही नहीं) को 'योग-संज्ञा' अर्थात् योग नाम वाला जाने । वह योग निश्चयपूर्वक हर्षित चित्त से (निर्वेदरहित चित्त से) किये जाने योग्य है ।

व्याख्या :- संसार में ऐसा कोई जीव नहीं है जिसे दैहिक, दैविक और भौतिक दुःख न प्राप्त होते हैं । सभी दुःख के निवारण के लिए प्रयत्न करते रहते हैं । ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा नहीं होगा जो दुःख को अङ्गीकार करे । जीव को धन मिला, पुत्र मिला, वनिता मिली, ऊँचा से ऊँचा स्थान भी मिला पर किसी के मुख से सुनने को नहीं मिला कि मैं सुखी हूँ । वस्तुतः संसार के जितने विषय हैं उनके समागम से क्षणिक सुख होता है, पर जीव उसी विषय को सुख का साधन समझता है । सुख मिले कैसे ? विषय तो विषमय होते ही हैं ।

ऊपर कहे गये दुःखों के संयोग के वियोग को प्रदान करने वाला एकमात्र योग ही उपाय है । योग शब्द से घबड़ाने और भय करने की आवश्यकता नहीं है । यह दुःखत्रय को नाश करने वाला है । जो दुःखों के संयोग से जीव को वियोग करने वाला है, उसीको योग कहते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि योग जीव के सम्पूर्ण दुःख को दूर कर सुख प्रदान कराने वाला है । इस योग को प्रसन्न चित्त से अवश्य करना चाहिए । इसे यह समझ कर न करे कि योग सिरदर्द बना हुआ है । इसे तो प्रसन्नचित्त से प्रतिदिन नियमित रूप से करना चाहिए । जबतक चित्त प्रसन्न नहीं रहेगा तबतक योग की सफलता भी दूर रहेगी । यदि योग करते समय चित्त प्रसन्न रहेगा तो सभी दुःख शीघ्र ही दूर हो जायेंगे । जैसा कि गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है-

प्रसादे सर्वदुखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशुबुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥२।६५॥

चित्त की प्रसन्नता पर सम्पूर्ण दु:ख दूर हो जाते हैं और बुद्धि भी स्थिर हो जाती है । अप्रसन्न चित्त रहने पर किया हुआ योग भी इसके विपरीत फल को देता है । अथवा योगाभ्यास वैराग्य चित्त से करना चाहिए । जबतक वैराग्य चित्त से योगाभ्यास नहीं होगा तब तक मन की चञ्चलता नहीं नष्ट होगी, न जीव को दु:खत्रय से मुक्ति की प्राप्ति ही होगी ।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

अन्वय :- **संकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा, मनसा एव इन्द्रियग्रामम् समन्ततः विनियम्य ।**

अर्थ :- संकल्प से उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं या भोगों को पूर्णतः त्याग कर मन के द्वारा ही इन्द्रिय समूह को सभी ओर से रोक कर (अन्य कुछ भी चिन्तन न करे)

व्याख्या :- जिस प्रकार किसी घर में दस व्यक्तियों वाले परिवार में एक मालिक रहता है जो परिवार को उचित रूप से चलाता रहता है, उसी भाँति मुखादि नव छिद्र वाले शरीर में रहने वाले दसो इन्द्रियों का स्वामी एक मन ही है । मन के वश में सभी इन्द्रियाँ रहती हैं, पर मन किसी के वश में नहीं रहता । जैसा कि श्रीमद्भागवंत के ग्यारहवें स्कंध में कहा गया है -

मनो वशोऽन्येह्यभवन् स्म देवा - मनश्चनान्यस्य वशं समेति ।

इसी मन के द्वारा सभी संकल्प विकल्प होते हैं । संकल्प से कामनाओं की उत्पत्ति होती है, कामना इच्छा ही है । "काम्यते इति कामः" कहा गया है । जबतक कामनाओं का परित्याग नहीं किया जाता है तबतक बुद्धि की मलिनता नहीं नष्ट होती है । इन्हीं कामनाओं के विषय में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है -

"सुत वित नारि इषणा तीनी"

सुत, वित्त और नारि की ईषणा-कामना व्यक्ति की बुद्धि को मलिन कर देती है । मनुष्य की प्रमुख तीन ही कामनायें हैं। व्यक्ति सुत और नारि चेतन कामनाओं का त्याग किसी कारण वश कर सकता है, परंतु वित्त-अर्थात् सभी प्रकार के ध न (गोधन, गजधन, वाजिधन, विद्याधन इत्यादि) की जो जड़ है, उस कामना का परित्याग उसके लिए असम्भव है । जैसा कि एक कहावत है कि पुत्र शोक सहा जाता है किन्तु धन शोक नहीं । इसीलिए गोस्वामीजी ने सुत और नारि चेतनों के बीच में वित्त जड़ पदार्थ को इस प्रकार रखा है, जैसे लौह निर्मित तिजोरी के भीतर मूल्यवान धन हो । जैसे व्यक्ति तिजोरी के अपहरण का दु:ख सहन कर सकता है किन्तु धनापहरण का नहीं, उसी भाँति पुत्र वनिता की कामना का त्याग सम्भव है किन्तु कञ्चन का नहीं । सुत वनिता का परित्याग करने वाले कितने संन्यासी वित्त कामना की माया में पड़कर "उभय लोक निज हाथ नशावहिं" को चरितार्थ करते हुए देखे जाते हैं ।

इसलिए व्यक्ति को संकल्प से उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं का त्याग करना चाहिए । वासना और रुचि जबतक रहेगी तबतक बुद्धि निर्मल नहीं हो सकती । वासना और रुचि को त्यागने के लिए ही भगवान् ने अशेषतः शब्द का प्रयोग किया है ।
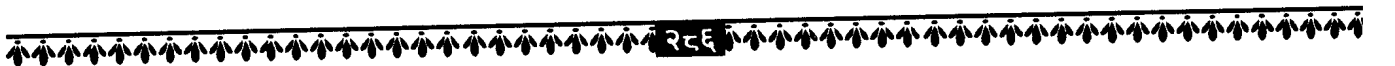
काशी में वरुणा नदी के एक किनारे पर एक महात्मा रहते थे जो प्रतिदिन संध्या के समय बड़े प्रेम से मनुष्यों को उपदेश दिया करते थे । दूसरे किनार पर एक वेश्या ऊँचे महल में रहती थी । जब महात्मा जी मनुष्यों को उपदेश देने लगते थे तब वेश्या अपने मन में यह सोंचती थी कि मैंने पूर्व जन्म में कुकर्म किया था जिसके कारण वेश्या बनकर पर पुरुष के हाथ बिकी रहती हूँ । यदि मैं पुरुष होती तो महात्मा जी के यहाँ जाकर उपदेश सुनकर अपना रास्ता बनाती । इधर महात्मा जी वेश्या को देखकर निरन्तर सोचा करते थे कि मैंने संन्यास लेकर कितनी भूल की । यदि आज मेरे पास धन होता और संन्यासी न होता तो मैं भी औरों की भाँति वेश्या के साथ विहार करता । परिणाम यह हुआ कि महात्मा जी मृत्यु के बाद यवन कुमार हुए और वह वेश्या राजा की धर्मपत्नी । इसलिए योगी को सभी कामनाओं को वासना और रुचि सहित त्याग करना चाहिए । जो मूढ़ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोक कर, इन्द्रियों के भोगों को मन से चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी दम्भी कहा जाता है, जैसा कि गीता में कहा गया है-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ३।६॥

इसलिए कामनाओं का अशेषतः त्याग आवश्यक है, बिना कामना परित्याग के शान्ति नहीं मिलती, तबतक सुख नहीं । शान्ति रूपी गेहिनी की प्राप्ति के हेतु श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि-

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
......................स शान्तिमधिगच्छति ॥२।७१॥

जो सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर स्पृहा रहित होकर जो कुछ मिलता है, उसी को खाता है अथवा, उसी से अपना जीवन व्यतीत करता है वह परम शान्ति को प्राप्त करता है ।

इसके अतिरिक्त मन से इन्द्रियों को चारो तरफ से रोकना आवश्यक है । इन्द्रियों को ज्ञान अच्छा नहीं लगता । सांसारिक विषयों में इन्द्रियों को बड़ा ही आनन्द मिलता है, जैसा कि संत शिरोमणि तुलसीदास जी ने लिखा है -

इद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई ।
विषय भोग पर प्रीति सदाई । उत्तर का. ११७।१५

जबतक विषयों से इन्द्रियों को नहीं रोका जायगा तबतक चित्त निर्विकार नहीं हो सकता । कुरंग मातंग आदि केवल एक इन्द्रिय के वश में रहने के कारण मारे जाते हैं तो मनुष्य की क्या दशा होगी जो दस दस इन्द्रियों के वश में रहते हैं । कहा गया है-

कुरंगमातंगपतंगभृंगमीनाः - हताः पञ्चभिरेव पंचः ।
एकप्रमादी सः कथं न हन्यते-यः सेवते पंचभिरेव पंचः ॥

इसीलिए आत्मा के साक्षात्कार करने की अभिलाषा करने वाले को दस इन्द्रियों को मन से अच्छी तरह वश में करना चाहिए । ये इन्द्रियाँ इन्द्रियों से वश में नहीं की जा सकती है ।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

अन्वय :- **धृतिगृहीतया बुद्ध्या शनैः शनैः उपरमेत् । मनः आत्मसंस्थं कृत्वा किञ्चत् अपि न चिन्तयेत् ।**

अर्थ :- धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे-धीरे उपरामता को प्राप्त हो (यानी उपरत हो) मन को आत्मा में स्थित करके (और) कुछ भी न चिन्तन करे ।

व्याख्या :- योगी पूर्वोक्त बताये गये आसन पर बैठकर युक्ताहार विहार करते हुये शनैः शनैः विषयों से मन को हटाकर ध्यान योग को सिद्ध करे । चंचल मन द्रुत गामिनी रेलगाड़ी के तुल्य है, इसे किसी स्टेशन पर एकाएक नहीं रोका जा सकता । सहसा रोकने से महती हानि होती है । प्राणायाम सिगनल को देखकर इसकी गति धीमी की जा सकती है । ८४ लाख योनियों में भ्रमण करने के कारण मन के बिगड़ जाने से इन्द्रियाँ पथ-भ्रष्ट हो गई हैं । सुरदुर्लभ मनुष्य तन मन की चंचलता को रोक कर परमात्मा-प्राप्ति के हेतु मिला है । ऐसे शरीर को पाकर यदि योगी उपरामता प्राप्ति के लिये शीघ्रता चाहता है तो अपने को उभय लोक के सुख से विमुख करता है । पक्के भवन तो एक दिन में तैयार होते नहीं, तो जन्म-जन्मान्तर का बिगड़ा हुआ मन एक दिन में या कुछ माह में कैसे अपनी चंचलता को छोड़कर परमात्मा में लग जायेगा । वाल्मीकि ऋषि के शरीर में दीमक लग गये तब परमानन्द की प्राप्ति हुई ।

शनैः शनैः धैर्ययुक्त बुद्धि से विषयों से मन को हटावे । बुद्धि और धृति को बताते हुए भगवान् ने स्वयं अठारहवें अध्याय में कहा है कि -

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

जिस बुद्धि से प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग कार्य (यथा ब्राह्मण के लिए यज्ञादि करना), अकार्य (यथा क्षत्रिय के लिए वेदज्ञ होते हुए यज्ञ न करना) भय (दुराचार से भय) और अभय (यथा सत्कर्म से भय न करना) तथा बन्धन (विषयासक्ति ही बंधन है) और मोक्ष (भगवान् की भक्ति) जाना जाय उसे सात्त्विकी कहते हैं । तथैव सात्त्विक धृति के संबंध में कहा गया है -

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ (गी. १८।३३।)

सात्त्विक धृति उसे कहते हैं जिस ध्यान योग के द्वारा, जिस अव्यभिचारिणी धारणा से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है । अव्यभिचारणी धारणा के संबंध में एक घटना उद्धरणीय है । काशी में पहले एक राजकुमार शरणगति मार्ग का पथिक बनकर संयमपूर्वक गायत्री मन्त्रादि का जप करते थे । एक दिन वामपन्थी ऐन्द्रजालिक की माया में पड़कर वाम पथ के मंत्रों का श्मसान पर जप करने लगे । बारहवें दिन वरदान देने के लिए उपस्थित यक्ष को राजकुमार ने देखना चाहा, किन्तु यक्ष ने मना करते हुए कहा - 'मुझ उपकारक को देखने का कष्ट न करें नहीं तो १२ वर्षों तक गायत्री मन्त्रादि के जप के कारण आप के नेत्र से निकले हुए तेज से भस्म हो जाऊँगा ।

केवल आप मुझसे वरदान माँगें ।' राजकुमार को मंत्र-शक्ति का ज्ञान होने पर अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसी समय प्रायश्चित करके पूर्व मार्ग पर आरुढ़ हो गए ।

उपर्युक्त धारणायुक्त सात्त्विकी बुद्धि से सम्पूर्ण विषयों से उपरामता प्राप्त मन को आत्मा में दृढ़तापूर्वक लगाकर अन्य विषयों का चिन्तन न करे । कहने का आशय यह कि योगी ध्यान करते समय धारणायुक्त सात्त्विक बुद्धि से निर्मल मन को जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप में विलीन करके ऐसी स्थिति में स्थित हो जाय जहाँ एकमात्र आत्म-तत्त्व के अतिरिक्त अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की सत्ता या स्मृति नहीं रह जाय ।

इसलिए परमानन्द प्राप्ति के जिज्ञासुओं को उपर्युक्त बताये गये नियमों के अनुसार ध्यान योग को सिद्ध करना चाहिये । यह ध्यान-योग केवल मन्दिर में ही नहीं प्राप्त हो सकता । जिस प्रकार भगवान् को छोड़कर गरुड़जी मर्त्यलोक में आकर महात्मा की शरण में गये उसी भाँति व्यक्ति को भी ज्ञानी महात्मा और आचार्य की शरण में जाकर ज्ञानार्जन करते हुए आचार्य सहित भगवान् की नित्य स्तुति करनी चाहिये ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

अन्वय :- **चञ्चलं अस्थिरम एतत् मनः यतः यतः निश्चरति ततः ततः नियम्य आत्मनि एव वशम् नयेत् ।**

अर्थ :- चञ्चल, अस्थिर यह मन जिस जिस कारण से (यानी शब्दादि विषयों के निमित्त से) विचरण करे (यानी बाह्य विषयों में विचरे), उस-उस से इसे रोक कर (यानी हटाकर) आत्मा में ही वश (निरुद्ध) करे ।

व्याख्या :- अर्जुन के हृदयगत इस सन्देह को -यदि यत्न करने पर भी मन वश में न हो तो योगाभ्यास को छोड़ दे या करे - दूर करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा कि मन दो चार माह या दस वर्ष के अभ्यास से भी वश में नहीं आता, तो आश्चर्य करने की बात नहीं है, न घबड़ाकर योगाभ्यास त्यागने की आवश्यकता है । दस वर्ष की नशा तो त्यागी नहीं जा सकती, तो मन ही को वश में करना आसान है ? यह मन 'एक तो तितलौकी दूसरे चढ़ी नीम के डार' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला है । कहने का तात्पर्य यह कि मन तो स्वयं वायु आदि से भी चंचल और अस्थिर रहने वाला है, दूसरे अनादि काल से विषयभोग से यह और ही नष्ट हो गया है । मन तो केवल इन्द्रियों से बड़ा है, बुद्धि और आत्मा से नहीं । जैसाकि गीता के तीसरे अध्याय में भगवान् ने कहा है कि-

'मनसस्तु परा बुद्धिः' । ३।४२

मन से श्रेष्ठ बुद्धि है । कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय में भी कहा गया है-

'मनसस्तु पराबुद्धिः' ॥ १।३।१०

मन से बुद्धि बलवान है ।

इसलिये यतो यतो-जिधर जिधर अर्थात् जिन-जिन विषयों की ओर चंचल और अस्थिर मन योगाभ्यास के

समय जाये उन-उन विषयों से योगसंस्कृता सात्त्विकी बुद्धि से मन को अच्छी तरह दमन करके, चंचल मन को आत्मा में ही लगावे । कहने का आशय यह कि जब योगी निरन्तर बिना घबड़ाये हुये गुरु की सन्निधि में जाकर युक्ताहार विहार करता हुआ स्वभावत: चंचल मन को विषयों से हटाने का प्रयत्न करेगा तो अवश्य वही मन विषय रूपी कामिनी का साथ छोड़कर आत्मा के सौन्दर्य में अपने को भुला देगा । पतंजलि ऋषि ने कहा है-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि: । समाधि पाद १४।

मन को वश में करने के लिये योगाभ्यास दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर व्यवधान रहित ठीक-ठीक श्रद्धा वीर्य भक्ति -पूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ अवस्था वाला हो जाता है ।

वाल्मिकी ऐसे डकैत और विषयी पुरुषों ने अभ्यास से मन की चंचलता को दूर कर आत्मा का साक्षात्कार करके यह सिद्ध कर दिया है कि यदि साधक के मन में वास्तविक श्रद्धा होगी तो अवश्य ही विषयों से मन को हटाकर आत्मा में लीन कर देगा ।

'प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

अन्वय :- **प्रशान्तमनसम् शान्तरजसम अकल्मषम् ब्रह्मभूतम् एनम् योगिनम् हि उत्तमम् सुखम् उपैति ।**

अर्थ :- प्रशान्त मन, रजोगुण रहित (यानी जिसका रजोगुण शान्त हो गया है) निष्पाप ब्रह्मरूप ऐसे योगी को निस्संदेह उत्तम सुख प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- युक्ताहार विहार और पूर्व के बताये गये 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' के अनुसार आसन पर बैठकर योगाभ्यास करने से जिस योगी का मन वासना और रुचि सहित विषयों से हट गया हो, ऐसे प्रशान्त मनवाला योगी रजोगुणं सहित तमोगुण को त्यागकर चारो प्रकार के पापों से विमुक्त हो जाता है । शान्तरजसं से केवल रजोगुण को त्यागने के लिए नहीं कहा गया है । जिस प्रकार अजहल्लक्षणा से 'काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्' केवल काक से दधि की रक्षा का ही विधान नहीं किया जाता है अपितु दधि को नष्ट करने वाले काक, श्वान, शृगाल आदि सभी से रक्षा के लिए विधान किया जाता है । उसी भाँति 'शान्तरजसं' का प्रयोग कर भगवान् ने तमोगुण को भी त्यागने के लिए कहा है । अब यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि भगवान् को रजोगुण और तमोगण का त्याग अभिप्रेत है तो क्यों नहीं उन्होंने सत्त्व गुणों को ग्रहण करने के लिए ही कहा । इसका उत्तर यह है कि भगवान् दूसरे अध्याय में स्वयं कह आये हैं कि ''नित्यसत्त्वस्थो'' अर्जुन सत्त्वस्थ होओ । यहाँ पर सत्त्वस्थ कहने की आवश्यकता नहीं । इसीलिए अजहल्लक्षणा से रजो और तमोगुण त्यागने के लिए कहते हैं । जबतक इन गुणों का त्याग नहीं होगा तबतक योगी का मन प्रशान्त नहीं हो सकता है । गुणों का वर्णन करते हुए भगवान् १४वें अध्याय में कहते हैं-

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्व गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निःसन्देह लोभ होता है, तथा तमोगुण से प्रमाद मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं । जबतक रजोगुण और तमोगुण के परित्याग से योगी सत्त्वस्थ होकर ज्ञान नहीं प्राप्त करता तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती है । कहा भी गया है--'ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः' बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। जब योगी सत्त्वगुण को ग्रहण कर लेगा तब रजोगुण और तमोगुण उसी प्रकार से पलायित हो जायेंगे जैसे बिल्ली के म्याऊँ मात्र करने पर चूहे पलायित हो जाते हैं । यदि कुछ ढीठ तमोगुण रूपी चूहे स्थित भी रहेंगे तो सत्त्वगुण रूपी विडाल, चूहे को सफाचट कर जायेंगे ।

मल-मूत्र की भाँति विषय से घृणा हो जाने से अच्छी तरह से शान्त मन वाला सत्त्वस्थ योगी चारो प्रकार के पापों से मुक्त होकर ब्रह्म-भूत,ब्रह्म का भूत (प्राणी) होकर उत्तम सुख को प्राप्त करता है । जो लोग ब्रह्मभूत का अर्थ ब्रह्म होना मानते हैं, वे अपनी मन्द बुद्धि का परिचय देते हैं । गीता में भगवान् ने १५ वें अध्याय में स्वयं कहा है-

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥७॥

हे अर्जुन ! यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है । उपनिषद्, (कठोपनिषद्) में कहा गया है-

'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति' (कठो. १।३।१)

अर्थात् ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध धूप और छाया की भाँति है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी लिखा है -

''ईश्वर अंश जीव अविनाशी'' । (रामचरित मानस उ० का०)

कि जीव, ईश्वर का अविनाशी अंग है ।

इसलिए अंश जीव, अंशी ब्रह्म नहीं हो सकता, धूप का स्थान छाया नहीं ग्रहण कर सकती ।

कहने का तात्पर्य यह कि जीव जो बहुत दिनों से परमात्मा से बिछुड़ कर इधर-उधर कष्ट पाता रहता है वह ब्रह्म-दर्शन से परम शान्ति को प्राप्त करता है । उसका जन्म-मरण नहीं होता । वह जीव ब्रह्म का दास बन जाता है, ऐसी अवस्था में जीव को सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है । इसलिये उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए जीव आचार्य की शरण में जाकर ज्ञान प्राप्त करके योगाभ्यास के द्वारा संस्कृता बुद्धि से प्रतिदिन मन को वश में करने का प्रयत्न करे । जब मन प्रशान्त हो जायगा तब जीव ब्रह्म का शेष होकर उत्तम सुख को प्राप्त करेगा और जन्म-मरण से मुक्त हो जायगा, जैसा कि गीता के आठवें अध्याय में भगवान् स्वयं कहते हैं -

''मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' (गी. ८।१६)

हे अर्जुन ! मुझे प्राप्त कर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है ।

अतः इस जीव को जिसका अंश है उसीको समर्पण करना चाहिये । भूत-प्रेत डाकिनी आदि को समर्पण करके ईश्वर अंश अविनाशी जीव को प्रेत-योनि में नहीं डालना चाहिये । सुरदुर्लभ मनुष्य तन की प्राप्ति होने पर भी यदि जीव अपने बिछुड़े हुए परमात्मा से नहीं मिल सका तो 'हीरा हेराय गयो कचरे में', वाली कहावत चरितार्थ होगी । इसलिए

व्यक्ति को परम सुख-प्राप्ति के हेतु आचार्य की शरण में जाकर भक्ति-मार्ग का पथिक बनना चाहिये और नित्य ही आचार्य की सूक्तियों को ध्यान करते हुये गुरु और ईश्वर की स्तुति करनी चाहिए ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

अन्वय :- **एवम आत्मानम् युञ्जन् विगतकल्मषः योगी ब्रह्मसंस्पर्शम् सुखम् अत्यन्तम् सुखेन सदा अश्नुते ।**

अर्थ :- इस तरह मन को सदा (आत्मा में) लगाता हुआ पापरहित योगी ब्रह्म से स्पर्श रूप यानी ब्रह्मानुभवरूप जो अपरिमित (सुख है), सुखपूर्वक सदा (उसे) भोगता है ।

व्याख्या :- पूर्व के बताये गये आहार विहार आसन और ध्यान की विधि के अनुसार पाप-रहित योगी, नित्य ही अपने मन को परमात्मा में लगाता हुआ बिना आयास के ही ब्रह्म-प्राप्ति के अद्वितीय सुख को प्राप्त करता है । कहने का तात्पर्य यह कि पहले के बताए गए आसन पर बैठकर युक्ताहार विहार से प्राणायाम के करने से कुछ काल में मनोनिग्रह हो जाता है । केवल मनोनिग्रह में आयास करना पड़ता है । मनोनिग्रह के पश्चात् योगी का मन परमात्मा में लीन होने लगता है। ऐसी परिस्थिति में योगी को आयास करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है । बिना आयास ही परमात्मा में मन लग जाने के कारण सम्पूर्ण चराचर के कारण-स्वरूप ब्रह्मसुख की प्राप्ति होने लगती है । यह सुख साधारण सुख नहीं है। यह इन्द्रिय-जन्य सुख नहीं होता है, ब्रह्मसुख के समान कोइ सुख ही नहीं । जो योगी एक बार भी इस सुख का रस योगाभ्यास के द्वारा पा जाता है वह त्रिलोक के सुखों को पद-धूलि समझता है ।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योग-युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

अन्वय :- **योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः सर्वभूतस्थम् आत्मानम् च सर्वभूतानि आत्मनि ईक्षते ।**

अर्थ :- (वह) योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदृष्टिवाला पुरुष सभी भूतों में स्थित आत्मा को और सभी भूतों को आत्मा में (स्थित) देखता है ।

व्याख्या :- योग के फल को बताते हुये भगवान् ने व्यक्त किया कि ईश्वर के साथ संयोग करने में लग गया है मन जिसका ऐसा चारो ओर समान देखने वाला योगी सम्पूर्ण चराचर में ब्रह्म को और ब्रह्म में सम्पूर्ण जड़ चेतनमय संसार को देखने लगता है । जब योगी की बुद्धि योगाभ्यास से सुसंस्कृता हो जाती है तब परमात्मा में उसका निर्मल मन लग जाता है । ऐसी स्थिति में वह सबको समान देखने वाला हो जाता है । यहाँ ''सर्वत्र समदर्शनः'' से सबके साथ समान व्यवहार करने वाला अर्थ नहीं लगाना चाहिये । इसका अर्थ यह है कि चारो ओर सम देखने लगता है । अर्थात् सम्पूर्ण चराचर उसे ब्रह्ममय दिखायी देने लगता है । गीता के पाँचवे अध्याय में कहा गया है कि -

निर्दोषं हि समं ब्रह्मं ५।१९

'परमात्मा निर्दोष और सम है' इसलिए उसे 'सियाराम मय सब जग जानी' (रा. बालकाण्ड) इस दशा का अनुभव होने लगता है ।

समदर्शी का तात्पर्य समदृष्टि रखने से है ।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। (गीता ५।१८।)

समदर्शी श्लोकोक्त सभी के साथ समान व्यवहार नहीं करते । गो-दुग्ध के समान कुतिया के दूध का भोग नहीं लगाते । ब्राह्मण के समान चाण्डाल के पैर की पूजा नहीं करते । समदर्शी सबको समान देखते हैं । सभी की आत्मा को समान देखते हुए किसी को कष्ट नहीं देते, सबको समान रूप से खिलाते हैं । शास्त्रानुसार जिसके साथ जैसा व्यवहार करना चाहिये वैसा व्यवहार करते हैं । इस प्रकार के समदर्शी योगी सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा को देखते हैं । यहाँ आत्मा शब्द ब्रह्म वाचक है, क्योंकि श्रुति कहती है-''आत्मा वारे द्रष्टव्यो, श्रोतव्यो, मन्तव्यो' । सबके हृदय में भगवान् रहते हैं जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है-

'सबके हृदय अक्षत अविनाशी'

गीता के १८वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं -

''ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'' १८।६१

यहाँ कृष्ण और ईश्वर में भेद नहीं है क्योंकि पन्द्रहवें अध्याय में कह आये हैं कि 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो'' मैं ही (श्री कृष्ण) सबके हृदय में अंतर्यामी रूप में स्थित हूँ । जीव अणुमात्र के होते हैं, जैसा कि वेदान्त सूत्र में कहा गया है 'अणवश्च', परन्तु ब्रह्म अणु से भी अणु हैं 'अणोरणीयान्' । कठो १।२/२०

अर्थात् युक्तात्मा योगी सम्पूर्ण चराचर में परमात्मा को देखता हुआ ब्रह्म में सबको देखता है, क्योंकि भगवान् महान् से भी महान् है-'महतोमहीयान्' कठो., १।२।२०

भगवान् के भीतर सभी भुवन हैं । अर्जुन को ११वें अध्याय में अपने शरीर में सम्पूर्ण चराचर को दिखाते हुये भगवान् कहते हैं :-

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् । गी. ११।७

हे अर्जुन ! मेरे शरीर में सम्पूर्ण चराचर को देखो । भगवान् के उदरस्थ सम्पूर्ण भुवन हैं । श्रीमद्भागवत पुराण के दसवें स्कंध में माता यशोदा के कृष्ण से पूछने पर ''तूने मिट्टी खायी है'' । श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं ''नाहं भक्षितवानम्ब' माता मैं मिट्टी को क्या खाऊँ, मिट्टी या सारा संसार मुझसे पृथक् नहीं है । यदि तुम्हें विश्वास नहीं है तो मेरे मुख में देखो । श्रीकृष्ण के मुख में ब्रह्माण्ड को देखकर आश्चर्यचकित रह गयी । काकभुशुण्डि जी ने भी राम के मुख में ब्रह्माण्ड को देखा था ।

इसलिए यहाँ सन्देह का स्थान है ही नहीं कि योगी किसी प्रकार ब्रह्म में सम्पूर्ण चराचर को देख सकता है । योगी योगयुक्त होने पर समदर्शी हो जाता है । जो व्यक्ति अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें योगयुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये ।

योो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

अन्वय :- **यः सर्वत्र माम् च सर्वम् मयि पश्यति, तस्य अहं न प्रणश्यामि च सः मे न प्रणश्यति ।**

अर्थ :- जो सर्वत्र मुझको और सबको मुझमें देखता है उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता (यानी उसकी दृष्टि से कभी नष्ट नहीं होता) और वह मेरे लिए नहीं अदृश्य होता ।

व्याख्या :- जो युक्त योगी ईश्वर को प्रत्येक चराचर में और परमेश्वर में सबको देखता रहता है उसको भगवान् सदैव देखते रहते हैं और वह भी भगवान् को सदा देखता रहता है ।

जब योगाभ्यास से योगी समाहित चित्त वाला हो जाता है तब वह प्रत्येक प्राणी में ब्रह्म-दर्शन करने लगता है और भगवान् में ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सभी ब्रह्माण्ड को ब्रह्म में ही देखने लगता है । इस प्रकार के दर्शन से यह फल होता है कि योगी सर्वदा भगवान् को देखता रहता है और भगवान् भी योगी को इस प्रकार देखते रहते हैं जैसे कछुआ अण्डा छोड़कर इधर-उधर रहता है, पर वह प्रत्येक जगह से अण्डा की सेवा किया करता है । यह सम्पूर्ण संसार भगवान् के द्वारा आच्छादित है जैसा कि श्रुति कहती है-

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । ईशावा. ।१।

संसार में जो कुछ भी है सब में भगवान् रहते हैं, अथवा सम्पूर्ण संसार को आच्छादित किये हैं ।

जब भक्त प्रह्लाद प्रत्येक वस्तु में भगवद्दर्शन करने लगा तब भगवान् ने अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए लौह-स्तम्भ से निकलकर दुष्ट को मारा । जो योगी केवल मूर्ति या चित्र में भगवान् का दर्शन करता है वह पूर्ण नहीं है । प्रह्लाद की भाँति प्रत्येक जड़ वस्तु में भी भगवान् का दर्शन करने से भगवान् उससे तिरोहित नहीं होते ।

जब प्रभु की निर्हेतुक कृपा होगी तभी भगवान् के दर्शन होंगे । भीष्म ऐसे ब्रह्मचारी और द्रोणाचार्य ऐसे तपस्वी ब्राह्मण सभी युद्धस्थल में थे किन्तु सबको भगवान् की विभूति नहीं दिखाई दी । केवल अर्जुन ही भगवदैश्वर्य को देखने में सफल हुये । जब योगी हरिकृपा से सम्पूर्ण जीव में ब्रह्म का दर्शन करने लगता है, भगवान् और भक्त में एकता आ जाती है । जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

भगति भगत भगवंत गुरु, चतुर नाम वपु एक

भक्त और भगवान् एक हैं ।

इसलिए प्रत्येक मानव आचार्य की शरण में जाकर भगवान् को सभी में और भगवान् में सबको देखने का उपाय सीखे, क्योंकि बिना गुरु के यह असम्भव है । 'अणुरेष धर्मः' यह बहुत ही सूक्ष्म धर्म है । बिना गुरु की कृपा के भगवत्तत्त्व समझना अत्यन्त कठिन है ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

अन्वय :- **एकत्वम् आस्थितः यः योगी सर्वभूतस्थितम् माम् भजति सः सर्वथा वर्तमानः अपि मयि वर्तते ।**

अर्थ :- एकत्व भाव में स्थित होकर जो योगी सब भूतप्राणियों में स्थित मुझको भजता है, वह सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझमें बरतता है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि जो योगी एकता में स्थित होकर सम्पूर्ण जीवों में अन्तर्यामी रूप से स्थित मुझको भजता है अर्थात् मेरी सेवा करता है, वह अन्य कृषि आदि कामों को करते हुए मुझमें ध्यान और क्रिया रखता है । अर्थात् जब योगाभ्यास से योगी परमात्मा और अपने से एकता स्थापित कर लेता है तब वह प्रत्येक क्षण, पिण्डज, अण्डज, स्थावर और उष्मज जीवों में अंतर्यामी भगवान् की सेवा किया करता है । यद्यपि वह राजा जनक की भाँति अन्य सांसारिक कार्यों को भी करता रहता है, लेकिन वस्तुतः उसका मन कामों में न लग कर परमात्मा में लगा रहता है । जैसे साइकिल पर सवार हुआ मनुष्य हाथ पैर की क्रियाओं को करता है और साथ ही साथ किसीसे बात भी कर लेता है । वैसे ही योगी अन्य कामों को करता है किन्तु मन उसका ब्रह्म-दर्शन में ही लगा रहता है । दूसरों के देखने में सांसारिक कार्यों को करता हुआ प्रतीत होता है । कमल के पत्ते जल में रहते हैं पर जल से निर्लिप्त रहते हैं, उसी भाँति योगी संसार में रहता हुआ, सांसारिक कार्यों को करता है, किन्तु उनमें लिप्त नहीं रहता । सांसारिक सुखों और दुःखों से उद्वेलित नहीं होता । जब उसका मन भगवान् में हर समय लगा रहता है तब उसे सुख-दुःख की प्रतीति कैसे हो सकती है ?

इसलिए व्यक्ति को आचार्य की सेवा करते हुए सर्वदा सांसारिक कार्यों में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिये । सम्पूर्ण कर्मों को प्रभु को समर्पित कर देना चाहिये । इस प्रकार के करने से मनुष्य शीघ्र ही कल्याण प्राप्त करने लगता है ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अन्वय :- **अर्जुन ! यः आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं वा यदि वा दुःखं समं पश्यति, सः योगी परमः मतः ।**

अर्थ :- अर्जुन जो अपने तुल्य (यानी आत्मौपम्य भाव से) सभी प्राणी में सुख या दुःख को समान देखता है, वह योगी परम (यानी योग की अन्तिम सीमा को प्राप्त) माना गया है ।

व्याख्या :- जो योगयुक्त योगी अपने तुल्य सुख और दुःख को सभी प्रकार के प्राणियों में समान देखता है, वह सर्वश्रेष्ठ योगी माना जाता है ।

कहने का आशय यह कि जिस प्रकार अपने किसी अंग में चोट लग जाने से पूरे शरीर को कष्ट होता है उसी प्रकार अन्य मनुष्य या जीव के कष्ट को अपने शरीर के कष्ट के तुल्य समझना चाहिए । अपने स्वार्थ के हेतु दूसरों को कष्ट देना महान अपराध है । यानी किसी व्यक्ति के पुत्र या सम्बन्धी के दुःखी होने पर यह व्यक्ति भी दुःखी हो जाता है । स्थावर या मूक प्राणी के भी कष्ट को अपने कष्ट की भाँति समझना चाहिए । पशु-पक्षी वृक्ष आदि सभी सताने वालों के कष्ट को अपने में बात करते हैं, हम उनकी भाषा को उसी प्रकार नहीं समझ पाते जैसे उत्तर भारत के लोग दाक्षिण्य तमिल, कन्नड़ मलयालम् आदि भाषा को नहीं समझ पाते हैं । जो लोग जिह्वास्वाद के लिए प्रिय जीवों की हत्या

करते हैं वे ही जीव समय आने पर कीड़े आदि होकर हत्यारे से बदला लेते हैं । पशुओं को भी नहीं कष्ट देना चाहिए । कौन जानता है कि इन पशुओं में व्यक्ति के माता-पिता न हों । स्कन्दपुराण की ऋषि पंचमी की कथा है कि एक व्यक्ति की माता ने उसीके यहाँ कुतिया और पिता ने बैल होकर जन्म लिया ।

जिस प्रकार पुष्प सूँघने से सभी अंग को आनन्द मिलता है उसी भाँति प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरे मनुष्य के सुख को भी अपना सुख समझे । दूसरे के सुख को देख कर जले नहीं । सज्जन लोग दूसरे के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख समझते हैं । सभी मनुष्य एक परमेश्वर के अंगों से उत्पन्न हुए हैं । इसलिये सभी मनुष्य को दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना चाहिए । इस प्रकार का बर्ताव जो योगी करता है, वह सर्वश्रेष्ठ योगी कहा जाता है ।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदनः ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वास्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच-मधुसूदन ! यः अयम् योगःसाम्येन त्वया प्रोक्तः अहं चञ्चलत्वात् एतस्य स्थिराम् स्थितिम् न पश्यामि ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले-हे मधुसूदन ! जो यह योग समतारूप से आपके द्वारा कहा गया, मैं (अपने मन की) चंचलता के कारण इसकी स्थिर स्थिति को नहीं देखता हूँ ।

व्याख्या :- ज्ञानमात्र के कारण ही मनुष्य अन्य जीवों से श्रेष्ठ है । मनुष्य तन भोग हेतु नहीं मिला है । यह शरीर तो मुक्ति-प्राप्ति हेतु मिला है । जबतक व्यक्ति को स्वरूप-ज्ञान नहीं होगा तबतक मुक्ति-प्राप्ति असम्भव है । यह ज्ञान रुपये से खरीदा नहीं जा सकता । इसको जानने के लिए भगवान् उपाय बताते हैं कि -

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया,
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ (गीता ४।३४)

ज्ञान, तत्त्वदर्शी ज्ञानी से प्राणिपात, परिप्रश्न और सेवा से जाना जाता है । अर्जुन, श्रीकृष्ण ऐसे तत्त्वदर्शी ज्ञानी से मध्यम मार्ग यानी परिप्रश्न का आश्रय लेकर श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा उपदिष्ट ज्ञान में शंका को पूछते हुये कह रहे हैं कि 'हे मधुसूदन भगवन् ! आपने जिस योग को मुझसे साम्य रूप से बताया, मैं मन के चंचलत्व के कारण उसकी स्थिर स्थिति को नहीं देख पा रहा हूँ ।'

अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न कर मनुष्यों को यह उपदेश दिया है कि जिस आचार्य से ज्ञान-अर्जन जो करता है उसीसे उपदेश में होने वाली शंकाओं का समाधान करना चाहिये, अन्य शिष्यों से नहीं । सम्भव है कि एक ही गुरु के उपदेश को सभी शिष्य, अच्छी तरह न समझे हों । दूसरी बात यह कि शंकाओं को गुरु के उपदेश देते समय ही न पूछे, गुरु के उपदेश दे चुकने के पश्चात् उसी गुरु से पूछना चाहिये ।

इस मंत्र में मधुसूदन शब्द का प्रयोग कर अर्जुन ने कृष्ण तत्त्व को समझाया है । कृष्ण भगवान् और भगवान् में अंतर नहीं है । इसी को द्योतन करने के लिए मधुसूदन शब्द से संबोधित किया है । कृष्ण भगवान् पहले कह चुके हैं कि

'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा:' (गी. २।१२)

हे अर्जुन ! मैं तुम और सभी राजा, भूत काल में नहीं थे ऐसी बात नहीं है । इसीलिए अर्जुन ने मधुसूदन शब्द का प्रयोग कर भगवान् की नित्यता और न्यायप्रियता को बताया है । जिस प्रकार दायें कर्ण के मल से उत्पन्न अपने पुत्र मधु का वध भगवान् ने न्याय हेतु किया, उसी भाँति मनुष्यों को भी न्याय के लिए अपने सगे सम्बन्धी और पुत्रादि को भी दण्ड देना चाहिये, पक्षपात नहीं करना चाहिये ।

अर्जुन भगवान् से कह रहे हैं कि हे भगवन् ! आपने ध्यान-योग और सुख-दु:ख में समान रहने की जो शिक्षा दी है, वह मन की चंचलता के कारण असम्भव प्रतीत हो रही है । अर्थात् मन इतना चंचल है कि उसको वश में करके आत्मा में बहुत देर तक लगाना असम्भव है । 'एक तो डाइन दूसरे हाथ में लुआठ' । एक तो मन स्वाभाविक रूप से इतना चञ्चल है कि क्षणभर में विश्व की परिक्रमा कर डालता है, दूसरे जन्म, जन्मान्तर के अभ्यास से यह विषयों में इतना रम गया है कि इसे विषयों से हटाना कठिन है । इसलिये आप के द्वारा बतायी गयी विधि से मन को आत्मा में, स्थिर-स्थिति-यानी बहुत देर तक नहीं लगाया जा सकता है । ज्योंही मन को आत्मा में लगाया जाता है, उसी क्षण मन आत्म-क्रीड़ा को छोड़कर विषय क्रीड़ा करने लगता है और सुख में सुखी और दु:ख में दु:खी होने लगता है। सुख-दु:ख में समता आ नहीं पाती ।

इस प्रकार का प्रश्न कर अर्जुन मनुष्यों को उपदेश देते हैं कि जो लोग 'मनोनिग्रही होने का गर्व करते हैं वे गलत मार्ग पर हैं । गर्व को छोड़कर आचार्य की कृपा प्राप्त कर मन को वश में सर्वदा रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।

चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

अन्वय :- **हि कृष्ण ! मन: चञ्चलम् प्रमाथि दृढम् बलम् तस्य निग्रहम् अहं वायो: इव सुदुष्करम् मन्ये ।**

अर्थ :- क्योंकि श्रीकृष्ण ! मन चञ्चल, प्रमथनशील, दृढ़ (जिद्दी) और बलवान् है, उसे रोकना मैं वायु को रोकने के समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन 'हि' शब्द को लगाकर यह बता रहा है कि जीव और ब्रह्म में मतभेद है, किन्तु मन की चंचलता में मतभेद नहीं है। इसलिए कह रहे हैं कि हे कृष्ण भगवन् ! निश्चय करके मन अत्यन्त चञ्चल, प्रमथशील, बलवान और दृढ़ है । ऐसे लक्षण वाले मन को वश में करना वायु की भाँति दुष्कर मानता हूँ ।

कृष्ण शब्द से संबोधित करके अर्जुन भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं कि भगवन् ! कृष् धातु का अर्थ कर्षण करना होता है, जबतक मन-मन्दिर में रहने वाले आप, मन की चंचलता को नहीं खींचेंगे तबतक मन वश में नहीं हो सकता । कठोपनिषद् में भी कहा गया है-

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः (कठो. १।२।२३)

वे उन्हीं को प्राप्त होते हैं जिसे भगवान् स्वीकार कर लेते हैं ।

मन बहुत ही चञ्चल है । इसको वश में करना हवा को वश में करना है । मन अत्यन्त चञ्चल ही नहीं है, प्रमथनशील भी है । जिस प्रकार मथानी एकत्रित दही के अणुओं को छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी भाँति मन इन्द्रियों को मथ डालता है । जिस प्रकार बलवान मनुष्यों के भय से निर्बल काँपते रहते हैं और सदा बलवानों की आज्ञाओं का पालन करते हैं, उसी भाँति मन इतना बलवान है कि जिस इन्द्रिय को जब चाहता है उससे इच्छानुसार काम करवाता है । इन्द्रियाँ मन के समक्ष सदा हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं । हवा का पान करने वाले, सुन्दरी कामिनी का परित्याग करने वाले विश्वामित्र ने इसके समक्ष घुटने टेक दिये । बलवान के अतिरिक्त यह इतना दृढ़ है कि जो चाहता कर डालता है ।

''डिगै न शम्भु सरासन कैसे, कामी-वचन सती मन जैसे''

की भाँति यह दृढ़ है ।

इस प्रकार के लक्षण वाले मन को अच्छी तरह वश में करना, आत्मा के पास मन को रखना, इतना कठिन है, जितना प्रचण्ड वायु को किसी पात्र में पकड़ कर रखना । अथवा इसको इस प्रकार नहीं रोका जा सकता है, जैसे वायु को पंखे से रोकना कठिन है ।

दुर्जनतोष-न्याय से यहाँ मूर्ति-पूजक विरोधियों को उत्तर देते हुए अर्जुन कह रहे हैं कि जिस प्रकार हवा विशिष्ट यंत्र से साइकिल या मोटर में भर ली जाती है, उसी भाँति मंत्र रूपी यंत्र से सर्वव्यापी भगवान् को मूर्ति में भर कर भगवदर्चना की जाती है ।

निराकारवादियों को उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जिस प्रकार निराकार वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हैं उसी प्रकार निराकार ब्रह्म में भी गुण हैं । वस्तुतः भगवान् निराकार नहीं हैं, वे सगुण साकार हैं । निराकार से तात्पर्य यह है कि भगवान में प्राकृत मनुष्यों की भाँति आकार नहीं है । वे प्राकृत मनुष्यों की भाँति रज वीर्य से उत्पन्न नहीं होते । 'निज इच्छा निर्मित तनु' । इच्छानुसार अपने शरीर की रचना करते हैं । इसलिए भगवान् निराकार और गुण रहित नहीं हैं ।

श्रीभगवानुवाच
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन त कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-महाबाहो मनः असंशयम् दुर्निग्रहम् चलम् । तु कौन्तेय अभ्यासेन च वैराग्येण गृह्यते ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - महाबाहो ! मन निस्सन्देह चञ्चल और दुर्निग्रह (जिसका निग्रह अत्यन्त कठिन हो) है, परन्तु हे कुन्तीनन्दन ! अभ्यास से तथा वैराग्य से यह वश में किया जाता है ।

व्याख्या :- वस्तुत: जितने भी टीकाकार गीता के हुये किसी ने दुस्साहस करके भगवानुवाच के स्थान पर कृष्णोवाच नहीं लिखा । कृष्ण साक्षात् भगवान् हैं । इसीसे किसी ने कृष्ण न समझा । श्रीमद्भागवत में व्यास जी 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं', कहते हैं । भगवान् की परिभाषा है -

उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामगतिम् गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ।

जो सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति प्रलय गति और अगति तथा विद्या और अविद्या को जानता है उसे भगवान् कहते हैं । संसार में कोई ऐसा प्राणी नहीं है जो किसी एक का भी ज्ञान रखता हो । इस प्रकार के गुण वाले भगवान् अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुये कहते हैं कि 'हे कुन्ती-पुत्र महाबाहु अर्जुन ! असंदेह ही मन चंचल और दुर्निग्रह है, किन्तु अभ्यास और वैराग्य से इसको वश में किया जा सकता है ।

इस श्लोक में भगवान् महबाहु शब्द का प्रयोग कर अर्जुन की विशेषता बता रहे हैं । जिसकी भुजायें घुटने से बड़ी होती हैं उसे अजानुबाहु कहते हैं, किन्तु अर्जुन की भुजायें अधिक गुण सम्पन्न है । अर्जुन ने इन्हीं भुजाओं से धन जीतकर दीन जनता और जनार्दन की सेवा में सम्पत्ति को लगा दी थी । किरात रूपी शिव से युद्ध किया तथा उनका पाद-स्पर्श किया । फलत: अर्जुन को 'महाबाहु' शब्द से संबोधित किया गया है । इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के चरणों को स्पर्श करते हुये जनता जनार्दन की सेवा में सम्पत्ति को लगाना चाहिये । दूसरा संबोधन कौन्तेय का प्रयोग कर भारतीय संस्कृति की मर्यादा को बता रहे हैं कि भारत में माता का स्थान पिता से ऊँचा है । इसलिये माता कुन्ती के नाम से कान्तेय कह रहे हैं ।

अर्जुन की बात स्वीकार करते हुये भगवान् यह उपदेश देते हैं कि यदि शिष्य या बालक कोई उचित बात कहे तो गुरु और पिता को दुराग्रह को छोड़कर उसकी बात का समर्थन करना चाहिये । इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि निस्संदेह मन अत्यन्त चञ्चल और दुर्निग्रह है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि यह वश में करके आत्मा में नहीं लगाया जा सकता है । मनुष्य के लिये कोई काम कठिन नहीं है । बादरायण ने श्रीमद्भागवत में 'नृदेहमाद्यं' कहा है । सत्य बात यह है कि मनुष्य-शरीर मन को वश में करके आत्मा में लगाने के लिये ही मिला है । अभ्यास और वैराग्य से मन को आसानी से वश में किया जा सकता है । महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध के लिये लिखा है - 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोध:' । समाधिपाद ।।१२।।

'अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों का निरोध हो जाता है । अभ्यास को बताते हुये कहते हैं 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास:' उनमें से चित्त की स्थिति के विषय में यत्न करना अभ्यास है । अर्थात् युक्ताहार विहार करते हुये 'चैलाजिन कुशोत्तरम्' के अनुसार आसन लगाकर काय, सिर और ग्रीवा को समान एवं नासिकाग्र में दृष्टि को करते हुये मन को आत्मा में लगाने को अभ्यास कहते हैं । जब यह अभ्यास अधिक समय चलता है तब मन वश में हो जाता है । वैराग्य के बिना अभ्यास सफल नहीं हो सकता, इसलिये वैराग्य को बताते हुये कह रहे हैं :-

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम्' पा. यो. द. समा. १५।

दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जिसकी तृष्णा नहीं रही है इसका वैराग्य वशीकार नाम वाला है । विषय दो तरह के होते हैं दृष्ट और आनुश्रविक

१ दृष्ट जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द स्पर्श, धन सम्मान, स्त्री, राज्य, ऐश्वर्य आदि ।

२ आनुश्रविक भी दो तरह के होते हैं, शरीरान्तर वेद्य, जैसे देवलोक स्वर्ग विदेह और प्रकृतिलय का आनन्द'

३ अवस्थान्तर वेद्य जैसे दिव्य गन्ध रस आदि अथवा सिद्धियों की प्राप्ति । इन दोनों प्रकार के विषयों के वासना और रुचि के सहित त्याग को वैराग्य कहते हैं । कालिदास ने लिखा है-

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

विकार का कारण होने पर भी जिनके चित्त में विकार नहीं होता वे ही धीर हैं ।

योगी के समक्ष सम्पूर्ण विषय उपस्थित हों उस समय यदि विषयों को तृण के समान त्याग देता है तब उसका वैराग्य समझा जाता है । केवल गेरुआ रंगाने और वन में निवास करने से वैराग्य नहीं आ सकता न मनोनिग्रह ही हो सकता । रागी पुरुषों के चित्त में वन में दोष आ जाता है ।

'वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणः

वन में रागियों को दोष उत्पन्न हो जाता है । वैराग्य भी पर और अपर भेद से कहा गया है-

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।' पा. यो. समा १६।

विवेक ख्याति द्वारा गुणों से तृष्णा रहित हो जाना पर वैराग्य है । अपर वैराग्य दिव्य अदिव्य आदि विषयों में तृष्णा रहित हो जाना है । पर वैराग्य जहाँ तक गुणों का अधिकार है, उन सब में तृष्णा रहित हो जाना है ।

अतः अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को पकड़ कर एक जगह बाँधा जा सकता है । लेकिन यह अभ्यास और वैराग्य अल्पकालीन नहीं होना चाहिये । अभ्यास छोड़ देने से सुधरा हुआ मन विषयासक्त हो जाता है । इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन के व्याज से मनुष्यों को उपदेश दिया है कि मनुष्य के समान ब्रह्माण्ड में कोई है ही नहीं, उसके लिये कोई भी कार्य असंभव नहीं है । ऐसे चञ्चल, प्रमथनशील, बलवान और दृढ़ मन को वश में कर लेने से भगवान् वश में सरलता से हो सकते हैं । योग केवल घर छोड़ने से नहीं होता है। वह गृहस्थ भी इस योग को प्राप्त कर सकता है जो दोनों प्रकार के विषयों को त्यागकर युक्ताहार विहार करता हुआ मन को निग्रह करने का अभ्यास निरन्तर किया करता है ।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अन्वय :- **असंयतात्मना योगः दुष्प्रापः तु वश्यात्मना यतता उपायतः अवाप्तुम् शक्यः, इति मे मतिः ।**

अर्थ :- मन को वश में न करने वाले द्वारा योग का पाया जाना बहुत कठिन है, वश्यात्मा (अपने आपको वश में

रखने वाला) परन्तु प्रयत्नशील (यत्न करने वाले द्वारा) उपाय करने पर इसका पाना सम्भव है, ऐसा मेरा मत है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि जिसका मन (आत्मा) नहीं निग्रह हुआ है, वह व्यक्ति (समत्वं योग उच्यते) समतारूपी योग नहीं प्राप्त कर सकता है । जो व्यक्ति निरन्तर अभ्यास और वैराग्य के न होने के कारण अपने मन का निग्रह नहीं कर सका है वह योग को नहीं प्राप्त कर सकता है । दुर्वाशा ऋषि मानापमान के कारण ही, अम्बरीष के शास्त्रानुसार पारण करने पर भगवान् के चक्र का शिकार बने । त्रिभुवन में उनकी रक्षा कोई नहीं कर सका । जब अम्बरीष की शरण में आये तभी रक्षा हुई ।

इसके विपरीत जिन्होंने अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में कर लिया है अर्थात् पूर्व के बताये गये आसन पर बैठकर युक्ताहार विहार और योगाभ्यास से मन को आत्मा में लगाने में सफल हो चुके हैं, वे समता रूपी योग को प्राप्त कर सकते हैं । वाल्मीकि ऋषि ने दुराचारी और लुटेरा होते हुये भी, योगाभ्यास से मन को आत्मा में लगाकर यह सिद्ध कर दिया कि मन तभी तक चंचल रहता है जबतक हम मन के वश में रहते हैं । जब योगाभ्यास के नियमों का निरन्तर पालन किया जाता है, तब वही मन वश में हो जाता है और ब्रह्मानन्द-प्रदायक हो जाता है ।

भगवान् ने यतता शब्द का प्रयोग कर योगी को सावधान किया है । योगाभ्यास निरन्तर होना चाहिये । मन को वश में करने के पश्चात् अभ्यास छोड़ देने पर फिर मन चंचल प्रमथन शील, बलवान और दृढ़ हो जाता है । इसलिये वाल्मीकि ऋषि आत्मसाक्षात्कार करने के पश्चात् भी यत्न में लगे रहे । अपने शिष्य भरद्वाज को राम की कथा उन्होंने सुनायी और इसके बाद लव एवं कुश को भक्ति-परक रामायण को पढ़ाया ।

इसलिये योगी को असंयमित मन वाला नहीं होना चाहिये । निरन्तर योगाभ्यास के नियमों का यत्नपूर्वक पालन करना चाहिये । मन के निग्रह होने पर श्रवण, मनन निदिध्यासन का परित्याग नहीं करना चाहिये । जो लोग ऐसा करते हैं, वे वाल्मीकि ऋषि की भाँति योगयुक्त हो सकते हैं । क्रौञ्चमिथुन में से एक का वध देखकर अपनी पुत्र-वधू के दुःख के समान उसके दुःख को समझते हैं । ऐसे व्यक्ति सभी प्राणियों के सुख को अपना सुख और दुःख को अपना दुःख समझते हुये समता रूप योग को प्राप्त कर निरन्तर ही भगवान् और अम्बा के वैभव का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके परमानन्द सुख को प्राप्त करते हैं ।

अर्जुन उवाच-
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच-कृष्ण! श्रद्धयोपेतः अयतिः योगात् चलितमानसः योगसंसिद्धिम् अप्राप्य काम् गतिम् गच्छति ?**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे श्रीकृष्ण ! श्रद्धा से जो युक्त है (यानी श्रद्धापूर्वक योगसाधन में लगा है) पर 'अयतिः' (यानी जिसका यत्न कम या शिथील) है, और योग से विचलित मन वाला है, तो वह योग की सिद्धि न पाकर किस गति को प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान से केवल कृष्ण शब्द से संबोधित करता हुआ प्रश्न कर रहा है । इसके पूर्व श्री शब्द का प्रयोग नहीं किया है । कृष्ण शब्द का प्रयोग कर अर्जुन ने पाप मुक्त होने का निश्चय किया है । कहा गया है-

कृष्णेति द्वाक्षरं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
भस्मीभवन्ति तस्याशु महापातकराशयः ॥

जो व्यक्ति केवल कृष्ण का नाम लेता है वह सम्पूर्ण पापों से शुद्ध हो जाता है । कृष्ण शब्द प्रयोग कर जीवों को यह उपदेश देता है कि जिस प्रकार मैं श्रीकृष्ण गुरु से केवल श्रुत कृष्ण शब्द के उच्चारण मात्र से पापमुक्त हो जा रहा हूँ उसी भाँति जीव को भी पाप-मुक्त होने के लिये गुरु से प्राप्त मंत्र का जप, मंत्र के अन्य शब्दों के जोड़ घटाये बिना ही करना चाहिये । भगवान् की सेवा शास्त्रानुसार करनी चाहिये, किन्तु गुरु की सेवा गुरुमुख वचनानुसार और शास्त्रानुसार करनी चाहिये । शास्त्र-शासित विधि का यदि गुरु निषेध करें तो उसे करने का हठ न करे, नहीं तो शिष्य का नाश हो जाता है ।

इस प्रकार का उपदेश देकर अर्जुन, भगवान से पूछ रहा है कि हे भगवन् ! जो व्यक्ति रोग या किसी अन्य कारणवश सात्त्विक श्रद्धा से युक्त होने पर भी योगाभ्यास से चलित मन वाला होने के कारण सम्यक् योगसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ?

यहाँ 'अयतिः' शब्द का अर्थ संन्यास रहित व्यक्ति नहीं है । भगवान् कई बार 'यत' शब्द का प्रयोग कर चुके हैं । यत् धातु का अर्थ 'उपाय करना' होता है । जो योगी बीमारी आदि रोग अथवा किसी के बहकाने के कारण योगाभ्यास के प्रयत्न को छोड़ देता है, उसे अयति कहते हैं । इस प्रकार का व्यक्ति सात्त्विक श्रद्धा से युक्त होता है । जिस क्रिया से सत्यवस्तु धारण की जाय उसे श्रद्धा कहते हैं और सात्त्विक श्रद्धा-युक्त का लक्षण गीता के १७वें अध्याय में बताया गया है कि-

यजन्ते सात्त्विका देवान् । १७।४

सात्त्विक श्रद्धायुक्त देवताओं की पूजा करते हैं । इस प्रकार का सात्त्विक श्रद्धालु योगी जब किसी कारणवश प्रयत्न विमुख होकर योगाभ्यास से मन को हटा लेता है अर्थात् 'चैलाजिन-कुशोत्तर' के अनुसार आसन पर बैठकर नासिका को देखता हुआ आत्मा में मन को लगाने का जो प्रयत्न करता था उसे यह छोड़ देता है तब उसे ब्रह्म दर्शन जो योग की सम्यक् सिद्धि है, (आणिमादिक की सिद्धि साधारण सिद्धि है) न होने के कारण किस दशा को प्राप्त होता है ? कहने का तात्पर्य यह कि ऐसे योगी स्वर्ग को जाते हैं अथवा पुनः मनुष्य तन प्राप्त करते हैं अथवा नरकगामी बनते हैं ।

इस प्रकार का प्रश्न कर अर्जुन उन योगियों को सचेत कर रहे हैं जो थोड़े से योगाभ्यास के कारण अहंकारी बन गये हैं । योगी योगभ्रष्ट कब हो सकता है, कहा नहीं जा सकता । कौन जानता था कि नारद ऐसे योगी विवाह की माया में पड़कर योग-विमुख हो भोग के लिये सुरूप याचना के लिये मृत्युलोक और क्षीरसागर को एक कर बंदर बनकर अपना उपहास करायेंगे ? इसलिये योगी को किसी के बहकाने में पड़कर योगाभ्यास का परित्याग नहीं करना चाहिये । योग-भ्रष्ट की शंकाओं को गुरु से निवारण करना चाहिये ।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

अन्वय :- **महाबाहो ! ब्रह्मणः पथि विमूढः अप्रतिष्ठः उभयविभ्रष्टः कच्चित् छिन्नाभ्रम् इव न नश्यति ?**

अर्थ :- हे महाबाहो ! ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ, प्रतिष्ठाहीन यानी आश्रयरहित दोनों ओर से भ्रष्ट क्या फटे हुए बादल की भाँति नष्ट तो नहीं हो जाता ?

व्याख्या :- अर्जुन इस प्रश्न में श्रीकृष्ण भगवान् को 'महाबाहो' के संबोधन से संबोधित करके यह कहा रहा है कि हे भगवन् ! केवल महात्मा और शिव के पद स्पर्श करने से आपने मुझे जो महाबाहु कहा है वह अत्यनत दुलार से कहा है । वास्तव में महाबाहु आप हैं । महाबाहु वह कहाने का अधिकारी है जो अथाह संसार-सागर में डूबते हुए मनुष्य को अपनी महान भुजा से निकाले । आप इस कला में कुशल हैं । इसलिये महाबाहु कहलाने योग्य आप ही हैं । महाभारत में कहा गया है -

'सत्यं सत्यं पुनः सत्यं भुजमुद्धृत्यमुच्यते ।
वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति न देवः केशवात्परम् ॥

केशव-(श्रीकृष्ण) के समान कोई देव है ही नहीं ।

इस प्रकार श्रीकृष्ण-तत्त्व को बताकर अर्जुन अपने संदेह को श्रीकृष्ण भगवान् के समक्ष रखते हुये कह रहा है कि श्रद्धालु योगी किसी कारणवश योगाभ्यास को छोड़ देने से ब्रह्म-दर्शन को न पाने के कारण छिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से नष्ट तो नहीं हो जाता है ? अप-(जंल) से भरा हुआ टुकड़ा मेघ के बड़े टुकड़े से अलग होकर, छोटे टुकड़े में न मिल जाने के कारण वायु के द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है । अर्थात् बादल का टुकड़ा न बड़े बादल में ही मिल पाता है न छोटे टुकड़े में मिलकर जल वर्षण कर पाता है किन्तु बीच में ही वायु के द्वारा उड़ा दिया जाता है । उस टुकड़े का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता । इसी प्रकार क्या योगी भी नष्ट तो नहीं हो जाता है ? न उसे ब्रह्म-प्राप्ति ही हुई न संसारिक सुख ही मिला 'दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम' वाली दशा तो नहीं हो जाती ? जैसे बादल समूह रूपी घर को छोड़कर दूर स्थित छोटे बादल के टुकड़े से मिलने की इच्छा से प्रस्थान करता है तबतक बीच में ही वायु उड़ाकर उसे नष्ट कर देती है, उसी भाँति योगी घर-द्वार छोड़कर ब्रह्मदर्शन के लिये जंगल में जाकर श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास करता है किन्तु बीच में ही किसी कारणवश योग-भ्रष्ट हो जाय तो क्या वह नरकभागी बन सकता है ? छब्बे होने के लिये जाने वाले चौबे जी कहीं दूबे तो नहीं हो जाते ? उसका घर-द्वार वनिता आदि का सुख तो पहले ही छूट जाता है, इसके बाद योगभ्रष्ट होने से नरकगामी तो नहीं बनता ?

ब्रह्म-दर्शन के लिये घर-द्वार छोड़कर योगाभ्यास से शिथिल होने के कारण वह अप्रतिष्ठित हो जाता है । जिस साधना में उसकी प्रतिष्ठा पहले थी उससे विचलित हो जाता है, इसी कारण यह संदेह उपस्थित होता है कि जिस ब्रह्म-दर्शन के लिये घर छोड़ा, वनिता और धन का परित्याग किया वह मिला नहीं और अब योग से शिथिल हो गया तो यह नरकगामी बनता है क्या ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः'।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्यु पपद्यते ॥३९॥

अन्वय :- **कृष्ण ! मे एतत् संशयम् अशेषतः छेत्तुम् अर्हसि । हि त्वदन्यः अस्य संशयस्य छेत्ता न उपपद्यते ।**

अर्थ :- हे श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशय को पूर्णतः काटने योग्य आप ही हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशय को काटने वाला मिल ही नहीं सकता ।

व्याख्या :- इस श्लोक में अर्जुन कृष्ण शब्द का प्रयोग करके कृष्ण की महत्ता एवं अपने प्रश्न को बताते हुये कह रहा है कि हे भगवन् ! आप अनादि काल से पापियों के पाप को दूर करते करते कृष्ण वर्ण के हो गये हैं । मैं भी एक पापी हूँ जो अपने गुरु और वंश को मारने के लिये उद्यत हूँ । यदि आप अपनी कृष्णता में मेरे पाप कृष्णत्व को मिला लेते हैं तो मेरा कल्याण हो जायेगा । यदि आप यह कहें कि 'दूसरा कोई दूर कर देगा' तो असम्भव है । आप ऐसा कृष्ण कोई है ही नहीं । जिस प्रकार बड़ा चुम्बक छोटे चुम्बक को खींच लेता है उसी प्रकार आप की कृष्णता अघरूपी मेरी कृष्णता को खींच लेगी ।

इसलिये आप मेरे संशय को दूर करके मेरे पाप को दूर करें । एतत् शब्द समीपतम के लिये प्रयुक्त होता है।

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्तिन्येतदो रूपम्
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ।

'इदम् शब्द पास में स्थित, 'एतत्' अत्यन्त समीपवर्ती मनुष्य या वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है । दूर स्थित प्रत्यक्ष के लिये 'अदस्' और 'तत्' शब्द अप्रत्यक्ष के लिये प्रयोग किया जाता है । इसलिये एतत् शब्द पूर्व श्लोक के संदेह युक्त छिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से योगभ्रष्ट योगी नष्ट हो जाता है क्या ? को बता रहा है ।

हे भगवन् ! आप ही मेरे उपर्युक्त संशय को समूलतः नष्ट कर सकते हैं । यदि आप मेरे संशय को नष्ट नहीं करते हैं तो मेरा नाश हो जायेगा । जैसा कि आपने स्वयं कहा है 'संशयात्मा विनश्यति' ४।४० (गीता), संशय-आत्मा वाले का नाश हो जाता है । आप मेरे उपाय और उपेय दोनों हैं । आपके बिना यह संशय दूर नहीं हो सकता । आप की वाणी को सभी लोग नहीं जान सकते हैं । आप ने ही सबको बताया है । जैसा कि गीता के चतुर्थ अध्याय में कह आये हैं-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥४।१॥

इस योग को मैंने पहले सूर्य से कहा था, सूर्य ने मनु से और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा । यह अत्यन्त प्राचीन है-

'योगः प्रोक्तः पुरातनः ४।३

आपकी वाणी है इसे आप ही अच्छी तरह जानते हैं, दूसरे ऋषि महर्षि तो आप के द्वारा दिये गये ज्ञान से ज्ञानी बने हैं,

ऐसा आपने स्वयं कहा है-

'तान्यहं वेद सर्वाणि, ४।५ उन्हें मैं ही जानता हूँ और अन्य ऋषि महर्षि नहीं ''न मे विदु: सुरगणा: प्रभवं न महर्षय: ।''१०।२ जितने जीव हैं अल्पज्ञ हैं और आप सर्वज्ञ हैं । यदि मैं आपस संशय न दूर करा अन्य के यहाँ जाता हूँ, तो 'परम गंगा छाड़ पियासौ दुरमति कूप खनावै'' को चरितार्थ करता हूँ । इसलिये आपही मेरे संशय को अच्छी तरह दूर कर सकते हैं । आपके अतिरिक्त दूसरा छेत्ता इतना समीप मिल ही नहीं सकता । आप तो सबके हृदय में भी रहते हैं । जैसा कि स्वयं आपने कहा है 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट:' मैं सबके हृदय में रहता हूँ । आप के समान इतना समीप भाई पिता गुरु आदि कोई नहीं रहता है, इसलिये आप ही मेरे संशय को दूर कर सकते हैं ।

आप मेरे गुरु हैं और मैं आपका शिष्य हूँ । इसलिये यदि आप मेरे संशय को नहीं दूर करते हैं तो आपको भागवतापचार का पाप लगेगा । आचार्य का यह कर्तव्य होता है कि वह शिष्य के सभी संशय को दूर कर भगवान् से संबंध करावे । जब आप हमारे लिये दौत्य, सारथ्य आदि कर्मों को करने में नहीं हिचके तो प्रपत्ति और उपदेशकरण में अनाकानी करना ठीक नहीं है । वस्तुत: शिष्य को अर्जुन की भाँति धन-पुत्र आदि की ममता छोड़कर श्रीकृष्ण ऐसे गुरु के पास तत्त्व-ज्ञान के लिये जाना चाहिये । अर्जुन ने स्वयं कहा है

''न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा १।३२

हे कृष्ण ! मैं न विजय चाहता हूँ और न राज्य-सुख ही चाहता हूँ । हे गोविन्द हमें राज्य से, भोगों से या जीवित रहने से क्या प्रयोजन ? शिष्य के कर्तव्य को मुण्डक उपनिषद् में बताया गया है-

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायन्नास्त्यकृत: कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । मु. १।खं२।१२

अपना कल्याण चाहने के लिये श्रेय और प्रेय मार्ग की परीक्षा करके निर्वेदता को प्राप्त होता हुआ यह सोचे कि कृतकर्मों से आत्मतत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता है । ऐसा सोचकर जिज्ञासु शिष्य को चिदचित् विशिष्ट ब्रह्म को जानने के लिये हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय भाव के सहित ऐसे सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये जो वेदों के रहस्य को भलीभाँति जानता हो और परब्रह्म परमात्मा में स्थित हो ।

ऐसे शिष्य को पाकर गुरु भी शिष्य को ब्रह्मविद्या का विवेचन भलीभाँति समझाकर तत्त्वज्ञ बनावे जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम का ज्ञान प्राप्त कर सके ।

श्रीभगवानुवाच-
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।।४०।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-पार्थ ! तस्य न इह न अमुत्र एव विनाशः विद्यते, हि तात ! कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिम् न गच्छति ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - हे पार्थ ! उस पुरुष का न तो इस लोक में और न परलोक में ही विनाश होता है, क्योंकि हे प्रिय ! कल्याण करनेवाला (यानी योगसाधन करने वाला) कोई भी मनुष्य दुर्गति नहीं प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन के संदेह कि योग-भ्रष्ट व्यक्ति की कौन सी गति होती है-को दूर करते हुये अर्जुन को पार्थ और तात शब्द से संबोधित करते हैं । पार्थ शब्द से भारतीय मर्यादा और नारी गौरव को बताते हुये कह रहे हैं कि माता का स्थान पिता से उच्च है, इसीलिये पाण्डव न कहकर पृथा-पुत्र पार्थ कहते हैं ।

भगवान् पार्थ शब्द से पूर्वार्द्ध में सम्बोधित करते हुये और उत्तरार्द्ध में तात शब्द से अर्जुन को संबोधित करते हुये बताते हैं कि तात शब्द अत्यन्त प्रिय के लिये प्रयोग किया जाता है । प्रिय तभी होता है जब महान होते हुये भी अपने में नीचानुसन्धान करता है । अर्जुन पहले अपने को पापी कह चुके हैं और भगवान् की आज्ञा मानने के लिये तैयार हैं । अर्जुन कह चुके हैं 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि' हे भगवन् ! जो कल्याणकारी बात हो उसे आप कहिये । इसीलिये भगवान् अपना प्रियतम सिद्ध करने के लिये 'तात' शब्द से संबोधित करते हैं । भगवान् कहते हैं -'यो मद्भक्तः स मे प्रियः ? जो मेरा भक्त है वह प्रिय है ।

इस प्रकार संबोधित करते हुये भगवान् कह रहे हैं कि जो तुम्हें संदेह है कि योग - भ्रष्ट योगी छिन्न बादल की भाँति नष्ट हो जाता है, वह ठीक नहीं है । योग-भ्रष्ट न इस लोक में नाश को प्राप्त करता है न परलोक में ही । दोनों जगहें उसकी पूजा होती है । इस लोक में लोग महात्मा समझकर पूजा करते हैं और परलोक में भी अर्चना होती है । नारद विवाह के चक्कर में योग-भ्रष्ट होने पर भी इस लोक में पूजित होते ही हैं और इसी देह से वैकुण्ठलोक को जाते हैं । भगवान्-देवर्षीणाम् च नारदः गी() १०।२६ कहते हैं ।

जो जितना शरणगति मार्ग का अवलम्बन लेकर योग-भ्रष्ट हो जाता है उसकी दुर्गति नहीं होती है । कलहिनी स्त्री को भी सिंदूर-दान देने पर उसे छोड़ा नहीं जाता । यदि स्त्री कहीं चली जाती है तो सिंदूर दाता की अप्रतिष्ठा होती है । उसी भाँति जब आचार्य पुरोहित बनकर जीव रूपी स्त्री को परमात्मा रूपी पति को सौंप देता है तब भगवान उसको छोड़ते नहीं । सभी जीवात्मा रूपी कामिनी के भगवान् ही एक पति हैं । कहा गया है 'पति पतीनाम्' सम्पूर्ण पतियों के पति परमेश्वर हैं । ऐसे विवाहित शिष्य की यदि दुर्गति होती है तो भगवान् की ही अप्रतिष्ठा होती है ।

भगवान् कह रहे हैं कि श्रेयमार्गावलम्बी कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है । नचिकेता श्रेय मार्ग का अनुसरण करने वाला था, इसलिये यमलोक में भी यमराज ने उसकी पूजा करके तीन अद्वितीय वरदान दिये । इसलिए कल्याणकारी कर्म को करने वाला पशु, पक्षी आदि निम्न कोटि की योनि में नहीं जन्म लेता है, सर्वदा उत्तम गति को प्राप्त करता है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

अन्वय :- **योगभ्रष्टः पुण्यकृताम् लोकान् प्राप्य, शाश्वतीः समाः उषित्वा शुचीनाम् श्रीमताम् गेहे अभिजायते ।**

अर्थ :- (वह) योग भ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्मा पुरुषों को प्राप्त होने योग्य लोकों को (यानी स्वर्गादि उत्तम लोकों) को प्राप्त कर (उनमें) बहुत वर्षों तक रहकर फिर शुद्ध आचारवाले श्रीमानों (यानी सम्पन्न लोगों) के घर में जन्म लेता है ।

व्याख्या :- कल्याण मार्ग का अनुसरण करने वाले योगियों की दुर्गति नहीं होती । वे देहावसन के उपरान्त श्वान, पक्षी आदि निम्न कोटि की योनि में जन्म नहीं लेते । योगभ्रष्ट होने पर कृष्ण मार्ग से गमन कर पुण्य लोक में बहुत वर्षों तक रहकर पुनः पवित्र धनवानों के गृह जन्म ग्रहण करते हैं ।

योगी जन मृत्यु के बाद दो मार्ग से जाते हैं, पहला है शुक्ल मार्ग और दूसरा है कृष्ण मार्ग । जिस प्रकार धनी व्यक्ति संगमरमर निर्मित शुक्ल मार्ग से और अन्य व्यक्ति पिच वाले कृष्ण मार्ग से जाते हैं, उसी प्रकार शुभ कामों को करने वाला योगी अर्चिरादि मार्ग से जाकर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त करता और कृष्ण मार्ग से गमन करने वाला योगी पुण्यकृत लोक के सुखों को भोगकर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के अनुसार मर्त्य लोक में पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म ग्रहण करता है । जैसा कि गीता में कहा गया है -

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ (गी. ८।२६)

जगत् के दो प्रकार के शुक्ल और कृष्ण मार्ग माने गये हैं, इनमें एक के द्वारा गया हुआ परम गति को प्राप्त होता है और दूसरे द्वारा गया हुआ पुनः लौट आता है ।

योग-भ्रष्ट योगी पुण्य करने वालों के लोक में बहुत वर्षों तक रहता है । पुण्य लोक का विवेचन गीता के ६ वें अध्याय में किया गया है-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।९।२०

ऋग्, यजु और सामवेदों को जानने वाले, सोमरस का पान करने वाले अग्निष्टोमादि यज्ञों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा करते हैं । वे पुण्य के फलस्वरूप इन्द्र के लोक को पाकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ।

ऐसे पुण्य लोक को प्राप्त करने वाले योगी की मृतात्मा को पहले धूमाभिमानी देवता धूमाच्छादित करके ले जाते हैं । इसके बाद रात्र्यभिमानी देवता, तब कृष्णपक्षाभिमानी देवता, इसके बाद दक्षिणायन के ६ महीनों का अभिमानी देवता चान्द्रमस ज्योति तक ले जाता है । इस प्रकार के मार्ग से गया हुआ योगी बहुत वर्षों तक स्वर्ग लोक का सुख भोगकर उसी मार्ग से जिस मार्ग से गया रहता है-पुनः मृत्यु लोक को आता है । जैसा कि गीता कहती है-

'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । ६।२१ वे स्वर्गलोक को भोग चुकने पर पुण्यों के क्षय हो जाने पर इस मर्त्यलोक को लौट आते हैं ।

वे इस मर्त्यलोक में पशु-पक्षी की योनि में जन्म नहीं ग्रहण करते वरन् पवित्र आचरण करने वाले धनवानों के घर में जन्म ग्रहण करते हैं । श्रीमान् भी दो प्रकार के होते हैं, एक प्रकार के श्रीमान् लोग श्रीमद में कुकर्मों को करते रहते हैं । मांस-मदिरा और वेश्या में अपने धन और शरीर को अर्पण करते हैं । ऐसे श्रीमानों के यहाँ योगभ्रष्ट योगी जन्म नहीं लेता है । वह वाह्याभ्यन्तर शुद्ध श्रीमानों के यहाँ जन्म लेता है । ऐसे श्रीमानों को पुत्र इसलिये नहीं होते क्योंकि न कोई योग करता है न योगभ्रष्ट होकर श्रीमानों के यहाँ जन्म ग्रहण करता है । ऐसे श्रीमानों की सम्पत्ति पुण्य कामों में लगती है । ये लोग मांसमदिरा और वेश्याओं की सेवा से विमुख होकर साधु महात्मा और भगवान् की सेवा करते हैं । ये लोग वाह्य और अन्तर दोनों प्रकार से पवित्र होते हैं ।

मनुष्य तेल फुलेल क्रीम पावडर-स्नो और सुवास्य से पवित्र नहीं होता है, उसमें पवित्रता शुद्ध अन्न के उपभोग से आती है । उपनिषद् में कहा गया है ।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । (छान्दो. प्रपा.७। खं-२६।श्रु.२)

आहार शुद्ध होने से अन्त:करण शुद्ध होता है, अन्त:करण शुद्ध होने से ध्रुवा स्मृति होती है और स्मृति-लाभ होने से समस्त बन्धन निवृत्त हो जाते हैं ।

जो लोग मांसादि का सेवन करते हैं वे कब्रगाह के समान अशुद्ध हैं । मांसाहारियों को विवेक से सोचना चाहिये कि जब स्वत: वे लोग मांसाहारी पशुओं के मांस को नहीं खाते तो उनके शरीर को कौन स्पर्श करेगा ? वस्तुत: मांस में स्वाद होता नहीं, उसमें स्वाद नमक मिर्च मसाला और तेल घृत से होता है । यदि ६ माह तक जो कोई कच्चे मांस को खाता रहे तो निश्चय ही उसे कुष्ट हो जायेगा । सात्त्विक आहार की प्रत्येक वस्तु में स्वत: स्वाद है, उसे बिना किसी के सहयोग से खाया जा सकता है । सात्त्विक आहार फल मूल अन्न को खाने वाला शुक कोमलांगी ललनाओं का प्रिय बन जाता है और उसी स्थान पर मांस-भक्षी गीध घर पर बैठ जाय तो घर में हाहाकार मच जाता है । अन्न-फल के खाने के कारण ही शुक सीताराम कहता है, गीध कटु शब्द करता है । कोयल की मधुर ध्वनि किसे नहीं मोहती ? कौवे की ध्वनि का कौन समादर करता है ? मांसाहारी सौ कुत्तों और बिल्लियों से बारात की वह शोभा नहीं हो सकती है जो एक हाथी से होती है । कुत्ते को मूर्ख लोग भले ही साबुन से स्नान करावें, किन्तु शाकाहारी हाथी की ही पूजा होगी ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को शुद्ध सात्त्विक आहार का सेवन करना चाहिये जिससे अन्त:करण और बुद्धि पवित्र रहे । श्रीमान् होते हुये धन के सदुपयोग में बुद्धि लगावे ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अन्वय :- **अथवा धीमताम् योगिनाम् कुले एव भवति । ईदृशम् यत् एतत् जन्म लोके हि दुर्लभतरम् ।**

अर्थ :- अथवा बुद्धिमान् (यानी ज्ञानवान्) योगियों के कुल में ही जन्म लेता है । इस प्रकार का जो यह जन्म है,

(वह) संसार में निस्सन्देह बहुत ही दुर्लभ है ।

व्याख्या :- पवित्र श्रीमानों के यहाँ भी दोष संभव है । पुलस्त्य का पुत्र विश्वेश्रवा अत्यन्त पवित्र आचरण वाला श्रीमान् था, किन्तु उसके यहाँ सुर मुनि सभी को कष्ट प्रदान करने वाला रावण उत्पन्न हुआ । राजा उग्रसेन भी वाह्याभ्यंतर शुद्ध थे और सम्पत्ति से सुशोभित थे, किन्तु उनके यहाँ, बहन को अपमानित करने वाला, भाँजा और भगिनियों सहित व्रज के दस दिन के शिशुओं की हत्या करने वाला और अपने पिता को कारागार में डालने वाला आततायी कंस उत्पन्न हुआ । इसलिये भगवान् विचार कर कहते हैं कि योग-भ्रष्ट योगी श्रीमान् योगियों के कुल में उत्पन्न होता है । धनिकों के यहाँ उत्पन्न होने पर श्रीमद के कारण बहुत दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके कारण उस भ्रष्ट योगी को नरकगामी बनना पड़ता है । यद्यपि कि यह योगभ्रष्ट होने के कारण नृपति होता है पर अन्य मंत्री आदि तो योगभ्रष्ट नहीं होते इसलिये मंत्रियों के कारण राजा में बहुतायत दोष आ जाते हैं । जैसाकि भर्तृहरि ने कहा है-दौर्मन्म्यान्नृपतिर्विनश्यति, कि बुरे मंत्री से राजा नष्ट हो जाता है । इसलिये भगवान् कह रहे हैं कि योगभ्रष्ट योगी स्वर्ग-सुख को भोग कर सात्त्विक बुद्धि सम्पन्न योगियों के घर में जन्म ग्रहण करता है । जब बुद्धि सात्त्विक रहती है तब सभी कामों में सात्त्विकता स्वत: आ जाती है । बुद्धि भ्रष्ट होने पर ही व्यक्ति का पतन हो जाता है । धन विद्या की महत्ता समाप्त हो जाती है । इसलिये इसी सात्त्विक बुद्धि को प्राप्त करने के लिये भगवान् से प्रार्थना की जाती है 'धियो यो न: प्रचोदयात्' हे भगवन् ! हमें सात्त्विक बुद्धि प्रदान करें । ऐसे योगियों के यहाँ जन्म ग्रहण करना दुर्लभ ही नहीं है, किन्तु निश्चय करके दुर्लभतर है । सुरदुर्लभ मनुष्य तन कहा गया है किन्तु योगियों के घर में जन्म ग्रहण करना उससे भी दुर्लभतर है । भगवान् का भक्त होना आसान बात नहीं है । गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं :-

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होहिं धर्मव्रत धारी ॥
धर्म सील कोटिक महँ कोई । विषय विमुख विराग रत होई ॥
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई । सम्यक् ज्ञान सकृत कोउ लहई ॥
ज्ञानवन्त कोटिक महँ कोऊ । जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ ॥
तिन सहस्र महँ सब सुख खानी । दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी ॥
सबते सो दुर्लभ सुरराया । रामभगति रत गत मद माया ॥ (रा. मा. ७।५३,१-५,७)

इसलिए चित्तवृति निरोधक योगियों के घर में जन्म ग्रहण करना अत्यन्त दुर्लभ है ।

अतएव जो आचार्य की सेवा करते हुए योगाभ्यास रत रहते हैं और समत्वयोग-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, निश्चय ही लौकिक सुखों को भोगकर परमानन्द को प्राप्त करते हैं ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

अन्वय :- **तत्र तम् पौर्वदेहिकं बुद्धिसंयोगम् लभते, च कुरुनन्दन ! ततः भूयः संसिद्धौ यतते ।**

अर्थ :- वह उस पौर्वदेहिक (यानी पहले शरीर से अर्जित) बुद्धि-संयोग को (सहज ही) पा जाता है, और हे

कुरुनन्दन ! उससे फिर (योग की) सम्यक् सिद्धि के लिए प्रयत्न करना है ।

व्याख्या :- जब योग-भ्रष्ट योगी धीमान् योगियों के गृह में जन्म लेता है तब वह सांसारिक प्रपञ्चों में नहीं फँसता है। उस पूर्व जन्म के देह में होने वाली बुद्धि के संयोग को नव्य शरीर में भी प्राप्त कर लेता है । पूर्व जन्म में जिस योग को उसने बहुत अभ्यास से प्राप्त किया था उसे वह बिना अभ्यास के प्राप्त कर लेता है । अर्थात् उसकी बुद्धि,

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ६।२९

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः । ६।३१

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं.................................६।३२

उस योगी की भाँति रहती है जो सभी प्राणियों में ईश्वर को और ईश्वर को सभी में देखता हुआ अपने सुख-दुःख के समान दूसरे प्राणी के सुख-दुःख को समझता है । बुद्धि के संयोग से वह पुनः योगाभ्यासी बन जाता है, अर्थात् उसे समत्व बुद्धि-योग नये शरीर में प्राप्त हो जाता है । वह बुद्धि-योग कर्मयोग से बहुत बड़ा धन है । जैसा कि गीता में भगवान् कहते हैं-

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ..............।२।४९।

कि समत्वरूप बुद्धियोग से कर्मयोग अवर है । इसलिए हे अर्जुन ! समत्व बुद्धि योग का आश्रय ग्रहण करो।

योगियों के कुल में उत्पन्न होने वाले योग-भ्रष्ट योगी को कोई स्त्री-पुत्र-धन के जंजीर में बाँध नहीं सकता। वह सबको ठुकरा कर फिर आत्मसाक्षात्कार के लिए यत्न करने लगता है । शुकदेव जी अतीव कौमार्यावस्था में घर से निकल पड़े । व्यासजी पुत्र पुत्र ऐसा कह कर पुकारते हुए जब अपने पुत्र को नहीं रोक सके तो अन्य लोगों को कहाँ सामर्थ्य है कि योगी को कोई रोक सके । इस प्रकार का जन्म ग्रहण करने वाला योगी घर द्वार छोड़ कर ब्रह्म-दर्शन जो सबसे बड़ी सिद्धि है-के लिये पुनः अच्छी तरह यत्न प्रारम्भ कर देता है, उसके लिये श्रद्धा, वीर्य स्मृति आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती है, उसे असम्प्रज्ञात-समाधि की प्रतीति जन्म से ही रहती है, जैसा कि शेषावतारी पतञ्जलि ऋषि ने लिखा है-

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् । समाधिपाद ।१९।

विदेह और प्रकृतिलयों को जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है । इस जन्म में फिर से थोड़े ही समय में कैवल्य को प्राप्त करता है । जो लोग यह कहते हैं कि विवाहिता स्त्री और माता-पिता को छोड़कर संन्यास ले लेते हैं पाप-भागी बनते हैं-ऐसा कहना अविवेकपूर्ण है ।

जो व्यक्ति 'माता मे कमला देवी पिता मे जनार्दनः', यह सोचता है कि लक्ष्मी जी मेरी माँ और विष्णु-भगवान् पिता हैं उन्हें पाप नहीं लगता है । ऐसे साधुस्वभाव वाले पुरुषों की स्त्रियाँ कभी व्यभिचारिणी नहीं हो सकतीं । लक्ष्मण

जी राम को पिता और सीता को माता समझकर राम की सेवा में नवविवाहिता स्त्री उर्मिला को छोड़कर चौदह वर्ष के लिये चले गये तो लक्ष्मण पापाधिकारी बने ? राम की सेवा करने के कारण लक्ष्मण राम के पताका के दण्ड बने । महापापी वही होता है जो वनिता माता पिता को छोड़कर संन्यास लेने पर भी पर-धन और पर-दाररत रहता है । पति की सेवा करना धर्म है, किन्तु परम पति की सेवा करना सर्वोत्तम धर्म है । इसीलिये व्रज युवतियाँ अपने पति की सेवा त्यागकर परमपति कृष्ण की सेवा करने से व्यभिचारिणी न कहलाकर परम तपस्विनी कहलाईं । जिनकी भक्ति के समक्ष उद्धव का ज्ञानाहंकार उसी प्रकार दूर हो गया जैसे सूर्य की प्रभा से अंधकार दूर हो जाता है । पुराणों की बात छोड़िये । तुलसी दास जी अपनी पत्नी को छोड़ने से क्या पापी कहलाये ? नवाब का पुत्र होते हुये रहीम ने वनिता, माता पिता-धन को छोड़कर मधुकरी-जीवन को अपनाया । रहीम की इस दशा को देखकर उसके संबंधियों ने जब पूछा तो उसने उत्तर दिया-

ये रहीम दर दर फिरे, माँग मधुकरी खाहि ।
यारों यारी छाँड़िये, वे रहीम अब नाहिं ॥

वही रहीम कहता है -

नर को वस करिया कहा, नारायन वस होय ।

दिल्ली के पठान सरदार रसखान की भक्ति-पराकाष्ठा को कौन नहीं जानता है ? जो मनुष्यों के वास्तविक कर्म को बताते हुये कहता है -

वैन वही, उनको गुन गाई और कान वही उन वैन सो सानी ।
हाथ वही उन गात सरै, अरु पाई वही जुबही अनुजानी ॥
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मन-मानी ।
यों 'रसखानि' वही रसखानि, जु है रसखानि सो है रसखानी ॥

मीरा की भक्ति को कौन नहीं जानता है ? पति त्यागने से क्या पापिनी कहलायी ? पापी वे ही हैं जो सब कुछ छोड़कर संन्यासी होने पर भी पाप कर्मों में लगे रहते हैं ।

यह भी कहना न्याय-संगत नहीं है कि मेरे न रहने पर पिता माता आदि का पालन कौन करेगा ? जो ईश्वर, गर्भ में रहने वाले बालक के लिये दूध का प्रबन्ध पूर्व में ही कर देता है तो वह सर्वदा सबको देख-रेख करेगा । मनुष्य किसी के सुख-दुःख का कारण नहीं है । अपने कर्तव्यों के कारण सुख-दुःख पाता है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

अन्वय :- **सः अवशः अपि तेन पूर्वाभ्यासेन एव ह्रियते । हि योगस्य जिज्ञासुः अपि शब्दब्रह्म अतिवर्तते ।**

अर्थ :- वह पुरुष अवश (यानी परवश) होने पर भी उस पूर्वकृत अभ्यास के द्वारा ही (उसी योग की ओर) खींचा जाता है; क्योंकि योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म (प्रकृति) को लाँघ जाता है ।

व्याख्या :- पूर्व के बताये गये 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' पर बैठकर नासिकाग्र के अग्रभाग को देखता हुआ मन को आत्मा में लगाने वाला योगी किसी कारणवश योग-शिथिल होकर, योग-भ्रष्ट होकर जब बुद्धिमान योगियों के घर में जन्म लेता है तब वह माया के वश में रहने पर भी पूर्व जन्म के योगाभ्यास के कारण योग की ओर स्वत: खींचा जाता है । यद्यपि माता-पिता उसको माया के बन्धन में बार-बार बाँधना चाहते हैं पर वह प्रपञ्चों को तृण की भाँति त्याग देता है । हरे हरे खेतों को चरने वाला वृषभ को कोई यदि बाँध दे तो बँधा नहीं रहता है, परन्तु अवसर पाने पर बंधन को तोड़कर हरे-भरे खेत में आनन्द लेने के लिये चला ही जाता है । साँड़ की भाँति योगी पूर्व जन्म में जिस योगाभ्यास के हरे भरे खेत को चरा करता है उसी की सुधि उसे बार-बार आती रहती है । वह कनक कामिनी और पुत्र की त्रिगुणात्मक मोटी रस्सी में बँधा रहने पर पूर्व जन्म के योगाभ्यास का आनन्द को प्राप्त करने के लिये एक झटके में ही फाँस को तोड़ कर दु:ख से पलायित हो जाता है । जिस प्रकार बड़ा चुम्बक छोटे चुम्बक को अपनी ओर खींच लेता है । उसी भाँति पूर्वजन्म का योगाभ्यास उस नवीन देह के मन को अपनी ओर खींच लेता है । शुकदेवजी को पूर्व जन्म के योगाभ्यास ने अपनी ओर खींच ही लिया । व्यासजी पीछे-पीछे उड़े विहंग को माया के पिजड़े में फँसाना चाहे पर पूर्वजन्म के योगाभ्यास-कानन के फल के रस लेने वाले पक्षी को नहीं पकड़ सके ।

इसके अतिरिक्त जो लोग केवल योग की जिज्ञासा रखते हैं अर्थात् योगी बनने की जिज्ञासा जिनके हृदय में रहती है वे शब्द प्रकृति को पार कर जाते हैं । जो लोग समता रूपी योग, अथवा चित्त-वृत्ति निरोधात्मक योग के जिज्ञासु मात्र ही होते हैं वे पशु, पक्षी कीट आदि योनि में जन्म नहीं लेते, वे तो माया को जीत लेते हैं । यहाँ पर भगवान् ने यह बताया है कि जब जिस योगी के मन में केवल योग की जिज्ञासा ही हो जाती है वह प्रकृति, अर्थात् शब्द द्वारा ज्ञात होने वाले देव, मनुष्य, पृथ्वी अन्तरिक्ष और स्वर्गादि शब्द से वर्णन किये जाने योग्य ब्रह्मरूप प्रकृति को पार कर जाता है । यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ प्रकृति है-'मम योनिर्महद्ब्रह्म' कहा गया है । तब योगाभ्यास करने वाला क्यों नहीं ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेगा जब मानस कर्म का इतना फल है, तब मन वाणी और कर्म से किया गया समतारूपी योग क्यों नहीं जीव को जन्म-मरण के बंधन से मुक्त कर देगा ?

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

अन्वय :- **तु अनेकजन्मसंसिद्धः संशुद्धकिल्बिषः योगी प्रयत्नात् यतमानः ततः पराम् गतिम् याति ।**

अर्थ :- परन्तु अनेक जन्मों के अभ्यास से संसिद्ध, सम्पूर्ण पापों से विशुद्ध हुआ योगी (इस जन्म में) प्रयत्नपूर्वक साधन करते हुए फिर परम गति को प्राप्त हो जाता है ।

व्याख्या :- योग के जिज्ञासु चाण्डाल भी शब्द प्रकृति को पार कर जाते हैं किन्तु उन्हें फिर ब्रह्म-प्राप्ति के अभाव में मर्त्यलोक में लौटना पड़ता है । गीता के आठवें अध्याय में -

'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ॥१६

कहा गया है ।

हे अर्जुन ! ब्रह्म-लोक से लेकर सब लोक पुनरावृत्ति स्वभाव वाले हैं, अर्थात् इन लोकों को प्राप्त कर पुनः संसार में उन्हें लौटना पड़ता है । ब्रह्म की माया बड़ी ही प्रबल है-'सिव विरंचि को मोहई, को है वपुरा आन' ।

किन्तु धीमान् योगियों के गृह में पुनर्जन्म ग्रहण करने वाला योगभ्रष्ट योगी प्रकर्ष पूर्वक यत्न करते हुए चारों १-अकृत्य करण, २-भगवदापचार, ३-भागवतापचार और ४-असह्यापचार के पापों से अच्छी तरह से शुद्ध हो जाता है। मन-वाणी और कर्म से, खूब यत्नपूर्वक हृदय रूपी मन्दिर में निवास करने वाले परमात्मा में अपना मन लगाता है । परमात्मा में मन लग जाने के बाद भी वह इस बार अभ्यास को छोड़ नहीं देता है, वरन् आमरण अभ्यास से वासना और रुचि रहित निर्मल मन से परमात्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया करता है । जैसे दूध से जली हुई बिल्ली छाँछ को फूँक कर पीती है उसी भाँति दुर्लभतर जन्म प्राप्त करने वाला योगी योगभ्रष्ट होने के कारण इस जन्म में सजग होकर प्रकर्षेण यत्न करता हुआ सम्पूर्ण पापों से दूर हो जाता है ।

इस प्रकार से अनेक जन्मों के योगाभ्यास से समत्व योग को प्राप्त करने वाला योगी भगवान् के चरणों को उपाय मानता हुआ इसी देह से परा गति, परमात्मा को प्राप्त कर लेता है । जब योगी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है तब उसे फिर इस संसार में नहीं आना पड़ता है । भगवान् ने आठवें अध्याय में स्वयं कहा है -

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।१६

कि हे अर्जुन ! मुझे प्राप्त कर जीव पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता है । जब योगी अन्तर्यामी ब्रह्म का दर्शन कर लेता है तब उसे तीर्थादि से क्या प्रयोजन है - १ इस संदेह का उत्तर यह है कि ऐसे लोग लोकसंग्रह के लिये कर्म करते हैं जैसा कि गीता के तीसरे अध्याय में कहा गया है-

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि' ३।२०

हे अर्जुन ! लोक-संग्रह को देखते हुए तुम कर्मों को करो ।

पुनः, 'परांगति' की तुलना में कैवल्य-प्राप्ति तुच्छ है । जो लोग कैवल्य-प्राप्ति को ही परम लक्ष्य मानते हैं, वे अपने को नष्ट करना चाहते हैं । परां गति भगवत्प्राप्ति ही को पाकर जीव इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता है । कठोपनिषद् में बताया गया है -

'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा, सा परा गतिः' अ. ।१। व. ३। मं ११

कि परम पुरुष परमेश्वर ही अन्तिम अवधि और वही परम गति हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है-

'बन्ध मोक्ष प्रद सर्वपर, माया प्रेरक सींव ।

कर्मानुसार बन्धन और मोक्ष प्रदान करनेवाले भगवान् ही सर्वपर हैं और वे ही माया को प्रेरित करने वाले एवं अन्तिम सीमा हैं ।

नास्तिक केवल चौबीस तत्त्व तक पहुँच पाये । कपिल २५ वाँ तत्त्व यानी आत्मा तत्त्व तक पहुँचे । वस्तुतः २६वाँ तत्त्व ही माया प्रेरक परम परमात्मा है । यहाँ तक भारत के पूर्व ऋषियों की सूक्ष्म बुद्धि पहुँच चुकी थी । मूल

प्रकृति माया में, (जो गुणों की साम्यावस्था है) कर्तृत्व आ ही नहीं सकती है । जड़ तो पराश्रित है, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है-

'प्रभु प्रेरित नहिं बल ताके'

जो लोग कैवल्य को परमानन्द मानते हैं वे "वानर को महुआ मिठाई" को चरितार्थ करते हैं । कैवल्य का अर्थ होता है-'केवलस्य भावः कैवल्यम्' केवल का भाव । केवल शब्द आत्मा को बता रहा है, अर्थात् आत्म साक्षात्कार को कैवल्य कहते हैं, इस कैवल्य को ही जो परम लक्ष्य मानते हैं वास्तव में वानर ही हैं । अर्थात् वे मनुष्य नहीं है वरन् वा विकल्प से मनुष्य हैं । मुक्तिहीन कैवल्य सुख-दुःख रहित है, जड़ पाषाण में सुख दुःख का अभाव रहता है । जड़ पाषाण बना देने वाला कैवल्य निन्दनीय और अग्राह्य है । कैवल्य-प्राप्ति तो उस कुलांगना के समान निन्दनीय और अग्राह्य है जो सदाचारिणी होती हुई स्वशृंगर और आत्मदर्शन में भूली हुई पति की आज्ञाओं का उल्लंघन करती हुई पति समागम की उपेक्षा करती है । जिस पिता ने, अग्नि, ब्राह्मण देवताओं के समक्ष कन्या के हस्त को उसके पति को पकड़ाया उस पिता को भी कलुषित करने वाली, 'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं' के अनुसार आचरण न करने वाली कन्या लोक और परलोक में कैसे प्रतिष्ठित हो सकती है जो अपने पति से विमुख हो आत्मदर्शन में ही भूली हो ? पिता-स्वरूप गुरु भी जीव रूपी कन्या को परम पति को समर्पित करता है जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है-परमेश्वर ही परम पति हैं'

'पतिं पतीनाम् परमं परस्ताद्" अ० ६ श्लो० ७

उस परमात्मा का कोई पति नहीं है-'न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके' श्वे. उ. अ. ६।९

उस परमपति को समर्पित जीव रूपी कन्या केवल आत्मदर्शन में भूली रहे और पति की आज्ञा का उल्लंघन करे तो क्या पति उसे स्वीकार करेगा ? क्या उसकी शुभ गति-मुक्ति हो सकती है ? पति की सेवा करने वाली स्त्री ही परम गति को प्राप्त कर सकती है, गोस्वामी तुलसी दास जी लिखते हैं -

'पति सेवत शुभ गति लहहिं । सेवा क्या है- 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा ।

पति की आज्ञाओं को मानना । पति की आज्ञा क्या है ?

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । गी. ९।३४

मेरी ओर मन लगाओ, मेरा भक्त बनो, मेरा भजन करने वाला बनो और मुझे ही नमस्कार करो । तभी तुम मेरा प्रिय हो सकोगे ।

'यो मद्भक्त स मे प्रियः । गी. १२।१४

जो मेरी आज्ञाओं का उल्लंघन करता है वह प्रिय नहीं है ।

'सोइ सेवक मम प्रियतम सोई, मम अनुशासन माने जोई ।।

पति का आदेश है कि "यो मां पश्यति सर्वत्र' गी. जो मुझको सर्वत्र देखता है उसीको मैं सर्वत्र देखता हूँ।

इसलिये जो पति की आज्ञा-यो मां पश्यति सर्वत्र का उल्लंघन कर केवल आत्मदर्शन में रत रहता है और अन्तर्यामी भगवान् से द्वेष करता है उसे प्रभु नरक में गिराते हैं जैसा कि गीता के १६ वें अध्याय में उन्होंने स्वयं कहा है-

'ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका:, १६।१८
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।१६।१९

अपने और दूसरे के हृदय में रहने वाले मुझसे जो द्वेष करता है, उन द्वेष करने वाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बारम्बार आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ ।

परांगति यानी-भगवत्प्राप्ति के अभाव में कैवल्य प्राप्ति वाले अधम गति को जाते हैं, ऐसा उसी अध्याय में स्वयं भगवान् कहते हैं -

'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् १६।२०

हे अर्जुन ! मुझे न पाने वाले लोग अधम गति को प्राप्त करते हैं ।

इसलिये योगी को कैवल्य-प्राप्ति को अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहिये । भगवत्प्राप्ति के बिना जीव जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता है । गोस्वामी तुलसीदास जी ललकारते हुये कहते हैं :-

''बिनु हरिभजन न तरहिं नर, यह सिद्धान्त अपेल''

दूसरी बात यह कि कैवल्य-प्राप्ति का उपदेश देना 'बालानां उपलालना' है । अर्थात् जिस प्रकार माता बच्चे को ''चाँद मामा आरे आव पारे आव नदिया किनारे आव, सोने के कटोरवा में दूध भात लेले आव बचवा के मुहवा में घुटुक'' कहकर रोते हुये बच्चे को चुप कर देती है उसी प्रकार अज्ञ गुरु शिष्य को संतोष प्रदान कर देते हैं । कहने का आशय यह कि जिस प्रकार न चन्द्रमा आता है न स्वर्ण के कटोरे में बालक को दूध भात खिलाया जाता है, किन्तु बालक रोना बन्द कर देता है, उसी भाँति अज्ञ गुरु संसार दावानल से तप्त जीव को कैवल्य प्राप्ति का बार-बार उपदेश देता है जीव प्रयत्न भी करता है, किन्तु कैवल्य-प्राप्ति से संतोष प्राप्त कर लेना बिना दूध-भात खाये ही, केवल वाणी को सुनकर ही चुप हो जाने के समान है । यदि कोई यह कहे कि कैवल्य-प्राप्ति का निर्देशन ग्रन्थों में है, तो मैं कहता हूँ कि 'चाँद मामा-वाली उक्ति क्या लोक में नहीं प्रसिद्ध है ? यदि प्रसिद्ध 'चाँद मामा आरे आव वाली' उक्ति सत्य है तो 'कैवल्यप्राप्ति' अन्तिम सीमा है-सत्य है, दूसरी बात यह कि जो यह कहता है कि ग्रन्थों में 'कैवल्य-प्राप्ति' के विषय में लिखा गया है तो मैं भी तो कहता हूँ कि वेद, स्मृति आदि गन्थों में भी भगवत्प्राप्ति ही मुक्ति है, लिखा गया है ।

यदि कोई यह संदेह करे कि गोस्वामी तुलसी दास जी ने 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद, संत पुराण निगम आगम वद' लिखकर कैवल्य-प्राप्ति की महिमा बतायी है तो वह अपनी मूर्खता प्रकट करता है । 'कैवल्य परम पद' का अर्थ यह है कि कैवल्य से भी जो परम-श्रेष्ठ पद अर्थात् भगवत्प्राप्ति है उसीको संत वेद और पुराणों ने बताया है । अगली पंक्ति में इसे स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि 'राम भजत सोई मुक्ति गोसाईं । अनइच्छित आवत बरिआई ।'' वही मुक्ति,

जिसे कैवल्य से भी श्रेष्ठ पद बताया गया है राम की भक्ति से प्राप्त होती है । यदि आत्म-दर्शन को कवि श्रेष्ठ मानता तो लिखता कि मुक्ति आत्म-दर्शन से प्राप्त हो जाती है, तब वे क्यों लिखते कि राम (ईश्वर) की सेवा से मुक्ति प्राप्ति होती है । वे आगे चुनौती देते हुये कह रहे हैं :-

जिमि थल बिनुजल रह न सकाई । कोटि भाँति कोई करै उपाई ॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई । रहि न सकई हरि भगति बिहाई ॥ (रा. मा. ७।११८।५,६)

जिस प्रकार कोटि प्रयत्न करने पर भी कोई जल थल के बिना नहीं रह सकता उसी भाँति मोक्ष का सुख बिना हरि-भक्ति के नहीं प्राप्त हो सकता है ।

इन सब उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि कैवल्य प्राप्ति जड़ है और भगवत्प्राप्ति अपरमित आनन्द और मोक्ष-प्रद है । इसी ब्रह्म-प्राप्ति के लाभ को आचार्यो ने बताया है -

'लाभस्तेषाम् जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयम् ।

जो व्यक्ति हृदय में भगवत्साक्षात्कार कर लेता है उसकी वह प्राप्ति सबसे बड़ा लाभ और विजय है फिर वह कभी पराजित नहीं हो सकता, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ सकता है ।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को आचार्य की सम्यक् सेवा करते हुये योगाभ्यास के द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये ।

तपस्विभ्योऽधिकोयोगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

अन्वय :- **योगी तपस्विभ्यः अधिकः ज्ञानिभ्यः अपि अधिकः च कर्मिभ्यः योगी अधिकः मतः, तस्मात् अर्जुन योगी भव ।**

अर्थ :- योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है तथा कर्मियों (यानी कर्म करने वालों) से भी उपर या अधिक (अथवा श्रेष्ठ) माना गया है, इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बनो ।

व्याख्या :- उत्तम व्याख्याता जिस शब्द से व्याख्यान का उपक्रम करते हैं उसी शब्द से अथवा उसके अर्थ बताने वाले शब्द से उपसंहार करते हैं । जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्र सर्वशास्त्रमयी गीता के कर्मकाण्ड के अन्तिम अध्याय को योगी-'अनाश्रितः-------योगी------' शब्द से प्रारंभ कर उपसंहार में भी योगी शब्द का प्रयोग करते हैं । यद्यपि कि अगले श्लोक में उपदेश समाप्त होगा किन्तु इस श्लोक में योगी शब्द का प्रयोग करके 'द्विबद्धं सुबद्धं भवति' के अनुसार उपदेश को समाप्त करते हैं ।

इस प्रकार उपदेश को सर्वोत्तम बनाते हुये भगवान् कह रहे हैं कि 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' के अनुसार आसन पर बैठकर युक्ताहार विहार करता हुआ अपने मन को परमात्मा में लगाने वाला योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ होता है । तप करने वाले को तपस्वी कहते हैं । तप की परिभाषा इस प्रकार है ।

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते । जाबाल० उ.खं. २।३

वेदोक्त प्रकार के द्वारा कृच्छ्र चान्द्रायणादि को करके शरीर को सुखा देने को तप कहते हैं । तप तीन प्रकार के होते हैं । १-सात्त्विक २-राजस और २-तामस ।

सात्त्विक तपस्वी, जलशयन मेघाडम्बर, खड़ेश्वरी, चान्द्रायण पंचाग्नितप करने वालों से योगी श्रेष्ठ होता है इन तपस्यायों को करने वालों की संख्या अधिक है पर दस दिन तक एक आसन पर बैठकर समाधि लेने वाले योगी कहीं न देखने को मिलते हैं न सुनने को । तपस्वियों का पतन संभव है किन्तु योगी परां गति को प्राप्त करते हैं । जड़ भरत, विश्वामित्र आदि तपस्वियों का पतन हो गया, किन्तु योगियों का कभी भी पतन नहीं होता । इसलिये तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है ।

तपस्वियों से ही नहीं वरन् ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ है, यह भगवान् का मत है । यहाँ ज्ञानी का अर्थ ब्रह्म तत्त्वज्ञ ज्ञानी से नहीं है, वरन् केवल शास्त्र-ज्ञान वाले ज्ञानियों से है । चिदचित् विशष्ट ब्रह्म-तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी सम्पूर्ण पापों से पवित्र होकर इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता है -

'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' (गी. ५।१७)
'ज्ञानं लब्ध्वा पराम् शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' (गी. ४।३९)

ज्ञान को पाकर परम शान्ति को शीघ्र प्राप्त कर लेता है । ज्ञानी प्रभु को प्रिय होता है -

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं, स च मम प्रियः (गी. ७।१७।)

गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है-

'ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा ।'

जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चों को दाँत से दबाये रहती है, मरने पर छोड़ती है । उसी भाँति भगवान् भी ज्ञानी को अपने अंक में रखे रहते हैं । ऐसे ज्ञानी भगवान् से रक्षित होकर निर्भय भ्रमण करते हैं । इसके अतिरिक्त जो वाचिक ज्ञानी होते हैं उनसे योगी श्रेष्ठ हैं । महर्षि पतञ्जलि के शिष्य केवल वाचिक ज्ञानी होने के कारण जल कर भस्म हो गये । यदि उनहें गुरु की आज्ञा के समान कोई वस्तु है ही नहीं-का ज्ञान होता तो वे न जलते । ऐसे वाचिक ज्ञानियों का पतन होता है । ये लोग

'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहीं ते नर न घनेरे'' को चरितार्थ करने वाले होते हैं ।

तपस्वियों और वाचिक ज्ञानियों के अतिरिक्त कर्मकाण्ड अश्वमेधादि यज्ञ, पृथ्वी, धन, गोदान को करने वाले से भी योगी श्रेष्ठ होते हैं । यज्ञ दान करने वालों का अहंकार नष्ट नहीं होता वरन् और प्रबल हो जाता है । सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजा नहुष को सर्प होना पड़ा, करोड़ो गायों को दान करने वाले नृग को गिरगिट योनि में जन्म लेना पड़ गया । इसलिये यज्ञ दान करने वालों से योगी श्रेष्ठ होता है क्योंकि योगी के चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है,

इसके विपरीत कर्म करने वालों को प्रमाद और अहंकार हो जाता है ।

इसीलिये भगवान् अर्जुन को योगी बनने के लिये आदेश दे रहे हैं । बिना योगी बने जीव भगवत्साक्षात्कार नहीं कर पाता है । गृहस्थ अर्जुन को योगी बनने की आज्ञा देकर भगवान् संसार को यह शिक्षा देते हैं कि संन्यास से ही मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है । गृहस्थ भी योग-क्रिया को करके चित्त की वृत्तियों का निरोध कर सकता है । संन्यासी ही योगी हो सकता है यह बात नहीं है । घर द्वार छोड़ने से ही व्यक्ति योगी नहीं होता है । योगी वही होता है जो 'चैलाजिन कुशोत्तरम्' के अनुसार आसन पर बैठकर युक्ताहार विहार करते हुये अपने मन को परमात्मा में लगाता है । यह योग इतना सरल है कि गृहस्थ भी कर सकता है और साथ-साथ इतना कठिन भी है कि घर-द्वार छोड़कर गेरुआ रंगाने वाला योगी भी नहीं कर सकता । इसे वही कर सकता है, जो पूर्व के बताये गये नियमों के अनुसार योगाभ्यास करता है ।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्तमो मतः ॥४७॥

अन्वय :- **सर्वेषाम् योगिनाम् अपि यः श्रद्धावान् मद्गतेन अन्तरात्मना माम् भजते सः मे युक्ततमो मतः ।**

अर्थ :- सब योगियों में भी जो श्रद्धावान् (भक्त) मुझमें लगे हुए मन से मुझको भजता है वह मुझे युक्ततम (युक्तों में श्रेष्ठ) रूप में मान्य है, (यानी वह मेरे मत में श्रेष्ठतम है)

व्याख्या :- जिस प्रकार परीक्षा की तीन श्रेणियाँ प्रथम, द्वितीय और तृतीय होती हैं, उसी भाँति योगी की तीन श्रेणी हैं। कनिष्ठ केवल योगी, मध्यम युक्त योगी और उत्तम युक्ततम योगी कहलाता है । कनिष्ठ योगी वह है जो वेद-विहित कर्म के फल का आश्रय छोड़कर, करने योग्य कार्यों को करता है :-

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
....................स योगी...................गी. ६।१ ॥

मध्यम कोटि का युक्त योगी वह है जिसकी आत्मा (मन) ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ और विजितेन्द्रिय होते हुये पत्थर तथा सुवर्ण को समान समझने वाला है । जैसा कि भगवान् ने पूर्व में कहा है :-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (गी. ६।८)

युक्त योगी का उदाहरण भक्तिसार स्वामी जी हैं । उनके यहाँ एक दिन एक संत उनकी तपस्या को न जानते हुये 'पारस' पत्थर देने के लिये आये, किन्तु भक्तिसार स्वामी ने उसे ठुकराकर हाथ के मल की गोली बनाकर उस संत से कहा कि इस गोली को जहाँ फेंक दोगे स्वर्ण का खान हो जायेगा । भक्तिसार स्वामी की तपस्या देखकर वह संत वहाँ से पलायित हो गया । युक्त योगी स्वर्ण को भी पाषाण समझता है, किन्तु युक्ततम योगी सर्वश्रेष्ठ है, यह मत भगवान् का मान्य है।

युक्ततम योगी चारों प्रकार-मंत्र योगी, लय योगी हठयोगी और राज योगी, अथवा सभी प्राणियों को ब्रह्म में, भगवान् को सर्वत्र और सबको भगवान् में देखने वाले एकत्व भाव से सभी प्राणियों में स्थित भगवान् की सेवा करने
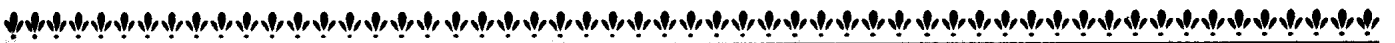
वाले, एवं अपने सुख और दु:ख के समान सबके सुख और दु:ख को समझने वाले योगियों से श्रेष्ठ होता है । 'अपि सर्वेषाम्' में भगवान् तपस्वी, ज्ञानी और कर्म करने वालों से भी युक्ततम योगी को श्रेष्ठ बतलाते हैं ।

इस प्रकार के युक्ततम योगी का मन भगवान् में प्रेम अधिक रखने के कारण साधारण मनुष्यों से विलक्षण हो जाता है । ऐसे योगी, बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों के आधार मन रूपी सुमन को परमात्मा के चरण रूपी सूत्र में गूँथ कर श्रद्धापूर्वक श्रद्धालु बनकर मन वाणी कर्म से भगवान् की सेवा किया करते हैं । वाणी से भगवान का गुणगान करते हैं, नेत्र से उनकी मोहिनी मूर्ति का दर्शन, कर्ण से उनकी कथाओं का श्रवण, हस्त से उनकी अर्चना और पैर से उनके पवित्र धामों में तीर्थाटन करते रहते हैं । उनका मन परमात्मा में इतना रमा रहता है कि वे एक क्षण के लिये भी उनसे अलग होकर उसी प्रकार जीवित नहीं रह सकते जैसे जल के बिना मीन ।

कहने का अभिप्राय यह कि युक्ततम योगी भगवान् को सर्व गुणों की निधि, सम्पूर्ण दु:खों को दूर करने वाला और अद्वितीय ब्रह्मानन्द प्रदान करने वाला समझते हैं । उन्हें यह ज्ञान हो जाता है कि संसार में जीव रूपी कन्या का भगवान् एक पति हैं । उनके समान संसार में कोई है ही नहीं । सर्वदा श्रद्धापूर्वक अपने पति की ही सेवा में जीव रत रहता है । भगवान् की सेवा के बिना वह मणि रहित सर्प की भाँति विकल हो जाता है । प्रत्येक चराचर में भगवद्दर्शन करते हुये फूले नहीं समाता है ।

लक्ष्मण जी को कैकेयी माता ने वनवास नहीं दिया था, किन्तु लषण लाल को भगवान का वियोग सह्य न था । ये युक्ततम योगी थे । राम की सेवा के लिये उन्होंने नव विवाहिता पत्नी को छोड़ा, माता का त्याग किया और राज्य -वैभव को धूलि समझा । अपने भगवान् की सेवा के लिये उन्होंने नींद का त्याग किया, सब कुछ त्यागते हुये लंका में प्राण को त्यागने के लिये तैयार हो गये । युक्ततम योगी लक्ष्मण की भाँति भगवान् की सेवा से सभी लौकिक सुखों को ठुकराकर अपने को अर्पित कर देता है । इसीलिये भगवान् मुक्त कंठ से कहते हैं कि युक्ततम योगी सभी प्रकार के योगियों से श्रेष्ठ है, यह मेरा श्रेष्ठ मत है ।

इसलिये प्रत्येक मानव को आचार्य की सेवा के द्वारा विमल ज्ञान प्राप्त करके अनन्त गुण-राशि स्वरूप परम पिता की सेवा के लिये अपने को अर्पित कर देना चाहिये । जो लोग ऐसा करते हैं वे लौकिक सुखों को भोगकर परमानन्द के अधिकारी बनते हैं ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद्, ब्रह्मविद्या योगशास्त्र में श्रीकृष्ण-अर्जुन के संवाद में 'आत्मसंयमयोग' नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ।

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥

।। श्रीः ।।
श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-पार्थ ! मयि आसक्तमनाः मदाश्रयः योगं युञ्जन् असंशयं समग्रम् माम् यथा ज्ञास्यसि, तत् शृणु ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - हे पार्थ ! मुझमें आसक्तमनवाला मेरा ही आश्रित हुआ (मेरी प्राप्ति के साधन-रूप) योग में लगा हुआ तू बिना संशय के पूर्ण रूप से मुझे जैसे जानोगे, उसे सुनो ।

व्याख्या :- भगवान् कर्मकाण्ड अध्याय के अंतिम श्लोक में कह चुके हैं कि जो श्रद्धालु मुझ में मन लगाकर मुझे भजता है वही सर्वश्रेष्ठ योगी है । इसलिये अर्जुन के बिना पूछे ही परब्रह्म रूप परम पुरुष के स्वरूप और भक्ति के स्वरूप को बतायेंगे जिसे जानकर योगी उपासना करता है । अबतक भगवान् ने यही बताया कि मेरी सेवा करो । यह नहीं बताया कि मैं कैसा हूँ और किस प्रकार से मेरी उपासना की जा सकती है । जबतक ज्ञान नहीं होगा तबतक श्रेय की उपासना असम्भव है । यह आत्मा न प्रवचन से प्राप्त होती है, न बुद्धि से न बहुत सुनने से ही, यह जिसको वरण कर लेती है उसीके लिये अपना रूप प्रकट कर देती है । इससे यह निश्चय हो जाता है कि परम पुरुष परमात्मा के द्वारा वरण किये जाने योग्य बनने का कारण उपासना है जिसे भक्ति कहते हैं । इसलिये भगवान् ने 'भजते' शब्द का प्रयोग किया है । अतः सातवें अध्याय में उपास्य रूप परम पुरुष का यथार्थ तत्त्व, प्रकृति के आवरण से जीव का ढँका जाना और उसकी निवृत्ति के लिये भगवान् की शरणागति, उपासकों के प्रकार और उनमें ज्ञानी की श्रेष्ठता का वर्णन करते हैं ।

भगवाले को भगवान् कहते हैं । भग क्या है ? इसको पराशर जी ने विष्णुपुराण में बताया है । समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश श्री ज्ञान और वैराग्य रूपी भग जिनमें हो उसे भगवान् कहते हैं । ये भगवान् लीला विभूति और वैकुण्ठ में रहने वाले पूर्ण हैं । अर्थात् राम-कृष्ण बनने पर भी ये पूर्ण रूप से वैकुण्ठ में रहते हैं, जैसा कि कहा गया है-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि पूर्ण में से पूर्ण लेने पर भी पूर्ण कैसे बच सकता है ? इसका उत्तर स्पष्ट है १ से ६ तक की संख्यायें पूर्ण होती हैं, यदि इन्हें इस प्रकार व्यक्त किया जाय -

	९	८	७	६	५	४	३	२	१
(-)	१	२	३	४	५	६	७	८	९
	८	६	४	१	९	७	५	३	२

तो पूर्ण में से पूर्ण घटाने पर पूर्ण संख्यायें बच जाती हैं । अथवा ब्रह्म एक है । वह पूर्ण है । संख्या भी पूर्ण है, 'पूर्णस्य पूर्ण' का अर्थ होता है, पूर्ण का पूर्ण अर्थात् १ का १ = १ आता है ।

इस प्रकार के अद्वितीय गुण वाले भगवान् पार्थ शब्द का प्रयोग कर भारतीय संस्कृति को बतलाते हैं कि भारत में माता का स्थान पिता से ऊँचा है । पृथा-पुत्र अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! पराशक्ति वाले मुझमें आसक्त मन वाला होकर, मेरे आश्रित होकर योग को करता हुआ निस्संदेह समग्र रूप से मुझे जैसा जानोगे, उसको तुम सुनो । भगवान् के कहने का तात्पर्य यह है कि-

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी

ज्ञानबलक्रिया च । (श्वेताश्वतरोप. अ. ६। मंत्र ८ ।)

स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया और दिव्य शक्ति वाले मुझमें आसक्त होकर मन को मेरे चरणों में लगाओ । मेरी विभूतियों लीलाओं और मेरे रूप से वियोग होने पर तुम्हें कष्ट का अनुभव होगा । मुझको ही अपना आश्रय जानो । अर्थात् संसार की आशा छोड़कर मेरा ही आश्रय ग्रहण करो । संसार सागर में डूबते हुये का सहारा मेरे ही चरण हैं, जिस प्रकार मल्लाह जाल फेंक कर सभी मछलियों को फँसा लेता है उसी भाँति मैंने माया रूपी पाश में संसार समुद्र के सभी जीवों को फँसा रखा है । इस विषम जाल से वही मनुष्य बच सकता है जो शनैः शनैः चलकर मल्लाह के पैर के पास चला जाता है । उसी प्रकार जो ज्ञान, दुःख, शोक रोग के कारण भी मेरे चरणों में अपने मस्तक को रख देता है वह माया के पाश में नहीं बँधता है । इसलिये व्यक्ति अपना आश्रय अपने और अन्य राजा पुत्र, वनिता आदि को न समझ कर केवल परमात्मा को समझे । जब स्वातंत्र्याभिमान होवे तब ओम् अ + उ + म्-के प्रथम अक्षर अ का अर्थानुसंधान करे । यह अ भगवान् का स्वरूप है जैसा कि गीता में कहा गया है "अक्षराणां अकारोऽस्मि" जब दूसरे राजा पुत्र, वनिता आदि का अभिमान हो तब द्वितीय अक्षर उ का अर्थानुसंधान करे । यह उ-निश्चय करके यह बताया है कि परमात्मा का ही शेषांश जीव है, परमात्मा को अपना आश्रय समझना चाहिये ।

इसलिये अर्जुन ! प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान आदि में तुम मेरे आश्रित होकर यदि मुझमें आसक्त होकर मुझमें मान लगाओगे तो निस्संदेह' ही मुझे समग्र रूप से जानोगे । यहाँ भगवान् मां केवल मुझको न कहकर समग्र शब्द का प्रयोग करके यह बताते हैं कि वह योगी ज्ञान, बल, क्रिया और परा शक्ति-समग्र रूप से मुझको जानता है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् निर्विशेष नहीं हैं वरन् सविशेष हैं । महर्षि वाल्मीकि ने कहा है 'जगत्सर्वं शरीरम्' और 'यस्य आत्मा शरीरम्' कहा गया है ।

अथवा जो भगवत्परायण रहता है वह भगवान् को समग्ररूप से नाम रूप, गुण और धाममय जानता है । वह केवल एक अंश को ही नहीं जानता है किन्तु चारो गुणों को अच्छी तरह जानता है । जो केवल भगवान् के नाम या गुण, रूप अथवा धाम को जानते हैं वे-

सुन हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धाय के ।
जेहिं टोवा जेहि ठाँव, सो सो तैसे कहा -

को चरितार्थ करते हैं । भगवान् न केवल नाम वाले हैं, न गुण वाले, न रूप अथवा धाम वाले हैं । जो केवल एक तत्त्व को जानकर उपदेश देता है वह अपने साथ दूसरों को भी नष्ट करता है । इसलिए भगवान् की उपासना चारो प्रकार से करनी चाहिए ।

अत: भगवान् कह रहे हैं कि जैसा जानोगे उसको सुनो । अर्थात् जबतक तुम श्रवण नहीं करोगे तबतक तत्त्वज्ञ हो नहीं सकते । भगवान् प्रतिज्ञा करते हुये कहते हैं कि उसे सुनोगे तभी समझ पाओगे । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि 'आत्मदर्शन' स्वत: सिद्ध नहीं है । इसलिये श्रुति कहती है -'आत्मा वा रे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य: । (बृ. उ. २।४।५) कि आत्मा निश्चय करके देखने, सुनने, मनन और निदिध्यासन करने योग्य है, केवल श्रवण करने से ही काम सफल नहीं हो सकता है - ''श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्'' यदि श्रवण किये गये उपदेश का अनुसरण नहीं किया जाता है तब उस उपदेश का कोई मूल्य नहीं होता ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत: ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

अन्वय :- **अहम् ते इदम् ज्ञानम् सविज्ञानम् अशेषत: वक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा भूय: इह अन्यत् ज्ञातव्यम् न अवशिष्यते ।**

अर्थ :- मैं तेरे लिए यह ज्ञान विज्ञान-सहित पूर्ण रूप से बतलाऊँगा, जिसे जानकर फिर यहाँ अन्य जाँनने योग्य (कुछ भी) शेष नहीं बचेगा ।

व्याख्या :- मनुष्य के पास विशेष ज्ञान है जिसके द्वारा वह जन्म -मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है । इसी ज्ञान को भगवान् सम्पूर्ण रूप से अपने अनुभव सहित अर्जुन को बता रहे हैं जिसको जानकर फिर और कुछ जानने को शेष नहीं रह जाता है ।

यहाँ भगवान् 'अहं', 'तें', और 'ज्ञानं', शब्द का प्रयोग कर तत्त्वत्रय, चिदचित् विशिष्ट ब्रह्म को बता रहे हैं। अहं शब्द ब्रह्म, 'ते' शब्द जीव और ज्ञान शब्द उचित पदार्थ को बता रहा है । यहाँ पर प्रयुक्त ज्ञान शब्द गीता के १३वें अध्याय में 'अमानित्वम्- से लेकर-एतज्ज्ञानमिति अर्थात् ७वें श्लोक से ११ वें श्लोक तक वर्णित ज्ञान को नहीं बता रहा है । यह ज्ञान उपर्युक्त श्लोक (२) में कथित ज्ञान का साधन मात्र है । तो ज्ञान क्या है ? इसका उत्तर है - 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानं' अर्थात् जिसके द्वारा सतसत् पदार्थ,- चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म जाना जाता है । यह ज्ञान अन्त:करण वृत्ति में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि विवरण कार की उक्ति से 'अन्त:करण-परिणामविशेषचेतनस्यविषयावच्छेदोपाधि: करणव्युत्पत्त्या ज्ञानम्''-सिद्ध हो जाता है कि करण में ल्युट् प्रत्यय का विधान होने से ज्ञा धातु से बना हुआ ज्ञान चिदचिद् विशिष्ट के जानने का कारण है । पद्मपादिकाकार और विवरणकार की इस उक्ति से 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्' ज्ञाता के अर्थ प्रकाश को ज्ञान कहते हैं' - यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान न ज्ञेय है न ज्ञाता वरन् ज्ञान ज्ञेय को जानने का कारण

ज्ञाता का ज्ञान है । 'ज्ञ' को ज्ञान और ज्ञान को ज्ञ मानना प्रमत्त-प्रलाप है । 'ज्ञ' ज्ञानाधिकरण,-ज्ञान का आधार आत्मा है। जब ज्ञानाधिकरण आत्मा है तो ज्ञान को आत्मा मानना लड़कपन की बात करनी है । जो लोग 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य को लेकर ज्ञान शब्द का अर्थ आत्मा करते हैं, उन्हें यह समझना चाहिये कि ज्ञानम् पद का अन्तोदात्त होने से 'अर्श आदिभ्योऽच्' सूत्र से मत्वर्थीअच् प्रत्ययान्त को प्रमाणित कर रहा है, क्योंकि भाव ल्युडन्त ज्ञानपदं 'लिति' सूत्र से आद्युदात्त होता है । मत्वर्थी अच् प्रत्यय होने पर 'चित्' इस सूत्र से अन्तोदात्त होने के कारण यह ज्ञान पद ज्ञानवत् अर्थ को बता रहा है । अर्थात् अन्तोदात्त होने से सर्वज्ञ ब्रह्मपरक ही यह ज्ञान पद है ।

इस श्लोक में वर्णित ज्ञान सात्त्विक ज्ञान को बता रहा है । राजसी और तामसी ज्ञान के द्वारा भौतिक सुख को ही जाना जा सकता है । इस सात्त्विक ज्ञान से जीव प्रकृति विशिष्ट ब्रह्म जाना जा सकता है । इस सात्त्विक ज्ञान को गीता के १८वें अध्याय में बताया गया है-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ (गी. ।१८।२०)

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अव्यक्त से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त भूतों में एक परमेश्वर को जो अपने स्वरूप और धर्म से कभी क्षय नहीं होता देखता है ।

इसलिये भगवान् अर्जुन को संक्षेप में अनुभव किये हुये ज्ञान को रहस्य सहित, अशेषत: सम्पूर्ण रूप से बता रहें हैं । इस ज्ञान को जान लेने पर और कुछ जानने को शेष नहीं रह जाता है । भगवान् ने पहले ही अर्जुन 'शृणु' कहकर सावधान कर दिया है । सावधानी से श्रवण करने पर यह ज्ञान जाना जा सकता है । केवल अर्जुन को शिक्षा देकर भगवान् यह शिक्षा दे रहें हैं कि रहस्यमय ज्ञान को गुरु शिष्य को पहचान कर दे । दूसरी बात यह कि ब्रह्म-ज्ञान को संन्यास लेने पर ही जाना जा सकता है, यह बात नहीं है । सदाचारी गृहस्थ भी इसे अच्छी तरह जान सकता है। मृत्यु को वश में रखने वाले बालब्रह्मचारी भी वृद्ध भीष्म इस ज्ञान को नहीं जान पाये, क्योंकि वे अन्यायी हैं । भरी सभा में राजस्वला द्रौपदी के चीरहरण के समय तक तो उन्होंने दुर्योधन को मना तक नहीं किया और दूसरी ओर दुर्योधन की ओर से युद्ध करने के लिये पहले ही आकर **'सिंहनादविनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्'** शंख बजा दिया । अमोघ ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ब्रह्मचारी हनुमान अर्जुन के रथ पर बैठे हैं, पर उन्हें उपदेश सुनाई नहीं दे रहा है । प्रभु की आज्ञा के बिना ही लंका को जला डाले । रावण केवल अपराधी था किन्तु इन्होंने सबको घर विहीन कर दिया । दूसरी बात, 'जो मोहि मारा तिन्ह मैं मारा', इनमें सहनशीलता नहीं थी किन्तु राजकुमार अर्जुन दुर्योधन के द्वारा अत्यन्त कष्ट को सहता हुआ भी राज्य, विजय, धन को ठुकराकर कहता है-

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ (गी. ०१।४६)

यदि मैं शस्त्र त्याग कर खड़ा हो जाऊँ और मुझे दुर्योधनादिक मारें तब मेरा कल्याण होगा ।

इसलिये ज्ञान प्राप्त करने के लिये अर्जुन की भाँति सदाचारी और त्यागी बनना आवश्यक है । यह सत्य है

कि यह ज्ञान आजीवन अध्ययन से नहीं जाना जाता है और सद्गुरु प्राप्ति से एक क्षण में उसी प्रकार जाना जाता है जैसे एक सेकेंड में सिंदूर-दान मात्र से ही दूसरे की कन्या अर्द्धाङ्गिनी बन जाती है । एक बार राजा जनक ने रिकाब पर पैर रखकर घोड़े पर चढ़ने के समय तक ही ब्रह्म ज्ञान को जानने के लिये सभी महर्षियों को बुलाया । बुलाकर अपनी इच्छा प्रकट की, पर किसीने नहीं बताया । अन्त में उपस्थित अष्टावक्र ने कहा कि अनधिकारी को ज्ञान देना ठीक नहीं है । ज्ञान के लिए महात्मा और आचार्यों के यहाँ रिक्तहस्त होकर ज्ञानार्जन के हेतु जाये । राजा जनक ज्ञान के अधिकारी नहीं हो सकते । अपराध को क्षमा कराने के लिये जनक ने अष्टावक्र से कहा-महाराज ! इस अपराध के बदले में आप जो माँगे मैं दे दूँगा'' अष्टावक के वचन-वद्ध कराने पर राजा जब अपना सम्पूर्ण राज्य देने के लिये तैयार हुये तब अष्टावक्र बोले, 'राजन्' ! तुम कितने अन्यायी हो, दूसरे की जो चीज तुम्हें रक्षा के लिये दी गयी है, उसे दे रहे हो । यह तुम्हारा राज्य है ? क्या तूने इसे बनाया है ? जिस प्रकार रेल में यात्रा करने से यात्री की रेल नहीं हो सकती उसी भाँति तुम्हारे राज्य करने से यह राज्य तुम्हारा हो नहीं सकता ।' ऐसे वचन को सुनकर राजा जनक अज्ञान के मोह से कुछ जगकर बोले 'महात्मन् ! यह शरीर मेरा है, इसे ले लीजिये' । इसपर अष्टावक्र बोले - 'राजन् क्यों अभिमान के समुद्र में गोता खा रहे हो, और यह शरीर तुम्हारा कहाँ है ? यह तो तुम्हारे माता पिता के रज-वीर्य से बना है । पिल्लुओं, शृंगाल, और गिद्धों के अधिकार की चीज को हमको देते हो । दूसरी बात यह कि तुम्हारा आधा देह तुम्हारे स्त्री का है'' राजा जनक बोले 'महाराज ! अब आप जो माँगे, मैं दूँगा'' महात्मा ने कहा 'राजन् ! केवल तुम अपना मन मेरे चरणों में देकर घोड़े पर चढ़ो' राजा को उसी क्षण ज्ञान हो गया । ८४ लाख योनियों में विषय भोग में फँसे हुये मन को गुरु के चरणों में समर्पित करना आसान काम नहीं है । जिस समय विदेह ने अपने मन को अष्टावक्र के चरणों में दे दिया उसी समय विदेह, विदेह हो गये ।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को खेती नैकरी व्यापार आदि को करते हुये अर्जुन की भाँति सदाचारी बनकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ से ज्ञान प्राप्त कर चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म को जानने का प्रयत्न करना चाहिये । उसको जान लेने पर कुछ जानने को रह नहीं जाता । संसार छूट जाता है । जैसा कि संत शिरोमणि तुलसीदास जी ने लिखा है -

जेहि जाने जग जाहिं हेराई । जागे यथा सपन भ्रम जाई ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

अन्वय :- **मनुष्याणाम् सहस्रेषु कश्चित् सिद्धये यतति । यतताम् सिद्धानाम् अपि कश्चित् माम् तत्त्वतः वेत्ति ।**

अर्थ :- सहस्रों मनुष्यों में कोई (एक) ही सिद्धि के लिए (यानी सिद्धि प्रर्यन्त) यत्न करता है, और (सिद्धि पर्यन्त) यत्न करने वालों में भी कोई (एक) ही मुझे तत्व से जानता है ।

व्याख्या :- जो यह शंका करते हैं कि भगवान् परम कारुणिक होते हुये जीवों को परमानन्द क्यों नहीं प्रदान करते हैं, जिसे पाकर जीव संसार दावानल से मुक्त हो जाये-वे अपनी मूर्खता का परिचय देते हैं । परम कारुणिक भगवान् आनन्द बाँटने के लिये तैयार हैं पर उस आनन्द को लेने का प्रयत्न कौन करता है ? जब भगवान् के सम्मुख जीव जायेगा तभी

तो भगवान् आनन्द देंगे । ये कहते हैं कि जीव एक बार भी मेरे सामने आ जाय तो उसके महान पाप को दूर कर उसे परमानन्द प्रदान कर दूँ । जैसा कि संतशिरोमणि तुलसीदास जी ने लिखा है ।

'सनमुख होई जीव मोहि जबहीं ।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥ (रा. मा. ५।४३।२)

संसार के मनुष्य जितना प्रयत्न खेती नौकरी, धन-पुत्र-वनिता के लिये करते हैं उसका सहस्रांश प्रयत्न मेरे द्वारा दान दिये जाने वाले आनन्द के लिये नहीं करते हैं । हिरण्यकश्यप को मारने के पश्चात् जब भगवान् ने अपनी गोद में प्रह्लाद को उठा लिया तब प्रह्लाद ने भगवान् से कहा भगवन् ! सम्पूर्ण संसार के मानव दुःख के दावानल में जल रहे हैं । आप परम कारुणिक हैं । करुणा कर आप उन्हें आनन्द क्यों नहीं प्रदान कर देते हैं ? प्रह्लाद के वचन को सुनकर भगवान् हँसते हुये बोले - 'प्रह्लाद ! मैं तो सभी को आनन्द देने के लिये तैयार रहता हूँ, पर कोई लेना ही नहीं चाहता है । इसपर प्रह्लाद ने कहा 'भगवन् ! देखिये वह वृद्धमहाजन ग्रीष्म से परितप्त होकर घर जा रहा है मैं उसे बुलाता हूँ, आप उसे आनन्द दे दीजिये ।' प्रह्लाद के बुलाने पर जब वह महाजन आया तब भगवान् ने पूछा, "कहिये महाजन जी, आनन्द लीजियेगा ? वृद्ध महाजन ने कहा, "मैं आनन्द तो अवश्य लेता पर मेरी एक इच्छा-(मेरे बेटे के माथ पर मौर बैठ जाय) पूरी हो जाती तब ।" उस महाजन के बेटे का विवाह हो जाने पर प्रह्लाद ने उसे बुला कर कहा चलो आनन्द देने के लिये भगवान् तुम्हें बुला रहे हैं । अब तो तुम्हारे पुत्र का विवाह हो गया न ?" बुड्ढे ने कहा "आनन्द तो हमें लेना ही है, किन्तु नाती को खिला लेता तब" भगवान् ने प्रह्लाद से कहा" देखा न प्रह्लाद मैं आनन्द देता हूँ पर कोई लेना नहीं चाहता । प्रह्लाद बोले, "अच्छा भगवान् उस सूकरी को मैं बुलाता हूँ उसे आनन्द दीजिये" भगवान् ने सूकरी की भाषा प्रदान कर प्रह्लाद को भेजा । प्रह्लाद सूकरी से बोले, "हे सूकरी देवी तुम इतने बच्चों के साथ कष्ट पा रही हो, चलो भगवान् तुम्हें आनन्द दे रहे हैं । तुम्हारा सब कष्ट दूर हो जायेगा" भगवान् के आनन्द देने पर 'सूकरी ने पूछा "बताइये हमें जो आनन्द आप दे रहे हैं वहाँ वह सुगंधित आनन्द दायक तेल तो मिलेगा न जिसमें मैं प्रतिदिन लोट मारती हूँ ।

सच है शराबी को दूध विष और मदिरा अमृत लगेगा । वेश्यागामी को अपनी अर्द्धांगिनी नरक और नरक स्वरूपा वेश्या स्वर्ग प्रतीत होगी । सुरदुर्लभ मनुष्य तन पाकर मानव पशु-पक्षियों सा व्यवहार करने में अपनी प्रतिष्ठा समझता है। भगवान् परमानन्द दे रहे हैं पर कोई लेता ही नहीं । सभी मनुष्य सूकरी देवी की भाँति मदिरा, स्त्री, धन को ही आनन्द मानते हैं ।

हजारों मनुष्यों में कोई ही मनुष्य सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है और इन यत्न करने वाले सिद्धों में से कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मुझको तत्त्व से जानता है । इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है-

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होहिं धर्म व्रतधारी ॥
सबते सो दुर्लभ सुरराया । रामभगति रत गत मद-माया ॥

भगवान् इतने दयालु हैं कि बिना कारण मनुष्य देह प्रदान करते हैं । पशु पक्षी किसी प्रकार का पुण्य नहीं

करते । यदि उनसे घुणाक्षर न्याय से भी पुण्य हो जाता है तो भगवान् उसे मनुष्य देह प्रदान कर देते हैं । भगवान् के परम कारुण्य से ही मनुष्य तन की प्राप्ति होती है । जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है-

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईश बिनु हेतु सनेही ॥

ऐसे दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाने मात्र से मनुष्य नहीं होता । बहुत मनुष्य कुकर्मों से राक्षस हो जाते हैं । ये लोग माता पिता को नहीं मानते और साधुओं से सेवा करवाते हैं । तुलसीदासजी ने लिखा है, ऐसे ही व्यक्तियों के विषय में-

मानहिं मातु पिता नहिं देवा । साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥
जिनके यह आचरण भवानी । ते जानहु निसिचर सम प्रानी ॥

बहुत व्यक्ति जप तपादि से देवत्व प्राप्त कर लेते हैं । मनुष्य वही कहलाते हैं जो माता-पिता की सेवा करते हुये साधु-संत-सेवा-परायण रहते हैं ।

वास्तव में मनुष्य कहाने वाले हजारों मनुष्यों में से कोई व्यक्ति केवल सिद्धि के लिये यत्न करता है । अर्थात् ऐसे यत्न करने वाले केवल इसीलिये यत्न करते हैं कि लोक में उनकी प्रतिष्ठा हो । ये लोग केवल नकली किसमिस मुनक्का लौंग इलायची पैसा के चमत्कार से संसार को धोखा देते हुये अपने को भी नष्ट करते हैं । दूसरे को किसमिस मुनक्का देते हैं पर अपने गली-गली भीख माँगते हैं । इस प्रकार के यत्न करने वाले हजारों सिद्धों में से कोई ही मुझे (भगवान् को) तत्त्व से जानता है । कपिल मुनि महान् सिद्ध थे । भगवान् गीता में 'सिद्धानां कपिलो मुनि:'' १०।२६। सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ-कहा है । कपिल मुनि ने माता देवहूती को संसार की नश्वरता की खूब शिक्षा दी । एकलौता पुत्र होते हुये भी घर द्वार छोड़ कर तपस्या से इतनी शक्ति इन्होंने पा ली कि एक क्षणमात्र में नेत्र की ज्वाला से राजा सगर के साठ हजार पुत्रों को जला दिया, पर सब कुछ प्राप्त करते हुये ब्रह्म-तत्त्व को नहीं समझ पाये । इनकी सम्पूर्ण तपस्या 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया' ही रही । पाये क्या ? आत्म-तत्त्व । चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सके ।

इसके अतिरिक्त कितने अन्य योगी और संन्यासी घर-द्वार छोड़ कर तपस्या करते रहते हैं पर ''अलख-अलख'' चिल्लाते रहते हैं । कितने 'तुम्हीं ब्रह्म हो' और 'अहं ब्रह्मास्मि-'मैं ब्रह्म हूँ' की झूठी ढिंढोरा पीटने में ही अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं । ''तुम ब्रह्म हो'' कहने वाले को तुलसीदास जी की इस पंक्ति को पढ़कर अपने अज्ञान को नष्ट कर लेना चाहिये-

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान । माया वस परिछिन्न जड़ जीव कि ईश समान ॥

जो मैं ब्रह्म हूँ मानते हैं वे भूले हुये हैं । जो लोग निर्गुण ब्रह्म को जानते हैं वे कछुये के दुग्ध-पान से संतुष्ट होते हैं। यह विश्व सत्कार्य है । सत् दूध से ही दही होता है । पानी से दही नहीं होता । जब ब्रह्म निर्गुण हैं तब निर्गुण ब्रह्म से सगुण विश्व की उत्पत्ति की कल्पना करना वंध्या से पुत्र होने को सिद्ध करना है । संसार में जितने पदार्थ हैं सब विशेषण गुण युक्त हैं । निर्गुण की उपासना करना सिकता से तेल प्राप्त करना है । सूरदास ने ललकारते हुये कहा है-

रूप-रेख-गुन-जाति जुगत-बिनु निरालम्ब कित धावै ।
सब विधि अगम विचारहिं, तातें सूर सगुन-पद गावे ॥

निर्गुण ब्रह्म सब प्रकार से अगम्य है । उसकी कोई सत्ता है ही नहीं ।

जब निर्गुण और 'अद्वैत ब्रह्म' वास्तविक तत्त्व नहीं है तो आप प्रश्न कर सकते हैं कि वास्तविक कोई तत्त्व है क्या ? इसका उत्तर स्पष्ट है । जिस प्रकार प्रथम द्वितीय और तृतीय तीन श्रेणियाँ हैं, तीन देव ब्रह्मा विष्णु और महेश हैं, उर्ध्व पुण्ड्र तथा त्रिपुण्ड है, एवं यज्ञोपवीत में तीन तागे हैं उसी प्रकार तत्त्व तीन ब्रह्म चित्-जीव, अचित्-माया है । ब्रह्म तत्त्व चिदचित् विशिष्ट है । इन्हीं तीनों तत्त्वों का विवेचन इसी अध्याय में आगे करेंगे । इस तत्त्व को भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है । इस तत्त्व के जान लेने पर ही योगी भगवान् को प्राप्त कर लेता है । गीताकार ने जैसा कि १८वें अध्याय में कहा है-

भक्त्या मामभिजनाति, यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरम् ॥१८।५५॥

यांनी पराभक्ति के द्वारा ब्रह्म तत्त्व को अच्छी तरह जानता है । भगवान् को तत्त्वतः जानकर ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है । इसी तत्त्व को समझने के लिये काकभुसुण्डि को लोमश ऋषि का कोपभाजन बनना पड़ा और सती को पार्वती बनना पड़ा । सती केवल एक तत्त्व शिव को ही समझती थी ।

'शंकर जगत वंद्य जगदीसा'

शंकर भगवान् के तत्त्व त्रय समझाने पर भी -

सोई राम व्यापक ब्रह्म भुवन, निकाय पति मायाधनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित, निजतंत्र नित रघुकुल मनी ॥ रा. मा. ।१।५१ छंद ॥

सती का संदेह नहीं गया । जब स्वतः परीक्षा लेने गई, तब भगवान् ने सोचा कि सती के 'अद्वैत शिव' के अज्ञान को दूर कर तत्त्वत्रय का ज्ञान कराना चाहिये । जब हरि की निर्हेतुकी कृपा हो गई तब सती को सर्वत्र तत्त्वत्रय ब्रह्म रूप राम, जीव रूप लक्ष्मण, माया रूपिणी सीता ही दिखाई देती है । इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया है ।

सती दीख कौतुक मग जाता । आगे राम सहित श्री भ्राता ।
फिर चितवा पाछैं प्रभु देखा । सहित बंधु सिय सुन्दर वेषा ॥ (रा० मा० ।१।५३।४,५)
सोई रघुवर सोई लछिमनु सीता । (रा० मा० १।५४।५)

जब सती ऐसी शंकर-प्रिया तत्त्वतः भगवान् को नहीं समझ पायीं तो साधारण योगियों की क्या बात है ?

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को अपने वर्णोचित कर्मों को करते हुये गीता-पठन के पूर्व आचार्य का वैभव स्मरण करके

भगवान् की भक्ति की ओर उन्मुख होना चाहिये और गुरुओं की सेवा करके तत्त्वत्रय को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। बिना तत्त्वत्रय के ज्ञान के जीव संसार सागर से कभी नहीं पार हो सकता है ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

अन्वय :- **भूमिः आपः अनलः, वायुः खम् मनः, बुद्धिः च अहङ्कार एव अष्टधा भिन्ना मे प्रकृतिः ।**

अर्थ :- भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार ही आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति (यानी अपरा प्रकृति) है ।

व्याख्या :- जिस प्रकार विज्ञ गुरु पहले बालक को अक्षर और अंक-ज्ञान कराता है, तब उसे साहित्य और गणित के कठिन अंगों को समझाता है उसी प्रकार भगवान् पूर्व में कहे गये तीनों तत्त्वों में से-जिन्हें अहं, ते और ज्ञान शब्द से संबोधित किये हैं-अचित् तत्त्व, जड़ प्रकृति को समझा रहे हैं । जबतक स्थूल का ज्ञान नहीं होगा तबतक सूक्ष्म का ज्ञान होना असम्भव है । भगवान् अचित् तत्त्व को विभक्त करते हुये कह रहे हैं कि भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश पाँच प्रकार की और मन, बुद्धि और अहंकार तीन प्रकार की प्रकृति मिलकर आठ प्रकार की मेरी अपरा प्रकृति है । भगवान् यहाँ संक्षिप्त में चौबीस तत्त्वों को आठ भागों में गतार्थ कर देते हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी भी २४ तत्त्वों को पाँच ही तत्त्वों में गतार्थ करते हुये कहते हैं-

क्षिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित यह अधम शरीरा ।

वस्तुतः तत्त्व २४ हैं । गुणी का नाम लेने से गुण का बोध स्वतः हो जाता है इसलिये पृथ्वी से गंध, जल से रस, अग्नि से रूप, वायु से स्पर्श और आकाश से शब्द का बोध होता है । आकश में शब्द का बोध होता है । आकाश में केवल एक गुण शब्द रहता है । वायु में दो गुण शब्द और स्पर्श, अग्नि में तीन गुण, शब्द, स्पर्श और रूप, जल में चार गुण शब्द, स्पर्श रस और रूप और पृथ्वी में पाँच गुण रूप, रस, स्पर्श शब्द और गन्ध होते हैं । नित्य संबंध से पाँचों तत्त्व बताये गये गुण ही होते हैं । अनित्य-संबंध से एक के गुण दूसरे में पाये जाते हैं । जैसे अग्नि में गन्ध गुण नहीं है पर अनित्य संबंध धूपादिक के कारण गंध गुण हो जाता है । इस प्रकार भगवान् ने पाँच तत्त्वों से सब दस तत्त्वों को बताये हैं ।

अष्टधा प्रकृति में छठी प्रकृति मन है। मन कहने से केवल मन का ही नहीं बोध होता है वरन् पाँच कर्मेन्द्रिया और पाँच ज्ञानेन्द्रियों का बोध होता है । जैसे यदि यह कहा जाय कि वाराणसी में राष्ट्रपति आये हैं, इससे केवल राष्ट्रपति का ही नहीं बोध होता है, वरन् राष्ट्रपति के साथ अन्य कर्मचारी एवं 'बाडीगार्ड' भी आये हैं उसी भाँति मन सभी इन्द्रियों का राजा है । 'इन्द्रियेभ्यः परं मनः' इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन और 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः' मन मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है, ऐसा कहा गया है । इसलिये मन में दसो इन्द्रियाँ गतार्थ हो जाती हैं ।

'बुद्धि' सातवीं प्रकृति महत्तत्त्व को बताती है । समष्टि रूप से जो बुद्धि ब्रह्म के पास है, महत्तत्त्व कहलाती है और व्यष्टि रूप से जीवों की जो बुद्धि है उसे बुद्धि शब्द से परिभाषित करते हैं ।

आठवीं प्रकृति अहंकार है । और 'च' शब्द से भगवान् अव्यक्त-मूल-प्रकृति को बताते हैं, जो सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था है । जैसा कि सांख्य सूत्र में कपिल मुनि कहते हैं -

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः (सां. अ. १ सू. ६१)

इस प्रकार मिलकर सब २४ तत्त्वों को अपरा प्रकृतिअचित् तत्त्व कहते हैं । इन्हीं तत्त्वों को १३वें अध्याय में भगवान् ने कहा है-

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चेन्द्रियगोचराः ॥१३।५॥

इन स्थूल २४ तत्त्वों के विवेचन के व्याज से भगवान् ने मनुष्यों को अनेक प्रकार की शिक्षायें दी हैं । पृथ्वी से पृथ्वी की भाँति क्षमा करना, अग्नि से तपस्या-पावक सा चमकना, जल से शीतल वाणी बोलना, वायु से सबके साथ समान दर्शी बनना और आकाश से सम्पूर्ण कार्य कामों को करते हुये सबमें निर्लेप रहना, बताये हैं । निराकार आकाश और वायु तत्त्व विवेचन के बहाने यह बताये कि जो लोग निराकर ब्रह्म में यद्यपि कि निराकार ब्रह्म नहीं होता-गुण नहीं मानते उन्हें निराकार आकाश में स्थित गुण शब्द एवं वायु में स्थित गुण, स्पर्श और शब्द के प्रमाण से अपने अज्ञान को दूर कर लेना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त स्थूल तत्त्वों के निर्माण से भगवान् ने यह बताया कि जबतक जड़ शरीर-जो २४ तत्त्वों से बना है- का ज्ञान नहीं होगा कि यह शरीर किस लिये मिला है तबतक सूक्ष्म शरीर आत्मा को नहीं जान सकते । 'स्थूल के ध्यान के उपरान्त ही सूक्ष्म का ध्यान हो सकेगा'-की शिक्षा देते हैं । जो लोग यह कहते हैं कि जड़ मूर्ति पूजन से परमात्मा की उपासना नहीं होती उन अज्ञानियों को यह समझना चाहिये कि शरीर की पूजा से ही शरीरी की पूजा होती है । यदि कोई आप की पूजा मन से करे और आपके शरीर को भाले से छेद करे तो क्या यह आपकी पूजा कही जा सकती है ? मूर्ति के चन्दन आदि लगाने से मूर्तिस्थ ईश्वर की पूजा उसी भाँति हो जाती है जैसे शरीर में चन्दनादि लगाने से आत्मा को आनन्द मिलता है । यदि कोई यह कहे कि मूर्ति स्थूल जड़ पत्थर है, उसे ईश्वर क्यों कहें तो मैं भी कहता हूँ कि आप हाड़ और चर्म से निर्मित जड़ तत्त्व वाले शरीर को पिता क्यों कहते हैं । कहने का आशय यह कि जिस शास्त्र प्रमाण से जड़ तत्त्व निर्मित देह को पिता माता गुरु आदि कहते हैं, उसी प्रमाण से स्थूल पत्थर को भगवान् कहते हैं ।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

अन्वय :- **महाबाहो ! इयम् तु अपरा । इतः अन्याम् मे जीवभूताम् पराम् प्रकृतिम् विद्धि, यया इदम् जगत् धार्यते ।**

अर्थ :- हे महाबाहो । यह (यानी उपर्युक्त अष्टधा प्रकृति) तो अपरा है । इससे दूसरी मेरी जीवस्वरूपा परा प्रकृति को जान, जिससे यह जगत् धारण किया जाता है ।

व्याख्या :- अपरा प्रकृति-अचित् तत्त्व को समझाकर भगवान् भोक्ता तत्त्व को समझा रहे हैं । बिना भोक्ता के भोग्य तत्त्व उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार जीव के बिना देह । अपरा प्रकृति को ही माया कहते हैं । इसका विवेचन गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में सुनिये-'गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो तुम माया जानहु भाई ।।' भोक्ता-जीव तत्त्व को बताते हुये भगवान् मार्क्स और चार्वाक मत का खण्डन कर रहे हैं । चार्वाक का सिद्धान्त है- 'भस्मीभूतदेहस्य पुनरागमनं कुत:' कि जले हुये देह का पुनरागमन होता नहीं है । ये लोग जीव और ब्रह्म की सत्ता नहीं मानते । जीव की सत्ता को बताने के लिये ही भगवान् कह रहे हैं कि अपरा प्रकृति से भिन्न मेरी श्रेष्ठ प्रकृति जीवसंज्ञा की है जिससे संसार की सत्ता है । यही जीव नवपुर वाले देह में रहता है जैसा कि गीता कहती है - 'नवद्वारे पुरे देही' ५।१३ नवद्वार वाले पुर रूप शरीर में देही जीवात्मा रहती है । यह जीवात्मा इतना सूक्ष्म रहती है कि इसको कोई नहीं देख पाता है । माता के गर्भ में प्रवेश करने और जीव के मरने के समय भी इसे कोई नहीं देख पाता ।। जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में यों है-

"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीव: स विज्ञेय:"..........।। श्वे. ।।५।९।।

कि एक बाल की नोक के सौ टुकड़े कर लें, फिर एक टुकड़े को सौ टुकड़े कर लें उनमें से एक टुकड़ा जितना सूक्ष्म हो सकता है - अर्थात् एक बाल की नोक के दस हजार भाग करने पर उनमें से एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है उसके समान जीवात्मा का स्वरूप समझना चाहिये । इसी कारण से अज्ञानी लोग शरीर में आते और शरीर से जाते और शरीर में रहकर पाप पुण्य को भोग करते हुये इसे नहीं देखते, किन्तु ज्ञानी इसे अवश्य देखते हैं, जैसा कि गीता कहती है-

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष: ।।१५।१०।

शरीर छोड़कर जाते हुये, अथवा शरीर में स्थित हुये को और विषयों को भोगते हुये को अथवा तीनों गुणों से युक्त हुये को भी अज्ञानी जन नहीं देखते किन्तु ज्ञानरूप नेत्रवान् ज्ञानी इसे अवश्य देखते हैं । इस जीवात्मा का स्वरूप श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है कि -

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसक: ।
यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ।। अ. ५।१०।

जीवात्मा वास्तव में न तो स्त्री है, न पुरुष है, और न नपुंसक ही है । यह जीव जब जिस शरीर को ग्रहण करता है उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही हो जाता है । यह जीवात्मा एक नहीं है, अनन्त है । एक तो ईश्वर हैं जैसा कि तुलसीदास जी ने कहा है-

'जीव अनेक एक श्रीकन्ता'

महर्षि वादरायण ने भी कहा 'अणवश्च' जीव अणु के समान बहुत है । यदि जीवात्मा एक होती तो 'अणवश्च' न लिखकर केवल 'अणु' ही लिखते । जो लोग एक जीववाद को मानते हैं वे अपना पिता स्वत: बन जाते हैं । एक जीववादियों से यदि यह पूछा जाय कि आज से किसी की मुक्ति हुई कि नहीं । यदि हुई, तो संसार में जीवों का दर्शन क्यों होता है ? यदि मुक्ति नहीं हुई तो भविष्य में मुक्ति की आशा करना आकाश से कुसुम प्राप्त करना है । कहने का आशय यह कि एकात्म जीववाद से बन्धन का निवारण हो नहीं सकता । इसलिये जीव एक न होकर अनन्त है । यदि जीवात्मा एक होती तो एक के मरने पर सभी मर जाते, और एक के सुख और दु:ख से सभी सुखी और दु:खी होते पर यह बात देखने को नहीं मिलती ।

यह जीव ५ भागों में विभक्त है । १-नित्य २-मुक्त ३-बद्ध ४-केवल और ५-मुमुक्षु ।

नित्य जीव वे हैं जो सांसारिक दु:खों को कभी भोगे नहीं हैं । भगवान् के अनुकूल ही रहना अपना भोग सुख समझते हों और ईश्वर की आज्ञा से संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करने में समर्थ हैं तथा भगवान् की सेवा के लिये भूलोक में आते हों । जैसे गरुड़, अनन्त और विष्वक्सेन जी । ये लोग भगवान् की सेवा में अपनी मर्यादा का ध्यान नहीं रखते । गरुड़ जी कर न देने के कारण काली नाग को दण्ड देने की क्रिया को छोड़कर, मेघनाद के द्वारा नागपाश में बाँधे गये श्रीराम को छुड़ाने के लिये दौड़े आते हैं ।

मुक्त जीव वे होते हैं, जो भगवान् की कृपा से प्रकृति के संबंध से उत्पन्न सभी क्लेश जिनके दूर हो जाते हैं और भगवान् की भक्ति के प्रभाव से जो परमानन्द को प्राप्त कर लेते हैं । जैसे तत्त्वों को मनन करने वाले मननशील वामदेव प्रभृति ।

बद्ध जीव 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:' की भाँति आचरण करते हुये सांसारिक विषयों में फँसे रहते हैं । बद्ध जीवों की संख्या अधिक है । ये जीव संसार में बार-बार जन्म-मरण के दु:खों को सहा करते हैं ।

केवल जीव वे हैं जो तपस्या और योग्याभ्यास से केवल आत्म-दर्शन को ही मोक्ष मानते हैं । केवल जीव पाषाण की भाँति सुख दु:ख रहित हो जाते हैं । जैसे-कपिल और पंचशिखाचार्य ।

मुमुक्षु जीव वे होते हैं जो संसार के जन्म-मरण के बंधन से मोक्ष प्राप्ति की कामना करते हुये सदा उसके लिये प्रयत्नशील रहते हैं । ये लोग केवल तीनों दु:खों से रहित होना ही नहीं चाहते किन्तु भगवत् प्राप्ति के परम सुख की कामना करते हैं ।

महर्षि व्यास जी ने श्रीमद्भागवत महापुराण में इन पाँचों जीवों को तीन भागों में बाँटते हुये लिखा है-

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत् विना पशुघ्नात् ।

निवृत्त तर्ष (चाहना रहित) अर्थात् नित्य, मुक्त और केवल एवं मुमुक्षुओं द्वारा श्रीकृष्ण का गीत गाया जाता है जो उनके लिये भव रूपी रोग की औषधि के तुल्य है । विषयी पुरुषों के कर्ण नेत्रादिक के लिये सुन्दर है । विषयी पुरुष हमेशा नृत्य, मार पीट, चोरी आदि में लगे रहते हैं । कृष्ण-चरित्र ऐसा है जो नाच, चोरी, मारपीट और खेल कूद से ही परिपूर्ण

है । पशुओं को मारने वाले अथवा आत्म-हत्यारे को ही श्रीकृष्ण का चरित्र प्रिय नहीं लगेगा, ये दुष्ट कहेंगे कि श्रीकृष्ण चोर व्यभिचारी और धूर्त थे । इन मूर्खों को समझना चाहिये कि जब श्रीकृष्ण भगवान् किसी के घर के माखन को चुराते थे तब दूसरी गोपियाँ माखन चुराने के लिये प्रार्थना करती थीं । भला चोर को चोरी करने के लिये कौन प्रार्थना करेगा ? श्रीकृष्ण ने सात वर्ष की अवस्था में ही रास क्रीड़ा की थी । क्या सप्तवर्षीय बालक स्त्री से मैथुन करने योग्य रहता है ? एक स्त्री नहीं, 'सहस गोपि एक नारायन' । हजारों गोपियों के साथ एक साथ ही कभी संभव है ? जो लोग श्रीकृष्ण में नीच बुद्धि रखते हैं, उन पापियों को नरक में भी स्थान नहीं है ।

इसलिये प्रत्येक मानव को वेद-विहित वर्णोचित कर्मों को करते हुए गुरु के द्वारा दीक्षा लेकर उनकी सेवा करनी चाहिये और आचार्य के द्वारा दिये गये उपदेशों के अनुसार आचरण करते हुये मुमुक्षु बनकर उभय लोक के सुखों को प्राप्त करना चाहिये ।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

अन्वय :- **'सर्वाणि भूतानि एतद्योनीनि' इति उपधारय । अहम् कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः तथा प्रलयः ।**

अर्थ :- "सभी प्राणी इन्हीं दो योनियों वाले हैं" ऐसा जान । मैं सम्पूर्ण संसार का प्रभव (यानी उत्पत्ति) और प्रलय हूँ ।

व्याख्या :- भोग्य और भोक्ता तत्त्व को बताने के पश्चात् प्रेरिता तत्त्व यानी अपने को बताते हुये भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि सम्पूर्ण ८४ लाख योनियाँ चित् और अचित् प्रकृति और पुरुष से उत्पन्न होने वाली हैं, किन्तु मैं ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ । श्लोक के पूर्वार्द्ध भाग से भगवान् जड़वादियों के मत का खण्डन करते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि अणुओं के संयोग से सृष्टि स्वतः हुई है । अर्थात् अचित् पदार्थ से ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है वे अपनी मूर्खता प्रदर्शित करते हैं । जड़ से चेतन की उत्पत्ति असम्भव है । कनक से बनने वाला कटक-कुण्डल चेतन नहीं हो जाता । जड़ शरीर में चेतन जीव देखा जाता है जिसके कारण शरीर की सत्ता रहती है । जो लोग केवल पुरुष चेतन से, जगत् को उत्पन्न होना मानते हैं वे लोग सूर्य को प्रकाशहीन बताने का प्रयास करते हैं । शरीर में चेतन जीव की अपेक्षा जड़ तत्त्व है । इससे यह सिद्ध हो जाता है प्रकृति और पुरुष के संयोग से जगत् उत्पन्न हुआ है और होता रहेगा । बिना पुरुष और स्त्री के संयोग से चेतनाचेतनात्मक जीव रूपी जगत् की उत्पत्ति असम्भव है । पुरुष चेतन तत्त्व है और नारी माया अचित् तत्त्व है । तुलसीदासजी के शब्दों में 'माया भगति सुनहु तुम दोऊ, नारि वर्ग जानइ सब कोऊ । माया ही नारि है । प्रकृति (माया) और पुरुष (जीव) अनादि है । जैसा कि गीता के १३ वें अध्याय में कहा गया है -

'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।१३।१९

इन्हीं दोनों के संयोग से संसार की उत्पत्ति है ।

किन्तु जो लोग केवल प्रकृति और पुरुष को ही समझते हैं उनकी अधम गति होती है । चिदचित् को जानने

वाले महाज्ञानी कपिल राजकुमारों के थोड़े से अपराध के कारण सगर के ६० हजार पुत्रों को जला कर नर-वध के महापाप के भागी बने । प्रेरिता तत्त्व तक समझने वाले महर्षि वाल्मीकि जी दीमकों के घर बनाने पर भी टस से मस न हुये ।

इसीलिये भगवान् ने श्लोक के उत्तरार्द्ध में केवल प्रेरिता तत्त्व को बताया हैं जब कि पूर्वार्द्ध में दो तत्त्वों को बताया । बिना प्रेरिता-(ब्रह्म) के सृष्टि असम्भव है । इसीलिये भगवान् सिंह गर्जन करते हुये कहते हैं कि मैं ही सम्पूर्ण जगत् के प्रभव और विनाश का कारण हूँ । बात भी सत्य है, बिना प्रभु की इच्छा से पत्ता भी नहीं हिलता है । यदि अदृष्ट-(ब्रह्म) नहीं हैं तो क्यों नहीं वैज्ञानिक, पुरुष और प्रकृति के संयोग से नये जीव की रचना कर लेते हैं और विचारे असंख्य नर नारियों को-जो पुत्र के लिये महुआ बाबा से लेकर बड़े-बड़े अस्पताल बाबा की सेवा में लाखों की सम्पत्ति फूँकते फिरते हैं-पुत्र दे देते हैं । स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य शुद्ध होने पर और ऋतु काल में सम्भोग करने पर भी गर्भ से संतानों का दर्शन भी नहीं मिलता । इससे यह सिद्ध होता है कि बिना ब्रह्म की इच्छा से पुरुष और प्रकृति के संयोग होने पर भी जगत् की सृष्टि असम्भव है, असम्भव ।

जो 'अहं' का अर्थ अहंकार करते हैं उन अज्ञों को कम से कम गीता का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिये जब तक 'अहं' शब्द के अन्त में कार या ता, आदि नहीं लगेगा तब तक अहंकार अर्थ नहीं होगा । ''अहं, शब्द नित्य आत्मा और परमात्मा का द्योतक है । अतएव यहाँ ब्रह्म या ईश्वर न कहकर परमात्मा वाचक 'अहं' का प्रयोग करते हुये कहते हैं कि मैं 'कृत्स्नस्य' सम्पूर्ण संसार केवल भारत या अमेरिकादि देशों का ही नहीं किन्तु अन्य ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और संहार का कारण हूँ । यहाँ यह कोई शंका नहीं कर सकता है कि पालन करने वाला दूसरा है । आदि और अन्त के कहने से मध्य का आक्षेप हो जाता है । जैसे कोई यह कहे कि हाई स्कूल से लेकर एम. ए. तक उसने प्रथम श्रेणी में परीक्षा पास की है । क्या यह बोध नहीं होता है कि उसको प्रथम श्रेणी इण्टर और बी० ए० में थी ? इससे यह सिद्ध हो जाता है ब्रह्म ही उत्पत्ति, पालन और संहार के कारण हैं ।

जो लोग केवल इस संसार को ही सब कुछ मानते हैं वे अंधकार में पड़े हैं । वस्तुतः इस लोक के समान बहुत लोक हैं जिसके ब्रह्मा अलग-अलग हैं, पर ब्रह्म एक ही है जो सम्पूर्ण लोकों के सर्ग, स्थिति और प्रलय का कारण है । संत शिरोमणि तुलसी दास ने काक भुसुण्डी के शब्दों में कहा है-

'लोक लोक प्रति भिन्न विधाता'
'राम न देखऊँ आन ।

जब ब्रह्म ही सबका कारण है तो आप के मन में ब्रह्म किसे कहते हैं जानने की जिज्ञासा अवश्य होगी । महर्षि वादरायण ने 'ब्रह्म' की परिभाषा देते हुये लिखा है ।

'जन्माद्यस्य, यतः', शा० अ० १ पाद सू० २

इस चराचर की उत्पत्ति, पालन और संहार जिससे होता है वही ब्रह्म है । उपनिषद् में भी कहा गया है ।

'यतो इमानि भूतानि जायन्ते ॥

जिससे सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है उसे ब्रह्म कहते हैं ।

इस ब्रह्म के विषय में अनेकानेक सिद्धान्त हैं । कुछ लोग ब्रह्म को निराकार मानते हैं, कुछ लोग साकार मानते हुये गुण रहित मानते हैं और कुछ लोग ब्रह्म की सत्ता ही नहीं मानते । ब्रह्म की सत्ता है, पीछे सिद्ध कर आये हैं'। निराकार ब्रह्म हो नहीं सकता । निराकार ब्रह्म, जगत् के उत्पत्ति, पालन और संहार का कारण हो नहीं सकता । हम प्रतिदिन देखते हैं कि संसार में जितनी वस्तुयें उत्पन्न की जाती हैं सब साकार से, वत्स साकार गाय से उत्पन्न होता है । इसी प्रकार निराकार किसी चीज का न पालन कर सकता है न नाश । बच्चे और खेत की कौन रक्षा करता है ? उत्तर स्पष्ट है, साकार मनुष्य । इसी प्रकार हरे भरे खेत को साकार भैंस या साँड़ नष्ट कर देते हैं । तो संपूर्ण संसार को उत्पन्न, पालन और नाश करने वाला ब्रह्म ही है । क्या कभी बंध्या-पुत्र किसी को उत्पन्न करके पालन और नाश करने वाला हो सकता है ?

जो लोग ब्रह्म को साकार मानते हुये निर्विशेष मानते हैं वे स्वत: अज्ञानी होकर दूसरों को अज्ञान की शिक्षा देते हैं । संसार में जितने पदार्थ हैं वे विशेषणयुक्त हैं । इससे ब्रह्म भी गुणयुक्त है । यदि ब्रह्म में गुण न हो तो उसकी उपासना कौन करेगा ? गुण की ही तो पूजा होती है । निर्गुण की नहीं ।

जो स्वत: धनी नहीं है वह दूसरों को कहाँ से धन देगा । ऐसे लोग नरकगामी हैं जो कहते कुछ हैं और करते हैं कुछ । कहेंगे ब्रह्म ही सत्य और सब झूठ है । किन्तु झूठी लंगोटी के लिये कुत्तों की भाँति अवश्य लड़ेंगे । ब्रह्म को मायोपहित मानेंगे और स्वयं ब्रह्म बन जायेंगे । ऐसे नक्कारों के धोखे में नहीं पड़ना चाहिये, सर्वदा सावधान रहना चाहिये। इस संसार के उत्पत्ति पालन और नाश का कारण ब्रह्म ही हैं, इसमें दो मत नहीं है ।

इसलिये प्रत्येक मानव को भोग्य, भोक्ता और प्रेरिता तत्त्व को जानने का प्रयत्न करना चाहिये । जो भोक्ता कृषक, योग्य शरीर रूपी खेत से प्राप्त होने वाले धन में से थोड़ा बहुत धन रूपी उपासना प्रेरिता-भगवान् रूपी सरकार को अर्पित नहीं करेगा वह अवश्य ही जेल रूपी अधोगति में ठूँस दिया जायेगा । इन तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं । इसीको श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है -

''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा'' । श्वे० ।१।१२

अत: जो व्यक्ति परमात्मा को सर्वशक्तिमान् जानते हुए उनकी उपासना में नित्य रहता हे, वह खेती व्यापार आदि करते हुये भी दोनों लोकों के सुखों को अवश्य प्राप्त करता है ।

मत्त: परतरं: नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७।।

अन्वय :- **धनञ्जय ! मत: परतरम् अन्यत् किञ्चित् न अस्ति । सूत्रे मणिगणा: इव सर्वम् इदम् मयि प्रोतम् ।।**

अर्थ :- हे धनञ्जय ! मुझसे श्रेष्ठतर दूसरा कुछ भी नहीं है । सूत्र में मणियों के समान सब कुछ यह (सम्पूर्ण जड़ चेतन) मुझमें पिरोया हुआ है ।

व्याख्या :- जो लोग रामकृष्ण को ब्रह्म न मानकर इनसे न्यारे को ब्रह्म मानते हैं वे महा अज्ञानी हैं । राम और कृष्ण एक राजा थे कहने वालों की जिह्वा कट कर क्यों नहीं गिर जाती है ? क्या किसी राजा में इतनी शक्ति है जो अपने से बिना रज-वीर्य के संयोग से उत्पन्न होगा । शरीर के किसी अंग के दाग को तो कोई मिटा ही नहीं सकता है तो अपने रूप को किस प्रकार बदल सकता है । रामचन्द्र जी 'निज इच्छा निर्मित तनु' अपनी इच्छा से शरीर धारण करने वालें हैं । रज-वीर्य के संयोग से उत्पन्न नहीं होते हैं वरन् 'भये प्रकट कृपाला, दीन दयाला' ऐसे प्रकट होते हैं । प्रकट होते समय हाथ में सभी आयुध और वक्ष: स्थल पर माला हैं । श्रीराम के इस रूप को देखकर माता कौशल्य कहती हैं-'तजहु तात यह रूपा, कीजै शिशु लीला', भगवान् वचन सुनते मात्र ही बालक बनकर रोने लगते हैं -

'सुनि बचन सुजाना, रोदन ठाना होई बालक सुरभूपा' श्रीकृष्ण भगवान् भी चतुर्भुज रूप में प्रकट होकर राजा वसुदेव से कहते हैं 'आप मुझे गोकुल शीघ्र पहुँचा दीजिये । अभी श्रीकृष्ण दस दिनों के भी नहीं हुये तबतक पूतना ऐसी राक्षसी का वध करते हैं । छोटी अवस्था में ही जितने राक्षसों को उन्होंने मारा उतने को मारने और गोवर्द्धन को कौन कहे उसके एक टुकड़े को उठाने की शक्ति किसी राजा में हो सकती है ?

श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी अर्द्धांगिनी सीता को दस माह तक अग्नि में रखा । आज भी किसी राजा में इतनी शक्ति है कि एक दिन भी अपनी स्त्री को अग्नि में रख सके । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि राम और कृष्ण राजा नहीं थे किन्तु परब्रह्म परमात्मा ने ही मनुष्य रूप में रामकृष्ण रूप धारण किया था ।

राम-कृष्ण और परब्रह्म एक हैं को बताने के लिये ही श्रीकृष्ण भगवान् ब्रह्म शब्द का प्रयोग न करके 'मत्त: मेरे से' शब्द का प्रयोग करते हुये कहते हैं कि हे धनञ्जय ! मुझ से परतर-श्रेष्ठ, संसार में कुछ अन्य चीज है नहीं । मुझमें 'इदं' यह जगत् और सर्वं सभी जीव इस प्रकार गुँथे हुये हैं जैसे सूत में लाल, श्वेत, नील आदि, मणि गुँथे रहते हैं ।

इस श्लोक में धनञ्जय शब्द का प्रयोग कर भगवान् ने यह बतलाया है कि जिस प्रकार अर्जुन ने उत्तर कुरु के जीते गये धन को उपभोग में न लाकर दीनों की सहायता और अच्छे कार्यों में बाँट दिया, उसी प्रकार मनुष्य को भी इधर उधर से प्राप्त धन एवं स्वर्जित धन को दीनों, यज्ञों और अस्पताल आदि के निर्माण में दे देना चाहिये । इस प्रकार का उपदेश देते हुये भगवान् कह रहे हैं कि जो निर्गुण ब्रह्म या अपने को श्रेष्ठ मानते हैं वे अज्ञान के गर्त में पड़े हुये हैं। वास्तव में मुझ ब्रह्म से श्रेष्ठ त्रिभुवन में कोई नहीं है । यह कोई शंका नहीं कर सकता है कि यदि ब्रह्म से कोई श्रेष्ठ नहीं है तो समान हो सकता है । क्योंकि गीता के ही ११वें अध्याय में अर्जुन ने कहा है-

''न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिको कुतोऽन्यो''

कि आपके समान कोई नहीं है तो अधिक कैसे हो सकता है । इसलिये भगवान् के समान कोई हो ही नहीं सकता है । यहाँ न्यून पद का आक्षेप नहीं किया गया है । अर्थात् जितने भी त्रिभुवन में चित् और अचित् तत्त्व हैं सब भगवान् से छोटे हैं । भगवान् चित् और अचित् के शासक हैं । इसी बात को श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताया गया है--

'यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्' अ० ३।९

उस परमदेव परमेश्वर से श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है और

'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'

उनसे, यानी ब्रह्म से बड़ा तो दूर रहा उनके समान भी कोई नहीं दीखता ।

जो अपने को ब्रह्म कहा करते हैं वे अपने को धोखे में डालते हुये संसार को गलत रास्ते पर ले जाते हैं । राम कृष्ण से बड़ा कोई तत्त्व है नहीं । जो निराकार ब्रह्म को बड़ा मानते हैं और साकार को अल्प, वे महा अज्ञानी हैं । निर्गुण और सगुण को दो मानने वाले ही महामूर्ख हैं । जैसा कि तुलसीदास जी कहते हैं-'द्वैत कि बिनु अज्ञान'

द्वैत की भावना अज्ञान बिना नहीं आ सकती । निर्गुण और सगुण एक हैं, निगुनहिं सगुणहिं नहिं कछुभेदा' निराकार, निर्गुण, निर्विकल्प शिव ही चलत्कुण्डलं और त्रिशूल को धारण करने वाले हैं । वे ही नीलकण्ठ और चन्द्रशेखर हैं ।

निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं, निराकारमोंकारमूलम् तुरीयं-, ही
चलत्कुंडलं भ्रूसुनेत्रं विशालं, प्रसन्नानं नीलकण्ठं दयालं,-

शिव हैं ।

जिस प्रकार एक सूत्र में ही अनेक प्रकार की मणियाँ गुँथी रहती हैं उसी प्रकार एक ब्रह्म में ही इदं जगत् (अचित् तत्त्व और सर्व-चित् तत्त्व) गुँथा हुआ है । अर्थात् जगत् और जीव आधेय हैं और ब्रह्म आधार । आधेय कभी आधार हो नहीं सकता, इसलिये आत्मा परमात्मा नहीं हो सकती, परमात्मा की हो सकती है ।

अतः भगवान् कहते हैं कि जगत् और जीवात्मा मुझसे भिन्न हैं पर मुझमें ही गुँथे हुये हैं जिस प्रकार यदि सूत्र न रहे तो अनेक मणियों की शोभा व्यर्थ हो जायेगी उसी प्रकार भगवान् के बिना जीव स्वरूप मणि व्यर्थ है । भगवान् के आधार पर ही सम्पूर्ण त्रिभुवन आधारित है । जैसा कि वेद कहता है-

'पृथ्वि त्वया धृता लोका त्वं च विष्णुना धृता'

कि पृथ्वी सम्पूर्ण लोकों को धारण करती है और पृथ्वी को भगवान् धारण किये हुये हैं । लोग कहते हैं 'शेष नाग' के फण पर पृथ्वी रुकी हुई है । शेष का अर्थ शेषनाग नहीं है । एक ही शब्द का अनेक अर्थ होता है द्विज शब्द से दाँत, चन्द्रमा और ब्रह्मादि का बोध होता है, उसी भाँति शेष का अर्थ विष्णु भगवान् है । प्रलय काल में जो बचा रहता है उसे शेष कहते हैं । प्रलय के बाद केवल एक ब्रह्म ही बचा रहता है । इसलिये पुराणों की उक्ति में दोष नहीं है, दोष हमारी बुद्धि में है ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

अन्वय :- कौन्तेय ! अहम् अप्सु रसः, शशिसूर्ययोः प्रभा सर्ववेदेषु प्रणवः खे शब्दः नृषु पौरुषम् अस्मि ।

अर्थ :- हे कौन्तेय । मैं जलों में रस, चन्द्र और सूर्य में प्रभा (यानी प्रकाश) सभी वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द (और) मनुष्यों में पौरुष यानी पुरुषत्व हूँ ।

व्याख्या :- गीता का प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय के पूर्वार्द्ध का कुछ भाग गीता की भूमिका है । दूसरे अध्याय के विषय को अन्य अध्यायों में समझाया गया है । इसी प्रकार भगवान् ने पूर्व के श्लोक में जो कहा है कि-

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'

मुझ में सब चित् और अचित् पदार्थ सूत्र में मणि गणों की भाँति पिरोये हुये हैं । इसीकी व्याख्या भगवान् इस श्लोक में करते हुये कह रहे हैं कि मैं जल में रस रूप से, चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा रूप से, वेदों में ॐकार रूप से, आकाश में शब्द रूप से और मनुष्यों में पौरुष रूप से स्थित हूँ । कौन्तेय-(कुन्ती-पुत्र,) शब्द का प्रयोग कर भारतीय मर्यादा को बता रहे हैं कि भारतीय नारियाँ इतनी पतिव्रता थीं कि अपने पति की रक्षा के लिए युवती होती हुई भी कुन्ती ने अपने पति से कभी समागम नहीं किया । यदि सम्भोग करती तो उसके पतिदेव की मृत्यु हो जाती । अपनी तपस्या से दुर्वासा ऋषि के द्वारा प्राप्त किये हुये मंत्र की शक्ति से तीन पुत्रों को जन्म दिया । इसी कारण पंचकन्याओं में गिनी गई । जिसके नाम लेने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं, जो लोग कुन्ती को व्यभिचारिणी समझते हैं, अपनी माँ, बहन को व्यभिचारिणी बनाने में नहीं हिचकते । पवन, धर्म का कोई रूप होता है ? अथवा क्या इन लोगों ने कुन्ती के साथ सम्भोग किया जिससे कुन्ती व्यभिचारिणी गिनी जा सकती है ? कुन्ती ने मंत्र जाप से इन लोगों का ध्यान किया था इससे इनके भीमादिक पुत्र कहाये । क्या आज भी कोई नारी ऐसा कर सकती है ? इसलिये कुन्ती में दोष नहीं । यह पंच महाकन्याओं में गिनी जाती है ।

कुन्ती की महत्ता बताते हुये भगवान् कह रहे हैं कि जलों में मैं रस रूप से स्थित रहता हूँ । जल में गन्ध को छोड़कर, रस, स्पर्श रूप और शब्द गुण हैं, किन्तु रस ही प्रधान है । 'रसो वै स:,'-रस ही ब्रह्म कहा गया है । ब्रह्मान-न्द ही रस-(आनन्द) है । धन, स्त्री और वनिता से रस प्राप्ति नहीं हो सकती है । वास्तविक रस ब्रह्म में ही है ।

भगवान् कह रहे हैं कि मैं रस में रहता हूँ और इस रस रूपी सूत्र में सभी समुद्र और नदियों का जल मणि की भाँति ग्रथित है । सूर्य और चन्द्रमा के प्रकर्ष प्रकाश में मैं रहता हूँ । अर्थात् प्रभा रूपी सूत्र में सूर्य और चन्द्रमा मणि की भाँति गुँथे हुये हैं । प्रभाहीन होने पर सूर्य का अस्तित्व नहीं रह जाता है, उनकी छाया पड़ने से जल, मन्दिर की मूर्ति, भोजन आदि सब अशुद्ध हो जाते हैं, इसलिये व्यक्ति को ब्रह्मचर्य धारण करके प्रभावान बनना चाहिये । यहाँ भगवान् शशि शब्द का प्रयोग कर यह उपदेश देते हैं कि जिस प्रकार चन्द्रमा सर्वश्रेष्ठ बनाये जाने पर अमृत बाँटने के लिये गर्व के कारण नहीं आया । तब भगवान् ने अमृत को बँटवा दिया । अमृत के बँटते समय कुछ 'अमृत' एक गड्ढे में गिर गया था जिससे शश-(खरहा) पी रहा था । तब तक चन्द्रमा आया, अमृत के न रहने पर वह खरहे सहित गड्डे के अमृत को पी डाला । जिसके कारण आज उसके पेट का शश दिखाई देता है । इसलिये प्रत्येक मनुष्य को देखकर भोजन और जलपान करना चाहिये । शास्त्र का आदेश है कि ''दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्' देखकर पैर रखना चाहिये और वस्त्र से छानकर जल पीना चाहिये ।

सभी वेदों में प्रणव रूप मैं हूँ । अर्थात् ॐ रूपी सूत्र में सम्पूर्ण वेद की ११३१ शाखायें मणि की भाँति गुँथी हुई हैं । जिस प्रकार कोई भी व्यंजन बिना 'अ' के नहीं उच्चरित हो सकता उसी भाँति बिना ॐ के वेद के किसी मंत्र का उच्चारण करना व्यर्थ है । इसीलिये, पण्डितगण जिन मंत्रों के पूर्व में ॐ नहीं लगा रहता है, ॐ लगाकर बोलते हैं । ॐ गणानांत्वा, ॐसहस्त्रशीर्षा'' की भाँति बोलते हैं । ॐ की उपासना से उपासक नम्र हो जाते हैं । इसलिये 'ॐ' को प्रणव कहा जाता है ।

इसके अतिरिक्त आकाश का गुण शब्द में रहता है । अर्थात् शब्द रूपी सूत्र में आकाश रूपी मणि ग्रथित है । जो लोग पृथ्वी जल, अग्नि और वायु के अभाव में आकाश मानते हैं वे महा मूर्ख हैं । अभाव में गुण नहीं होता है, किन्तु आकाश में शब्द गुण है । आकाश ही वाणी का आधार है । इसलिये शब्द का अशुद्ध उच्चारण करके शब्द को नष्ट नहीं करना चाहिये । सुन्दर और शुद्ध शब्दों का उच्चारण करना चाहिये ।

पुरुषत्व हीन, पुरुष होते हुये भी पुरुष कहाने का अधिकारी नहीं है । मनुष्यों में जो पुरुषत्व है, वही मैं हूँ। इस पुरुषार्थ रूपी तागे में नर नारियाँ मणि की भाँति ग्रथित हैं । जिस प्रकार सूत्र के टूट जाने पर सभी मणियाँ तितिर बितर हो जाती हैं उसी प्रकार पुरुषत्व, शब्द, ॐ, प्रभा और रस के नष्ट होने पर मनुष्य, आकाश, वेद, चन्द्र सूर्य और जल व्यर्थ हो जाते हैं ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को अपनी दैनिक क्रियाओं को करते हुये परम उपकारक भगवान् के चरणारविन्द में मन को लगाकर संसार रूपी समुद्र को पार करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

पुण्योगंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

अन्वय :- **पृथिव्यां पुण्यः गन्धः च विभावसौ तेजः अस्मि, च सर्वभूतेषु जीवनम् च तपस्विषु तपः अस्मि ।**

अर्थ :- पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूँ, सभी प्राणी में जीवन और तपस्वियों में तप मैं हूँ ।

व्याख्या :- 'पृथ्वि त्वं च-विष्णुना धृता' यह पृथ्वी विष्णु के द्वारा धारण की गयी है । पृथ्वी को किस प्रकार धारण किये हैं इसी को इस श्लोक में स्वतः बता रहे हैं । यहाँ यह यदि कोई यह प्रश्न करे-कि विष्णु किसके ऊपर आधारित हैं और विष्णु का आधार किस पर आधारित है-तोअनवस्थादोष आ जायगा और प्रश्नान्त कल्पान्त में नहीं होगा । जिसने सम्पूर्ण लोकों को बनाया, चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, आकाश आदि को स्थिर किया ''येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढा'' उसके विषय में प्रश्न करना कि वह किस पर आधारित है, अपनी मूर्खता को प्रकट करना है ।

पृथ्वी का लक्षण (गन्धवती पृथिवी) गन्ध है । यह गन्ध पवित्र है, अन्य दुर्गन्ध के संयोग से इसमें दुर्गन्धि आती है । भगवान् पृथ्वी को गन्ध रूप से धारण किये हुए हैं । कह रहे हैं कि पृथ्वी में पुण्य गन्ध मैं हूँ । अर्थात् पुण्य गन्ध रूपी सूत्र में सम्पूर्ण पृथ्वी मणि की भाँति मुझमें गुँथी हुई है । यदि मैं पुण्य गंध रूप से पृथ्वी में न रहूँ तो पृथ्वी नहीं रुक सकती है ।

वि- विशेष रूप से, भा, प्रकाश करने वाले अष्ट वसुओं में श्रेष्ठ 'वसूनां पावकश्चास्मि' १०।२३। पावक में मैं तैजस रूप से रहता हूँ । 'उष्णस्पर्शवत्तेज:' उष्ण स्पर्श जिसमें हो उसे तेज कहते हैं । यदि अग्नि में मैं तेज रूप से न रहूँ तो अग्नि राख हो जायेगी और उसका अतिक्रमण चींटी भी कर देगी । इसलिये तेज रूपी सूत्र में अग्नि मुझमें मणि की भाँति पिरोई गई है ।

अण्डज, पिण्डज, स्थावर और उष्मज -चार भाग में बँटी हुई चौरासी लाख योनियों में मैं जीवन रूप से रहता हूँ । यदि मैं जीवन रूप से न रहूँ तो सुरदुर्लभ नर नारी का देह, फूँकने, फेंकने और गाड़ने योग्य हो जाता है । जीवन रूपी सूत्र में सभी प्राणी मणि की भाँति गुँथे हुये हैं । जैसे अनेक प्रकार के मणि सूत में रहते हैं, उसी भाँति जीवन रूपी सूत्र में अनेक प्रकार के प्राणी ग्रथित हैं । कश्यप आदि तपस्वियों में तप रूप मैं ही हूँ । अर्थात् तप रूपी सूत्र में तपस्विगण मणि की भाँति गुँथे हैं । तपस्वियों का उदाहरण देकर भगवान् मनुष्यों को तपस्वी बनने के लिये संकेत करते हैं । बदरी नाथ की मूर्ति तपस्विनी है । इसीलिये अन्य तीर्थों को सौ बार करने से व्यक्ति उतना प्रतिष्ठित नहीं होता जितना एकबार बदरीनाथ का दर्शन करने से । अतएव व्यक्ति को तपोनिष्ठ होना चाहिये ।

तपस्या में भी व्यक्तियों को सात्त्विक तप करना चाहिये । तामस तपी रावण का धन-जन क्षण मात्र में संहार हो गया । सात्त्विक तप को करने वाला ही इस संसार में प्रतिष्ठित होता हुआ स्वर्ग सुखाधिकारी होता है ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

अन्वय :- **पार्थ ! सर्वभूतानाम् सनातनम् बीजम् माम् विद्धि । बुद्धिमताम् बुद्धिः तेजस्विनाम् तेजः अहम् अस्मि ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! समस्त भूतों (यानी प्राणिवर्ग) का सनातन बीज मुझे जानो । बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं हूँ ।

व्याख्या :- सातवें श्लोक 'मयि सर्वमिदम् प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' की व्याख्या करते हुये भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! सभी प्राणियों का सनातन बीज मुझे ही समझो । सनातन उसे कहते हैं जो पहले था, इस समय है और वही बाद में भी रहेगा । बीज रूपी सूत्र से सभी जीव मणि के समान गुँथे हुये हैं । अर्थात् सभी प्राणियों के जन्मादि का कारण मैं ही हूँ । अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है भगवान् कौन (समवाय, उपादान, निमित्त) कारण हैं ? जो लोग ब्रह्म को निमित्त कारण और माया को उपादान कारण मानते हैं वे अपनी अनभिज्ञता को प्रदर्शित करते हैं । निमित्तकारण उसे कहते हैं जो समवाय और असमवाय करण से भिन्न हो जैसे घट के प्रति कुम्हार । वस्तु के निर्माण के तत्त्व को उपादान कारण कहते हैं जैसे घड़े के निर्माण के लिये मिट्टी उपादान कारण है । सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है । जिस प्रकार मिट्टी प्रत्येक घट, शराव आदि में व्यापक रहती है उसी भाँति ब्रह्म उपादान कारण होने के कारण सम्पूर्ण चराचर में व्याप्त रहता है । श्रुति कहती है- 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' जनों के भीतर प्रवेश करके शासन करने के कारण सर्वात्मा है । 'यस्य पृथिवी शरीरम्' पृथ्वी जिसका शरीर है । यदि ब्रह्म को केवल निमित्त कारण मानते

हैं तब कुम्हार की भाँति ब्रह्म व्यापक नहीं हो सकता है । माया को उपादान कारण मानने में जड़ प्रकृति में ईक्षण न होने से 'तदैक्षत' श्रुति निरर्थक हो जायेगी । इसलिये सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म उपादान कारण है । और इस ब्रह्म का ईक्षण 'तदैक्षत बहु स्याम्' ही जगत् का निमित्तकारण है । जैसे मिट्टी के रहने पर कुम्हार न रहे तो घट शराव आदि का निर्माण नहीं हो सकता उसी तरह से यदि ब्रह्म का ईक्षण न रहे तो सृष्टि-रचना असम्भव है । ईक्षण से बहुभवन होने वाले ब्रह्म उपादान और निमित्त कारणत्व कहलाये । यह ईक्षण संकल्पात्मक है । तैतरीय सृष्टि प्रकरण में 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति' उस आनन्दमय आत्मा ने संकल्प किया कि बहुत होऊँ- ईक्षण को संकल्प बताया गया है । सर्व काल में अन्तर्यामी रूप से अंत:करण में रहने वाला ब्रह्म घट के प्रति कुलाल दण्ड की भाँति सहकारी कारण है । तीनों कारण एक ब्रह्म ही है इसलिये 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा जाता है ।

इसप्रकार के कारण स्वरूप भगवान् बुद्धिमतां वरिष्ठम्' हनुमान और 'बुद्धि राशि' गणेश जी ऐसे बुद्धिमानों की बुद्धि हैं । अर्थात् बुद्धिरूप सूत्र में सम्पूर्ण बुद्धिमान् मणि की भाँति गुथे हुये हैं । सर्व व्यवहार के हेतु को बुद्धि कहते हैं । हनुमान जी इतने बुद्धिमान् थे कि सुरसा को जीत कर अच्छे प्रकार से सुरक्षित लंका में सीता जी का उन्होंने पता लगाया । द्विरद गणेश जी ने अपनी बुद्धि के कारण ही ऋद्धि और सिद्धि दो पत्नियों को पाया । बुद्धि रूप से भगवान् जिसके पास नहीं रहते, वह बुद्धिमान् न कहाकर जड़ कहा जाता है ।

इसके अतिरिक्त चक्र सुदर्शन आदि तेजस्वियों का भगवान् तेज हैं । अर्थात् तेज रूपी तागे में सम्पूर्ण तेजमान् मणि की भाँति ग्रथित हैं । सुदर्शन चक्र के समान कोई तेजवान् नहीं है । ये कोटि सूर्य की प्रभा के समान हैं । जैसा कि भागवत के दसवें स्कन्ध में कहा गया है- 'तत् सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं' । इसी सुदर्शन ने काशी नगरी को महाश्मशान बना दिया था । राजा पौंड्र एवं काशिराज के वध के पश्चात् काशिराज का पुत्र सुदक्षिण ने श्रीकृष्ण के वध के लिये अभिचार विधि से दक्षिणाग्नि की आराधना की । इससे उस अग्नि ने प्रमथगण के साथ प्रकट होकर द्वारिका को जलाने के लिये प्रस्थान किया । तब श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने चक्र सुदर्शन से काशी नगरी को जला कर राख कर दिया । तभी से काशी को महाश्मशान घाट कहा जाता है ।

इसी प्रकार के सुदर्शन आदि में रहने वाला तेज, भौम्य, दिव्य, औदर्य और आकरज के भेद से चार प्रकार का होता है । भगवान् सभी तेजों में रहते हैं । इसी कारण सुदर्शनीय तेजस्वी कहे जाते हैं ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

अन्वय :- **भरतर्षभ ! बलवताम् कामरागविवर्जितम् बलम् अहम्, च भूतेषु धर्माविरुद्धः कामः अस्मि ।**

अर्थ :- हे भरतश्रेष्ठ ! बलवानों के काम और राग से सर्वथा रहित बल मैं हूँ और प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध (यानी धर्मसम्मत) काम मैं हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् ने इस श्लोक में भरतर्षभ शब्द का प्रयोग करके यह शिक्षा दी है कि जिस प्रकार दुष्यन्त पुत्र भरत गोत्रीय अर्जुन केवल अपने बुरे कर्मों पर पश्चात्ताप करने से-कि दुष्ट और नीच व्यक्ति भी आकर कुरुक्षेत्र में यहाँ के

सरोवर में स्नान कर दान-दक्षिणा देते हैं और मैं बिना कुछ किये ही युद्ध के लिए तैयार हो गया हूँ, इसलिये मैं इस पाप से कौरवों के द्वारा वध करने योग्य हूँ - अपने गोत्र में श्रेष्ठ कहाया, उसी भाँति जो प्रतिदिन अपने पापों पर पश्चात्ताप करते हैं, अवश्य ही श्रेष्ठतम हो जाते हैं । इस प्रकार की शिक्षा देते हुये भगवान् अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये - जिस ज्ञान को जानकर कुछ अन्य जानने योग्य नहीं रह जायेगा - अर्जुन से कह रहे हैं कि काम (इच्छा) और राग (आसक्ति) रहित बलवानों का बल मैं हूँ । अर्थात् लक्ष्मण आदि में जो महाबल है उसी बल रूपी तागे में सभी बलवान मणि की भाँति पिरोये हुये हैं । रावण की भाँति काम और आसक्ति युक्त बलवानों का बल नहीं हूँ वरन् लक्ष्मण ऐसे महाबलवानों - 'लक्ष्मणश्च महाबल: ।' जिसमें काम और आसक्ति का नाम नहीं है, का बल मैं हूँ । लक्ष्मण जो इतने महाबली थे कि वे सम्पूर्ण ब्रह्मांड को गेंद की भाँति उठा सकते थे किन्तु उनमें न दर्प था न रागादि ही । इतने बली होते हुये भी नम्र भाव से कहते हैं -

जो राउर अनुशासन पावौं । कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ ॥

आप इसमें शंका कर सकते हैं कि लक्ष्मण जी जब इतने महाबली थे तो मेघनाद के बाण से मूर्छित क्यों हुये ? इस शंका का उत्तर यह है कि जब महाभागवता शबरी भगवान् को बेर खिला रही थी तब भगवान् राम ने लक्ष्मण को बेर दिया किन्तु लक्ष्मण जी ने अपने व्रत को न तोड़ने की इच्छा से उस बेर को फेंक दिया । इसी अपराध से मेघनाद के बाण से मूर्छित हुये । जब वही फेंकी हुई बेर जो संजीवनी हुई थी लायी गई तभी मूर्छा टूटी । इसलिये महात्माओं के द्वारा दिये गये प्रसाद का निरादर नहीं करना चाहिये, नहीं तो भागवतापचार होगा ।

ज्ञान, शक्ति, बल ऐश्वर्य, तेज और वीर्य भगवान् के वाचक हैं, और भगवान् वाच्य हैं । इसीलिये भगवान् बलवान रूपी मणियों को अपने बल रूपी तागे में गुँथे हुये हैं ।

इसके अतिरिक्त धर्म से अविरुद्ध, प्राणियों में रहने वाला काम (काम्यते इति काम:) विषय मैं ही हूँ, अर्थात् धर्मानुसार काम-विषय रूपी सूत्र में सभी कामी प्राणी गुँथे हुये हैं । वेद में बताया गया है कि ऋतु-काल में भार्या से समागम करे । ऋतुकाल के प्रथम तीन दिन एवं पर्व के दिन और दिवा-मैथुन वर्जित हैं । इसके अतिरिक्त गर्भवती रोगिणी स्त्री के साथ सम्भोग न करे नहीं तो आयु क्षीण होती है साथ-साथ संतान भी पथभ्रष्ट होते हैं जो कुत्ते की भाँति माता और पिता को देखकर गुर्राया करते हैं । इसलिये धर्मानुसार विषय भोग करने वाले प्राणी रूपी मणि मेरे में काम रूपी सूत्र में गुँथे हुये हैं ।

अत: अपने वर्णोचित कर्मों को करते हुये आचार्य की सेवा करे । धन, बल, विद्या के गर्व को छोड़कर धर्मानुसार विषय भोग करने वाला व्यक्ति लौकिक सुख को प्राप्त करता है ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजासास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

अन्वय :- **ये एव सात्त्विका: भावा: च ये राजसा: च तामसा: मत्त: एव इति तान् विद्धि, ते मयि, तु अहम् तेषु न ।**

अर्थ :- जो ही सात्त्विक भाव और जो राजस एवं तामस भाव हैं, मुझसे ही (उत्पन्न) हैं, ऐसा उन्हें तू समझो। वे मुझमें हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।

व्याख्या :- संसार में जितने पदार्थ और जीव हैं सभी तीन श्रेणी- सात्त्विक, राजस और तामस में विभक्त हैं। सभी श्रेणियों में सभी गुण होते हैं। अर्थात् सात्त्विक गुण वाले में भी राजस और तामस गुण रहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक में समझना चाहिये। जिनमें जो गुण अधिक रहता है उसे उसी नाम से पुकारते हैं। जिस प्रकार एक माँ के गर्भ से उत्पन्न होने वाले शरीर में मुख सर्वश्रेष्ठ कटि से ग्रीवा का भाग मध्यम और कटि के नीचे का भाग कनिष्ठ कहा जाता है उसी प्रकार एक ही परमात्मा से उत्पन्न होने वाले जीवों में सात्त्विक, राजस और तामस गुण के रूप में भेद हो जाते हैं। सम्पूर्ण परा और अपरा प्रकृति सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट ब्रह्म से उत्पन्न होती है। 'बीजं मां सर्वभूतानां' भगवान् कह आये हैं उसी को यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि सम्पूर्ण सात्त्विक, राजस और तामस भेद वाले सर्वभूत सभी प्राणी 'मत्त:'-मुझ सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट श्रीकृष्ण (ब्रह्म) से उत्पन्न होते हैं। लेकिन मैं उनमें नहीं रहता हूँ वरन् वे मुझमें रहते हैं। कहने का भाव यह कि मैं उन सात्त्विक, राजस और तामस भाववाले प्राणियों में धार्य, आधेय, कार्य, शेष और नियाम्य भाव से नहीं रहता। यद्यपि उनके हृदय में रहता हूँ, पर मैं आधेय आदि भाव से नहीं रहता, परन्तु मैं उनका आधार, नियामक, शेषी कारण, और धारक हूँ। वे मुझमें रहते हैं, अर्थात् उनका आधार मैं ही हूँ। जिस प्रकार मैं उनके हृदय में आधार भाव से रहता हूँ उस प्रकार वे मुझमें नहीं रहते वरन् जिस प्रकार पात्र में जल आधेय भाव से रहता है उसी भाँति वे आधेय भाव से रहते हैं।

इससे भगवान् उनके मत का खण्डन करते हैं कि जो ब्रह्म को केवल सत्य और निर्विशेष मानते हुए जगत् को मिथ्या मानते हैं। यदि हम ब्रह्म को केवल जगत् का कारण मानते हैं तो ब्रह्म में विकार (दोष) आ जायेगा। इसलिये भगवान् कहते हैं कि सूक्ष्म-चिदचिद् मुझ ब्रह्म से त्रिगुणात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई है। दूसरी बात यह कि मिथ्या आधेय वस्तु का आधार नहीं होता। बन्ध्या पुत्र की माता नहीं होती। सत्य आधेय का आधार होता है। सत्य आधेय जल का आधार पात्र है।

भगवान् ने इस श्लोक से यह भी बताया कि आधेय जीव, आधार ब्रह्म नहीं हो सकता है। जो लोग मैं ब्रह्म हूँ, कहते हैं उन्हें समझना चाहिये कि मैं (जीव) आधेय, ब्रह्म (आधार) का आधार नहीं हो सकता। मुक्त जीव भी भगवान् के समान केवल भोग में होते हैं, कर्म में नहीं। गीता में कहा गया है -

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥१४।२।

कि इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य मेरे साधर्म्य को प्राप्त होते हैं और वे सृष्टि के आदि में न जन्म लेते हैं न प्रलय में नष्ट होते हैं।

वेदान्त सूत्र में वादरायण महर्षि ने कहा है 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च'' केवल- भोग मात्र में जीव की समानता ब्रह्म से रहती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मुक्तावस्था में भी आधेय जीव आधार ब्रह्म नहीं होता है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

अन्वय :- **इदम् सर्वम् जगत् एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः मोहितम्, (अतः) एभ्यः परम् माम् अव्ययम् न अभिजानाति ।**

अर्थ :- यह सम्पूर्ण जगत् इन तीन (सात्त्विक, राजस, तामस) गुणयुक्त भावों से मोहित है । (अतः संसार यानी जगत् का प्राणिसमुदाय, इनसे पर मुझ अव्यय (सदा एकरूप) को नहीं जान पाता है ।

व्याख्या :- भगवान् ने इस श्लोक में यह बताया है कि किस कारणवश लोग मुझ परमेश्वर को गोपाल, यादव राजपुत्र मनुष्य समझते हैं । यह सम्पूर्ण जगत् तीन गुणों - सात्त्विक, राजस और तामस के आधिक्य के कारण मोहित है । मयट् प्रत्यय का प्रयोग प्रचुर के अर्थ में होता है । गुणों की साम्यता पर संसार-दर्शन नहीं हो सकता है । यह संसार, सात्त्विक, राजस और तामस गुणाधिक्य से मोहित है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताया गया है कि -

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' अ० ४।५।

न उत्पन्न होने वाली प्रकृति लोहित-राजस, शुक्ल-सात्त्विक और कृष्ण-तामस गुण वाली है । इसी त्रिगुणात्मक माया में मोहित संसार उसी प्रकार अचेत है जैसे शराब के नशे में शराबी । माया ब्रह्म इन्द्र और शिव को जब मोहित कर देती है तब अन्य सांसारिक जीवों को मोहित करे तो इसमें आश्चर्य नहीं । संक्षेप में इसी माया की शक्ति को गोस्वामी तुलसीदासजी बताते हैं-'शिव विरञ्चि को मोहई, को है बपुरा आन' इसी त्रिगुणात्मक माया में मोहित ब्रह्मा श्रीकृष्ण भगवान् को यादव मात्र समझकर गोवत्स और ग्वाल बालों को चुरा लेते हैं । इन्द्र ने भगवान् कृष्ण की महिमा न समझते हुये सम्वर्तक मेघों से व्रज को डुबाने की इच्छा की । शंकर जी भगवान् की माया-(मोहिनी) के पीछे दौड़े । कहाँ तक इसकी लीला का वर्णन किया जाय । इसी माया का निरूपण करते हुये श्रीयामुन मुनि ने कहा है ''माया जगन्मोहिनी'' कि माया जगत् को मोहित करने वाली है । इसी त्रिगुणात्मक माया में मोहित मनुष्य केवल स्थूल वस्तुओं- स्त्री, धन, पुत्र, महल को देखता रहता है और इस माया से परे पृथक् रहने वाले विकार रहित, सर्वदा नित्य रहने वाले ब्रह्म को अच्छी तरह नहीं जानता है । भगवान् मायापति हैं, माया से अलग रहने वाले सगुण सविशेष ब्रह्म हैं । इन्हें माया से मोहित जीव नहीं समझ सकता है । यामुन मुनि ने बहुत सुन्दर लिखा है -

'नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुं'

कि आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य ब्रह्म को जानने के लिये कभी सफल नहीं हो सकते हैं । राजसी दुर्योधन कृष्ण को यादव मात्र ही समझता है, किन्तु क्षत्ता होते हुये भी सात्त्विक गुण वाले विदुर जी इन्हें परब्रह्म समझते हैं, तथा दूरस्थ सञ्जय भगवान् के उपदेश को सुन लेता है पर समीप में रहने वाले तामसी गुण वाले विद्वान् भीष्म और द्रोणाचार्य नहीं सुन पाते हैं ।

परब्रह्म परमात्मा त्रिगुणात्मक माया से अलग रहने वाले हैं । अपनी इच्छा से भक्त-परतंत्रता को दिखलाने के लिये शरीर धारण करते हैं, किन्तु माया से रहित उसी प्रकार रहते हैं जैसे जल में रहने वाला कमल का पता जल से

अलग रहता है । परमात्मा स्वतंत्र और अव्यय हैं । माया के वशी जन ही भगवान् को न जानते हुये उन पर नाना प्रकार का दोष लगाते हैं । इसका विवेचन गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार किया है -

'माया वस मतिमंद अभागी । हृदय जमनिका बहु विधि लागी ॥
ते सठ हठ वस संसय करहीं । निज अज्ञान राम पर धरहीं ॥

जो जीव काम-क्रोध के वशीभूत है, वह भगवान् को कैसे जानेगा-

'ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ़ परे तम कूप'

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को 'प्रकृति-पार प्रभु-सब उर वासी'' सर्वत्र व्याप्त रहने वाले माया से परे भगवान् पर दोष न लगाते हुये उन्हें जानने का प्रयत्न करना चाहिये । जब तक आचार्य की कृपा नहीं होगी जीव ब्रह्म को नहीं जान सकता है ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

अन्वय :- **मम एषा गुणमयी दैवी माया हि दुरत्यया । ये माम् एव प्रपद्यन्ते ते एताम् मायाम् तरन्ति ।**

अर्थ :- मेरी यह गुणमयी (यानी त्रिगुणात्मिका) दैवी माया निस्संदेह दुस्तर है, जो एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं (यानी इस माया से तर जाते हैं)

व्याख्या :- भगवान् करुणा के सागर हैं, इसलिये शिष्य के बिना पूछे ही कि ''जब सभी लोग माया से मोहित हैं तब कौन इस संसार-समुद्र को पार करने में सफल होता है'' - इसे बताते हैं कि मुझ परमात्मा से निर्मित त्रिगुणात्मक माया अत्यन्त दु:ख से पार करने योग्य है । जो मेरी प्रपत्ति करते हैं, इस माया को पार कर जाते हैं ।

जो लोग माया को मिथ्या मानते हैं वे अपने को मिथ्या मानते हुये अपनी अज्ञता प्रदर्शित करते हैं । गो गोचर जगत् जिसे माया कहा जाता है उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म । मिथ्या वस्तुयें गो-गोचर हो नहीं सकतीं । किसने मिथ्या कहलाने वाले बन्ध्या-पुत्र एवं आकाश-सुमन को देखा है ? किसने कूर्म-दुग्ध का रसास्वादन किया है ? किस-वैज्ञानिक ने अपनी यांत्रिक-दृष्टि से शश-शृङ्ग को देखा है ? यदि माया मिथ्या होती तो संसार दिखाई देता ? और इसके उपभोग से हमें सुख मिलता ? माया को मिथ्या कहने वाले एक ओर तो गला फाड़ कर चिल्लाते हैं ''संसार मिथ्या है' और दूसरी ओर मायामय शरीर को तेल-फुलेल-चंदन वस्त्र से सुशोभित करते हैं । यदि माया मिथ्या है तो मिथ्या शरीर की सेवा से क्या लाभ होगा । माया की सत्यता को श्वेताश्वतर उपनिषद् मुक्त कण्ठ से कह रही है :-

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (अ0 ४।१०।)

माया भगवान् की प्रकृति है । यह प्रकृति अनादि काल से चली आ रही है । यह प्रकृति अष्टधा है, जिसका विवेचन भगवान् पहले ही कर चुके हैं ।

इस त्रिगुणात्मिका माया को परब्रह्म परमात्मा ने बनाया है । दिव्-धातु का प्रकाश अर्थ होता है । दिव्य देव एकमात्र नारायण हैं । 'दिव्यो देव एकोनारायण:' । यह माया न ब्रह्मा से निर्मित हुई है न स्वत: । ब्रह्मा से लेकर सभी प्राणी संसार में जन्म ग्रहण करने वाले हैं । ब्रह्मा भी माया से परे नहीं हैं । इसीलिये भगवान् मम-(मेरी) माया कहते हैं। अर्थात् इस त्रिगुणात्मिका माया को भगवान् ने ही बनाया है । इससे निरीश्वरवादियों के मत कि माया स्वत: अणुओं के संयोग से बनी है' का खण्डन हो जाता है । हम नित्य देखते हैं कि कोई चीज अपने आप नहीं बनती है । न घर स्वत: बन जाता न रेल, न हवाई जहान न पहनने के लिये वस्त्र । तो यह विलक्षण माया जगत् का निर्माण स्वत: किस प्रकार से हो जायेगा । किसी वैज्ञानिक ने आज तक एक नवीन प्राणी का निर्माण नहीं किया । इस प्रकार तर्क से भी सिद्ध हो जाता है कि यह माया भगवान् से निर्मित है । इसीलिये उन्होंने मेरी माया कहा है । राम कृष्ण रूप को धारण करने से वे माया नहीं हो सकते । माया तो प्राकृत इंद्रियों से दिखाई देती है । यदि भगवान् माया होते तो वे अर्जुन को दिखाई देते । माया-पर भगवान् अपने को दिखाने के लिये अर्जुन को दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं -

''दिव्यं ददामि ते चक्षु:'' गीता ११।८

जिस प्रकार इंद्रजालिक इंद्रजाल से तमाशगीरों को मोहित कर लेता है, परन्तु वह स्वयं इंद्रजाल नहीं होता । उसी प्रकार ब्रह्म माया से जीव को मोहित कर लेते हैं, पर स्वयं माया नहीं होते । इसका बड़ा ही सुन्दर विवेचन संतशिरोमणि तुलसीदास जी करते हुये कहते हैं -

यथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ ।
सोइ सोइ भाव दिखावइ आपु न होइ न सोइ ॥ रा.मा. ७।७२ ख
अस रघुपति लीला उरगारी ।
दनुज विमोहन जन सुखकारी ॥

असुरों के लिए अस्त्र-शस्त्र की भाँति आश्चर्य में डालने वाली माया दुरत्या-कठिनाई से पार करने योग्य है । ''हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाइ विहगेस'' भगवान् की माया को न ब्रह्मा पार कर सके न शिव ही । भगवान् के मुख से प्रकट होने वाली अग्नि भी कृष्ण के रहते ही व्रज को जलाने के लिये उद्यत हो गयी, जिसे भगवान् देखते ही देखते पी गये । ब्रह्मा जी तो इतना तक कह डालते हैं कि -

'हरि-माया कर अमित प्रभावा । विपुल वार जेहि मोहि नचावा''

शंकर भगवान भी कहते हैं -

प्रभु माया बलवंत भवानी । जाहि न मोह कवन अस प्रानी ॥

जिस माया का शंकर और ब्रह्मा नहीं पार पा सके वह माया संसारिक जीव से किस प्रकार सरलता से पार की जा सकती है -

'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं । अपर जीव केहि लेखे माहीं ।

इस माया को कोई पार कर नहीं सकता, ऐसी बात नहीं है । सभी रोगों की औषधि होती ही है । भगवान् उपाय बता रहे हैं । वे कह रहे हैं कि जो मेरी ही शरणगति करता है वही इस माया को पार कर जाता है ।

भगवान् 'एवं' शब्द से यह निर्धारण कर रहे हैं कि जो केवल मेरी प्रपत्ति करता है वही माया को पार कर सकता है । अन्य देव और देवियों की शरण ग्रहण करने से नहीं पार कर सकता है । रावण ने अन्य देव और देवियों की शरणागति ली, किन्तु सगुण ब्रह्म राम से विमुख रहने के कारण वह अधोगति को प्राप्त हुआ । यहाँ भगवान् 'ये' जो शब्द का प्रयोग कर एकजीववाद का खण्डन करते हुये यह बता रहे हैं कि कि मेरी शरण में आने के लिये सभी स्वतंत्र हैं । स्त्री, शूद्र, पापी, चाण्डाल सभी आ सकते हैं । यहाँ देश काल की भी आवश्यकता नहीं पड़ती । तीर्थ पूजा में तो देश काल की प्रतीक्षा की जाती है, पर शरणागति लेने में नहीं । भगवान् ने स्वयं नवें अध्याय में कहा है-

'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियः वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । (६।३२।)

पापयोनि वाले स्त्री वैश्य और शूद्र मेरी शरण में आकर परांगति को प्राप्त होते हैं ।

प्रपत्ति के लिये समय की अपेक्षा नहीं है । हनुमान जी स्वयं कहते हैं, 'स एव देशः कालश्च' कि वही देश और समय है जब जीव शरणागति लेता है । अमावस्या पूर्णिमा, एकादशी, शिवरात्रि, आदि अनेक पुण्य मास और तिथि वार की आवश्यकता नहीं पड़ती है ।

तुलसीदासजी ने भी कहा है -

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा ।
जोग न मख जप तप उपवासा ।।

अहा ! प्रपत्ति के समान कोई उपाय ही नहीं है । त्याज्य वस्तुओं को त्यागकर अपने करण कलेवर को प्रभु के चरणों में समर्पित करने को प्रपत्ति कहते हैं । इसका विवेचन तुलसी दास जी ने भी इस प्रकार बड़ा ही सुन्दर किया है -

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवार ।।
सब के ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बाँधि वरि डोरी ।।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरस सोक भय नहिं मन माहीं ।। (रा० मा० ५।४७।३-५)

इस प्रकार के गुण से सम्पन्न विभीषण-

'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः'
(वा. रा. यु. का. १७।१६)

जब भगवान् राघवेन्द्र के यहाँ शरणागति लेने के लिये जाते हैं, तब पहले से प्रपत्ति करने वाला सुग्रीव 'वध्यतामेष वै पापः' 'इस पापी का वध कर दो' का आदेश देते हैं । सभी बन्दर भालू मारने के लिये दौड़ते हैं । उस समय विभीषण ख, स्थ- (ख-ब्रह्म में स्थित) आकाश में उड़ जाता है और वहीं से कहता है -

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने ।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम् ॥१७॥

कम से कम आप लोक सम्पूर्ण लोक को शरण देने वाले महान पुरुष राघवेन्द्र रामचन्द्र जी से कह दीजिये कि विभीषण प्रपत्ति के लिये उपस्थित है । भगवान् जब विभीषण के आगमन को सुनते हैं तब वे इस प्रकार कहते हैं -

सुग्रीव तुम विभीषण को पापी बना रहे हो यह तुम्हारी भूल है, पापी व्यक्ति हमारे समक्ष आ नहीं सकता -

"जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई । मोरे सनमुख आव कि सोई" (रा० मा० ५।४३।४)

यदि प्रबल शत्रु शरण में आता है तो उसे अपना बना लेना चाहिये, विभीषण धन, जाति, कुल और विद्या में मुझसे बड़ा है । तुम मेरा स्वभाव जानते ही हो - 'मम प्रन सरनागत भय हारी'

"जौं सभीत आवा सरनाई । रखिहऊँ ताहि प्राण की नाई" (रा० मा० ५।४३।८)

इसलिये आप स्वतः जाकर अंकमालिका देकर ले आइये - 'आनयैनंहरिश्रेष्ठ'

विभीषण राम के समक्ष आकर अपने पाप को स्वीकार करते हुए रोता हुआ कहता है -

नाथ दसानन कर मैं भ्राता, निसिचर वंस जनम सुरत्राता ॥
सहज पाप प्रिय तामस देहा । जथा उलूकहिं तम पर नेहा ॥(रा० मा० ५।४४।७,८)

श्रवन सुजस सुनि आयऊँ प्रभु भंजन भव भीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुवीर ॥ (रा० मा० ५।४५)

इतनी बात सुनते ही करुणाकर भगवान् राघवेन्द्र -

'भुज विशाल गहि हृदय लगावा' दोनों भुजाओं से आलिंगन कर हृदय से लगा लेते हैं और 'अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी' अपने पास बैठाते हैं एवं विभीषण को उसी समय तिलक दे देते हैं ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को आचार्य की शरण में जाकर उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान से भगवान् की प्रपत्ति करनी चाहिये । प्रपत्ति को उपाय न मानते हुये प्रभु को ही उपाय और उपेय समझना चाहिये । शरणागति के समान कोई उपाय नहीं है ।

न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

अन्वय :- **मूढाः नराधमाः मायया अपहृतज्ञानाः आसुरम् भावम् आश्रिताः दुष्कृतिनः माम् न प्रपद्यन्ते ।**

अर्थ :- मूढ, नराधम, माया से हरे गये ज्ञानवाले, आसुरी प्रकृति का आश्रय लिए हुए दुष्कर्मी यानी पापी मेरी शरण नहीं ग्रहण करते हैं ।

व्याख्या :- 'शरणागति मार्ग इतना सुलभ होते हुये भी लोगों से क्यों नहीं सेव्य है' इसका उत्तर भगवान् स्वयं देते हुये कह रहे हैं कि चार प्रकार के व्यक्ति-मूढ़, नराधम, मायापहृत ज्ञानवाले और आसुरभावाश्रित जन मुझे और मेरे सुलभ मार्ग को जानकर भी स्वप्न में भी मेरी प्रपत्ति नहीं करते हैं । इसीलिये संसार में गिने गिनाये कुछ व्यक्ति ही तत्त्वज्ञ हो पाते हैं । जिस प्रकार चार वर्ण और चार आश्रम में सभी मनुष्य गतार्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त चार प्रकार की दुष्कृतियों के अंतर्गत सभी प्रकार के पापी, दुराचारी आ जाते हैं ।

शास्त्र निषिद्ध कर्म को करने वालों को दुष्कृत-(पापी) कहा जाता है । जैसे 'सुरां न पिबेत्' मदिरा नहीं पीना चाहिये यह वाक्य वेद में निषेध वाक्य है । इसको पीने वाले को पापी कहते हैं । इसी प्रकार के अन्य निषिद्ध कार्यों को करने वाले दुष्कृती कहलाते हैं । ये लोग निरन्तर पापकर्मों में लगे रहने के कारण भगवान् की प्रपत्ति कभी करते ही नहीं । इसप्रकार के पापी चार प्रकार के होते हैं ।

मूढ़ लोग वे होते हैं जो कितनाहूँ जप-तप-तीर्थ करते हैं पर अपने को ही सबसे बड़े समझते हैं, कुत्ते की पूँछ की भाँति उनकी बुद्धि ज्यों की त्यों रहती है । ऐसे मूढ़ अपने माता पिता और गुरु को भी मारने के लिये सर्वदा तत्पर रहते हैं । आत्म-प्रशंसा में ही प्रसन्न रहते हैं । जैसे मधु और कैटभ । ये लोग जन्म ग्रहण करते ही वेदों का अपहरण करके ब्रह्मा का वध करने के लिये तैयार हो गये थे । अपने पिता विष्णु से ५ हजार वर्ष इन्होंने युद्ध किया । अन्त में स्वयं वरदान देकर भगवान् के द्वारा मारे गये । ऐसे पापी सर्वदा अपने को ईश्वर बलवान और शक्तिमान समझा करते हैं । भूलकर स्वप्न में भी शरणागति का नाम नहीं लेते हैं ।

दूसरे प्रकार के 'नराधम' पापी वे होते हैं जो उच्च कुल में जन्म लेकर भी अपनी ही रक्षा के लिये यहाँ कुकर्म करने में नहीं हिचकते । हर प्रकार से अपनी मृत्यु को निश्चित समझकर ही अमर होने के लिये महा निन्द्य कर्मरत रहते हैं । जैसे महाराजा क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने वाला कंस । इसने अपनी प्राण-रक्षा के लिये अपने भांजों की हत्या की और दस दिन के दुधमुँहे बच्चे को जाने से मार देने के लिये अपने राक्षसों को गोकुल में भेजा । शत्रु को भी निमंत्रित करके स्वागत किया जाता है पर इस नराधम ने नन्द सहित ग्वाल बालों को आमंत्रित करके उन्हें मरवा डालने के लिये मुख्य द्वार पर कुवलयापीड हाथी को नियुक्त किया था ।

तीसरे प्रकार के पापी 'मायापहृतज्ञान' वाले होते हैं । ये भगवान् को समझकर भी प्रपत्ति नहीं करते । हिरण्यकश्यप खम्भे से निकले हुये भगवान् को सामने देखता है किन्तु शरणागति न करके मोह में पड़ा हुआ अपने को ही बड़ा 'जगदीश' समझता रहा ।

चौथे प्रकार का महापापी 'आसुरभावमाश्रित' होते हैं जो भगवान् की सत्ता को जानते हुये भी अपना लाभ सोचकर भगवान् से द्वेष करते रहेंगे । इनका लक्ष्य अपना लाभ नहीं होता है किन्तु दूसरे का अपकार करना रहता है । जैसे चूहे को कपड़ा काटने में कोई लाभ नहीं होता पर दूसरे की हानि अवश्य होती है । जैसे चेदिराज शिशुपाल युधिष्ठर के द्वारा सम्पादित राजसूय यज्ञ में सभी से पूज्य श्रीकृष्ण की अग्र-पूजा को न सह सका । यद्यपि कि वह श्रीकृष्ण भगवान् के बुआ का ही लड़का था पर श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा को न सह सका और बहुत कुवाच्य शब्दों का उसने प्रयोग किया । वह जानता था कि श्रीकृष्ण सर्वपूज्य हैं पर उनकी प्रपत्ति को कौन कहे उनका वध करने के लिये तैयार हो गया ।

उपर्युक्त प्रकार के पापी भगवान् की प्रपत्ति किसी भी भाव से नहीं करते । माया से उनका ज्ञान नष्ट हो जाता है । इसलिये पुन: पुन: वे शूकर, श्वान, कीट आदि की योनि में जन्म लेते हैं । इसलिये प्रत्येक मनुष्य को शस्त्र-निन्दित कर्मों का परित्याग करते हुये किसी भी भाव से 'प्रपत्ति' अवश्य करनी चाहिये । इसके समान सरल और सर्वोपलभ्य मार्ग है ही नहीं ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जना सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

अन्वय :- **भरतर्षभ अर्जुन ! आर्तः अर्थार्थी जिज्ञासुः च ज्ञानी - चतुर्विधाः सुकृतिनः जनाः माम् भजन्ते ।**

अर्थ :- हे भरत-श्रेष्ठ (यानी भरतवंशियों में सर्वोत्कृष्ट) अर्जुन ! - आर्त, अर्थार्थी जिज्ञासु और ज्ञानी-ये चार प्रकार के पुण्यकर्मा मनुष्य मुझको भजते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् ने इस श्लोक में दो संबोधन अर्जुन और भरतर्षभ का प्रयोग कर यह शिक्षा दी है कि अर्जुन का अर्थ श्वेत होता है और श्वेत सात्त्विक के लिये प्रयोग किया जाता है । अर्जुन महान सात्त्विक राजकुमार था । सात्त्विक जन सर्वदा ज्ञान की जिज्ञासा करते हैं । 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानं' सत्त्व से ज्ञान की उत्पत्ति होती है । अर्जुन इतना ज्ञानी हो गया है कि वह राज्य और विजय को धूल समझता है । वह भरतवंश में श्रेष्ठ इसलिये कहा गया क्योंकि वह प्रेय मार्ग को त्याग कर श्रेय-मार्ग चाहता है । अथवा दो संबोधन के प्रयोग से यह बताया कि श्रेष्ठ व्यक्ति दोनों परम्पराओं के अनुगामी होते हैं । जो लोग गुरु-परम्परा वंश में जन्म नहीं लेते वे महा पापी अधोगति को प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार की शिक्षा देने वाले भगवान् बता रहे हैं कि सभी लोग पापी ही नहीं होते हैं, कुछ पुण्यात्मा भी होते हैं । जो मेरी सेवा करते हैं । ऐसे पुण्य करने वाले चार प्रकार के होते हैं । अच्छे कर्मों को करने वालों को सुकृती कहते हैं । शास्त्रानुसार जो कार्य करते हैं उन्हें पुण्यात्मा कहते हैं । इस प्रकार के पुण्यात्माओं को आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी चार भागों में विभक्त किया गया है । इन चारों प्रकार के भक्तों को आचार्य के द्वारा शरणागति लेनी पड़ती है । जो भक्त बिना आचार्य के भगवान् की शरणगति करते हैं वे उस कन्या के समान हैं जो पिता के बिना कन्यादान दिये हुये ही पर पति का चुम्बन और आलिंगन करती हुई संतानोत्पत्ति करती है । यह अवश्य है कि अत्यन्त विपत्ति की अवस्था में बिना आचार्य के वाचिक और मानसिक शरणागति की जा सकती है । विपत्ति से अतिरिक्त अवस्था में आचार्य के द्वारा की गई शरणागति अव्यभिचारिणी भक्ति कहलाती है ।

उपर्युक्त चारों प्रकार के भक्त-जो भगवान् की सेवा करते हैं, जिस-जिस भाव से भगवान् की प्रपत्ति करते हैं उस उस भाव को प्राप्त करते हैं । आर्त भक्त द्रौपदी थी । भरी सभा में जब उसका चीर दुश्शासन खींच रहा था तब रजस्वला द्रौपदी पहले भीष्म, द्रोण आदि की ओर कातर दृष्टि से देखती है । कोई सहारा न मिलने पर स्वशक्ति से अपनी रक्षा करनी चाहती है । जब बली दुश्शासन से आत्म-रक्षा में अक्षम हो जाती है तब 'नारायणो मे गतिः' भगवान् की शरण लेती है । जबतक जीव को पुरुषार्थ पर भरोसा रहता है तबतक भगवान् को तृण समझता रहता है । हजारो इन्जेकशन और दवाओं से रोगी नहीं ठीक होता है, तब प्रभु की शरण लेता है । चारो तरफ से अशक्ता द्रौपदी भगवान् के प्रेम में पागल होकर पुकरती है-कर्षण करने वाले कृष्ण आइये । भगवान् उत्तर देत हैं तुम रजस्वला हो' नहीं स्पर्श

करूँगा । तब अच्युत कह कर पुकारती है - अर्थात् जब आप सबके हृदय में हैं तो अछूत कहाँ हूँ ? तब भगवान उत्तर देते हैं तुमने दुर्योधन का अपमान कर जो पाप किया है उसका फल भोगो । तब आर्त द्रौपदी-हरि यानी पाप को दूर करने वाले कहकर पुकारती है । इसके अतिरिक्त प्राकृत संबंध लगाकर पाण्डव सखा कह कर पुकारती हुई कहती है । "भगवान् आप कहाँ नहीं हैं, मेरे चीर को दुर्योधन खींच रहा है" भगवान् की प्रपत्ति करने वाला जीव शत्रु को भी अपशब्द नहीं कहता । द्रौपदी दुर्योधन न कहकर सुयोधन-सुन्दर युद्ध करने वाला-कहती है । एक नारी के आर्त वचन को सुनकर भगवान् वस्त्रावतार धारण कर लेते हैं और द्रौपदी की रक्षा हो जाती है ।

जिज्ञासु भक्त वे होते हैं जो भगवान् को जानने की जिज्ञासा रखते हैं । ऐसे भक्त उद्धव थे, जो श्रीकृष्ण जी के यहाँ गये थे । भगवान् ने उन्हें बताया कि आप यहाँ से शीघ्र चले जायें, क्योंकि मेरे घर को छोड़कर सम्पूर्ण द्वारिका को समुद्र डुबा देगा । आप वदरिकाआश्रम में प्रतिस्थापित मेरी मूर्ति की उपासना से ज्ञान प्राप्त करें । वहीं पर आपकी सम्पूर्ण जिज्ञासा पूर्ण होगी । मूर्ति की उपासना से सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । केवल विश्वास की आवश्यकता है ।

अर्थार्थी, धन की इच्छा करने वाला, भक्त ध्रुव था जिसने नारद के द्वारा भगवान् की शरणागति कर अचल राज्य को प्राप्त किया । ज्ञानी भक्त प्रह्लाद हैं । प्रह्लाद को यह ज्ञान था कि भगवान् प्रत्येक जगह हैं । इसलिये अग्नि में जलाने पर समुद्र में पहाड़ों से दबाने पर विष पान कराने पर हाथियों के पैर के नीचे कुचलवाने पर भी उसकी रक्षा भगवान ने की । ज्ञानी भक्त प्रह्लाद गृहस्थ था, किन्तु वह भक्त-श्रेष्ठ कहा गया । तुलसीदास जी डंके की चोट पर प्रह्लाद को भक्त-शिरोमणि- 'भक्त शिरोमणि भे प्रहलादू' कहते हैं ।

उपर्युक्त बताये गये चारो प्रकार के भक्त भगवान् के अतिप्रिय होते हैं और चारो पुण्यात्मा होते हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है-

'राम भगत जग चारि प्रकारा । सुकृती, चारिउ अनघ उदारा ॥

इसलिये जो दु:ख व्यधि, दरिद्रता आदि सांसारिक रोगों से कष्ट पा रहे हो उन्हें भगवान् की शरणागति अवश्य करनी चाहिये । भगवान् इतने दयालु हैं कि भक्तों की सम्पूर्ण विपत्तियों को दूर करने के लिये तैयार रहते हैं । जब जीव भगवान् की शरण में चला जाता है तब द्रौपदी की भाँति महाविपत्ति से छूट जाता है । जिज्ञासु और ज्ञानी पुरुष को मोक्षप्राप्ति के लिये प्रपन्न बनना आवश्यक है । शरणागति के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

अन्वय :- **तेषाम् नित्ययुक्तः एकभक्तिः ज्ञानी विशिष्यते । हि अहम् ज्ञानिनः अत्यर्थम् प्रियः च सः मम प्रियः।**

अर्थ :- उनमें भी नित्ययुक्त (यानी सदा मेरा संयोग रखने वाला), एक (मुझमें ही) अनन्य भक्तिवाला श्रेष्ठ या विशिष्ट है, क्योंकि मैं ज्ञानी भक्त को अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मेरा प्रिय है ।

व्याख्या :- जिस प्रकार एक पिता के बहुत से लड़के रहते हैं । इन लड़कों में एक सा गुण नहीं रहता है । कोई ज्ञानी, कोई तपस्वी कोई धनी आदि होता है पर पिता का प्रेम सब पर समान रहता है । इसके अतिरिक्त जो पुत्र पिता की सेवा मन, वचन और कर्म से करता है वह पिता को अत्यन्त प्रिय होता है । उसी प्रकार भगवान् के चारो प्रकार के भक्त उन्हें प्रिय होते हैं किन्तु उन चारो में ज्ञानी अत्यन्त प्रिय होता है, क्योंकि ज्ञानी नित्य-युक्त होकर एक परमात्मा की सेवा मनसा, वाचा कर्मणा किया करता है । नित्य-युक्त का तात्पर्य यह है कि वह 'युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः' सर्वदा मिट्टी और सोना को एक समान समझता है । अथवा 'नित्यो नित्यानां' श्वेताश्वतर. ।६।१३ नित्य-परमात्मा में लीन रहता है । उस ज्ञानी के सामने अनेक विपत्तियाँ आती हैं, लेकिन 'कामी वचन सती मन जैसे' की भाँति परमात्मा की भक्ति में अडिग रहता है । इसका बड़ा सुन्दर विवेचन तुलसीदास जी ने किया है-

एक पिता के विपुल कुमारा । होहिं पृथक गुन सील अचारा ॥
कोउ पण्डित कोउ तापस ज्ञाता । कोउ धनवंत सूर कोउ दाता ॥
कोउ पितु भगत वचन मन कर्मा । सपनेहु जान न दूसर धर्मा ॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना ।
तिन्ह मँह जो परिहरि मद माया । भजै मोहिं मन बच अरु काया ॥
सर्व भाव भज कपट तजि मोहिं परम प्रिय सोइ ॥

ज्ञानी के अतिरिक्त तीनों प्रकार के भक्त तभी तक मेरी भक्ति करते हैं जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता । स्वार्थ सिद्धि के बाद वह भूल कर भी प्रभु का नाम नहीं लेता, किन्तु ज्ञानी भक्त असंख्य विपत्तियों के समुद्र को पारकर एक मात्र परमात्मा की भक्ति में परायण रहते हैं । जबतक भक्ति में ज्ञानी लीन नहीं होता तब तक अनन्यता आती नहीं । अथर्ववेद मुक्त कण्ठ से कह रहा है 'ब्रह्मदासाः' 'ब्रह्मदासाः' जीव ब्रह्म का दास है । ज्ञानी भक्त के लिये उपाय और उपेय परमात्मा ही रहते हैं । वह उस व्यभिचारिणी नारी के समान नहीं होता है जो अपने शरीर को पति को देती हुई दूसरे को भी अर्पित करे । ज्ञानी के लिये भगवान् अत्यर्थ होते हैं । अत्यर्थ का प्रयोग कर भगवान् ने वह बताया है कि ज्ञानी भक्त मेरी भक्ति में इतना लगा रहता है कि उसे किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता । प्रभु-प्रियता की उसकी सीमा नहीं रहती है । विष्णु-पुराण में बताया गया है कि प्रह्लाद को प्रभु इतना प्रिय प्रतीत हो रहे हैं कि उसे सर्प काट रहे हैं पर सर्पदंश का प्रभाव उसके ऊपर तनिक भी नहीं पड़ रहा है । जिस प्रकार भगवान् ज्ञानी भक्त को अति प्रिय रहते हैं उसी भाँति ज्ञानी भगवान् को अत्यन्त प्रिय रहता है । भगवान् अपने भक्त की रक्षा के लिये सदा तैयार रहते हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है -'ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा' । जिस प्रकार साधारण माता पिता अपने प्रिय पुत्र की रक्षा के लिये अपना सब कुछ न्योछावर कर देते हैं, उसी भाँति भगवान् ज्ञानी की रक्षा हेतु नित्य विभूतिलोक को छोड़कर गली-गली दौड़ते रहते हैं । प्रह्लाद की रक्षा के लिये कहाँ नहीं गये ?

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।१८।

अन्वय :- सर्वे एवं एते उदाराः तु ज्ञानी मे आत्मा एव मतम् हि सः युक्तात्मा अनुत्तमाम् गतिम् माम् एव आस्थितः ।

अर्थ :- सब ही ये (यानी उपर्युक्त चतुर्विध पुण्यकर्मा) उदार हैं, परन्तु 'ज्ञानी मेरी आत्मा है' (यह मेरा) मत (या धारणा) है, क्योंकि वह युक्तात्मा मुझ सर्वोत्तम गति (यानी जिससे उतम गति या प्राप्य कुछ नहीं) में ही स्थित है ।

व्याख्या :- आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी एवं ज्ञानी चारो प्रकार के भक्त उदार होते हैं । अर्थात् स्वत: कर्मों को यज्ञ दान-तप को करते हुये दूसरों से भी करवाते हैं । स्वत: संसार समुद्र या दु:ख, धनादिकष्ट को देखते हुए दूसरे के लिये तारण बनते हैं । आर्त भक्त द्रौपदी थी । भगवान् ने यों ही रक्षा के लिये वस्त्रावतार नहीं धारण किया । उसने एकबार अष्टावक्र को उस समय अपने चादर से फाड़कर एक हाथ वस्त्र कटि वस्त्र के लिये दिया था जब अष्टावक्र यमुना में जाड़े के दिनों में धारा के कारण लंगोटी बह जाने से पानी में ठिठुर रहे थे । देश काल-पात्र में थोड़ा भी दिया हुआ दान विशेष फलदायक होता है । उदार द्रौपदी का दिया हुआ एक हाथ वस्त्र दुश्शासन के चीर-हरण के समय भगवान् के द्वारा अपरिमित कर दिया गया । जिज्ञासु उद्धव इतने उदार थे कि बदरिकाश्रम द्वारका को छोड़कर चले गये । अर्थार्थी ध्रुव ने अपनी माता सुनीति का त्याग कर तपस्या के लिये घर द्वार छोड़ दिया । भगवान् राज्य दे रहे थे, किन्तु स्वेच्छा से उन्होंने राज्य नहीं लिया । भगवान् के बहुत आग्रह करने पर किसी प्रकार लिया । ज्ञानी भक्त प्रह्लाद पिता से कष्ट पाता है, पर भगवान् से भोजन आदि कष्ट के निवारण के लिये प्रार्थना नहीं करता है । चारो प्रकार के भक्त उदार होते हैं, लेकिन ज्ञानी भगवान् की आत्मा है, यह भगवान् का मत है । जिस प्रकार आत्मा के अभाव में शरीर, कृमि, भस्म और वीट बन जाता है उसी प्रकार ज्ञान रूपी आत्मा के अभाव में शरीर रूपी भगवान् की सत्ता रह ही नहीं जाती । बात भी सत्य है । यदि ज्ञानी भक्त न रहें तो कौन प्रभु को जाने और जनावे । ज्ञानी भक्त अपनी भक्ति से परमात्मा की सत्ता को साकार कर देते हैं । जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा प्रिय होती है उसी प्रकार ज्ञानी प्रभु के लिये प्रिय हैं । आत्मा सबसे प्रिय होती है, इसीलिये श्रुति कहती है । 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो, मन्तव्यो' यहाँ पर यदि कोई यह शंका करे कि श्रुतियों में कहा गया है' यस्य आत्मा शरीरम्' 'अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानाम्' कि जीवों की आत्मा भगवान् का शरीर है, भगवान् अंत:करण में प्रवेश करके जनों के शासन करने वाले हैं, गीता में भी कहा गया है "अहमात्मा गुडाकेश" भगवान् प्राणियों की आत्मा हैं । जब भगवान् दूसरे की आत्मा हैं तो वे दूसरे ज्ञानी कैसे उनकी आत्मा बन सकते हैं । उत्तर स्पष्ट है । वेद भगवान् की श्वास है । गीता के तीसरे अध्याय में भगवान् कह आये हैं-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन: मनसस्तु परा बुद्धि: - गी. ।३।४२

इन्द्रियों से मन बड़ा होता है और मन से बुद्धि श्रेष्ठ है । श्वास, इन्द्रिय-जन्य है । इन्द्रिय-जन्य से बुद्धि-जन्य वाक्य श्रेष्ठ नहीं होगा । इसीलिये भगवान् 'मे मतम्' यह मेरा मत है-दृढ़ता पूर्वक कहते हैं । हाईकोर्ट के निर्णय से सुप्रीम कोर्ट का फैसला श्रेष्ठ होता है । दूसरी बात यह कि प्रेमाधिक्य के कारण वैपरीत्य भाव होना सम्भव है । विश्वामित्र राक्षसों से अपनी रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण को राजा दशरथ के यहाँ से ले गये, किन्तु जब ताटका आती है तो स्वयं भगवान् की रक्षा के लिये विश्वामित्र दौड़ते हैं । प्रेमाधिक्य के कारण महात्मा विदुर की पत्नी भगवान् को केले की छिलके खिलाती रही और भगवान् खाते रहे । जब प्रेमाधिक्य के कारण पुत्र बन जाते हैं तो आत्मा ही यदि ज्ञान रूपी आत्मा का शरीर ही बन जाय तो क्या आश्चर्य है ? तीसरी बात यह कि आत्मा ही सबसे प्रिय होती है । इसीलिये इसके जानने, मनन

और निदिध्यासन करने को श्रुतियों ने आदेश दिया है । यदि भगवान् ज्ञानी को अपनी आत्मा न समझें तो कैसे ज्ञानी भक्त का संसार-समुद्र से उद्धार करेंगे ।

इसके बाद यदि कोई यह शंका करे कि भगवान् तो उदासीन हैं, फिर ज्ञानी को ही क्यों आत्मा समझकर पक्षपात करते हैं । शेष तीनों को क्यों नहीं आत्मा समझते ? ऐसी शंका अज्ञानतापूर्ण है । संसार में देखा जाता है कि एक ही पिता के दो पुत्रों को जो एक अर्द्ध शिक्षित और एक पूर्ण शिक्षित है सरकार भिन्न-भिन्न पुरस्कार देती है । उसी भाँति भगवान् जो जैसी भक्ति करता है वैसा फल देते हैं । बात भी सत्य है । मटर बोने वाले को गेहूँ की प्राप्ति किस प्रकार हो सकेगी ? जितना ज्ञानी भगवान् के लिये करता है उसके बदले में भगवान् कम ही पुरस्कार देते हैं ।

वह ज्ञानी युक्तआत्मा मिट्टी और सोना को समान समझता हुआ-होकर निश्चयपूर्वक ब्रह्म को ही (अत्युत्तम जिससे उत्तम अन्य न हो)-गति मानता हुआ भगवान् में आ (अच्छे प्रकार) स्थित रहता है । अर्थात् वह ज्ञानी प्रभु को ही अपना उपाय और उपेय मानता है । जैसे घास ही गाय के लिये उपाय और उपेय है । कहने का अर्थ यह कि जिस प्रकार उसी घास के द्वारा गाय बुलाई जाती है और उसी घास को गाय को खिलाया जाता है । उसी प्रकार भगवान् के द्वारा भगवान् को पाने का उपाय और उपेय कहा जाता है । अन्य तीनों प्रकार के भक्त अपने कर्म-पाठ पूजा तप को उपाय समझते हैं । ज्ञानी के लिये प्रभु गति और गम्य हैं । जैसा कि आचार्यों ने कहा है-'गतिर्गम्यश्चासौ हरिरिति' कि भगवान् ही गति और गम्य हैं । गीता के ९वें अध्याय में भगवान् कहते हैं-

''गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्' (गी. ।९।१८)

कि मैं ही गति, भर्ता, प्रभु साक्षी, निवास, शरण देनेवाला और मित्र हूँ । मीरा ज्ञानी भक्त थी । वह भगवान् को ही अपना सबकुछ समझती थी । भगवान् के प्रेम में मग्न मीरा बराबर यही कहा करती थी 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।' अर्थात् मेरे उपाय और उपेय भगवान् ही हैं । तभी तो राणा के द्वारा प्रेषित विष को भगवान् को भोग लगाकर पी गई । भगवान् में वह इतना स्थित हो गई थी कि जब मीरा ने भगवान् को विष का भोग लगा लिया तब दासी ने संकेत मात्र से मीरा को बताया कि यह विष है किन्तु वह डिगी नहीं, उसने सोचा जब मैं अपने प्रभु को विष खिला चुकी तो मैं क्यों नहीं पीऊँगी ? भगवान् में आस्थित के कारण वही विष उसके लिये सुधा हो गया ।

जो लोग युक्तात्मा का अर्थ 'मैं वासुदेव हूँ' लगाते हैं वह ठीक नहीं है । ईश्वर का अंश जीव अंशी ब्रह्म नहीं हो सकता । भगवान् इसी अध्याय में कह आये हैं कि मैं सभी प्राणियों का कारण हूँ 'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि' तो कार्य कारण कैसे हो सकता है ? युक्तात्मा का अर्थ मिट्टी और स्वर्ण को समान समझने वाला होगा ।

बूहनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।१९।।

(इस श्लोक में-वासुदेवः में मत्वर्थी अच् प्रत्यय होने से, वासुदेवः का अर्थ वासुदेव वाला होगा)

अन्वय :- **बहूनाम् जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् सर्वं वासुदेवः इति माम् प्रपद्यते, सः महात्मा सुदुर्लभः ।**
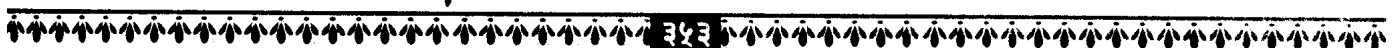
अर्थ :- बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानवान् 'सब कुछ वासुदेव वाला' (यानी 'तय्येदं' भाव से) ऐसा समझकर मेरी शरण में आता है, वह महात्मा अत्यंत दुर्लभ है ।

व्याख्या :- भगवान् की प्रपत्ति बड़ी सस्ती है पर सरलता से मिलती भी नहीं । चौरासी लाख योनियों में जन्म ग्रहण करते-करते भगवान् की कृपा से मनुष्य तन की प्राप्ति होती है । सुर-दुर्लभ तन पाकर भी मनुष्य फिर पशुवत् व्यवहार करने लगता है । परमात्मा वासुदेव की शरणागति नहीं करता । इस प्रकार के असंख्य नर तन को प्राप्त करते-करते दैव कृपा से उसकी बुद्धि बदली तब वह जप, तप, ध्यान प्रारम्भ करता है । जिस मनुष्य-जन्म में वह योग प्रारंभ करता है उसी जन्म में प्रपत्ति नहीं कर लेता । इस प्रकार से उसे सहस्त्रों बार मनुष्य जन्म ग्रहण करना पड़ता है । प्रत्येक जन्म में जप तप ध्यान करने में उसके पाप नष्ट हो जाते हैं । तब उसे ज्ञान होता है । ज्ञान होने पर भगवान् की प्रपत्ति करता है । जैसा कि कहा गया है-

जन्मान्तरसहस्रेण तपोध्यानसमाधिभिः ।
नराणां छिन्नपापानां कृष्णेभक्तिः प्रजायते ॥

सहस्रों जन्म के बाद तपस्या, ध्यान और समाधि से जब मनुष्यों का पाप नष्ट हो जाता है तब श्रीकृष्ण भगवान् की भक्ति करता है ।

जबतक-जीव को सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तबतक वह भगवान् की भक्ति कभी नहीं कर सकता है । ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कोई चीज है नहीं । गीता में कहा गया है--

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।४।३८

यह ज्ञान तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के यहाँ प्राप्त होता है । जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब जीव भगवान् की शरणागति ले लेता है और उसे 'सम्पूर्ण संसार वासुदेव वाला है' का अनुभव होने लगता है । वासुदेव में मत्वर्थी अच् प्रत्यय है । इसलिये इसका अर्थ वासुदेव वाला होगा । जो लोग 'वासुदेवः सर्वमिति' का अर्थ 'सब कुछ वासुदेव ही है' करते हैं अपनी अज्ञता प्रदर्शित करते हैं । भगवान् इसी अध्याय में कह आये हैं कि यह नहीं हो सकता है । आठवें अध्याय में क्षर और अक्षर से प्रकृति पुरुष का विवेचन किये हैं । १३ वें अध्याय में प्रकृति और पुरुष को अनादि बताया गया है । १५वें अध्याय में ईश्वर का अंश जीवलोक बताया गया है जो सनातन है । तो सब वासुदेव ही है, ऐसा कहना प्रमत्त-प्रलाप सिद्ध होगा । इसलिये उस ज्ञानी को संसार वासुदेववाला प्रतीत होता है । गोस्वामी तुलसी दास जी इसी प्रकार के महात्मा थे जो संसार को ब्रह्म नहीं माने हैं, उन्होंने ब्रह्मवाला संसार समझ कर सबको प्रणाम किया-

'सियाराममय सब जग जानी ।'

सम्पूर्ण संसार सियाराम भगवान् वाला है । अर्थात् भगवान् सभी में व्याप्त रहने के कारण व्यापक कहलाते हैं । गीता के ग्यारहवें अध्याय में कहा गया है-

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः (गी. ११।४०)

आप सबमें व्याप्त हैं इसलिये भगवान् को सर्व कहा जाता है । श्रुति भी 'ईश्वास्यमिदं सर्व' संसार को ईशा-वास्य मानती है । इसलिये सब वासुदेव ही है कहना उतना ही अनभिज्ञता है जितना कुम्भकार के बनाये हुये शराव, घट आदि को कुम्भकार ही कहना ।

इस प्रकार के तत्त्वदर्शी महात्मा जिनसे ज्ञान-प्राप्त किया जा सकता है दुर्लभ ही नहीं सुदुर्लभ हैं । जबतक सद्गुरु नहीं मिलेंगे तब तक सूक्ष्म चिदचित् विशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान असम्भव है । भगवान् दुर्लभ हैं पर महात्मा सुदुर्लभ हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है-

'बड़े भाग पाइय सत्संगा'

दोहावली में तो इतना कह डाले हैं -

---------सद्गुरु लाभ सुमीत,
देव दास कलिकाल में पोथिन परे सुभीत ।

कि सद्गुरुओं का दर्शन तो केवल पुस्तकों में मिलेगा प्रत्यक्ष नहीं । शंकराचार्य ने भी कहा है --'सुदुर्लभं किं ? सद्गुरुरस्तिलोके' संसार में सुदुर्लभ क्या है ? उत्तर -सद्गुरु ही । जब ऐसे ही महात्मा सद्गुरु रूप वैद्य मिलते हैं तब कामादि रोग नष्ट होते हैं । जब पाप (रोग) नष्ट हो जाता है तब सुमति-रूपी सुधा बढ़ने लगती है । जब रोग मुक्त हो ज्ञान रूपी जल में स्नान कर लेता है तब भगवान् की शरणागति करके गोविन्दाचार्य स्वामी की भाँति स्त्री रूपी माया में भी ईश्वर-दर्शन करने लगता है । गोस्वामी जी ने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है -

सद्गुरु वैद्य वचन विस्वासा ।
संजम यह न विषय कै आसा ।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी ।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी ।।
एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं ।
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ।।
जानिअ तब मन विरुज गोसाईं ।
जब उर बल विराग अधिकाई ।।
सुमति-छुधा बाढ़हि नित नई ।
विषय आस दुर्बलता गई ।।
विमल ज्ञान जल जब सो नहाई ।
तब रह राम भगति उर छाई ।। (रा. मा. ७।६-११)

'मोसे अधिक दास कर लेखे' भगवान्-'अध्यातमा गुडाकेश' जीवों की आत्मामात्र हैं, और तत्त्वदर्शी संत महान्-आत्मा महात्मा हैं । दुर्लभ ईश की सेवा सुदुर्लभ महात्मा के अपराध को दूर नहीं कर सकता है । भगवत् सेवकों से अपराध हो सकता है, पर भागवत सेवकों से असम्भव है । लक्ष्मण और भरत राम के सेवक थे पर कलंक लग ही

गया । लक्ष्मण को सीता ने 'मर्म वचन सीता तब बोला' कटु वाक्य से कलंक लगाया । भरत को 'केचिद् वदन्ति भरतस्य माया' वा रा कुछ ग्रामवासियों राम के वनवास का कारण भरत की माया को बताया । भरत राम के सेवक थे जिससे महाभागवत हनुमान् को राक्षस समझकर धाराशायी करते हैं, शत्रुघ्न महाभागवत भरत के सेवक थे जिन्हें कलंक लगा ही नहीं और उन्हें एक पुरी मथुरा का राज्य प्राप्त हुआ ।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को तत्त्वदर्शी महात्माओं से ज्ञान प्राप्त करके भगवान् की प्रपत्ति करनी चाहिये और भागवतों की सेवा करते हुये भगवान् की भी सेवा करनी चाहिये ।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः
तं तं नियमास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

अन्वय :- **तैः तैः कामैः हृतज्ञानाः स्वया प्रकृत्या नियताः अन्यदेवताः तम् तम् नियमम् आस्थाय प्रपद्यन्ते ।**

अर्थ :- उन उन कामनाओं से हरे गये ज्ञान वाले (यानी भिन्न-भिन्न भोगकामनाओं से अपहृत ज्ञानवाले) अपनी प्रकृति से नियंत्रित या वशीभूत होकर अन्य देवताओं की शरण में, उन-उन नियमों (यानी विभिन्न देवताओं के अपेक्षित अनुष्ठान आदि नियमों) में स्थित हो, चले जाते हैं, यानी भगवान् की जगह अन्य देवताओं की शरण ग्रहण करते हैं ।

व्याख्या :- सभी लोग भगवान् की उपासना नहीं करते हैं । विषयासक्त लोगों का ज्ञान विषय की चाहना से नष्ट हो जाता है । उनकी सात्त्विक बुद्धि नष्ट हो जाती है । विषयों की माया में पड़कर नष्ट ज्ञान वाले तामसी और राजसी पुरुष अन्य अन्य देवताओं की अर्चना भगवान् से श्रेष्ठ समझ कर करते हैं । यद्यपि कि सम्पूर्ण देव देवियाँ, भूत पिशाच, यक्ष इत्यादि भगवान् का शरीर ही हैं । महर्षि वाल्मीकि ने 'जगत्सर्वं शरीरं ते' लिखा है, किन्तु विषयासक्त नष्ट ज्ञान वाले पुरुष सभी देव आदि को जिसकी वे उपासना करते हैं, भगवान् से अन्य और श्रेष्ठ समझते हैं । मनुजावतार धारण करने वाले ब्रह्म के द्वारा कुछ देव और देवियों की उपासना करने से अज्ञ लोग उन्हें ही श्रेष्ठ समझने लगते हैं । रामावतार में भगवान् ने शक्ति की आराधना की । इससे अज्ञ यही समझते हैं कि शक्ति भगवान् से बड़ी है । यदि पिता प्रेमाधिक्य के कारण बालक को मस्तक पर रख ले और उसके पैर को मुख से चुम्बन करे तो क्या बालक पिता से बड़ा समझा जायेगा ? यदि कोई अपने शरीर के किसी अंग में तेल फुलेल चंदन आदि लगाता है तो क्या वह अंग शरीरी आत्मा से बड़ा होगा ? जो लोग कामासक्त रहते वे राम के शरीर स्वरूप अग्नि, इन्द्र, वरुण देवी, दुर्गा को ही राम से श्रेष्ठ समझते हैं । तुलसी दास जी ने कहा है-

'जहाँ काम तहँ राम नहिं'

जब तक हृदय में कामना रहती है तब तक राम नहीं दिखाई देते हैं । ऐसे नष्ट ज्ञान वाले उन उन देवताओं की अर्चना के जो जो नियम होते हैं उन्हीं नियमों के अपने राजसी और तामसी स्वभाव के कारण वशीभूत होकर उपासना करते हैं । अर्थात् ऐसे लोगों की आस्था सिद्धि पर रहती है । वामत, यक्ष, किन्नर आदि देवों की उपासना इसलिये करते हैं कि उन्हें धन मिल जाय और धूल से किसमिस, मुनक्का चीनी लौंग इलायची बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाय । ये लोग इन देव

और देवियों को सिद्ध करने के लिये मांस, मदिरा जितने तामस पदार्थ होते हैं, उन्हीं से इनकी अर्चना करते हैं । वे लोग इन देव और देवियों को ही परमेश्वर समझते हैं ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को अन्य देवताओं, देवियों एवं आकाश आदि की पूजा भगवान् का शरीर समझकर करनी चाहिये, इन्हें अनन्य भाव से पूजित करें, जैसा कि भागवत के ११वें स्कन्ध में कहा गया है-

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतीषि-सात्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं, यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, नक्षत्र, प्राणी दिशायें, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा जो कुछ देव, देवियाँ आदि हैं सभी भगवान् का शरीर हैं, अतएव सबको अनन्य भाव से प्रणाम करे पर सभी देव देवियों को भगवान् से बड़ा न समझे । तथैव सभी से मधुर सम्भाषण करते हुये आत्मोद्धार के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये ।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

अन्वय :- **यः यः भक्तः याम् याम् तनुम् श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति तस्य तस्य ताम् श्रद्धाम् अहम् एव अचलाम् विदधामि ।**

अर्थ :- जो जो भक्त जिस-जिस तनु (देवतारूप मेरे शरीर को) श्रद्धा के साथ पूजना चाहता है, उस उसकी उस श्रद्धा को मैं ही अचल या दृढ़ कर देता हूँ ।

व्याख्या :- उन विषयासक्त सकामी पुरुषों में से जो जो व्यक्ति भगवान् के जिस-जिस शरीर को श्रद्धापूर्वक अर्चना की इच्छा करते हैं, उन उन व्यक्तियों की श्रद्धा को भगवान् उन शरीरों में अचल कर देते हैं । सभी देव देवियाँ, यक्ष राक्षस भूत प्रेत भगवान् के शरीर ही हैं । जिसकी जिस प्रकार की श्रद्धा होती है वह वैसा कहा जाता है 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' यदि व्यक्ति में सात्त्विक श्रद्धा अधिक रहती है तो वह सात्त्विक पुरुष कहा जाता है । उसी प्रकार राजस और तामस रहने के कारण पुरुष राजसी और तामसी कहा जाता है । सात्त्विक श्रद्धा वाले देवताओं की, राजसी श्रद्धा वाले यक्ष और राक्षसों की तथा तामसी श्रद्धा वाले व्यक्ति प्रेत और भूतगणों की अर्चना करते हैं । जैसा कि गीता कहती है-

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ (गी. १७।४।)

देवताओं की पूजा करने वाले सभी सात्त्विक नहीं होते, जो जिस प्रकार से पूजा करता है वह उसी प्रकार का हो जाता है । यदि षोड्शोपचार से देवताओं और देवियों की अर्चना की जाती है तो पूजक और देव भी सात्त्विक रहते हैं, यदि लहशुन, प्याज, ताड़ आदि से उन्हीं देवों की अर्चना करने पर भी अर्चक और देव दोनों राजसी कहे जाते हैं और मांस मदिरा आदि निषिद्ध वस्तुओं के द्वारा पूजा करने पर पूजने वाले तो तामसी होते हैं, पर देव भी तामसी कहे जाते हैं ।

जैसे बहुत सी सीधी गायों को दुष्ट ग्वाले प्रतिदिन खेत चराकर उसे 'हरही' बना देते हैं उसी भाँति सात्त्विक देवों की पूजन-विधि में राजसी और तामसी बना देते हैं। राजसी और तामसी व्यक्ति तो यक्ष, राक्षस और प्रेत भूतों को मांस मदिरा बलि आदि से पूजा करते हैं। ये लोग वेद पुराण के सागर में गोता लगाते हैं, महात्माओं और संत के उपदेश सुनते हैं पर अपने नियम से टस से मस नहीं होते हैं। रावण चारों वेद का वक्ता था, किन्तु वह भी पशु-बलि को कौन कहे अपने मस्तक की आहुति देता था। जब कि वेद में हविष से आहुति का विधान किया गया है। यक्ष, राक्षस और भूत-प्रेतादि को पूजने वाले अपने इष्टदेवों को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। दुर्गा जगन्माता हैं। संसार उनका पुत्र है। किसी माता के सामने उसके दुष्टातिदुष्ट लड़के की यदि बलि दी जाय तो क्या माता प्रसन्न हो सकती है ? उसी प्रकार विश्वमाता काली के समक्ष उसके पुत्र-भेड़, बकरे आदि की बलि दी जाय तो क्या वह प्रसन्न हो सकती है ? वेद से विपरीत विधि से पूजा करने वालों की दुर्दशा को लोग देखते हैं पर उसी का अनुकरण करते हैं। रावण ने मांस मदिरा से निकुम्भिला देवी की पूजा करके अतुलनीय धन-जन प्राप्त किया पर उसीके समक्ष उसकी स्वर्ण नगरी तृण की भाँति जलायी गई और लाखों पुत्र गाजर और मूली की भाँति काटे गये। भगवान् कह रहे हैं कि मेरे जिस जिस शरीर की जिस जिस श्रद्धा से अर्चना करता है उसमें उसकी श्रद्धा अचल कर देता हूँ। अर्थात् वह भूत प्रेत यक्ष आदि को जिस विधि से पूजा करता है उस विधि को मैं दृढ़ कर देता हूँ। उसकी श्रद्धा काली कमरी हो जाती है जिसपर किसी भी उपदेश का रंग नहीं चढ़ सकता। भगवान् श्वान और सूकर पूजकों की श्रद्धा को इतना दृढ़ कर देते हैं कि वह जब पूजा करेगा तो श्वान और सूकर की ही, गाय की नहीं। एक वेश्यागामी पुरुष अप्राप्त वेश्या की बीमारी को दूर करने के लिये देवी के सामने अपने मस्तक को अपने हाथ से काट डाला। कामनाओं की चाह ज्ञान को नष्ट कर देती है। उसके सामने केवल सिद्धि प्राप्ति का लक्ष्य रहता है। इसी सिद्धि के वशीभूत होकर रात्रि में श्मशान घाट पर जाकर मंत्र सिद्धि में भय नहीं करते। अज्ञान में पड़े सभी नीच कर्मों को सहर्ष करते हैं।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि अपना हित अनहित सोचकर भूत प्रेतादि की पूजा करे। देव देवियों की पूजा भगवान् का शरीर जानकर करनी चाहिये। उनकी उपासना सात्त्विक विधि से करे। मांस मदिरा से की गई उपासना देव को भी तामसी बना देती है। मदिरा से भरे हुये स्वर्ण पात्र को विवेकी नहीं ग्रहण कर सकते हैं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामन्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

अन्वय :- **सः तया श्रद्धया युक्तः तस्य आराधनम् ईहते च ततः हि तान् कामान् मया एव विहितान् लभते।**

अर्थ :- वह भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर उस (देवतारूप भगवान् के शरीर) की आराधना करता है और उससे ही उन कामनाओं या भोगों को जो मेरे द्वारा ही विहित है, (यानी जिनका मैंने ही विधान किया है) प्राप्त करता है।

व्याख्या :- सकामी नष्ट ज्ञान वाले व्यक्ति भगवान् के द्वारा अचल की गई श्रद्धा से युक्त होकर भगवान् के शरीर स्वरूप इच्छित देवताओं को श्रेष्ठ समझते हुये उन्हीं की आराधना की चेष्टा करते हैं। अर्थात् जिन जिन व्यक्तियों की जैसी श्रद्धा होती है वैसी अचल श्रद्धा से देव, देवी यक्ष, किन्नर, सूर्य, अग्नि, भूत, प्रेत, वामत, आदि की अर्चना में दिन

रात एक कर देते हैं । उन्हें खूब मांस मदिरा, रक्त आदि समर्पित करते रहते हैं । सद्ग्रन्थों के पढ़ने से भी उनकी बुद्धि सात्त्विक नहीं होती वरन् सात्त्विक पूजकों से कुतर्क करते फिरते हैं ।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब ऐसे लोग भगवान् के शरीर की पूजा भगवान् से भिन्न समझकर वेद-विहित मार्ग से भिन्न विधि से करते हैं तो उनकी कामनाएँ पूर्ण होती हैं कि नहीं ? भगवान् कहते हैं कि उनकी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, पर उन कामनाओं को मैं ही पूर्ण करता हूँ अन्य देवी और देवता नहीं ।

मेरे द्वारा की गई कामनाओं की पूर्ति उसी मार्ग से पूजा करते हुये करते हैं, किन्तु वे मूढ़ यही समझते हैं कि कामनायें भगवान् से नहीं पूर्ण हुईं वरन् पूजित देवी देवताओं और भूत प्रेतों के द्वारा पूर्ण हुई हैं । जैसे अज्ञ बालक कमरे की बिजली के बटन को दबाने से बल्ब में हुये प्रकाश को देखकर यही समझता है कि यह प्रकाश बटन दबाने से प्राप्त हुआ है, किन्तु विज्ञ लोग जानते हैं कि यह प्रकाश बिजली के हेड क्वार्टर से आया है । यदि हेड क्वार्टर प्रकाश न दे तो लाख बिजली के बटन को दबाया जाय पर प्रकाश की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । उसी प्रकार सम्पूर्ण कामनायें भगवान् के द्वारा पूर्ण की जाती हैं पर अज्ञानी इसे नहीं समझते हैं । यदि भगवान् न चाहें तो कामना उसी प्रकार नहीं पूर्ण हो सकती है जैसे आत्मा के न रहने पर हाथ, पैर, नेत्र आदि कोई कार्य नहीं कर सकते हैं । यदि मेघ से जल वृष्टि न हो तो कभी सम्भव नहीं है कि जल नदियों, जलाशयों, कूपों और नहरों में दिखाई दे । जिस प्रकार आकाश से पतित जल सागर में चला जाता है उसी प्रकार सभी देवों के प्रति किया गया नमस्कार भगवान् को ही प्राप्त होता है । जैसा कि महाभारत में कहा गया है-

आकाशपतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण देवी और देवताओं की उपासना भगवान् को ही प्राप्त होती है किन्तु अज्ञानी अज्ञान के कारण इसे समझ नहीं पाते हैं । नष्ट ज्ञान वाले होकर कुमार्ग से ही देवी देवता की अर्चना में मस्त रहते हैं । इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की पूजा सात्त्विक विधि से करनी चाहिये ।

अतः वेदव्यासजी ने कहा है -

सर्वदेवेषु यत्पुण्यं सर्वतीर्थेषु यत् फलम् ।
तत्फलं समवाप्नोति स्तुत्वा देवं जनार्दनम् ॥ महाभारत ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अन्वय :- **तु तेषाम् अल्पमेधसाम् तत् फलम् अन्तवत् भवति । देवयजः देवान् यान्ति मम भक्ताः अपि माम् यान्ति ।**

अर्थ :- किन्तु उन अल्प या तुच्छ बुद्धि वालों का वह फल अन्तवाला (यानी नाशवान्) होता है । देवताओं की पूजा करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं; मेरे भक्त भी (तथैव) मुझे प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या :- तामसी, राजसी और सात्त्विक विधि से पूजा करने वाले की जब कामनायें पूरी हो जाती हैं तो क्यों नहीं तामसी विधि से भूत प्रेत की ही पूजा करके कामनाओं की पूर्ति की जाय ? सात्त्विक विधि से सात्त्विक देव की आराधना की क्या आवश्यकता है ? इसका खण्डन करते हुये भगवान् कह रहे हैं कि जो तामसी और राजसी श्रद्धा के द्वारा देव, यक्ष, राक्षस और भूत-प्रेत की पूजा करते हैं वे तुच्छ बुद्धि वाले होते हैं । उनकी बुद्धि सीमित रहती है । वे समझते हैं कि मेरी कामनाओं को देवी, देव, यक्ष, भूत प्रेतादि ने ही पूर्ण किया है । जो जिसकी पूजा करते हैं उसी को अपनी कामनाओं का पूरक समझते हैं । इन तुच्छ बुद्धि वालों के द्वारा की गई अर्चना से प्राप्त फल चिरस्थायी नहीं रहते । अन्त में नष्ट हो जाते हैं । ओस की भाँति थोड़ी देर तक चमकते रहते हैं पर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । रावण ने रुद्र की तामसी विधि से अर्चना करके स्वर्णमयी लंका और लाखों पुत्रों को पाया, किन्तु उसके जीवन में ही लंका नगरी राख हो गई और पुत्र पौत्रादि बकरे की भाँति बलि दे दिये गये । 'रहा न कुल कोई रोवनिहारा' की कहावत सत्य हुई । रावण की भाँति ही विषयासक्त नष्ट ज्ञान वालों की कामनायें शीघ्र पूर्ण हो जाती हैं पर कष्टकारक होती हैं । इसके विपरीत जो केवल पत्र-पुष्प तोय आदि से सात्त्विक विधि से भगवान् की अर्चना करता है उसके फल चिरस्थायी रहते हैं । राजा दशरथ-सात्त्विक विधि से अर्चना करके भगवान् को पाया । उनके वंश आज भी हैं और जब तक आकाश में सूर्य चन्द्र रहेंगे तब तक रहेंगे । राजसी और तामसी विधि से पूजा करने वाले तत्तत् देवों को प्राप्त होते हैं अर्थात् देव-पूजक देवत्व और भूत-प्रेत पूजक भूतत्व को प्राप्त करता है । देवत्व प्राप्त करने वाला भी पुण्य क्षीण होने पर मर्त्य लोक में फिर आता है । ब्रह्मा से लेकर सभी जीव इस संसार में जन्म लेने वाले हैं तो उनको प्राप्त करने वाले क्यों नहीं संसार-चक्र में भ्रमण करेंगे ? किन्तु भगवान् की पूजा सात्त्विक विधि से करने वाले सकामी-आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भक्त भी संसार चक्र से मुक्त हो जाते हैं । भगवान् के भक्त भगवान् को प्राप्त करते हैं । भगवान् को प्राप्त करके पुनर्जन्म जीव नहीं प्राप्त करता है ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते । (गी. ८।१६)

भगवान् के भक्त कभी नष्ट होते ही नहीं ।

न मे भक्तः प्रणश्यति । (गी. ६।३१)

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये की भूत-प्रेत की पूजा को त्यागकर भगवान् की अर्चना सात्त्विक विधि से करे । भगवान् की अर्चना में आयास कम करना पड़ता है और फल अधिक मिलता है । इसके विपरीत देवों और भूतों की आराधना में श्रम अधिक और फल क्षणभंगुर और अल्प मिलता है । भगवान् तो भक्तिपूर्वक दिये गये पत्र, पुष्प और जल से ही संतुष्ट हो जाते हैं । जो नित्य प्रति भगवान् की पूजा भक्तिपूर्वक करता है वह निश्चय ही भगवान् के सायुज्य को प्राप्त करता है ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परंभावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

अन्वय :- **अबुद्धयः मम अव्ययम् अनुत्तमम् परंभावम् अजानन्तः अव्यक्तम् माम् व्यक्तिम् आपन्नम् मन्यन्ते ।**

अर्थ :- बुद्धिहीन लोग मेरे अव्यय (सदैव एकरूप) सर्वोत्तम (यानी जिससे कुछ दूसरा उत्तम न हो) परम भाव को न जानकर मुझे अव्यक्त (यानी पहले अप्रकट था) को व्यक्तिभाव प्राप्त (मनुष्य की तरह शरीर धारणकर (व्यक्त हुआ) मानते हैं ।

व्याख्या :- क्या कारण है कि संसारी जीव भगवान् को छोड़कर देव, देवी और भूत-प्रेत की शरण लेते हैं ? जबकि भगवान् की अर्चना में न अर्द्धरात्रि में श्मशान पर जाना पड़ता है, न बलि अर्पित करनी पड़ती है, केवल पत्र, पुष्प, फल और तोय से प्रातः एवं संध्या काल में ही मंदिर या घर में ही अर्चना करनी पड़ती है और अद्वितीय फल प्राप्त होता है, फिर भी लोग भगवान् की पूजा नहीं करते ।

कारण बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि विषयासक्त रहने के कारण नष्ट ज्ञान वाले बुद्धिविहीन मुझ चर्मेन्द्रिय से अग्राह्य अव्यय और अनुत्तम के प्रभाव को न जानते हुये मुझे साधारण व्यक्ति के समान नन्द और यशोदा का पुत्र ही समझते हैं । वे नहीं जानते हैं कि भगवान् 'अजायमानो बहुधा विजायते' अजन्मा होते हुए भी आश्रित-परतंत्रता के कारण बहुत रूपों में जन्म ग्रहण करते हैं । गीता के चतुर्थ अध्याय में -

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

कहा गया है कि भगवान् अजन्मा अक्षीण होने वाले एवं सभी प्राणियों का ईश्वर होते हुये भी अपनी प्रकृति को वश में करके अपनी माया से उत्पन्न होते हैं । वे लोग भगवान् के प्रभाव-'परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वेताश्वतरोपनिषद्) ज्ञान, बल क्रिया रूप स्वरूपभूत दिव्य शक्ति को नहीं जानते हैं, वरन् साधारण मनुष्य के प्रभाव की भाँति राम और कृष्ण भगवान् के प्रभाव को जानते हैं । गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है-

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे, जड़ मोहहिं-

भगवान् के चरित्र को देखकर और सुनकर अज्ञानी मोहित हो जाते हैं । जब भगवान् के चरित्र को ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण और मुनि लोग नहीं समझ पाते तो साधारण मनुष्यों की क्या बात है ? 'वेद वचन मुनि मन अगम' वाले भगवान् को साधारण अज्ञानी दशरथ और नन्द के पुत्र मात्र ही समझते हैं । वे अज्ञानी नहीं समझते कि भगवान् अव्यय अर्थात् प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होने वाले 'सबके हृदय अक्षत अविनासी' और अनुत्तम हैं, अर्थात् राम और कृष्ण से बढ़कर कोई उत्तम है नहीं । गीता के पंद्रहवें अध्याय में कहा गया है-भगवान् सर्वोत्तम पुरुष हैं, लेकिन अज्ञानी पुरुष देवता और देवियों को ही सर्वोत्तम अव्यय और अजन्मा समझते हैं । उन्हीं के प्रभाव को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं । इसलिए भूत-प्रेत की पूजा में रत रहते हैं । वेद-पुराण पढ़ते हैं फिर रावण की भाँति राम को दशरथ पुत्र मात्र समझते हैं । रावण के इतिहास को कौन नहीं जानता है, किन्तु रावण के आचरण को त्यागने वालों की संख्या अंगुली पर गिनी जा सकती है ।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को खेती, नौकरी, व्यापार करते हुए सात्त्विक विधि से प्रभु की आराधना रूपी बीज बोना चाहिये जिससे अमर दुर्लभ मनुज शरीर रूपी खलिहान आनन्द रूपी अन्न से भर जाय । जिसके उपभोग से जीव अत्यन्त अलौकिक आनन्द को प्राप्त करे । राम कृष्ण को भगवान समझते हुये उनकी उपासना के लिये मर मिटे । उनमें मनुष्य की बुद्धि रखने से पतन के अतिरिक्त उत्थान असम्भव है, असम्भव ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अन्वय :- **योगमायासमावृतः अहम् सर्वस्य न प्रकाशः अयं मूढः लोकः माम् अजम् अव्ययम् न अभिजानाति।**
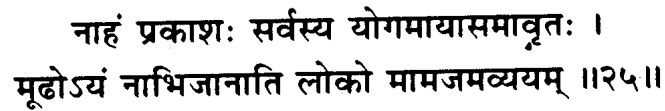
अर्थ :- योगमाया से ढका हुआ मैं सबको प्रत्यक्ष या प्रकट नहीं हूँ । (इसीसे) यह मूढ़ जगत् मुझ अजन्मा अविनाशी को ठीक से नहीं जान पाता है ।

व्याख्या :- भगवान् बता रहे हैं कि मुझे लोग क्यों नहीं जानते हैं । भगवान् योगमाया से आच्छादित रहते हैं, इसलिये वे सबके प्रत्यक्ष में नहीं आते । मूढ़ व्यक्ति उन्हें यह अच्छी तरह से नहीं जानता कि भगवान् अजन्मा और अव्यय हैं। भगवान् आश्चर्यकारिणी योग-माया रूपी कवच से आच्छादित रहते हैं, जिससे अज्ञ व्यक्ति उन्हें यशोदा-पुत्र अथवा दशरथ तनय मात्र ही जानते हैं । वे जानते हैं कि अन्य मनुष्यों की भाँति उन्होंने भी अपने कर्म के कारण भूतल पर जन्म लिया है और मरणशील संसार की भाँति मरने वाले और जन्म ग्रहण करने वाले हैं । उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता कि ये ही भगवान् हैं, जिन्होंने आश्रित परतंत्र होकर मनुष्य देह धारण किया है । ये अजन्मा और अव्यय हैं, ऐसा नहीं समझते । उनके द्वारा किये गये अलौकिक कार्यों को देखते हैं पर उन्हें विश्वास नहीं होता । कंस यह नहीं समझ पाया कि बिना भगवान् के कौन दुधमुँहा बालक पूतना, बकासुर आदि राक्षसों को देखते-देखते नष्ट कर देगा ।

योगमाया से आवृत श्रीकृष्ण भगवान् को ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण अग्नि देव तक नहीं जान सके । इसीलिये गोस्वामी तुलसी दास जी ने लिखा है - 'निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन न जाने काये'' निर्गुण ब्रह्म को सभी लोग समझते हैं, किन्तु वही निर्गुण ब्रह्म जब सगुण ब्रह्म का रूप धारण करता है तब उसे कोई नहीं समझ पाता । लोमश ऋषि भक्ति मार्ग-विमुख रहने के कारण ही आज तक संसार-चक्र से मुक्त नहीं हुये । सगुण ब्रह्म को समझना आसान नहीं है । दिन रात कृष्ण के साथ अर्जुन रहता है पर उन्हें वह साधारण मनुष्य समझता है, तभी तो पूछता है-

'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः' (४।४ गीता)

हे भगवन् ! आपका जन्म तो अब हुआ है सूर्य का जन्म बहुत पुराना है, इसलिये आपने कल्प के आदि में इस योग को कैसे कहा ? यशोदा जी घर की सम्पूर्ण रस्सियों को जोड़ देती हैं, पर बालक कृष्ण को नहीं बाँध पाती हैं, फिरभी उन्हें अपना बालक ही समझती हैं ।

इसके विपरीत जिनकी भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति रहती है वे भगवान् को पहचान जाते हैं । योगमाया से आवृत राघवेन्द्र श्रीरामजी वाल्मीकि जी से अपने रहने के लिये भवन पूछते हैं, पर वाल्मीकि जी समझ जाते हैं और कहते हैं भगवान् आप हमसे दुराव न कीजिये । आप योगमाया रूपी कवच से ढँके रहने के कारण मुझे धोखा नहीं दे सकते। आपके चरित्र से अज्ञ मोहित हाते हैं, पर आपके भक्त नहीं ।

पूछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहिं देखावौं ठाउँ ॥ (रा०मा० २।१२७)

आप कहाँ नहीं रहते कि मैं आप को रहने के लिए स्थान बताऊँ ।

इसलिऐ प्रत्येक मनुष्य को प्रभु के चरणों की शरणागति करनी चाहिये । जब अहंकार का नाश हो जाता है तब भगवान् को जीव समझता है और माया हट जाती है । तुलसीदास जी ने कहा है -

राम दूरि माया बढ़ति घटत जानि मन माँह ।
भूरि होत रबि दूरि लखि सिर पर पगतर छाँह - (दोहावली ६१)

सूर्य को देखकर छाया लम्बी होती है और जब सिर पर आ जाती है तो वह ठीक पैरों के नीचे आ जाती है उसी प्रकार श्रीराम जी से दूर रहने पर माया बढ़ती है और जब वह श्रीराम जी को मन में विराजित जानती है तब घट जाती है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

अन्वय :- **अर्जुन ! अहम् समतीतानि वर्तमानानि च भविष्याणि भूतानि वेद, तु माम् कश्चन न वेद ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! मैं बीत गये हुए (यानी अतीत कालीन) वर्तमान और भविष्य में होने वाले (सब) प्राणी को जानता हूँ, पर मुझको कोई नहीं जानता ।

व्याख्या :- भगवान् को मूर्ख लोग व्यक्तिमात्र समझते हैं । योगमाया से समावृत भगवान् सभी के लिये प्रकाश्य नहीं होते किन्तु वे सभी को जानते हैं । इस श्लोक में भगवान् अपनी सर्वज्ञता और जीव की अल्पज्ञता को बताते हुये मायावादी के अज्ञान को नष्ट कर रहे हैं, जिस अज्ञान के कारण वे जीव स्वरूप अपने को ब्रह्म मान लेते हैं ।

भगवान् कह रहे हैं कि मैं जब से सृष्टि प्रारंभ हुई तब से जितने पिण्डज, अण्डज, स्थावर और उष्णज जीव हुये सबको जानता हूँ और इस समय वर्तमान में जितने जीव हैं, एवं भविष्य में जितने जीव होंगे सबको मैं ही अकेले जानता हूँ । अहं शब्द का प्रयोग कर भगवान् बता रहे हैं कि मेरे अतिरिक्त सभी जीव को कोई नहीं जानने वाला है मैं सबको जानता हूँ पर मुझे कोई नहीं जानता है । ब्रह्म और जीव का भेद बताते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद् कहती है-

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ (श्वे ।१।९)

ब्रह्म ज्ञ-सर्वज्ञ और जीव अज्ञ है । दोनों अजन्मा हैं, पर ब्रह्म ईश है और जीव अनीश है । कहने का आशय यह कि ब्रह्म ही 'सर्वज्ञ' है जीव नहीं । ब्रह्म की सर्वज्ञता के विषय में श्रुति कहती है 'य सर्वज्ञ: सर्ववित्' कि ब्रह्म सबको साधारण ज्ञान से मनुष्य पशु पक्षी ऐसा है जानने वाला है और विशिष्ट ज्ञान से सबके भेद-प्रभेद को जानता है । सबको जानने के कारण वह ब्रह्म वेदान्त-सूत्र में 'ज्ञो अतएव' 'ज्ञ' कहलाता है । जो अज्ञ इस ज्ञ का अर्थ ज्ञाता न करके ज्ञान अर्थ करते हैं, वे महापाण्डित्य को प्रदर्शित करते हैं । 'ज्ञ' का अर्थ ज्ञाता होगा जो 'क' प्रत्यय से बना है । भगवान् के अतिरिक्त जीव सर्वज्ञ हो नहीं सकता । अंगद (जीव) भगवान् को 'सुनु सर्वग्य कृपा सुखसिंधो' सर्वज्ञ कहता है और अपने को 'बालक ज्ञान बुद्धि बल हीना', अज्ञ कह रहा है । जो लोग अपने को मैं ब्रह्म, हूँ' ऐसा कहते हैं वे क्यों नहीं बताते कि उनके राज्य में कितने अण्डज, स्थावर और उष्मज हैं ? ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सर्वज्ञ हो नहीं सकता । इस श्लोक में 'भूतानि', जीव का बहुवचन प्रयोग कर भगवान् ने यह सिद्ध किया है, जीव एक न होकर अनेक हैं ।

भगवान् कह रहे हैं कि मैं सभी को जानता हूँ पर मुझे कोई नहीं जानता । यदि भगवान् को कोई नहीं जानता है तो वामदेव आदि कैसे मुक्त हुये ? 'मां न वेद कश्चन' का अर्थ यह है कि जो लोग मेरी भक्ति करते हैं उनके अतिरिक्त अन्य कोई मुझे नहीं जानता है । जैसे कहा जाय कि सभी ब्राह्मणों को दधि दिया जाय और कौण्डिनी को तक्र तो इसका यह अर्थ लगाना कि सभी को दधि दिया जाय, अज्ञता प्रदर्शित करना है । उसी प्रकार भगवान् आगे कहते हैं कि 'भक्त्या मामभिजानाति' भक्ति से मुझे जीव अच्छी तरह जानता है । इसलिये जो लोग भगवान् की भक्ति करते हैं उसके अतिरिक्त भगवान् को कोई नहीं जानता है । अथवा भगवान् को कोई 'इदमित्थं' ऐसा ही है, नहीं जानता । भगवान् निर्गुण हैं, अथवा राम ही भगवान् हैं अथवा कृष्ण ही भगवान् हैं ऐसा कोई नहीं जानता । केनोपनिषद् कहती है 'नाहं मन्ये सुवेदेति "मैं उस ब्रह्म को भली भाँति जानता हूँ" नहीं मानता । जो लोग जानने का अभिमान करते हैं, वे अज्ञानी हैं 'अविज्ञातं विजानतां" केनो० २।३ तुलसी दास जी भी कहते हैं "इदमित्थं कहि जात न सोई" कि ब्रह्म इसी प्रकार का ही है नहीं कहा जा सकता है । वेदों ने उस ब्रह्म को 'नेति नेति' कहा है । 'निगम नेति सिव ध्यान न आवा" जब शंकर ऐसे महादेव के ध्यान में भगवान् नहीं आते तो जीव किस प्रकार भगवान् को 'इदमित्थं' जान सकता है ।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् की शरणागति लेकर अपने स्वरूप और भगवान् को जानने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

अन्वय :- **हे भारत ! हे परन्तप ! सर्गे सर्वभूतानि इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन संमोहम् यान्ति ।**

अर्थ :- हे भरतवंशीय ! हे उत्कृष्ट तपी अर्जुन ! जन्मकाल में सभी प्राणी इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्व रूप मोह से मोहित हो जाते हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में दो संबोधन भारत और परंतप का प्रयोग कर भगवान् ने यह बताया कि जब जीव अर्जुन की भाँति ज्ञान रूपी प्रकाश में रत रहता हुआ 'पर' यानी काम क्रोधादि शत्रु को नष्ट कर देगा तभी हमें जान सकता है । जबतक काम, क्रोध और लोभ का नाश नहीं होगा तबतक व्यक्ति नरक में फँसा रहेगा । इसलिये पूर्व में ही भगवान् कह आये हैं 'जहि शत्रु महाबाहो कामरूपं दुरासदम्' कि अर्जुन तुम सबसे पहले कामरूपी शत्रु को नष्ट करो । इस प्रकार की शिक्षा देते हुये भगवान् कह रहे हैं कि जीव अपने माता पिता, भाई बन्धु को जानता है पर मुझे नहीं जानता । इसका कारण है । इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होने वाले द्वन्द्व के मोह से सम्पूर्ण प्राणी सर्ग (उत्पत्ति) के समय ही मोहित हो जाते हैं । जब तक जीव गर्भ में रहता है उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं रहती । वह जीव उस गर्भ में पड़ा रहना चाहता पर बाहर जाना नहीं चाहता । भागवत में कपिल मुनि ने देवहूति को जीव की दशा बताते हुये कहा है - 'सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदु:खवासं गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे" कि जीव गर्भ में कहता है कि हे भगवन् गर्भवास के अनेक कष्टों को भोगते रहना स्वीकार है पर बाहर जाना स्वीकार नहीं । गर्भ में जीव ज्ञानपरिपूर्ण रहता है तभी वह मुट्ठी बाँधकर भगवान् के भजन की प्रतिज्ञा करता है । वही जीव जब जन्म लेता है तभी उसके ऊपर माया का पर्दा पड़ जाता है और चौरासी लाख योनियों के भुक्त सुखों की इच्छा करने लगता है । "यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया" संसार में आने से जीव

के ज्ञान पर माया का पर्दा पड़ जाता है । जन्मते ही दूध पीने की इच्छा करने लगता है । यदि यह इच्छा पूर्ण नहीं होती तो द्वेष करने लगता है । पतञ्जलि ऋषि ने बताया है-'दु:खानुशयी द्वेष:' दु:ख के अनुभव के पीछे जो घृणा की वासना चित्त में रहती है, उसको द्वेष कहते हैं ।

इच्छा और द्वेष से अच्छी तरह से द्वन्द्व की उत्पत्ति होती है । अर्थात् जीव सुख-दु:ख, शीत-उष्ण और मान-अपमान में समान नहीं रहता । इस द्वन्द्व के मोह में सभी प्राणी मोहित हो जाते हैं । मोह स्मृति को नष्ट कर देता है । "सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम:" (गी. २।६३) मोह हो जाने पर जीव के गर्भ में की गयी प्रतिज्ञा की स्मृति नष्ट हो जाती है । वह भूल जाता है कि मैंने गर्भ में भगवान् की उपासना करने की प्रतिज्ञा की थी । वह सांसारिक मोह को ही सत्य समझने लगता है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है "मोह न अंध कीन्ह केहि केही', मोह ने किसे अन्धा नहीं बना दिया, अर्थात् मोह, ज्ञान-दृष्टि को नष्ट कर देता है । जब ज्ञान-(स्मृति) ही नष्ट हो जाता है तब जीव का पतन हो जाता है ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति (गी. २।६३।)

यह मोह आयुवृद्धि के साथ-साथ बढ़ता रहता है । मोह-मोहित जीव 'मैं ईश्वर-अंश, अविनाशी, अमल और सुखराशि हूँ,' को भूल कर देह को दु:खी, श्याम, गौर आदि मान बैठता है । जन्म के दिन ही माया-वश हो जाता है ।

सो माया वस भयेउ गोसाईं । बन्धेउ कीर मरकट की नाईं
जब ते जीव भयेउ संसारी । छूटि न ग्रन्थि न होहि सुखारी

जब जीव संसार में जन्म ले लेता है तब वह सर्वदा दु:ख ही प्राप्त किया करता है । मोह-मोहित जीव जब स्व-स्वरूप को ही भूल जाता है तो पर स्वरूप परमेश्वर को कैसे जान सकता है ? ईश्वर का अंश, जीव मोहवश अपने को ही ब्रह्म मान लेता है । कुछ लोग शरीर को ही सब कुछ मान बैठते हैं । न शरीर ही आत्मा है न देव न अग्नि न अन्य कुछ । भागवत के ११वें सम्बन्ध में बताया गया है ।

नात्मा वपु: पार्थिवमिन्द्रियाणि देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः ।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्वमहंकृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥

यह पार्थिव शरीर आत्मा नहीं है, और इन्द्रियाँ उनके अधिष्ठाता देवता, प्राण, वायु, जल तथा अग्नि भी आत्मा नहीं हैं और अन्नमय मन, बुद्धि चित्त अहंकार आकाश पृथ्वी तथा प्रकृति इनमें से कोई भी आत्मा नहीं है ।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को इच्छा और द्वेष का नाश करके मोह-विमुक्त होते हुये पहले पहल अपने स्वरूप को समझना चाहिये ।। जब अपने स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा तब हम सरलता से पर स्वरूप परमात्मा को जान सकते हैं । जब तक कामनाओं का नाश नहीं होगा तबतक आत्मा का उद्धार नहीं होगा । गीता के १६वें अध्याय में भगवान् ने कहा है-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्। (गी. १६।२१)

काम, क्रोध और लोभ तीन नरक के द्वार हैं और शत्रु तो शरीर पर प्रहार करते हैं किन्तु ये आत्मा का नाश कर देते हैं। जब आत्म-नाश हो जाता है तब जीव नरक के दु:खों को प्राप्त करता रहता है ।
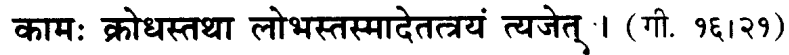
जो व्यक्ति कामनाओं को जीत लेते हैं वे द्वन्द्व यानी सुख-दु:ख, शीत-उष्ण और मान-अपमान से विमुक्त हो जाते हैं और उनका मोह नष्ट हो जाता है । जब मोह नष्ट हो जाता है तब ज्ञान-प्रकाश से आत्म-तत्त्व को समझकर परतत्त्व परमेश्वर को मनुष्य प्राप्त कर लेता है ।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

अन्वय :- **तु येषाम् पुण्यकर्मणाम् जनानाम् पापम् अन्तगतम् ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः दृढव्रताः माम् भजन्ते ।**

अर्थ :- परन्तु जिन पुण्यकर्मा पुरुषों का पाप नष्ट हो जाता है, वे द्वन्द्वमोह से मुक्त हुए दृढ़व्रती हो मुझको भजते हैं ।

व्याख्या :- पुण्यकर्मों को करने से जिन व्यक्तियों के पाप नष्ट हो जाते हैं वे व्यक्ति द्वन्द्व और मोह से विमुक्त हो जाते हैं और दृढ़व्रती बनकर भगवान् की उपासना करते हैं । द्वन्द्व-मोह से निर्मुक्त पुण्यकर्मियों में भी पुण्य कर्मों के करने के विधान से तीन भेद हो जाते हैं । एक प्रकार के उपासक केवल प्रकृति-मुक्त आत्म-स्वरूप को जानने के लिये भगवान् की उपासना करते हैं । सुख-दु:ख रहित कैवल्य प्राप्ति के हेतु भगवद्भक्ति करते हैं । ऐसे उपासक द्वितीय श्रेणी के होते हैं । जैसे पञ्चशिखाचार्य, कपिल आदि । द्वितीय प्रकार के उपासक ऐश्वर्य प्राप्ति के लियें उपासना करते हैं, जैसे ध्रुव । ये तृतीय श्रेणी के उपासक होते हैं । प्रथम श्रेणी के उपासक भगवत्प्राप्ति के लिये ही भगवान् की भक्ति करते हैं । ये उपासक प्रथम श्रेणी में आते हैं । जैसे अम्बरीष । यदि यहाँ पर कोई यह शंका करे कि भगवान् के भक्त चार प्रकार के होते हैं, यहाँ क्यों तीन श्रेणी में बाँटा गया है ?

किसी पद का अर्थ कई प्रकार से किया जाता है । यहाँ प्रकरण से अर्थ किया गया है । जिस विषय का प्रकरण रहता है वहाँ उसी प्रकरण के अनुसार अर्थ करना पड़ता है । जैसे कोई वेदान्त शास्त्र के प्रकरण में आये हुये गुण का 'अदेङ्गुणः' अथवा न्यायशास्त्र के २४ तत्त्वों को अर्थ करे तो अज्ञता सिद्ध होगी । इसलिये यहाँ अग्रिम प्रकरण के अनुसार ''तीन प्रकार के भक्त होते हैं'' अर्थ किया गया है ।

वेद-विहित कर्मों को पुण्य कर्म कहते हैं । महात्माओं और गुरुओं के सहावास से व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हो जाता है । ज्ञान से पाप उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे दावाग्नि में सूखी और हरी लकड़ियाँ । वाल्मीकि के समान महापापी कौन होगा ? जो कश्यप आदि की कृपा से महाज्ञानी हो गये और आदिकवि के नाम से विश्व-विख्यात हुये । 'वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना' यह कौन नहीं जानता है । कैवल्य और ऐश्वर्य-प्राप्ति करने वालों के पुण्य कर्मों से पाप नष्ट हो जाते हैं । उसी प्रकार भगवत्प्राप्ति के उपासकों के (रुचि और वासना सहित) पाप नष्ट हो जाते हैं । वे द्वन्द्व और मोह से निर्मुक्त रहते हुये दृढ़व्रती होकर भगवान् की उपासना करते हैं । अपने व्रत से रंचमात्र भी टस से मस नहीं

होते । प्रह्लाद को लाख विपत्तियों का सामना करना पड़ा पर वह अपने लक्ष्य से हटा नहीं । इसके अतिरिक्त और उपासक किसी के बहकावे में पड़कर बड़ी सरलता से पथ-भ्रष्ट हो सकते हैं । विजयनगर के राजा ने श्री वेदान्ताचार्य स्वामी को राज्य देने के लिये पालकी भेजी थी पर वेदान्ताचार्य स्वामी ने पंचश्लोकी 'वैराग्य पंचक' लिखकर पालकी पर भेज दिया और राज्य को तृण की भाँति ठुकरा दिया । कहने का तात्पर्य यह कि भगवान् के भक्तों का प्रेम चातक की भाँति अटल होता है । दुर्वासा भगवान् के भक्त थे पर ममता और अहंकार के कारण भगवान् के चक्र सुदर्शन का कोपभाजन बने । त्रिभुवन में उन्हें शरण नहीं मिली । राजा अम्बरीष ममता और अहंकार रहित थे । इसी कारण सविधि एकादशी का पारण करने पर दुर्वासा के क्रोध को दूर करने के लिये स्वयं भगवान् ने उनकी सहायता की ।

भगवान् के उपासक को अंत:करण से रुचि और वासना को नष्ट कर देना चाहिये । रुचि और वासना के रहने पर उसी प्रकार पाप बढ़ जाते हैं जैसे रोग के नष्ट होने पर थोड़े से असंयम से रोग । ममता और अहंकार रहित होकर भगवान् की आज्ञा समझकर सभी कर्मों को करने वाला व्यक्ति निश्चय ही जन्म-मरण के चक्र से छूट कर परमानन्द को प्राप्त करता है ।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९।

अन्वय :- **ये माम् आश्रित्य जरामरणमोक्षाय यतन्ति ते तत् ब्रह्म कृत्स्नम् अध्यात्मम् च अखिलम् कर्म विदुः ।**

अर्थ :- जो मेरा आश्रय लेकर (यानी मेरा आश्रित हो) जरा-मरण से छूटने के लिये यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और समस्त कर्मों को जान लेते हैं ।

व्याख्या :- तृतीय श्रेणी के भक्त जिन्हें प्रकृति-विमुक्त आत्म-दर्शन अभीष्ट है, भगवान् का आश्रय लेकर जरा-मरण से मुक्ति पाने के लिये यत्न करते हैं और वे ब्रह्म-(आत्मा) की, सम्पूर्ण अध्यात्म-प्रकृति एवं अखिल कर्म एवं उत्पत्ति को ज़ान लेते हैं । 'जरा' यहाँ उपलक्षण मात्र है । उपलक्षण उसे कहते हैं जो अपने को बताते हुये औरों को बतावे । प्रकृति-संबंध से अलग होकर आत्म-दर्शन करने वाले भक्त भगवान् की उपासना का आश्रय लेकर जन्म, जरा रोग, दु:ख और मृत्यु से मोक्ष प्राप्त करने के लिए यत्न करते हैं । ''जनमत मरत दुसह दु:ख होई'' जन्म ग्रहण करते और मरते समय महान कष्ट होता है । जरावस्था के कष्टों का वर्णन वाणी से परे है । वृद्धावस्था में जीव कुत्ते के समान हो जाता है । जिस कुटुम्ब के लिये उसने पाप कर्म तक भी किया वही कुटुम्ब उसे कुत्ते के समान भोजन देता है-जितने रोग होते हैं सभी इसी अवस्था में आकर यमदूतों की भाँति घेर लेते हैं । सांसारिक रोग दु:खत्रय से व्यक्ति सर्वदा कष्ट के समुद्र में गोता खाया करता है । इसलिये जन्म-मरण, रोग जरा और दु:ख से मोक्ष पाने के लिये निरन्तर भगवान् का आश्रय लेकर यत्न किया करता है । सभी दु:खों का कारण प्रकृति (शरीर) ही है । इसलिये वे शरीर की प्राप्ति नहीं करना चाहते । श्लोक के पूर्वार्द्ध में भगवान् ने 'ये' शब्द का प्रयोग कर इस बात का खण्डन किया है कि केवल संन्यासी या गृहस्थ ही नहीं कैवल्य प्राप्ति कर सकते हैं, वरन् जो कोई स्त्री, गृहस्थ संन्यासी भगवान् का आश्रय लेकर यत्न करते हैं, आत्म-दर्शन कर सकते हैं ।

प्रकृति-मुक्त होकर आत्म-दर्शन करने वाले भक्त ब्रह्म-(आत्मा) को जानते हैं । यहाँ ब्रह्म आत्मा वाचक है न कि ब्रह्मवाचक । गीता में ब्रह्म शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त है- ''मम योनिर्महद्‌ब्रह्म' गी. १४।३ ब्रह्मकर्म स्वाभवजम्' गी. ।१८।४२ ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम् । (गी. १४।२७) सभी ब्रह्म का अर्थ भिन्न-भिन्न है । १४वें अध्याय में प्रयुक्त ब्रह्म का अर्थ प्रकृति और आत्मा है । इसलिये यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ आत्मा होगा, क्योंकि भगवान् उसी वस्तु को प्रदान करते हैं जिस वस्तु के लिये भक्त प्रयत्न करता है । कैवल्य प्राप्ति करने वाले प्रकृतिमुक्त होकर केवल आत्मदर्शन चाहते हैं। इसलिये वे आत्मा को जान लेते हैं ।

अध्यात्म का अर्थ आत्मा न होकर, स्वभाव, प्रकृति होगा । 'आत्मा जीवे धृतौ देहं स्वभावब्रह्मणोऽपि' आत्मा, जीव, धृति देह स्वभाव और ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होता है । 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'' आत्मा में होने वाले भाव को स्वभाव कहते हैं, जो प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध है । इसलिये भक्त सम्पूर्ण प्रकृति को जानते हैं । बिना प्रकृति और पुरुष के ज्ञान के मोक्ष नहीं होता है ।

गीता में भी अनेक स्थलों पर कर्म भी भिन्नार्थ रूप में आया है 'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'' यहाँ कर्म शम दम आदि को बताता है । 'यज्ञदानतप: कर्म' यहाँ कर्म यज्ञ, दान और तप के लिये प्रयुक्त है, 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषत:' यहाँ कर्म चलने, बैठने, सोने आदि के लिये आया है । इस श्लोक में कर्म का तात्पर्य अपनी उत्पत्ति जिस कर्म से होती है, उसे जानने से है । छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'पाँचवीं आहुति में जल पुरुष हो जाता है । प्राणियों की उत्पत्ति जिस कर्म से होती है उसे वह सम्पूर्ण रूप से जान लेता है । जब तक अपनी उत्पत्ति प्रकृति और आत्मा को नहीं जान लेगा तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है ।

इसलिये प्रत्येक मानव को कर्मफलासक्ति को त्याग कर नित्य नैमित्तिक कर्मों को करते हुये अपने वर्णोचित कमों को करना चाहिये, उसी से सिद्धि प्राप्त होती है । जैसा कि गीता कहती है- स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:, गी. १८।४५ अपने अपने स्वभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्ति रूप परमसिद्धि को प्राप्त होता है । जिस प्रकार राघवेन्द्र भगवान् वानर और भालुओं को भाई सा मानते थे उसी प्रकार प्रत्येक वैष्णव को चाहे धनी हो या दीन, संत या असंत हो सभी को भाई समझना चाहिये । नीच बुद्धि की भावना नहीं रखनी चाहिये । गुरु के दिव्य आदेशों का पालन करते हुये जनता जनार्दन की सेवा करने वाले संशय-दावानल से मुक्त हो जाते हैं ।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदु: ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतस: ॥३०॥

अन्वय :- **ये साधिभूताधिदैवम् च साधियज्ञम् माम् विदु: ते युक्तचेतस: च प्रयाणकाले अपि माम् विदु: ।**

अर्थ :- जो मुझको अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित जानते हैं, वे युक्तचेता और (चकार से पूर्वोक्त जरामरण से मोक्षार्थ यत्न करने वाले) मरणकाल में भी मुझको जानते हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में 'ये' शब्द का प्रयोग कर भगवान् ने यह बताया है कि प्रकृति से निर्मुक्त होकर आत्म-दर्शन करने वाले भक्त के अतिरिक्त जो अन्य भक्त हैं, वे महान् ऐश्वर्य और भगवत्प्राप्ति के लिये भगवान् का आश्रय लेकर

यत्न करते हैं। महा ऐश्वर्य प्राप्ति करने वाले भक्त अधिभूत नाशवान पदार्थ ऐश्वर्य धन और अधिदैव देव के ऊपर रहने वाले पुरुष के साथ भगवान् को भी जान लेते हैं। ध्रुव ऐश्वर्य प्राप्त करने वाला भक्त था जिसने अचल सिंहाचल राज्य और पुरुष सहित भगवान् को जान लिया था।

'च' कार से भगवत्प्राप्ति करने वाले भक्तों का बोध होता है। भगवान् को प्राप्त करने वाले भक्त केवल यज्ञ स्वरूप भगवान् को ही जानते हैं। 'यज्ञो वै विष्णु:' इस श्रुति के अनुसार यज्ञ का अर्थ भगवान् से है। प्रथम श्रेणी के भगवान् दर्शन की इच्छा करने वाले भक्त केवल भगवान् को ही जानते हैं। उन्हें न आत्म-दर्शन की कामना रहती है न महान् ऐश्वर्य की। किन्तु अधियज्ञ स्वरूप भगवान् को शेष दोनों प्रकृति निर्मुक्त आत्मदर्शन और महान ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले भी जानते हैं क्योंकि 'सहयज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा' ''गीता'' ३।१० प्रजा, कल्प के आदि में यज्ञ सहित रची गई है, पर अन्तर केवल लक्ष्य का रहता है। तीनों प्रकार के भक्त भगवान् को जानते हैं पर शेष दोनों आत्म-दर्शन और महान् ऐश्वर्य ही चाहते हैं।

भगवत् प्राप्ति करने वाले भक्त आचार्य के द्वारा भगवान् की शरणागति लेकर यत्न में लगे हुये अधियज्ञ स्वरूप भगवान् को जानते हैं। जैसे शबरी। भगवान् दण्डक बन में रह रहे हैं। सभी सिद्ध महात्मा मुनिगण भगवान् के दर्शन करने के लिये जाते हैं पर शबरी अपने गुरु मतंग की आज्ञा के अनुसार अपने आश्रम पर रहकर स्ववर्णोचित कर्म को करती है। भगवान् स्वयं जाकर उस भिलनी को दर्शन देकर नवधा भक्ति बताते हैं। शबरी की भक्ति की प्रशंसा में वाल्मीकि जी ने ''शबर्या पूजित: सम्यक्'' लिखा है। शबरी के अतिरिक्त किसी ने भगवान् की अच्छी तरह से पूजा नहीं की। प्रथम श्रेणी के भक्त केवल भगवान् को ही जानते हैं।

पूर्वोक्त बताये गये तीनों प्रकार के भक्त युक्तचित्त वाले होते हैं, अर्थात् तीनों का मन एकाग्र रहता है। मन को एकाग्र करके भगवान् का आश्रय लेकर अपनी कामनाओं की पूर्ति करने के लिये यत्न करते हैं और मृत्यु के समय प्राप्त अनुरूप गुण वाले भगवान् को जानते हैं। अर्थात् प्रकृति से विमुक्त होकर आत्मदर्शन की कामना वाले अपनी मृत्यु के समय भगवान् को आत्म-स्वरूप जानते हैं और महान ऐश्वर्य को चाहने वाले महान ऐश्वर्य स्वरूप भगवान् को जानते हैं, उत्तम प्रकार के भगवत्प्राप्ति की कामना वाले भक्त भगवत्-स्वरूप भगवान् को जानते हैं।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति को संत महात्माओं की आज्ञा मानते हुये और उनकी सेवा करते हुये भगवत्प्राप्ति के लिये भगवान् का आश्रय लेकर यत्न करना चाहिये ताकि मरण-काल में प्रभु को जानकर उन्हें प्राप्त कर सके।

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच-

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।

अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच - पुरुषोत्तम ! तत् ब्रह्म किम्, अध्यात्मम् किम्, कर्म किम् अधिभूतम् किम् प्रोक्तम् च अधिदैवतम् किम् उच्यते ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहा जाता है ?

व्याख्या :- बिना तत्त्वदर्शी ज्ञानी के ज्ञान होना असम्भव है । स्वतः विद्यापारंगत होने पर भी ज्ञान के लिये ज्ञानी के पास जाना अत्यावश्यक है । ज्ञानी के पास जाकर पहले प्रश्न ही न करे । ज्ञानार्जन की विधि गीता में भगवान् ने बताया है-

''तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'' (गी. ४।३४)

ज्ञानियों के पास जाकर सर्वप्रथम प्रणिपात-मन वाणी और शरीर से ''भूतल परे लकुट की नाई'' साष्टांग प्रणाम करे, तब ज्ञानी के उपदेश को सुने, सुनकर जो न समझ में आवे उसे ज्ञानी से सेवापूर्वक पूछे । अर्थात् प्रश्न करनेवाला पत्र, फल अथवा पुष्प सहित ज्ञानी के पास जाय और समय देखकर प्रश्न करे । अर्जुन दूसरे अध्याय में प्रणिपात कर चुका है, ''शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'' (गी. २।७।) भगवान् के उपदेशों को सुनने के बाद ही प्रश्न करता है। पहले अच्छी तरह सुनता है तब प्रश्न करता है ।

सातवें अध्याय के २९वें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि प्रकृति-विमुक्त होकर आत्म-दर्शन की कामना वालों के लिये तीन चीजें-ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म जानने योग्य हैं और ये उन्हें जानते भी हैं । ३०वें श्लोक में भगवान ने कहा है कि महान् ऐश्वर्य चाहने वालों के लिये अधिभूत और अधिदैव जानने योग्य हैं । महान् ऐश्वर्य चाहने वाले इसे जानते हैं । अर्जुन एक शास्त्रज्ञ राजकुमार है । उसे शंका इस बात की हुई कि ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत और अधिदैव के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं । इसलिए यहाँ ये शब्द किस अर्थ में प्रयोग किये गये हैं ? इसलिए इस श्लोक में वह पाँच प्रश्नों को पूछता है । प्रश्न करने के पूर्व अर्जुन अपने गुरु भगवान् को पुरुषोत्तम शब्द से संबोधित करता है । भगवान् ने स्वयं कहा है-

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१५।१८॥

"मैं भगवान् जड़ प्रकृति और अक्षर यानी बद्ध और मुक्त जीव से उत्तम होने के कारण स्मृति और वेद में पुरुषोत्तम नाम से विख्यात हूँ।" इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञानी गुरु को पुरुषों से उत्तम समझना चाहिये। अर्जुन भगवान् को पुरुषोत्तम शब्द से संबोधित कर प्रश्न कर रहा है कि ब्रह्म क्या है ? अर्थात् ब्रह्म यहाँ पर किस आशय से प्रयुक्त है ? ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं 'जैसे-'मम योनिर्महद्ब्रह्म' इसमें ब्रह्म शब्द प्रकृति का अर्थ बताता है। "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गी. १४।२७) यहाँ ब्रह्म शब्द जीववाचक है। 'निर्दोषं हि समो ब्रह्म' ५।१९ यहाँ 'ब्रह्म' शब्द परमात्मा वाचक है। 'वितता ब्रह्मणो मुखे' (गी. ४।३२) यह 'ब्रह्म' शब्द वेद को बताता है। 'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्' (गी. १८।४२) यहाँ ब्राह्मण द्योतक 'ब्रह्म' शब्द है। इसलिए अर्जुन को सन्देह हुआ कि ब्रह्म शब्द का अनेक अर्थ होता है तो वह किस आशय वाला ब्रह्म समझे। इसी भाँति अध्यात्म शब्द है। आत्मा में होने वाले भाव को अध्यात्म कहते हैं। 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्' (गी. ६।५) आत्मा शब्द का अर्थ जीव, शरीर, मन, स्वभाव, परमात्मा धृति आदि होता है। तो प्रकृति-निर्मुक्त आत्म-दर्शन करने वाले किस आशय के आत्मा को जानते हैं। उसी प्रकार 'कर्म' भी नानार्थक है। 'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्' यहाँ कर्म शब्द ब्राह्मण के शम दमादि के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्' देखने, सुनने, स्पर्श करने आदि को कर्म कहते हैं। 'जो कुछ किया जाय उसे भी कर्म कहते हैं' इसी प्रकार कर्म के भिन्न अर्थ होते हैं तो ७ वें अध्याय के २९ वें श्लोक में किस आशय से कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है ?

उसी प्रकार ३०वें श्लोक में महान ऐश्वर्य चाहने वालों के लिए जानने योग्य अधिभूत और अधिदैव भी अनेक अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं। 'तस्मात्सर्वाणि भूतानि (गी. २।३०) में भूत प्राणीवाचक है। 'महाभूतान्यहंकारो' १३।५ वें श्लोक में भूत शब्द पृथ्वी, जल, आकाश आदि का बोध कराता है। 'भूतानि यान्ति भूतेज्या:' ९।२५ यहाँ भूत शब्द भूत-योनि वाचक है। भूत शब्द भूतकाल में भी प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार अधिदैव शब्द है। देव सम्बन्धी कार्य को दैव कहते हैं। दैव शब्द नानार्थक है। 'दैवमेवापरे यज्ञं। गी. ४।२५ वें में दैव देव वाचक है। 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' १८।१४ यहाँ दैव शब्द भगवान् को बताता है। 'देवद्विजगुरुप्राज्ञ' १७।१४ में में देव शब्द श्रेष्ठ व्यक्ति माता, पितादि को बताता है। पूर्व जन्म के किये गये कर्मों को भी दैव कहते हैं। इसलिये अर्जुन को सन्देह हुआ कि 'अधिभूत' और 'अधि दैव' शब्द किस अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसीलिये अपनी शंकाओं को भगवान् के समक्ष रखता है।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अन्वय :- **मधुसूदन ! अस्मिन् देहे अत्र अधियज्ञः कथं च कः, प्रयाणकाले नियतात्मभिः कथम् ज्ञेयः असि ?**

अर्थ :- मधुसूदन ! इस शरीर में यहाँ अधियज्ञ कैसे और कौन है और मरने के समय संयत आत्मावाले पुरुषों द्वारा आप कैसे ज्ञेय हैं ? (यानी कैसे जाने जाते हैं ?)

व्याख्या :- जिस प्रकार वसु, सिद्धियाँ और श्रीसम्प्रदाय के सिंहासन आठ संख्यावाले हैं, उसी प्रकार आठवें अध्याय में अर्जुन आठ प्रश्नों को करता है। प्रथम श्लोक में इसने पाँच प्रश्न किये हैं' और इस श्लोक में तीन प्रश्न करते हुए

कह रहा है कि "हे मधुसूदन आप ने ७ वें अध्याय के ३० वें श्लोक में तीनों अधिकारियों को जानने योग्य जिस अधियज्ञ को बताया है उसका आशय क्या है ? अधियज्ञ का प्रयोग नानार्थक होता है । पाँच महायज्ञों को भी यज्ञ कहते हैं । 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' गी. १०।२५ यहाँ यज्ञ जप को बता रहा है । "द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे" (गी. ४।२८) इस प्रकार यज्ञ शब्द का अनेक अर्थ होता है । "यज्ञो वै विष्णुः' इस श्रुति में यज्ञ विष्णु भगवान् को बता रहा है । यज् धातु में नङ् प्रत्यय से यज्ञ बनता है जिसका अर्थ देव-पूजा, संगतिकरण एवं दान होता है । इसलिये अर्जुन प्रश्न कर रहा है कि अधियज्ञ किस अभिप्राय से प्रयोग किया गया है ?

सातवाँ प्रश्न प्रस्तुत करते हुए कह रहा है इस देह में कौन किस प्रकार अधियज्ञ रूप से है जिसे सभी प्रकार के भक्तों को जानना आवश्यक है ? आठवें प्रश्न में अर्जुन पूछ रहा है कि नियत यानी अच्छे प्रकार से वश में आत्मा को करने वाले अर्थात् मन को निग्रह करने वाले तीनों प्रकार के भक्तों के लिये मरण कालमें किस प्रकार अपने प्राप्य गुणों के अनुरूप आप जानने योग्य हैं । कहने का आशय यह कि आत्म-दर्शन करने वाले महान् ऐश्वर्य की कामना करने वाले और भगवान् की प्राप्ति की इच्छा करने वाले भक्त मन को एकाग्र कर आपका आश्रय लेकर यत्न करते रहते हैं, जब वे मरने लगते हैं तो किस प्रकार अपने प्राप्य गुणों से युक्त आपको जानने में समर्थ होते हैं ।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-ब्रह्म परमम् अक्षरम् स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते, भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले-ब्रह्म (आत्मा) परम अक्षर है, स्वभाव (प्रकृति) अध्यात्म कहलाता है, भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाले विसर्ग का नाम कर्म है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन के तीन प्रश्नों का उत्तर देते हुये कह रहे हैं कि प्रकृतिविमुक्त होकर आत्मदर्शन करने वाले मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हुए जिस ब्रह्म को जानते हैं वह परम अक्षर है । अर्थात् माया से रहित श्रेष्ठ क्षेत्रज्ञ-मुक्त आत्मा है । भगवान् परम विशेषण युक्त अक्षर कहते हैं । यदि केवल अक्षर ही कहते तो 'ओमित्येकाक्षरं' 'ओं' अक्षर वर्ण का भी बोध होता । इसलिए विशेषण युक्त अक्षर कह रहे हैं । 'न क्षरतीति अक्षरः । जो नष्ट नहीं होता उसे अक्षर कहते हैं । इसी अक्षर को पन्द्रहवें अध्याय में 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' १५।१६ निहाय की भाँति जो अविचल, अनाशवान् की भाँति जो मुक्त आत्मा होती है उसे अक्षर कहते हैं । इसी अक्षर को १२वें अध्याय में 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्', भी बताया गया है । जरामरण से मोक्ष चाहने वाले श्रेष्ठ क्षेत्रज्ञ-(मुक्त) आत्मा को जानते हैं, उसी श्रेष्ठ मुक्त आत्मा को ब्रह्म कहते हैं ।

आत्मा में होने वाले भाव को अध्यात्म कहते हैं । आत्मा शरीर में होने वाले स्वभाव यानी प्रकृति को अध्यात्म कहते हैं । 'यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः' जिस प्रकार प्रकृति से गाय का दूध मीठा होता है उसी भाँति आत्मा में होने

वाला स्वभाव-प्रकृति को अध्यात्म कहा जाता है । चलना फिरना आदि क्रियाओं को कर्म नहीं कहते हैं, मनुष्यादि प्राणियों के भाव (सत्ता) को उत्पन्न करने वाले विसर्ग-ऋतुमती भार्या के सहवास के संभव शुक्र-त्याग को कर्म कहते हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद् की पंचाग्नि में कहा गया है कि 'पञ्चम्याहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्ति' पांचवीं आहुति ही में जल पुरुष कहा जाता है । प्रथम आहुति जब तिल घृतादि से यज्ञ कुण्ड में की जाती है, जिससे असार वस्तु राख हो जाती है, और सार वस्तु द्वितीय आहुति में सूर्य रूपी होता के किरण रूपी स्रुवा से आकाश रूपी कुण्ड में हवन की जाती है । तृतीय आहुति जल रूप में खाद्य पदार्थ रूपी कुण्ड में मेघ द्वारा की जाती है । इस खाद्यपदार्थ रूपी हविष को मनुष्य प्राणी रूपी होता कर रूपी स्रुवा से उदर रूपी कुण्ड में हवन करते हैं । यह चतुर्थ आहुति कहलाती है । इसी खाद्य पदार्थ का सूक्ष्मांश वीर्य बनता है । इस वीर्य को बूँद कहने से 'जल' कहते हैं । पाँचवीं आहुति में यही शुक्र रूपी हविष को ऋतुमती भार्या रूपी वेदी के गर्भाशय रूपी कुण्ड में रात्रि के समय अन्न के पच जाने पर पुरुष रूपी होता से हवन किया जाता है । इसी से पाँचवी आहुति में जल पुरुष हो जाता है, कहा गया है । जब आत्मदर्शी इस कर्म को जान लेता है कि यह कर्म केवल सतानोत्पत्ति के लिये किया जाता है तो वह गर्भ के समय अथवा ऋतु-रहित काल में सहवास नहीं करता है और ब्रह्मचर्य धारण कर आत्म-दर्शन करने में सफल हो जाता है ।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

अन्वय :- **देहभृताम्वर ! क्षरः भावः अधिभूतम्, पुरुषः अधिदैवतम् च अत्र देहे अहम् एव अधियज्ञः ।**

अर्थ :- हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! नाशवान् भाव अधिभूत है, पुरुष अधिदैवत है तथा इस शरीर में मैं ही अधियज्ञ हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण जी अर्जुन को 'देहभृतां वर' देहधारियों में श्रेष्ठ इस लिये कह रहे हैं कि मनुष्य-देह यों ही सुर-दुर्लभ है किन्तु अर्जुन ने अपने ही कल्याण के लिये भगवान् से प्रश्नों को नहीं पूछा है, वरन् तीनों प्रकार के-जिसमें विश्व के सभी भूत आ जायेंगे-भक्तों के कल्याण हेतु प्रश्न पूछा है । भगवान् उत्तर देते हुये कह रहे हैं कि महान् ऐश्वर्य को चाहने वाले भक्तों को अधिभूत और अधिदैव अवश्य जानना चाहिये और तीनों प्रकार के भक्तों को अधिदैव को भी जानना चाहिये । 'क्षरतीति क्षर:' नाश होने वाले स्वभाव को अधिभूत कहते हैं । नाश होने के कारण उसे मिथ्या नहीं कह सकते । आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी आदि सभी नाशवान् होने के कारण अधिभूत हैं । ऐश्वर्य की कामना करनेवाले को विलक्षण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और शब्दमय पृथ्वी, वायु आदि भूत पदार्थों को जानना चाहिये । इन सब को अच्छी तरह समझ लेने पर उचित और अनुचित का व्यवहार संभव है और ऐश्वर्य की प्राप्ति भी हो सकती है ।

अधिदैव और अधिदैवत पर्याय हैं । भाव में तलच् प्रत्यय होने से अधिदैवत बनता है । ३३ कोटि देवता भगवान् के शरीर हैं । उनके भीतर रहने वाले उनसे विलक्षण भाग को भोगने वाले भगवान् पुरुष कहलाते हैं । इसी पुरुष को अधिदैव कहा गया है । देवताओं से विलक्षण भोग और ऐश्वर्य वाले पुरुष को ऐश्वर्यकामी भक्तों को जानना आवश्यक है । जबतक भगवान् की कृपा नहीं होगी तबतक ऐश्वर्य-कामी भक्तों की कामनायें नहीं पूर्ण हो सकती हैं ।

अर्जुन के छठे प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान् कह रहे हैं कि यज्ञ में होने वाले भाव को अधियज्ञ कहते हैं। भगवान् अपने को ही अधियज्ञ स्वरूप बता रहे हैं। श्रुति 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ को विष्णु कहती है। यज्ञ स्वरूप भगवान् को तीनों प्रकार के भक्तों को जानना आवश्यक है। सभी उपासकों को पंचमहायज्ञों-ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ- को करना आवश्यक है। यज्ञ प्राणियों के साथ उत्पन्न हुये हैं। इन्हीं यज्ञों से प्राणियों की वृद्धि होती है। इसलिये यज्ञों को जानना आवश्यक है। आत्मदर्शी, ऐश्वर्यकामी और भगवत्प्राप्ति करने की कामना करने वाले भगवत् स्वरूप यज्ञों को करने से ही अपने प्राप्य को प्राप्त कर सकते हैं। सभी प्रकार के यज्ञों को करते हुये भगवान् को जानना आवश्यक है।

अर्जुन के सातवें प्रश्न के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि मैं ही अन्तर्यामी रूप से सभी के देह में हूँ। १५वें अध्याय में कहते हैं कि 'मैं ही सभी के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ।' बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है - 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जानानां'। सभी जनों के शासन करने वाले भगवान् अन्तर्यामी रूप से हृदय में हैं। इसलिये प्रत्येक मानव को पंचमहायज्ञों को करते हुये हृदयस्थ प्रभु की उपासना करनी चाहिये।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

अन्वय :- **च अन्तकाले माम् एव स्मरन् कलेवरम् मुक्त्वा यः प्रयाति सः मद्भावम् याति, अत्र संशयः न अस्ति।**

अर्थ :- और अन्तकाल में मुझे ही स्मरण करते हुए शरीर को छोड़ कर प्रयाण कर जाता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या :- अर्जुन ने जो आठवाँ प्रश्न 'मृत्यु के समय आप तीनों प्रकार के भक्तों के द्वारा किस प्रकार जाने जाते हैं ? किया था, उसीका उत्तर देते हुये भगवान् कह रहे हैं कि आत्म-दर्शन करने की कामना करने वाले, ऐश्वर्य चाहने वाले और भगवान् को प्राप्त करने की कामना वाले अपनी मृत्यु के समय २४ तत्त्वों से निर्मित करण कलेवर को त्यागकर अपने प्राप्य के अनुकूल गुणयुक्त मेरे भाव-(स्वभाव) को प्राप्त करते हैं। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है। कहने का आशय यह है कि मृत्यु के समय व्यक्ति जिस गुण विशिष्ट भगवान् का स्मरण करता है तद्गुण विशिष्ट भगवान् के स्वभाव को प्राप्त करता है। ऐश्वर्यकामी भगवान् के ऐश्वर्यमय स्वभाव को; आत्मदर्शी आत्ममय और भगवान् को प्राप्त करने की कामना वाले भगवान् के भगवत् स्वभाव को प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य आजीवन भगवत्परायण होकर यत्न करते हैं वे तो भगवान् के स्वभाव को प्राप्त करते ही हैं, मनुष्य के अतिरिक्त महा अधम पक्षी गृद्धराज जटायु ने, (अकाल मृत्यु को प्राप्त करने वाला होते हुए भी) भगवान् का स्मरण करने से सुर-दुर्लभ परम पद को प्राप्त किया। कभी भगवान् की आराधना न करने वाली चिन्तयन्ती नाम की गोपिका कृष्ण के वियोग में प्राण को त्यागने से कृष्ण भगवान् के स्वभाव को प्राप्त करने में सफल हुई।

जो दुराग्रही 'मद्भावं' का अर्थ भगवान् करते हैं वे अपनी अज्ञता प्रदर्शित करते हैं। मत् का अर्थ मम होगा। भाव, मम का सम्बन्धी है। दो में सम्बन्ध होता है, एक में नहीं। व्यक्ति का भाव, व्यक्ति नहीं होता। गीता में ही भगवान्

कहते हैं 'मम साधर्म्यमागता' कि मुक्त जीव मेरी साधर्म्यता को प्राप्त करता है । केवल भोग मात्र में ईश्वर से जीव की समता रहती है । जीव ईश्वर नहीं हो जाता । गोस्वामी तुलसी दासजी ने लिखा है । 'जीव की ईश समान' इसलिए मुक्त जीव, ब्रह्म ही नहीं हो जाता, वरन् भगवान् के स्वभाव को प्राप्त कर लेता है । सर्ग के समय न उसकी उत्पत्ति होती है न प्रलय के समय विनाश ही ।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! अन्ते यम् यम् वा अपि भावम् स्मरन् कलेवरम् त्यजति, सदा तद्भावभावितः तम् तम् एव एति ।**

अर्थ :- हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अन्तकाल में जिस जिस भी भाव को स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, सदा (यानी पहले से ही) उस भाव से भावित हुआ उस-उस भाव को प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- तीनों प्रकार के उपासक जिंस जिस भाव-(विषय) का स्मरण करते हुये अपने शरीर को छोड़ते हैं वे लोग उसी उसी विषय से प्रभावित होकर उसी विषय का स्मरण करते हैं इसलिये वे उसी विषय को प्राप्त होते हैं । कहने का आशय यह कि जो व्यक्ति जीवन भर जिस विषय का स्मरण करते हैं, मरणकाल में भी उसी विषय से प्रभावित होकर उसी विषय का स्मरण करते हैं, इसलिये वे उसी विषय को प्राप्त करते हैं । यदि आजीवन पूजा-पाठ तपस्यादि करने पर अन्त समय भगवान् का स्मरण न आकर धन, स्त्री, पुत्र, आदि का स्मरण आता है तो व्यक्ति अगले जन्म में उसी आकार का जन्म ग्रहण करता है । आदि भरत अनेक प्रकार के वैदिक कर्मों को करके धन को अपने पुत्रों में बाँटकर अपने घर से पुलह महर्षि के आश्रम पर गये । वहाँ पर बहुत दिनों तक भगवान् की आराधना करने लगे । एक बार नारायणी नदी में स्नान करके उस नदी के पास में ही बैठे थे । उसी समय सिंह के डर से डरी हुई एक हिरणी नदी के प्रवाह में कूदी और उसकी योनि से एक बच्चा नदी में गिर गया । आदि भरत उस बच्चे की रक्षा को परम धर्म मानकर उसकी रक्षा करने लगे । अन्त (मरते समय) में भी उसी हिरण के ध्यान में मग्न थे । इसलिये उन्हें मृग-योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ा । 'मृगशरीरमवाप' श्रीमद्भा. स्कंध ५, अ. ८, श्लोक २७ । इससे यह सिद्ध होता है कि मृत्यु के समय जिन-जिन विषयों का स्मरण होता है, उन्हीं-उन्हीं विषयों में पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है । मृत्यु के समय आत्मदर्शी, ऐश्वर्यकामी और भगवत्प्राप्ति-कामी जिस-जिस विषय का स्मरण करते हैं उसी को प्राप्त करते हैं । इसलिये प्रत्येक मानव को मृत्युकालीन-स्मरण को ठीक रखने के लिये पूर्व से ही उपासना करनी चाहिये । यह नहीं सोचना चाहिये कि अन्तकाल में उपासना कर लेंगे । भगवान् का ध्यान करते समय मन विषय की ओर दौड़ता है, तब मरण-समय में किस प्रकार मन भगवान् के मंगलमय विग्रह का ध्यान करेगा । घुणाक्षर न्याय से भले ही कोई स्मरण कर ले पर अन्त समय में वही स्मरण कर पाते हैं जो अभ्यासी रहते हैं ।

इसलिये प्रत्येक मानव को नित्य ही भगवान् की उपासना करनी चाहिये ताकि मृत्यु के समय भगवान् का ध्यान करके मोक्ष को प्राप्त कर सके ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

अन्वय :- **तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर च युध्य । मयि अर्पितमनोबुद्धिः असंशयम् माम् एव एष्यसि ।**

अर्थ :- इसलिए सब समयों में तू मुझको स्मरण कर और युद्ध कर (इस प्रकार) मुझमें अर्पित किये हुए मन बुद्धिवाला होकर तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।

व्याख्या :- अर्जुन उत्तमाधिकारी है । वह पूर्व में ही ऐश्वर्य को ठुकरा चुका है । वह आत्म-दर्शन नहीं चाहता । वह श्रेय मार्ग चाहता है । तभी तो कहता है 'हे भगवन् ! जो श्रेय मार्ग हो, उसीको हमें बताइये ।' भगवत्प्राप्ति ही श्रेय-मार्ग है । श्रीकृष्ण भगवान् आचार्य की हैसियत से अर्जुन को कार्य करने का आदेश दे रहे हैं । पहले कह आये हैं कि मरण समय में जिस विषय का स्मरण किया जाता है, व्यक्ति उसी विषयाकार को प्राप्त करता है । इसलिये भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि सभी काल में मेरा स्मरण करते हुये युद्ध करो । मुझमें मन और बुद्धि को अर्पित करने से मुझे प्राप्त करोगे इसमें सन्देह नहीं है । यहाँ निश्चित समय की सीमा नहीं है । योग, पूजा, जप में निश्चित समय और सीमित विधान है, किन्तु भगवान् के स्मरण करने में समय की सीमा नहीं है । सोते, खाते, उठते, बैठते भगवान् का स्मरण करना चाहिये । निरन्तर के स्मरण करने से ही अन्तकाल में भगवान् का स्मरण हो सकेगा । जिस प्रकार लगातार पढ़नेवाला ही परीक्षा में अच्छी श्रेणी से उत्तीर्ण होता है उसी प्रकार नित्य सभी समय में भगवान् का स्मरण करने वाला मरण समय में भगवान् के मंगलमय विग्रह का स्मरण करके भगवान् के समान भोग को प्राप्त कर सकता है । 'युध्य' शब्द उपलक्षण मात्र है । यहाँ पर भगवान् नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों को करने का आदेश दे रहे हैं । संध्या, वंदन, श्राद्ध, यज्ञादि को करने का आदेश दे रहे हैं ।

'च' कार से-कर्म-फल आसक्ति को त्याग करके कर्मों को करना चाहिये का-अर्थ बोध हो रहा है ।

अर्जुन ने पूर्व में कहा था 'किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव' कि हे भगवन् ! युद्ध ऐसे महान् पाप कर्मों में मुझे क्यों नियुक्त कर रहे हैं ? इसीलिये भगवान् 'युध्य' शब्द का प्रयोग कर कह रहे हैं कि युद्ध से पापी नहीं होगा । जिस दुष्ट राजा से प्रजा कष्ट पाती है उसे वध करने में तनिक भी पाप नहीं होता है । १८वें अध्याय में कहे हैं कि क्षत्रियों को युद्ध से भागना नहीं चाहिये । युद्ध क्षत्रियों का धर्म है । इसीलिये भगवान् कर्म की ओर प्रेरित कर रहे हैं । कर्म-फलासक्ति का त्याग आवश्यक है । जो लोग यह कहते हैं कि बिना कर्म त्याग किये मुक्ति नहीं प्राप्त होती, उन्हें गीता के इस श्लोक 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:' ३।२० को समझना चाहिये । जनकादि ने आसक्ति-रहित कर्मद्वारा ही मुक्ति को प्राप्त किया । इसलिये भगवान् अर्जुन के व्याज से संसार को उपदेश दे रहे हैं कि प्रत्येक मानव को कर्म-फलासक्ति का त्याग कर अपने वर्णोचित कर्मों को करते हुए प्रत्येक समय मुझ भगवान् का स्मरण करना चाहिये । जो व्यक्ति भगवान् के स्मरण में मन और बुद्धि को समर्पित किये रहता है, वह निश्चय ही भगवान् को प्राप्त होता है ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को निरन्तर भगवान् का स्मरण करना चाहिए । भगवान् वादरायण ने कहा है-

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्ति सा च विक्रिया ॥

जिस क्षण भगवान् वासुदेव का चिन्तन नहीं किया जाता, वही सबसे बढ़कर हानि और महान् दोष है और वही प्रमत्तता और भूल है । गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है--

सोई घड़ी सुलक्षणी जब लगि सीताराम ।
और घड़ी सब विष भरी आवै कौने काम ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

अन्वय :- **पार्थ ! अभ्यासयोगयुक्तेन नान्यगामिना चेतसा अनुचिन्तयन् दिव्यम् परमम् पुरुषम् याति ।**

अर्थ :- हे पृथापुत्र ! अभ्यास एवं योग से युक्त अन्य ओर न जाने वाले चित्त से (सदा) चिन्तन करता हुआ (मनुष्य) दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- नैमित्तिक आदि कार्यक्रमों को प्रतिदिन सम्यक् रूप से परिपूर्ण करने को अभ्यास कहते हैं और 'समत्वं योग उच्यते', अथवा 'योग: कर्मसु कौशलम्' सब से समान बुद्धि रखने और कर्म कार्य में कुशलता दिखाने को योग कहते हैं । ऐश्वर्य-कामी जबतक कार्यक्रमों में कुशल नहीं होते तबतक ऐश्वर्य नहीं प्राप्त कर सकते । भगवान् की आज्ञा का पालन करना ही भगवान् की सेवा है । 'श्रुतिस्मृति ममैव आज्ञे' श्रुति स्मृति भगवान् की आज्ञा है । अभ्यास और योग में निरत रहते हुए अनन्यगामी मन से परम दिव्य गुणवाले भगवान् का निरन्तर अच्छी तरह चिन्तन करता हुआ मरणकाल में ऐश्वर्यगुण विशिष्ट अप्राकृतिक गुण वाले भगवान् को प्राप्त करता है । जब सूई में सूत डालने के लिये मन को एकाग्र करना पड़ता है तब बिना मन को एकाग्र किए दिव्य गुण वाले भगवान् का अच्छी तरह चिन्तन नहीं हो सकता है । जो नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों को करता हुआ एकाग्र मन से अप्राकृतिक गुण वाले भगवान् का सम्यक् चिन्तन करता है वह यदि इस देह से पूर्वजन्म के पाप के कारण ऐश्वर्य को नहीं प्राप्त कर सकता है तो दूसरे जन्म में अवश्य ही श्रीमानों के गृह में जन्म ग्रहण करता है ।

अत: ऐश्वर्य की कामना करने वाले व्यक्ति को वेद-विहित कार्यक्रमों को करते हुये प्रतिदिन एकाग्रचित से भगवान् का स्मरण करना चाहिए जिससे ऐश्वर्य सम्पन्न होकर लौकिक और पारलौकिक सुखों को प्राप्त कर सके ।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

अन्वय :- **यः कविं पुराणम् अनुशासितारम् अणोः अणीयांसम् सर्वस्य धातारम् तमसः परस्तात् आदित्यवर्णम् अचिन्त्यरूपम् अनुस्मरेत् ।**

अर्थ :- जो कवि (यानी सर्वज्ञ) पुरातन, अनुशासता (यानी अनुशासन करने वाले) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सबके धारण

पोषण करने वाले, अचिन्त्यस्वरूप, अन्धकार से परे सूर्य के समान वर्णवाले (परमेश्वर) का अनुचिन्तन करता है ।

व्याख्या :- ऐश्वर्यकामी के लिए उपास्य और उपासना-विधि को बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि जो लोग ऐश्वर्य की कामना करते हैं उन्हें भगवान् का नित्य ही अनुस्मरण करना चाहिये । वे भगवान् कैसे हैं-इसका निरूपण करते हुये कह रहे हैं कि भगवान् कवि हैं । अर्थात् सर्वज्ञ हैं, सभी प्राणियों की आन्तरिक बातों के साथ ब्रह्माण्ड के भेद प्रभेद सहित सभी चराचर को जानने वाले हैं । वे पुराण हैं । अर्थात् सृष्टि के आदि में वे ही थे । ब्रह्मा-जिससे सृष्टि हुई है, भगवान् के नाभिकमल से उत्पन्न हुये हैं । ये प्राणियों को कर्म के पश्चात् दण्ड देने वाले हैं । यों तो बुरे कर्म करने के पूर्व ही हृदय में भय उत्पन्न कर देते हैं किन्तु दण्ड बुरे कर्मों के बाद में देते हैं । सीता जी ने लक्ष्मण जी को मर्म-वचन से आहत किया था इसलिये उन्हें लंका नगरी में दस माह तक बिना अन्न जल के रखे । श्रवण कुमार का वध करने वाले दशरथ को बाद में दण्ड मिला ।

भगवान् अणु जीव से भी अणु हैं । कठोपनिषद् में बताया गया है कि भगवान् अणु से भी अणु हैं । यानी सभी के धारण करने वाले और पोषण करने वाले हैं । जिस प्रकार पिता अपने सुयोग्य पुत्र के लिये कष्ट सहते हुए पुत्र का पोषण करता है और दुष्ट पुत्रों को त्याग देता है उसी प्रकार 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' (गी. ११।४३) सम्पूर्ण चराचर के पिता भगवान् अपने सुयोग्य कर्मठ पुत्रों का पालन-पोषण करते हैं और दुराचारी को कष्ट देते हैं । भगवान् अचिन्त्य रूप हैं । अर्थात् इनके रूप का चिन्तन भौतिक पदार्थों की भाँति नहीं किया जा सकता है । कभी अनन्तभुज वाले बन जाते हैं, कभी द्विभुज और कभी चतुर्भुज । भगवान् आदित्य वर्णवाले हैं । अर्थात् सबके प्रकाशक हैं अथवा सूर्य के समान प्रभाव वाले हैं अथवा हिरण्मय हैं । आदित्यवर्ण की उपमा देकर भगवान् ने यह बताया कि पातिव्रत्य धर्म के कारण ही माता अदिति सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र को अपने गर्भ में धारण कर सकीं, इसलिये प्रत्येक नारी को पातिव्रत्य धर्म का पालन करना चाहिये । हिरण्मय भगवान् तम यानी माया से परे रहने वाले हैं । ये मायापति हैं ।

यह श्लोक युग्मक है । इसका सम्बन्ध अगले श्लोक से है । उपर्युक्त वर्णित भगवान् को जो अपने भ्रुवों के मध्य में अच्छी तरह स्मरण करता है वह इष्ट वस्तु को प्राप्त करता है ।

इसलिये भगवान् को भृकुटी के मध्य में नित्य ही स्मरण करना चाहिये । जो लोग मन्दिर और तीर्थों में नहीं जा सकते हैं, वे भगवान् की आज्ञा का पालन करते हुये भ्रुवों के मध्य भगवान् का स्मरण करके इच्छित ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकते हैं ।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

अन्वय :- **सः भक्त्या युक्तः प्रयाणकाले अचलेन मनसा च योगबलेन भ्रुवोः मध्ये प्राणम् सम्यक् आवेश्य तम् दिव्यम् परम् पुरुषम् एव उपैति ।**

अर्थ :- वह भक्ति से युक्त पुरुष प्रयाणकाल (यानी मरने के समय) अचल किये हुये मनसे और योगबल से दोनों

भृकुटियों के बीच में प्राण को अच्छी तरह स्थित करके या प्रविष्ट करके, उस दिव्य परम पुरुष को ही प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- भगवान् ऐश्वर्य-कर्मियों को ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए सरल उपाय और उपास्य स्थान बताते हुये कह रहे हैं कि पूर्व के श्लोक में बताये गये भगवान् की उपसना के लिये न मन्दिर की ही आवश्यकता है न पत्र-पुष्प फल और तोय की ही आवश्यकता पड़ती है । केवल अचल मन से, भक्ति-युक्त योगबल के द्वारा भुवों के मध्य में प्राण को अच्छी तरह ले जाकर मरणकाल में जो पूर्व श्लोक में वर्णित भगवान् को भ्रुवों के मध्य में ध्यान में रखते हैं, वे दिव्य पर पुरुष को प्राप्त करते हैं, अर्थात् भगवान् के समान ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं । श्लोक युग्मक होने कारण इस श्लोक का कर्ता यः (जो) पूर्व श्लोक में है और 'उपैति' क्रिया इस श्लोक में है ।

ईश्वर में परानुरक्ति को भक्ति कहते हैं । कार्य-कुशलता और समता को योग कहते हैं । ऐश्वर्यकामी भक्त को भक्ति-युक्त योगबल के द्वारा निश्चल मन से उपासना करनी चाहिए । इस श्लोक में भगवान् के ध्यान का स्थान नहीं बताया गया है । केवल हृदय में रहने वाले प्राण को भ्रुवों के मध्य में ले जाने के लिए कहा गया है । प्रमाणाभाव में भ्रुवों के मध्य में ही ८वें श्लोक में वर्णित-'कविं पुराणं' भगवान् का पूर्व काल में अचल मन से ध्यान करते हुये मरण काल में भी उसी स्थान में प्राण को ले जाकर स्मरण करने से ऐश्वर्य को प्राप्त करता है । जब साधक का मन अचल हो जाता है तब उसे सर्प-दंश का भी ज्ञान नहीं रहता । बिना मन के निश्चल हुये भ्रुवों के मध्य में प्रभु का स्मरण असम्भव है । जो लोग परं पुरुष का अर्थ ब्रह्म करते हैं, वे प्रकरण को समझे बिना ही अशुद्ध अर्थ करते हैं । यहाँ ऐश्वर्यें-कामियों का प्रकरण है । ऐश्वर्य-कामी यदि ऐश्वर्य को न पाकर परमात्मा को प्राप्त करता है तो उपासना विधि में दोष उत्पन्न हो जाती है । ऐश्वर्यकामी ऐश्वर्य के लिए ही अचल मन से भक्ति-युक्त योगबल के द्वारा ईश्वर की उपासना भ्रुवों के मध्य में करता है । इसलिए 'परम् पुरुषमुपैति दिव्यं' का तात्पर्य भगवान् की भाँति ऐश्वर्य को प्राप्त करता है । जिस प्रकार लक्ष्मी जी भगवान् के चरणों की सेवा के लिए अहर्निश तेयार रहती हैं और अवतार ग्रहण करने पर भी उनका साथ नहीं छोड़ती हैं उस भाँति बताये गये साधन के द्वारा भगवान् की उपासना करने वालों के ऊपर भगवान् की कृपा होने से लक्ष्मी की कृपा हो जाती है । श्रीदेवी उनके यहाँ पैर तोड़ कर बैठ जाती हैं । साधारण काम में उसे लाभ ही लाभ होता रहता है । अतः भगवान् का सा ऐश्वर्य प्राप्ति करता है - तत्समानैश्वर्यो भवति' (गीता, श्री रामानुजभाष्य)

इसलिये ऐश्वर्य की कामना करने वालों को कार्य-कुशलता और समता रूपी योग को करना चाहिये । बिना पुरुषार्थ के प्रारब्ध नहीं फलित होता । पतिव्रता नारी की भाँति कुटुम्ब रूपी अन्य देवों की उपासना करते हुए भी पति रूपी परमेश्वर की उपासना भ्रुवों के मध्य में अचल मन से नित्य करनी चाहिए । नित्य उपासना करने से मरण काल में भी भगवान् का चिन्तन और प्राण भ्रुवों के मध्य में होने से भगवान् के समान ऐश्वर्य प्राप्त होता है ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

अन्वय :- वेदविदः यत् अक्षरम् वदन्ति, वीतरागाः यतयः यत् विशन्ति, यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यम् चरन्ति, तत्

पदम् ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।

अर्थ :- वेदवेत्ता जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिगण जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस पद को तुझे संक्षेप में कहूँगा ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में, प्रकृति-विनिर्मुक्त आत्म-दर्शी के देहावसान के समय स्मरण के प्रकार और उपासना-विधि को बताने के लिये भूमिका बाँधते हैं । एक हजार एक सौ इकतीस शाखाओं वाले वेदों को जानने वाले सनत्कुमार प्रभृति, अस्थूलादि-गुणविशिष्ट जिस परमात्मा को अक्षर-(कभी नहीं नाश होने वाला) कहते हैं । अर्थात् ब्रह्म न स्थूल है न सूक्ष्म है, न दीर्घ ही न कभी नष्ट होने वाला ही है । गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् कह चुके हैं "अविनाशि तु तद्विद्धि' कि ब्रह्म अविनाशी है ।

हृदय से राग नष्ट हो जाने वाले यत्नशील जिस ब्रह्म में इस प्रकार प्रवेश करते हैं जैसे समुद्र में नदी प्रवेश करती है । 'योगरुढ़ि बलीयसी' के कारण रथाधिकरणन्याय से यतिशब्द का अर्थ संन्यासी होता है । 'यतिधर्म-समुच्चय' 'यतिराजविंशति:' 'यतीन्द्रधमार्तण्ड' आदि पुस्तकों में यति शब्द 'संन्यासी' के लिये आया है । इसलिए 'यतयो' बहुवचन का अर्थ सन्यासियों ही होगा, सुत, धन और स्त्री की ईषणा से मुक्त चारों प्रकार के संन्यासी-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस, याज्ञवल्क्य प्रभृति जिस ब्रह्म में प्रवेश करते हैं और अष्टांग मैथुनों को त्याग करने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी हनुमान आदि एवं कुछ दिनों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके स्वभार्या व्रत का पालन करके स्वभार्या से समयानुसार मैथुन करने वाले गृहस्थ ब्रह्मचारी भरत प्रभृति जिस ब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं उस पद को भगवान् संक्षेप में कहने की प्रतिज्ञा करते हैं । जिसके द्वारा अक्षर प्राप्त होता है उसे पद कहते हैं । पद-धातु का गति गम्यते-प्राप्यते अनेन इति-जिसके द्वारा अक्षर तक जाया-जाय या अक्षर-कूटस्थ आत्मा को पाया जाय, अर्थ होता है । जिसे प्राप्त कर जीव उसी प्रकार नहीं लौटता जैसे नदियों का स्रोत समुद्र में प्रवेश कर नहीं लौटता ।

इस श्लोक के द्वारा भगवान् ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि केवल संन्यासी ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । अथवा केवल गृहस्थ ही मुक्त हो सकते हैं । यह आवश्यक नहीं है कि केवल विशिष्ट देश और वर्ण के ही मनुष्य मुक्त हो सकते हैं । हिन्दु, मुसलमान, इसाई, फारसी आदि ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से अथवा संन्यास-ग्रहण से मुक्त हो सकते हैं । जिसको जो मार्ग अभीष्ट हो - उसका अनुसरण करते हुये मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने का प्रयत्न करना चाहिये अथवा कुछ दिनों तक ब्रह्मचर्य व्रत का प्रयत्न करना चाहिये अथवा कुछ दिनों तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर शास्त्रानुसार गृहस्थ जीवन को अपना कर मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए । संन्यासी होने से ही मुक्ति नहीं मिल जाती । संन्यासी-धर्म को पालन करने से मोक्ष प्राप्त होता है । जो लोग ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुये भगवान् और भागवत की सेवा करने के लिए तत्पर रहते हैं वे लौकिक सुखों को प्राप्त कर अन्त में परमानन्द को प्राप्त करते हैं ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

(यह श्लोक युग्मक है, अग्रिमश्लोक में कर्ता और क्रिया दोनों हैं -अत: 'स: याति परमांगतिम्' आदि को लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- **सर्वद्वाराणि संयम्य, मनः हृदि निरुध्य च, आत्मनः प्राणम् मूर्ध्नि आधाय योगधारणाम् आस्थितः।**

अर्थ :- समस्त द्वारों (इन्द्रियों) को रोक कर मन को हृदय में निरुद्ध करके, अपने प्राण को मस्तक में ठहरा कर, योगधारणा में स्थित होकर (मेरे स्मरण के साथ जो शरीर छोड़कर जाता है, वह परम गति पाता है)

व्याख्या :- भगवान् ने इस श्लोक में प्रकृति-विनिर्मुक्त आत्मदर्शी के लिये साधन बताया है। कैवल्य-प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण द्वार जिन इन्द्रियों से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि विषय की ओर इच्छा बढ़ती है, का संयम करके, हृदय में मन को रोककर, दशम द्वार में अपने प्राण को ले जाकर, योगनामक धारणा में जो स्थित रहता है वह मरण काल में भगवान् के नाम का उच्चारण और भगवान् का स्मरण करके भगवदाकार कूटस्थ आत्मा को प्राप्त करता है।

चौरासी लाख योनियों में विचरण करने से मन विषयों की ओर अनायास जाता है। जब मन का निरोध हो जाता है, तब इन्द्रियाँ भी विषय की ओर जाने पर भी वश में हो जाती हैं। मन जब एकबार परमानन्द को प्राप्त कर लेता है तब विषयानन्द की ओर उस भ्रमर की भाँति नहीं जाता है जो कमल-रस का आनन्द लेने पर तालमखाने की ओर एक बार भी देखता तक नहीं। यामुनमुनि ने बहुत ही सुन्दर लिखा है।

'स्थितेऽरविन्दे मकरंदनिर्भरे, मधुव्रतो नेक्षुरकम् हि वीक्षते'।

प्राणवायु और भगवान् का निवास हृदय में रहता है। गीता के पन्द्रहवें और अठारहवें अध्याय में बताया गया है कि भगवान् हृदय में अन्तर्यामी रूप से रहते हैं। श्रुति भी कहती है। 'हृदयं तं विजानीयात्' उस ईश्वर को हृदयस्थ समझें। प्राणवायु को दशमद्वार में ले जाकर हृदय में प्रभु का चिन्तन आत्मदर्शी को करना चाहिये। केवल तिलक करने और माला के जपने से आत्म-दर्शन नहीं हो सकता है। इसलिए योगधारण में स्थित होकर प्राणवायु मस्तक में ले जाने का अभ्यास करना चाहिये।

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। पा. यो. द. विभूतिपाद ॥१॥

चित्त को वृत्तिमात्र से किसी स्थान विशेष में बाँधना धारणा है। योगधारणा में स्थित होकर जो उपर्युक्त बताये गए उपाय के अनुसार अगले श्लोक में उपदिष्ट ब्रह्म का स्मरण करते हुए शरीर को त्यागता है वह प्रकृतिमुक्त आत्मा को प्राप्त करता है।

इसलिये आत्म-दर्शन की अभिलाषा करने वाले साधकों को विषयों से मन सहित इन्द्रियों को हटाकर प्राण वायु को, योग धारणा में स्थित होकर मस्तक में ले जाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे अन्त समय 'ऊं' नाम का जप और भगवान् का हृदय में ध्यान कर मुक्त आत्मा को प्राप्त कर सकें।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

(यह युग्मक श्लोक है, अत: पूर्व श्लोक के सर्वद्वाराणि संयम्य.......आदि पद लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- **ओम् इति एकाक्षरम् ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन् देहं त्यजन् य: प्रयाति, स: परमाम् गतिम् याति।**

अर्थ :- (उपर्युक्त ढंग से सभी इन्द्रियों को रोक कर प्राण को मस्तक में चढ़ाकर) ओं इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए और मुझे स्मरण करते हुए शरीर त्याग कर जो प्रयाण करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- प्रकृति-मुक्त आत्म-दर्शी पूर्व के श्लोक-सर्वद्वाराणि संयम्य.....के अनुसार साधना करते हुये ब्रह्म के नाम 'ॐ' का जप करते हुये और ब्रह्म के मङ्गलमय विग्रह का स्मरण करते हुये प्राण वायु को दशमद्वार पर ले जाकर यदि देह का परित्याग करते हैं तो वे परम गति-(मुक्त आत्मा) को प्राप्त करते हैं । इस श्लोक में 'ॐ' ब्रह्म का नाम है । जो लोग 'ॐ' को ब्रह्म मानते हैं अपनी अज्ञता प्रदर्शित करते हैं । 'ॐ' अक्षर वर्ण वाचक है । वाच्य ब्रह्म का नाम है । महर्षि पतञ्जलि ने भी लिखा है "तस्य वाचक: प्रणव:" उस ब्रह्म का वाचक नाम 'ॐ' है । 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' यो० द० समाधिपाद । उस 'ॐ' शब्द का जप और उसके स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये ।

आत्मदर्शी उपासकों के लिये तीन कर्म अनिवार्य हैं ।

(१) प्राणवायु को मस्तक में ले जाना, (२) ॐ नाम का जाप करना, (३) भगवान् के मंगलमय विग्रह का हृदय में स्मरण करना, तीन क्रियाओं को करते हुए जो शरीर त्याग करता है वह परम गति जन्म-मरण रहित प्रकृति-मुक्त आत्मा को प्राप्त करता है । परम गति को स्पष्ट करते हुये इसी अध्याय के २१ वें श्लोक में कहे हैं कि "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु: परमां गतिम्' जो नेत्रादि से अगम्य अक्षर-'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' गी. १५।१६ । मुक्त आत्मा को ऋषियों ने परम गति कहा है । इसलिये परम गति का अर्थ परमात्मा न होकर प्रकृतिमुक्त जन्म-मरण-रहित मुक्त आत्मा होगा । आत्मदर्शी दूसरी मुक्त आत्मा को प्राप्त करता है ।

इसलिये जो केवल कैवल्य प्राप्ति करना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त क्रियाओं को नित्य-प्रति करते रहना चाहिये, तभी अन्त में भगवान् के नाम और रूप का स्मरण होने से प्रकृति-मुक्त आत्मा की प्राप्ति हो सकेगी ।

अनन्यचेता: सततं यो मां स्मरति नित्यश: ।
तस्याहं सुलभ: पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन: ॥१४॥

अन्वय :- **पार्थ ! य: अनन्यचेत्ता: सततं नित्यश: माम् स्मरति, तस्य नित्ययुक्तस्य योगिन: अहम् सुलभ: ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! जो अनन्यचित्तवाला (भक्त) लगातार नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त (नित्य मेरा संयोग चाहने वाले) योगी के लिए मैं सुलभ हूँ ।

व्याख्या :- आत्मदर्शी को, उपासना-विधि बताकर भगवान् इस श्लोक से ज्ञानी भगवदुपासकों को-जो भागवत्प्राप्ति चाहते हैं उपासना-विधि को बताते हुए कह रहे हैं कि जो ज्ञानी भगवदुपासक, निरन्तर अन्यन्य चित्त से मुझको स्मरण करता रहता है, मुझमें नित्य लगे रहने वाले उस योगी के लिये मैं अति सुलभ रहता हूँ । भगवान् के कहने का आशय

यह है कि जो लोग मुझे प्राप्त करना चाहते हैं वे निरन्तर प्रत्येक क्षण परम कारुणिक भगवान् का ही स्मरण करते हैं और उनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही रहता है । बीच में उन्हें भले ही ऐश्वर्य, पुत्र वनिता मिल जाय पर उनमें उनकी आसक्ति नहीं रहती । भगवान् की आज्ञा समझकर सबकी रक्षा करते हुये अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं । कठिनसे कठिन विपत्तियाँ आती रहती हैं पर अपने लक्ष्य से उसी प्रकार नहीं विचलित होते जिस प्रकार असंख्य हथौड़े की चोट से निहाय नहीं विचलित होता ।

इस प्रकार जो ज्ञानी भगवदुपासक, भगवान् में नित्य युक्त रहता है उसके लिए भगवान् सुलभ सुन्दर लाभ प्रदान करते हैं । यदि जन्मान्तर के पाप से मरण के समय कंठावरोध के कारण भगवान् का नामोच्चारण नहीं भी कर पाता तब भी भगवत्कृपा से उसकी बुद्धि ठीक रहती है, जिसके कारण भगवान् के मंगलमय विग्रह का स्मरण करते हुए भगवान् को प्राप्त करता है । भगवान् में नित्य लगे रहने के कारण भगवान् उस उपासक को इस प्रकार रक्षा करते हैं, जैसे बिल्ली अपने बच्चों की रक्षा किया करती है । गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने स्वयं ही कहा है कि-

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ (गी. १०।१०-११)

निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुये प्रेमपूर्वक भजन वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे कि वे मुझको प्राप्त करते हैं और उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में एकीभाव से स्थित हुआ अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञानी रूपी दीपक द्वारा नष्ट करता हूँ ।

जबतक भगवान् स्वयं जीव का वरण नहीं करते, तबतक जीव भगवान् को नहीं प्राप्त कर सकता । भगवान् उसीको स्वीकार भी करते हैं जो अपनी उपासना के अभिमान को छोड़कर भगवान् की कृपा की ही प्रतीक्षा किया करता है और भगवान् के बिना एक क्षण भी जीवन धारण करना नहीं चाहता । मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है -

''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'' (मुण्डक. ३ । खं.-२ । श्लो. ३)

भगवान् उसी को प्राप्त होते हैं जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं । जो लोग अन्यन्यचित्त से भगवान् की उपासना करते हैं उन्हीं के उपर भगवान् करुणा करते हैं । मुसलमान बादशाह के समय काशी में एक माधव दास नामक संत रहते थे । ये एकबार 'माधवदास के धरहरा'--जो कुछ वर्ष पूर्व तक काशी में था-के पास बैठे हुए थे । इसी बीच एक फकीर आकर कहने लगा कि यह मेरा धरहरा है । इसपर माधवदास ने कहा ''तुम्हारा नहीं यह मेरा धरहरा है । दोनों संत झगड़े की निबटारा के लिए बादशाह के पास गये । बादशाह ने दोनों फकीरों से कहा कि जो धरहरा के ऊपर चढ़कर कूदेगा उसी का माना जायेगा । माधवदास जी चढ़ गये और 'राम राम' कहते हुए कूद पड़े । उनका बाल बाँका भी नहीं हुआ । फकीर महोदय जब चढ़े तब ऊपर 'खुदा खुदा' कह कर कूदे । जब कुछ दूर आए तब उन्होंने यह सोचकर कि 'राम राम' कहने से माधवदास बच गये, 'राम राम' कहने लगे । परिणाम यह हुआ कि जब भूमि पर आए
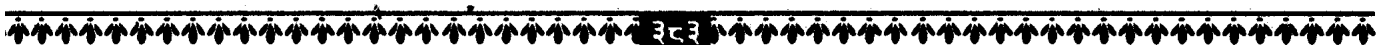
तब सिर फट गया और जब लोगों ने सिर फूटने का कारण पूछा तब फकीर ने उत्तर दिया कि 'राम खोदाई' में यह दशा हुई ।

कहने का आशय यह कि भगवान् में अनन्यता होनी चाहिए । उपाय और उपेय भगवान् को ही समझना चाहिए अनेक विपत्तियों को सहते हुए भगवत्प्राप्ति के लक्ष्य से विचलित नहीं होना चाहिए ।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुखालयमशाश्वतम्
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

अन्वय :- **माम् उपेत्य परमाम् संसिद्धिम् गताः महात्मानः दुःखालयम् अशाश्वतम् पुनर्जन्म न आप्नुवन्ति ।**

अर्थ :- मुझे प्राप्त होकर परम संसिद्धि को पाये हुए महात्मा लोग दुःखों के घर रूप अनित्य पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवत्प्राप्ति के फल को बताया गया है । जो ज्ञानी महात्मा परम संसिद्धि-(मोक्ष) को प्राप्त कर भगवान् के समीप पहुँच जाता है वह दुःख के गृह और अनित्य पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त करता है । इस श्लोक में भगवान् ने 'महात्मा शब्द का प्रयोग कर यह बताया है कि मैं तो केवल आत्मा ही हूँ किन्तु महात्मा लोग महान् आत्मा वाले हैं । महात्माओं का जन्म-सिद्ध स्वभाव ही विलक्षण होता है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है-

विपदिधैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमश्च ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

महात्मा विपत्ति में धैर्य धारण करते हैं । प्रह्लाद पर अनेक असह्य विपत्तियाँ आयीं पर भगवदुपासना को नहीं त्यागा । महात्मा गाँधी ने महान् विपत्तियों को सहा पर वे सत्य और अहिंसा से विचलित नहीं हुये । अभ्युदय यानी धनजन-वृद्धि होने पर क्षमाशील बनते हैं । सभा में वाणी की चतुरता को दिखलाते हैं । वादियों को परास्त करते हैं । युद्ध में पराक्रम दिखाते हैं । हनुमान् जी और भीष्म पितामह महात्मा थे, उनके पराक्रम को कौन नहीं जानता है । उनकी अभिरुचि यशवृद्धि में रहती है ।

ऐसे महात्मा भगवान् को प्राप्त कर फिर माता के पयोधर के रस का पान कभी नहीं करते हैं, जैसा कि कहा गया है-

ये मानवा विगतरागपराऽपरज्ञा नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति ।
ध्यानेन तेन हतकिल्बिषचेतनास्ते, मातु-पयोधररसं न पुनः पिबन्ति ॥ महाभारत ॥

जो व्यक्ति रागरहित होकर सुर-गुरु नारायण को स्मरण करते हैं वे पापरहित होकर फिर कभी माता के पयोध र के दूध को नहीं पीते हैं ।

पुनर्जन्म अत्यन्त दु:ख का घर है । "अत्यन्त मलिनो देह:" कहा गया है कि देह अत्यन्त मलिन है । इसको कितनाहूँ सबुन से धोया जाता है पर देह मलिन ही रहता है, तो बिना अन्त: पवित्रता रखे ही मन किस प्रकार शुद्ध हो सकेगा ? बार-बार जन्म ग्रहण से जीव दैविक, दैहिक और भौतिक दु:खों से कष्ट पाया करता है । ऐश्वर्य-प्राप्ति करने पर भी उसके दु:ख कम न होकर बढ़ते ही रहते हैं । इन्द्रादि देव ऐश्वर्य सम्पन्न होते हुये भी मनुष्य-तन प्राप्त कर मोक्ष पाने की कामना करते रहते हैं । जो लोग भगवदुपासना से भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं वे जन्म-मरण से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त करते हैं । इसलिये प्रत्येक मानव को भगवदुपासना से भगवत्प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये ।

आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

अन्वय :- **अर्जुन ! आब्रह्मभुवनात् लोका: पुनरावर्तिन:, तु कौन्तेय ! माम् उपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! ब्रह्मभुवन (यानी ब्रह्मलोक) पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं, परन्तु हे कुन्ती-पुत्र ! मुझे पा लेने पर (यानी मुझ ईश्वर के पास आकर) पुन: जन्म नहीं होता ।

व्याख्या :- जो लोग ऐश्वर्यादि प्राप्त करते हैं वे जन्म-मरण से मुक्त नहीं हो पाते । अन्य देवों की उपासना से यदि सुरलोक, ब्रह्म-लोक, सूर्यलोक चन्द्रलोक को भी प्राप्त कर लेते हैं तौभी एक दिन मर्त्य-लोक में पुन: आना पड़ता है । इसी को बताते हुये भगवान् कह रहे हैं कि ब्रह्मलोक से लेकर सभी लोक में गये इस मर्त्यलोक में आने वाले हैं, किन्तु मुझको प्राप्त कर पुनर्जन्म को भक्त नहीं प्राप्त करते । इस श्लोक से भगवान् ने यह सिद्ध कर दिया है कि ऐश्वर्यकामियों से भगवत्प्राप्ति करने वाले भक्त बहुत उत्तम हैं ।

ब्रह्मा-पर्यन्त सभी लोक एक दिन नष्ट हो जाते हैं, इसलिये उन लोकों में निवास करने वालों को भी पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है, और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है, किन्तु भगवान् के समीप जाकर जीव पुन: जन्म नहीं ग्रहण करता है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्पष्ट कहा है-

'अंत राम कहि, आवत नाहीं' । जो व्यक्ति राम कहते हुये शरीर छोड़ते हैं, वे भगवान् के समीप पहुँच कर पुन: नहीं लौटते ।

इसलिये प्रत्येक मानव को परमकरुणावरुणालय भगवान् की उपासना नित्य ही अनन्य चित्त से करनी चाहिये जिससे भगवान् को प्राप्त कर पुन: जन्म न ग्रहण करना पड़े ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदु: ।
रात्रिं युगसहस्रान्तं तेऽहोरात्रविदो जना: ॥१७॥

अन्वय :- **ब्रह्मण: यत् सहस्रयुगपर्यन्तम् अह:, युगहसस्रान्ताम् रात्रिम् विदु: ते जना: अहोरात्रविद: ।**

अर्थ :- ब्रह्मा का जो सहस्र युग तक रहने वाले दिन, सहस्र युग तक रहने वाली रात्रि को जानते हैं, वे लोग अहोरात्र के ज्ञाता हैं या दिन-रात्रि को जानने वाले हैं ।

व्याख्या :- भगवान् के देशकाल और वस्तु से अपरिच्छेद होने के कारण वे अनन्त कहलाते हैं । ब्रह्मा, इन्द्र आदि सभी देश काल और वस्तु से परिच्छिन्न हैं । भगवान् के सत्य संकल्प से जिस काल की उत्पत्ति हुई है उस काल के एक हजार युगों के बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन बीतता है । कहने का आशय यह कि जब चारो युग एक हजार बार व्यतीत होते हैं तब ब्रह्मा का एक दिन व्यतीत होता है । भागवत के १२वें स्कन्ध में कहा गया है 'चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते' ब्रह्मा का दिन एक हजार चतुर्युग का होता है । इसी को कल्प कहते हैं और इसमें क्रमशः चौदह मनु बीतते हैं । ब्रह्मा जी अपने दिन में सृष्टि करते हैं । उनकी सृष्टि में प्राणी अपने अपने कर्म के अनुसार तिर्यक् मनुष्य पितर तथा देवताओं की योनि में जन्म लेते हैं ।

''एष दैनन्दिनः सर्गो ब्रह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः ।
तिर्यङ्नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः ॥ (भागवत पु. स्क. ३ अ. ११ मं-२५)

हजार युगों के बीतने पर ब्रह्मा की रात्रि बीतती है । अर्थात् ब्रह्मा की रात्रि एक हजार-चतुर्युग की होती है । इस रात्रि में ब्रह्मा सोते हैं । और सृष्टि का प्रलय होने लगता है । ''तदन्ते प्रलये तावान् ब्राह्मी रात्रीरुदाहृता भा. पु. १२ स्कंध अ.४ श्लोक ३ ।' इस प्रलय में सभी तत्त्व अपने अपने कारण में लीन होने लगते हैं । पृथ्वी जल में मिल जाती है जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में । इसी प्रकार सभी सृष्टि नष्ट हो जाती है । ब्रह्मा अपने दिन के अनुसार एक सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं । आयु के बीत जाने पर अपने लोक सहित नष्ट हो जाते हैं । इसलिये ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वाला ऐश्वर्यकामी भी ब्रह्मा के साथ नष्ट हो जाता है ।

जो इस प्रकार जानते हैं वे ही ब्रह्मा के दिन और रात्रि को जानने वाले हैं ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सोचना चाहिये कि ऐश्वर्यकामी यदि ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कर लेते हैं तौभी उन्हें कालान्तर में जन्म-मरण के चक्र में फँसना पड़ता है । इसलिये माता के पयोधर के रस को पुनः नहीं पीने की कामना करने वालों को भगवान् की भक्ति करते हुये संत-महात्माओं की सेवा करनी चाहिये ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

अन्वय :- **अहः आगमे अव्यक्तात् सर्वाः व्यक्तयः प्रभवन्ति, रात्र्यागमे तत्र अव्यक्तसंज्ञके एव प्रलीयन्ते ।**

अर्थ :- दिन (यानी ब्रह्मा के दिन) के आरम्भ समय में अव्यक्त से सभी व्यक्तियाँ (देहेन्द्रिय भोग्यभोगस्थानरूपा व्यक्तियाँ) उत्पन्न होती हैं और रात्रि के आरम्भ समय में उस अव्यक्त नाम वाले (तत्त्व) में ही लीन हो जाती हैं ।

व्याख्या :- ऐश्वर्यकामी, भोग, भोगोपकरण और भोगस्थान से कभी न कभी नष्ट हो जाते हैं । ब्रह्मा, इन्द्र वरुण लोक आदि भोगस्थान हैं, शरीर भोगोपकरण है और उनके साथ सुख भोगना भोग है । जब ब्रह्मा की रात्रि होती है तब ऐश्वर्यकामी भोग, भोगोपकरण और भोगस्थान से नष्ट हो जाते हैं और जब रात्रि बीतने पर ब्रह्मा का दिन आता है तब

अव्यक्त-(इन्द्रियों से अगम्य) ब्रह्मा परमपिता परमात्मा का ध्यान करके अपने शरीर से जीवों के कर्मानुसार सम्पूर्ण जीवों की सृष्टि करते हैं । जब प्रजापति का दिन आता है तब प्रजापति के शरीर से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है । मनुस्मृति में भी कहा गया है कि "सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधा प्रजा" ब्रह्मा भगवान् का अच्छी तरह ध्यान कर अपने शरीर से सम्पूर्ण व्यक्तियों को उत्पन्न करते हैं ।

ब्रह्मा की रात्रि के आने पर सम्पूर्ण व्यक्तियों का अव्यक्त नामक प्रजापति के शरीर में लय हो जाता है । जैसे कटक, कुण्डल नष्ट होकर स्वर्ण हो जाता है और स्वर्ण नष्ट होकर मिट्टी हो जाता है, उसी भाँति सभी पदार्थ अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं । जैसा कि महाभागवत पुराण के १२वें स्कन्ध में कहा गया है-

तदा भूमेर्गन्धगुणग्रसन्त्याप उदप्लवे,
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयस्त्वाय कल्पते ।
अपां रसमथो तेजस्तथा लीयन्तेऽथ नीरसा:,
ग्रसते तेजसोरूपं वायुस्तद्रहित सदा ।
लीयते चानिले तेजो वायो: खं ग्रसते गुणं,
स वै विशति खं राजस्ततश्च नभसो गुणम् ॥
अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम् ।

प्रलय हो जाने पर पृथ्वी के गुण गन्ध को जल ग्रस लेता है । गंध ग्रस लिए जाने पर पृथ्वी का लय हो जाता है । तदनन्तर जलका गुण रस, तेज में लीन हो जाता है और रस-हीन होकर जल नष्ट हो जाता है । तेज के गुण रूप को वायु निगल लेती है और तेज रूप-रहित होकर वायु में लीन हो जाता है । वायु के गुण को आकाश ग्रस लेता है और वह गुण आकाश में लीन हो जाता है । तदनन्तर आकाश के गुण शब्द को भूतों का कारण-स्वरूप तामस अहंकार अपने में लीन कर लेता है, अतएव आकाश उसी में लय हो जाता है । इस प्रकार सभी अपने-अपने कारण में लीन होते हुये अव्यक्त में लीन हो जाते हैं ।

इसलिए ऐश्वर्यकामियों को सोचना चाहिये कि ऐश्वर्य-प्राप्ति से वे जन्म-मरण के सागर को नहीं पार कर सकते हैं । यदि वे तपस्या और भगवदुपासना से ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कर लें तो भी ब्रह्मा के सौ वर्ष बीतने पर ब्रह्मा के लोक के साथ नष्ट होकर 'पुनरपिजननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननीजठरे शयनम्', को चरितार्थ करते हैं । अत: प्रत्येक उपासक को भगवत्प्राप्ति के हेतु उपासना करनी चाहिए, जिसे प्राप्त कर जीव कभी नहीं जन्म ग्रहण करता है ।

भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

अन्वय :- **पार्थ ! स: एव अयं अवश: भूतग्राम: भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे प्रलीयते, अहरागमे प्रभवति ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! वही यह अस्वतन्त्र (यानी कर्माधीन, भूतसमुदाय यानी प्राणि-समुदाय) उत्पन्न हो होकर रात्रि के

आरम्भ (यानी ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ) में लीन हो जाता है और दिन के आरम्भ समय में उत्पन्न हो जाता है ।

व्याख्या :- ऐश्वर्यकामियों के भोग भोगोपकरण और भोग स्थान सभी नश्वर हैं । इसीको बताते हुये भगवान् अंगुली दिखाकर अर्जुन से कह रहे हैं कि ये भूत समूह सभी निश्चय करके अपने कर्मानुसार बार-बार होकर नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् पृथ्वी जल वायु आदि जड़ भूत और चेतन प्राणी के अतिरिक्त ब्रह्म-लोक भी रात्रि (प्रलय-काल) के आने पर नष्ट हो जाता है और जब ब्रह्मा का दिन आता है तब सभी जीव कर्म-परतंत्र होकर उत्पन्न होते हैं । 'अवशः' शब्द का प्रयोग कर भगवान् ने यह बताया है कि वे जीव स्वतंत्र नहीं उत्पन्न होते अथवा उन्हें ईश्वर नहीं उत्पन्न करते वरन् अपने पूर्व जन्म के कर्मानुसार पुनः जन्म ग्रहण करते हैं । जब ब्रह्मा का दिन आता है तब ब्रह्मा जो जैसा कर्म किया रहता है उसे वैसी ही योनि में जन्म देते हैं ।

इस श्लोक में भगवान् ऐश्वर्य की अनित्यता प्रकट कर जीव को कल्याण-मार्ग की ओर ले जाना चाहते हैं। जब जीव को यह ज्ञात हो जायेगा कि ब्रह्मलोक को प्राप्त करने पर भी जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त नहीं हो सकते तब वह दुःख-निवारण हेतु परम कारुणिक परमात्मा की उपासना में प्रयत्नशील होगा । इसलिये बड़े ही सूक्ष्म ढंग से ऐश्वर्यकामियों के भोग, भोगोपकरण और भोगस्थान की अनित्यता बताते हैं ।

इसलिये जो व्यक्ति दुःख और भय से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अनन्यचित्त से भगवान् की उपासना करनी चाहिये । बिना भगवत्प्राप्ति के जीव का कल्याण असम्भव है, असम्भव ।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अन्वय :- **तु तस्मात् अव्यक्तात् परः यः अन्यः सनातनः अव्यक्तः भावः सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।**

अर्थ :- परन्तु उस (जड़ प्रकृति रूप) अव्यक्त से श्रेष्ठ जो दूसरा सनातन (आत्मरूप) अव्यक्तभाव है, वह सब भूतों के नष्ट होने पर भी विनष्ट नहीं होता ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक से कैवल्यार्थी को प्राप्त होने वाले फल को प्रारम्भ कर रहे हैं । आत्मदर्शी जिस आत्मा का दर्शन करना चाहता है वह अव्यक्त-(जड़ प्रकृति) से श्रेष्ठ अव्यक्त है । आत्मा को इसलिये अव्यक्त कहा गया है कि वह चर्मेन्द्रियों से अग्राह्य और शास्त्रैकाधिगम्य है । जो अव्यक्त का अर्थ परमात्मा करते हैं, वे शास्त्रज्ञानशून्य अज्ञ हैं । भगवान् ने स्वयं कहा है कि 'कूटस्थप्रकृतिविनिर्मुक्त' मुक्त आत्मा ही अव्यक्त है । इसी अध्याय में अव्यक्त अक्षर के नाम से कहा गया है (गी. ८।२१) और आगे के अध्याय में इस अक्षर को कूटस्थ बताया गया है । जिस प्रकार असंख्य हथौड़े के प्रहार से निहाय विचलित नहीं होता उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय के प्रहार का प्रभाव मुक्त आत्मा पर नहीं पड़ता । जड़ प्रकृति नश्वर है, किन्तु मुक्तात्मा सनातन है । मुक्त जीव नित्य रूप से पूर्व में था, इस समय है और भविष्य में भी रहेगा । यह सम्पूर्ण भूतों के नष्ट होने पर नहीं नष्ट होता है । प्रलय काल में सभी पृथ्वी, जल, वायु आकाशादि नष्ट हो जाते हैं, किन्तु यह ज्यों का त्यों बना रहता है । आत्मदर्शन को पाकर इसे पुनः जन्म-मरण के चक्र

में नहीं आना पड़ता है। भगवान् इसी अध्याय में स्वयं कहते हैं कि आत्म-दर्शन करने के पश्चात् फिर जीव जन्म नहीं ग्रहण करता है। इसीलिये कैवल्यार्थी ऐश्वर्य-कामियों से अच्छे हैं। ऐश्वर्यकामियों को दु:ख-भय से मुक्ति नहीं प्राप्त होती है किन्तु आत्मदर्शी दु:ख-भय से मुक्त हो जाता है।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति को विषयों से मन को हटाकर परमात्मा की उपासना करनी चाहिये। एक एक विषय का सेवन करने से हिरण, हाथी, पतंग, भ्रमर और मत्स्य बात की बात में अपने प्राण को गँवा देते हैं, तो जो पाँचों विषयों का सेवन करेगा उसकी कौन सी दुर्गति होगी कौन कह सकता है ? इसलिये श्रीकृष्ण के पद-कमल में सम्पूर्ण इन्द्रियों को समर्पित कर देना चाहिये, जिससे व्यक्ति सम्पूर्ण पापों से बच सके और अपने स्वरूप को समझ सके।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु: परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

अन्वय :- **अव्यक्त: अक्षर: इति उक्त: तम् परमाम् गतिम् आहु: यम् प्राप्य न निवर्तन्ते तत् मम परमम् धाम।**

अर्थ :- (वह) अव्यक्त अक्षर है, ऐसा कहा गया है, उसीको परम गति कहा गया है। जिसे प्राप्त कर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परमधाम है।

व्याख्या :- जो अव्यक्त जड़ प्रकृति से श्रेष्ठ है, उसे भगवान् ने अक्षर, न नाश होने वाला मुक्त आत्मा बताया है। गीता के १२वें अध्याय में -

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

कहा गया है कि अव्यक्त को अक्षर कहते हैं, जो कूटवत् अचल और नित्य रहने वाला है। कपिल, पञ्चशिखाचार्य प्रभृति ऋषियों ने भी इस अव्यक्त को अविनाशी मुक्त आत्मा बताया है। कैवल्यार्थियों के लिये यही सबसे बड़ी गति है, क्योंकि आत्मदर्शी, प्राण वायु को मस्तक में ले जाकर ॐ शब्द का उच्चारण करते हुये शरीर त्याग करने के पश्चात् इसी श्रेष्ठ गति को प्राप्त करते हैं। अर्थात् माया रहित आत्मा को प्राप्त करना ही परम गति प्राप्त करना है। इसी गति को प्राप्त कर जीव फिर जन्म-ग्रहण करने के लिये मर्त्यलोक को नहीं लौटता है। जहाँ से जीव पुन: नहीं लौटता है, वही भगवान् का परम धाम,-नियमन स्थान है।

भगवान् के तीन नियमन-स्थान हैं। पहला नियमन स्थान जड़ प्रकृति है। पृथ्वी, जल आदि में गंध, रस आदि रूपधारण कर जड़ पदार्थों को भगवान् ने धारण किया है। यदि घर में घर का स्वामी नहीं रहता है तो घर स्वत: ढह जाता है उसी प्रकार पृथ्वी, जल आदि में यदि नियामक भगवान् न रहें तो वे नष्ट हो जाते हैं।

भगवान् का दूसरा नियमन-स्थान चेतन प्राणी हैं। प्रकृति-सम्बन्धयुक्त चेतन प्राणियों में भगवान् अन्तर्यामी रूप से रहते हैं। ज्ञानी ब्राह्मण संन्यासी आदि की अर्चना उनके हृदय में रहने वाले भगवान् की करते हैं, और अज्ञानी मनुष्य समझकर करते हैं। भगवान् का तीसरा नियमन-स्थान वह स्थान है जहाँ जाकर मुक्त-आत्मा पुन: संसार में नहीं लौटती

है । इसी नियमन स्थान को मुक्त आत्मदर्शी प्राप्त करते हैं । वे उपासक जो आत्मदर्शन करना चाहते हैं, ऐश्वर्यकामी से उत्तम होते हैं । इसलिये आत्मदर्शन करने के लिये सतत प्रयत्न करना चाहिये ।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

अन्वय :- **पार्थ ! सः परः पुरुषः यस्य अन्तः स्थानि भूतानि, येन इदम् सर्वम् ततम्, तु अनन्या भक्त्या लभ्यः ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! वह परम पुरुष जिसके अन्तर्गत सब भूत स्थित हैं, जिससे यह सारा (जगत्) व्याप्त है, सचमुच अनन्या भक्ति से प्राप्त करने योग्य है ।

व्याख्या :- ऐश्वर्यकामी और कैवल्यार्थी के फल को बताकर भगवत्प्राप्ति की कामना करने वाले भक्तों के फल को बताने के लिये भगवान् भूमिका बाँध रहे हैं । भगवान् स्पष्ट यह नहीं कह रहे हैं कि मैं ही पुरुषोत्तम हूँ, वरन् पहेली की भाँति कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! जिसे अनन्या भक्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है वही श्रेष्ठ पुरुष है, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण जड़ और चेतन भूत हैं और जिसके द्वारा (इदं) यह संसार फैला हुआ है ।

क्षर और अक्षर से श्रेष्ठ होने के कारण भगवान् पुरुषोत्तम कहे जाते हैं । क्षर-बद्धजीव को कहते हैं और अक्षर मुक्त आत्मा को कहते हैं । भगवान् बद्धात्मा और मुक्तात्मा से श्रेष्ठ हैं । पंद्रहवें अध्याय में भगवान् ने स्वयं कहा है-

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गी. १५।१८)

मैं बद्ध आत्मा से अतीत हूँ और अक्षर-(मुक्त) आत्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिये श्रुति और स्मृति में पुरुषोत्तम नाम से विख्यात हूँ ।

यह कोई शंका नहीं कर सकता है कि श्रीकृष्ण से अतिरिक्त कोई दूसरा ही पर पुरुष है । इसका निराकरण उपर के श्लोक में कर दिये हैं और सातवें अध्याय में डंके की चोट पर कहे हैं कि "मत्तः परतरं, नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय" मुझसे अतिरिक्त कोई दूसरा श्रेष्ठ नहीं है । मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ । परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् के अन्तर्गत सम्पूर्ण जड़ पदार्थ और जीव हैं । श्रुति भी कहता है कि "ईशावास्यमिदं सर्वं" सभी संसार ईश्वर से आच्छादित है । गीता के सातवें अध्याय में कह आये हैं कि 'मयि सर्वमिदं प्रोतं' सम्पूर्ण संसार मुझमें गुँथा हुआ है । ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को अपने मुख के भीतर उन्होंने सभी जड़ चेतन को दिखा दिया है ।

इसी परमात्मा से सम्पूर्ण संसार व्याप्त है । भगवान् व्यापक और संसार व्याप्य (इदं) ईश्वर से फैला हुआ है । ९वें अध्याय में कहे हैं कि 'मया ततमिदं सर्वं जगत्" सारा विश्व मुझसे परिपूर्ण है । अर्जुन ने भी 'त्वया ततम् विश्वम्' कहा है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीकृष्णभगवान् ही पर पुरुष हैं, जिनके अन्तर्गत सम्पूर्ण जड़ और चेतन हैं और जिनके द्वारा सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है ।

ये परपुरुष परब्रह्म परमात्मा अनन्या भक्ति से प्राप्त किये जाते हैं । भगवान् ने आगे भी कहा है कि भक्ति से मुझे लोग जानते हैं । ज्ञानी और भक्त में अंतर नहीं होता है । ज्ञानी भगवान् की आत्मा है और आत्मा अति प्रिय होती है । भक्त भी भगवान् को आत्मा की भाँति प्रिय हैं । 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'' । यदि ज्ञानी भगवान् का भक्त नहीं है तो भगवान् को प्रिय नहीं है । इसलिये ज्ञानी और भक्ति में कुछ अंतर नहीं है । जो लोग ज्ञान को बड़ा और भक्ति को छोटा मानते हैं, उन्हें गोस्वामी तुलसीदास जी के वाक्य के ध्यान से सुन लेना चाहिये-

'ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा' ।

भगवान् अनन्या भक्ति से ही प्राप्त होते हैं । अनन्य भक्त को ही मृत्यु के समय बुद्धियोग प्रदान करते हैं जिससे वह संसार -चक्र से मुक्त हो जाय ।

'पद्मपुराण' में भक्ति सोलह प्रकार की बतायी गई है । जब जीव-रूपी स्त्री सोलहो भक्ति रूपी शृंगार से सुशोभित हो जाती है तब अनायास ही वह पति को प्रिय हो जाती है और प्रिय हो जाने पर पति उसे साधर्म्य प्रदान करता है । सोलह प्रकार की भक्ति इस प्रकार वर्णित है-

आद्यं तु वैष्णवं प्रोक्तं शंखचक्राङ्कनं हरेः ।
धारणं चोर्ध्वपुण्ड्राणां तन्मन्त्राणां परिग्रहः ।
कीर्तनं श्रवणं चैव वन्दनं पादसेवनम् ।
तत्पादोदकसेवा च तन्निवेदितभोजनम् ।
तदीयानां च सेवा च द्वादशी व्रतनिष्ठितम् ।
तुलसीरोपणं विष्णोर्देवदेवस्य शार्ङ्गिणः ।
भक्तिःषोडशधा प्रोक्ता भवबंधनविमुक्तये ॥

१ वैष्णव होना, २ शंखचक्र धारण करना ३ और ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना ४ 'चकार' से भगवत्सम्बन्धी नाम रखवाना ५ मूलमंत्र, द्वयमंत्र तथा चरम श्लोक को ग्रहण करना ६ श्रीहरि के चरित्र को सुनना ७ 'चकार' से विष्णु के दिव्य मङ्गल विग्रह को चिन्तन करना ८ श्रीहरि की स्तुति करना ६ श्रीविष्णु के नाम का संकीर्तन करना १० भगवान् के चरणोदक को लेना ११ श्रीविष्णु के पाद का सेवन करना १२ भगवान् के भोग लगाये गये भोजन को करना १३ 'चकार' से अपनी आत्मा को भगवान् को नैवेद्य रूप में 'निवेदित' करना १४ भागवतों की सेवा करना १५ द्वादशी व्रत में निष्ठा रखना १६ तुलसी रोपना ।

उपर्युक्त १६ प्रकार की भक्ति से एकमात्र भगवान् की भक्ति प्रत्येक समय करनी चाहिये । सोते, बैठते, चलते प्रत्येक समय अनन्य भक्ति के द्वारा जो भगवान् की उपासना करते हैं वे अवश्य ही पर पुरुष परमात्मा को प्राप्त करते हैं ।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

अन्वय :- **भरतर्षभ ! तु यत्र काले प्रयाता योगिनः अनावृत्तिम् यान्ति च एव आवृत्तिम् तत् कालम् वक्ष्यामि ।**

अर्थ :- हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! तो जिस काल (मार्ग) में गये हुए योगी लोग अनावृति को प्राप्त करते हैं और (जिसमें गये हुए) आवृत्ति को, उस काल को तुझे बताऊँगा ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् आत्मा के यथार्थ स्वरूपज्ञ और परमपुरुष परमेश्वर में निष्ठा वालों की साधारण अर्चिगति बतलाते हैं । दोनों अर्चि मार्ग से जाते हैं ।

इस श्लोक में काल शब्द समयवाचक नहीं वरन् मार्गवाचक है, क्योंकि आगे 'गति' और 'सृति' शब्द से मार्ग बताया गया है । इसलिए प्रकरण के अनुसार 'काल' शब्द से मार्ग अर्थ करना उपयुक्त है ।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि जिस मार्ग से जाने से योगी लोग अनावृत्ति (अपुनरावृत्ति) को प्राप्त करते हैं और जिस मार्ग से जाकर पुण्यकर्मा पुरुष वापस लौटते हैं वह मार्ग मैं तुमसे बताऊँगा ।

इस श्लोक में 'योगिनः' शब्द उनके लिए आया है जो अनन्या भक्ति से प्रत्येक क्षण सोते-जगते खाते-पीते श्रीकृष्ण भगवान् की उपासना करते रहते हैं । इस प्रकार के योगी उन योगियों से बड़े होते हैं जो केवल चित्तवृत्तियों का निरोध करते हैं, अथवा केवल प्राणायाम-परायण रहते हैं अथवा चान्द्रायण आदि व्रत करते हैं अथवा मेघडम्बर जलशायी आदि को करते हैं । ऐसे योगी अनावृत्ति को प्राप्त करते हैं, अर्थात् अर्चिरादि मार्ग से वैकुण्ठ जाकर पुनः मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करने के लिए नहीं आते हैं । छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमपि संभवन्ति" उसे जो इस प्रकार जानते हैं और वन में श्रद्धा के साथ तप करते हुए उपासना करते हैं, वे अर्चि को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार के योगी किसी भी क्षेत्र में किसी भी अवस्था में शरीर त्याग करने से भी वैकुण्ठ लोक को प्राप्त करते हैं । सर्ग और प्रलय के समय ये न जन्म ग्रहण करते हैं न नाश को ही प्राप्त करते हैं ।

'चकार' से उनका बोध होता है जो ग्राम में रहते हुये कामना सहित पुण्यकर्मों को करते हैं । ये लोग जितना पुण्य किये रहते हैं उसीके अनुसार चन्द्रलोक, वरुणलोक इन्द्रलोक और ब्रह्मादि लोक को प्राप्त करते हैं । छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा गया है कि "अथ य इमे ग्रामइष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभि-सम्भवन्ति । (छन्दो. प्र. ५ । खं १० श्रु.३) जो ग्राम में रहकर कामना सहित यज्ञ, दान, कूप-वाटिका आदि लगाने के काम को करते हैं वे धूम मार्ग से जाते हैं । अर्थात् स्वर्ग में जाकर पुण्यानुसार फल भोगकर पुनः संसार-आवर्त में जन्म-मरण प्राप्त करते हैं ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को निष्काम भाव से यज्ञ, दान तपस्यादि करते हुये अनन्या भक्ति से भगवान् की शरणागति लेनी चाहिये । जो ऐसा करते हैं, अवश्य ही अनावृत्ति (अपुनर्जन्म) को प्राप्त करते हैं ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

अन्वय :- **अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासाः उतरायणम् यत्र प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति ।**

अर्थ :- अग्नि, ज्योति, दिन शुक्ल पक्ष, छः महीनेवाले उत्तरायण-उनमें गये हुए ब्रह्मवेत्ताजन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

व्याख्या :- ब्रह्मविद् भगवान् की उपासना अनन्यचित्त से करने वाले योगी जन शरीर त्याग करने के पश्चात् अर्चि मार्ग से गमन करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि जो लोग जगत् में रहकर अनन्या भक्ति से भगवान् की अर्चना करते हैं वे अर्चि मार्ग से जाते हैं। ऐसे भगवद्भक्तों के लिये यह आवश्यक नहीं होता है कि वे काशी क्षेत्र में ही उत्तरायण में ही मरें। गीता में 'काल' शब्द मार्ग के लिये आया है, समय के लिये नहीं। ऐसे भक्त किसी समय कहीं भी मरते हैं, तौभी शुक्ल मार्ग से गमन करते हैं। जिस प्रकार साधारण मंत्रियों के लिये भी प्रत्येक स्थान में स्वागताध्यक्ष रहते हैं, उसी प्रकार जब भगवद्भक्त की आत्मा शरीर को छोड़ती है तब सर्वप्रथम (अग्नि) ज्योति का अभिमानी देवता अपनी सीमा तक स्वागत करने के लिये आता है। अर्थात् अग्नि का अभिमानी देवता अपनी किरणों द्वारा मृतात्मा को ले जाकर अपनी सीमा तक पहुँचाता है। इसके बाद दिन का अभिमानी देवता, अर्चि द्वारा पहुँचाये गये मृतात्मा को स्वागतपूर्वक अपनी सीमा तक ले जाता है। इसके बाद वह मृतात्मा शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवता द्वारा वहाँ तक ले जाया जाता है, जहाँ उत्तरायणाभिमानी देवता मृतात्मा का स्वागत के लिये तैयार रहता है। मकर राशि से मिथुन राशि पर सूर्य के रहने में जो माघ से आषाढ़ तक के छः माह का समय लगता है उसे उत्तरायण कहते हैं। इसके बाद संवत्सराभिमानी देवता अपनी सीमा तक मृतात्मा का यथोचित सत्कार करता है। इस श्लोक में जो अग्नि, ज्योति आदि शब्द आये हैं उसमें यह अर्थ करना कि शुक्ल पक्ष, दिन और उत्तरायण में मरने वाला ब्रह्म को प्राप्त करता है, महान अज्ञता है। इन शब्दों का अर्थ उनके अभिमानी देवता से है जिसका विवेचन ऊपर किया गया है। अनन्यचित्त से भगवान् की उपासना करने वाले चाहे जहाँ और जिस समय मरें उनके स्वागत के लिये उपर्युक्त अभिमानी देवगण तैयार रहते हैं।

इस श्लोक में आदि के कुछ लोक के अभिमानी देवताओं को बताकर अन्त के वैकुण्ठ लोक की प्राप्ति को बताया गया है। आदि और अन्त के बताने से मध्य का परिहार हो जाता है। शुक्लमार्ग से जाने वालों की मृतात्मा को निम्नलिखित मार्ग से जाना पड़ता है-

मुक्तोऽर्चिर्दिनपूर्वपक्षषडुदङ्मासाब्दवातांशुमद्,
ग्लौर्विद्युद्वरुणेन्द्रधातृमहितः सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः।
श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन्परब्रह्मणः,
सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यःपुमान्॥

पाँच स्थानों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। संवत्सराभिमरनी देवता के बाद वायु का अभिमानी देवता उस मृतात्मा को वहाँ तक ले जाता है जहाँ सूर्याभिमानी देवता स्वागत के लिये तैयार रहते हैं। सातवें लोक में चन्द्राभिमानी देवता अपने लोक की सीमा तक ले जाते हैं। इसके बाद आठवें लोक तक विद्युत्-अभिमानी देवता स्वागत के साथ उस मृतात्मा को वरुण लोक तक पहुँचाता है। जलाभिमानी देवता नवें लोक-देवराज इन्द्रलोक तक पहुँचाता है। इन्द्र-सत्कार के उपरान्त लीला विभूत के अंतिम लोक ब्रह्मलोक तक पहुँचता है। ब्रह्मलोक तक पहुँचने वाला ब्रह्म सहित पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्य लोक में आता है पर भगवद्भक्त ब्रह्मलोक के बाद बहने वाली विरजा नदी के जल

का पान कर लेने से क्षुधा-पिपासा और रुचि-वासना से मुक्त होकर नित्य साकेत चेतन वैकुण्ठ लोक को प्राप्त करता है। भगवान् के सायुज्य को पाकर जीव परमानन्द प्राप्त करता है और पुन: वह जन्म-मरण के चक्र में कभी नहीं फँसता है।

इसलिये प्रत्येक उपासक को अव्यभिचारिणी भक्ति से सतत भगवान् की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार की उपासना से जीव किसी भी काल में शरीर त्याग कर परमानन्द को प्राप्त करता है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

अन्वय :- **धूमः रात्रिः कृष्णः तथा षण्मासाः दक्षिणायनम् तत्र योगी चान्द्रमसम् ज्योतिः प्राप्य निवर्तते।**

अर्थ :- धूम, रात्रि कृष्णपक्ष और छः माह वाले दक्षिणायन,-उनमें (गया हुआ) योगी (यानी पुण्यकर्मा) चन्द्रमा सम्बन्धी ज्योति को प्राप्त होकर फिर लौट आता है।

व्याख्या :- जो लोग पुण्यकर्मा होते हैं वे मरकर, धूम मार्ग जिसे कृष्ण और पितृयान मार्ग भी कहते हैं-- से जाते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि "अथ च य इमे ग्रामइष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" जो सकामी लोग ग्राम में रहकर कूप, विद्यालय, चिकित्सालय, मन्दिर आदि का निर्माण करते हुये बाग आदि को लगाते हैं अथवा इन कर्मों के अतिरिक्त सकाम यज्ञदान करते हैं वे धूम मार्ग से गमन करते हैं। ऐसे लोग स्वपुण्यानुसार इन्द्र, वरुण, ब्रह्म लोकादि के सुख को भोगकर पुण्यक्षीण होने पर पुन: मर्त्यलोक को सुशोभित करते हैं।

धूम, रात्रि आदि शब्द उनके अभिमानी देवताओं के बोधक हैं। जैसे 'मञ्चाः आक्रोशन्ति 'कहने से यह "मञ्चचिल्ला रहा है अर्थ न होकर 'मञ्च पर बैठे हुये व्यक्ति चिल्ला रहे हैं' अर्थ होगा। हम प्रतिदिन देखते हैं कि यदि दही बेचने वाले को 'हे दही' कहकर पुकारते हैं तो पास चला आता है। इसी प्रकार धूमादिक शब्द से धूम अर्थ न होकर धूमाभिमानी देवता अर्थ होगा।

जब सकामी पुण्यकर्मा योगी किसी भी समय-(उत्तरायण या दक्षिणायन) में मरते हैं तो उनकी मृतात्मा को सर्व प्रथम धूमाभिमानी देवता सादर ले जाता है। इसके बाद रात्रि का अभिमानी देवता सत्कार कर आगे तक वहाँ पहुँचाता है जहाँ कृष्ण पक्ष का अभिमानी देवता स्वागत के लिये सन्नद्ध रहता है। तत्पश्चात् सावन से लेकर पूष मास तक रहने वाले दक्षिणायनाभिमानी देवता आदर के साथ अपनी सीमा तक ले जाता है। इसके बाद संवत्सराभिमानी देवता पितृयान मार्ग के अभिमानी देवता को सौंपता है। इसके उपरान्त यमलोकाभिमानी देवता ले जाता है। इसके उपरान्त जीव को वैतरणी नदी को पार करना पड़ता है। जो लोग गोदान नहीं दिये रहते हैं वे ही इस नदी को पार नहीं करते हैं। इस नदी को पार करने पर सीधे चन्द्रलोक जाना पड़ता है। भगवद्भक्त सूर्यलोक से होकर चन्द्र लोक को जाते हैं किन्तु सकामी योगी सीधे चन्द्रलोक को जाते हैं। अपने पुण्यानुसार इस लोक में भोगकर फिर पाँचवीं आहुति में जीव बनकर मर्त्य लोक में आते हैं। सकाम पुण्यकारक जन्म-मरण से मुक्त नहीं होते हैं। यहाँ योगी शब्द पुण्यकर्मा वाचक है।

इसलिये प्रत्येक मानव को भगवान् की भक्ति सतत और अचल मन से करनी चाहिये। जो भगवान् की उपासना नहीं करता है वह उस राजा की भाँति नरक में कष्ट पाता है जिसने जीवन में कभी भगवान् का नाम नहीं लिया था

। इस राजा के नरक में पकते हुये देखकर यमराज ने करुणापूर्वक कहा था कि --

नरके पच्यमाने तु यमेन परिभाषितः ।
किं त्वया नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः ॥

हा ! तूने भारत के प्रसिद्ध स्थान काशी में जन्म ग्रहण करके भी भूलकर भी आदि केशव की उपासना नहीं की ।

अतएव परमानन्द को पाने के लिये निश्चलचित्त से परमात्मा की उपासना करनी चाहिये ।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

अन्वय :- **हि एते शुक्लकृष्णे गती जगतः शाश्वते मते, एकया अनावृत्तिम् याति, अन्यया पुनः आवर्तते ।**

अर्थ :- क्योंकि ये शुक्ल और कृष्ण गति जगत् की, सनतान मानी गयी हैं, एक (गति) से मनुष्य अनावृत्ति को प्राप्त होता है, दूसरी से पुनः वापस लौट आता है ।

व्याख्या :- उपर्युक्त दो श्लोकों में मृतात्मा के जाने के जिन अर्चि और धूम-मार्गों का वर्णन किया गया है उन्हें शुक्ल और कृष्ण मार्ग से संबोधित करते हैं । अर्थात् अर्चि मार्ग से जाने वालों की शुक्ल गति और धूम मार्ग से जाने वालों की कृष्ण गति होती है । उपनिषदों में इन्हें देवयान और पितृयान से बताया गया है । दोनों मार्ग शाश्वत हैं, अर्थात् सृष्टि के प्रारंभ से चले आ रहे हैं ।

शुक्लमार्ग से गया हुआ भगवान् का भक्त पुनः इस संसार में जन्म ग्रहण करने के लिये नहीं आता है । वह भगवान् के निवास स्थान नित्यविभूति को प्राप्त करता है, किन्तु कृष्ण मार्ग से जाने वाले सकामी भक्त पुण्यानुसार सुख भोगने पर पाँचवी आहुति में जीव होकर पुनः माता के पयोधर के दूध को पीता है । अर्थात् स्वर्ग लोक के सुखों को भोगता है, पर मुक्त नहीं होता है ।

इसलिये प्रत्येक मानव को अनन्य भक्ति से भगवान् की उपासना करनी चाहिये जिससे शुक्ल मार्ग से गमन कर संसारचक्र से मुक्त हो जाय ।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

अन्वय :- **पार्थ ! एते सृती जानन् कश्चित् योगी न मुह्यति । तस्मात् अर्जुन सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः भव ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! इन दोनों मार्गों को जानने वाला (यानी जानता हुआ) कोई भी योगी मोह को नहीं प्राप्त होता है । इसलिए अर्जुन तू सर्वकालों में योगयुक्त हो ।

व्याख्या :- किसी भी जाति के अनन्य चित्त से भगवान् की भक्ति करने वाले जो योगी पूर्व के श्लोकों में बताये गये कृष्ण और शुक्ल मार्ग को जान लेते हैं, वे मरण काल में मोह नहीं प्राप्त करते हैं । गीता में ही भगवान् ने कहा है-

का पान कर लेने से क्षुधा-पिपासा और रुचि-वासना से मुक्त होकर नित्य साकेत चेतन वैकुण्ठ लोक को प्राप्त करता है। भगवान् के सायुज्य को पाकर जीव परमानन्द प्राप्त करता है और पुनः वह जन्म-मरण के चक्र में कभी नहीं फँसता है।

इसलिये प्रत्येक उपासक को अव्यभिचारिणी भक्ति से सतत भगवान् की उपासना करनी चाहिये । इस प्रकार की उपासना से जीव किसी भी काल में शरीर त्याग कर परमानन्द को प्राप्त करता है ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षणमासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

अन्वय :- **धूमः रात्रिः कृष्णः तथा षणमासाः दक्षिणायनम् तत्र योगी चान्द्रमसम् ज्योतिः प्राप्य निवर्तते ।**

अर्थ :- धूम, रात्रि कृष्णपक्ष और छः माह वाले दक्षिणायन,-उनमें (गया हुआ) योगी (यानी पुण्यकर्मा) चन्द्रमा सम्बन्धी ज्योति को प्राप्त होकर फिर लौट आता है ।

व्याख्या :- जो लोग पुण्यकर्मा होते हैं वे मरकर, धूम मार्ग जिसे कृष्ण और पितृयान मार्ग भी कहते हैं-- से जाते हैं । छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि ''अथ च य इमे ग्रामइष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति'' जो सकामी लोग ग्राम में रहकर कूप, विद्यालय, चिकित्सालय, मन्दिर आदि का निर्माण करते हुये बाग आदि को लगाते हैं अथवा इन कर्मों के अतिरिक्त सकाम यज्ञदान करते हैं वे धूम मार्ग से गमन करते हैं । ऐसे लोग स्वपुण्यानुसार इन्द्र, वरुण, ब्रह्म लोकादि के सुख को भोगकर पुण्यक्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक को सुशोभित करते हैं ।

धूम, रात्रि आदि शब्द उनके अभिमानी देवताओं के बोधक हैं । जैसे 'मञ्चाः आक्रोशन्ति 'कहने से यह ''मञ्चचिल्ला रहा है अर्थ न होकर 'मञ्च पर बैठे हुये व्यक्ति चिल्ला रहे हैं' अर्थ होगा । हम प्रतिदिन देखते हैं कि यदि दही बेचने वाले को 'हे दही' कहकर पुकारते हैं तो पास चला आता है । इसी प्रकार धूमादिक शब्द से धूम अर्थ न होकर धूमाभिमानी देवता अर्थ होगा ।

जब सकामी पुण्यकर्मा योगी किसी भी समय-(उत्तरायण या दक्षिणायन) में मरते हैं तो उनकी मृतात्मा को सर्व प्रथम धूमाभिमानी देवता सादर ले जाता है । इसके बाद रात्रि का अभिमानी देवता सत्कार कर आगे तक वहाँ पहुँचाता है जहाँ कृष्ण पक्ष का अभिमानी देवता स्वागत के लिये सन्नद्ध रहता है । तत्पश्चात् सावन से लेकर पूष मास तक रहने वाले दक्षिणायनाभिमानी देवता आदर के साथ अपनी सीमा तक ले जाता है । इसके बाद संवत्सराभिमानी देवता पितृयान मार्ग के अभिमानी देवता को सौंपता है । इसके उपरान्त यमलोकाभिमानी देवता ले जाता है । इसके उपरान्त जीव को वैतरणी नदी को पार करना पड़ता है । जो लोग गोदान नहीं दिये रहते हैं वे ही इस नदी को पार नहीं करते हैं । इस नदी को पार करने पर सीधे चन्द्रलोक जाना पड़ता है । भगवद्भक्त सूर्यलोक से होकर चन्द्र लोक को जाते हैं किन्तु सकामी योगी सीधे चन्द्रलोक को जाते हैं । अपने पुण्यानुसार इस लोक में भोगकर फिर पाँचवीं आहुति में जीव बनकर मर्त्य लोक में आते हैं । सकाम पुण्यकारक जन्म-मरण से मुक्त नहीं होते हैं । यहाँ योगी शब्द पुण्यकर्मा वाचक है ।

इसलिये प्रत्येक मानव को भगवान् की भक्ति सतत और अचल मन से करनी चाहिये । जो भगवान् की उपासना नहीं करता है वह उस राजा की भाँति नरक में कष्ट पाता है जिसने जीवन में कभी भगवान् का नाम नहीं लिया था

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते', जो मेरी शरणागति करते हैं, वे मेरी दुष्पार माया को पार कर जाते हैं। गोस्वामी जी ने कहा है मम भगति निरुपम निरुपाधी । वसइ जासु उर सदा अबाधी ।

तेहि बिलोक माया सकुचाई....

जब योगी दोनों मार्गों से गये हुये फल को अच्छी तरह समझ लेते हैं तब सकाम कर्मों को त्याग कर भगवान् की शरणागति लेकर भगवान् की भक्ति निश्चल मन से करते हैं । ऐसा करने से मरण काल में मोह को नहीं प्राप्त होते, अपितु मरण के समय संसारिक वस्तुओं का स्मरण न करके भगवान् का स्मरण करके अर्चि मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त करते हैं । 'कश्चन' शब्द का प्रयोग कर भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी भी जाति का गृहस्थ या संन्यासी भगवान् की अनन्या भक्ति से मोह को पार कर सकता है ।

इसलिये भगवान् अर्जुन को अर्चिरादि मार्ग को पाने के लिये प्रयत्न करने का आदेश दे रहे हैं । 'योगयुक्त' का 'अष्टांग योग' अर्थ नहीं है । प्रकरणानुसार 'योगयुक्त' का अर्थ 'अर्चिरादि मार्ग-युक्त' होगा । भगवान् आदेश दे रहे हैं कि कृषि, व्यापार, नौकरी आदि करते हुये प्रभु की निष्काम भक्ति सर्वदा करे । ऐसे करने से अर्चिरादि मार्ग की प्राप्ति होती है ।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्म-प्राप्ति के लिये प्रत्येक कार्य कर्मों को करते हुये भगवान् के चरणों में अनन्या भक्ति रखनी चाहिये ।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा ।
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

अन्वय :- **योगी इदं विदित्वा, वेदेषु, यज्ञेषु तपःसु च एव दानेषु यत् पुण्यफलम् प्रदिष्टम् तत् सर्वम् अत्येति च परम् आद्यम् स्थानम् उपैति ।**

अर्थ :- योगी इसको (भगवत्माहात्मय के रहस्य को) जानकर, वेदों, यज्ञों, तपों और दानों में जो पुण्य फल दिखलाया गया है, उस सबको लाँघ जाता है (यानी उनके पार पहुँच जाता है) और परम आदि स्थान को पा लेता है ।

व्याख्या :- वेद यज्ञ तपस्या और दान क्रियाओं को करने से जो फल प्राप्त होता है उसे पूर्व में बताये गये दोनों अध्वनों को जानने वाला योगी, अतिक्रमण करके परम स्थान--वैकुण्ठ को प्राप्त कर लेता है ।

'मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' आप. परि १।३३ मंत्र और ब्राह्मणभाग को वेद कहते हैं । 'तच्चोदकेषु मंत्राख्या' प्रेरणात्मक श्रुति को मंत्र 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' और मंत्र से शेष वेदभाग को ब्राह्मण कहते हैं । वेद चार हैं, ऋक्, यजु, साम और अथर्व । जैमिनी के अनुसार ''तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' जै. (२११।३५) पाद और 'अर्धर्च' से युक्त

है 'दारिद्र्य-नाशनं दानं' दान दरिद्रता को नष्ट करता है ।

उपर्युक्त वर्णित वेद यज्ञ तप और दान के द्वारा जो फल होता है वह सातवें और आठवें अध्याय में बताये गये भगवदुपासना और भगवान् के वैभव के ज्ञान के समक्ष तृण समान है । वेद यज्ञ तप और दान के फल क्षणिक होते हैं, इनके द्वारा भगवान् को नहीं प्राप्त किया जा सकता है । गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने स्वयं कहा है -

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन चेज्यया शक्य एवं विधो द्रष्टुं,, (गी. ११।५३)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥११।५४।

मैं वेद, तपस्या दान और यज्ञ से नहीं जाना जाता हूँ केवल अनन्या भक्ति से मुझे देखा और जाना जा सकता है ।

सातवें और आठवें अध्याय में बताये गये वैभव को जान लेने वाला योगी परम स्थान वैकुण्ठ को प्राप्त करता है । यहाँ पर योगी शब्द 'अनन्य-चेता: सततं' अनन्य चित्त से भगवान् की सतत उपासना करने वालों के लिये आया है । 'चकार' का आसक्ति-रहित अर्थ होगा ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को यज्ञ दान का साधन भगवान् को समझना चाहिये । साध्य भगवत्प्राप्ति ही है । आसक्ति रहित होकर वेद, या दान और तपस्या करते हुये अनन्या भक्ति से -भगवदुपासना करते हुये भगवान् को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

॥ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच -

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१।।

अन्वय :- **ते अनसूयवे तु इदम् गुह्यतमम् विज्ञान-सहितम् ज्ञानम् प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे ।**

अर्थ :- (हे अर्जुन !) तुझे असूयारहित (यानी मुझमें दोषदृष्टि रहित भक्त) के लिए तो इस अत्यन्त गुह्य विज्ञानसहित ज्ञान को बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जाओगे ।

व्याख्या :- श्रीकृष्ण भगवान् ने सातवें और आठवें अध्याय में भगवदुपासना और भगवान् का जो वैभव बताया है, उससे अर्जुन सहमत हैं । इसलिये वे प्रश्न नहीं करते हैं । 'मौनं स्वीकारलक्षणम्' अर्जुन की मौनता पूर्व के उपदेश से सहमति का सूचक है ।

भगवान् इस अध्याय में राजविद्या और राजगुह्य योग को बताने के लिये विषय को प्रारम्भ करते हुये कह रहे हैं कि तुम असूयारहित हो । इसलिये मैं गुह्यतम उपासनात्मक ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा जिसे तुम जानकर अशुभ से मोक्ष प्राप्त कर लोगे ।

उपासनात्मक ज्ञान अत्यन्त गुह्यतम है । इसे सभी से नहीं बताना चाहिये । नौ चीजें छिपाने योग्य होती हैं ।

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मंत्रमैथुनभेषजम्
तपोदानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ।

आयु, वित्त, घर की बुराई, मंत्र, मैथुन, दवा, तपस्या दान और अपमान अत्यन्त गुह्यतम हैं । इस उपासनात्मक ज्ञान को भगवान् ने न तो अपनी प्रियतमा राधा से कहा न कहा ब्रह्मचारी भीष्म जी से । अर्जुन दूसरों के द्वारा अपराध करने पर भी अपने को दोषी घोषित करता है । इसलिये असूयारहित अर्जुन को भगवान् गुह्यतम ज्ञान को बताने की प्रतिज्ञा करते हैं । संजय ने भी कहा है कि यह अत्यन्त गुह्यतम है 'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्' (गी. १८।७५)

भगवान् इसे विज्ञानसहित बताना चाहते हैं । बिना उपासना संबंधी ज्ञान को जाने उपासनात्मक ज्ञान की सफलता असम्भव है । उपासना संबंधी ज्ञान यह बताता है कि भगवान् की उपासना किस विधि से किस स्थान में करे । यद्यपि भगवान् प्रत्येक चराचर में हैं किन्तु सभी में उपासना नहीं की जाती है । अग्नि जल, सूर्य, प्रतिस्थापित मूर्ति आदि में की जाती है । इन स्थानों में भी एक समान उपासना नहीं की जाती है । अग्नि की उपासना हवन से, सूर्य की उपासना जल से, मूर्ति की उपासना पत्र, पुष्प फल, जल, चन्दनादि से की जाती है । पृथ्वी में भी ग्राहकत्व शक्ति भले है पर दर्पण

में ही मुख दर्शन होता है । उसी प्रकार भगवान् प्रत्येक अणु परमाणु में हैं, पर श्रुति-स्मृति-विहित स्थानों में ही उपासना करने से भगवत्प्राप्ति होती है ।

भगवान् अर्जुन को विश्वास दिला रहे हैं कि इसे विज्ञानसहित यदि जान लोगे तो अशुभ से मोक्ष मिल जायेगा । अशुभ उसे कहते हैं जो भगवत्प्राप्ति में बाधक है । संसार ही भगवत्प्राप्ति का बाधक है । गृह-स्त्री, धन उपासना के बाधक हैं । गोस्वामी तुलसी दासजी ने स्पष्ट कहा है --

गृह कारज नाना जंजाला । ते दुर्गम अति सैल विसाला ।
वन बहु विषम मोह मद माना । नदी कुतर्क भयंकर नाना ॥ (रा०मा० १।३७।८।६)

जो व्यक्ति भगवान् के बताये हुये विज्ञान सहित उपासनात्मक ज्ञान को अच्छी तरह जान लेगा वह निश्चय ही संसार सागर तर जायेगा ।

इसलिये प्रत्येक मानव को उपर्युक्त ज्ञान को समझने के लिए सर्वप्रथम असूया रहित होना चाहिये । जब तक हृदय में असूया आदि दुर्गुण रहेंगे तबतक उपासनात्मक ज्ञान को नहीं समझ सकेगा, किन्तु जो इस दुर्गुण को त्यागकर भगवान् के द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलेगा वह अवश्य ही परमानन्द को प्राप्त करेगा ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥

अन्वय :- **इदम् राजविद्या राजगुह्यम् पवित्रम् उत्तमम् प्रत्यक्षावगमम् धर्म्यम् सुसुखम् कर्तुम् अव्ययम् ।**

अर्थ :- (ज्ञान) राज विद्या, राज गुह्य परमपवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष विषयवाला, धर्ममय, सुखपूर्वक अनुष्ठान करने योग्य (और) अविनाशी है ।

व्याख्या :- विद्या दो प्रकार की प्रधान होती है, एक शस्त्र विद्या और दूसरी शास्त्र विद्या । वाल्मीकि द्रोणाचार्य आदि दोनों विद्याओं में पारंगत थे । दोनों विद्याओं में अन्तर यही है कि शस्त्र विद्याभ्यासी वृद्धावस्था में अप्रतिष्ठित होते हैं, किन्तु शास्त्र-विद्याभ्यासी आयुवृद्धि के अनुसार प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं । जैसा कि कहा गया है-

विद्याशस्त्रं च शास्त्रं च..............................
आद्या हास्याय वृद्धयते द्वितीयाद्रियते सदा ॥

शास्त्रविद्या दो प्रकार की होती है, एक परा, दूसरी अपरा विद्या । इन सभी विद्याओं में उपासनात्मक ज्ञान की विद्या श्रेष्ठ है । इसीलिए इसे राजविद्या, विद्याओं का राजा कहते हैं । अथवा यह राजाओं की विद्या है । जिस प्रकार राजा लोग महामना होत हैं उसी प्रकार महामना भक्तों की यह विद्या है । जिस प्रकार महामना राजा एक बार ही बोलते हैं - ''सकृत् जल्पन्ति राजान:'' उसी भाँति इस विद्या के अनुयायी केवल एक बार ही प्रपन्न बनते हैं । विद्याओं में श्रेष्ठ इसलिये कहा

गया है कि यह विद्या अशुभ-(माया) से मोक्ष प्रदान करने वाली है और अन्य अपरादिक विद्यायें माया में बाँधने वाली हैं।

इस विद्या की दूसरी विशेषता यह है कि यह राजगुह्य है। अर्थात् सम्पूर्ण छिपाने वाली बातों में श्रेष्ठ है। इस विद्या को सभी लोग नहीं जान लेते हैं। यह विद्‌या गुह्यतम बातों को बताती है। सुमित्रा जी उपासना स्वरूपा हैं। उपासना, जीव का सुन्दर मित्र है। लक्ष्मण रूपी जीव से उपासना रूपी सुमित्रा जी कहती हैं -

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुवर भगत जासु सुत होई।
तुम्हरेहिभाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥ (रा०मा० २।७४।१,३)

तुम्हें रघुवर का भक्त होना चाहिये। तुम्हारे लिये ही रामचन्द्र जी वन जा रहे हैं। उपासना स्वरूपा सुमित्रा माता जीव स्वरूप लक्ष्मण को गुप्त बात बता रही हैं कि तुम भगवान् का शेष हो। तुम्हारे ही ऊपर पृथ्वी का भार है। रामचन्द्र जी दुष्टों का नाश कर देंगे तो पृथ्वी का भार कम हो जायेगा तब तुम्हारा भी भार अल्प हो जायेगा।

दूसरी बात यह कि एक बार नारदजी ब्रह्मा जी के यहाँ भगवान् के नाम को पूछने के लिये गये। ब्रह्मा ने एक हजार नाम बताने के बाद कहा कि आप शंकर जी के पास जाइये। शंकरजी ने एक लाख नाम बताकर कहा कि मैं पाँच मुख से वर्णन करने में असमर्थ हूँ, शेष जी के पास चला जाय। उनके पास एक हजार मुख हैं। वे शीघ्रता से कहेंगे। शेष जी ने शंख-(अनन्त) नाम बताया। इस पर शंकर भगवान् के नेत्र से अश्रु गिरे उसे शंकर भगवान् ने दोनों हाथों में ले लिया। दायें हाथ से रुद्राक्ष की उत्पत्ति हुई। बायें हाथ से एक कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम शिवलोचनी था। इस कन्या को शेषजी को दे दिया गया। शेषजी ने अपने मंत्री कर्कोटक को दिया। समय पड़ने पर नारद ने उसका विवाह रावण के पुत्र मेघनाद से करवाया। शेषजी ने आजतक इस अपमान का बदला नहीं लिया था। इसीका संकेत करती हुई समित्रा जी कह रही हैं कि ये राम जी जंगल नहीं जायेंगे तो शेषावतारी तुम किस प्रकार मेघनाद से बदला ले सकते हो। इसलिये तुम्हें अवश्य वन में जाना चाहिये।

उपासना के द्वारा ही जीव गुप्त ब्रह्म को जान लेता है। इसलिये उपासनात्मक ज्ञानविद्या राजगुह्य है।

यह पवित्र है। अर्थात् इसके द्वारा सम्पूर्ण भगवत् विरोधी पाप आदि नष्ट हो जाते हैं। अत: इसके समान कोई उत्तम नहीं है।

'अवगम' विषय को कहते हैं। प्रत्यक्षावगम का तात्पर्य है कि जिस ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष है। उपासनात्मक ज्ञान के द्वारा इसके विषय यानी भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। ध्रुव और प्रह्लाद ने इसी उपासनात्मक ज्ञान के द्वारा भगवान् के साक्षात् दर्शन किये।

इस उपासनात्मक ज्ञान की एक विशेषता यह है कि यह धर्म-स्वरूप है। कल्याण प्रदान करने वाले को धर्म कहते हैं। इससे परम कल्याण की प्राप्ति होती है। जब भक्त को भगवान् का दर्शन प्राप्त हो जाता है तब उसे परम कल्याण की प्राप्ति होती है। इस उपासनात्मक ज्ञान से अवश्य भगवत्प्राप्ति होती है। इसमें रंचमात्र का भी सन्देह नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में भगवान् ने स्वयं कहा है -

बहुत कहौं का कथा बुझाई । एहि आचरन-बस्य मैं भाई । (रा० मा० ७।४५।४)

इसके अतिरिक्त इसे करने से अत्यन्त सुख प्राप्त होता है । इसके करने में किंचित् भी कठिनाई नहीं है । यज्ञ, दान तपस्यादि करने में तत्तत् नियमों का पालन करना पड़ता है । नियम भंग होने पर विपरीत फल की आशंका है, यदि सफल भी हुआ तो फल क्षणिक रहता है । इसके करने से किसी प्रकार के नियमों का पालन नहीं करना पड़ता । सोते, बैठते, खाते, अनन्यचित्त से भगवान् की भक्ति करनी पड़ती है -

तुलसीदास जी ने लिखा है -

कहहु भगति पथ कवन प्रयास । जोग न मख जप तप उपवासा । (रा० मा० ७।४५।१)

इस उपासनात्मक ज्ञान के लिये तो - 'मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह' की ही आवश्यकता है । इसका फल - 'ता कर सुख सोइ जानइ परानन्दसंदोह ।' ही है ।

इसके अतिरिक्त यह ज्ञान अव्यय है । अन्य कर्म फल प्राप्ति के बाद समाप्त हो जाते हैं किन्तु इसके आश्रयी भगवान् को प्राप्त करके भी सोचते हैं कि मैंने कुछ उपासना नहीं की । यह ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है । यज्ञादि का फल नश्वर होता है, किन्तु इसका फल अविनाशी होता है । काकभुसुण्डी जी का कल्पांत में भी नाश नहीं होता है ।

' तासु नास कल्पांत न होई' (रा० मा० ७।५६।१)

जो भक्त उपासनात्मक ज्ञान के द्वारा भगवान् की अनन्यभक्ति-परायण रहते हैं उनका कभी नाश नहीं होता है। गोस्वामीतुलसी दास जी के शब्दों में इसका फल है -

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या । प्रभु प्रेरित व्यापहि तेहि विद्या ॥
ताते नास न होई दास कर । (रा० मा० ७।४५।२,३)

इसलिये प्रत्येक मानव को भगवान् की भक्ति अचल मन से करनी चाहिये ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

अन्वय :- **परंतप ! अस्य धर्मस्य अश्रद्दधानाः पुरुषाः माम् अप्राप्य मृत्युसंसारवर्त्मनि निवर्तन्ते ।**

अर्थ :- परंतप अर्जुन ! इस धर्म के अश्रद्धालु पुरुष मुझे न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्र या मार्ग में ही चक्कर लगाते रहते हैं (नितराम् वर्तन्ते निवर्तन्ते-सदा घूमते रहते हैं)

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि काम रूपी शत्रु को नष्ट करने वाले पार्थ ! जो व्यक्ति इस उपासनात्मक ज्ञानमय धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं रखते वे मुझे न प्राप्त करके मृत्यु रूपी संसार के मार्ग में बारंबार भ्रमण करते हैं ।

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' वेद-विहित को धर्म कहते हैं । वेद में बताया गया है कि 'ऊँ' इत्येतदक्षर 'उद्गीथमुपासीत्' 'ॐ इत्यात्मानं युञ्जीत' अक्षर अविनाशी परमात्मा की उपासना करे । अथवा -

तं वदन्ति महात्मानः कृष्णं धर्मसनातनः

जो धर्म स्वरूप श्रीकृष्णभगवान् हैं उन्हीं की उपासना करनी चाहिए ।

जो इस धर्म को न मानने वाले अश्रद्धालु हैं अर्थात् पुनर्जन्म को न मानकर उपासना में शीघ्रता नहीं करते वे मृत्यु रूपी संसार मार्ग में ('नि' नितरां निश्चय करके) भ्रमण किया करते हैं । ऐसे लोग शुक्ल और कृष्ण मार्ग से नहीं जाते वरन् बार-बार इसी लोक में जन्मा और मरा करते हैं । 'जन्मत मरत दुसह दुख होई 'ऐसे जन्म मरण के कष्ट को सहा करते हैं । ऐसे लोग मरने के बाद ही अतिशीघ्र दूसरे गर्भ में प्रवेश करते हैं । जैसे तेली का बैल एक ही स्थान पर घूमा करता है उसी प्रकार ये लोग अज्ञान के अंधकार से समोहित होकर इसी संसार में घूमा करते हैं ।

भगवान् ने इस श्लोक में बताया है कि जीव जबतक उपासना के द्वारा मुझे नहीं प्राप्त करता है तबतक संसाररूपी सागर को नहीं पार कर पाता । जो लोग उपासना के प्रति श्रद्धा नहीं रखते उन्हें पशु-पक्षियों की योनि में बार-बार जन्म और मरण की यातना को सहन करना पड़ता है ।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को शीघ्रातिशीघ्र उपासनात्मक धर्म का आश्रय ग्रहण कर भगवान् को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए । बिना उपासना मार्ग के दूसरे ज्ञान तपस्यादि से मुक्त होना असम्भव है ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वस्थितः ॥४॥

अन्वय :- **मया अव्यक्तमूर्तिना इदम् सर्वम् जगत् ततम् । सर्वभूतानि मत्स्थानि च अहम् तेषु न अवस्थितः ।**

अर्थ :- मुझ अव्यक्त मूर्ति से यह समूचा जगत् व्याप्त है । सारे भूत (सम्पूर्ण प्राणी) मुझमें स्थित हैं, और मैं उन पर स्थित यानी आश्रित नहीं हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् अव्यक्त हैं, अर्थात् मन वाणी नेत्रादि इंद्रियों से नहीं जाने जाते हैं । भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि मैं अव्यक्तरूप, (अन्तर्यामी रूप से) सम्पूर्ण चर-अचर में व्याप्त रहता हूँ । मुझमें सम्पूर्ण चराचर है, किन्तु मैं उनमें नहीं रहता हूँ ।

भगवान् में सम्पूर्ण चराचर आधार और आधेय भाव से नहीं है । जैसे पात्र में जल रहता है उसी प्रकार भगवान् में सभी चराचर नहीं हैं । भगवान् कह रहे हैं कि मैं इस जगत् को धारण करने और नियमन करने के कारण इसका शेषी हूँ । इसलिए मुझ में व्याप्त है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि "यः पृथिव्यां तिष्ठन्.............यं पृथिवी न वेद बृ. उ. ३।७।३ य आत्मनि तिष्ठन्.............यं आत्मा न वेद श० ब्रा० १४।५।३० जो ब्रह्म पृथ्वी और आत्मा में अन्तर्यामी रूप से स्थित है उसे न पृथ्वी ही जानती है न आत्मा ही, इसलिए समस्त भूत अन्तर्यामी रूप भगवान् में स्थित है ।

'अन्तर्यामी ब्राह्मण' में कहा गया है कि - ''यस्य पृथ्वी शरीरम्........य पृथ्वीमन्तरो यमयति ।'' यस्यात्मा शरीरं य आत्मनामन्तरो यमयति ''जिस परमेश्वर का पृथ्वी शरीर है, जो अन्तर्यामी रूप से पृथ्वी का नियमन करता है ।'' आत्मा जिसका शरीर है जो अन्तर्यामी रूप से आत्मा का नियमन करता है ।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि समस्त जड़ और चेतन की स्थिति भगवान् में होने से और इसका नियमन करने से भगवान् शेषी हैं । जिस प्रकार सम्पूर्ण चराचर भगवान् के आश्रित हैं उसी प्रकार भगवान् जड़ और चेतनों के आश्रित नहीं हैं । भगवान् की स्थिति में उनका कोई उपकार नहीं है । संसार भागवान् के आश्रित रहता है जैसाकि तुलसी दासजी ने भी कहा है -

'एहि विधि जग हरि आश्रित रहहीं ।'

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

अन्वय :- **च भूतानि मत्स्थानि न, मे ऐश्वरम् योगम् पश्य, भूतभृत्, न च भूतस्थः मम आत्मा भूतभावनः ।**

अर्थ :- तथा वे भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं । मेरा ऐश्वर्य योग (ईश्वरीय योगसामर्थ्य) देख- (कि) मैं भूतों का धारण-पोषण करने वाला हूँ पर भूतों में स्थित नहीं हूँ । मेरा मन भूतभावन है (यानी मनोमय संकल्प भूतों का भावयिता है)

व्याख्या :- अभी पूर्व के श्लोक में भगवान् ने स्वयं कहा है कि सम्पूर्ण चराचर मुझमें है, फिर इस श्लोक में कह रहे हैं कि मुझ में संपूर्ण चराचर नहीं है । दोनों उक्तियों में विरोध प्रतीत हो रहा है, किन्तु वास्तव में विरोध नहीं है। इस श्लोक में भगवान् इसलिए 'मुझ में सम्पूर्ण चराचर नहीं है' कह रहे हैं कि कहीं भक्त को भ्रम न हो जाय कि भगवान् में चराचर घटस्थ जल की भाँति है । भगवान् कह रहे हैं कि जिस प्रकार जल घट में रहता है उसी प्रकार मुझमें संसार नहीं रहता । अथवा जीव में नियामक की भाँति रहता हूँ । उसी भाँति मुझमें रहने वाले चराचर नियामक और उत्पत्ति-नाशक भाव में नहीं रहते हैं। सम्पूर्ण भूत चराचर मेरे सत्य संकल्प से मुझमें स्थित है ।

भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! मेरे ईश्वरीय आश्चर्यजनक योग को देखो कि मैं सम्पूर्ण चराचर को धारण किये रहता हूँ । सबका पालन पोषण करता हूँ । जिस प्रकार माता बच्चे को गोद में रख कर पालन पोषण करती है उस प्रकार मैं भरण पोषण नहीं करता, वरन् मेरी आत्मा ही भूत-भावन है । आत्मा, इस श्लोक में मन वाचक है । अर्थात् भगवान् अपने सत्य संकल्प से चराचर का भरण-पोषण करते हैं । यही भगवान् का ईश्वरीय योग है । यदि कोई यह शंका करे कि जब भगवान् सत्य संकल्प से प्राणियों का भरण-पोषण करते हैं तब क्यों किसी को भूखा रखते हैं और किसी को पर्याप्त भोजन प्रदान करते हैं ।

इस शंका का उत्तर यह है कि जीवों का जैसा कर्म होता है वैसा ही भगवान् सत्य संकल्प भी करते हैं । उनमें दोष की सम्भावना ही नहीं है । भगवान् में सत्यकाम और सत्य संकल्प दो दिव्य गुण हैं । इन्हीं गुणों के द्वारा

सृष्टि का पालन और संहार करते हैं । सम्पूर्ण चराचर के प्रति भगवान् का उपकार है पर भगवान् के प्रति चराचर का नहीं है ।

अतएव परम कारुणिक परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये ताकि संसार सागर से मुक्ति मिल सके ।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

अन्वय :- **यथा सर्वत्रगः महान् वायुः नित्यम् आकाशस्थितः, तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि इति उपधारय ।**

अर्थ :- जैसे सर्वत्र गतिवाली वायु नित्य ही आकाश में स्थित है, वैसे ही समस्त भूत (प्राणी) मुझमें स्थित हैं, तू ऐसा समझ या निश्चय कर ।

व्याख्या :- पूर्व में दो श्लोकों में भगवान् ने जो कहा है कि मुझमें सभी चराचर हैं उसीको दृष्टांतपूर्वक इस श्लोक में कह रहे हैं कि जिस प्रकार सर्वत्र गमन करने वाली नित्य महान वायु आकाश में स्थित है, उसी प्रकार सम्पूर्ण चराचर मुझमें हैं । भगवान् के कहने का आशय यह कि आकाश में वायु इस प्रकार नहीं रहती जिस प्रकार घड़े में जल वरन् निर्लिप्त भाव से, सर्वत्र गमन करती हुई रहती है । आकाश वायु को पकड़े हुये नहीं रहता । भगवान् भी सबको उसी प्रकार अपनी गोद में नहीं लिये रहते हैं जैसे माता बच्चे को । भगवान् के सत्य संकल्प से सभी चराचर की उत्पत्ति हुई है ।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया हे – भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चमःइति । तै. उ. ।२।८।१ इन्हीं परमात्मा के भय से पवन नियमानुसार चलता है, सूर्य ठीक समय पर उदय और अस्त होते हैं, तथा इन्हीं के भय से अग्नि इन्द्र और पाँचवा मृत्युदेव अपना अपना कार्य सुव्यवस्थित रूप से करते हैं ।

कठोपनिषद् में भी कहा गया है –

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥२।३।३॥

भगवान् के भय से ही अग्नि तपती है, सूर्य समय से तपता है । इन्हीं के भय से इन्द्र, वायु, मृत्यु, देवता दौड़ दौड़ कर अपने कामों को जैसे जल बरसाना, प्राणियों को जीवन-शक्ति प्रदान करना, जीवों के शरीरों का अन्त करना,- करते हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् में –"एतस्य वा अक्षरे प्रशासने सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ दृष्टतः" कहा गया है कि "हे गार्गि इस अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में ही सूर्य और चन्द्र धारण किये हुये हैं ।" इस प्रकार सभी चराचर भगवान् में स्थित हैं ।

इस श्लोक में "आकाश" शब्द का प्रयोग कर भगवान् ने यह बताया कि आकाश निराकार है । आकाश अभाव नहीं है वरन् भाव पदार्थ है । भाव में ही गुण होता है । प्रत्यक्ष प्रमाण से 'शब्द' गुण आकाश में देखा जाता है । यद्यपि भगवान् निराकार,नहीं हैं किन्तु यदि 'दुर्जनतोष–न्याय' से, मान भी लिया जाय तो भी निराकार आकाश सगुण है, उसी प्रकार ब्रह्म निराकार होते हुये सगुण है, मानना पड़ेगा ।

जो लोग ब्रह्म को निराकार सिद्ध करने के लिये गोस्वामी तुलसी दास जी इन पंक्तियों -

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करै विधि नाना ।
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥ (रा० मा० १।५,६)

को उद्धृत करते हैं, अपनी अज्ञता का परिचय देते हैं । ये पंक्तियाँ 'अस सब भाँति अलौकिक करनी' भगवान् की करनी-करण-वायु आदि का वर्णन करती है । वायु बिना पैर के चलती है, केतु बिना मुख से खाता है । राहु और केतु में सभी लक्षण घट जायेंगे । ब्रह्म तो सगुण साकार है ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! कल्पक्षये सर्वाणि भूतानि मामिकाम् प्रकृतिम् यान्ति, कल्पादौ अहम् पुनः तानि विसृजामि ।**

अर्थ :- हे कुन्ती-पुत्र ! कल्प के अन्त में सारे भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त करते हैं (यानी लीन हो जाते हैं), कल्प के आदि में मैं पुनः उन्हें रचता हूँ (या उन्हें उत्पन्न करता हूँ)

व्याख्या :- इस श्लोक में 'कौन्तेय' शब्द का प्रयोग कर भारतीय नारियों को शिक्षा प्रदान करते हैं कि प्रत्येक नारी को कुन्ती के समान आचरण करना चाहिये । कुन्ती के समान आचरण करने से अर्जुन के समान यशस्वी और वीर पुत्र को उत्पन्न कर सकती हैं और प्रातः स्मरणीय बन सकती हैं । कुन्ती पञ्च कन्याओं में से हैं जिनका प्रातःकाल नाम लेने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं । जैसा कि महाभारत में कहा गया है-

अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा ।
पञ्चकं नाम स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ॥७॥

भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को बताते हुये भगवान् कह रहे हैं कि आकाश में वायु की भाँति मुझमें जो सम्पूर्ण चराचर स्थित है, वह कल्प के क्षय होने पर मेरी जड़ प्रकृति को प्राप्त हो जाता है और कल्प के आदि-(उत्पत्ति काल) में मैं उसे पुनः रचता हूँ ।

भागवत के १२वें स्कन्ध में बताया गया है कि -

चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।
सकल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशांपते ॥९॥

कि ब्रह्मा का दिन एक हजार चतुर्युग का होता है । वही कल्प कहलाता है और उसमें क्रमशः चौदह मनु बीतते हैं और -

"त्रयो लोका इमे तत्र कल्पान्ते प्रलयाय हि"

कल्प के अन्त होने पर तीनों लोकों का - अर्थात् संपूर्ण चराचर जिन्हें भगवान् ने 'भूतानि' बताया है इसके अन्तर्गत पृथ्वी, जल, वायु आदि जड़ पदार्थ और सभी जीव आते हैं - प्रलय हो जाता है। कल्प के अन्त में सम्पूर्ण चराचर भगवान् की प्रकृति-(शरीर) में मिल जाता है। इस प्रकृति को 'तम' कहा जाता है। मनुस्मृति कहती है- "आसीदिदं तमो भूतम्" मनु. १।५ कि सृष्टि के पूर्व तम था। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है कि "तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्" ऋ. सं. ८।७।१७।३ सृष्टि के पूर्व नाम रूप विभाग रहित तम था। यह प्रलय भगवान् के सत्य संकल्प से होता है। प्रलय का वर्णन करते हुए उपनिषद् ने बताया है कि "अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देवे एकीभवति" (सु. उ. २) अव्यक्त अक्षर में लीन हो जाता है और अक्षर तम में और तम भगवान् में एकाकार हो जाता है। जो भूत-चराचर (जड़ प्रकृति) - नाम रूप विभाग रहित तम में लीन हो जाता है। जो लोग यह कहते हैं कि प्रलयकाल में जीव और माया नष्ट हो जाते हैं, ठीक नहीं कहते। प्रलय काल में - जो माया और जीव पदार्थ अलग थे निर्गुणात्मक रस्सी की भाँति एक हो जाते हैं। इसे फिर कल्प के आदि में सृजन करते हैं। यदि चित् और अचित् पदार्थ नष्ट हो जाते तो भगवान् यह नहीं कहते कि जो भूत प्रलय काल में मेरी प्रकृति में मिल जाते हैं उन्हीं भूतों को मैं सत्य संकल्प से पुनः रचता हूँ।

जब कल्प प्रारम्भ होता है तब भगवान् अपने सत्य संकल्प से सृष्टि करते हैं। "विसृजामि" में 'वि' उपसर्ग से 'सत्य संकल्प के द्वारा' अर्थ होगा। श्रुति कहती है -

'सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति।' परब्रह्म ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ।

कल्प के आदि में भगवान् सत्यसंकल्प से सृष्टि करते हैं, जैसा कि मनुस्मृति कहती है-

"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्" मनु० १।८

परमेश्वर ने ध्यान करके जड़ प्रकृति से विश्व की सृष्टि की।

इसलिए दिव्यगुण वाले परमात्मा को जानने का प्रयत्न करना चाहिए जिसके जान लेने पर संसार छूट जाता है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥८॥

अन्वय :- **प्रकृतेर्वशात् अवशम् इमम् कृत्स्नम् भूतग्रामम् (अहं) स्वाम् प्रकृतिम् अवष्टभ्य पुनः पुनः विसृजामि।**

अर्थ :- प्रकृति के वश से विवश हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को मैं अपनी प्रकृति का अवलम्बन करके पुनः पुनः नाना प्रकार से रचता हूँ।

व्याख्या :- भगवान् बता रहे हैं कि मैं अपनी प्रकृति को आठ विभाग में करके इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को-जो प्रकृति के वश से विवश हुये रहते हैं, पुनः पुनः नाना प्रकार से सृजन करता हूँ।

गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। भगवान् इसी प्रकृति का आठ विभाग करके (पंचभूत और मन बुद्धि तथा अहंकार) इन चारों प्रकार-देव, तिर्यक् मनुष्य और स्थावर के भूत समुदायों का सृजन उनके कर्मानुसार करते
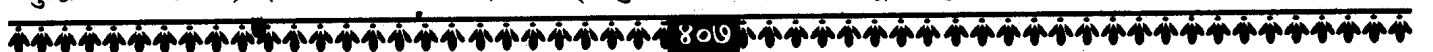
हैं। सम्पूर्ण देव, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावर भूत-समुदाय सबको मोहित करने वाली, भगवान् की गुणमयी प्रकृति के विवश हो रहे हैं। इसलिए सम्पूर्ण चराचर प्रकृति के वश में है। माया के वशीभूत होकर जीव अनेक कुकर्मों को किया करता है, इस कारण उसकी मुक्ति नहीं होती है। भगवान् इन सभी को समय समय पर बार-बार रचा करते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जीव अनादि काल से चला आ रहा है।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को माया-विमुक्त होने के लिये परमपिता परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

अन्वय :- **धनंजय ! तेषु कर्मसु उदासीनवत् आसीनम् च असक्तम् माम् तानि कर्माणि न निबध्नन्ति।**

अर्थ :- हे धनंजय ! उन कर्मों में उदासीन की तरह स्थित और आसक्ति रहित मुझको वे (विषम रचना) आदि कर्म नहीं बाँधते।

व्याख्या :- भगवान् पुनः पुनः सम्पूर्ण चराचर को रचते हैं। उनकी सृष्टि में विषमता पायी जाती है। इसलिए यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है जब भगवान् विषम सृष्टि करते हैं तो इस निर्दयता और विषमतादि के कारण भगवान् को कर्म-बन्धन में सांसारिक मनुष्यों की भाँति बंधना पड़ता होगा। इस संदेह का निराकरण करते हुये कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! वे विषम सृष्टि के कर्म मुझको नहीं बाँधते हैं। मैं तो उन कर्मों से उदासीन की भाँति आसक्ति-रहित रहता हूँ।

भगवान् कह रहे हैं कि जो मैं विषम सृजन का कर्म करता हूँ, वे मुझमें निर्दयतादि दोषों को उत्पन्न नहीं करते हैं। मैं स्वतः किसी को देव, तिर्यक्, धनी, गरीब आदि नहीं बनाता। जीवों के जैसे कर्म होते हैं उसीके अनुसार देव मनुष्य, तिर्यक् आदि योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है -

कर्म प्रधान विश्व कर राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा।

जो जैसा करता है वह वैसा फल पाता है। भगवान् वादरायण ने कहा है - 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (ब्र. सू. २।१।३४) भगवान् में विषमता और निर्दयता आदि दोष नहीं हैं, क्योंकि वे सारी रचना पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार करते हैं। यदि कोई यह कहे कि यह बात नहीं सिद्ध होती कि भगवान् कर्मानुसार जीवों की रचना करते हैं, क्योंकि महाप्रलय में कर्मों का विभाग नहीं है। इस पर कहते हैं कि 'न कर्मविभागादिति चेन्नानादित्वात् (ब्र. सू. २।१।३५) कर्म अनादि हैं।

भगवान् उत्पत्ति, पालन और संहार के कार्यों में उदासीन की भाँति आसक्ति-रहित रहते हैं। अथवा (उत्) ब्रह्म में आसीन - ब्रह्मनिष्ठ की भाँति भगवान् कर्मों में अनासक्त रहते हैं। इसलिये भगवान् को कर्म नहीं बाँधते। भगवान् तो सर्वपर हैं।

साधारण मनुष्यों की आसक्ति कर्मों में रहती है, इसलिये वे कर्म-बंधन में पड़े रहते हैं। भगवान् यदि बुरे कर्म करने वालों को कष्ट देते हैं तो भगवान् ठीक ही करते हैं। अर्जुन ने सभी दुष्टों का वध किया, किन्तु उसे किसी ने दोषी नहीं ठहराया, वरन् दुर्योधन को ही पापी कह गया है।

इसलिये परम कारुणिक भगवान् में दोषानुसंधान नहीं करना चाहिये। यदि कोई कष्ट आवे तो समझना चाहिये कि बुरे कर्मों के कारण ही कष्ट भोग रहा हूँ। परमानन्द प्राप्त करने के लिये भगवान् की अनन्या भक्ति करनी चाहिये।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! मया अध्यक्षेण प्रकृति सचराचरम् सूयते, अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते।**

अर्थ :- हे कुन्ती-पुत्र ! मुझ अध्यक्ष द्वारा (प्रेरित) प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। इस हेतु से जगत् चलता रहता है। (या संसार-चक्र घूमता रहता है)

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि मुझ अध्यक्ष के द्वारा प्रेरित प्रकृति समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। इस हेतु से यह संसार चल रहा है।

वस्तुतः सत्यसंकल्प भगवान् के द्वारा प्रेरित प्रकृति जीवों के कर्मानुसार चराचर की रचना करती है। माया जड़ है, जड़ में क्रिया-शक्ति असम्भव है। संसार में जितने जड़ पदार्थ हैं जबतक उनमें चेतन का सहयोग नहीं मिलता तबतक क्रिया-शीलता नहीं आती। जड़ वस्तु से सृष्टि असम्भव है। भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि प्रकृति स्वतंत्र नहीं है, किन्तु भगवान् के अधीन है। भगवान् की प्रेरणा से इसमें सृष्टि-रचना की शक्ति आती है।

प्रभु प्रेरित नहीं निज बल ताके।

जिस प्रकार जड़ आटा पीसने वाली जड़ मशीन उसके स्वामी के द्वारा संचालित होने पर जो जैसा अन्न लाता है उसे वैसा ही आँटा देती है। उसी प्रकार प्रभु के द्वारा प्रेरित माया जीवों के कर्मानुसार सृजन करती है। श्रुति भी कहती है-

''अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः' मायावी (परमपुरुष) इस विश्व की रचना करता है। उसमें दूसरा (जीव) माया से बँधा रहता है। प्रकृति को ही माया कहते हैं जैसा कि श्रुति कहती है -

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।

प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर को माया का स्वामी समझना चाहिये।

सृष्टि को माया रचंती है, पर प्रभु की दासी होने के कारण सृष्टि का अध्यक्ष भगवान् ही कहे जाते हैं। जिस प्रकार सेना के ज़ीतने पर राष्ट्रपति और पूरे देश की विजय होती है उसी प्रकार प्रभु के सत्यसंकल्प से माया के द्वारा रचित सृष्टि प्रभु की ही कहलाती है। जीवों के कर्मानुसार सृष्टि होने से ईश्वर में निर्दयता आदि दोष की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भगवान् सबके स्वामी और सत्यसंकल्प हैं।

भगवान् के इस ऐश्वर्ययोग के द्वारा संसार विविध प्रकार चक्की की भाँति चला करता है और जीव जौ, गेहूँ, चना की भाँति पिसते चले जाते हैं। यद्यपि की माया रूपी चक्की सबको पीसती रहती है पर स्वतन्त्र बल से नहीं, वरन् भगवान् रूपी कील के बल से। इसलिए जो उपासक भगवान् के चरण रूपी कील में अन्न की भाँति चिपक जाता है उसे माया रूपी चक्की कभी नहीं पीस सकती। इसके विपरीत जो चरण रूपी कील से अलग रहता है उसे माया पीस कर आँटा बना देती है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

अन्वय :- **मूढाः भूतमहेश्वरम् मम परम् भावम् अजानन्तः माम् मानुषीम् तनुम् आश्रितम् अवजानन्ति।**

अर्थ :- मूर्ख लोग मुझ सब भूतों के महान् ईश्वर को, मेरे परम भाव को न जानते हुए, मुझे मनुष्य शरीरधारी (समझ) तुच्छ समझते हैं, यानी साधारण मनुष्य समझ अवज्ञा करते हैं।

व्याख्या :- भगवान् इस चराचर के स्वामी हैं। जब वे -

'परित्रणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गी. ४।८)

- सज्जन व्यक्तियों की रक्षा के लिए और दुष्टों को नष्ट करने के लिए और धर्म की स्थापना हेतु मनुष्य का शरीर धारण करते हैं उस समय राक्षसी प्रवृत्ति वाले मूढ़ व्यक्ति भगवान् के परभाव को नहीं जानते। वे यह नहीं समझ सकते हैं कि भगवान् ने साधु व्यक्तियों को सुख प्रदान करने के लिए मनुष्य का शरीर धारण किया है।

सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है -

तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं विसद जस राम जन्म कर हेतु ॥ रा.मा.बा.का. १२१॥
सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।
कृपा सिंधु जन हित तनु धरहीं ॥

मूढ़ लोग, चर और अचर के स्वामी परमात्मा को (उपर्युक्त परं भाव को) न जानकर भगवान् को यह कह कर अपमानित करते हैं कि राम, दशरथ के पुत्र मात्र हैं और कृष्ण अन्य मनुष्य की भाँति केवल अहीर के बेटा हैं। इसके अतिरिक्त इन्हें चोर, व्यभिचारी अन्यायी आदि का दोष लगाकर भगवान् को अपमानित करते हैं। जो भगवान् को दशरथ-सुत मात्र ही समझते हैं उनके विषय में गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं-

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच !
पाषंडी हरिपद विमुख जानहिं झूठ न साच ॥ (रा.मा.बा.का.॥११४॥)

अग्य अकोविद अंध अभागी । काई विषय मुकुर मन लगी ।
लंपट कपटी कुटिल बिशेषी । सपनेहु संत सभा नहिं देखी ।
कहहिं ते वेद असंमत बानी । जिन्हके सूझ लाभ नहिं हानी ।
मुकुर मलिन अरु नयन विहीना । राम रूप देखहिं किमि दीना ॥

राक्षस रावण ऐसा ही था जिसे विभीषण समझाते हुए कहते हैं 'तात राम नहिं नर भूपाला'

पर रावण तो राम को साधारण मनुष्य समझता है, कहता है - ''मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती' मंदोदरी 'नाथ भजहु रघुनाथहिं अचल होई अहिवात 'अहिवात माँगती है, पर रावण 'देव दनुज नर सब बस मोरे' कहकर सांत्वना देता है । अंगद से तो यहाँ तक-

'अगुन अमान जान तेहि दीन्ह पिता बनवास ।
सो दुख अरु जुबती विरह पुनि निसिदिन मम त्रास । (रा.मा.लं.का. ३१(क))
जिन्हके बल कर गर्व तोहि अइसे मनुज अनेक ॥

मरते समय भी 'कहाँ रामु रन हतौं पचारी' ही कहता है । कहने का आशय यह कि रावण और कंस ऐसे राक्षस भगवान् के माननीय रूप को नहीं समझ पाते । भक्त लोग तो पक्षी का रूप भी समझ जाते हैं । जिस समय भगवान् हंस बने थे उस समय सनकादि शीघ्र ही समझ गये ।

इसलिए नास्तिकों के बहकावे में पड़कर राम कृष्ण को मनुष्य नहीं समझना चाहिए । यदि ये मनुष्य रूप धारण न किए होते तो किस प्रकार शबरी, सरभंग, यशोदा आदि की मनोकामनाओं को पूर्ण करते । भगवान् के किसी रूप की निन्दा न करते हुए जो प्रतिदिन भगवान् की भक्ति में परायण रहता है, वह निश्चय ही परमानन्द को प्राप्त करता है ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

अन्वय :- **राक्षसीम् आसुरीम् च मोहिनीम् प्रकृतिम् एव आश्रिताः, मोघाशाः मोघकर्माणः मोघज्ञानाः विचेतसः ।**

अर्थ :- राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति का ही आश्रय लेने वाले मनुष्य व्यर्थ आशा वाले, व्यर्थ कर्मवाले, व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्त चित्त होते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि जो व्यक्ति मुझे साधारण मनुष्य समझकर मुझसे मनुष्यों सा व्यवहार करते हैं, वे मूढ़ मेरे जन्म-ग्रहण करने के कारण को समझ नहीं पाते हैं । मेरी दयालुता और भक्तवत्सलता को नहीं समझ सकते

हैं । ये मूढ़ राक्षसी आसुरी और मोहिनी प्रकृति वाले होते हैं । आसुरी प्रकृति वालों का वर्णन गीता के १६वें अध्याय में इस प्रकार किया गया है -

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।।४।।

आसुरी प्रकृति वाले दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कटुवचन और अज्ञान से मोहित रहते हैं । राक्षसी प्रकृति वाले भी इसी प्रकार के होते हैं, किन्तु दोनों में अन्तर यही होता है कि राक्षसी प्रकृति वाले किसी से डरते नहीं । रावण राक्षसी प्रकृति वाला था । भगवान् ने रावण के समान बलवान खर दूषण को मार दिया, फिर भी उसे भय नहीं, काम-मोहित होकर उसने जगज्जननी सीता का हरण किया । राक्षसी प्रकृति वाले कभी मोक्ष की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं ।

कंस आसुरी स्वभाव वाला था । भगवान् के अवतार को सुनकर भयभीत हो गया । उसने शीघ्र ही वसुदेव और देवकी को बन्दीगृह से मुक्त कर दिया । श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित है कि -

तयाभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः ।
देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ।। श्रीमद्भा. १०।४।१४।।

योगमाया की भविष्यवाणी को सुनकर कंस को बड़ा विस्मय हुआ और उसने शीघ्र ही वसुदेव और देवकी को बंधन-मुक्त कर कहा । कंस इतना भयभीत हो गया कि वह अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप करता हुआ कहता है --

पुरुषाद इवापात्यं बहवो हिंसिताः सुताः ।

x x x x

कॉल्लोकान् वै गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन् ।।श्रीमद्भा. १०।४।१६।।

राक्षस की तरह पापी के द्वारा बहुत से लड़के मारे गये । मैं मरने पर न जाने किन लोकों को जाऊँगा । इस समय मैं ब्रह्म-हत्यारे के समान श्वास लेता हुआ मृतक तुल्य जीवित हूँ ।

तीसरे प्रकार के मूढ़ वे हैं जो मोह के आश्रित रहते हैं । शिशुपाल श्रीकृष्ण भगवान् के पराक्रम को जानता था, पर रुक्मिणी के मोह में पड़कर श्रीकृष्ण भगवान् को सर्वदा अपशब्द कहा करता था । इसका परिणाम यह हुआ कि वह कृष्ण के हाथो ही मारा गया ।

ऐसे मूढ़ लोगों के कर्म, आशा एवं ज्ञान व्यर्थ होते हैं और इनका चित्त भी विक्षिप्त रहता है । रावण ने यही आशा की थी कि मैं स्वर्ग से मर्त्यलोक तक सीढ़ी लगा दूँगा और इंद्र को जीतकर पृथ्वी पर अवर्षण को दूर कर दूँगा, किन्तु रावण की एक भी आशा पूर्ण नहीं हुई ।

कंस ने धनुष-यज्ञ रूपी कर्म व्रज बालकों का वध करने के लिए किया था । परिणाम में वही मारा गया । मेघनाद ने भी लक्ष्मण-वध हेतु यज्ञ प्रारम्भ किया था, किन्तु न यज्ञ पूर्ण हुआ न उसकी कामना ही । वह शीघ्र ही मारा गया । हिरण्यकश्यप का ज्ञान सफल नहीं हुआ । ज्ञानी बनकर उसने ऐसा वरदान माँगा था कि मैं कहीं भी किसी अवस्था में न मारा जाऊँ, किन्तु उसका ज्ञान व्यर्थ हो गया ।

इसके अतिरिक्त ये मूढ़ विक्षिप्त चित्त वाले होते हैं । इन्हें सत्य का रास्ता दिखाई ही नहीं देता । कंस यह समझ ही नहीं सका कि, आठवाँ बालक कौन होगा ? आठवाँ एक ही हो सकता है, आठ नहीं । हिरण्यकश्यप प्रह्लाद को सभी प्राणनाशक कष्टों से रक्षित देखकर भी पागल की भाँति अपने को ही भगवान् समझता रहा । रावण भी अपने भाल-लिखित मृत्यु को पढ़ता है पर विक्षिप्तचित्त के कारण ही उस पर विश्वास नहीं करता है ।

ये मूढ़ व्यर्थ ज्ञान कर्म और आशा वाले होकर भगवान् की दयालुता को न समझ सकने के कारण भगवान् को साधारण मनुष्य समझकर उन्हें अपमानित करते हैं ।

अतएव कोई मनुष्य नास्तिकों की बात न माने । भगवान् की दयालुता पर विश्वास करते हुये उनकी उपासना करनी चाहिए ।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

अन्वय :- **तु पार्थ ! दैवीम् प्रकृतिम् आश्रिताः अनन्यमनसः महात्मानः माम् भूतादिम् अव्ययम् ज्ञात्वा भजन्ति ।**

अर्थ :- परन्तु हे पार्थ ! दैवी प्रकृति (स्वभाव) के आश्रित अनन्य मनवाले महात्मा मुझे भूतों का आदि और अविनाशी जानकर भजते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि हे पार्थ ! दैवी प्रकृति के आश्रित रहने वाले महात्मा जन, मुझे सम्पूर्ण चराचर का आदि कारण और अविनाशी जानकर अनन्य मन से सेवा करते हैं ।

दैवी प्रकृति का विवेचन करते हुये १६वें अध्याय में कहा गया है कि-

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत । गी. १६।१-३

निर्भय रहना, सर्वदा अन्तःकरण की शुद्धि रखना, ज्ञानयोग में रत रहना, दान देना, इन्द्रियों का दमन करना यज्ञ, स्वाध्याय, तप, और प्राणियों पर दया करना, अहिंसा और सत्य-रत रहना, क्रोध का त्याग करना, शान्तचित्त से रहना, पिशुनता न रखना, लोलुपता को त्यागना, कोमलता, लज्जा और अचंचलता को धारण करना, तेज, क्षमा, धृति, शुद्धता को धारण करना, द्रोह और गर्व न करना-दैवी प्रकृति वालों के लक्षण हैं ।

उपर्युक्त गुणवाले महात्मा लोग जो सम्पूर्ण संसार को वासुदेव वाला समझते हैं, अत्यन्त दुर्लभ हैं । भगवान् मिल सकते हैं पर ये महात्मा लोग दुर्लभ हैं । भगवान् ने स्वयं कहा है कि 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' (गी. ७।१९)
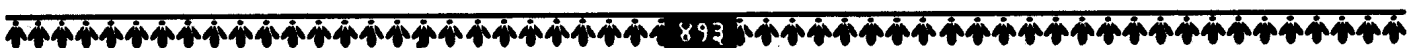
गोस्वामी तुलसी दासजी ने भी कहा है -

पुण्य-पुञ्ज बिनु मिलहिं न संता'

इन्होंने महात्मा के लक्षण बताते हुये लिखा है कि -

विषय अलंपट सील गुनाकार । पर दुःख-दुःख सुख-सुख देखे पर ।
सम अभूतरिपु विमद विरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ।
कोमल चित्त दीनन्ह पर दाया । मन बच क्रम मम भगति अमाया ।
सबहिं मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रान सब मम ते प्रानी ।
विगत काम मम नाम परायन । सांति बिरति विनती मुदितायन ।
सीतलता सरलता मयत्री । द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री ।
निन्दा स्तुति उभय सम ममता मम पद कंज ।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुनमन्दिर सुख पुंज ॥ (रा.च.मा.उ.का. ३८)

इस प्रकार के महात्मा सभी को भगवान् समझकर सेवा करते हैं । एकबार श्री रामानुजाचार्यजी विंध्य की तराई में रात्रि को ठहरे हुये थे । श्रीवरदराज भगवान् परीक्षा हेतु स्वयं महा कुरूप व्याधा का रूप धारण कर अम्बा को अपनी पत्नी बनाकर उस जंगल में अर्द्ध रात्रि के समय टहल रहे थे । भीलनी रूप में अम्बा ने अपने पतिदेव से कहा कि 'मैं प्यास से मर रही हूँ । आप जरा पानी ला दीजिये ।' इस पर व्याधा ने कहा कि ''इस निशीथ में मैं कहीं नहीं जा सकता हूँ, तुम मरो अथवा जीओ ।' भगवान् भाष्यकार ऐसा वचन सुनकर शीघ्र व्याधा के पास आये । व्याधा का विकृत रूप देखकर डरे किन्तु उस सूची-भेद्य अन्धकार में कूप से पानी लाकर अम्बा को इन्होंने पिलाया । पानी पीते ही दोनों दम्पत्ति अन्तर्द्धान हो गये । महात्माओं का ऐसा ही स्वभाव होता है ।

ऐसे दिव्य गुण वाले महात्मा भगवान् को सम्पूर्ण चराचर का कारण समझते हैं । वे यही समझते हैं ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' जिससे सम्पूर्ण चराचर की उत्पत्ति होती है, वे ही भगवान् हैं । स्वप्न में भी मनुष्यमात्र की कल्पना नहीं करते । और प्रभु को अव्यर्थ समझते हैं । जिस प्रकार मनुष्य के शरीरांग नष्ट हो जाते हैं उस प्रकार भगवान् के अंग कल्पान्त में भी नष्ट नहीं होते । कागभुसुण्डी जी कई कल्पतक भगवान् के उदर में भगवान् को एक समान ही देखते हैं । उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन है ही नहीं । **'भ्रमत मोहि ब्रह्माण्ड अनेका । बीते मनहुँ कल्प सत एका' ॥** (रा० मा० ७।८१।१)

''सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपालु रघुवीर'' (रा० मा० ७।८१)
भुवन भुवन देखत फिरहूँ,

दैवीगुण वाले महात्मा भगवान् को अविनाशी और सम्पूर्ण चराचर का कारण समझकर अनन्यमन से भगवान् का ही भजन करते हैं जैसे चातक स्वाती का ही जल पान करना चाहता है, उसी प्रकार वे केवल भगवान् को ही उपाय और उपेय समझकर उनकी उपासना करते हैं ।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को भगवान् को साधारण मनुष्य न समझकर जगत् का निमित्त और उपादान कारण समझते हुये उन्हीं की ही उपासना करनी चाहिए ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

अन्वय :- **सततम् माम् कीर्तयन्तः च दृढव्रताः यतन्तः च भक्त्या नमस्यन्तः, नित्ययुक्ताः माम् उपासते ।**

अर्थ :- (वे) सदा मेरा कीर्तन करते हुए तथा (मेरे लिए) दृढव्रती होकर प्रयत्न करते हुए और भक्ति से मुझे नमस्कार करते हुए, नित्ययुक्त हो (यानी सदा मुझमें लगे रहकर) मुझे भजते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि दैवी गुण से सम्पन्न महात्मा लोग सदा मेरा कीर्तन करते हुये मेरे लिए दृढ़व्रती होकर प्रयत्न करते हुए और भक्ति से मुझे नमस्कार करते हुये नित्य मुझमें लगे रहकर मुझे भजते हैं ।

महात्माजन, भगवान् में अत्यन्त प्रेम होने के कारण भगवान् के कीर्तन, और उनके लिए प्रयत्न एवं नमस्कार किए बिना क्षण के अणुमात्र समय तक भी जीवन धारण नहीं कर सकते हैं । भगवान् के विशेष गुणों के वाचक नामों राम, कृष्ण, वासुदेव नारायण आदि का स्मरण करने से उनके अंग पुलकित हो जाते हैं और कंठ हर्ष से गद्गद् हो उठते हैं । वास्तव में भगवान् के नामों की जितनी महत्ता है उतना अन्य किसी की नहीं । श्रुति कहती है 'यस्य नाम महद्यशः' जिसका नाम महान है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने नाम की महत्ता का वर्णन करते हुए इतना तक कह डाला है कि -

'रामु न सकहिं नाम गुन गाई' (रा० मा० १।२५।८)
'नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं' (रा० मा० १।२४।४)

व्यास जी ने 'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्' 'हरि का नाम ही मेरा जीवन है' कहा है ।

भगवान् के भक्त भगवान् के नामों का कीर्तन करते हुए कभी रोने लगते हैं, कभी हँसने लगते हैं और गद्गद् होकर कभी नाचने लगते हैं । श्रीमद्भागवत महापुराण के ११वें स्कन्ध में कहा गया है कि -

क्वचित् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति, नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायान्त्यनुशीलयन्त्यजं, भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥ (श्रीमद्भा. ११, स्कन्ध ३।३२।)

भगवान् के भक्त भगवान् अच्युत का ध्यान करते हुये कभी रोते, कभी हँसते, कभी आनन्दित होते और कभी अलौकिक वाणी बोलते हैं । वे कभी नाचते, कभी भगवद्गुण गाते और कभी अजन्मा प्रभु की लीलाओं का चिन्तन कर मौन हो जाते हैं ।

गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में भगवान् रामचन्द्र जी लक्ष्मण जी से भक्तों की दशा का वर्णन करते हुए कह रहे हैं -

मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥

महाभागवत भरत जी के राम-कीर्तन का वर्णन करते हुये तुलसी दास जी ने लिखा है -

पुलक गात हिय हिय रघुबीरू । जीह नाम जप लोचन नीरू । (रा० मा० २।३२५।१)

मुनि अगस्त्य के शिष्य सुतीक्ष्ण तो नाम लेते-लेते नाचने लगते हैं-

'कबहुँ क नृत्य करहिं गुन गाई' (रा० मा० ३।६।१२)

भगवान् के भक्त नामों के कीर्तन करते हुए भगवान् के कर्मों में दृढ़ संकल्प होकर यत्न करते हैं । अर्थात् प्रभु की पूजा-वन्दना और स्तुति करते हैं, या पूजा वन्दना आदि के लिये मन्दिर, वाटिका, बगीचा, तालाब, कूयें आदि का निर्माण करते हैं । भगवान् के भक्त इतने दृढ़व्रती होते हैं कि वे प्रभु के कामों से लाख विपत्ति पड़ने पर भी विचलित नहीं होते । भरतजी के दृढ़व्रत को देखकर मुनिवृंद लज्जित होते थे ।

असन बसन बासन ब्रत नेमा । करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा ॥ (रा० मा० २।३२३।४)
सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं । देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥ (रा० मा० २।३२५।४)

ये भक्त दृढसंकल्प होकर यत्न करते हुये भक्ति के भार से विनम्र होकर मन बुद्धि अहंकार, दोनों पैर, हाथ और सिर इन अष्टांगों से धूलि कीचड़ और बालू आदि का विचार किये बिना ही दण्ड की भाँति धरातल पर गिरकर भगवान् को दायें से होकर चादर आदि को कमर में बाँधकर नमस्कार करते हैं । साष्टांग प्रणाम करने की विधि है-

उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा ।
पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टांग उच्यते ॥

उर से, सिर से, दृष्टि से, मन से, वचन से, दोनों पैरों से, दोनों हाथों से, दोनों जाँघों से 'भूतल परे लकुट की नाई' लाठी के समान भूमि पर पड़कर, बतायी गई है । दृष्टि से प्रणाम करने का तात्पर्य 'भगवान् की प्रतिमा को अच्छी तरह से देखता है' मन से प्रणाम का तात्पर्य भगवान् के चरणों में मन रहे । वाणी से प्रणाम करने का तात्पर्य यह है कि 'ॐ' या अन्य भगवान् के नामों को लेता हुआ प्रणाम करे, अथवा निम्नलिखित श्लोक को केशवालय में कह कर प्रणाम करे-

अमर्य्यादः क्षुद्रश्चलमतिरसूयाप्रसवभूः,
कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वंचनपरः ।
नृशंसः पापिष्ठः कथमहमितो दुःखजलधे-
रपारादुत्तीर्णस्तवपरिचरेयं चरणयोः ॥ (आल. श्लोक ६५)

'अग्रे पृष्ठे वामभागे सम्मुखे गर्भमन्दिरे । जपहोमनमस्कारान्न कुर्यात् केशवालये ॥'

केशव भगवान् के मन्दिर के आगे पीछे, वाम भाग में सामने और मन्दिर के भीतर जप हवन तथा साष्टांग प्रणाम नहीं करना चाहिये । केवल दायीं ओर से प्रणाम करना चाहिए । इसके अतिरिक्त शरीर को ढँककर भी प्रणाम नहीं करना चाहिये । जैसा कि कहा गया है -

वस्त्रप्रावृत्तदेहस्तु यो नरः प्रणमेत्तु माम् ।
स स्त्रीत्वं जायते मूर्खः सप्तजन्मनि भामिनि ॥

हे भामिनी ! जो पुरुष वस्त्र से शरीर को ढँक कर प्रणाम करता है वह मूर्ख मरने पर सात जन्म तक स्त्री होता है । उपर्युक्त विधि से साष्टांग प्रणाम करने से शारीरिक लाभ होता है । जो व्यक्ति निरन्तर सोये बैठे रहते हैं यदि वे साष्टांग प्रणाम करते हैं तो उनके हाथों और अंगों में बल मिलता है ।

भगवान् के भक्त उपर्युक्त विधि से भगवान् को नमस्कार करते हुए नित्ययुक्त होकर उपासना करते हैं । कहने का आशय यह कि ये लोग नित्य भगवान् में युक्त रहते हैं और शरीरान्त के बाद भी भगवान् से संयोग चाहते हुए दास्य भाव की कामना करते हुये अपने मन को स्वाधीन कर भगवान् की उपासना करते हैं । हनुमान् जी 'जन्म जन्म सिय राम पद यह वरदान न आन' प्रत्येक जन्म में भगवान् की दासता ही चाहते हैं- ताकि अनन्यमन से भगवान् की उपासना कर सकें । इसलिए प्रत्येक मानव को सुख-प्राप्ति करने के लिए अचल मन से भगवान् की उपासना, नाम रूप-गुण धाम के कीर्तनपूर्वक करनी चाहिये । जो ऐसा करते हैं भगवान् की दासता को प्राप्त करते हैं ।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

अन्वय :- **च अन्ये ज्ञानयज्ञेन माम् यजन्तो अपि बहुधा पृथक्त्वेन विश्वतोमुखम् एकत्वेन उपासते ।**

अर्थ :- और दूसरे (महात्मा) ज्ञानयज्ञ से मेरा यजन (यानी मेरी पूजा) करते हुए भी बहुत प्रकार से पृथक्-पृथक् रूप से (जगत् के आकार में) स्थित (मुझे) विश्वतोमुख (यानी सर्वतोमुख) परमेश्वर की एकत्वभाव से उपासना करते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि दूसरे (महात्मा) ज्ञानयज्ञ से पूजा करते हुए भी बहुत प्रकार से पृथक्-पृथक् रूप से (जगत् के आकार में) स्थित मुझ विश्वतोमुख परमेश्वर की उपासना एकत्वभाव से करते हैं ।

इस श्लोक के 'च' कार से 'सततं कीर्तयन्ति...........' के 'अतिरिक्त दूसरे ज्ञानी महात्मा अर्थ होगा । ये ज्ञानी महात्मा पूर्व श्लोक में वर्णित कीर्तनादि साधनों से और ज्ञान नामक यज्ञ से पूजा करते हुए भगवान् की ही उपसना करते हैं । यज् धातु का पूजा अर्थ होता है ।

गीता में बारह प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं । इन यज्ञों में ज्ञानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ है । भगवान् स्वयं कहते हैं कि-

'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप' (गी. ४।३३)

'ज्ञान और द्रव्य इन दोनों आकारवाले कर्मों में द्रव्यमय अंश की अपेक्षा ज्ञानमय अंश ही श्रेष्ठ है । जो चीज जैसी है उसे उसी रूप में ठीक से जानना ज्ञानयज्ञ कहलाता है । स्वाध्याय भी ज्ञानयज्ञ कहा जाता है । भगवान् ने अठारहवें अध्याय में स्वयं कहा है कि जो इस धर्ममय हम दोनों के संवाद रूप गीताशास्त्र को पढ़ेगा उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा-''ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः'' गी. १८।७०

दूसरे महात्मा ज्ञानयज्ञ से पृथक्-पृथक् रूप से जगत् के आकार में स्थित विश्वाकार में अवस्थित भगवान् की उपासना एक भाव से करते हैं । वे लोग यह समझते हैं कि भगवान् ही सृष्टि के पूर्व एक थे । अपने सत्यसंकल्प से बहुत हुये ।

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'

जगत् की सृष्टि के पूर्व एक आत्मा-भगवान् ही थे 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति' भगवान् ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ । तैत्तरीयोपनिषद् में भी कहा गया है -

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' आनन्द स्वरूप परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ ।

नामरूप के विभाग से रहित अत्यन्त सूक्ष्म जड़ चेतन वस्तुमात्र भगवान् का शरीर है, उसी शरीर को उन्होंनें विभिन्न नाम रूपों में विभक्त जड़ चेतन वाला होने का संकल्प किया । उस सत्य संकल्प से नामरूप में विभक्त होने वाले देव मनुष्य, तिर्यक् आदि जगत् भगवान् के शरीर हैं । श्रुति भी कहती है । 'यस्य पृथ्वी शरीरम्' 'यस्य आत्मा शरीरम्' पृथ्वी और आत्मा भगवान् के शरीर हैं । वाल्मीकि जी ने भी कहा है कि सम्पूर्ण संसार भगवान् का शरीर है ।

जो ज्ञानी महात्मा हैं, बहुत प्रकार के विविध रूप में स्थित भगवान् को एक ही समझते हैं । 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः (तै. व. ३। अनु.१०) वे परमात्मा मनुष्य और सूर्य में रहने वाले एक हैं ।

इन्द्र, सूर्य, वरुण, आदि में स्थित विश्वाकार भगवान् ही हैं । ज्ञानी महात्मा एकभाव से उपासना करते हैं । वे यह नहीं समझतें कि इन्द्र आदि देव अलग रूप से ईश्वर हैं । सभी जड़ और चेतन में स्थित विश्वाकार भगवान् एक ही हैं । जबतक अज्ञान रहता है तभीतक पृथक्-पृथक् रूप में स्थित भगवान् के नामरूपविभागात्मक शरीर सूर्य, चन्द्र, इन्द्र पृथ्वी आदि अलग-अलग प्रतीत होते हैं ।

यहाँ एक घटना उल्लेखनीय है । एक बार यशोदा माता के यहाँ गर्गगोत्रीय एक ब्राह्मण आये । उस समय श्री कृष्ण भगवान् घुटनों के बल से दिगम्बर वेष में घर के आँगन को सुशोभित कर रहे थे । यशोदा माता ने अतिथि सत्कार के लिये ब्राह्मण को मोहन भोग बनाने के लिये सामग्री दी । विप्रदेव ने भोजन तैयार कर पर्दे का आड़ कर शालीग्राम की मूर्ति को सामने रख कर कहा -

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद पुरुषोत्तम ॥

कि हे भगवन् ! यह आपकी, वस्तु है आप को समर्पित की गई है । सुन्दर मुख से प्रसन्न होकर ग्रहण कीजिये । उधर श्रीकृष्ण भगवान् मोहन भोग को बड़े प्रेम से खा रहे थे । जब ब्राह्मणदेव ने नेत्र खोलकर देखा तो यशोदा पर क्रुद्ध हो गये । यशोदा जी ने प्रार्थना कर इस बार चूड़ा और दही दिया और श्रीकृष्ण भगवान् को एक घर में बन्द कर दिया । विप्रदेव के भोग लगाते ही कृष्ण भगवान् आकर खाने लगे । इसे देखकर विप्रदेव के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा । उनहोंने यशोदा जी को उल्टी सीधी बहुत बातें कहीं । बहुत प्रकार से प्रार्थना कर माता यशोदा ने इस बार माखन मिश्री खाने

के लिए दिया और श्रीकृष्ण भगवान् को कई किवाड़ों के भीतर बन्दकर ताला बन्द कर दी । भगवान् ने पुनः आकर माखन खालिया और कुछ मुख में लपेट लिया । ब्राह्मण के क्रुद्ध होने पर यशोदा जी जब श्रीकृष्ण को मारने के लिए उद्यत हुईं तब भगवान् ने तोतली भाषा में कहा कि 'माँ मेरा दोष नहीं है । पण्डित जी जब मुझे बुलाते हैं तभी मैं आता हूँ 'इतना सुनते ही विप्रदेव का अज्ञानान्धकार दूर हुआ और श्रीकृष्ण के जूठे माखन को खाकर अत्यन्त प्रफुल्लित हुये ।

इसलिए केवल निर्गुणात्मक ब्रह्म ही ब्रह्म नहीं है । सभी चराचर में स्थित ब्रह्म है । शंकराचार्य जी जब काशी से पूर्व की ओर चले तो जगन्नाथ मन्दिर में स्थित काष्ठमूर्ति वाले जगन्नाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि-

'जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।'

\+ \+ \+

ब्रह्मदारुं स्मरामि

ब्रह्मरूपी दारु ही यानी काष्ठ ही मुझे दर्शन दें ।

जब व्यक्ति को ज्ञान हो जाता है तो सभी चराचर में स्थित भगवान् को एकभाव से उपासना करने लगता है ।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह वाद-विवाद को छोड़कर सम्पूर्ण चराचर को भगबान् में समझे और एकत्व भाव से प्रभु की अनन्याभक्ति से उपासना करे ।

अहं कतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।१६।।

अन्वय :- **अहम् क्रतुः अहम् यज्ञः, अहम् स्वधा, अहम् औषधम्, अहम् मन्त्रः अहम् एव आज्यम्, अहम् अग्निः अहम् हुतम् ।**

अर्थ :- मैं क्रतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषध हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं ही घृत हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं हवन हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन को यह बता रहे हैं कि मैं किस प्रकार बहुत प्रकार से पृथक्-पृथक् रूप में हूँ । भगवान् कह रहे हैं कि मैं ही क्रतु और यज्ञ हूँ । मैं ही स्वधा और औषध हूँ । मैं ही मन्त्र हूँ, घृत मैं ही हूँ, अग्नि मैं ही हूँ और हवन मैं ही हूँ ।

क्रतु और यज्ञ में अन्तर होता है । जैसे अस्त्र और शस्त्र में अन्तर होता है उसी भाँति इन दोनों में भी अन्तर होता है । वेद में जिन मन्त्रों से हवन आदि विधि को बताया गया उस श्रौत कर्म को 'क्रतु' कहते हैं । जैसे महाभारत में कहा गया है कि--

'चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वा स मे विष्णुः प्रसीदतु ।।

पहले चार अक्षरों से दो बार, फिर दो अक्षरों से इसके बाद पाँच अक्षरों से, तब दो अक्षरों से हवन करना चाहिये ।

ज्योतिष्टोमादि याग इसी प्रकार किये जाते हैं । 'ॐ' श्रावण अस्तु.श्रोषट् यज ये यजामहे वौषट्' इस मन्त्र के 'ॐ श्रावण' और 'अस्तु श्रोषट्' में चार अक्षर हैं 'यज' में दो अक्षर हैं और 'ये यजामहे' में पाँच अक्षर एवं 'वौषट्' में तीन अक्षर हैं । इस विधि से किये जाने वाले श्रौत कर्म को 'क्रतु' कहते हैं ।

यहाँ पर यज्ञ पंचमहायज्ञ के लिये आया है । भगवान् कह रहे हैं कि गृहस्थों से प्रतिदिन जो पाँच महापाप होते हैं उसके निमित्त जो पंचमहायज्ञ किये जाते हैं, वही मैं हूँ । मनुस्मृति के अनुसार निम्न पाँच महापाप मनुष्यों द्वारा किये जाते हैं-

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्कराः ।
कण्डनी उदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥

चूल्हा (अग्नि जलाने से) चक्की (पीसने से) बुहारी (बुहारने से) ओखली (कूटने से) और उदकुम्भ-जल के स्थान (जलपात्र रखने का स्थान) । इन पापों से छुटकारा पाने के लिए महर्षियों ने पाँच महायज्ञ करने का विधान किया है-

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षभिः ।
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो-बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ मनु० ।

१. ब्रह्मयज्ञ-ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुये वेद वेदाङ्ग तथा पुराणादि को पढ़ना पढ़ाना ।।

२. पितृयज्ञ - श्राद्ध तथा तर्पण ३. देवयज्ञ - देवताओं का पूजन तथा हवन ।

४. भूतयज्ञ-कुत्तों आदि को बलि अर्पण करना । ५. मनुष्ययज्ञ-अतिथिसत्कार ।

मृत्पितरों को दिया जाने वाला जल और पिण्ड जो स्वधा करके दिया जाता है वह भगवान् ही हैं । 'श्रुति कहती है कि 'मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते' अथर्व. का. १७ अ. २ मं. ३५ । द्युलोक के मध्यभाग में पितृगण स्वधा से प्रसन्न होते हैं । यदि पिण्डदान नहीं किया जाता है तो पितृगण नरकगामी होते हैं ।

'पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः गीता' १।४२

ज्ञानी लोग जो स्वधा शब्द से जल या पिण्डदान करते हैं वे यह समझते हैं कि मैं भगवान् के शरीर स्वरूप पितृगणों को देता हूँ ।

भगवान् कह रहे हैं कि मैं ही औषध हूँ । यहाँ औषध हविवाचक हैं । ओषधि से होने वाले को औषध कहते हैं । 'ओषधयः फलपाकान्ताः (मनु) जिस पौधे के फल के पक जाने पर पौधे का जड़ भी सूख जाय उसे औषध कहते हैं । जैसे चना, जौ, मटर, गेहूँ आदि पौधे । इसी औषध से हवि तैयार की जाती है जिससे यज्ञ किया जाता है । श्रुति 'हविषा यज्ञमतन्वत' कहती है ।

भगवान् आगे बता रहे हैं कि मैं ही मंत्र हूँ। जैमिनी ऋषि ने कहा है 'तच्चोदकेषु मंत्राख्या: पू. मी. अ. २ पा. १ सू. ३२। प्रेरणालक्षण श्रुति को मन्त्र कहते। जैसे 'धियो यो न: प्रचोदयात्' इस श्रुति में सुबुद्धि प्राप्ति की प्रेरणा दी गई है। वेद में जो मारण आदि मन्त्र हैं उन्हें मन्त्र नहीं कहते हैं। व्याकरण की दृष्टि से 'मन्तारं त्रायते इति मन्त्र:' जो मनन करने वालों की रक्षा करे उसे मन्त्र कहते हैं। ज्ञानी मन्त्रोपासक भगवान् की ही उपसना करते हैं।

मन्त्र के अतिरिक्त भगवान् ही आज्य-(घृत) हैं। देवताओं ने जब प्रथम-प्रथम यज्ञ किया था, उस समय बसंत ऋतु ही आज्य (घृत) था। 'वसन्तो आज्यं' श्रुति। जिसप्रकार घृत के कारण ही भोजन पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् के स्मरण करने से व्यक्ति पवित्र हो जाता है। 'यो स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याऽभ्यंतर: शुचि:' इसलिए भगवान् घृत हैं, घृत यहाँ उपलक्षण मात्र है। सोम आदि हविष भी भगवान् ही हैं।

इसके बाद भगवान् बता रहे हैं कि मैं ही अग्नि और जो हवन किया जाता है वह मैं ही हवनीय पदार्थ हूँ। ज्ञानी गण अग्नि को अलग सत्ताधारी देव नहीं समझते। दोनों को भगवान् के ही पृथक् रूप में समझते हुए उपासना करते हैं।

इस प्रकार भगवान् यह बता रहे हैं कि मैं विविध रूप से पृथक्-पृथक् विभिन्न नाम रूप से स्थित हूँ। इस रहस्य को ज्ञानी महात्मा समझते हुए उनकी उपासना करते हुये मेरी ही उपासना करते हैं।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि संसार में जितने नामरूपात्मक पदार्थ हैं सब भगवान् के शरीर ही हैं। उनकी सत्ता को पृथक् नहीं समझना चाहिये। सबको भगवान् ही समझकर सबकी उपासना करनी चाहिए।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामह: ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

अन्वय :- **अस्य जगत: पिता माता पितामह: धाता, वेद्यं पवित्रम् ओंकार: ऋक् यजु: साम च अहम् एव।**

अर्थ :- इस जगत् का पिता, माता पितामह, धाता, (वेदों द्वारा) जानने योग्य पवित्र ओंकार और ऋक्, यजु एवं सामवेद (और 'च' से अथर्ववेद) भी मैं ही हूँ।

व्याख्या :- गीता में भगवान् से जीव के तेरह सम्बन्ध बताये गये हैं। यहाँ चार संबन्धों को बताते हुए, भगवान्, अर्जुन को अंगुलि मुद्रा से संसार दिखाते हुये कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! मैं इस संसार का पिता, माता, धाता और पितामह हूँ। मैं ही जानने योग्य पवित्रों में पवित्र तत्त्व एवं ॐ कार तथा ॠक्, यजु:, सम और अथर्ववेद हूँ।

भगवान् संसार के पिता हैं। उन्होंने स्वयं कहा है 'अहं बीजप्रद: पिता'। अर्जुन ने भी कहा है 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' हे भगवन् ! आप जड़ पृथ्वी, वायु अग्नि आदि और चर चेतन के पिता हैं। सभी लोग भगवान् को 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' कहकर नमस्कार करते हैं। इसलिए भगवान् सभी चराचर के पिता हुए।

भगवान् पिता ही नहीं हैं अपितु माता भी हैं। जिस प्रकार माता अपने गर्भ में बच्चे को रखती है उसी प्रकार भगवान् भी अपने उदर में संसार को इस प्रकार रखे हुये हैं जैसे मकड़ी जाले को रखे रहती है। भगवान् ने गीता के
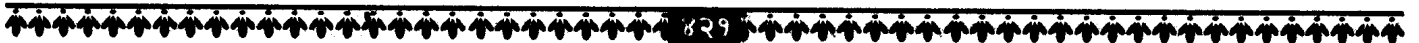
११वें अध्याय में अपने मुख में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अर्जुन को दिखा दिया है ।.श्रीकृष्ण भगवान् ने बाल्यावस्था में माता यशोदा को भी अपने मुख में सम्पूर्ण लोकों को दिखाया था । इसी कारण हम प्रतिदिन ईश्वर को 'त्वमेव माता' कहकर वन्दना करते हैं ।

भगवान् माता-पिता के अतिरिक्त धाता हैं । धाता ब्रह्मा को कहते हैं 'सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इसी कारण अर्जुन ने 'प्रजापतिस्त्वं' कहा है ।

श्रुति कहती है कि 'ब्रह्मा च नारायण:' ब्रह्मा भगवान् के शरीर होने के कारण नारायण ही हैं । इसलिए भगवान् धाता भी हैं ।

अथवा 'धा' धातु का अर्थ धारण और पोषण होता है । तृच् प्रत्यय से धातृ बनकर प्रथमा में धाता बनता है। सम्पूर्ण चराचर पोष्य है । भगवान् पोषक हैं । धाता बनकर भगवान् पोष्य-पोषक संबंध को बताते हैं । माता गर्भ में बालक की रक्षा नहीं करती है, भगवान् ही करते हैं । भगवान् ही सम्पूर्ण चराचर का पोषण करते हैं ।

भगवान् का जीव से चौथा संबंध पितामह का है । ये पिता के भी पिता हैं । भगवान् के नाभि से कमल उत्पन्न हुआ है और ब्रह्मा कमल से उत्पन्न हुये । भगवान् ब्रह्मा के ही पितामह हुये । ब्रह्मा सम्पूर्ण सृष्टि करने के कारण सम्पूर्ण चराचर के पिता हैं । इसलिये भगवान् विश्व के पितामह हैं ।

जो पुत्र एक संबंध रखने वाले पिता माता और पितामह की सेवा नहीं करता वह आततायी और राक्षस प्रवृत्ति वाला समझा जाता है । यदि व्यक्ति चार संबंध रखने वाले भगवान् की उपासना नहीं करता है तो महाराक्षस समझने योग्य है । भगवान् ने जीव से चार संबंध रखकर यह बताया कि मैं विश्वाकार हूँ । जो पिता माता धाता और पितामह की सेवा करता है वह एकभाव से मेरी ही सेवा करता है ।

चारों संबंध बताने के बाद भगवान बता रहे हैं कि मैं वेदों को जानने के योग्य पवित्र तत्त्व हूँ । गीता के १५वें अध्याय में भगवान् ने स्वयं कहा है "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:" सभी वेदों द्वारा मैं ही जानने योगय हूँ । भगवान् वेद ही नहीं, अपितु वदों के वेत्ता भी हैं । स्वयं कहते हैं 'वेदविदेव चाहम्' गी. १५।१५ मैं वेदों को जानने वाला हूँ । इसके अतिरिक्त वेदों का बीज ऊँकार मैं ही हूँ । माण्डूक्य उपनिषद् कहती है कि 'भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव' भूत, वर्तमान और भविष्य सभी 'ॐ कार ही है । ॐ वेदों का प्राण है, 'प्रणव: सर्ववेदेषु' कहा गया है ।

भगवान् कह रहे हैं कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और 'च' कार से अथर्ववेद मैं ही हूँ । वेद चार हैं, तीन नहीं । महर्षि पतञ्जलि ने 'चत्वारो वेदा:' बताया है । छान्दोग्योपनिषद् भी कहती है 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदं माथर्वणं चतुर्थं (छा. ७।१।२)

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विजातीय कहते हैं और शूद्र का संस्कार न होने से शूद्र या एक जातीय कहते हैं उसी प्रकार ऋक्, यजु और साम वेदों में एकता रहने के कारण त्रयी और विशेष धर्म के कारण अथर्वेद कहते हैं ।

भगवान् कह रहे हैं कि चारो वेद मैं हूँ ।

इस प्रकार भगवान् स्वयं पृथक् भाव से फैले हुये हैं । ज्ञानी महात्मा सबको भगवान् समझकर एक भाव से भगवान् की ही उपासना करता है ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

अन्वय :- **गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणम् सुहृत् प्रभवप्रलयस्थानम् निधानम् अव्ययम् बीजम् (अहम् एव)**

अर्थ :- (सबका) भर्ता, गति (प्राप्य स्थान) प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद् उत्पत्ति और प्रलय का स्थान, निधान और अविनाशी बीज मैं ही हूँ ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्' की व्याख्या करते हुये बता रहे हैं कि - हे अर्जुन ! मैं सबकी गति, भर्त्ता, प्रभु साक्षी, निवास शरण सुहृद् उत्पत्ति और प्रलय का स्थान, निधान और अविनाशी बीज हूँ ।

भगवान् सम्पूर्ण संसार की गति हैं । 'गम्यते इति गतिः' जहाँ जाया जाय उस लक्ष्य का नाम गति है । अर्थात् सबके पाने योग्य स्थान भगवान् ही हैं । भगवान् को प्राप्त करना ही जीव का लक्ष्य है । इसलिए भगवान् गति हैं । इसके अतिरिक्त भगवान् सबके भर्ता हैं । अर्थात् सभी को अपनी शक्ति से धारण किये हुए हैं । सभी चराचर को भोजन प्रदान के कारण भर्ता बने हुये हैं । यदि भगवान् सबको भोजन न प्रदान करें तो माता पिता आदि किसी को धारण नहीं कर सकते । सम्पूर्ण जगत् के भगवान् ही शासक हैं । इस कारण से प्रभु कहलाते हैं । ये जीवों के कर्मानुसार सभी का शासन करते हैं । भगवान् साक्षी-(प्रत्यक्ष द्रष्टा) हैं । अन्तर्यामी रूप से सभी के कर्मों को देखते रहते हैं । ये सम्पूर्ण संसार के निवास स्थान हैं । सम्पूर्ण संसार इनका शरीर है और ये शरीरी हैं । बिना शरीरी के शरीर की सत्ता नहीं है । इसलिए भगवान् सबके निवास स्थान हैं । इसके अतिरिक्त हमारे भगवान् सबकी शरण हैं । प्रत्येक चेतन इष्ट की प्राप्ति चाहता है और अनिष्ट से निवृत्ति चाहता है । इन दोनों कामनाओं को पूर्ण करने वाले भगवान् ही हैं । इसलिए वे सबकी शरण हैं । शरण स्वरूप भगवान् 'सुहृद्'- यानी उपकार न चाहते हुये कल्याण करने वाले हैं ।

समस्त प्राणियों के उद्‌भव और प्रलय का स्थान भगवान् ही हैं । इन्हीं से सम्पूर्ण चराचर 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' की उत्पत्ति होती है और प्रलयकाल में प्रकर्षरूप से लय भगवान् में ही हो जाता है । जो नामरूप विभागात्मक जड़ और चेतन हैं वे नामरूप विभाग से रहित सूक्ष्म चिदचिद् ब्रह्म में मिल जाते हैं । 'निधीयते इति निधानम्' अर्थात् उत्पत्ति और प्रलय के समय जो वस्तु उत्पन्न और प्रलय होती है वह भगवान् ही है । ज्ञानी महात्मा सभी को भगवान् ही समझते हैं । इसके अतिरिक्त भगवान् इस संसार का अविनाशी बीज (कारण) हैं । कुण्डल कटक आदि का कारण स्वर्ण विनाशी है, किन्तु इस संसार का कारण अविनाशी है, अर्थात् प्रलय काल में भी उस कारण का नाश नहीं होता । श्रुति 'कारणं ध्येयम्', इसी कारण को समझने के लिए आदेश देती है ।

इस प्रकार अपने को पृथक् रूप में बताकर भगवान् जीव से अपना संबंध भी बताते हैं । पूर्व के श्लोक में चार संबंधों को बताते हैं, संबंध द्विनिष्ठ होता है, एक में नहीं ।

इस श्लोक में पाँचवा संबंध दिखाते हुए भगवान् बता रहे हैं कि मैं गति हूँ, अर्थात् जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध प्रापक प्राप्य भाव से है । जीव प्रापक है और ब्रह्म प्राप्य है । 'गम् लृ गतौ' से प्राप्त करना अर्थ होता है । छठा सम्बन्ध-भर्ता और पत्नी का सम्बन्ध है, भगवान् पति और जीव पत्नी । जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री के लिए पति ही सब कुछ है उसी प्रकार जीव के लिए ईश्वर पति स्वरूप हैं । सातवाँ सम्बन्ध स्वामी और सेवक का है । ब्रह्म स्वामी हैं, जीव सेवक । इसलिए सेवक का कर्तव्य प्रभु की सेवा करना है । आठवाँ सम्बन्ध साक्षी और साक्ष्य का है । ब्रह्म साक्षी है जीव साक्ष्य । भगवान् सबको देखते हैं पर हम उन्हें नहीं देख पाते । जब अर्जुन को भगवान् ने दिव्य दृष्टि प्रदान की तब भगवान् को अर्जुन देख सका ।

नवाँ सम्बन्ध आधार और आधेय का है । भगवान् आधार हैं और संसार आधेय है । आधार पर ही आधेय आश्रित रह सकता है । दसवाँ सम्बन्ध शरण और शरण्य का है । भगवान् शरण-(रक्षक) हैं । और जीव शरण्य-(रक्ष्य) है । इससे सिद्ध हो जाता कि बिना प्रभु की शरण में गये जीव की रक्षा नहीं हो सकती । ग्यारहवाँ सम्बन्ध मित्र और सखा की है । इसके अतिरिक्त भगवान् दो सम्बन्ध ग्यारहवें अध्याय में और बताये हैं । बारहवाँ सम्बन्ध गुरु और शिष्य का है । भगवान् गुरु हैं और जीव शिष्य । ग्यारहवें अध्याय में कहा गया है - 'त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्' गी. ११।४३ आप इस चराचर के श्रेष्ठ गुरु हैं । तेरहवाँ सम्बन्ध अंशी और अंश का है । पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् ने स्वयं कहा है - 'ममैवांशो जीवलोको' गी. १५।७ यह जीवात्मा मेरा ही अंश है । अर्थात् भगवान् अंशी हैं और जीव अंश है । अंश कभी अंशी के समान नहीं हो सकता ।

इस प्रकार भगवान् ने तेरह सम्बन्ध बताकर यह बताया है कि जीव को प्रमाद में अपने को ब्रह्म नहीं समझना चाहिए तथा केवल एक ही तत्त्व नहीं है । जीव से ब्रह्म के तेरह नाते हैं । सम्बन्ध दो ही में सम्भव है । दूसरी बात यह बताते हैं कि यदि व्यक्ति एक दो सम्बन्ध को अच्छी तरह नहीं निभाता है तो सभ्य समाज में वह अप्रतिष्ठित गिना जाता है तो जिस ब्रह्म से जीव के तेरह अविच्छिन्न सम्बन्ध हैं उसे यदि न माने तो जीव की कितनी कृतघ्नता है ।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि पृथक् रूप में स्थित ब्रह्म को एक भाव से उपासना करे और ब्रह्म से जो तेरह सम्बन्ध हैं उनमें से किसी एक सम्बन्ध का भी सात्विक बुद्धि से निर्वाह करे ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

अन्वय :- **अर्जुन ! अहम् तपामि अहम् वर्षम् निगृह्णामि च उत्सृजामि, अहम् एव अमृतम् च मृत्युः, सत् च असत् ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! मैं तपता हूँ, मैं वर्षा को रोके रखता और बरसाता हूँ । मैं ही अमृत और मृत्यु, सत् और असत् भी हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् ही सूर्य और अग्नि आदि के रूप में तपते हैं । ज्ञानी, सूर्य और अग्नि को भगवान् का रूप समझते हैं किन्तु अज्ञानी इन्हें केवल सूर्य अग्नि मात्र ही समझते हैं । श्रुति कहती है-'तदेवाग्निस्तदादित्य:' वही ब्रह्म अग्नि और सूर्य है जो बसंत और ग्रीष्म ऋतु में तपा करते हैं । भगवान् ही ग्रीष्मादि ऋतुओं में वर्षा को रोक देते हैं । अथवा जब पाप अधिक बढ़ जाता है तब वर्षा ऋतु में भी वर्षा को रोक देते हैं । और जहाँ सुन्दर धर्ममय राज्य रहता है वहाँ सूर्य की किरणों द्वारा प्रत्येक जलीय स्थान से सोखे हुये जल को वर्षा के रूप में भगवान् बरसाते हैं । मनुजी ने भी कहा है-

अग्नौ प्राप्ताहुती सम्यक् आदित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टि: वृष्टेरन्नं तत: प्रजा ॥

कि अग्नि में अच्छी तरह दी हुई आहुती सूर्य को प्राप्त होती है और सूर्य से वृष्टि होती है । वृष्टि से अन्न उत्पन्न होते हैं । अन्न से ही प्राणी जीवित रहते हैं । यदि सम्यक् आहुति यज्ञ में दी जाती है तभी वर्षा होती है ।

भगवान् कह रहे हैं कि मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ । जिससे प्राणी मरते हैं उसे मृत्यु कहते हैं । भगवान् अमृत और मृत्यु दोनों हैं । इसलिए ज्ञानी दोनों को ब्रह्म का शरीर समझकर न प्रमुदित होते हैं न विलपते ही हैं । भगवान् कुछ नामों को गिनाकर कह रहे हैं कि विशेष मैं क्या कहूँ । मैं सत् और असत् हूँ । 'न अस्ति इति असत्' अर्थात् वर्तमान के अंतिरिक्त जो भूत और भविष्य है वह मैं ही हूँ । कहने का आशय यह कि वर्तमान वस्तु का नाम सत् और भूत भविष्य वस्तु का नाम असत् है । तीनों अवस्थाओं में स्थित जड़-चेतन वस्तु भगवान् का शरीर ही है ।

अथवा तैत्तिरीयोपनिषद् में जो 'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत ।' सत् और असत् कहा गया है वही भगवान् हैं । सृष्टि के पूर्व असत् ब्रह्म थे । अर्थात् नामरूप विभाग से रहित सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट भगवान् कारण स्वरूप थे । वही नामरूप विभागयुक्त सत् हुये । जो कारण था वही कार्य के रूप में होने से 'सत् कहलाया । भगवान् अपने को कारण और कार्य रूप बता रहे हैं ।

इस प्रकार भगवान् बहुत से प्रकारों में पृथक्-पृथक् विभक्त नामरूपों में अवस्थित सम्पूर्ण जगतरूप शरीर वाले हैं । इसलिए अनेकरूप में भगवान् ही स्थित हैं । ज्ञानी महात्मा सब चराचर में भगवान ही हैं, ऐसा समझकर सबकी उपासना करते हुये एक भाव से भगवान् की ही उपासना करते हैं ।

त्रैविद्या मां सोमपा: पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक - मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

अन्वय :- **त्रैविद्या सोमपा: पूतपापा: यज्ञै: माम् इष्ट्वा स्वर्गतिम् प्रार्थयन्ते । ते पुण्यम् सुरेन्द्रलोकम् आसाद्य दिवि दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति ।**

अर्थ :- तीनों वेदों में निष्ठा रखने वाले, सोमरस (यानी सोमलता का रस) पीने वाले, पापरहित (यानी पापों से विशुद्ध हुए) ऐसे पुरुष यज्ञों से मुझे पूजकर (मुझे न जानने के कारण) स्वर्ग प्राप्ति की याचना करते हैं । वे पुण्यफलरूप इन्द्रलोक को पाकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् ऐसे ज्ञानी महात्मा पुरुषों के स्वभाव और आचरण का वर्णन करके-जो विविध रूप में पृथक्-पृथक् स्थित भगवान् को एकत्व भाव से उपासना करते हैं अब उन सकामी उपासकों के आचरणों का वर्णन करते हैं, जो स्वर्गादि सुखों के भोगों की पूर्ति के लिये यज्ञ आदि कर्मों को करते हैं ।

सकामी (अज्ञानी) पुरुष वेद के शिरोभाग 'वेदान्त' को न जानकर केवल वेद के कर्म भाग 'स्वर्गकामो यजेत्' को जानकर स्वर्ग-कामना के लिये सोमादि यज्ञों को करते हैं । ये त्रैविद्य होते हैं । ऋक्, यजुः और सामवेद की विद्याओं का नाम त्रिविद्या है । इसी त्रिविद्या में जिसकी निष्ठा रहती है, उसे त्रैविद्य कहते हैं । यहाँ त्रैविद्य उनके लिए नहीं प्रयोग किया गया है जो वेदान्तनिष्ठ होकर केवल भगवान् को प्राप्त करने के लिये ही भक्तिपूर्वक कीर्तनादि के द्वारा भगवान् की उपासना करते हैं ।

सकामी त्रैविद्य लोग 'पिबाम सोमममृता भवाम' 'सोम यज्ञ के बचे हुए सोमरस को पीकर अमर होने' की भावना से सोमयज्ञ के लिए सोमलता का अन्वेषण करते हैं । सोमलता सर्वत्र नहीं मिलती है, यह ऐसी लता है जिसकी पत्तियाँ शुक्ल पक्ष में तिथि के अनुसार बढ़ती जाती हैं और पूर्णिमा तक इसमें पन्द्रह पत्तियाँ हो जाती हैं । कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक-एक पत्ती कम होने लगती है । अमावस्या को सब पत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं । सभी लोग सोमलता को नहीं देख पाते । जो पुण्य करने वाले होते हैं वे ही इसे देख पाते हैं । जिसके खेत में यह सोमलता रहती है उसके यहाँ से सोमलता लेने पर 'अरुणाय पिङ्गाक्षैकाहायन्या सोमं कृणाति' गाय के एक वर्षीय वछिया को देना पड़ता है जिसका वर्ण लाल होता है और नेत्र पीले होते हैं । जितनी सोमलता ली जायेगी उतनी बछिया दी जाती हैं । इस सोम यज्ञ में अथर्ववेद की आवश्यकता नहीं पड़ती है । सकामी त्रैविद्य सोमलता से वेद प्रतिपाद्य केवल इन्द्रादि के पूजनरूप यज्ञ से बचे हुए सोमरस को पीते हैं ।

तन, मन, धन से यज्ञ करने के कारण वे लोग देव ऋण से उऋण हो जाते हैं । इससे उनके स्वर्ग विरोधी पाप शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । 'सोम यज्ञ' उपलक्षण मात्र है । वे लोग स्वर्ग की कामना से रुद्र, महालक्ष्मी आदि यज्ञों को करते हैं । इस प्रकार के यज्ञों को करके स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करते हैं । ये लोग भगवान् की उपासना करते हैं पर यह नहीं सोचते हैं कि हम लोग यज्ञ-रूप भगवान् की उपासना कर रहे हैं । शरीर की अर्चना करने से शरीरी की पूजा हो जाती है, पर ये लोग यह समझते हैं कि हम इन्द्र, रुद्र आदि की उपासना यज्ञों से स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए करते हैं । ज्ञानी स्वर्ग-कामना की दृष्टि से न करके अपना कर्म समझ कर उपासना करते हैं ।

सोमादि यज्ञों को करने के कारण वे पुण्य फल को प्राप्त करने के कारण इन्द्रादि लोकों को जाते हैं । इन्द्रादि लोकों को भौतिक शरीर से कोई नहीं जा सकता है । सूक्ष्म शरीर से वे लोग इन्द्र लोक को जाते हैं । यहाँ पर जाकर अपने पुण्यानुसार स्वर्ग में होने वाले पुण्यमय, दुःख से अमिश्रित देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ।

इस प्रकार सकामी लोग स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञों को करके इन्द्रादि लोकों के सुखों को भोगते हैं । जब पुण्यक्षीण होता है तब वे पुनः जन्म ग्रहण करके संसार-चक्र में भ्रमण किया करते हैं ।

अतएव प्रत्येक मनुष्य को यज्ञों से इन्द्रादि की ही उपासना कर रहा हूँ ऐसा नहीं सोचना चाहिए । वरन् यह सोचना चाहिए कि मैं इन्द्रादि देहमय भगवान् की उपासना कर रहा हूँ ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवम् त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना, गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

अन्वय :- **ते तम् विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा, पुण्ये क्षीणे मर्त्यलोकम् विशन्ति । एवम् त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्नाः कामकामाः गतागतम् लभन्ते ।**

अर्थ :- वे उस विशाल स्वर्ग को भोग कर पुण्य के क्षीण होने पर पुन: मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं । इस प्रकार के वेदत्रयी प्रतिपादित धर्म के आश्रित और भोगों की कामना वाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् के कहने का आशय यह है कि जो पूर्व के श्लोक में बताये गये सकामी जन इन्द्रादि देवों की पूजा सोमादि यज्ञों से करते हैं वे सुरेन्द्र लोक को जाते हैं । वहाँ वे विशाल स्वर्गलोक के सुखों को भोगते हैं । जब उनका पुण्य क्षीण होता है तब मर्त्यलोक में पुन: चले आते हैं । जैसे कोई विधानसभा या लोकसभा का सदस्य निर्धारित समय के बीतने पर अपने पद से च्युत हो जाता । उसी प्रकार वे भी बादल के द्वारा जल बनकर पृथ्वी के क्षेत्रों में पहुँचकर अन्नादि बनते हैं । अन्न भक्षण करने वालों के रज वीर्य बन कर पुन: जीव बनते हैं । जो आकाश से टूटते हुए तारे दिखाई देते हैं वे पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आने वाले सकाम यज्ञ को करने वाले सकामी जन ही होते हैं । वे ज्यों-ज्यों नीचे आते हैं तेज हीन होते जाते हैं और मर्त्यलोक में आकर सूक्ष्म रूप से गर्भ में प्रवेश करते हैं ।

इस प्रकार वेदान्त-प्रतिपादित ज्ञान से रहित केवल स्वर्ग की कामना करने वाले सकामी जन ऋक् यजु और साम वेदों के द्वारा विहित धर्म का आश्रय लेकर आवागमन को प्राप्त करते हैं । ये लोग बार-बार अपने पुण्यानुसार स्वर्ग के सुखों को भोगकर फिर संसार में आते हैं । कुम्हार की चाक की भाँति संसार में आते जाते रहते हैं । यहाँ धर्म शब्द कर्म का पर्याय है । गीता में धर्म और कर्म शब्द को पर्याय के रूप में प्रयोग किया गया है । वेद-विहित कर्म ही ध र्म है। इसलिये भगवान् कर्म और विकर्म को जानने के किए कहते हैं - 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मण:' गी. ४।१७ वेद-निषिद्ध कर्मों को करने से 'अधर्म' जाना जाता है । इसलिए तीनों वेदों में जो सोमादि यज्ञों का वर्णन किया गया है, उसी कर्म रूपी धर्म का आश्रय लेकर आवागमन को प्राप्त करते हैं ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना:पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

अन्वय :- **ये अनन्याः जनाः माम् चिन्तयन्तः पर्युपासते तेषाम् नित्याभियुक्तानाम् योगक्षेमम् अहम् वहामि ।**

अर्थ :- जो अनन्य भक्त जन मुझे ही चिन्तन करते हुए भलीभाँति (मेरी) उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त (मुझसे निरन्तर सम्बन्ध चाहने वाले) पुरुषों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ ।

व्याख्या :- महात्मा जन निरतिशय प्रिय आनन्द कन्द भगवान् का चिन्तन करते हुए परमानन्द को पाकर पुन: आवागमन के चक्र में नहीं फँसते हैं । उन्हीं महात्माओं की विशेषता बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त भक्तों के लिए मैं योग और क्षेम का वहन करता हूँ ।

भगवान् के भक्त अनन्य होते हैं, वे भगवान् के चिन्तन के अभाव में शरीर को धारण नहीं कर सकते । भगवान् में उनका इतना गाढ़ा प्रेम रहता है कि उनके गुणों का चिन्तन किए बिना जीवित नहीं रह सकते । चिन्तयन्ती गोपी ने- 'चिन्तन्यन्ती जगत्सूतिं परब्रह्म-स्वरूपमभूः । निरुच्छ्‌वासतया मुक्तिगतान्यागोपकन्यका' संसार को बनाने वाले श्रीकृष्ण भगवान् का चिन्तन करती हुई श्वास बन्द कर मुक्ति को पाया । भक्त भगवान् को विभूतियों से युक्त कल्याण धाम समझते हैं । भगवान् को षडैश्वर्य आदि गुणों से सम्पन्न समझकर एकमात्र उन्हीं की ही उपासना करते हैं । यह उपासना अधूरी नहीं रहती है । रूप, नाम, गुण और धाममय चारो द्वारा भगवान् को प्रसन्न करते हैं ।

इस प्रकार जो उपासना करते हैं उनके लिए भगवान् स्वतः योग और क्षेम को प्रदान करते हैं । भगवान् से निरन्तर सम्बन्ध रखने की कामना को योग कहते हैं और अपुनरावृत्ति को क्षेम कहते हैं । भगवान् दोनों को प्रदान करते हैं । अनन्योपासकों को अपना नित्य सम्बन्ध प्रदान करते हैं और साथ-साथ उन्हें आवागमन के चक्र से मुक्त कर देते हैं ।

अन्य युगों की अपेक्षा कलियुग में भगवान् शीघ्र ही योग और क्षेम को वहन करते हैं । भक्त सूरदास जी पहले धनी होने के कारण बहुत वेश्यागामी थे । एक दिन शव के द्वारा नदी पार कर सर्प को पकड़ कर जब वेश्या के यहाँ गये तब वेश्या ने बहुत फटकारा । उन्हें वही वैराग्य हो गया । अपने गुरु से दीक्षा लेकर इधर-उधर भ्रमण करते हुए महाराष्ट्र प्रान्त के एक गृहस्थ के घर गये । स्त्री-दर्शन की लोलुपता के कारण इन्होंने कहा कि जो भोजन बनाता है उसी के हाथ का परोसा हुआ भोजन करता हूँ । भोजन करने के समय इन्हें ज्ञान हुआ और श्रीफल के काटों से अपने नेत्रों को फोड़ दिये । अन्धा होकर एक गुफा में यह प्रणधारण कर बैठ गये कि जब तक भगवान् नहीं बुलायेंगे तबतक मैं नहीं जाऊँगा । परम कारुणिक भगवान् भोजन लेकर आये और अपने को गोपाल (गाय, इन्द्रिय और ब्रह्माण्ड का पालन करने वाला) बताया । सूरदास जी ने ग्वाल समझा । जब गोपाल जी प्रतिदिन सभी सेवा करने के लिए तैयार हो गए तब सूरदास जी ने भोजन किया । इस प्रकार प्रतिदिन भगवान् गोपाल के रूप में उनकी सेवा करते रहे ।

कहने का भाव यह कि जो भगवान् की उपासना अनन्य भाव से करते हैं, भगवान् उनके लिए दास बन जाते हैं । इसलिए प्रत्येक मानव को सर्वांगपूर्ण भगवान् की उपासना करनी चाहिए ।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

अन्वय :- **ये अपि अन्यदेवताभक्ताः श्रद्धया अन्विताः यजन्ते, कौन्तेय ! ते अपि माम् एव अविधिपूर्वकम् यजन्ति ।**

अर्थ :- जो भी अन्यदेवताओं के भक्त श्रद्धा से युक्त होकर (अन्य देवताओं को) पूजते हैं, कौन्तेय ! वे भी मुझे ही अविधिपूर्वक पूजते हैं ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् के कहने का आशय यह है कि जो भक्त त्रयीविद्यानिष्ठ होकर श्रद्धापूर्वक अन्य इन्द्रादि देवताओं के भक्त बने हुए उनकी उपासना करते हैं, वे पूर्व के श्लोक में बतायी गयी रीति से मेरी ही उपासना अविधि

पूर्वक करते हैं । इन्द्रादि देवता रूप मेरे शरीर की उपासना करने से मेरी ही उपासना होती है । दूसरी बात यह कि इन्द्र सूर्य आदि शब्द मेरे ही नाम हैं । इसलिए उनके द्वारा की गई उपासना मेरी ही उपासना होती है, किन्तु उनकी उपासना अविधिपूर्वक होती है ।

वेद में कहा गया है 'चतुर्होतारो यत्र संपद् गच्छन्ति दैवै: (तै. आ. ४) 'अग्नि होत्र दर्शपौर्णमासादि कर्म करने वाले ऋत्विक्, अध्वर्यु, होता और उद्गाता चारो होतागण जिस परमेश्वर के आत्मरूप से स्थित रहने पर ही, उनके शरीर रूप रहने पर ही उनके शरीर रूप इन्द्रादि देवताओं के साथ सम्पत्ति (समान पदवी) को प्राप्त करते हैं । आत्मा के रहने पर ही शरीर की पूजा की जाती है और पूजा के उपरान्त सुख की प्राप्ति होती है । भगवान् उन देवताओं की आत्मा हैं । श्रुति-स्मृति से यह बात सिद्ध है । आत्मा स्वरूप भगवान् के रहने पर चारों होता भगवान् के शरीर रूप इन्द्रादि देवों की उपासना करते हैं । इन्द्रादि देवताओं की आराधना रूप कर्म भगवान् की ही आराधना होने के कारण वे सम्पत्ति रूप भगवान् को ही प्राप्त होते हैं । वेदान्त के वचन यही विधान करते हैं कि परम पुरुष के शरीर रूप स्थित इन्द्रादि देवों की आराधना करते हुए यह भावना रखनी चाहिये कि हम शरीर स्वरूप इन्द्रादि की आराधना नहीं करते हैं, वरन् शरीर स्वरूप इन्द्रादि देवों की आत्मा रूप परम पुरुष की ही साक्षात् आराधना करते हैं, किन्तु वे देव-भक्त ऐसा नहीं सोचते हैं । वे तो यह सोचते हैं कि इन्द्र, सूर्यादि देव भगवान् से न्यारे हैं । हम जो आराधना कर रहे हैं वह सूर्यादि देव की आराधना करते हैं । इसलिये उनकी आराधना अविधिपूर्वक हो जाती है । भगवान् की ही आराधना करने पर भी उनकी आराधना में दोष आ जाता है। अत: देवताओं की आराधना में यह समझना चाहिये कि मैं इन देवों के आत्म-स्वरूप भगवान् की उपासना करता हूँ ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

अन्वय :- **हि अहम् एव सर्वयज्ञानाम् भोक्ता च प्रभु: च तु ते माम् तत्त्वेन न अभिजानन्ति अत: च्यवन्ति ।**

अर्थ :- क्योंकि मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु भी हूँ, परन्तु वे मुझको तत्त्व से नहीं जानते हैं, इसलिये गिर जाते हैं ।

व्याख्या :- त्रयीविद्यनिष्ठ सकामी पुरुष यह नहीं जानते कि इन्द्रादि देवता जिस परम भगवान् के शरीर हैं उन्हीं की आराधना के लिए समस्त यज्ञादि कर्म किए जाते हैं । उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता है कि भगवान् आराध्य देव हैं, न कि अन्य देवगण । इसीलिए वे सीमित फल को प्राप्त करते हैं । उन्हें अक्षय फल की प्राप्ति नहीं होती । वे पतन को प्राप्त करते हैं । इसी बात को बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि मैं ही सभी यज्ञों का भोक्ता और प्रभु भी हूँ, परन्तु वे सकामी जन मुझको तत्त्व से नहीं जानते हैं, इसलिए गिर जाते हैं ।

भगवान् ही सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता और स्वामी हैं । सूर्य, वायु, इन्द्रादि देव तभीतक यज्ञ का भोग करते हैं जबतक उनके हृदय में भगवान् रहते हैं । जैसे आत्मा के न रहने पर शरीर सांसारिक भोगों को नहीं भोग सकता उसी भाँति आत्मा रूप भगवान् के न रहने पर शरीर रूप इन्द्रादि देव यज्ञों के भोक्ता नहीं हो सकते । श्रुति कहती

है-'अत्ताचाराचर-ग्रहणात्' चराचर के ग्रहण करने से भगवान् भोक्ता हैं । अद् धातु का अर्थ खाना है और अत्ता का अर्थ खानेवाला है ।

दूसरी बात यह कि एक ही भगवान् अनन्त रूप,-इन्द्रादि रूप में हैं । इसलिए भगवान् ही भोक्ता हुये । इसके अतिरिक्त इन्द्र, रुद्र, मरुत् आदि भगवान् के नाम होने से इन नामों से होने वाले यज्ञों के भगवान् ही भोक्ता हैं । गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है कि 'मत्त: परतरं नान्यत् किञ्चिदस्तिधनंजय' मुझसे परतर कुछ है ही नहीं और सम्पूर्ण वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य (जानने योग्य) हूँ । इसलिए भगवान् ही सभी यज्ञों को भोक्ता हुए ।

इसके अतिरिक्त भगवान् ही यज्ञों के स्वामी है । भगवान् के कहने का तात्पर्य यह है कि उन देवों के रूप में फल प्रदान करनेवाला मैं ही हूँ । अज्ञानी लोग यह नहीं सोचते कि भगवान् ही सभी यज्ञों के स्वामी हैं । वे तो यह समझते हैं कि इन्द्र, रुद्र, मरी, मसान आदि हमारे स्वामी हैं । उन्हीं की पूजा करने से मुझे अमुक-अमुक कामनाओं की पूर्ति हुई है । इसलिए वे भगवान् को तत्त्व से न जानने के कारण आवागमन के चक्र में फँसे रहते हैं । जो भगवान् को तत्त्व से जान लेते हैं उनका पतन नहीं होता । एक महात्मा गंगा जी की परिक्रमा करते हुए बिहार के संथाल परगना में गये । वहाँ पर उनकी पूजा के समय संथाल ('वहाँ का निवासी') आया । इस कारण महात्मा ने उसे मिष्ठान प्रसाद दिया । संथाल के पूछने पर महात्मा ने भगवान् की पूजा विधि संक्षेप में बताकर कहा कि 'प्रतिदिन जो तुम खाओ उसे भगवान् को समर्पित करके खाओ' वह संथाल प्रतिदिन ऐसा ही करने लगा । एक दिन वह धूप से थका हुआ था । भूख के कारण एक कटहल को चाकू से फाड़कर जब एक कोये को बिना भोग लगाये ही मुख में डाला तभी उसे अपनी त्रुटि पर ध्यान आया । धर्म-भीरु वह एक हाथ से गल पकड़कर दूसरे हाथ के चाकू से आत्म-हत्या करनी चाही तब भगवान् ने आकर हाथ पकड़ लिया । संथाल ने पूछा कि आप कौन हैं ? तब भगवान् ने उत्तर दिया कि 'मैं' भगवान् हूँ । तुम्हारे कोये को मैं खा चुका हूँ, तुम अपना प्राण मत गँवाओ । जब संथाल को भगवान् की बात पर विश्वास नहीं हुआ तब भगवान् ने मुख खोल कर दिखा दिया । संथाल जब भगवान् के मुख के भीतर कटहल के कोये को देखता है तब वह भगवान् के चरणों पर गिर जाता है । इससे सिद्ध हो जाता है कि भगवान् ही सबके भोक्ता हैं ।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रता: ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५॥

अन्वय :- **देवव्रता: देवान् यान्ति पितृव्रता: पितृन् यान्ति, भूतेज्या: भूतानि यान्ति, मद्याजिनो माम् अपि यान्ति ।**

अर्थ :- देवव्रती देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितृव्रती पितरों को प्राप्त होते हैं । भूतों के पूजक भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे पूजक मुझको ही प्राप्त होते है ।

व्याख्या :- भक्त-गण भगवान् के शरीर रूप देवतादि की उपासना करते हैं, परन्तु भगवान् के संकल्प मात्र से आश्चर्यजनक फल की प्राप्ति होती है । भगवान् की ही वे भी उपासना करते हैं पर नश्वर फल को प्राप्त करते हैं । इसीको बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि देवव्रत करने वाले देवत्व को प्राप्त करते हैं । पितृव्रत को करने वाले पितृलोक को प्राप्त करते हैं, यक्ष राक्षस भूत प्रेतादि का यजन करनेवाले अपने उपास्य के स्वरूप को प्राप्त करते हैं और मेरी उपासना करने वाले मुझको प्राप्त करते हैं ।

इस श्लोक में व्रत शब्द संकल्प वाचक है । देवपूजक यह संकल्प करते हैं कि मैं दर्शपौर्णमासादि यज्ञों से इन्द्रादि देवताओं की उपासना करता हूँ । इसलिए यज्ञों के ठीक सम्पादित होने पर जिस देव के निमित्त यज्ञ करते हैं, देहान्तर होने पर उसी देवलोक को प्राप्त करते हैं ।

पितृ-पूजक इस संकल्प से, अर्यमादि-'पितृणामर्यमा चास्मि' पितृगणों की उपासना उनकी पूजन-विधि से करते हैं, कि जो हम पूजन कर रहे हैं वे पितृगण की ही पूजा कर रहे हैं । उनकी यह भावना नहीं रहती है कि भगवान् के शरीर रूप पितृगण की पूजा करते हैं । पूजन-विधि सफल होने पर वे सूर्य-लोक से नीचे पितृलोक को प्राप्त करते हैं ।

यक्ष, राक्षस आदि के पूजक यह संकल्प करते हैं कि हम यज्ञादि से यक्ष राक्षसादि की उपासना करते हैं । अपने पूज्य को ही भगवान् से श्रेष्ठ मानते हैं । इसलिए ये भी शरीर त्यागने के बाद यक्ष राक्षसादि के लोकों को प्राप्त करते हैं । किन्तु भगवान् के भक्त उन्हीं यज्ञादि के द्वारा 'देव, पितर और भूत जिसके शरीर हैं उस वासुदेव की हम उपासना करेंगे', ऐसा संकल्प कर भगवान् को जानकर भगवान् की ही उपासना करते हैं । इसलिए वे भगवान् को प्राप्त करते हैं ।

देव, पितर और भूत लोकों को प्राप्त करने वालों का फल 'अन्तवत्तु फलं तेषाम्' (गी. ७।२३) नश्वर होता है। भगवान् ने स्वयं कहा है -

'आब्रह्मभुवनाल्लोका:' ब्रह्मलोक तक के जीव आवागमन के चक्र में फँसे रहते हैं । इसलिए इन्द्रादि लोकों को प्राप्त करने वालों को पुनः जन्म मरण ग्रहण करना पड़ता है । जो भगवान् की उपासना करते हैं उन्हें पुनः मर्त्यलोक में नहीं आना पड़ता है । भगवान् स्वयं कह आये हैं कि 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' मुझे पाकर जीव पुनर्जन्म नहीं ग्रहण करता है ।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को यज्ञादि से देवों की उपासना यह समझ कर करनी चाहिए कि देव आदि जिस भगवान् के शरीर हैं उन्हीं की मैं उपासना कर रहा हूँ । व्यक्ति का लक्ष्य भगवत्प्राप्ति होना चाहिए । यही भक्ति-मार्ग ही श्रेय मार्ग है । श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में कहा गया है कि -

श्रेयस्सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ये केवलमात्मलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते, यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ अ० १४। श्लो. ४

जो लोग कल्याण-प्राप्ति की मार्ग-रूपिणी आपकी भक्ति छोड़कर केवल आत्म-दर्शन के लिए क्लेश सहते हैं वह कष्ट मात्र ही रहता है, उन्हें कुछ मिलता है नहीं । जिस प्रकार धान की मोटी भूसी कूटने से कुछ मिलता नहीं है केवल श्रम व्यर्थ जाता है, वैसे उनका श्रम व्यर्थ हो जाता है ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

अन्वय :- य: मे पत्रम् पुष्पम् फलम् तोयम् भक्त्या प्रयच्छति तस्य प्रयतात्मनः भक्त्या उपहृतं तत् अहं अश्नामि ।

अर्थ :- जो मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल भक्ति-सहित अर्पण करता है उस पवित्रमनवाले द्वारा भक्ति से भेंट किये हुए उस पत्रपुष्पादि को मैं खा लेता हूँ ।

व्याख्या :- देवताओं की उपासना में श्रम अधिक करने पर भी नश्वर फल की प्राप्ति होती है, किन्तु भगवान् की उपासना में श्रम कम लगता है किन्तु फल अविनाशी मिलता है । भगवान् की पूजा सर्व-सुलभ है । इसी को बताते हुये भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि जो मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल भक्तिपूर्वक अर्पण करते हैं, उस पवित्र मन वाले भक्त का भक्ति से अर्पण किया हुआ पत्र पुष्पादि मैं खाता हूँ ।

भगवान् कह रहे हैं कि मेरी उपासना सर्वसुलभ है । सभी भक्तों को पत्र, पुष्प फल और जल बिना आयास के ही मिल जाता है । इनमें यह विधान नहीं है कि कोई विशेष पत्र ही हो, अथवा विशिष्ट फूल या फल ही हो । गंगा आदि जल की भी आवश्यकता नहीं पड़ती । जो पत्र, पुष्प, फल और जल मिल जाय उसे भक्त भक्ति भाव से यदि मुझे समर्पित करता है तो मैं साकार रूप धारण कर प्रेमपूर्वक खाता हूँ ।

भगवान् में अत्यन्त प्रेम होने के कारण भगवान् के भक्त पत्र-पुष्पादि अर्पण किये बिना शरीर धारण नहीं कर सकते । अत: वे इसे एकमात्र प्रयोजन समझकर भगवान् को पत्र-पुष्प फल आदि प्रदान करते हैं । भगवान् के भक्तों का मन पवित्र रहता है । यहाँ आत्मा शब्द मन वाचक है । पवित्र मनवाले भक्त भगवान् को भक्तिपूर्वक अर्पण करते हैं। भक्तिपूर्वक अर्पण किये गये पत्र पुष्पादि को भगवान् स्वयं खाते हैं । यद्यपि भगवान् सबके ईश्वर हैं, समस्त विश्व का सृजन पालन और संहार भगवान् की लीला ही है । सत्यसंकल्प निरतिशय असंख्य कल्याणगुणों से समन्वित भगवान् को समस्त भोग प्राप्त है । ये स्वत: ही परमानन्द हैं, परन्तु भक्त के द्वारा अर्पित पत्र को पाकर इतने आन्दित होकर खाते हैं जिसकी कभी कल्पना नहीं की जा सकती है । भगवान् केवल भक्ति को देखते हैं, मन्त्र तन्त्र को नहीं देखते । यदि कलुषित मन वाला मंत्र पूर्वक भी अर्पण करता है तब भी भगवान् नहीं खाते । यदि भक्त अविधिपूर्वक भी भक्तिपूर्वक पवित्र मन से अर्पण करते हैं तो भगवान् सगुण साकार रूप धारण कर बड़े प्रेमपूर्वक खाते हैं, जैसा कि मोक्ष-धर्म में कहा गया है कि -

या: क्रिया: संप्रयुक्ता: स्यु: एकान्तगतबुद्धिभि: ।
ता: सर्वा: शिरसा देव: प्रतिगृह्णाति वै स्वयं ॥ (महा० शा० ३४०।२४)

अनन्य भागवत बुद्धि वाले भक्तों के द्वारा जो-जो क्रिया भगवान् को अर्पण की जाती है उन सबको परम पुरुष स्वयं निस्संदेह सिर पर धारण करते हैं ।

भगवान् को जिन भक्तों ने प्रेम से पत्रादि को अर्पण किया उनकी प्रभु ने रक्षा की है ।

पत्रार्पणैर्द्रुपदजा कुसमैर्गजेन्द्रो, यं वै फलेन शबरी नृपरन्तिरद्भि: ।
सम्यक् तुतोष चरणैकधनस्तु लक्ष्मी-नारायणस्य चरणौ शरणं प्रपद्ये ॥

पत्र को देकर द्रौपदी, फूल से गजेन्द्र, फल से शबरी और रन्तिदेव ने जल से भगवान् को सम्यक् प्रसन्न किया है ।

जिस समय पाण्डव जंगल में रह रहे थे उसी समय दुर्योधन ने दुर्वासा ऋषि को प्रसन्न कर यह वरदान माँगा कि आप एक हजार शिष्यों के साथ युधिष्ठिर के यहाँ उस समय जाइये जब द्रौपदी भोजन कर चुकी हो । द्रौपदी के पास सूर्याराधना से प्राप्त एक ऐसी स्थाली (भोजन बनाने का पात्र, बटलोही) थी जिसमें एक सेर चावल बनता था । द्रौपदी के असंख्य अतिथि को भोजन कराने के बाद भी जितना बना रहता था उतना भोजन बच जाता था । किन्तु जब द्रौपदी खा लेती थी तब उसकी विशेषता नष्ट हो जाती थी । दुर्वासा ऋषि संध्या समय एक हजार शिष्यों के साथ उस समय पहुँचे जब द्रौपदी भोजन कर चुकी थी । दुर्वासा ऋषि ने जाकर युधिष्ठर से शिष्यों सहित भोजन कराने के लिए कहा । राजा युधिष्ठर घबड़ाये । द्रौपदी ने श्रीकृष्ण भगवान् की स्तुति की । भगवान् नंगे पैर दौड़े आये । द्रौपदी ने सारी विपत्ति कह सुनाई, भगवान् ने कहा मैं भूखा हूँ, पहले मुझे खिलाइये । द्रौपदी के नकारात्मक उत्तर देने पर भगवान् ने कहा देखो स्थाली में कुछ होगा, उसी को दो । द्रौपदी के स्थाली लाने पर भगवान् ने जब अच्छी तरह देखा तब उसके गर्दन में एक पत्ती शेष बची हुई थी । द्रौपदी के द्वारा दिए गए पत्ते को प्रेम से खाने लगे । उधर जब दुर्वासा ऋषि शिष्य सहित संध्या करने बैठे तब भगवान् की माया से आचमन करते ही सभी की भूख शान्त हो गई । इस प्रकार द्रौपदी ने पत्र अर्पण कर भगवान् को प्रसन्न कर अपनी मनोकामना को पूर्ण किया ।

गजराज ने केवल कमल के फूल से भगवान् को प्रसन्न किया था । जब ग्राह उसे पकड़ लिया था तब उसने अपनी रक्षा के लिये भगवान् को पुकारा । जब भगवान् पहुँचे तब कमल का फूल देते हुए गजराज ने कहा-

'उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाहकृच्छ्रान्नारायणा-
खिलगुरो भगवन् नमस्ते' (अष्ट. स्क. । अ. ३।३२)

हे नारायण ! हे अखिल-गुरो ! हे भगवन् आपको प्रणाम है । भगवान् -

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य, सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।
ग्राहात् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं, संपश्यतां हरिरमोमुचदुच्छ्रियाणाम् ॥३३॥

गज को पीड़ित देखकर सरोवर से उतरकर ग्राह के मुख को फाड़कर गज की भगवान् ने रक्षा की ।

शबरी की भक्ति को कौन नहीं जानता है ? जिसने वैर के फल से भगवान् को सन्तुष्ट किया था । शबरी के विषय में महर्षि वाल्मीकि जी ने लिखा है कि शबरी ने ही अच्छी तरह भगवान् की पूजा की है । जो लोग यह कहते हैं कि शबरी ने जूठा बैर भगवान् को खिलाया है- वे अपनी अज्ञता को प्रकट करते हैं । वाल्मीकि जी और तुलसी दास जी ने ऐसी बात कहीं नहीं लिखी है । 'जूठी बैर' से तात्पर्य यह है कि वह जानती थी कि कौन बैर मीठा है और कौन खट्टा है । इसलिए जाने हुए मीठे बैर को खिलाया ।

राजा रन्तिदेव ने जल से भगवान् को अच्छी तरह संतुष्ट किया है । राजा रन्तिदेव अड़तालिस दिन तक बिना अन्न जल के रहे । जब उन्चासवें दिन कहीं से प्राप्त अन्न को अपने परिवार में बाँटकर खाने के लिए उद्यत हुए एक भूखा ब्राह्मण आ गया । जिसकी क्षुधा को उन्होंने शान्त किया, अवशिष्ट भाग में से थोड़ा सा एक शूद्र को दे दिया । इसके बाद एक अतिथि कुत्तों से घिरा हुआ आया राजा ने शेष बचे हुए अन्न से सभी को संतुष्ट कर प्रणाम किया ।

जब जल को बाँटकर राजा पीने चले तब भगवान् ने चाण्डाल का रूप धारण कर के अपनी प्यास बुझाने के लिए राजा से प्रार्थना की ।

राजा ने उस चाण्डाल के कष्ट को दूर करने के लिए उसे सम्पूर्ण जल पिला दिया । इसके बाद साक्षात् भगवान् ब्रह्मा और महेश के साथ प्रकट हुये, पर राजा ने कुछ नहीं माँगा, वरन् भगवान् की भक्ति में अपना मन लगा दिया ।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को भगवान् को पत्र, पुष्प, फल और जल को अवश्य अर्पण करना चाहिए । पत्र और पुष्प जैसे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अर्पण करना चाहिए । फल को जैसे ठीक हो वैसे अर्पित करे । कहने का भाव यही कि नारियल को काटकर, और केले को छीलकर एवं आम आदि फल को योंही अर्पण करना चाहिए । इसके अतिरिक्त यदि कुऐं का जल भगवान् को अर्पित किया जाय तो उसे वस्त्र से छान लेना चाहिए । इस प्रकार जो प्रतिदिन मन को पवित्र कर भक्तिभाव से पत्रादि अर्पण करते हैं, भगवान् उसे प्रेमपूर्वक खाते हैं और अपने भक्त की मनोकामनाओं को पूर्ण करते हैं ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! यत् करोषि, यत् अश्नासि, यत् जुहोषि, यत् ददासि, यत् तपस्यसि, तत् मदर्पणम् कुरुष्व ।**

अर्थ :- हे कौन्तेय ! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो हवन करता है, जो कुछ देता है, जो तपस्या करता है, वह सब मुझे अर्पण कर दो ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि जब ज्ञानी महात्माओं की यह विशेषता है कि वे पत्र-पुष्पादि् मुझे दिये बिना जीवन धारण नहीं कर सकते तब तुम भी मेरा कीर्तन-स्मरण अर्चन करते हुये भक्ति-भाव से विनम्र होकर लौकिक वैदिक और नित्य नैमित्तक कर्मों को इस प्रकार करो ।

यानी तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ देता है और जो कुछ तप करता है उसे हे कौन्तेय ! मुझे समर्पित करो ।

भगवान् यहाँ पाँच प्रकार के कर्मों को बता रहे हैं । दो कर्म लौकिक हैं और तीन कर्म श्रौत हैं । भगवान् कह रहे हैं कि यत्करोषि-हे अर्जुन शरीर-यात्रा-निर्वाह के लिए तुम जो कुछ कर्म करो अर्थात् खेती, व्यापार, नौकरी, भिक्षाटन आदि जो कर्म करो वह मुझे अर्पण कर दो । इन कर्मों को तुम यह समझकर मत करो कि इन कर्मों से मैं प्रतिष्ठित धनी आदि हो जाऊँगा । तुम शरीर-यात्रा के निर्वाह की लिये जो वेद-विहित कर्म करो उसे अपना कर्म समझकर करो । उस कर्म में कर्तृत्वाभिमान न रहे । भगवान् के कहने का भाव है कि व्यक्ति यह नहीं सोच सकता है कि मैं कर्म-बंधन से मुक्त हो जाऊँगा । बिना कर्म के शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता । भगवान् ने तीसरे अध्याय में स्वयं कहा है 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण:' न कर्म करने से शरीर निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा । १८वें अध्याय में यहाँ तक

कहा कि 'देहधारियों से सम्पूर्णता से कर्मों का त्याग हो ही नहीं सकता है' । कर्मों में कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति त्यागने से व्यक्ति कर्म-बंधन में नहीं फँस सकता है ।

भगवान् कह रहे कि यदश्नासि-जो तुम भोजन करो उसे मुझे अर्पण कर दो । 'जो कुछ' से यह अर्थ नहीं लगना चाहिए कि मांस मदिरा सब कुछ खाये । चावल, दाल आदि सात्त्विक पदार्थ भोजन हैं । भगवान् ने १७वें अध्याय में स्पष्ट कर दिया है कि 'रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्त्विकाप्रिया: ।।८।। रसदार, चिकने, स्थिर रहने वाला और चित्त को प्रिय लगने वाला आहार सात्त्विकों को करना चाहिए । भगवान् कह रहे हैं कि जो तुम सात्त्विक आहार करते हो वह यह समझकर नहीं करो कि यह अपने लिए कर रहा हूँ । जो लोग 'अपने लिये' समझकर बनाए भोजन को करते हैं वे पापी कहलाते हैं । तीसरे अध्याय में भगवान् कह आये हैं कि-

'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' ॥ १३ ॥

जो अपने लिए पकाते हैं वे पाप ही खाते हैं । इसलिए यह समझकर भोजन करे कि यह भगवान् की वस्तु है, भगवान् ने कृपा कर मुझे इसे प्रदान किया है । भगवान् अंतर्यामी रूप से इसके भोक्ता हैं ।

अब भगवान् श्रौत कर्मों को -जुहोषि, ददासि और तपस्यसि से यज्ञ दान और तप को बता रहे हैं । भगवान् ने तीनों कर्मों को न त्यागने के लिए कहा है :-

'यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' १८।५।

इन कर्मों के कर्तृत्वभिमान और फलासक्ति को त्याग कर करने के लिए कहा गया है ।

भगवान् कह रहे हैं कि सूर्य, इन्द्र आदि देवताओं के निमित्त जो यज्ञ हवनादि करते हो, उसे मुझे अर्पित करो । यज्ञादि में आराधना करने योग्य देवों के रूप में प्रतीत होने वाले इन्द्रादि देवता तथा कर्मों को करने वाले और उसके फलों को भोगने वाले तुम भी मेरे शरीर हो । सब मेरा शरीर होने से मेरा ही है । मैं ही प्रेरणा प्रदान करता हूँ, तभी तुम यज्ञदानादि कर्मों को करते हो । इसलिए तुम जो कुछ यज्ञ दान और तपस्या को करते हो वह मेरे संकल्प पर आधारित है। यज्ञ और तपस्या में कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति को त्याग दो । यह मत सोचो कि मैं न रहता तो यज्ञ दान और तप न होता और हृदय में यह भावना मत रखो कि यज्ञादि करने से मुझे अमुक फल की प्राप्ति होगी । तुम तुझ कर्ता और भोक्तारूप आराधक को, आराधना करने योग्य समस्त देवताओं को और आराधनारूप क्रियाओं को-इन सबके परमस्वामी परमकर्ता और भोक्ता मुझको समर्पित करो । तुम निरन्तर यही सोचो कि मैं परम पुरुष परमात्मा सबके स्वामी के अधीन हूँ और आराध्य इन्द्रादि देव एवं सब कर्म भी ईश्वर के ही अधीन हैं ।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को यज्ञ दान और तपस्या को कर्म-फलासक्ति को त्याग कर करना चाहिये । बिना दान और तपस्या के यज्ञ नहीं हो सकता है । लौकिक कर्मों के बिना शरीर-यात्रा का निर्वाह नहीं हो सकता है । कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति को त्यागने से कर्म-बंधन में जीव नहीं फँस सकता । सभी लौकिक और श्रौत कर्मों को भगवान् को समर्पित करने वाला लौकिक सुखों को भोगकर परमानन्द को प्राप्त करता है ।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।२८।।

अन्वय :- **एवम् संन्यासयोगयुक्तात्मा शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः मोक्ष्यसे, विमुक्तः माम् उपैष्यसि ।**

अर्थ :- इस प्रकार संन्यास योग से युक्त मन वाला (तू) शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनों से छुट जायेगा और (उनसे) विमुक्त हुआ (यानी छुटा हुआ) तू मुझको प्राप्त होगा ।

व्याख्या :- शुभ कर्मों का फल सुख और अशुभ कर्मों का फल दुःख देता है । श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में व्यास जी ने कहा है -

'एकायनोऽसौ द्विफलः' संसार रूपी वृक्ष के दो फ़ल सुख और दुःख होते हैं । ये दोनों व्यक्ति को कर्म-बंधन में बाँधते हैं । सुख स्वर्ण की जंजीर है और दुःख लौह की बेड़ी है, पर दोनों बेड़ी ही है । कहा गया है कि 'कर्मणा, बध्यते जन्तुः' कर्म से जीव बँधता है ।

लेकिन व्यक्ति यदि संन्यासयोग में युक्त मन वाला हो जाता है तो वह कर्म करते हुए भी कर्म-बंधन से मुक्त हो जाता है । संन्यास का अर्थ अच्छी तरह अर्पण होता है । जो पूर्व के श्लोक में बताये गये लौकिक और वैदिक कर्मों को, कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति को त्यागकर भगवान् को अर्पण करता है, वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है । इस श्लोक में आत्मा मनवाचक है । कहने का भाव यह कि जो लोग लौकिक और श्रौत कर्मों को यह सोचकर करते हैं कि यज्ञादि कर्म भगवान् की प्रेरणा से कर रहे हैं, इन्द्रादि रूप में वे ही इसके भोक्ता हैं और वे ही कर्ता हैं - वे संन्यास योग नामक कर्म में युक्त मन वाले होकर शुभ और अशुभ फल देने वाले कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं । राजा जनक कर्तृत्वाभिमान और कर्मफलासक्ति को त्याग कर दोनों कर्मों को करते थे जिसके कारण कर्म-बन्धन से मुक्त होकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया । राजा नहुप कर्मफलासक्ति के कारण ही सर्प बने । नृग गिरगिट हुए ।

भगवान् कह रहे हैं कि जो इस प्रकार कर्मों को करते हैं वे कर्म-बन्धन से मुक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेते हैं । जबतक व्यक्ति कर्तृत्वाभिमान और कर्म-फलासक्ति से मुक्त नहीं होता है तबतक वह भगवान् को नहीं प्राप्त कर सकता है ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।२९।।

अन्वय :- **सर्वभूतेषु अहम् समः, न मे द्वेष्यः अस्ति, न प्रियः, तु ये भक्त्या माम् भजन्ति, ते मयि च अहम् अपि तेषु ।**

अर्थ :- सब प्राणियों में मैं सम हूँ (यानी मेरा समभाव है) न मेरा कोई द्वेषपात्र है और न प्रिय है, परन्तु जो मुझे भक्ति से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि देव, मनुष्य तिर्यक् और स्थावर रूप में जो सम्पूर्ण भूत स्थित हैं, उनमें मैं समान

भाव से रहता हूँ। कहने का आशय है कि चारो प्रकार के भूत समुदाय यदि मेरी शरणागति कर लेते हैं तो मैं सबको समान भाव से अपना स्थान प्रदान करता हूँ। उनकी रक्षा के लिए सर्वदा सन्नद्ध रहता हूँ। प्रह्लाद असुर कुल का था किन्तु प्रपन्न होने के कारण उसकी रक्षा के लिए भगवान् ने नृसिंह रूप धारण किया। गज की रक्षा के लिए नंगे पैर दौड़े। आमिषाहार करने वाले गीध को गोद में उठाकर रोये। उन्होंने जटायुजी की धूलि को जटा से साफ किया। अपने पिता की भाँति उनकी अन्त्येष्टि क्रिया की। गोस्वामी तुलसीदास जी विनय-पत्रिका में लिखते हैं-

विहग जोनि आमिष अहारपर, गीध कौन व्रतधारी।
जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी॥ वि. प. १६६

भगवान् ने स्थावर यमलार्जुन को तारा, पाषाण का उद्धार किया। अधम जाति शबरी और बन्दर भालुओं को भगवान् समान भाव से देखते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं-

अधम जाति सवरी जोषित जड़, लोक-वेद ते न्यारी।
जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी।
कपि सुग्रीव बन्धुभय व्याकुल, आयो सरन पुकारी।
सह न सके दारुन दु:ख जिनके हत्यो, बालि सहि गारी॥ (वि. प. १६६)

भगवान् की शरण में यदि शत्रु भी चला जाता है, तौभी उसे समान भाव से देखते हैं। इन्द्र-पुत्र जयन्त वध के योग्य था पर उसे अभय दान देते हैं।

यद्यपि द्रोह किये सुरपति-सुत, कहि न जाय अतिभारी।
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय हारी॥

भगवान् कह रहे हैं कि मेरा कोई द्वेष्य नहीं है। द्विष् धातु का अप्रिय अर्थ होता है। जाति, आकार रूप स्थान से कोई नीच होने से मेरा अप्रिय नहीं है। जाति में यदि कोई नीच भी हो, रूप-विहीन हो, छोटे कद का हो, दरिद्र हो, नीच योनि में जन्म लिया हो तौभी मेरा कोई अप्रिय नहीं है। यदि मेरी शरण में नीच भी आ जाता है तो उसका मैं सेवक बन जाता हूँ। निषाद राज गुह, शबरी, गीध, कालिय नाग, श्वपच आदि इसके उदाहरण हैं। रावण तो भगवान् का शत्रु था। उसका भाई विभीषण जब शरण में जाता है तो उसको गले लगाते हैं -

रिपु को अनुज विभीषण निसिचर, कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों, भेंट्यो भुजा पसारी। (वि. प.)

भगवान् कह रहे हैं कि मेरा कोई प्रिय भी नहीं है, कहने का भाव यह कि धनी, ब्राह्मण, क्षत्रिय विद्वान्, देव होने के कारण मेरा प्रिय नहीं है। यदि ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर शरणागति नहीं करता तो वह चाण्डाल है। संन्यासी होने के कारण भगवान् का प्रिय नहीं होता। कहा गया है-

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्त: द्विजाधिक:।

विष्णुभक्तिविहीनस्तु यतिश्च श्वपचाधमः।।

यदि चाण्डाल भी विष्णु-भक्त है तो ब्राह्मण से श्रेष्ठ है, यदि संन्यासी भी भगवान् की भक्ति से विहीन है, तो चाण्डाल से भी नीच है ।

भगवान् कह रहे हैं कि जो मुझे भक्ति-पूर्वक भजते हैं वे मुझमें रहते हैं और मैं उनमें रहता हूँ । भक्ति अव्यभिचारिणी होनी चाहिये जैसे सरसों के तैल की धारा अविच्छिन्न गिरती है, उसी भाँति भगवान् में भक्ति होनी चाहिये । अव्यभिचारिणी भक्ति का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने करण कलेवर को अपने पति के लिये ही समर्पित करती है उसी भाँति भक्त भगवान् को ही अपना एकमात्र स्वामी मानते हैं । उनकी भक्ति व्यभिचारिणी नहीं होती, सभी देवों की शरण में नहीं जाते हैं । भगवान् को ही एकमात्र शरण समझ कर उन्हीं में अविच्छिन्न प्रेम रखते हैं । इस प्रकार के भक्त खेती, नौकरी, व्यापार आदि लौकिक और तथैव वैदिक कर्मों को करते हुये भी भगवान् में ही लीन रहते हैं । दूसरे लोगों की दृष्टि में ऐसा व्यक्ति सांसारिक ज्ञात होता है पर वह तो गोपियों की भाँति प्रत्येक काम में भगवान् का स्मरण किया करता है । आजमगढ़ के भुड़कुड़ा ग्राम में एक बुल्ला साह था । वह वहाँ के धनी गुलाब सिंह का प्रतिदिन हल जोतता था । वह बड़ा भगवान् का भक्त था । एक दिन एक खेत के हल जोतते समय मन में यज्ञ करता हुआ साधु संन्यासियों को खिला रहा था तबतक ठाकुर साहब पहुँच कर एक थप्पड़ मारते हुये बोले 'तुम झूमते हुए हल चलाते हो, कहीं बैलों को फार लग जाय तब' तबतक उसके मुख से दही गिर गया । उसने कहा, 'अरे बाबू आप मुझे दही नहीं परोसने दिये, साधु लोग नाराज हो जायेंगे', कहने का भाव यह कि वह मन में मानसिक पूजा किया करता था जिसके कारण वह बड़ा पूजित हुआ । भगवान् के भक्त सदा इसी भाँति भगवान् में रत रहते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि ऐसे भक्तों में मैं भी रहता ही हूँ अर्थात् निरन्तर सेवक की भाँति उनकी रक्षा के लिए तत्पर रहता हूँ । जिस प्रकार सनकादि मुनियों के साथ बर्ताव करता हूँ वैसा उनके साथ भी करता हूँ ।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को खेती व्यापार नौकरी आदि करते हुए निरन्तर भगवान् की अव्यभिचारिणी भक्ति में लीन रहना चाहिए । सोते, बैठते, गाते, रोते भगवान् के ध्यान में रत रहने से अनायास ही लौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होती है ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।३०।।

अन्वय :- **चेत् सुदुराचारः अपि अनन्यभाक् माम् भजते सः साधुः एव मन्तव्यः, हि सः सम्यक् व्यवसितः ।**

अर्थ :- यदि अत्यन्त दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही माना जाने योग्य है, क्योंकि वह सम्यक् (यानी ठीक-ठीक निर्णय) निश्चय वाला है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि यदि दुराचारी भी अनन्यभाव से व्यवस्थितचित्त वाला होकर मुझे भजता है तो वह साधु ही माना जाता है । भगवान् ने पूर्व के श्लोक में कहा है कि मैं सबके लिए समान हूँ । मेरा न कोई

शत्रु ही है न मित्र । जो मुझको भजता है उसको मैं भी भजता हूँ । इसी बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं यदि दुराचारी व्यक्ति भी मेरी सेवा करने लगता है तो वह साधु हो जाता है । जिसके आचरण वेद-विहित कर्मों के विपरीत होता है उसे दुराचारी कहते हैं । ये भगवत्प्राप्ति के विरोधी कर्मों को करते हैं । यदि वे दुराचारी भगवान् को अपना स्वामी, सुहृद्, देव, माता-पिता और एकमात्र आश्रय समझकर उनके कीर्तन, स्मरण आदि में लगे रहते हैं, भगवान् को ही अपना स्वामी समझते हैं और उनका चित्त व्यवस्थित हो जाता है अर्थात् वे जगत् के उत्पत्ति पालन और संहार करने वाले भगवान् को अच्छी तरह जान लेते हैं, तो वे निश्चय करके साधु वैष्णवों में अग्रगण्य हो जाते हैं । उनके बुरे आचरण भगवान् की भक्ति के सामने नम्र पड़ जाते हैं । सूर्य के प्रकाश के समक्ष तारागण लुप्त हो जाते हैं । उसी भाँति अनन्यभाव से की गई भगवान् की उपासना उसके पूर्व के बुरे आचरणों पर पर्दा डाल देती है । जिसके कारण वह दुराचारी न कहाकर साधु कहलाने लगता है । इसके ज्वलन्त उदाहरण महर्षि वाल्मीकि जी हैं । वाल्मीकि जी के समान कौन दुराचारी होगा जो ऋषियों के धन को लेने के लिए उन्हें बाँध देगा । उन्हें शुद्ध 'राम' शब्द का उच्चारण नहीं करने आता था । जब इन्हें ऋषियों के उपदेश से ज्ञान हुआ कि प्रभु ही जगत् के कारण हैं । तब अनन्य भाव से भगवान् के नाम-जप के प्रभाव के विश्व प्रसिद्ध महर्षि बने और 'आदि कवि' के नाम से विख्यात हुये । भगवान् का भजन करने से पूर्व के दुराचरण नष्ट हो गये । दुराचारी न कहाकर परम वैष्णव महर्षि वाल्मीकि कहलाये । इन्हीं के विषय में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है -

उलटा नाम जपत जग जाना । वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना ।। (रा० मा० २।१९३।८)

इसलिये दुराचारी व्यक्ति को भगवान् को जगत् का कारण समझते हुए अनन्य भाव से उनकी उपासना करना चाहिये । भगवान् तो दयालु हैं, पत्र-पुष्प से भी संतुष्ट होने वाले हैं । उनकी सेवा से व्यक्ति इस लोक में पूजित होकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त करेगा ।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।३१।।

अन्वय :- **क्षिप्रम् धर्मात्मा भवति, शश्वत् शान्तिम् निगच्छति, मे भक्तः न प्रणश्यति, कौन्तेय ! प्रतिजानीहि ।**

अर्थ :- (वह) शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है सदा रहने वाली शान्ति पा लेता है; मेरा भक्त विनष्ट नहीं होता - हे अर्जुन ! तू ऐसी प्रतिज्ञा करो ।

व्याख्या :- पूर्व के श्लोक में भगवान् ने यह व्यक्त किया है कि यदि दुराचारी भी अनन्यभाव से मुझको भजता है तो वह साधु मानने योग्य हो जाता है और निश्चित बुद्धि से परमात्मा को जगत् का कारण समझने लगता है । इस पर यह शंका होती है कि -

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।। (कठो. उ. १।२।२४)

जो पुरुष दुष्ट आचरणों से विरत नहीं है, जो शान्त नहीं है, जो समाहित नहीं हैं, अशान्त मन वाला हो, वह इस आत्मा को ज्ञान के द्वारा नहीं पा सकता है । इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि विपरीत आचरण भजन के प्रवाह को रोकने वाला है । इस पर भगवान् कहते हैं कि वह दुराचारी शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है । हे कुन्तीपुत्र ! तुम यह प्रतिज्ञा करो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता है ।

भगवान् के कहने का आशय यह है कि वह दुराचारी बिना किसी अन्य प्रयोजन के केवल भगवान् के प्रेम में पागल होकर भजन करने लगता है । भगवान् के भजने से उसके पाप नष्ट हो जाते हैं । उसके रजोगुण और तमोगुण समूल नष्ट हो जाते हैं । सात्त्विक भाव से भजन करने के कारण 'उर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्था:' शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है । हेय गुणों से रहित भगवान् के ही भजन को धर्म कहा गया है । धर्मस्यास्य परंतप ।९।३। इस भजन के कारण वह धर्मात्मा हो जाता है । कणाद महर्षि ने भी धर्म की परिभाषा बताते हुए बताया है कि जिससे इस लोक और परलोक में सुख मिले उसे धर्म कहते हैं । भगवान् के भजन से दोनों सुख मिलते हैं । इसलिये दुराचारी भी प्रभु के भजन से शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है ।

धर्मात्मा होने से शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है । सदा रहने वाली शान्ती तभी प्राप्त होती है जब जीव भगवान् को प्राप्त कर पुन: नहीं लौटता । भगवान् की प्राप्ति के विरोधी जो आचरण हैं उनकी निवृत्ति हो जाती है । इसलिए वह पुन: न लौटने देने वाली स्थिति को प्राप्त हो जाता है ।

भगवान् दृढ़ विश्वास दिलाते हुए कह रहे हैं कि हे कुन्ती-पुत्र ! तुम इस विषय में स्वयं प्रतिज्ञा करो कि मेरी भक्ति में लगा हुआ भक्त कभी नष्ट नहीं होता है । यद्यपि वह पुरुष विरोधी आचरणों से मिश्रित रहता है, परन्तु मेरी भक्ति की महिमा से समस्त विरोधी समुदाय नष्ट हो जाते हैं, इस भक्ति को पाकर वह भक्तिमान हो जाता है । भक्तों के लक्षण का वर्णन करते हुए भगवान् ने १२वें अध्याय में कहा है कि -

सन्तुष्ट: सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चय: ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त: स: मे प्रिय: ॥१४॥

x x x x

अनपेक्ष: शुचिर्दक्ष: उदासीनो गतव्यथ: ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्त: स मे प्रिय: ॥१६॥

जो योगी निरन्तर लाभ हानि में संतुष्ट रहता हुआ, मन सहित इन्द्रियों को वश में करके मुझमें दृढ़ निश्चयवाला, मुझ में ही मन और बुद्धि को अर्पित किया रहता है वह भक्त अत्यन्त प्रिय है । इसके अतिरिक्त मेरा भक्त आकाँक्षा से रहित रहता हुआ, अन्तर्बाह्य शुद्ध रहता है । वह चतुर, पक्षपात हीन रहता हुआ सभी कर्मों के फल का त्यागी रहता है। इस प्रकार का भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है ।

इस प्रकार के भक्त भगवान् का भजन करते हुए सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त करते हैं । अजामिल ब्राह्मण बहुत ही दुराचारी था । अपने पुत्र नारायण का नाम लेने से ही परम शान्ति (मुक्ति) को उसने प्राप्त किया जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने विनय-पत्रिका में कहा है--

विप्रअजामिल अरु सुरपति तें कहा जो नहिं विगर्‌यो ।
उनको किया सहाय बहुत उरको सन्‌ताप हरो ॥२३९॥

इसलिए व्यक्ति को उस परम कारुणिक भगवान् की उपासना करनी चाहिये जो दुराचारियों को थोड़ी सी भक्ति पर ही परम शान्ति प्रदान करते हैं ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु:पापयोनय: ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

अन्वय :- **पार्थ हि माम् व्यपाश्रित्य स्त्रिय: वैश्या: तथा शूद्रा: ये अपि पापयोनय: स्यु: ते अपि यान्ति पराम् गतिम् ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! मेरा आश्रय लेकर (यानी सर्वथा मेरी शरण में होकर) स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र (अथवा) जो भी कोई पापयोनिवाले हों, वे भी परम गति को प्राप्त हो जाते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् अपनी शरणागति का महत्त्व बताते हुये कह रहे हैं कि हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो स्त्री, वैश्य, शूद्र और पाप कर्म को करने वाले मेरी शरणागति ले लेते हैं, वे उत्तम गति-(अपुनरावृत्ति) को प्राप्त करते हैं ।

'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' श्रुति के अनुसार स्त्री एवं शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है । फिर भी भगवान् कह रहे हैं कि स्त्री वैश्य और शूद्रादि मेरी शरण में आ जाते हैं, तो उन्हें परम गति की प्राप्ति होती है ।

'स्तनकेशवती स्त्री स्यात् लोमश:पुरुषस्मृत:' जिसे स्तन और केश होता है उसे स्त्री कहते हैं । लोमश को पुरुष कहते हैं । गोपियाँ स्त्री थीं । इन्होंने सब कुछ छोड़कर एकमात्र श्रीकृष्ण भगवान् के चरणों में अपने को अर्पित कर दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि इन्हें परम गति की प्राप्ति हुई । इनके विषय में वर्णन करते हुये श्रीमद्भागवत महापुराण में श्रीवादरायण जी लिखते हैं --

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्‌खेङ्‌खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठयो, धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयाना: ॥
श्रीमद्‌भा. १० स्क० अ. ४४।१५

वे व्रजाङ्गनायें धन्य हैं जो सदा भगवान् में ही चित्त लगाकार गौ दुहना, धान आदि कूटना दही मथना, लीपना बालकों को झूला झूलाना, रोते बालकों को चुप कराना, नहलाना धुलाना तथा घरों को झाड़ना बुहारना आदि सब काम करते समय तन्मय भाव से गद्‌गद् कण्ठ द्वारा उनका गुणगान करती हैं ।

ज्ञानान्ध ऊद्धव इनके चरणों की धूलि लेने के लिए तरसते हैं, वे कहते हैं -

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ॥ (१० स्क. अ. ४७।६१)

कि यदि मैं भी वृन्दावन में गोपियों के चरण-रज सेवन करने वाली लता, औषधि या झाड़ियों में से कोई भी हो जाऊँ तो क्या बात है ! विनय-पत्रिका में गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है -

'काममोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह ।
जगत-पिता विरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह ॥२१४॥

विश् धातु का अर्थ प्रवेश करना होता है । जिनका धर्म में प्रवेश रहता है उसे वैश्य कहते हैं । वैश्य भी भगवान् की शरणागति से परम गति को प्राप्त करते हैं । महाभारत में तुलाधार की कथा वर्णित है जिसने भगवान् की शरणागति से परम गति को प्राप्त कर लिया है ।

जो बहुत सोचते हैं उन्हें शूद्र कहते हैं । ये दो प्रकार के होते हैं - एक अनिरवसित दूसरे निरवसिता

यैर्भुक्तं पात्रं संस्कारेण शुद्ध्यति तेऽनिरवसिताः । महाभाष्य

जिसके भोजन करने के पश्चात् पात्र, अग्नि आदि संस्कार से शुद्ध किया जाता है उसे अनिरवसित शुद्र कहते हैं । ऐसे शूद्र भी भगवान् की शरणागति से परमगति को प्राप्त कर लेते हैं । निषाद-राज गुह के समान शूद्र कौन होगा जिसके विषय में गोस्वामी तुलसी दास जी ने विनय-पत्रिका में लिखा है -

हिंसारत निषाद तामस वपु पसु समान बनचारी ।
भेट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति विचारी ॥ १६६ पद

गुह के प्रेम को देख कर विहँस उठते हैं और उनकी इच्छा को पूर्ण करते हैं ।

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं । एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं । रा० मा० २।१००।८

भगवान् की भक्ति से गुहदेव का त्रिताप नष्ट हो जाता है -

मिटे दोष दुख दारिद दावा ।'

भगवान् की प्रपत्ति से पापयोनि वाले भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं । अघासुर वकासुर ऐसे पापियों का उद्धार हो गया । दासी-पुत्र विदुर जी को परम गति मिली । मांस-भक्षी गीध को 'गीध अधम खग आमिष भोगी । गति दीन्हीं जो याचत जोगी' मुक्ति मिली । श्वपच को भी परम गति मिली । जो पापी कालियनाग भगवान् को समाप्त करने के लिए उद्यत था, भगवान् की शरणागति से उसने भी अभय दान को प्राप्त किया । भगवान् ने कहा कि -

'यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम्'
(श्रीमद्भा. स्क. १० अ. १६।६२)

वह गरुड़ मेरे पदचिह्न को देखकर तुझे नहीं खायेगा । पाप कर्म करने वाला व्याध भगवान् पर तीर चलाता है, किन्तु शरण में जाने से भगवान् उसे भी मुक्ति प्रदान करते हैं । भगवान् स्वयं कहते हैं -

'याहि त्वं मदनुज्ञातःस्वर्गं सुकृतिनां पदम् ।'
(श्रीमद्भा. ११ स्क, ३०/३९)

मेरी आज्ञा से तुम पुण्यजनों के प्राप्यस्थान स्वर्ग को चले जाओ । गोस्वामी तुलसीदासजी ने विनय पत्रिका में बड़ा ही सुन्दर लिखा है-

व्याध चित दै चरन मार्‌यो मूढ़मति मृग जानि ।
सो सदेह स्वलोक पठ्यो प्रगट करि निज बानि ।। (वि. प. ।२१४।)

जब भगवान् नीच से नीच व्यक्तियों का उद्धार करते हैं तो क्यों नहीं सभी मनुष्य भगवान् की शरणागति लेकर लौकिक और पारलौकिक सुखों को प्राप्त करें ।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।३३।।

अन्वय :- **किं पुनः पुण्याः ब्राह्मणाः तथा राजर्षयः भक्ताः ? इमम् अनित्यम् असुखम् लोकम् प्राप्य भजस्व माम् ।**

अर्थ :- फिर पुण्योनि ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तों के लिए तो कहना ही क्या ? (अतः) तू इस अनित्य और सुखरहित मनुष्य शरीर को पाकर मुझको (ही) भजो ।

व्याख्या :- भगवान् के कहने का आशय यह है कि जब पाप योनि वाले और स्त्री शूद्रादि मेरी शरणागति लेने से परम गति-(मुक्ति) को प्राप्त कर लेते हैं, तब पुण्य योनि वाले ब्राह्मण और भक्त क्षत्रिय तो मेरी उपासना से शीघ्र ही मुझको प्राप्त कर लेंगे । इसीलिये अर्जुन को आदेश देते हैं कि तुम मेरी उपासना करो ।

हारीतस्मृति के अनुसार ब्राह्मणी में ब्राह्मण से उत्पन्न होने वाले पुत्र को ब्राह्मण कहते हैं 'ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातः ब्राह्मणः समुदाहृतः' ये ब्राह्मण दो प्रकार के होते हैं ।

तपः श्रुतं च योनिश्च ह्येतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनः जातिब्राह्मण एव सः ।। महाभाष्य ।।

तपस्वी, वेदाध्ययन करनेवाले और ब्राह्मण-ब्राह्मणी से उत्पन्न होने वाले हैं उन्हें ब्राह्मण कहते हैं और जो तपस्या और श्रुति से हीन रहने वाले केवल ब्राह्मण-ब्राह्मणी से उत्पन्न होने वाले हैं उन्हें जाति-ब्राह्मण कहते हैं ।

भगवान् 'त्यक्तानुबन्धग्रहण' से दोनों प्रकार के ब्राह्मणों याचक और अयाचक के लिये कह रहे हैं । 'ब्राह्मणाः द्विविधा राजन् याचकायाचकास्तथा' महाभारत । दोनों प्रकार के ब्राह्मण पुण्ययोनि वाले होते हैं ।

यज्ञ, दान और तपस्या करने से इनके पुण्य बढ़ते ही हैं । ब्राह्मणों के शरीर में सभी देवता रहते हैं - 'ब्राह्मणानां शरीरेषु तिष्ठिन्ति सर्वदेवताः' इसीलिये ब्राह्मण पूज्य होता है । वेद-विहीन ब्राह्मण भी पूज्य होता है, तुलसीदास जी ने कहा है 'पूजिय विप्र जो वेद विहीना' ।

राजर्षि शब्द क्षत्रियों के लिये आया है । भगवान् ब्राह्मण वैश्य और शूद्र को बता चुके हैं । केवल क्षत्रिय ही बचे हैं । इसलिये क्षत्रिय अर्थ होगा । ये राजर्षि भगवान् के भक्त होते हैं । ये ब्राह्मण और क्षत्रिय भगवान् की उपासना करके शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । वामदेव, जनकादि इसके उदाहरण हैं । अर्जुन राजर्षि हैं, इसलिए भगवान् उन्हें आदेश दे रहे हैं कि तुम मेरा भजन करो । मनुष्य देह अनित्य और सुख रहित है । अर्थात् यह देह शीघ्रातिशीघ्र नष्ट होने वाला है । इसकी अवधि नहीं है कि अमुक दिन नष्ट होगा, विद्युत् की चमक की भाँति क्षणभंगुर है ।

यह शरीर सुख-रहित है । त्रितापसे इसे कष्ट-प्राप्ति होती रहती है ।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को शरीर को क्षण-भंगुर और सुखरहित समझकर नित्य ही भगवान् की उपासना करनी चाहिये ।

मन्मना भव मद्भक्त मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

अन्वय :- **मन्मना भव, मद्भक्तः मद्याजी, माम् नमस्कुरु । एवम् आत्मानम् युक्त्वा मत्परायणः माम् एव एष्यसि ।**

अर्थ :- (तू) मुझमें मनवाला होवो, मेरा भक्त (बनो) मेरी पूजा करने वाला होवो । मुझे नमस्कार करो । इस प्रकार आत्मा (यानी मन) को लगाकर मेरे परायण हुआ (तू) मुझको ही प्राप्त होगा ।

व्याख्या :- भगवान् अध्याय को समाप्त करते हुए किस प्रकार से शरणागति करनी चाहिये उसे बता रहे हैं । पूर्व के श्लोक में अर्जुन को शरणागति का उन्होंने उपदेश दिया है । अब इस श्लोक में यह बता रहे हैं कि शरणागति का स्वरूप क्या है ? उसे बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! तुम मुझमें मन लगाओ । मेरा भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो । यदि तुम मुझमें मन लगाकर परायण रहोगे तो निस्संदेह मुझे ही प्राप्त करोगे ।

भगवान् के मन्मना कहने का भाव यह कि 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' सभी के हृदय में जो ईश्वर निवास करता है, वह 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' मैं ही हूँ । मैं ही जगत् का कारण सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म हूँ। सम्पूर्ण दिव्य गुणों की निधि मैं ही हूँ । मुझमें किसी प्रकार के हेय गुण नहीं हैं । दिव्य वसन, आभूषण, आयुध धारण करने वाला पुण्डरीकाक्ष सत्यकाम सत्यसंकल्प भक्त-वत्सल मैं ही हूँ । इसलिए तुम मुझमें ही मन लगाओ । मुझसे अतिरिक्त कोई अन्य ईश्वर है ही नहीं । मैं सबका शेषी, नियामक स्वामी आदि हूँ । अतः तुम सर्वदा मेरे आनन्दकन्द श्यामल विग्रह का ध्यान करो ।

मेरा तुम भक्त-(सेवक) बनो । जिस प्रकार सेवक अपने स्वामी के लिए मर मिटता है उसी भाँति तू मुझमें अतिशय प्रेम करने वाला बनो । मुझमें तुम्हारी इतनी प्रीति हो कि मेरे एक क्षण का भी वियोग तुम न सह सको । 'मम गुन गावत पुलक सीरा । गद्गद् गिरा नयन बहनीरा ।' वाली तुम्हारी दशा हो जाय । भगवान् के कहने का आशय यह है कि -

जिये मीन बरु वारि विहीना । मनि बिनु फनिकु जिये दुख दीना ॥
कहऊँ सुभाव न छल मन नाहीं । जीवन मोर राम बिनु नाहीं ॥ रा. मा. २।३२।१,२॥

भक्त का भगवान् में इतना अतिशय प्रेम हो जाय कि उसका जीवन 'जीवन दरस राम आधीना' भगवान् के दर्शन के आधीन रहे । भगवान् के एक क्षण के वियोग में प्राण त्याग दे ।

इसके बाद भगवान् बता रहे हैं कि मेरा ही यजन करो । यज् धातु का अर्थ पूजन करना होता है । भगवान् कह रहे हैं कि साधारण पूजा मत करो, वरन् मुझमें तीनों प्रकार की औपचारिक, सांस्पर्शिक और 'आभ्यवहारिक' पूजा करो । औपचारिक पूजा उसे कहते हैं जो उपचार से सम्बन्धित हो । आदरपूर्वक भगवान् के लिए पाद्य अर्घ्यादि समर्पण करे । उपचार करने में भक्त को अपूर्व आनन्द मिले । सांस्पर्शिक पूजा उसे कहते हो जो संस्पर्श से सम्बन्धित हो । भगवान् की प्रतिमा के चरण आदि के संस्पर्श से इतना अपूर्व आनन्द मिले कि वह आत्म-विभोर हो जाय । आभ्यवहारिक पूजन में भक्त भगवान् की भोग-सामग्री को सादर समर्पित करता है । बिना भगवान् को खिलाये कभी भोजन न करे । इस प्रकार तीनों प्रकार से भगवान् की पूजा किये बिना प्रपन्न जन जीवन धारण नहीं कर सकते ।

इसके बाद भगवान् कह रहे हैं कि मुझको नमस्कार करो । साष्टांग प्रणाम करो । भगवान् को साष्टांग प्रणाम शरीर ढँक कर नहीं करना चाहिये, यदि चादर ओढ़े हो तो उसे कटि में बाँध ले । मन्दिर में प्रणाम न करे । मन्दिर के बाहर से प्रणाम करे । प्रतिमा की दायीं ओर से प्रणाम करना चाहिये । ऊँ आदि नामों को अथवा 'अमर्य्यादः क्षुद्रः' कहता हुआ प्रणाम करे ।

शरणागति का अन्तिम स्वरूप बताते हुये भगवान् कह रहे हैं कि मुझमे ही परायण रहो । मुझे ही पर अपना श्रेष्ठ धाम (निवास स्थान) समझो । तुम यह समझो कि सम्पूर्ण चराचर मुझ धाम में ही निवास करते हैं ।

शरणागति का स्वरूप बता कर भगवान् कह रहे हैं कि यदि तुम इस प्रकार अपनी आत्मा (मन) को (आत्मा यहाँ मन वाचक है) मुझमें लगावोगे तो निश्चय करके मुझे ही प्राप्त करोगे । भगवान् अर्जुन को दृढ़ विश्वास दिलाते हैं कि उपर्युक्त बताये गये ध्यान, पूजन, नमस्कार आदि विधि से अच्छी तरह मन लगाकर मेरी शरणागति लोगे, तो तुम निश्चय ही गरुड़ पक्षी की भाँति मुझे प्राप्त करोगे ।

इस प्रकार भगवान् यह उपदेश दे रहे हैं कि शरणागति जो राजविद्या है यह अत्यन्त गुह्य है । भगवान् के कहने का आशय यह है कि जीव जबतक ज्ञानान्ध बनकर अपने को ब्रह्म समझता रहेगा तबतक मुझे प्राप्त नहीं कर सकेगा । जब भक्ति भाव से विनम्र होकर भगवान् के मङ्गलमय चरण की शरण में चला जायेगा तब वह निस्संदेह भगवान् को प्राप्त कर लेगा ।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को लौकिक और वैदिक कर्मों को करते हुए भगवान् की शरण में जाकर अव्यभिचारिणी भक्ति से भजन करते हुए भगवान् को प्राप्त करना चाहिए । भगवान् की शरण में जाने से -

'गये शरण प्रभु राखिहैं सब अपराध विसारि ।'

सभी अपराधों को दूर कर भगवान् अभय दान दे देंगे ।

॥ नवम अध्याय समाप्त ॥

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ दशमोऽध्यायः

।। श्रीभगवानुवाच ।।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।।१।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच- महाबाहो ! भूयः एव मे परमं वचः शृणु । यत् अहं प्रीयमाणाय ते हितकाम्यया वक्ष्यामि ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले- हे महाबाहो ! फिर भी मेरे श्रेष्ठ वचन को सुनो । जो मैं (सुनकर) प्रसन्न होनेवाले तुझ भक्त के लिए तेरे हित की कामना से कहूँगा ।

व्याख्या :- नवम अध्याय तक अङ्गों सहित भक्तियोग कहा गया है । अब भक्ति की उत्पत्ति और उसकी वृद्धि के लिए अपने निरंकुश ऐश्वर्य तथा कल्याणमय गुण-गण वैभव को बताने के लिए **'विभूतियोग'** नामक दसवाँ अध्याय भगवन् प्रारम्भ करते हैं । विष्णु-पुराण में कहा गया है कि उत्पत्ति, प्रलय, गति, अगति, विद्या, अविद्या इन छः चीजों के जाननेवाले को भगवान् कहते हैं ।

शास्त्रानुसार बिना पूछे कुछ नहीं कहना चाहिए और जानते हुए भी जड़वत् व्यवहार करना चाहिए । यहाँ यह संदेह नहीं करना चाहिए कि अर्जुन के बिना पूछे भगवान् कैसे अपना माहात्म्य बतलाते हैं ? अर्जुन पहले सुना था, क्योंकि भगवान् यहाँ कहते हैं कि 'मेरे माहात्म्य को सुनकर, अर्थात् वह पहले सुन चुका है । दूसरे, अर्जुन पहले कह चुका है **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि'** (२।७) आप मेरे हित की बातें कहें । तीसरे-भगवान् पहले कह चुके हैं कि **'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'** (४।६) मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं । इसी को यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं । चौथे-अर्जुन के मन की बात समझकर अपनी सर्वज्ञता द्योतन कर रहे है। । पाँचवे-यह गुरु शिष्य में न्याय नहीं है, शिष्य गुरु के यहाँ अध्ययन करने जाता है, गुरु जैसा उचित समझता वैसा कहता है ।

यहाँ भगवान् अर्जुन को महाबाहो सम्बोधन दे रहे हैं । अर्जुन ने विराट के यहाँ रहकर नपुंसक वेश में स्वयं सारथी बन कर द्रोणादि से युद्ध करके गौ की रक्षा की, इसी दिन से अर्जुन को महाबाहु की उपाधि मिली । इससे यह शिक्षा देते हैं कि गौ की रक्षा करनेवाले को महाबाहु की उपाधि मिलतीं है । भगवान् कहते हैं कि हे महाबाहो अर्जुन ! मेरे माहात्म्य को सुनकर प्रसन्न होने वाले तुझ भक्त के लिए मैं तेरे हित की कामना से फिर भी श्रेष्ठ वचन कहूँ गा उसे सावधान चित्त से सुनो । इससे यह बताते हैं कि आचार्य के पास हित की बातें सुननी चाहिये, प्रिय नहीं । हित की बातें कटु रहते हुये भी उन्हें सहन करना चाहिये । जो लोग ऐसा करते हैं उनके अन्दर भगवान् की भक्ति उत्पन्न होकर बढ़ती है ।।१।।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥

अन्वय :- **मम प्रभवं न सुरगणाः विदुः न महर्षयः । हि अहम् देवानां च महर्षीणाम् सर्वशः आदिः ।**

अर्थ :- मेरे प्रभव (उत्पत्ति या ऐश्वर्य) को न तो देवगण जानते हैं और न महर्षिगण, क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियों का सब प्रकार से आदि हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन्द्रादि देवतागण जो अधिक ज्ञानवाले तथा अतीन्द्रिय हैं वे भी मेरे नाम, प्रभाव, स्वरूप, चरित्र आदि को यथार्थ रूप से नहीं जानते हैं । देवताओं का लक्षण है कि उनकी पलकें नहीं गिरतीं, सब चीजों का हाल जानते हैं जैसा कि यजुर्वेद के शतपथ में कहा गया है **'विद्वांसो हि देवाः'** तथा उनके चरण पृथ्वी पर नहीं पड़ते, जैसा कहा गया है-

तीस चरण महि चलत ना श्रवण नयन छत्तीस ।

भृगु आदि महर्षिगण भी मेरे प्रभाव को यथार्थ रूप से नहीं जानते हैं । यथार्थरूप से न जानने का कारण बताते हुये भगवान् कहते हैं कि मैं देवताओं और महर्षियों का सब प्रकार से आदि हूँ । मुझसे कमल की उत्पत्ति हुई, कमल से ब्रह्मा की और ब्रह्मा से देवताओं की । जिस प्रकार पुत्र अपने पिता के जन्म, रूप कार्य आदि को नहीं जान सकता वैसे ही ये सब भी नहीं जानते । मैं ही उनके जन्म, रूप, ज्ञान, महिमा का आदि कारण हूँ । महर्षियों के अन्दर अन्य की अपेक्षा ज्ञान अधिक है, वे मंत्र को भी देख लेते हैं, परन्तु मंत्र तो हमारी श्वास है । ज्ञान हमी से सबको प्राप्त होता है । यदि वे मुझे यथार्थरूप से जानते तो ब्रह्मा बछड़ों को क्यों चुराते ? भृगु भगवान् की छाती पर लात क्यों मारते ? इसलिए हमारी निरंकुश स्वतन्त्रता के प्रभाव को यथार्थरूप से जानने की ताकत उनमें भी नहीं है । ऐसा बताते हुए भगवान् संकेत करते हैं कि ब्रह्मादि भी यथार्थरूप से मुझे नहीं जानते तो फिर नर-नारी भूल जायँ तो इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं है । मुझे जानने के लिए सद्गुरुओं का सहवास करो । इस प्रकार अज्ञानी की भाँति यह न कहते हुये कि मैं भगवान् को जानता हूँ, तथा देवताओं और महर्षियों की निंदा न करते हुये सबके आदि कारण भगवान् की उपासना करनी चाहिये । यह प्रार्थना करे कि हे प्रभो ! जिस प्रकार आपने सुर-दुर्लभ भारत देश में जन्म दिया है उसी प्रकार मुझे यह ज्ञान दें कि मैं आपको समझ सकूँ ॥२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

अन्वय :- **मनुष्येषु असंमूढः यः माम् अजम् अनादिम् च लोकमहेश्वरम् वेत्ति, सः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।**

अर्थ :- मनुष्यों में मोहरहित होकर जो (भक्त) मुझे अजन्मा अनादि और लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह सब पापों से छूट जाता है ।

व्याख्या :- जबतक पाप रहेगा तबतक भक्ति नहीं होगी । जैसाकि गोस्वामी तुलसीदास जी का कहना है कि-

पापवंत कर सहज सुभाऊ ।
भजनु मोर तेहि भाव न काऊ ॥ (रा. मा. ५।४३।३)

फिर कलियुग में तो सभी पापपरायण होते हैं - **'कलौ सर्वे भविष्यन्ति पापकर्मपरायणाः ॥** मत्यना. व्र. क.॥ इसलिये पहले पापरूपी मैल को छुड़ाओ । मंदिर में जाने के पहले मैल को धो लिया जाता है । यह मर्त्यलोक है जहाँ मृत्यु जन्म के साथ ही निश्चित है -**'मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते'** (श्रीमद्भाग. १०।१।३८) गीता में भी कहा गया है **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ।** (२।२७) जन्मे हुये की मृत्यु निश्चित है ।।२७।। यदि हम मानव जीवन को भी खाने, पीने, सोने, मैथुन में ही व्यतीत करते हैं तो इस जन्म से क्या लाभ ? ऐसा करने वाले अविवेकी होते हैं ?

भगवान् कहते हैं कि मनुष्यों में मोहरहित होकर भी जो भक्त मुझको अजन्मा, अनादि और लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह सब पापों से छूट जाता है । विवेकी लोग सभी कर्मों को करते हुये ईश्वर का ही चिंतन करते हैं। वही ईश्वर माता के गर्भ में मनुष्य का चित्र बनाता है । दूसरे में ऐसा सामर्थ्य नहीं है । गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं **'शून्य भित्ति पर लिखा चितेरा' ।** इसीके प्रभाव के कारण वीर्य पेट के अन्दर नहीं जलता है, भोजन जल जाता है । यही जीवात्मा सरदार को अन्दर बैठाते हैं और स्वयं भी आकर बैठ जाते हैं । ये ही **'परं ब्रह्म परंधाम'** (गी. १०।१२) हैं ।

ये भगवान् अजन्मा अर्थात् रज-वीर्य के जन्म से रहित हैं । देखा भी जाता है कि व्यक्ति के जन्म के समय चर्मतन्तु लगा रहता है, पर भगवान् के जन्म के समय ऐसा नहीं होता । जन्मते ही उनके सम्बन्ध में कहा है कि **'तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणम्'** 1 (श्रीमद्भा. १०।३।९) तथा उसी समय उन्होंने वसुदेव से गोकुल चलने के लिए कहा । भगवान् का जन्म तो गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार **'निज इच्छा निर्मित तनु'** है । '**अज**' कहकर मुक्त और बद्ध जीवों से अपने को अलग बताते हैं, क्योंकि मुक्त का भी सम्बन्ध पहले रज वीर्य से हुआ रहता है ।

लोक भुवन को कहते हैं **'लोकस्तु भुवने जने'** (अम. को.) । चौदहो भुवन में सबसे बड़े ईश्वर ही हैं । यही सबके स्वामी हैं । जिस प्रकार राजा अपना कर्मचारी जिसको बनाते हैं वही बनता है, उसी प्रकार समस्त लोकों के स्वामी प्रभु जिसको अपना कर्मचारी बनाते हैं वही बनता है । जो लोग भगवान् को ऐसा समझते है, वे ज्ञानी हैं और उनके चारो पाप - १. अकृत्य करण (मदिरा सेवन आदि) २. भगवदपचार ३. भागवतापचार तथा ४. असह्यापचार छूट जाते हैं । केवल गंगा-स्नान आदि करने से ही पाप नहीं छूटता । यदि ऐसा होता तो मछलियों और मल्लाहों की भी गति हो जाती । पाप छूट जाने पर भक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे वे माया के चक्र में नहीं पड़ते । गोस्वामी तुलसीदास जी भी इसका विवेचन करते हुये कहते हैं-

मोह न नारि नारि के रूपा । पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ । नारि वर्ग जानइ सब कोऊ ॥ (रा. मा. ७।११५।२, ३)

दूसरे -

भगतिहि सानुकूल रघुराया ।
ताते तेहि डरपति अति माया ॥ (रा. मा. ७।११५।५)

इसलिए भक्ति को उत्पन्न कर उसे बढ़ाना चाहिए । ज्ञान की धारा में अज्ञान के कचड़े को बहाकर तथा महात्माओं के पास जाकर, प्रेरिता ब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् के उपदेश को समझने की चेष्टा करनी चाहिये ।।३।।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।४।।

('युग्मक' श्लोक के चलते अगले श्लोक के उत्तरार्द्ध को लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- **बुद्धिः ज्ञानम् असंमोहः क्षमा सत्यम् दमः शमः सुखम, दुःखम् भवः अभावः च भयम् च अभयम् एव ।**

अर्थ :- बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव और भय तथा अभय भी (प्राणियों के ये नाना भाव मुझसे ही होते हैं)

व्याख्या :- युग्मक श्लोक है युग्मक उसे कहते हैं जिसमें दो श्लोकों का अन्वय एक साथ हो - **'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तम्'** तीन श्लोक का अन्वय एक साथ होने पर विशेषक होता है । **'त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्'** । चार श्लोकों का अन्वय एक साथ होने पर कलापक होता है - 'कलापकं चतुर्भिःस्यात् ।' चार से ऊपर श्लोकों का अन्वय एक साथ होने पर कूलक होता है- **'तदूर्ध्वं कूलकं स्मृतम् ।'** निरूपण करने वाले मानसिक सामर्थ्य का नाम बुद्धि है । यह ऐसा मनोयोग है जिससे किसी वस्तु को निश्चय करते हैं 'यह सभी व्यवहारों का कारण-स्वरूप है ।' भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा सत्य, दम, शम, सुख, दुःख भव, अभाव, भय और अभय ये प्राणियों की मनोवृत्तियाँ मुझ से ही होती हैं ।

बुद्धि की ही प्रेरणा **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** में आयी है, भगवान् ने गीता के अठारहवें अध्याय में तीन प्रकार की बुद्धि बतायी है, पहली सात्त्विकी -

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।। (१८।३०)

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष इन सब को जो बुद्धि जानती हैं, पार्थ ! वह बुद्धि सात्त्विकी है ।।३०।।

दूसरी राजसी -

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।। (१८।३१)

जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कार्य और अकार्य को यथार्थ रूप से नहीं जानता है, पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है ।।३१।।

तीसरी तामसी -

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ (१८।३२)

अन्धकार से ढकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है तथा सभी बातों को विपरीत मानती है, पार्थ ! वह बुद्धि तामसी है ॥३२॥

चेतनाचेतन वस्तु के भेद को अनुभव करने वाला निश्चय 'ज्ञान' है । भगवान् ने गीता के तेहरवें अध्याय के ७वें श्लोक **'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा......'** से लेकर ११वें श्लोक **'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्'** पर्यन्त ज्ञान का वर्णन किया है । मानव का जन्म पाकर मैं कौन हूँ ? मेरे आराध्य देव कौन हैं ? तथा ब्रह्म, जीव, माया तत्त्व क्या है ? आदि विचार करना चाहिये । यह सब भगवान् की कृपा से प्राप्त होता है । पूर्व परिचित चाँदी आदि के विजातीय सीपी आदि पदार्थों में जो सजातीय भाव है, उसकी निवृत्ति का नाम 'असम्मोह' है । भगवान् गीता के दूसरे अध्याय में कहते हैं -

.....................................संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ (२।६३)

अविवेक से स्मृति का भ्रंश और स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश होता है तथा बुद्धि के नाश से वह अपने आप नष्ट हो जाता है ॥६३॥ इसलिये विवेक प्राप्त करना चाहिये जो मुझ से ही प्राप्त होता है । रावण चारो वेद पढ़ा था पर उसे विवेक नहीं प्राप्त हुआ और प्रह्लाद भगवान् की कृपा से थोड़ी अवस्था में ही उसे प्राप्त कर लेते हैं ।

मन के विकार का कारण उपस्थित होने पर भी मन का विकृत न होना 'क्षमा' है । क्षमा शस्त्र जिसके पास होता है उसका दुर्जन कुछ नहीं कर सकता । तृण न रहने पर अग्नि स्वयं शान्त हो जाती है । भगवान् राम की सहनशीलता के आगे परशुराम का क्रोध शान्त हो जाता है और वे अपने क्रोध के लिये क्षमा माँगते हैं-

अनुचित बहुत कहेऊँ अग्याता ।
छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ॥१।२८४।६॥
विनय सील करुना गुन सागर ।
जयति वचन रचना अति नागर ॥(रा. मा. १।२८४।३)

जैसा देखा है, ठीक वैसा ही प्राणियों के हित साधक वचन बोलना 'सत्य' है । यहाँ तदनुकूल मनोवृत्ति का नाम 'सत्य' से तात्पर्य है । बाह्य इन्द्रियों को अनर्थकारी विषयों से रोकने का नाम 'दम' है । उसी तरह अन्तःकरण को वश में रखना 'शम' है । इन्द्रियों को विषयों से रोकना चाहिये । काशी के अस्सी नामक स्थान में मछली-बन्दर घाट के एक तट पर एक महात्मा रहते थे और दूसरे तट पर एक वेश्या रहती थी । वेश्या महात्मा को देखकर संताप करती थी कि मैं इस योग्य नहीं कि उनसे उपदेशों को जाकर ग्रहण करूँ । महात्मा अपने मन में सोचते थे कि अगर मैं विरक्त न होता तो मैं भी वेश्या के यहाँ जाता । दोनों की मृत्यु होने पर, वेश्या को मोक्ष हुआ और महात्मा किसी वेश्या के यहाँ भडुआ बने । इसलिये मन में इन्द्रियों के विषयों को स्मरण नहीं करना चाहिए ।

अपने अनुकूल अनुभव को सुख कहते हैं तथा प्रतिकूल अनुभव को दु:ख । सुख के तीन भेद भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के अठारहवें अध्याय में बतलाये हैं ।

दु:ख भी १-दैहिक, २-दैविक, ३-भौतिक तीन प्रकार का होता है । अनुकूल अनुभव के कारण होने वाले मानसिक भाव का नाम 'भव' है प्रतिकूल अनुभव के कारण होने वाले मानस अवसाद (मन की शिथिलता) का नाम 'अभाव' है । आगामी दु:ख के कारण को देखने से होने वाले दु:ख को 'भय' कहते हैं, उसकी निवृत्ति 'अभय' है । संसार के सारे पदार्थों में भय है । निर्भय केवल विष्णु का पद ही है, जैसा कहा गया है **'विष्णोः पदं निर्भयम्'** इस लिये अपनी मनोवृत्ति को भगवान् में लगाना चाहिये ।।४।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।५।।

अन्वय :- **अहिंसा समता तुष्टिः तपः दानम् यशः अयशः भूतानाम् पृथग्विधाः भावाः मत्तः एव प्रभवन्ति ।**

अर्थ :- अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश-प्राणियों के अनेक प्रकार के अलग-अलग भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अपयश ये प्राणियों के नाना प्रकार के भाव (मनोवृत्तियाँ) मुझसे ही होते हैं । दूसरे के दु:ख में हेतु न बनना अहिंसा है । कहा गया है, **'अहिंसा परमो धर्मः ।'** अहिंसा सिद्ध हो जाने पर वैर-भाव का त्याग हो जाता है । अन्य धर्मों में विवाद है परन्तु अहिंसा को बौद्ध आदि भी मानते हैं । अपने में, मित्रों और विपक्षियों में भी हानि लाभ की अपेक्षा समबुद्धि रखना 'समता' है । गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं -

बन्दउँ सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोइ ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोइ ।। (रा. मा. १।३ क)

सभी दृष्ट आत्माओं में सन्तुष्ट भाव से रहना (किसी की उन्नति से ईर्ष्या न करना) 'तुष्टि' है । इसके लिये गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -

बिनु संतोष न काम नसाहीं । काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ।।
(रा. मा. ७।८९।१)

शास्त्रानुकूल भोगों के संकोचरूप कायक्लेश का नाम 'तप' है । यह तपस्या तीन प्रकार की होती है ।

अपनी भोग्य वस्तुओं को दूसरे के लिये दे देना 'दान' है । यह देव-विभूति के अन्दर है । यह तीन प्रकार का होता है - सात्त्विक, राजस और तामस ।

कीर्ति अपकीर्ति के अनुरूप मनोवृत्तियों को यश और अयश नाम से कहा गया है । भगवान् गीता के दूसरे
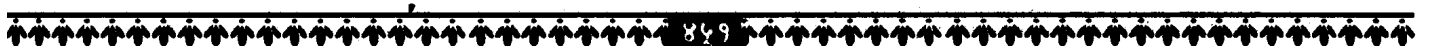
अध्याय में कहते हैं - **'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'** (२।३४) प्रतिष्ठित पुरुष के लिए अकीर्ति मरने से भी अधिक (बुरी) होती है ।।३४।।

इस प्रकार से २० मनोवृत्तियाँ, भगवान् कहते हैं कि मेरे संकल्प के आश्रित ही होती हैं ।।५।।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।६।।

अन्वय :- **मानसाः जाताः पूर्वे सप्त महर्षयः तथा चत्वारः मनवःयेषाम् लोके इमाः प्रजाः - मद्भावाः ।**

अर्थ :- (ब्रह्म के) मन से उत्पन्न पहले के सात महर्षि और चार मनु-जिनकी लोक यानी संसार में उत्पन्न हुई ये प्रजाएँ हैं, मेरे भाव वाले हैं ।

व्याख्या :- जो श्रेष्ठ हो और मन्त्र देखने वाला हो उसे महर्षि कहते हैं । प्रेरणात्मक वाक्यों को मन्त्र कहते हैं- **''तच्चोदकेषु मन्त्राख्या''** । (जै. न्या. २।१।८।३२)

जैसे :- **''धियो यो नः प्रचोदयात्''** (शु. य. ३।३५) जिस मन्त्र को जिस ऋषि ने सर्वप्रथम देखा उसका वही ऋषि हुआ । विश्वामित्र ने गायत्री मन्त्र का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया । भगवान् राम स्वयं इनके शिष्य हुए । ऋषि से महर्षि श्रेठ होते हैं । महर्षि में रज वीर्य आदि का किसी प्रकार का दोष नहीं होता । वे वर्ण और आश्रम में भी बड़े होते हैं । महर्षि सात हैं - (१) भृगु (२) मरीचि, (३) अत्रि, (४) पुलह, (५) क्रतु, (६) वसिष्ठ और (७) अंगिरा ।

मनु चौदह हैं । परन्तु यहाँ भगवान् के कहने का तात्पर्य आदि के चार मनु (१) स्वायम्भू, (२) सावर्णि, (३) वैवश्वत और (४) स्वरोचिष् से है । कुछ लोग भृगु आदि से पहले और जो चार मनु सनक आदि हैं, उनसे यहाँ तात्पर्य बताते हैं, पर श्रीसम्प्रदायानुसार उपर्युक्त चार स्वायम्भू आदि मनु से ही तात्पर्य है । मनु ब्रह्म के मन से उत्पन्न हुए, 'मनसाः जाताः' । यहाँ पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि ये लोग मन से कैसे उत्पन्न हुए ? मुसलमान भी ''आदम हौवा'' की उत्पत्ति राख से मानते हैं । पुराणों में मधु और कैटभ की उत्पत्ति भी विष्णु के कान.की खोंट से मानी गयी है । रामायण में भी ऋक्षराज जो कुआँ में कूदा वह स्त्री हो गया उसीसे बालि और सुग्रीव की उत्पत्ति मानी गयी है । गौतम की उत्पत्ति खरहे के पीठ से और अगस्त की उत्पत्ति घड़े से हुई है । पहले अमैथुनी सृष्टि हुई है । **''गणिकापुत्रः वसिष्ठः''** वाक्यानुसार कुछ लोग वसिष्ठ को वेश्या का पुत्र कहने का साहस करते हैं । परन्तु उस समय तो अभी ब्रह्मा की ही उत्पत्ति हुई थी स्त्री, शूद्र आदि हुए ही नहीं थे । दूसरे ''मानसाः जाताः'' इस वाक्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय ब्रह्मा के अन्दर गणित विद्या का आविर्भाव हुआ उसी समय वसिष्ठ उत्पन्न हुए । दूसरी शंका ''दासीपुत्रः नारदः'' वाक्य में भी दासी का तात्पर्य यह है कि जिस समय ब्रह्मा के मन में भगवान् की सेवा की भावना उत्पन्न हुई थी उस समय में नारद की उत्पत्ति हुई, क्योंकि उस समय दासी नहीं थी केवल ब्रह्मा ही उत्पन्न हुए थे । भगवान् कहते हैं कि सातो महर्षि (भृगु आदि) मेरे मतानुसार चलते हैं । ये मेरे ही भावों को पुष्ट करते हैं । इन्हीं की यह सम्पूर्ण प्रजा है ।

प्रजा सन्तति और जन को कहते हैं -"**प्रजा स्यात् सन्ततौ जने** " (अमरकोश:) । सभी जन इन्हीं के वंश के हैं । चौदहों लोक में इन्हीं की पूजा होती है । लोक भुवन को कहते हैं "**लोकस्तु भुवने जने**' । जिस प्रकार नालायक पुत्र अपने पिता को भूल जाय वैसे ही इङ्गलैण्ड, अमेरिका वाले अनार्य हो गये, वेद की मान्यता भूल गये पर सभी उन्हीं की परम्परा के हैं । भगवान् कहते हैं कि ये महर्षि लोग मेरे आचरण के अनुसार ही आचरण करते हैं । उन्होंने भगवान् के समझाये हुए वेद के वाक्यों का ही अर्थ किया, उससे भिन्न अर्थ नहीं । भगवान् के अनुसार नारद पांचरात्र में नारद जी कहते हैं । इसी तरह अन्य महर्षि भी । उनका ज्ञान निर्भ्रान्त है । भगवान् मन को प्रबल बताते हुए कहते हैं कि यह मन शरीर एवं इन्द्रियों से परे है :-

"**इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन:**" (गीता ३।४२)

मन लगाने पर ही इन्द्रियाँ ठीक काम करती हैं । इसलिए मन का निग्रह करना चाहिए । यह निग्रह भगवान् की उपासना के बिना नहीं होता । आचार्य के उपदेश से राम में मन लगाते हुए अन्य कामों में मन लगाना चाहिए । नहीं तो काम नरक में ले जायगा ।

इसलिए मन को काम से रोकना चाहिए । महात्मा तुलसीदास जी मन को नीच का सम्बोधन देकर चेतावनी देते हुए कहते हैं :-

लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सरचंड ।
भजसि न रे मन राम को कालु जासु कोदण्ड ॥ (रा. मा. ६।१)

मन इन्द्रियों से बड़ा है । तात्पर्य यह है कि यदि एक बार भी बड़े को बुरे काम में पकड़ लिया जाय तो उसको सावधान हो जाना चाहिए । तुम चौरासी लाख योनियों में काम में गये । सुर-दुर्लभ मनुष्य का तन पाकर भी तुम भगवान् राम को छोड़कर काम की तरफ दौड़ते हो । भगवान् राम को नहीं जानते कि जिनके बाण और धनुष दोनों काल के हैं जैसे कामदेव के धनुष और बाण दोनों फूल के थे । कामदेव पंचसर कहलाता है पर भगवान् के बाण छ: हैं । ये बाण बड़े भयानक हैं जो छोड़ते ही लक्ष्य को मार डालते हैं । तीनों लोकों में कहीं भी जाय बचता नहीं है । रामचरित मानस में माता जानकी इसी बाण की याद रावण को दिलाती हैं :-

अस मन समुझु कहति जानकी ।
खल सुधि नहिं रघुवीर बान की ॥ (रा. मा. ५/८,८)

लव बाण बड़ा बारीक है । पलक के गिरने के काल के साठवें हिस्से को लव कहते हैं । इसके द्वारा बालि को भगवान् ने मारा ।

निमेष बाण से भगवान् ने खरदूषण को मारा । निमेष का तात्पर्य पलक गिरने भर के काल से है । परिमाण बाण से भगवान् ने हिरण्यकशिपु को मारा । इसका तात्पर्य तौलकर है । न रात में न दिन में, न मनुष्य से न पशु से, न अस्त्र से न शस्त्र से, न ऊपर न नीचे आदि सभी बातों को तौल कर भगवान् ने हिरण्यकशिपु को मारा ।

भगवान् ने युग बाण से रावण को मारा । रावण ७४ युग के बाद मरा । वर्ष बाण से भगवान् ने मधुकैटभ

को मारा तथा कल्प बाण से भगवान् सारे संसार का संहार कर देते हैं ।

इस प्रकार भगवान् के बाण को जो अमोघ हैं, याद दिलाते हैं, कि ऐ मन ! तू ऐसे प्रभु का नाम लो, काम की तरफ दौड़ मत लगाओ । सद्गुरुओं के उपदेशानुसार भगवान् राम का नाम लेना चाहिए ॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

अन्वय :- **यः मम एताम् विभूतिम् च योगम् तत्त्वतः वेत्ति, सः अविकम्पेन योगेन युज्यते, अत्र संशयः न ।**

अर्थ :- जो मेरी इस विभूति को और (कल्याण गुण रूप) योग को तत्त्व से जानता है, वह अचल योग (यानी भक्तियोग) से युक्त हो जाता है - इसमें संशय नहीं है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि जो मेरी इस विभूति को और (कल्याण गुणगण रूप) योग को तत्त्व से जानता है, वह अचल (भक्ति योग) से युक्त होता है, इसमें संशय नहीं है । समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और प्रवृत्ति ही विभूति का स्वरूप है। यह मेरी विभूति अर्थात् परम ऐश्वर्य निरंकुश स्वतन्त्रता को तथा योग अर्थात् हेय गुणों से रहित जो सौकुमार्य, सौशील्य, वात्सल्य आदि दिव्य गुण है, जो जानते हैं उनके अन्दर भक्ति उत्पन्न होती है । भगवान् राम जटायु की भक्ति को देखकर स्वयं अपनी जटा से धूल झाड़ते हैं और लक्ष्मण जी के रहते हुए भी दाह-संस्कार स्वयं करते हैं । हमारे परम कारुणिक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी -

जो योगी के ध्यान न आवै ॥
सो जसुमति के आँगन धावै ॥

तथा गोपियों के कहने पर चुल्लू भर छाँछ (मट्ठा) पर नाचते हैं -

"ताहि अहीर की छोहरियाँ छछियाँ भरि छाँछ पर नाच नचावैं"

इसलिए भगवान् की विभूति जो जान लेते हैं उनके अन्दर पराभक्ति उत्पन्न होती है और बढ़ती है । यह अविकम्पयोग से उत्पन्न होती है । भक्तियोग वाले के लिए माता पिता देवता हैं । यदि वे हमारे पुण्य कार्यों में विघ्न डालते हैं तो यह समझना चाहिये कि हमारे पूर्व जन्म के कर्म का फल है । भक्त प्रह्लाद के अन्दर ऐसी ही भावना थी। वह पिता को दोषी नहीं कहता था । उसके अन्दर भक्तियोग अचल हो गया था । पावक भी उसके लिए जल के समान था । इसलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं :-

भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥ रा०मा० १।२५।४।

किसी कुतर्की के कहने से भक्ति से विचलित नहीं होना चाहिए और न तो सन्देह करना चाहिए । भगवान् अर्जुन के व्याज से हम लोगों को भी उपदेश दे रहे हैं कि हमलोग उनके दिव्य गुणों का अनुसन्धान करें । अपने पिता माता को देवता मानें तथा भगवान् का ध्यान करें ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः ॥८॥

अन्वय :- **अहम् सर्वस्य प्रभवः, सर्वम् मत्तः प्रवर्तते, इति मत्वा भावसमन्विताः बुधाः माम् भजन्ते ।**

अर्थ :- मैं ही सबका प्रभव (यानी उत्पत्ति का कारण) हूँ, सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं ऐसा मानकर भाव-समन्वित ज्ञानी भक्त मुझको भजते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि समस्त जड़-चेतन संसार की उत्पत्ति का कारण मैं हूँ । जहाँ-जहाँ मैं चाहता हूँ वहीं-वहीं सन्तानोत्पत्ति होती है वरना नहीं होती । कल्याण गुण-गण के कारण मुझसे ही सब प्रवृत्त किये जाते हैं । ज्ञानी भक्त अन्तःकरण की भावना शुद्ध करते हुए समस्त संसार के कारण और सौशील्य, सौन्दर्य, वात्सल्यादि गुणों से युक्त मेरा भजन करते है। । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं-

"ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पिआरा ॥ रा. मा. १।२१।७॥

ये भक्त अत्यन्त स्पृहा से मुझमें तन्मय होकर मुझे भजते हैं । यहाँ एक आख्यायिका उल्लेखनीय है - एक बार भगवान् ने अपनी योग-माया के द्वारा दिखाया कि मेरे पेट में बहुत तेज दर्द है । अनेक प्रकार के वैद्य आये पर वह दर्द ठीक नहीं हुआ । भगवान् ने बताया कि मारकेश लगने के कारण यह दर्द है । यदि मेरा अतिशय प्रेमी भक्त अपना चरण धोकर अपना चरणामृत मुझे दे दे तब यह दर्द ठीक हो जायगा । सर्वत्र भ्रमण करके श्रीनारद जी लौट आये और बताये कि कोई भक्त ऐसा नहीं है । भगवान् बोले कि गोपियों के पास जाइये । नारदजी ने वहाँ जाकर प्रभु के दर्द को बताया और दवा के रूप में चरण प्रक्षालित-जल माँगा । गोपियों ने यह कहते हुए कि "चाहे नरक ही हमें क्यों न हो परन्तु हमारे प्राणपति प्रभु का दर्द ठीक हो जाय" जल दे दिया । आश्चर्य-चकित नारद जी वह जल लेकर गये और भगवान् के मुख के पास लगाते ही वह दर्द दूर हो गया । भगवान् मुस्कुरा दिये । अन्य सभी लोगों का भक्त बनने का अहङ्कार दूर हो गया । इस प्रकार भगवान् की भक्ति करते हुए जो प्रभु का स्मरण करते हैं उनको भगवद्विभूति का ज्ञान उत्पन्न होता है ॥८॥

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

अन्वय :- **मच्चिताः च मद्गतप्राणाः परस्परं बोधयन्तः च माम् नित्यं कथयन्तः तुष्यन्ति च रमन्ति ।**

अर्थ :- मुझमें चित्तवाले और मेरे ही अधीन प्राणवाले भक्त परस्पर (अपने अनुभव को) समझाते हुए और मेरा नित्य कथन यानी वर्णन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और रमण करते हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् उपदेश देते हैं कि अपने मन को मुझमें लगाओ, क्योंकि चित्त बड़ा चञ्चल है ।

इसलिए कहा गया है :-

रे चित्त चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः ।
पारं गमिष्यसि यतो भवसागरस्य ॥

अर्थात् अरे नीच चित्त भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों का चिन्तन करो, इससे भवसागर से पार हो जाओगे । भगवान् के स्मरण करते ही शान्ति प्राप्त होती है । गोस्वामी तुलसीदासजी गीतावली में कहते हैं :-

प्रातः काल रघुवीर बदन छवि चित्तै चतुर चित्त मेरे ।
होहिं विवेक-विलोचन निरमल सुफल सुशीतल तेरे ॥

वृन्दावन में चिन्तयन्ती नाम की एक गोपी थी । वह भगवान् श्रीकृष्ण की रास-क्रीडा में जाना चाहती थी, परन्तु उसके श्वसुर अत्यन्त क्रुद्ध होकर दरवाजे पर चारपाई डालकर बैठ गये । वह उनके क्रोध के भय से रास में नहीं जा सकी । आँगन में बैठकर उसने आनन्द-मग्न हो भगवान् श्रीकृष्ण को सच्चे हृदय से स्मरण किया जिसके फलस्वरूप वह रास-क्रीडा में सबसे पहले पहुँच गई । इस प्रकार जो भगवान् का मनन करते हैं वे प्रभु के प्रिय बन जाते हैं । ऐसे ही प्रभु का स्मरण करते हुए भक्त कृष्णमय बन जाते हैं - जैसे चैतन्य महाप्रभु । कवि विद्यापति कहते हैं कि राधा कृष्ण, कृष्ण कहती हुई कृष्ण ही हो गई :-

अनुखन माधव रटत राधा भेलि मधाई ।

एकान्त में भगवान् के नाम, रूप, गुण और धाम का अनुसन्धान करना चाहिए । कुछ लोग केवल नामोपासना करते हुए रूप को नहीं मानते, परन्तु विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि नामकरण के पहले ही रूप गर्भ में होता है, रूप के बिना जड़ता हो जाती है । रूप के साथ गुण भी आवश्यक होता है और यदि रूप और गुण हैं तो उसका कहीं स्थान (धाम) भी अवश्य होगा । इसलिए चारो रूपों में भगवान् की उपासना करनी चाहिए । भगवान् के भक्त परस्पर में उनकी ही चर्चा किया करते हैं - "कथयन्तश्च मां नित्यं बोधयन्तः परस्परम्" वे इतने प्रेम में विह्वल हो जाते हैं कि आनन्दाश्रु निकलने लगता है । गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं ।

मम गुन गावत पुलक सरीरा ।
गद-गद गिरा नयन बह नीरा ॥ (रा. मा. ३।१५।११)

इसलिए सुरदुर्लभ मानव शरीर पाकर भगवान् के प्रवचन करने एवं सुनने का व्यसन बनाते हुए अनन्य भक्ति करने वाले भक्त भगवान् के अतिशय प्रिय बन जाते हैं ॥६॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

अन्वय :- **तेषां सततयुक्तानाम् भजताम् प्रीतिपूर्वकम् तम् बुद्धियोगम् ददामि येन ते माम् उपयान्ति ।**

अर्थ :- उन निरन्तर मुझमें लगे हुए भजन करने वाले (भक्तों) को मैं प्रीतिपूर्वक वह बुद्धियोग देता हूँ कि जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि जो लोग निरंतर मेरा संयोग चाहते हुए मेरा भजन करते हैं, ऐसे भक्तों को मैं प्रीति-पूर्वक वह बुद्धियोग देता हूँ कि वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं । ऐसे भक्त सर्षपतैल-धारा के समान मुझसे अविछिन्न प्रीति करते हैं । सन्त पलटू साहब कहते हैं :-

आठ पहर लागी रहे भजन तेल की धार ।
पलटू ऐसे दास को कोउ न पावै पार ॥

श्रीकाकभुसुण्डीजी भगवान् का प्रेमपूर्वक भजन करते थे । लोमश ऋषि के शाप देने पर भी वे उससे विमुख नहीं हुए और शाप को सिर झुकाकर स्वीकार कर लिए । इस पर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और लोमशमुनि ने भी आशीर्वाद दिया -

सदा राम प्रिय होहु तुम्ह सुभ गुन भवन अमान ।
कामरूप इच्छामरन ग्यान विराग निधान ॥ (राम. ७।११३ क)

इनके आश्रम में योजन भर तक माया व्याप्त नहीं होती थी । उपासना का शब्दार्थ है 'उप' यानी पास में, 'आसना' अर्थात् बैठा देना, अर्थात् जो साधक को साध्य के पास बैठा दे । जो भगवान् के पास आते हैं उनके अन्दर समता आती है जिससे जन्म-मरण के चक्र में वे नहीं पड़ते । इस प्रकार भगवान् उपदेश देते हैं कि भगवत्, भागवत और आचार्य में निष्ठा रखनी चाहिए ।।१०।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थोज्ञानदीपेन भास्वता ।।११।।

अन्वय :- **तेषाम् एव अनुग्रहार्थम् अहम् आत्मभावस्थः भास्वता ज्ञानदीपेन आज्ञानजं तमः नाशयामि ।**

अर्थ :- उन्हीं पर ही अनुग्रह करने के लिए (उनके) आत्म-भाव में स्थित होकर प्रज्वलित ज्ञानदीप से (उनके) अज्ञानजनित अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन के व्याज से हमलोगों को उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं कि उन्हीं पर (जो निरंतर हमें भजते हैं) अनुग्रह करने के लिए मैं उनके आत्मभाव में स्थित होकर उनके अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को प्रज्वलित ज्ञान-द्वीप से नष्ट कर देता है । जो ज्ञानी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मुझे याद करते हैं उनको मैं भक्त प्रह्लाद की भाँति सर्वदा सुलभ हूँ । उनको जो पूर्व अभ्यस्त कर्म से उत्पन्न अज्ञान अंधकार है उसे अपने दिव्यकल्याणमय गुण-गणों द्वारा नष्ट करके उनके अन्दर ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपक जला देता हूँ । प्राचीन काल में ययाती नाम के राजा थे । उनकी वृद्धावस्था आ गई थी फिर भी विरुद्ध प्राचीन कर्म के द्वारा इनकी इन्द्रियाँ विषय की ही ओर लगी थीं । इन्हें अराधना द्वारा वर प्राप्त था कि जब चाहें दूसरे की जवानी माँगकर युवा हो सकते हैं । इन्होंने अपने बड़े लड़के यदु से विषय हेतु जवानी

माँगी परन्तु मातृभक्त धर्मात्मा राजा यदु ने सोचा कि इसका प्रायश्चित्त मुझे भी भोगना पड़ेगा, इसलिए जवानी देने से उसने इन्कार कर दिया । तब छोटे लड़के से जवानी माँग कर विषय करने लगे । एक महात्मा घूमते हुए आये और राजा को इस तरह देखकर बोले कि राजन् ! तुम्हें विषय से कभी तृप्ति नहीं होगी । तुम्हारा जवान पुत्र वृद्ध होकर खाट पर पड़ा है जिसकी तरुण बहू घर में है और तुम काम-वासना में पड़े हो । इस प्रकार उपदेश देकर उनके आज्ञानान्धकार को ज्ञानरूपी प्रकाश से दूर कर दिया । राजा ने सभा की और प्रजा के सामने कहा -

न जातुकाम: कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।महाभारत।।

जितनी ही आसक्ति विषय भोग में होगी वह वैसे ही बढ़ेगी, जैसे घृत के संसर्ग से अग्नि बढ़ती है । ऐसा कह कर पुन: युवावस्था उन्होंने अपने पुत्र को दे दी और वे भजन करने लगे । इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम प्राकृत विषय से अपनी प्रवृत्ति हटाकर सदैव उसे मुझमें लगाओ । मैं सदैव के लिए ज्ञानमय दीप जलाकर अज्ञानान्धकार का नाश कर दूँगा ।।११।।

।। अर्जुन उवाच ।।
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।।१२।।

(यह युग्म श्लोक है । अर्थ आगे के श्लोक से ''आहुस्त्वामृषय:..........पद लेकर होगा)

अन्वय :- **अर्जुन उवाच-भवान् परम् ब्रह्म, परम धाम परमम् पवित्रम् । शाश्वतम् दिव्यम् पुरुषम् अजम् आदिदेवम् विभुम् (सर्वे ऋषय: आहु:)**

अर्थ :- अर्जुन बोले-आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं (आपको) शाश्वत दिव्य पुरुष, अजन्मा, सर्वव्यापी आदिदेव-सभी ऋषियों ने कहा है ।

व्याख्या :- अर्जुन कहता है कि आप परमब्रह्म, परमधाम और परम पवित्र हैं । आपको शाश्वत् दिव्य पुरुष, अजन्मा और व्यापक आदिदेव कहते हैं । श्रुति ब्रह्म, के विषय में कहती है ।

''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति'' (तै. उ. ३।१)

''जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवन धारण करते हैं और मरकर जिसमें लय होते हैं- उसको जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है । धाम प्रकाश को कहते हैं । स्मृति कहती है कि आप अपने तेज से अन्धकार को नष्ट कर देते हैं । आपका तेज इतना है कि सहस्त्र सूर्य एक साथ उदित हों तौभी आपके प्रकाश के समान प्रकाश शायद ही हो-

''दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भा: सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन: ।। (गीता ११।१२)

आप पवित्रों में पवित्र हैं । कहा गया है "पावनं पावनानां" । भगवान् कहते हैं- मैं आदि हूँ, मुझे कोई नहीं जानता । मैं सबको जानता हूँ ।

न मे विदु: सुरगणा: प्रभवं न महर्षय: ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वश: ॥ (गीता १०।२)

भगवान् की उत्पत्ति रज वीर्य से नहीं है । भगवान् जन्म के दिन ही रूप को बदलकर कारागार में वसुदेव से कहते हैं "यशोदा ने हमारे लिये तपस्या की है मुझे वहाँ ले चलो" । संसार में कोई ऐसा पुत्र नहीं है जो जन्म के दिन अपने रूप को, क्या एक तिल (चिह्न) को भी बदल दे ? इसलिए भगवान् कहते हैं :-

"जन्म कर्म च मे दिव्यम्" (गीता ४।९)

आवश्यकतानुसार भगवान् अपने रूप को वैसा बना लेते हैं जैसी इच्छा होती है । अर्जुन कह रहा है कि आप यहाँ सामने रहते हुए सर्वत्र व्यापक हैं । कुछ अज्ञ भगवान् को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् मानते हुये भी साकार नहीं मानते । उन्हें समझना चाहिए कि तिल में तेल जैसे व्यापक रहता है और वह यन्त्र पर साकार हो जाता है वैसे ही भगवान् जब प्रेमरूपी यन्त्र से साकार हो जाते हैं तो उनको क्यों जलन होती है ? दूसरे यदि भगवान् में आकार ग्रहण करते की शक्ति नहीं हैं, तो एक शक्ति उनमें कम होगी फिर वे सर्वशक्तिमान् कैसे होंगे ? अर्जुन स्वयं साकार श्रीकृष्ण भगवान् को देखते हुए उन्हें सर्वव्यापक कह रहा है ।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना ।
(रा. मा. १।१८४।५)

आहुस्त्वामृषय: सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यास: स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अन्वय :- **सर्वे ऋषय: देवर्षि: नारद: असित: देवल: व्यास: त्वाम् आहु: च स्वयम् एव मे ब्रवीषि ।**

अर्थ :- सब ऋषि, देवर्षिनारद, असित, देवल, व्यास आदि ने आपको (परम ब्रह्म परम धाम आदि) कहा है और आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही कहते हैं ।

व्याख्या :- अर्जुन कहता है कि श्रेष्ठ और निकृष्ट सम्पूर्ण तत्वों को यथार्थत: जाननेवाले सब ऋषिगण और देवर्षि नारद-जो परम तत्त्वज्ञ हैं, नार सत्य को कहते हैं, द नाम देने वाले का है । नारद जी की कृपा से श्रीमद्भागवत और वाल्मीकीय रामायण ग्रन्थों का निर्माण हुआ । वे परम वैष्णव हैं । महर्षि असित-जिनके बाल अभी तक सफेद नहीं हुए, महातपस्वी देवल और व्यासजी-जो ज्ञान के असीम और अगाध समुद्र तथा आठारह महापुराणों के निर्माता हैं, वे आपको आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं । महाभारत में इनके कथन का वर्णन किया गया है । देवर्षि नारद कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त लोकों को उत्पन्न करने वाले और समस्त भावों को जानने वाले हैं तथा साध्यों और देवताओं

के भी ईश्वर है । (महा. भीष्म. ६८) असित और देवल ऋषि ने कहा है-श्रीकृष्ण ही प्रजा की सृष्टि के पूर्व में प्रजापति और सब लोकों के एक मात्र रचयिता हैं । (महा. वन. ८८।२४।२७) श्री वेदव्यासजी कहते हैं-**'एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः । नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरां पुरीम्'.. साक्षाद्देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ॥** (महा. वन. ८८।२४।२८) 'क्षीरसागर में निवास करने वाले वह साक्षात् श्रीमान् नारायण शेष-शय्या को छोड़कर यहाँ मथुरापुरी में आ गये हैं ।' वे देव साक्षात् पुराण पुरुष हैं, ये ही सनातन धर्म हैं, तथा आप स्वयं भी **'भूमिरापोऽनलो वायुः-'**(७।४) यहाँ से लेकर **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** (१०।८) यहाँ तक मुझसे ऐसा ही कहते हैं। अतः मैं जो आपको साक्षात् परमेश्वर समझता हूँ यह ठीक ही है ।।१३।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

अन्वय :- **केशव ! यत् माम् वदसि एतत् सर्वम् ऋतम् मन्ये । हि भगवन् ! ते व्यक्तिम् न देवाः विदुः न दानवाः ।**

अर्थ :- केशव ! जो कुछ मुझसे आप कहते हैं (यानी बता रहे हैं) यह सब मैं सत्य (यानी तत्त्व) मानता हूँ, क्योंकि भगवन् ! आपकी व्यक्ति को (यानी प्रकटीकरण को) न देवता जानते हैं, न दानव ।

व्याख्या :- यहाँ अर्जुन भगवान् को "केशव" सम्बोधन दे रहा है । क=ब्रह्मा, ईश=रुद्र, व=गति अर्थात् जो ब्रह्मा और रुद्र को उदर में रखे उसे कशेव कहते हैं । ऐसा कहकर वह संकेत करता है कि गुरु के अन्दर ही ब्रह्मा और शिव हैं। जैसा कहा गया है-**"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः"** अर्जुन स्वयं कहता है -**"ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं" (गी ११।१५)** । अर्जुन कहता है-हे केशव ! जो कि आप मुझे अपनी विभूति अर्थात् निरंकुश स्वतंत्रता वात्सल्य औदार्य आदि गुण-गणों की अनन्तता बतला रहे हैं, वह सब दूसरे चाहे सत्य न मानें पर मैं तो सत्य (तत्त्व) मानता हूँ, क्योंकि आपके प्रकट होने की रीति को हे भगवन् ! सीमित ज्ञान वाले होने के कारण न देवता जानते और न दानव । भगवान् उसको कहते हैं जो ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज से युक्त हो । पहले जब भगवान् ने चौथे अध्याय में कहा कि इस अविनाशी योग को मैंने सूर्य से कहा, सूर्य ने मनु से आदि, तो अर्जुन ने पूछा कि आपका जन्म तो अब हुआ है सूर्य का पहले, फिर आपने कैसे कहा ? परन्तु यहाँ उसे भगवान् के जन्म में दुराग्रह नहीं है ।।१४।।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

अन्वय :- **हे पुरुषोत्तम ! भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ! त्वम् स्वयम् एव आत्मना आत्मानम् वेत्थ ।**

अर्थ :- हे पुरुषोत्तम ! भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगन्नाथ ! आप स्वयम् ही अपने ज्ञान से अपने-आप को जानते हैं ।

व्याख्या :- अर्जुन यहाँ भगवान् के लिए पाँच सम्बोधनो १-पुरुषोत्तम २-भूतभावन ३-भूतेश ४-देवदेव और ५-जगत्पते का प्रयोग करता है । यह संकेत करता है कि भगवान् पाँच विभागों १-पर २-व्यूह ३-विभव ४-अंतर्यामी और

५-अर्चावतार रूप में विभक्त हैं । इसलिए इन पाँचों प्रकार की उपासना करनी चाहिए । ये पाँचों भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं अन्य नहीं, जैसा वे स्वयं कहते हैं **'मत: परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय'** (गी. ७।७) मुझसे श्रेष्ठतर दूसरा कुछ भी नहीं है ? दूसरे 'गुरु' में भी पाँच बुद्धि इसी प्रकार से करनी चाहिए । कहा गया है'

नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ।

पहला सम्बोधन अर्जुन पुरुषोत्तम का देता है । भगवान् गीता के पन्द्रहवें अध्याय के १६वें श्लोक में कहते हैं **'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'** लोक में ये दो पुरुष हैं-क्षर और अक्षर । यहाँ अर्जुन कहता है-हे प्रभो ! आप इन दोनों प्रकार के पुरुषों से अलग अर्थात् उत्तम हैं, इसलिए आप पुरुषोत्तम कहे जाते हैं । आपने स्वयं कहा है-

'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' (१५।१८ गी.)

इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ । अर्जुन यहाँ यह संकेत करता है कि भगवान् को कभी जीव कोटि में नहीं गिनना चाहिए । वह दूसरा सम्बोधन 'भूतभावन' का देता है । आप कैसे हैं यह बताते हुए वह कह रहा है कि आप समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाले हैं । मकड़ी जैसे अपने भीतर जाला रखती है वैसे ही सभी प्राणियों को आप अपनी कुक्षि में रखते हैं । यहाँ पर अर्जुन अन्य मतों का खंडन करते हुए कहता है कि आपको सृष्टि उत्पन्न करने में कुंभकार की तरह दण्ड, चक्र, आदि उपकरणों की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि कुंभकार में व्यापकत्व भी नहीं है । जैसे माला बनाने वाला माला में, अंगूठी बनाने वाला अंगूठी में व्यापक नहीं है, उसी तरह कुंभकार घड़े में व्यापक नहीं है । भगवान् तो जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं । जैसे मिट्टी सब घट में है वैसे ही 'प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना' (रा. मा.) । भगवान् अपनी सृष्टि की रचना अपने सत्य संकल्प के द्वारा मकड़ी की भाँति करते हैं । जैसे मकड़ी के अन्दर ही जाला पड़ी रहती है और अपनी इच्छा से वह निकाल लेती है उसी प्रकार प्रभु के अन्दर समस्त ब्रह्माण्ड है, उसे 'निज इच्छा' से, बिना किसी की सहायता के उत्पन्न कर लेते हैं । श्री काकभुसुंडी जी भी कहते हैं-

उदर माँझ सुनु अंडज राया । देखउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया । (रा. मा. ७।७९।३)

तीसरा सम्बोधन अर्जुन 'भूतेश' देते हुये कहता है कि आप समस्त प्राणियों के नियन्ता हैं । आपही का वासुदेव संकर्षण आदि नामों से वर्णन किया गया है । आपही सबके पालक और रक्षक हैं, अन्य में यह सामर्थ्य नहीं है । रामचरितमानस में भगवान् राम स्वयं श्रीकाकभुसुंडी जी से कहते हैं ।

एहि विधि जीव चराचर जेते । त्रिजग देव नर असुर समेते ॥
अखिल विश्व यह मोर उपाया......। (उ. का. ७।८६।६,७)

अन्य तो यह भी नहीं जानते कि कितने जीव हैं, फिर उनका पालन या रक्षा करना तो दूर है । जैसे माता जिस बालक को उत्पन्न करती है वही उसे जानती है । उसी तरह जीव की माता प्रभु ही हैं जो सबको जानते हैं तथा समयानुसार सबको असन वसनादि देते हैं । मनुष्य जब पेट में रहता तब वही प्रभु दया करके माता के स्तन में दूध देते हैं जिससे बाहर आने पर भी उसका पालन हो, पर पेट में की गयी प्रतिज्ञा को तथा उस परम कारुणिक प्रभु की दयालुता को बाहर आते ही मानव भूल जाता है । जैसे कि बड़े मालिक का नौकर उसकी कृपा से अच्छी हालत में हो जाने पर उसे ही

भूल जाय तो वह मालिक क्रोध करके उस नौकर को उखाड़ फेंकता है । जिससे वह उसके विरुद्ध फिर कभी सिर न उठा सके । उसी तरह भगवान् जब सुर-दुर्लभ मानव देह को कृपा करके देते हैं और मनुष्य जब अपने स्वामी को ही भूल जाता है तो प्रभु उसे फिर मल-मूत्र का कीट बनाकर ८४ लाख योनियों के चक्कर में डाल देते हैं । इसीलिए अर्जुन चेतावनी देता है कि भगवान् श्रीकृष्ण को ही अपना समझकर अपने मनको उनकी सेवा में लगाते हुये उनका ध्यान करो । एक वे ही तुम्हारे पालक और रक्षक हैं । इसीलिये भक्तप्रवर हनुमान जी कहते हैं -

जानत हूँ अस स्वामि बिसारी ।
फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी ॥ (रा. मा. ५।७।१)

चौथा सम्बोधन अर्जुन 'देवदेव' देते हुए कहता है कि आप देवों के भी परम देव हैं । तैंतीस कोटि देवता आपकी दिव्य स्तुति बनाकर स्तुति करते हैं **'यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः,'** ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र रुद्र और मरुत्गण दिव्य स्तोत्रों द्वारा जिनकी स्तुति करते हैं । ब्रह्मा आदि देवताओं पर जब-जब विपत्ति पड़ती है प्रभु ही सहायता करते हैं । भगवान् के कान के खोंट (कर्णमल) से उत्पन्न हुए मधुकैटभ से भी ब्रह्मा पार नहीं पाये फिर भगवान् से पार पाने की तो बात ही नहीं उत्पन्न होती । इसलिये ब्रह्मा आदि को कभी भगवान् के समकक्ष समझने की मंदता नहीं करनी चाहिये । **'महाजनो येन गतः सः पंथा'** के अनुसार देवताओं के चले मार्ग का अनुसरण हमलोगों को करना चाहिये । कुछ अज्ञानियों का मानना है - दुर्गा जी, काली जी, सूर्य आदि देवता भगवान् से बड़े हैं लेकिन यह बात नहीं है । जैसे-दुल्हा बना हुआ बालक पालकी में बैठा रहता है और उसके पिता आदि नीचे रहते हैं । यद्यपि उस दिन बालक श्रेष्ठ माना जाता है और उसके पिता आदि नीचे रहते हैं, परन्तु क्या वह पिता और चाचा से बड़ा हो जायेगा ? अथवा किसी बालक को अगर पिता या उसके दादा अपने कन्धे पर बिठा लें तो इतने मात्र से वह उन से बड़ा हो जायेगा ? ऐसा नहीं हो सकता । उसी प्रकार लीला के कारण भगवान् किसी-किसी समय अन्य देवताओं का आदर कर देते हैं । इससे कोई अज्ञानी यह न समझ बैठे कि वे भगवान् से श्रेष्ठ हैं । दुर्गापाठ में ही मधुकैटभ का वर्णन है, जो भगवान् के खोंट (कर्णमल) से उत्पन्न हुए थे, इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रभु ही सर्वश्रेष्ठ हैं । इसलिए अन्य देवताओं की पूजा करते हुए भी सबके स्वामी अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीकृष्ण भगवान् का ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

अर्जुन पाँचवा सम्बोधन 'जगत्पते' का देते हुए कहता है कि आप सम्पूर्ण संसार के रक्षक और स्वामी हैं । 'पा रक्षणे' धातु से सम्पन्न पति शब्द का अर्थ स्वामी और रक्षक दोनों है । यहाँ पर अर्जुन विवर्तवादियों (मायावादियों) के मत का खंडन करता है जो जगत् को असत्य मानते हैं । जगत् यदि झूठा होगा तो झूठे का स्वामी भगवान् कैसे होंगे ? जैसे-बाँझ के बालक, कछुए का दूध या आकाश के फल का कोई मालिक नहीं हो सकता । इसी तरह जो वस्तु होगी ही नहीं उसका कोई रक्षक भी नहीं हो सकता । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गीता के सोलहवें अध्याय के ८वें श्लोक में कहते हैं - **'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्'** । 'आसुरी सम्प्रदाय वाले लोग कहते हैं कि जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ और ईश्वर रहित है ।' यह जगत् सत्य है । यह दैव सम्प्रदाय की मान्यता है । जगत् 'गम्लृगतौ' धातु से बना है, 'गच्छति इति जगत्' आगमापायी अर्थात् आने जाने वाले को जगत् कहते हैं । यह अनित्य है, असत्य नहीं है । अनित्य वह होता है जो नष्ट होता है । जैसे-गौ होने पर उसके स्वामी को गोपाल कहा जाता है । गौ की तरह जगत् सत्य है, आप उसके स्वामी हैं । इस तरह अर्जुन संकेत करता है कि प्रभु को स्वामी और अपने को सेवक समझना चाहिए । गोस्वामी तुलसदास

जी इसी भाव की प्रधानता देते हुए कहते हैं कि -

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि (रा. मा. ७।११९ क)

जैसे कोई नौकर मालिक द्वारा पाये धन-जन की रक्षा करते हुए उसको मालिक का दिया हुआ समझकर अपने को उसका नौकर ही समझता है उसी तरह प्रभु को भी अपना स्वामी समझना चाहिए । इसलिए भगवान् संकेत करते हैं कि 'निर्ममो' (१२।१३) 'मेरा' मत कहो । मूषिक वर्ग में मृत्यु है और मूषिक वर्ग में ही 'मम' है । इससे मम कहने से मृत्यु प्राप्त करोगे तथा 'मम न' तीन अक्षर का शब्द कहने पर तीन अक्षर वाला अमृत प्राप्त करोगे । जैसे राजा जनक मुक्ति के भाजन हुये । इस प्रकार अर्जुन उपर्युक्त पाँचो सम्बोधनों को देते हुये कहता है कि आप स्वयं ही अपने ज्ञान से अपने आपको जानते हैं और कोई नहीं जानता । आपने स्वयं कहा है -**'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप'** (गी. ४।५) उन सबको मैं जानता हूँ, हे परंतप ! तू नहीं जानता ।।५।१५।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।।१६।।

अन्वय :- **हि याभिः विभूतिभिः त्वम् इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि, दिव्याः आत्मविभूतयः अशेषेण वक्तुम् अर्हसि ।**

अर्थ :- इसलिये जिन विभूतियों से आप इन लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं (उन) अपनी दिव्य विभूतियों को सम्पूर्णता से कहने में आप ही समर्थ हैं ।

व्याख्या :- अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान् से कह रहा है कि आप की जो दिव्य-(असाधारण) विभूतियाँ हैं उन सबका सम्पूर्णता से वर्णन करने में आपही समर्थ हैं । इसलिये दूसरे से पूछना ठीक नहीं है । आचार्य के सदुपदेश से ही जीव के स्वरूप की रक्षा होती है । इसलिये आप हमें सदुपदेश दें । आप जिन अनन्त विभूतियों से इन समस्त भुवनों १-अतल, २-वितल, ३-सुतल, ४-तलातल, ५-रसातल, ६-महीतल, ७-पताल, ८-भूलोक, ९-भुवर्लोक १०-स्वर्लोक, ११-महर्लोक, १२-जनलोक, १३-तपोलोक १४-सत्य लोक में व्याप्त करके स्थित हैं, उनको कहें ।

यहाँ अर्जुन भगवान् के व्याप्य-व्यापक भाव को बताता है । जो सज्जन एक ही तत्त्व मानते हैं उनके यहाँ व्याप्य-व्यापक भाव नहीं बनता । जैसे-दूध के रहने पर ही माखन की व्यापकता सिद्ध होती है दूध के बिना नहीं । अर्जुन यहाँ पर भगवान् को व्यापक तथा चौदहो भुवन को व्याप्य बताता है । यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा के ४०वें अध्याय में आया है **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** ।।१।। जो कुछ संसार के अन्दर है उसमें ईश्वर व्यापक होकर रहता है ।।१।। जगत् व्याप्य वस्तु है जिसमें भगवान् व्यापक हैं । जो शिव तत्त्व को व्यापक मानते हुये व्याप्य नहीं मानते उनका मत ठीक नहीं है, क्योंकि व्यापक व्याप्य के बिना नहीं हो सकता जैसे-तिल के बिना तेल और इक्षु के बिना रस व्यापक नहीं हो सकता । जिस प्रकार बिना सेवक के स्वामी और बिना धन के धनी नहीं होते उसी तरह बिना व्याप्य के व्यापक सिद्ध नहीं होगा ।

ये व्यापक प्रभु निर्गुण और सगुण दोनों हैं जैसे सलाई के मसालों में विद्यमान निराकार अग्नि ही रगड़ से साकार

रूप में प्रकट होती है उसी तरह प्रेम रूपी यंत्र की रगड़ से भगवान् साकार प्रकट हो जाते हैं । इसलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं 'सगुनहिं अगुनहि नहिं कछु भेदा' (रा. मा. १।११५।१) बल्कि निर्गुण उपासना को तो गो मांसभक्षी ईसाई आदि भी जानते हैं, परन्तु सगुन रूप श्रीकृष्ण भगवान् से ब्रह्मा, रुद्र आदि भ्रम में पड़ गये । भगवान् का सगुण रूप इतना श्रेष्ठ है कि ब्रह्मा भालू तथा शंकर बन्दर बनकर उनकी सेवा करते हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -

निरगुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोई । (रा. मा. ७।७३ ख)

भगवान् श्रीकृष्ण व्यापक रूप से ब्रह्माण्ड में रहते हुये साकार रूप से अर्जुन का कोचवान बनते हैं और गुरु भी । जो केवल व्यापक ही मानते हैं साकार नहीं, वे एक ही व्यक्ति को गुरु और शिष्य दोनों मानने की अज्ञता करते हैं । अर्जुन और श्रीकृष्ण अलग-अलग हैं एक नहीं ।

जैसे पौधे उत्पन्न करने तथा उसमें फल लगने के लिए पहले खेत की जुताई और सिंचाई आदि करनी पड़ती है, उसी प्रकार भक्ति उत्पन्न करने के लिए भगवान् की विभूतियों को जानना चाहिए । आचार्य को एकदेशीय, एकजातीय न समझ कर व्यापक समझना चाहिए । अर्जुन अपने आचार्य से प्रश्न पूछकर यह संकेत करता है कि संदेह होने पर अपने आचार्य से ही उसका समाधान कराना चाहिये ।।१६।।

कथं विद्यामहं योगी त्वां सदा परिचिन्तयन् ।*
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।।१७।।

अन्वय :- **भगवन् ! अहम् योगी सदा परिचिन्तयन् त्वां कथम् विद्याम् च केषु केषु भावेषु मया चिन्त्यःअसि ।।**

अर्थ :- हे भगवन् ! (मैं) भक्तियोगी सदा (आपका) चिन्तन करता हुआ आपको कैसे जानूँ और आप किन-किन भावों में चिन्तन करने योग्य हैं ।

व्याख्या :- आचार्य की बात सुनकर ही न रह जाय वरन् उसके अनुसार अपने को बनाना चाहिये । गुरु श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन से योगी बनने के लिए पहले कह चुके हैं-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।। (गी. ६।४६)

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ हैं, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ हैं और कर्मियों से भी श्रेष्ठ हैं, इसलिए अर्जुन तू योगी बन ।।४६।। यहाँ यह नहीं सोचना चाहिए कि गृहस्थ को योगी नहीं बनना चाहिए । भगवान् ने यहाँ गृहस्थ अर्जुन को ही योगी बनने के लिए कहा । महाराज जनक गृहस्थ-होते हुए भी योगी थे जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं-'जोग भोग महँ राखेउ गोई ।' (रा. मा. १।१६।२) इसलिए अर्जुन कहता है कि हे भगवन् ! मैं भक्तियोगी हूँ और जैसा आपने 'भक्तियोग' का (नवें अध्याय में) उपदेश दिया था उसी के अनुसार आपका चिन्तन करता हूँ । ऐसा कहता हुआ चिन्तन करने योग्य एवं परिपूर्ण ऐश्वर्य आदि कल्याणमय गुणगणों से युक्त आप (परमेश्वर) को मैं कैसे जानूँ ?

* अन्यत्र योगी की जगह योगिन् पाठ भी है ।

मैं कपिल आदि की तरह सांख्य योग आदि का चिंतन नहीं करता हूँ, क्योंकि वे अपने ही स्वरूप का चिन्तन करते हुये ईश्वर का भी खंडन करने लगे जिससे उनका अध:पतन हो गया । उन्होंने राजा सगर के पुत्रों को भस्म कर अपनी साधुता भंग कर दी, परन्तु मैं आपके श्याम सुन्दर मंगलमय विग्रह का ध्यान करता हूँ । यहाँ अर्जुन संकेत करता है कि स्व-स्वरूप को जानते हुये परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को भी जानना चाहिये । जैसे कोई पढ़ी लिखी विदुषी कन्या दूसरे के पति का त्याग कर अपने पति को भी त्याग दे और स्व-सौन्दर्य को एकान्त मैं बैठकर दर्पण में अवलोकन किया करे तो वह निंदनीय होती है । उसी प्रकार कोई महात्मा अन्य देवताओं का त्याग कर सबके पति भगवान् का भी त्याग कर एकान्त में समाधि द्वारा अपने ही स्वरूप का अवलोकन करे तो वह निंदनीय हो जाता है । इसलिए स्वरूप को जानते हुए भगवान् में वैसे ही एकनिष्ठ प्रेम करना चाहिए, जैसे पतिव्रता लँगड़ा-लूला भी पति पाने पर उससे ही प्रेम करती है ।

अर्जुन आगे कहता है कि अनन्त मूर्तिवाले, **'सहस्रमूर्तय:'** जैसा कहा है, ऐसे आप मुझसे किन-किन भावों (वस्तुओं) में चिन्तन किये जाने के योग्य हैं । यद्यपि आप सर्वत्र व्यापक हैं, परन्तु सब जगह मैं आपकी उपासना नहीं कर सकता । जैसे गुरु शिष्य की योग्यतानुसार ही शिक्षा प्रदान करते हैं वैसे ही हमारे सामर्थ्य के अनुसार ही षट् ऐश्वर्य सम्पन्न आप बतायें कि किन-किन भावों में आपका चिन्तन करूँ । यहाँ अर्जुन यह समझ रहा है कि कोचवान बने श्रीकृष्ण भगवान् ही सर्वत्र हैं । दूसरी बात यह है कि सर्वत्र उपासना नहीं की जा सकती; जो भगवान् को निराकार मानते हैं वे भी सर्वत्र (मल मूत्र में) उपासना नहीं करते । तीसरे अर्जुन की तरह गुरु को षडैश्वर्य सम्पन्न समझना चाहिए, एकदेशीय नहीं । चौथे उपासना में संदेह होने पर गुरु द्वारा ही उसका निराकरण कराना चाहिए ।।१७।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूय: कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।।१८।।

अन्वय :- **जनार्दन ! आत्मन: योगम् च विभूतिम् विस्तरेण भूय: कथय, हि अमृतम् श्रृण्वत: मे तृप्ति: न अस्ति ।**

अर्थ :- हे जनार्दन ! अपने योग और विभूति को विस्तारपूर्वक पुन: कहिये, क्योंकि (आपके माहात्म्य रूप) अमृत को सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् से कह रहा है कि हे जनार्दन ! अपने योग और विभूति को जो संक्षेप में पहले कहा है उसको विस्तारपूर्वक आप कहिये । यहाँ पर 'योग' शब्द का तात्पर्य चित्त-वृत्ति निरोध से नहीं बल्कि अनन्त गुण से हैं क्योंकि यहाँ प्रकरण विभूति योग का है । प्रकरण ही अर्थ का निर्णायक होता है, जैसे भोजन करते समय सैंधव माँगने का तात्पर्य घोड़ा से नहीं नमक से होगा । चित्तवृत्ति निरोध योग को भगवान् पहले बता चुके हैं । अर्जुन आगे कहता है कि आपके द्वारा कहे हुये आपके माहात्म्य रूप अमृत को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है । उस समुद्र से निकले अमृत से इस अमृत में विशेषता है । उस अमृत से जीव पुन: जन्म-मरण के चक्र में पड़ते हैं, परन्तु इस उपदेशामृत के पान से जन्म-मरण चक्र में जीव नहीं पड़ते । अत: इसके पीने से तृप्ति नहीं होती । गोस्वामी तुलसीदास जी इसी भाव को बताते हुये कहते हैं -

नाथ तवानन ससि स्त्रवत, कथा सुधा रघुवीर ।
श्रवण पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मतिधीर ॥ (रा.मा. ७।५२ ख.)

अन्य वस्तु को पीने पर कभी बस कर ही देना पड़ता है पर उपदेशामृत पाने से तृप्ति नहीं होती । यदि कोई बस कर दे, तो गास्वामी तुलसीदास जी उनके लिए कहते हैं -

'रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं' । (रा. मा. ७।५२।१)

भगवान् के उपदेश स्थान के सम्बन्ध में कहा गया है-

तत्रैव गंगा यमुना त्रिवेणी, गोदावरी सिंधु सरस्वती च ।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र, यत्राच्युतोदारकथाप्रसंगः ॥ पाण्डव गी. ३८॥

मुक्त जीव भी इस भगवान् की कथा से तृप्त नहीं होते हैं, फिर बद्ध जीवों की बात ही क्या है ? 'रामचरित मानस' में इसलिए कहा गया है-

जीवन मुक्त महामुनि जेऊ ।
हरि गुन सुनहिं निरन्तर तेऊ ॥ (रा. मा. ७।५२।२)

इसलिए अर्जुन इस उपदेशामृत का पान करना चाहता है । यहाँ अर्जुन संकेत करता है कि यदि भगवान् की विभूति कोई समझ भी जाय तो उसे अमृत की भाँति गुरुजनों के यहाँ विस्तार से जानने की चेष्टा करे । खगनायक गरुड़ वैकुंठ छोड़कर काकभुसुण्डी जी के पास कथा सुनने को जाते हैं ।।१८।।

श्रीभगवानुवाच
हन्त ते कथयिष्यामि विभूतीरात्मनः शुभाः ।।*
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।।१९।।

अन्वय :- **श्रीभगवानुवाच-कुरुश्रेष्ठ ! हन्त, आत्मनः शुभाः विभूतीः प्रधान्यतः ते कथयिष्यामि, मे विस्तरस्य अन्तः न अस्ति ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - हे कुरुकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! ठीक है, अब अपनी कल्याणमयी विभूतियों को प्रधानता से (यानी उनकी उत्कृष्टता के आधार पर) तुझे कहूँगा, (क्योंकि) मेरे (यानी मेरी विभूतियों के) विस्तार का अन्त नहीं है ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन को कुरुश्रेष्ठ का सम्बोधन दे रहे हैं जब कि नाते में युधिष्ठिर और ब्रह्मचारियों में भीष्म श्रेष्ठ थे । अर्जुन को श्रेष्ठ कहने का कारण यहाँ है कि दो मार्ग होते हैं । १-प्रेय मार्ग-जिसमें स्त्री, राज्य, धन की इच्छा होती है, और २-श्रेय मार्ग-जिसमें कल्याण की ही इच्छा होती है । अर्जुन

* 'विभूतीरात्मनः शुभाः' की जगह अन्यत्र दिव्या ह्यात्मविभूतयः' पाठ भी है ।

'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च' (गी. १।३२)

'न तो मैं विजय चाहता हूँ और न तो राज्य या सुखों को ही' ।।३२।। कहकर प्रेय मार्ग का त्याग करता है तथा गृहस्थ और तरुण होकर भी

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गी. २।७)

जो कल्याण का निश्चित साधन हो वह मुझे बतलाइये ।।७।। कहकर श्रेय मार्ग की जिज्ञासा करता है । उपनिषद् में भी वर्णन है कि यमराज के धन, बेटा आदि के प्रलोभन देने पर भी नचिकेता श्रेय मार्ग पर ही डटा रहा जिससे प्रसन्न हो यमराज ने 'नचिकेता विद्या' को दिया । सुवर्ण नगरी और लाख पुत्रों से युक्त भी रावण को किसी ऋषि ने श्रेष्ठ नहीं कहा क्योंकि उसने श्रेय की जिज्ञासा नहीं की । इसलिये भगवान् यहाँ श्रेय की इच्छा वाले अर्जुन को कुरुश्रेष्ठ कहते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! अब मैं तुझे अपनी कल्याणमयी श्रेष्ठ विभूतियों को कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियाँ अनन्त हैं, इसलिए उनका विस्तार से न तो कहना शक्य है और न सुनना ही, इससे संकेत करते हैं कि जो कहते हैं कि हम प्रभु की समस्त विभूतियों को जान गए वे अज्ञानी हैं । जब स्वयं भगवान् नहीं कह सके तो अन्य में सामर्थ्य कहाँ है ? कहा भी गया है 'जो वस्तु जानने योग्य नहीं है उसको न जानना ही जानना है'

'यन्नास्त्येव तदज्ञता अनुगुणासर्वज्ञताया विदुः ।'' (श्रीस्तव)

गोस्वामी तुलसीदास जी भी 'नेति नेति कह वेद पुकारे' (रा.मा.) कहते हैं । वक्ता कहते-कहते और श्रोता सुनते-सुनते भी अन्त में 'यही है' ऐसा न समझ 'यही नहीं है' इससे अतिरिक्त भी है ऐसा समझें । यदि 'इदं इत्थं' करके जान गया तो वह सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता है ।।१९।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।२०।।

अन्वय :- **गुडाकेश ! अहम् सर्वभूताशयस्थितः आत्मा, च अहम् एव भूतानाम् आदिः च मध्यं च अन्तः ।**

अर्थ :- हे निद्राविजयी अर्जुन ! मैं सभी प्राणी के हृदय में स्थित आत्मा हूँ, और मैं ही सम्पूर्ण भूतों का आदि और मध्य तथा अन्त हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् यहाँ अर्जुन को गुडाकेश सम्बोधन देते हैं । गुडाका नाम निद्रा का है, उसके ईश अर्थात् स्वामी बनो यह तात्पर्य है । जैसा राजा प्रजा को वश में करता है वैसे ही तुम निद्रा को वश में करना । भगवान् राम स्वयं गुरु के पहले ही जाग जाते थे ।

'गुरु ते पहिले जगतपति जागे राम सुजान' (रा. मा. १।२२६)

राजनीति भी कहती है कि निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता इन षट् दोषों से बचो । जो मनुष्य निद्रा के वश में हो जाते हैं उनकी श्री चली जाती है, इसलिये भगवान् अर्जुन को जितेन्द्रिय बनने के लिए कहते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि सभी भूतों के आशय अर्थात् हृदय में मैं आत्मा रूप से स्थित हूँ। यहाँ 'आशय' का तात्पर्य हृदय से है। भगवान् ने कई स्थानों पर कहा भी है-

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः (गीता १५।१५)

'मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ। उससे यही बात अठारहवें अध्याय में और स्पष्ट कर देते हैं :-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति (१८।६१)

ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय-देश में स्थित है ।।६१।। भगवान् यहाँ शरीरात्म सम्बन्ध लेकर बोलते हैं कि जितने चराचर हैं वे हमारे शरीर हैं। मैं शरीरी हूँ। श्रुति का अर्थ स्मृति करती है। श्रुति कहती है-

'यस्य पृथिवी शरीरम् (बृ. उ. ३।७।३)
यस्याकाशः शरीरम् यस्यात्मा शरीरम् (श. ब्रा. १४।५।३०)

अर्थात् पृथ्वी और आत्मा सब भगवान् के शरीर ही हैं। ब्रह्मा श्रीराम की स्तुति करते हैं **''जगत् सर्व शरीरम् ते।''** (वा. रा. यु. का. १२०।२६) सम्पूर्ण संसार आपका शरीर है ।।२६।। जैसे देवदत्त सिंह किसी का नाम है पर शरीरात्म सम्बन्ध से 'देवदत्तोऽहम्'' बोलते हैं जिसमें अहम् आत्मा वाचक है। उसी प्रकार भगवान् भी कह रहे हैं समस्त भूतों में आत्मारूप से स्थित हूँ। भगवान् संकेत करते हैं कि केवल मंदिर में ही भगवान् को नहीं देखना बल्कि सबके हृदयरूपी मंदिर में भी भगवान् रहते हैं - यह समझना। जैसाकि गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं -

'सबके हृदय अछत अविनासी'

तथा इसी भाव में कहते हैं-

सीयाराम मय सब जग जानी।
करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी। (रा.मा. १।७।२)

आगे भगवान् कहते हैं कि मैं ही सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण हूँ। श्रुति कहती है-

'यथोर्णनाभिः' श्वेताश्व (६।१०)

जो मकड़ी के जाले की भाँति सृष्टि उत्पन्न करता है और समेट लेता है। श्रीबादरायण ब्रह्मसूत्र में कहते हैं -

जन्माद्यस्य यतः (ब्र. सू. १।१।२)

अर्थात् जो संसार सृजन, पालन और संहार करते हैं। यहाँ भगवान् तीन अलग-अलग तत्त्व (उत्पत्ति, पालन, संहार) मानने वालों का खण्डन कर रहे हैं। भगवान् को साकार न मानने वाले मत का भगवान् खण्डन कर रहे हैं।

'य एव वैदिकाः त एव लैकिकाः'' (महाभाष्य)

के अनुसार लोक में भी देखा जाता है कि माताएँ, गौयें आदि उत्पन्न पालन और घट आदि पदार्थों को नष्ट करने वाले साकार ही होते हैं । फिर प्रभु की साकारता में क्या संदेह ? उन्होंने स्वयं ही कहा है कि-

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' (गी. ४।९) ॥

'मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य है' ९।। यहाँ 'चकार' से तात्पर्य यह है कि भगवान् संकेत करते हैं कि मोक्षदाता भी मैं ही हूँ ।।२।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

अन्वय :- **अहम् आदित्यानाम् विष्णुः ज्योतिषाम् अंशुमान् रविः । अहम् मरुतां मरीचिः नक्षत्राणाम् शशी अस्मि ।**

अर्थ :- मैं आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ । मरुतों में मरीचि, (और) नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रधान विभूतियों को अर्जुन से बताते हुए कहते हैं कि **'अदितिर्देवमाता'** जो कही गयी है उस अदिति के द्वादश पुत्रों में जो सबसे श्रेष्ठ विष्णु नामक आदित्य हैं वह मैं हूँ ।

अदिति के द्वादश पुत्रों में इनकी श्रेष्ठता का कारण यह है कि उनमें त्याग है । बड़े होकर भी उन्होंने यज्ञ के व्याज से बिना संकोच बलि से भिक्षा माँगी और प्राप्त सभी वस्तुओं को जनता जनार्दन की सेवा में लगा दिया । त्याग से ही मनुष्य श्रेष्ठ कहा जाता है । वामन भगवान् अपने लिए नहीं, दूसरे के लिए माँगते हैं । इसलिए देखने में छोटे हैं, परन्तु महान् कार्य करने वाले वामन भगवान् की जयन्ती श्रीसम्प्रदाय में मनायी जाती है । ये शिक्षा देते हैं कि कल्याणकारी कार्यों में माँगने में लज्जा नहीं करनी चाहिए । भगवान् कहते हैं कि जगत् के प्रकाशकों में जो सहस्रों किरणों वाले सूर्य (आदित्यगण) हैं, वह मैं हूँ । इसलिए किरण वाले ही सूर्य उपासना के योग्य हैं । अन्य में दोष है । कुछ लोग गोस्वामी तुलसीदास जी के लिखे उद्धरण को बिना समझे ही कह देते हैं कि सूर्य, पावक, सुरसरि जैसे सामर्थ्यवान् को दोष नहीं लगता । जबकि लोक में भी देखा जाता है कि सूर्य-ग्रहण में सूर्य की तरफ देखने एवं सूर्य की छाया पड़ने पर दोष लगता है जिससे लोग स्नान, दान आदि करते हैं । अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है -

'नेक्षेताद्वित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन' ।

'कभी उगते तथा डूबते हुए सूर्य को नहीं देखना चाहिए' । पावक भी विवाह के समय का, यज्ञ के समय के हविष्य खाने वाला शुद्ध होता है और चिता की अग्नि अशुद्ध मानी जाती है । सुरसरि के भी जल में महुवे और गुड़ जैसी वस्तुओं के संयोग होने पर दोष उत्पन्न हो जाता है जैसाकि गोस्वामी तुलसीदास जी स्वयं लिखते हैं -

सुरसरि जल कृत वारुनि जाना । कबहुँन संत करहिं तेहि पाना । (रा. मा. १।६९।१)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य में दोष लगता है । यहाँ गोस्वामी तुलसीदास का तात्पर्य यह है कि क्या सामर्थ्यवान् को दोष नहीं लगता ? अर्थात् दोष लगता ही है । इसीलिए भगवान् किरणयुक्त सूर्य में उपासना करने को कहते हैं ।

आगे भगवान् कहते हैं कि मरुतों में मैं उत्कृष्ट मरीचि हूँ ।

इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया गया है कि कश्यपजी की पत्नी अदिति से देव प्रकृति वाले और दिति से असुर प्रकृति वाले बालक उत्पन्न हुये । एक बार अदिति के पुत्रों ने कलह में दिति के पुत्रों को मार दिया । इससे दुःखी होकर दिति ने अपने पति कश्यप जी को अपनी सेवा से प्रसन्न किया । उनकी सम्यक् अराधना से सन्तुष्ट हो तपस्वियों में श्रेष्ठ कश्यप जी ने उसे वर देकर सन्तुष्ट किया । उस समय उसने इन्द्र के वध करने में समर्थ एक अति तेजस्वी पुत्र का वर माँगा । उस अति उग्र वर को देते हुए मुनिश्रेष्ठ कश्यप जी उससे बोले-यदि तुम नित्य भगवान् के ध्यान में तत्पर रहकर अपने गर्भ को पवित्रता और संयम के साथ सौ वर्ष तक धारण कर सकोगी तो तुम्हारा पुत्र इन्द्र को मारने वाला होगा, नहीं तो इन्द्र का सहायक हो जायेगा । उस गर्भ को अपने वध का कारण जान देवराज इन्द्र वहाँ हर समय उपस्थित रहने लगे ताकि उसकी पवित्रता में कभी बाधा हो तो हम कुछ कर सकें । गर्भ पूर्ण होने के कुछ दिन पूर्व ही दिति के अन्दर कुतर्क उत्पन्न हो गया और उसे अपने नियम पर विशेष ध्यान नहीं रहा । तब इन्द्र मौका पाकर हाथ में वज्र लेकर उसकी कोख में प्रवेश कर गये और उन्होंने उस महागर्भ के सात टुकड़े कर डाला किन्तु जब वह गर्भ सात भागों में विभक्त होकर भी न मरा तो इन्द्र ने अत्यन्त कुपित हो एक-एक के सात-सात टुकड़े कर डाले । इस प्रकार एक से उनचास होकर भी वे जीवित रहे और उन्होंने रो कर कहा कि हम तो आपके सहायक होंगे । तब इन्द्र ने उनसे कहा कि 'मारुत' (मत रोओ) इस लिए वे मरुत् कहलाये (विष्णु पुराण, प्रथम अंश अध्याय २१) ।

आगे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अश्विनी आदि नक्षत्रों का पति चन्द्रमा मैं हूँ । यहाँ 'नक्षत्राणाम्' इस पद में जो षष्ठी विभक्ति है, वह निर्धारण में नहीं है-

अपितु 'भूतानामस्मि चेतना' (गी. १०।२२)

'भूतों की चेतना मैं हूँ ।।२२।। इस वाक्य की भाँति, इसका भाव है कि नक्षत्रों का स्वामी जो चन्द्रमा है, वह मैं हूँ । सत्ताइस नक्षत्रों में चन्द्रमा का नाम नहीं है । वे नक्षत्र ये हैं । १-अश्विनी, २-भरणी, ३-कृत्तिका, ४-रोहिणी, ५-मृगशिरा, ६-आर्द्रा, ७-पुनर्वसु, ८-पुष्य, ९-अश्लेषा, १०-मघा, ११-पूर्वा फाल्गुनी, १२-उत्तराफाल्गुनी, १३-हस्त, १४-चित्रा, १५-स्वाती, १६-विशाखा, १७-अनुराधा, १८-ज्येष्ठा, १९-मूल, २०-पूर्वाषाढ़, २१-उत्तराषाढ़, २२-श्रवण, २३-धनिष्ठा, २४-शतभिषा, २५-पूर्वाभाद्रपद, २६-उत्तराभाद्रपद और २७-रेवती । यहाँ भगवान् शशि कहकर पुराण की एक आख्यायिका की ओर संकेत कर रहे हैं - एक समय अमृत बाँटने के लिए सबोंके एकत्रित किया गया । राष्ट्रपति चन्द्रमा थे । वे अपने पद की अहंता के कारण अपने को बड़ा समझकर समय से नहीं पहुँचे । इधर भगवान् ने अमृत बँटवा दिया । जब चन्द्रमा पहुँचे तो अमृत बँटा हुआ देखा बड़ा घबड़ाये । एक स्थान पर कुछ जल था जिसमें बाँटते समय दो चार बूँद अमृत गिर गया था । उस जल को एक खरगोश (शशक) पी रहा था । उस जल में अमृत जानकर अमर होने के लोभ से चन्द्रमा उस जल को खरहे सहित उसी तरह पी गये जैसे मल्लाह के बालक भौंरे सहित जल को पी जाते हैं । वह खरगोश भी अमृत पीने के कारण चन्द्रमा के पेट में जीवित है तो दिखाई पड़ता है । इस तरह चन्द्रमा का नाम शशी पड़ गया । इससे शिक्षा मिलती है कि समयानुसार कार्य करना चाहिये और चन्द्रमा की तरह बिना विचारे जल एवं भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिये ।।२१।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

अन्वय :- **वेदानाम् समावेदः अस्मि, देवानाम् वासवः अस्मि, इन्द्रियाणाम् मनः अस्मि च भूतानाम् चेतना अस्मि ।**

अर्थ :- (मैं) वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और भूतों में चेतना (यानी प्राणी की जीवन -शक्ति) हूँ ।

व्याख्या :- वेद के चार भाग हैं - १-ऋक् वेद जिसमें २१ शाखाएँ हैं, २-यजुर्वेद जिसमें १०१ शाखाएँ हैं, ३-सामवेद, जिसमें एक हजार शाखाएँ हैं और ४-अथर्ववेद जिसमें ६ शाखाएँ हैं । इस प्रकार एक हजार एक सौ इकतीस शाखात्मक वेद हैं । ये भगवान् की श्वास से निकले हैं । द्राविड़ाम्नाय इन्हीं वेदों के समान ही श्री परांकुश मुनि से प्रकट हुआ जिसके चार भागों में एक हजार गाथाओंवाली 'सहस्रगीति' सामवेद की भाँति श्रेष्ठ है । ब्राह्मण ग्रन्थ के भी चार भेद हैं-१-ऐतरेय ब्राह्मण, २-शतपथ ब्राह्मण, ३-साम या ताड्य ब्राह्मण और ४-गोपथ ब्राह्मण ।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से अपनी प्रधान विभूतियों को बताते हुये कहते हैं कि इन चारों वेदों में मैं श्रेष्ठ सामवेद हूँ । **'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'** (पातंजल महाभाष्य (प्र.आ.) हजार शाखा वाले इस कल्पतरु में भगवत् विषयक गीत है जैसा कि बताया भी गया है **'गीतिषु सामाख्या'** । श्रीवेदव्यास जी भी इसलिए कहते हैं **'गयन्ति यं सामगाः'** । चारो वेदों में अत्यन्त मधुर संगीतमय तथा परमेश्वर की अत्यन्त रमणीय स्तुतियों से युक्त होने से सामवेद की प्रधानता है । इसलिए भगवान् ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है ।

भगवान् आगे कहते हैं कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवताओं में उनका शासक और राजा इन्द्र मैं हूँ । देवताओं के सम्बन्ध में कुतार्किकों द्वारा किये गये प्रश्न के प्रसंग में एक घटना उल्लेखनीय है । राजस्थान में जयपुर महाराज के किले के सामने कार्तिक महीने में मैंने कुछ समय व्यतीत किया । एक दिन देवताओं का प्रसङ्ग चल ही रहा था कि एक सज्जन ने उठकर पूछा कि देवता कितने होते हैं ? क्या आप उन्हें दिखा सकते हैं ? मैंने कहा कि मैं तो उनकी पूरी गणना लिख चुका हूँ कि देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़, तैंतीस लाख, तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस है । जहाँ तक दिखाने का प्रश्न है मैं अवश्य दिखाऊँगा आप कल आइये कागज, कलम भी लेते आइयेगा ताकि लिख भी सकें । दूसरे दिन इसी बात की चर्चा सर्वत्र हो गई और बहुत बड़ी संख्या में लोग उपस्थित हुए । शहरी क्षेत्र होने से वहाँ रात्रि के ८ बजे प्रवचन होता था । बहुत से लोग कागज, कलम लेकर बैठे कि दिखने पर मैं लिखूँगा । प्रवचन आरम्भ करते हुए मैंने पहले देवताओं का लक्षण बता दिया कि देवताओं की पलक नहीं गिरती उनकी छाया नहीं पड़ती है, उनका मूल स्थान ऊपर ही है, बुलाये जाने पर वे चले आते हैं, जैसे विदेश के यात्री भारत में आते हैं पर उनका मूल स्थान विदेश ही है । सूर्य चन्द्रादि देवताओं की भाँति सभी देवता उपर ही रहते हैं । उस दिन संयोग से आकाश भी स्वच्छ था जिसमें तारागण चमक रहे थे । मैंने अकाश की ओर संकेत करते हुए कहा कि अब आप उपर के समस्त ताराओं को जो सभी देवता हैं देख लें और गिनकर लिख डालें जो कम हो तो कहियेगा । एकत्र जन-समूह हर्षित हुआ और कुतर्कियों का सर लज्जा से झुक गया । इसलिए हमें शास्त्र की बातों में कुतर्क न कर उसे आचार्य के पास जाकर समझना चाहिए

क्योंकि शास्त्र की बात समझने के लिए ऋतम्भरा बुद्धि होनी चाहिए । यहाँ भगवान् अपने को देवताओं का मालिक इन्द्र बताते हुए संकेत करते हैं कि गृह में, ग्राम में, और इसी प्रकार राष्ट्र में किसी सुयोग्य को मालिक बनाना चाहिये जिसमें अव्यवस्था न उत्पन्न हो ।

ग्यारह इन्द्रियाँ हैं । भगवान् कहते हैं कि अन्य दस इन्द्रियों का स्वामी, प्रेरक, उन सबसे सूक्ष्म और श्रेष्ठ जो मन है वह मैं हूँ । यह मन संकल्पात्मक है । इसके बिना इन्द्रियरूपी घोड़े ठीक से कार्य नहीं करते । लोक में भी देखा जाता है कि जिस कार्य में मन को ठीक से लगाया जाता है वही कार्य सुचारु रूप से होता है । अत्यन्त चञ्चल मन को वश में करने का भगवान् उपाय बताते हुए कहते हैं -

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' (गी. ६।३५)

अभ्यास और वैराग्य से यह चञ्चल मन वश में किया जाता है ।।३५।। आगे भगवान् कहते हैं कि चेतनायुक्त भूतों की जो चेतना है, वह मैं हूँ । इसलिए किसी के साथ ऐसा व्यवहार न करना चाहिए जिससे उसकी चेतनता समाप्त हो जाय । इस प्रकार भगवान् उपदेश देते हैं कि वेद-शास्त्रों में विश्वास रखना चाहिए, देवताओं के विषय में कुतर्क नहीं करना चाहिए, मन का निग्रह करना चाहिये तथा किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए ।।२२।।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ।।२३।।

अन्वय :- **अहम् रुद्राणाम् शंकरः च यक्षरक्षसाम् वित्तेशः अस्मि । वसूनाम् पावकः च शिखरिणाम् मेरुः अस्मि ।**

अर्थ :- मैं रुद्रों में शंकर और यक्ष राक्षसों में कुबेर हूँ, वसुओं में पावक और शिखर वाले पर्वतों में सुमेरु हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि एकादश रुद्रों में मैं शङ्कर हूँ । एकादश रुद्रों के नाम ये हैं :-

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः ।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ।।
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशांपते ।
एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ।। (हरिवंश १।३।५१, ५२)

'रोदिति इति रुद्रः' अर्थात् भक्त के लिए जो रो दे उसे रुद्र कहते हैं । एकादश रुद्रों में भगवान् शङ्कर उत्कृष्ट हैं । ये शं अर्थात् कल्याण को करने वाले हैं । **'शं कल्याणं करोति इति शंकरः'** इनके लिए गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं कि केवल नकल रूप में भगवान् की पत्नी बन जाने पर उन्होंने सती का त्याग कर दिया ।

सिव सम को रघुपति व्रतधारी । बिनु अघ तजी सती असि नारी ।।
पनु करि रघुपति भगति देखाई । को सिव सम रामहि प्रिय भाई ।।

(रा. मा. १।१०३।७,८)

अपने मस्तक पर गंगा को धारण कर ये संकेत करते हैं कि अपने से छोटी जाति की भी स्त्री अगर आ जाय तो वह वन्दनीय होती है । भगवान् शंकर अपने तीसरे नेत्र में कामदेव जैसे को भस्म करने वाली शक्ति रखते हुए भी वृकासुर (भस्मासुर) से भागकर यह शिक्षा देते हैं कि शक्तिशाली होने पर भी नासमझ नंगों से लड़ना नहीं चाहिए, क्योंकि इससे अपनी ही बदनामी होती है । इसलिए कल्याण प्रदाता और कल्याणस्वरूप शंकर को भगवान् ने अपना स्वरूप कहा है ।

आगे भवगान् कहते हैं कि यक्ष और राक्षसों में मैं धनपति कुबेर हूँ । ये पुलस्त्य ऋषि के पौत्र हैं और विश्रवा के औरस पुत्र हैं । 'प्रासादवासी न्याय' से-जैसे चाहे नीचे रहे या कोठे पर प्रासाद में रहने वाला व्यक्ति दोनों का माना जाता है उसी प्रकार विश्रवा का पुत्र होने से यक्ष और विमाता कैकसी से उत्पन्न होने से रावण, कुंभकर्णादि का भ्राता राक्षस, इन दोनों में ये (कुबेर) गिने गये हैं । रावण ने वर प्राप्त कर लंकापुरी पर आक्रमण किया तो शान्त स्वभाव वाले कुबेर ग्राम, धन, पुष्पक विमान छोड़ कर चल दिये । इनके स्वभाव से प्रसन्न होकर शंकर जी ने इन्हें विश्वकर्मा द्वारा रचित अलकापुरी दी । यहाँ ये आज भी जीवित हैं और रावण का धन, जन सहित संहार हुआ तथा पुष्पक विमान पुनः कुबेर के पास चला आया । ये इतने निष्पक्ष थे कि देवताओं ने इन्हें निर्विरोध धनाध्यक्ष चुना । श्रुति भी कहती है **'उपैतु मां देवसखः'** (श्रीसूक्त ७) आठ वसुओं में भगवान् कहते हैं कि मैं अग्नि हूँ । ये आठ वसु निम्नलिखित हैं -

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्चप्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ (महा. आदि. ६६।१८)

'पुञ् पवने' धातु से सिद्ध पावक शब्द का तात्पर्य पवित्र से है । ये वसुओं के राजा और देवताओं को हवि पहुँचाने वाले हैं । इससे यह शिक्षा मिलती है कि पवित्र होने पर भी जैसे हविष्य खाने वाली अग्नि शुद्ध होती है और मांस खाने वाली चिता की अग्नि अशुद्ध हो जाती है उसी प्रकार भोजन विचार कर नहीं करोगे तो पवित्र होकर भी त्याज्य हो जावोगे ।

भगवान् अपनी प्रधान विभूतियों को बताते हुए आगे कहते हैं कि शिखरों से सुशोभित पर्वतों में मैं सुमेरु हूँ । यह सुवर्णमय पर्वत नक्षत्र और द्वीपों का केन्द्र तथा रत्नों का भण्डार है । इसकी परिक्रमा सूर्य करते हैं । इससे यह शिक्षा मिलती है कि जैसे भगवान् के नेत्र से उत्पन्न तेजस्वी सूर्य सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते हैं वैसे ही हमारे आचार विचार इतने सुन्दर बने कि बड़े-बड़े महानुभाव हमारे यहाँ भ्रमण करते हुए आया करें ॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

अन्वय :- **पार्थ ! पुरोधसाम् मुख्यम् बृहस्पतिम् माम् विद्धि । सेनानीनाम् स्कन्दः च सरसाम् सागरः अहम् अस्मि ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! पुरोहितों में प्रमुख बृहस्पति (तू) मुझको जानो । सेनापतियों में स्कन्द (कार्तिकेय) और जलाशयों में सागर (समुद्र) मैं हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन के लिए पार्थ सम्बोधन देकर यह द्योतन करते हैं कि माता का स्थान पिता से बड़ा होता है । वेद में माता की प्रधानता है । कहा भी गया है-

पितुरप्यधिका माता गर्भधारणपोषणात् ।
अतो हि त्रिषु लोकेषु नास्ति मातृसमो गुरुः ॥

'गर्भ में धारण करने और पालन-पोषण करने से माता पिता से भी श्रेष्ठ समझी जाती है । इसलिए तीनों लोकों में माता के समान कोई दूसरा महान् नहीं है ।' माता कौशल्या भी भगवान् राम से इसी बात का संकेत करती हैं-

जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता । (रा.मा. २।५५।१)

कुछ कुतर्क करने वाले महानुभाव कुन्ती पर यह कह कर व्यभिचारिणी होने का दोषारोपण करते हैं कि उसने कुँवारी अवस्था में ही सूर्य के सहवास से कर्ण को उत्पन्न किया और व्याह होने पर भी पति के समागम के बिना ही अपने अन्य पुत्रों को उत्पन्न किया । यद्यपि उनकी ये शंकाएँ निराधार हैं फिर भी 'दुर्जनतोषन्याय' से ऐसी शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करता हूँ । सूर्य-पुत्र कर्ण था, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक जो सूर्य का चलना ही नहीं मानते उनके अनुसार तो सूर्य चलकर आयेगा ही नहीं । दूसरे जो उनका चलना मानते हैं वे यह भी जानते हैं कि सूर्य लम्बायमान तथा अत्यन्त तेजवान है जिससे यह मैथुन करना असंभव है । तीसरे- सूर्य ऊपर ही चलते हैं जैसा कि कहा भी गया है 'तीस चरण महि चलत ना' । चौथे-कुन्ती कर्ण की उत्पत्ति के समय रजस्वला भी नहीं हुई थी जिसके बिना संतानोत्पत्ति नहीं हो सकती । घटना ऐसी है कि एक बार कुन्ती की जन्मभूमि पर दुर्वासा जी चातुर्मास्य व्रत कर रहे थे । छोटी अवस्था की कुन्ती अपने पिता के साथ इनके दर्शन करने गई । उसके पिता ने अपनी पुत्री के भविष्य के सम्बन्ध में दुर्वासा जी से पूछा । उसपर उन्होंने बताया कि सभी सुन्दर लक्षण से युक्त आपकी पुत्री है, परन्तु एक बात यह है कि पति से समागम होने पर पति की मृत्यु हो जायगी । यह सुनकर कुन्ती के पिता ने कोई उपाय बताने के लिए बहुत अनुनय-विनय किया । तब अन्त में दुर्वासा जी ने एक माला कुन्ती के लिए देकर बताया कि जिस देवता का ध्यान करके पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से माला जपेगी वैसा ही गर्भ रह जायगा । घर वापस आने पर कुन्ती द्वारा इस माला के प्रभाव का वर्णन करने पर उसकी सखियाँ अविश्वास करती हुई हास्य करना चाहीं । कुन्ती को भी कुछ अविश्वास उत्पन्न हुआ और परीक्षा करने की दृष्टि से एकान्त में जाकर सूर्य का ध्यान कर पुत्र की इच्छा से माला जपी, जिसके फलस्वरूप तुरन्त ही गर्भवती हो गई । इस अपराध से भयभीत हो कुन्ती रोने लगी और अपने गुरु दुर्वासा से उसने प्रार्थना की कि हे प्रभो ! मेरे अपराध को क्षमा कर मेरी इज्जत की रक्षा करें और दुर्वासोक्त उपाय से उसने उस गर्भस्थ पुत्र को कान के मार्ग से निकाल कर नदी के जल में फेंक दिया । उस बालक कर्ण का पालन-पोषण सूत की स्त्री राधा ने किया । पति के बिना समागम के जो अन्य पुत्र उत्पन्न हुए उनमें भी यही बात थी । युधिष्ठिर धर्म-पुत्र कहे जाते हैं । यह सब लोग जानते हैं कि धर्म कोई पुरुष नहीं है जो कुन्ती से समागम करेगा । यह तो कणाद ऋषि के अनुसार **'यतोभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः सःधर्मः'** दूसरे पवन पुत्र भीम के सम्बन्ध में भी यही बात है । पवन तो उसे कहते हैं 'जो रूप रहित सबको स्पर्श करे' इसलिए इसके

द्वारा समागम सम्भव नहीं है । ऐसा होता तो पवन तो सब स्त्रियों को स्पर्श करता है । जिसकी ताकत का अनुसन्धान करके उसने माला जपी वैसा ही पुत्र उत्पन्न हुआ । अत: उसके विषय में व्यभिचार की सम्भावना जरा भी नहीं है ।

आगे भगवान् कहते हैं कि पुरोहितों में मैं तैंतीस कोटि देवताओं का श्रेष्ठ पुरोहित बृहस्पति हूँ । मांगलिक कार्य बृहस्पति तारा को देखकर होता है । तैत्तरीयोपनिषद् में आया है **'ते ये शतम्'** इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्र के सौ आनन्द, बृहस्पति के एक आनन्द के बराबर हैं । कुछ लोग गोस्वामीतुलसीदास जी के वाक्य - 'उपरोहित कर्म अति मन्दा' को लेकर अज्ञानता को परिचय देते हुये कहते हैं कि पुरोहिती कर्म निंदित है । यदि यह बुरा कर्म होता, तो भगवान् पुरोहित क्यों बनते ? गर्गाचार्य छप्पन कोटि यादवों के पुरोहित थे जिनकी गणना ब्राह्मणों के तीन-तेरह के भेद में पहले नम्बर पर है । गीता में भगवान् कहते हैं -

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः (१८।४५)

तथा आगे भी कहते हैं - **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (१८।४६) अर्थात् अपने-अपने कर्म द्वारा मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त करता है । इसलिए षट्कर्मा ब्राह्मणों को भी यह कर्म त्यागना नहीं चाहिए । गोस्वामी तुलसीदास जी ने **'नानापुराणनिगमागमसम्मतं'** लिखकर पहले से ही स्पष्ट कर दिया है कि वेद के अनुकूल ही अर्थ इसका करना चाहिए । यहाँ उनका तात्पर्य नीचानुसंधान से है न कि कर्म की नीचता से । गोस्वामी जी अपने लिए भी कहते हैं -

जे जनमे कलिकाल कराला । करतब वायस वेष मराला ।
चलत कुपंथ वेद मग छाँड़े । कपट कलेवर कलिमल भाँड़े ॥
तिन्ह मँह प्रथम रेख जग मोरी । धींग धरमध्वज धंधक धोरी ॥

(रा. मा. १।११।१, २, ४)

इसका तात्पर्य यह नहीं कि इनके समान कुपंथी पापी कोई नहीं था बल्कि अपने में नीचानुसंधान करना ही है । श्रीवेदव्यास जी भी अपने को इसी भाव से कहते हैं-**'पापोऽहं पापकर्माहं'** श्रीयामुनाचार्य जी कहते हैं -**'न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके'** (स्तोत्ररत्न) अर्थात् ऐसा कोई भी निन्दित कर्म नहीं है जिसको मैंने न किया हो । इस प्रकार वसिष्ठ जी के कथन का तात्पर्य भगवान् के सम्मुख नीचानुसंधान अपने में करना है । कुछ लोग कहते हैं कि पौरोहित्य कर्म से लोग अल्पायु होते हैं किन्तु वसिष्ठ जी, रघु, अज, दशरथ और भगवान् राम के बाद तक जीते रहे । इसलिए भगवान् अपने को बृहस्पति कहते हैं । बृहस्पति बड़े त्यागी थे । इन्द्र के पुरोहित होने पर भी जैसे वसिष्ठ जी ने त्रिशंकु की पुरोहिती त्याग दी वैसे ही इन्होंने देवताओं के घमंड होने पर उनकी पुरोहिती त्याग दी । इसलिए मनुष्य को भगवान् ने जैसे बनाया है वैसे ही पुरोहित एवं गुरु बनाना चाहिये । आगे भगवान् कहते हैं कि सेनापतियों में जन्म के सातवें दिन पर ही तारकासुर को मारनेवाला कार्तिकेय हूँ । जलाशयों में मैं सागर हूँ । यह सागर राजा सगर के द्वारा वर्द्धित है । इसमें विशेषता यह है कि गंगा स्नान करने का जो फल होता है वही फल सागर को देखने से प्राप्त होता है । यह बरसात के समय अनेक नदियों के जल आने पर भी नहीं बढ़ता और ग्रीष्मकाल में घटता भी नहीं है । इससे यह संकेत करता है कि धन बल, विद्या पाकर न तो अभिमान करो और गरीब बनने पर न तो आह भरो । जैसे अनेक नदियों के जल आने

पर भी इसके आकार में कोई परिवर्तन नहीं होता वैसे ही विदेशी वातावरण में भी अपना स्वरूप बदलना नहीं चाहिए। राजा सगर के पुत्र यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए अपना प्राण त्याग दिये किन्तु उसीसे उनके नामसे सागर हो गया। वैसे ही यज्ञ की रक्षा में प्राण भी चला जाय तो उससे कीर्ति ही होती है। सागर में यह भी विशेषता है कि यह नयी वस्तु को अपने अन्दर नहीं लेता बाहर फेंक देता है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि अपने धर्म के गुणों को अपने अन्दर रखो और बाहरी वस्तु, अन्य विदेशी ढंग को मत अपनाओ। सगर पुत्रों की यज्ञ में मृत्यु का कारण यह था कि सगर के पुत्रों ने मिट्टी खायी जो माता द्वारा बालकों को वर्जित है। उन्होंने माता की आज्ञा का उल्लंघन किया तथा राजा के लड़के होते हुए भी अपने धर्म (राजनीति) से विचलित होकर बिना समझे कपिल मुनि को वे मारने लगे। इसलिए उनका अध:पतन हो गया। भगवान् अर्जुन को उपदेश देते हैं कि माता की आज्ञा का पालन करो। धन आने पर अभिमान मत करो तथा नियमानुसार कर्म करो। अनादि काल से चले आ रहे श्रौत मार्ग का पथिक बनो ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

अन्वय :- **अहम् महर्षीणाम् भृगुः, गिराम् एकम् अक्षरम् अस्मि। यज्ञानाम् जपयज्ञः स्थावराणाम् हिमालयः अस्मि।**

अर्थ :- महर्षियों में भृगु, शब्द में एक अक्षर (प्रणव) हूँ। यज्ञों में जपयज्ञ और स्थावरों में हिमालय हूँ।

व्याख्या :- बुद्धि के पार पहुँचे हुए (भगवत्प्राप्त) विज्ञजन गुणों के द्वारा उस महान (परमेश्वर) का सब तरह से अवलम्बन करते हैं। वे इसी कारण से (**'महान्तम् ऋषन्ति इति महर्षयः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार) महर्षि कहलाते हैं। प्रधान दस महर्षि निम्नाङ्कित हैं-

भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ॥ (वायुपुराण ५९।८९।९०)

भगवान् कहते हैं कि मरीचि आदि महर्षियों में मैं भृगु हूँ। महर्षियों में भृगु जी मुख्य हैं इनमें अन्य से विशेषता है। ब्रह्मा, विष्णुभगवान् और शंकर में कौन बड़ा है ? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए श्री भृगु जी निर्विरोध परीक्षक चुने गये। ब्रह्मा के मानस पुत्र होते हुए भी उन्होंने सत्य-सत्य निष्पक्ष निर्णय किया। सबसे पहले ये ब्रह्मा जी के पास गये और दूर से ही प्रणामकर सभा में गए जहाँ ब्रह्मा जी को अपनी स्त्री के साथ बैठा देखकर उन्होंने कहा कि आप सपत्नी सभा में बैठकर ऐसा अन्य को भी करने के लिए उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यह सुन लज्जित हो ब्रह्मा जी ने इन्हें मारने के लिए ब्रह्मास्त्र उठाया तब भृगु जी की माता के समझाने पर शान्त हुए। यहाँ से भृगु जी परीक्षा हेतु शंकर जी के पास गये। दयालु शंकर जी इनका स्वागत करने आगे बढ़े परन्तु भृगु जी इनके गले में मुंड की माला पहने देख कहीं छू न दे इस भय से पीछे मुड़ भागने लगे। शंकरजी ने अपने इस अपमान से क्रोधित हो मारने के लिए त्रिशूल उठाया। जब पार्वतीजी ने समझाया कि अपने द्वार पर आये को मारना अनुचित होगा तब शंकर जी शान्त हुये। अन्त में श्रीविष्णु भगवान् की परीक्षा हेतु अंधकार होते-होते ये भगवान् विष्णु के पास पहुँचे। भगवान् विष्णु अन्दर शयन

कर रहे थे । अपना स्वागत न करते हुए देखकर महर्षि भृगु ने विष्णु भगवान् के वक्ष:स्थल पर लात मारा । भगवान् ने उनके चरण को पकड़कर कहा कि मेरी कड़ी छाती के कारण कहीं श्रीमान् के पैर में चोट तो नहीं आयी ? मुझसे बड़ा अपराध हुआ । महर्षि भृगु भगवान् की इस शान्ति को देखकर अपनी सभा में लौट आये और उन्होंने कहा कि क्षमासागर भगवान् विष्णु ही बड़े हैं । इस प्रकार पक्षपात रहित होकर ये शिक्षा देते हैं कि किसी पद के पाने पर पक्षपात नहीं करना चाहिये ।

अर्थबोधक शब्दों का नाम गिरा है । भगवान् कहते हैं कि शब्दों में एक अक्षर- मैं ओंकार हूँ । यह एकाक्षर ओंङ्कार (प्रणव) होता है । श्रुति कहती है 'ओमित्येकाक्षरम् (नारायणोपनिषद्) गीता के आठवें अध्याय में भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है-**'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'** (८।१३) 'ॐ' यह एक अक्षर रूप ब्रह्म का है' ।।१३।। अन्य नाम से गति-अगति दोनों हो सकती है, परन्तु इस एक अक्षरवाले प्रणव के जप करते हुये जो श्यामसुन्दर मंगलमय भगवान् का ध्यान करते हैं वे आवागमन के चक्र से निवृत्त हो भगवान् को प्राप्त करते हैं । आगे भी भगवान् ने गीता में इसकी चर्चा की है **'ओंतत्सदिति'** (१७।२३) । कहकर बताते हैं कि -

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप: क्रिया: ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ता: सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। (१७।२४)

'इसलिए वेदवादियों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ सदा 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके हुआ करती हैं' ।।२४।। भगवान् कहते हैं कि जितने भी अर्थबोधक शब्द हैं उनमें मैं प्रणव हूँ । यह ॐ स्वस्वरूप और परस्वरूप का बोधक है । मांडूक्योपनिषद् में कहा गया है - 'भूतं भवत् भविष्यदिति सर्वं ओंकार एव ।। माण्डू मं. १।। इसमें तीन अक्षर अ उ म् हैं (आद्गुण पा. व्या. ६।१।८७।।) सूत्र से गुण होकर ओम् यह बना है । 'अ' का तात्पर्य यह है कि जिस तरह वर्णों के अन्दर व्यापक 'अ' है और इसके बिना अन्य वर्णों की सत्ता नहीं उसी तरह परब्रह्म परमात्मा व्यापक हैं । इनके बिना किसी की सत्ता नहीं रह सकती है । लिखा भी है -

'अकारार्थो विष्णुर्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्' (अष्टश्लोकी १)

अकारोवासुदेव: स्यात् । म् का तात्पर्य जीवात्मा से है । जैसे कवर्ग से पवर्ग का पीचसवाँ अक्षर म है वैसे ही तत्त्वों में पचीसवाँ तत्त्व जीवात्मा है । लिखा भी है-

'मकारार्थो जीवस्तदुपकरणं वैष्णवमिदम्' (अ. श्लो. १)

दोनों के बीच का अक्षर उ निर्धारणार्थक है । यह बताता है कि यह जीवात्मा परमात्मा की ही है । इसलिए उस परमात्मा का ध्यान करो ।

'उकारोऽनन्यार्हंनियमयति सम्बन्धमनयो:' (अ. श्लो. १)

जिस तरह भगवान् एक हैं 'जीव अनेक एक श्रीकन्ता' (रामचरित मानस) उसी तरह भगवान् का नाम एक अक्षर का ॐ है । यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण 'ओम्' न कहकर 'एक' कहते हैं । इससे संकेत करते हैं कि ऐहिक,

परमार्थिक आनन्द को यदि चाहते हों तो एक बनकर रहो । अलग-अलग रोटी-बेटी होते हुए एक बनकर रहना तभी एक ब्रह्म की उपासना होगी । तास के खेल के माध्यम से भी यही संकेत प्राप्त होता है कि एकतारूपी एक्का द्वारा बीबी बादशाह सहित सब पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । एकता न रहने पर ही रावण का नाश हुआ । इसलिए भगवान् एकाक्षरम् कहते हैं । इस ओम् यानी ॐ के बिना वेद के मंत्र बेकार हैं ।

त्रयीसारस्त्र्यात्मा प्रणवः (अ. श्लो. १)

भगवान् अर्जुन से आगे कहते हैं कि यज्ञों के अन्दर जप यज्ञ हूँ । जैसे ग्यारह इन्द्रियाँ हैं वैसे ही ग्यारह यज्ञ हैं । भगवान् ने गीता के चौथे अध्याय में -

'दैवमेवापरे यज्ञे.....से संशितव्रताः (२५ से २८ श्लोक)

पर्यन्त यज्ञों का वर्णन किया है । इसके अन्दर कुआँ, बगीचा, व्रत, प्राणायाम आदि सभी प्रकार के यज्ञ गतार्थ हो जाते हैं । परम कारुणिक, अनाथों के नाथ, अशरण को शरण देनेवाले प्रभु अन्य यज्ञों की कठिनाईयों को समझकर सभी प्राणियों के लिए सुलभ जप यज्ञ करने के लिए बता रहे हैं । गुरुजनों से मंत्र लेकर जप यज्ञ करने से भाल पर लिखा कुअंक भी मिट जाता है जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी भी लिखते हैं -

'मंत्र महामनि विषय ब्याल के । मेटत कठिन कुअंक भाल के ।।'
(रा. मा. १।३१।९)

यह जप तीन प्रकार का होता है - (१) उत्तम-वह है जिसमें जो हृदय में ही अनुसंधानपूर्वक जपा जाता है तथा माला के खटकने की आवाज नहीं होती । (२) मध्यम-वह है जिसमें शब्द बाहर मालूम पड़ने लगता है। (३) अधमजप वह है जिसमें जोर से आवाज होती है । जप यज्ञ में सबों का अधिकार है, दूसरे यज्ञों में बंधन है । मन्त्र, मन्त्र देने वाले आचार्य और मंत्रगत वस्तु को जान करके जप करने से जल्दी सफलता मिलती है । इसे **'समंकायशिरोग्रीवम्' (६।१३ गी०)** आदि कथनानुसार करना चाहिए । **'स्थावराणां हिमालयः'** कहकर भगवान् बताते हैं कि स्थावर पर्वतों में मैं हिमालय हूँ । भगवान् सोना, कोयला आदि के पहाड़ नहीं, बर्फ के पहाड़ बनने को कह रहे हैं । यह अपने शरीर में देवताओं - बद्रीनारायण आदि को रखता है । महाकवि कालिदास ने लिखा है **'देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधि राजः'** (कु. सं.१।१)

यह जिस प्रकार अपने शरीर को ठंढा रखता है वैसे ही धन पाने पर अपने शरीर को कोयले, लोहे आदि पहाड़ों की तरह गर्म न रखकर ठंढा रखना चाहिए । हिमालय जैसे देवताओं की और गंगा जैसी महान् पवित्र नदी से जनता की सेवा करके भगवान् का प्रिय बन गया वैसे ही जो देवता-तुल्य माता-पिता की सेवा करते हुए जनता-जनार्दन की सेवा करते हैं-वे भगवान् के प्रिय बन जाते हैं । जिस प्रकार हिमालय भगवान् शंकर, पार्वती और गंगा को धारण करके भी अभिमान नहीं करता तभी वह नगाधिराज कहा जाता है । **(हिमालयोनाम नगाधिराजः)** (कु. सं. १।१) वैसे ही ध न, बल पाकर अभिमान न करने वाले शीघ्र ही श्रेष्ठ बन जाते हैं । भारत के उत्तर की दिशा में हिमालय तीन तरफ से समुद्र से घिरा हुआ भारतवर्ष के मानदण्ड तुल्य कहा जाता है ।

'पूर्वापरौतोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।' (कुमा. १।१)

यह प्रमाण की लाठी बनकर संकेत कर रहा है कि जो वाक्य कहो वह प्रमाणयुक्त और वजनी हो ।।२५।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।।२६।।

अन्वय :- **सर्ववृक्षाणाम् अश्वत्थः च देवर्षीणाम् नारदः, गन्धर्वाणाम् चित्ररथः, सिद्धानाम् कपिलः मुनिः ।**

अर्थ :- मैं सब वृक्षों में पीपल और देवर्षियों में नारद हूँ । गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ ।

व्याख्या :- श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि सब वृक्षों में पूज्य पीपल हूँ । अन्य वृक्षों में स्वार्थ परमार्थ दोनों भाव रहता है । चन्दन में भुजंगाश्रय रहता है तथा महँगा बिकने से लोक स्वार्थ-बुद्धि से लगाते हैं । पुराणों में अश्वत्थ का बड़ा माहात्म्य मिलता है । स्कन्दपुराण में कहा गया है-

स एव विष्णुद्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः ।
यस्याश्रयः पापसहस्त्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुधोगुणाढ्यः ।।

यह (पीपल का वृक्ष) मूर्तिमान् श्रीविष्णु का स्वरूप है, महात्मा पुरुष इस वृक्ष के पुण्यमय मूल की सेवा करते हैं । इसका गुणों से युक्त और कामनादायक आश्रय, मनुष्यों को हजारों पापों का नाश करनेवाला है । वैद्यक ग्रन्थों में भी बताया गया है कि इसके पत्ते, फल, छाल सभी रोग-नाशक हैं । रक्त विकार, कफ, वात, पित्त, खाँसी, विषम ज्वर, कृमि, कुष्ट आदि अनेक रोगों में उनका उपयोग होता है । यद्यपि देवलोक में पारिजात का वृक्ष है लेकिन उसके लिए भगवान् और इन्द्र में विवाद हुआ । इसलिए वह अति स्वार्थान्ध वृक्ष है । अतः परमार्थ प्रिय भगवान् कहते हैं कि मैं पीपल हूँ । पीपल का वृक्ष परमार्थ बुद्धि से लोग लगाते हैं । यह सभी को तृप्त करने वाला वृक्ष है । तैंतीस कोटि देवता इससे सन्तुष्ट हो जाते हैं । कहा भी गया है-

मूले ब्रह्मा त्वचि विष्णुः शाखायाञ्चैव शंकरः ।
पत्रे-पत्रे हि देवानां वासुदेव नमोऽस्तुते ।।

शनिवार के दिन समस्त देवताओं की तृप्ति इसमें जल देने एवं पूजा करने से हो जाती है । अन्य दिनों में भूत पितरों की, प्रेतों की तृप्ति होती है । विवाह के अवसर पर कलश में पीपल की पत्ती रखी जाती है । बताया गया है- **''अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे'** । वेद. । यज्ञ के पूर्वद्वार के तोरण द्वार एवं शंख इसी वृक्ष की बनते हैं । ग्रह का हवन इसीकी लकड़ी से होता है । मनुष्य और पशु-पक्षी को अपनी छाया से तृप्त करता है । पक्षी इसी वृक्ष पर अधिक रहते हैं और उसके फल को भी खाते हैं । इसलिए भगवान् सभी वृक्षों में अपने को पीपल वृक्ष के रूप में चिंतन करने के लिए कहते हैं ।

आगे भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि देवर्षियों में मैं परम वैष्णव नारद हूँ । नारद की गणना महर्षि और देवर्षि दोनों में है । 'नारद पांचरात्र' (१०८ संहितात्मक आगम) में भगवान् ने नारद को ही उपदेश दिया है । इन्होंने मानवों

के लिए सत्यनारायण की कथा का उपदेश दिया । नारद शाप को भी अच्छा समझ कर स्वीकार करते हैं क्रोध नहीं करते । जैसा कि वर्णन है दक्ष प्रजापति के क्रमशः उत्पन्न प्रथम दोनों बालक जब नारद के उपदेश से साधु हो गये तो उन्होंने नारद को शाप दे दिया कि एक दिन भी तुम कहीं स्थित नहीं ठहरोगे । यह शाप सुनकर नारद और प्रसन्न हुए, सोंचे कि मैं एक स्थान पर न रहूँगा न मुझे आसक्ति होगी । सत्यनारायण-व्रत कथा में आया है-**पर्यटन् विविधान् लोकान्'** । इससे यह संकेत देते हैं कि श्रीवैष्णव भक्त सदैव घूमते रहते हैं और कल्याण का मार्ग ग्रहण करते हैं । 'हरे राम हरे कृष्ण' का संकीर्तन का प्रारंभ इन्हीं से हुआ । अनेकों **देवर्षियों** में कुछ प्रधान के नाम ये हैं-

देवर्षयः सुतास्तेषां नामतस्तान्निबोधत
देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ ॥८३॥
बालाखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु ।
कुबेरश्चैव पौलस्त्यः, प्रत्यूषश्चाचलःस्मृतः ॥८४॥
पर्वतो नारदश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ ।
ऋृषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद्देवर्षयः स्मृताः ॥८५॥
(वायुपुराण ६१।८३, ८४, ८५)

इन देवर्षियों में श्रेष्ठ नारद जी भगवान् के परम अनन्य भक्त, महान् ज्ञानी और निपुण मन्त्रद्रष्टा हैं । महाभारत सभापर्व के पाँचवें अध्याय में इन्हें वेद और उपनिषदों का मर्मज्ञ, देवगणों से पूजित, इतिहास-पुराणों का विशेषज्ञ, अतीत कल्पों की बातों को जाननेवाला, नीतिज्ञ, मेधावी, स्मरणशील, ज्ञानी, कवि, संगीत-विशारद और भगवान् का भक्त, विद्या और गुणों का भण्डार सदाचार का आधार, सबका हितकारी आदि गुणसम्पन्न बतलाया गया है । उपनिषद्, पुराण और इतिहास इनकी पवित्र गाथाओं से भरे हैं । ब्रह्मा के अन्दर दासता भाव उत्पन्न होने के समय उनके मन से ये उत्पन्न हुये थे न कि किसी दासी के पुत्र थे, क्योंकि इनके पूर्व ब्रह्मा ने दासी आदि की सृष्टि ही नहीं की थी ।

वेद-गायकों में भगवान् कहते हैं कि मैं चित्ररथ हूँ । गन्धर्व एक देवयोनि विशेष है, ये देवलोक में गान, वाद्य और नाट्याभिनय किया करते हैं । स्वर्ग में ये सबसे सुन्दर और रूपवान माने जाते हैं । महर्षि कश्यप की दो पत्नियों के नाम थे-मुनि और प्राधा । १. भीमसेन, २. उग्रसेन, ३. सुपर्ण, ४. वरुण, ५. गोपति, ६. धृतराष्ट्र, ७. सूर्यवर्चा, ८. सत्यवाक्, ९. अर्कपर्ण, १०. प्रयत, ११. भीम, १२. चित्ररथ, १३. शालिशिरा, १४. पर्जन्य, १५. कलि और १६. नारद- ये मुनि से उत्पन्न होने के कारण **'मौनेय'** कहलाये और १. सिद्ध, २. पूर्ण, ३. बर्हि, ४. पूर्णायु, ५. ब्रह्मचारी, ६. रतिगुण, ७. विश्वावसु, ८. सुचन्द्र, ९. भानु, १०. अतिबाहु, ११. हाहा, १२. हूहू और १३. तुम्बुरु- ये प्राधा से उत्पन्न होने के कारण **'प्राधेय'** कहलाये । (महा. आदि पर्व) इनमें चित्ररथ गन्धर्वों के अधिपति माने जाते हैं । चित्ररथ दिव्य संगीत-विद्या के पारदर्शी और अत्यन्त ही निपुण हैं । गन्धर्व स्त्री के बहुत इच्छुक होते हैं जैसा बताया गया है **'स्त्रीकामाः गन्धर्वाः'**। परन्तु चित्ररथ जितेन्द्रिय थे । एक बार ये दिल्लीश दुर्योधन को पकड़ कर ले जा रहे थे तो धर्मराज युधिष्ठिर ने जितेन्द्रिय अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार किया तब जाकर चित्ररथ ने दुर्योधन को छोड़ दिया ।

आगे भगवान् कहते हैं कि योगनिष्ठ सिद्ध पुरुषों के परम उपास्य मैं कपिल हूँ । जो सर्वप्रकार की सिद्धियों को प्राप्त तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि श्रेष्ठ गुणों से पूर्णतया सम्पन्न हो उसको सिद्ध कहते हैं । महायोगी

कर्दम मुनि की पत्नी देवहूति को ज्ञान प्रदान करने के लिए उन्होंने उन्हीं के गर्भ से अवतार लिया था । इनके प्रकट होने के समय स्वयं ब्रह्मा ने श्रीदेवहूति जी से कहा था -

अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः ।
लोके कपिल इत्याख्यो हन्त ते कीर्तिवर्धनः ॥
(श्रीमद्भागवत ३।२४।१९)

'ये सिद्धगणों के अधीश्वर और सांख्य के आचार्यों द्वारा पूजित होकर तुम्हारी कीर्ति को बढ़ायेंगे और लोक में 'कपिल' नाम से प्रसिद्ध होंगे ।।१९।। श्रीवाल्मीकि जी तो दीमक से ही ढँके थे परन्तु ये इतनी मिट्टी से ढक गये कि महाराज सगर के पुत्रों के बहुत खोदने पर मिले और वहाँ सागर बन गया । ये जन्म से अव्याहत ज्ञान प्राप्त करने वाले और अपनी आत्मा का साक्षात्कार करनेवाले थे । इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने इनमें भी अपनी उपासना करने के लिये बताया ।।२६।।

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणाम् नराणां च नराधिपम् ।।२७।।

अन्वय :- **अश्वानाम् अमृतोद्भवम् उच्चैःश्रवसम्, गजेन्द्राणाम् ऐरावतम् च नराणाम् नराधिपम् माम् विद्धि ।**

अर्थ :- घोड़ों में अमृतमन्थन के समय (या अमृत के साथ) उत्पन्न उच्चैःश्रवा (तथा) गजेन्द्रों में ऐरावत एवं मनुष्यों में राजा तू मुझको जान ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि समस्त घोड़ों में अमृतमन्थन के समय उत्पन्न उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा मुझको जानो । यद्यपि श्यामकर्ण, अर्जुन के रथ के सफेद घोड़े आदि अनेक घोड़े हैं, परन्तु इस घोड़े में विशेषता है । इसकी उत्पत्ति रज वीर्य से नहीं है और यह पृथ्वी पर चलता भी नहीं, जैसा कि कहा गया है **'तीस चरण महि चलत ना'** । दूसरे-देवताओं और सभी प्राणियों का हित करनेवाले सूर्य का वहन करता है । यजुर्वेद में कहा गया है **'तच्चक्षुर्देवहितम्'** । तीसरे-यह न तो थकता है और न तो इसे भोजन की ही आवश्यकता है ।

भगवान् कहते हैं कि सब गजेन्द्रों में अमृत-मन्थन के समय प्रकट हुआ ऐरावत मुझको जानो । इस श्लोक में आया हुआ **'अमृतोद्भवम्'** शब्द ऐरावत का भी विशेषण 'देहली दीप-न्याय' से है । अन्य गजेन्द्रों से इसमें यह विशेषता है कि इसकी उत्पत्ति रज-वीर्य से नहीं हुई है । दूसरे-देवताओं के राष्ट्रपति इन्द्र जिसे वेद में **'त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रम्'** कहा गया है, उनका वाहन है, जो इन्द्र के इच्छानुसार सर्वत्र चला जाता है । विवाहादि में सामान्य गजों की पूजा की जाती है, फिर इस विशिष्ट गज की बात ही क्या, यह तो महामांगलिक है ।

आगे भगवान् कहते हैं कि सभी मनुष्यों में अधिक पालन करने वाला राजा मुझको जानो । यहाँ पर कुछ लोग अज्ञता से भगवान् का तात्पर्य सभी राजाओं से बताते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि सभी तरह के राजा को भगवान् कहते तो रावण, वेन, कंस आदि भी राजा ही थे । दूसरे वर्तमान युग में भी अनेक पापी राजा हुए हैं । इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं है । भगवान् 'अधिप' पद द्वारा स्पष्ट कर देते हैं कि जो राजा पुत्रवत् अपनी प्रजा का पालन करते

हैं वही राजा मैं हूँ । 'अधिप' का तात्पर्य **'अधिकं पाति रक्षति इति अधिपः'** होता है, जैसे महाराज हरिश्चन्द्र जब काशी से अपने राज्य अयोध्यापुरी गये तो वे तबतक स्वर्ग जाने को तैयार नहीं हुए जबतक उनकी समस्त प्रजा को स्वर्ग जाना स्वीकार नहीं किया गया । इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र से समस्त प्रजा स्वर्ग में गई । ऐसे राजाओं में देवों का अंश रहता है । इसलिए इनका दर्शन करना चाहिये, इनकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिये और इनकी उपासना करनी चाहिये, जिससे समस्त देश का कल्याण हो । ऐसे ही राजाओं से भगवान् का यहाँ तात्पर्य है ।।२७।।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।।२८।।

अन्वय :- **अहम् आयुधानाम् वज्रम्, धेनूनाम् कामधुक् अस्मि, प्रजनः कन्दर्पः अस्मि च सर्पाणाम् वासुकिः अस्मि ।**

अर्थ :- मैं शस्त्रों में वज्र, गौओं में कामधेनु हूँ । प्रजनन यानी उत्पन्न करने वाला (अर्थात् उत्पत्ति का कारण) कामदेव हूँ और सर्पों में वासुकि हूँ ।

व्याख्या :- अपनी प्रधान विभूतियों का वर्णन करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि पाशुपतास्त्र, वायव्यास्त्र, आग्नेयास्त्र, नारायणास्त्र, ब्रह्मास्त्र आदि आयुधों (शस्त्रों) में मैं वज्र हूँ । यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण के सभी शस्त्रों में वज्र से तात्पर्य इन्द्र के वज्र से नहीं वरन् भगवान् के चक्र सुदर्शन से ही है । वज्र का अर्थ यहाँ 'वर्जनात् वज्रम्' अर्थात् जो सर्वदा अपने भक्तों को बचाकर चले, उससे है । निरुक्त में 'वज्र, नेमि, पवि, चरण' ये सब चक्र सुदर्शन के पर्यायवाची बताये गये हैं । लोक में भी कहा जाता है -

राम नाम कहु बारंबारा । चक्र सुदर्शन है रखवारा ।।

यद्यपि ब्रह्मास्त्र शस्त्रों में बड़ा कहा जाता है और उसकी शान्ति नहीं होती है जैसा हनुमान् जी मेघनाद के ब्रह्मास्त्र चलाने पर कहते हैं :-

जो न ब्रह्म सर मानउँ महिमा मिटई अपार । (रा. मा. ५।१९)

परन्तु वह ब्रह्मास्त्र भी इस शस्त्र के आगे शान्त हो जाता है । अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा के गर्भ में पाण्डव वंश के एक मात्र आधार परीक्षित पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके अश्वत्थामा ने चाहा कि उत्तरा को निस्सन्तान कर दें, किन्तु भगवान् के अस्त्र चक्र ने उसकी रक्षा कर ली । परीक्षित उसे इसलिए कहते हैं कि भगवान् के चक्र के बल के सामने ब्रह्मास्त्र के बल की परीक्षा हो गयी । इसी परीक्षित के लिए कहा गया है ।

'जुगोप कुक्षिं गतआत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः' । (श्रीमद्भा.)

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि चक्र ने वाराणसी को जला कर भस्म कर दिया-**'वाराणसी हरपुरी भवता विदग्धा'** महती विपत्ति पड़ने पर कहा जाता है 'चक्र गिर गया ।' इन्द्र का वज्र तो ऋषि द्वारा ही कुंठित हो गया । इसलिए भगवान् कहते हैं कि अस्त्र शस्त्रों में सुदर्शन चक्र मैं हूँ ।

सकृत् प्रसूता सुरभि गायों में मैं कामधेनु हूँ । एक बार जो वत्स देती है उसे धेनु कहा जाता है **'धेनुः सकृत्प्रसूता गौः'** । इस कामधेनु की सेवा वसिष्ठ जी करते थे । यह मनोरथ को पूर्ण करने वाली है । इसीकी पुत्री नन्दिनी जो रूप रंग में वैसी ही (कामधेनु की तरह) थी, उसकी सेवा करके महाराजा दिलीप ने रघु जैसे प्रतापी पुत्ररत्न को प्राप्त किया । कामधेनु की उत्पत्ति समुद्रमन्थन से हुई है ।

धर्मानुसार संतानोत्पत्ति करने के कारण मैं कामदेव हूँ । कन्दर्प कामदेव को कहते हैं । इसके बिना सृष्टि नहीं हो सकती । ऋतु-काल में ही अपनी भार्या से विषय करने वाला कामदेव मैं हूँ । भगवान् श्रीकृष्ण का यही कहने का अभिप्राय है ।

आगे भगवान् कहते हैं कि सर्पों में मैं सर्पराज वासुकि हूँ । मनुष्य की भाँति सर्प भी दो जातीय होते हैं । एक मुख वाले उरग को साँप कहते हैं और एक से अधिक मुँहवाले उरग को नाग कहते हैं । सर्पों का राजा वासुकि कल्याण करनेवाले भगवान् शंकर का वलय है । कहा गया है **''वलयीकृतवासुकिः''** भगवान् को वासुकिनाथ कह कर भी लोग आराधना करते हैं । इसकी (वासुकि की) आराधना के लिए श्रावण में दूध, लावा दिया जाता है । इस प्रकार भगवान् चार उपास्य बताकर कहते हैं कि इनमें मेरी उपासना करना और इनके नाम, रूप, गुण, धाम को अनुसंधान करना चाहिए जिससे उपासना पूर्ण होती है ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

अन्वय :- **अहम् नागानाम् अनन्तः च यादसाम् वरुणः अस्मि । अहम् पितृणाम् अर्यमा च यमः संयमतामस्मि।**

अर्थ :- मैं नागों (बहुत सिर वाले सर्पों) में अनन्त यानी शेषनाग और जलचरों में (उनका राजा) वरुण हूँ । मैं पितरों में अर्यमा और दण्ड देने वालों में यम हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि बहुत मुखवाले उरगों में अनन्त नामक शेषराज मैं हूँ । इनके रूप, गुण, चरित्र का अन्त नहीं है । ये आदि में जगत् का आधार बने - 'आदौ जगदाधारः शेषः' कहा गया है । पृथ्वी के समस्त चराचर का भार ये सर्षप के समान लेते हैं । जैसा महाभारत में कहा भी गया है -

'यो धारयति भूतानि धरां चेमां सपर्वताम्' (भीष्मपर्व ६७।१३)

'जो शेषनाग पर्वतों के सहित इस सारी पृथ्वी को तथा भूतमात्र को धारण किए हुए हैं ॥१३॥ इससे संकेत करते हैं कि जो अपने ऊपर अपने धर्म, परिवार आदि का भार सहर्ष लेने को तैयार रहते हैं वे श्रेष्ठ होते हैं । श्री अनन्त जी ने वात्स्यायन को उपदेश दिया । 'ताम्रपर्णीमाहात्म्य' में इनके लिए कहा गया है -

'प्रथमोनन्तरूपश्च'

जो सतयुग में अनन्त नामवाले थे वे ही त्रेता में लक्ष्मण, द्वापर में बलराम तथा कलियुग में भगवद् रामानुजाचार्य होकर अवतार लिए । ये हजार फंणों से युक्त और यथार्थ निर्णय करने वाले हैं ।
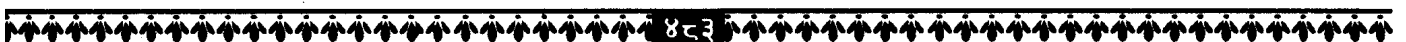
आगे भगवान् कहते हैं कि जलचरों का पति जलाभिमानी देव वरुण मैं हूँ । वेद में इन्हें **'वरुणस्योत्तम्भनमसि'** इत्यादि कहकर वर्णन किया गया है । यहाँ निर्धारण अर्थ में षष्ठी नहीं है । जलचरों का नाम 'यादस्' है । पितरों के अन्दर अर्यमा नाम पितर, भगवान् कहते हैं - मैं हूँ । पितृगण सात हैं -

कव्यवाहोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा ।
अग्निष्वात्ता बर्हिषदस्त्रयश्चान्या ह्यमूर्तयः । (शिवपुराण, ६३।२)

इससे शिक्षा मिलती है कि इस लोक में माता-पिता की सेवा करते हुए तर्पण श्राद्ध द्वारा पितृ-लोक की भी सेवा करनी चाहिए ।

आगे भगवान् कहत हैं कि दण्ड देने वालों में से संयमनी नामक यमराज मैं हूँ । ऋग्वेद में इनके लिए कहा गया है-

'यमं राजानं हविषा दुवस्व'

नियमानुसार शासन करनेवाले यमराज को हविष से परिचर्या करो । इनके सभी दण्ड न्याय और धर्म से युक्त, हितपूर्ण और पापनाशक होते हैं । अथवा विनोदप्रिय नटवर नागर श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन से यह संकेत कर रहे हैं कि स्याला (सार) बड़ा प्रिय होता है । सुभद्रा के विवाह के सम्बन्ध से मैं तुम्हारा स्याला हुआ और इसमें भी कोचवान हूँ क्योंकि तूने स्वयं कहा है-

'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय' । (गी. १।२१)

मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा करिये ।।२१।। फिर भी तुम मुझे श्रेष्ठ बनाकर गुरु मान लिये जैसा तूने स्वयं कहा है **'शिष्यस्तेऽहम्'** (गी. २।७) 'मैं आपका शिष्य हूँ' ।।७।। इस तुम्हारे मार्ग का ही मैंने अनुसरण किया और सूर्य का पुत्र यमराज की बहन यमुना का मैं पति हूँ । इसलिए यमराज मेरा स्याला हुआ । यद्यपि कि २१ नरकों का मालिक होने से उनका कर्म नीच का है फिर भी अच्छा न्यायाधीश होने से उसे भी मैंने अपना स्वरूप बताया है । यज्ञशाला के दक्षिण भाग में इनको भाग दिया जाता है । अथवा श्रीपतंजलि के अनुसार १. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह ये जो ५ यम हैं इन पांचों यमों से युक्त होने से 'यमराज मुझे जानो' । यमराज ने ही नचिकेता को आत्मतत्त्व का ज्ञान दिया था । ये भगवन्नाम की महिमा का भी उपदेश देते हैं । वाराणसी मंडल में धन-जन सम्पन्न एक रईस थे जिसने वेश्यागमन तथा मद्यसेवन कर पूरा धन गँवा दिया । मृत्यूपरान्त जब वे नरक में पहुँचे तो इनके आर्त क्रन्दन को सुनकर यमराज ने इनसे कहा-

नरके पच्यमाने तु यमेन परिभाषितः ।
किं त्वया नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः ॥ (पाण्डव गी. ।।३६।।)

अर्थात् वाराणसी जैसे पवित्र मंडल में रहकर तूने आदिकेशव भगवान् का (जो राजघाट के पास हैं, जहाँ से काशी प्रारम्भ होती है) भजन नहीं किया ? जिनको जानने से जीव मृत्यु (यमराज) को भी जीत लेते हैं ।।२६।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

अन्वय :- **अहम् दैत्यानाम् प्रह्लादः च कलयताम् कालः अस्मि च अहम् मृगाणाम् मृगेन्द्रः च पक्षिणाम् वैनतेयः ।**

अर्थ :- मैं दैत्यों में प्रह्लाद और गणना करने वालों में काल (यानी समय अर्थात् आयु गणना में काल या मृत्यु नामक काल) हूँ तथा मैं मृगों (पशुओं) में सिंह और पक्षियों में गरुड़ हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि दैत्यों में उत्कृष्ट महाभागवत मैं प्रह्लाद हूँ । यहाँ भगवान् यह संकेत करते हैं कि भक्तों में जाति का अनुसंधान न करके उनकी सेवा करनी चाहिए । प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु ने मारण मंत्र का जाप करवाया । परिणामस्वरूप जप करनेवाले ब्राह्मणों की ही मृत्यु हो गई परन्तु भक्त प्रह्लाद इतना दयालु था कि उन ब्राह्मणों को जिलाने के लिए उसने अनशन किया और अन्त में भगवान् को उन्हें जिलाना पड़ा । समुद्र में फेंकवाकर, हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाकर, अग्नि में जलाकर आदि ऐसे ही नाना प्रकार के दु:खद उपायों से उसके पिता ने प्रह्लाद की दुर्दशा करवायी, परन्तु पिता को देवता तुल्य समझनेवाले बालक ने उसे एक शब्द भी नहीं कहा । बल्कि अपने नाम के अनुसार ही 'प्र' अर्थात् अत्यधिक मात्रा में आह्लाद अर्थात् प्रसन्नतायुक्त रहा । इसमें भगवान् राम के प्रति ऐसी भक्ति थी कि उसने किसी भी तरह से उनका नाम लेना बन्द नहीं किया । गोस्वामी तुलसीदास जी इसीलिए कहते हैं -

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगत सिरोमनि मे प्रहलादू ॥ (रा. मा. १।२५।४)

आगे भगवान् कहते हैं कि जो अनर्थ प्राप्ति कराने की इच्छा से सभी जीवों की आयु की गणना करते हैं, उनमें मृत्यु नामक काल मैं हूँ ।

भगवान् ने रामवतार में सुग्रीव से कहा कि - तुम बालि से लड़ो, मैं उसे मारूँगा । तब भी सुग्रीव बालि को भाई ही कहता था । इसलिए भगवान् ने सोचा कि मित्र का भाई हमारा भी भाई ही होगा तो किस तरह मारूँ । और उसे नहीं मारा । अन्त में जब सुग्रीव ने यह कहा कि यह भ्राता नहीं मेरा काल है-

मैं जो कहा रघुवीर कृपाला । बन्धु न होई मोर यह काला ॥ (रा. मा. ४।७।४)

तब भगवान् उसे एक बाण में ही मार डालते हैं । इसलिए भगवान् कहते हैं कि बुरे भाव से जो काल का परिगणन किया जाता है मैं वह काल (मृत्यु) हूँ ।

मृगों में मैं 'कृष्णसार' मृग हूँ ।

जहाँ ये विचरते हैं वह यज्ञीय क्षेत्र कहलाता है । अथवा चतुष्पद जानवरों का राजा सिंह मैं हूँ । सिंह में यह विशेषता है कि वह अपना स्थान छोड़ कर चला जाता है । इससे सिंह यह संकेत करता है कि उद्योगी पुरुष को अन्य स्थानों में जाने पर लक्ष्मी प्राप्त होती है । सिंह अपने दाँत और नख से जानवरों को फाड़कर अपनी क्षुधा की पूर्ति करता है । इससे यह शिक्षा देता है कि स्वयं कर्मनिष्ठ बनो, किसी का आश्रय मत ग्रहण करो ।

पक्षियों में उनका राजा विनतासुत (गरुड़) मैं हूँ। ये भगवान् के वाहन, उनके परम भक्त और अत्यन्त पराक्रमी हैं। ये इतने बड़े मातृ-भक्त थे कि माता को दासता में देख स्वयं कष्ट उठा कर उसे दासी के स्थान से इन्होंने मुक्ति दिलायी। कश्यप ऋषि की दो पत्नियाँ थी, जिनमें बड़ी विनता थी जिसके पुत्र गरुड़ हुए और छोटी कद्रू थी जिसके पुत्र नाग थे। इन दोनों स्त्रियों में एक दिन विवाद हुआ। विनता का कथन था कि सूर्य लाल हैं और कद्रू कहती थी कि सूर्य काला हैं। दोनों में यह बाजी लग गई कि जिसकी बात गलत होगी वह दूसरे की जीवन भर दासी रहेगी। दूसरे दिन इस बात को सुनकर देखनेवाले एकत्र हुए तो कद्रू ने कपट कर करइत और डोंड़हें सर्पों द्वारा सूर्य को ढँकवा कर काला दिखला दिया। शर्त के अनुसार विनता को कद्रू की दासी बनना पड़ा। एक दिन गरुड़ जी ने अपनी माता की दासता का कारण हठकरके पूछा तो विनता ने वृत्तांत कह दिया। गरुड़-ध्वज रूप और वाहन रूप में भगवान् के साथ रहकर भगवान् की सेवा भक्तिपूर्वक करने लगे। एक दिन गरुड़ जी ने विनीततापूर्वक कद्रू से अपनी माता की दासता से मुक्ति का उपाय पूछा तो कद्रू ने यह विचार किया कि हमारे सभी पुत्र अमर हो जायें और उसने अमृत के कलश की माँग की। गरुड़ जी इसे स्वीकार कर इसे लाने के लिए स्वर्ग में गये तो इन्द्र ने क्रोधित होकर उनपर वज्र से प्रहार किया परन्तु भगवद्भक्त गरुड़ जी पर इसका कोई भी असर नहीं हुआ बल्कि उससे इनके दो रोम टूट कर गिर पड़े। जिनसे नीलकण्ठ और मयूर उत्पन्न हुये। यह देखकर इन्द्र ने अमृत का घड़ा उन्हें दे दिया और कहा कि आप ऐसा कोई उपाय करें जिससे आपका भी कार्य हो जाय और अमृत का घड़ा भी मुझे मिल जाय। गरुड़ जी ने इन्हें उपाय बता दिया कि मैं तो घड़ा दे दूँगा पर आप उसके बाद ही चुरा लीजिएगा। इस निश्चयानुसार गरुड़ जी ने जब कद्रू को घड़ा दे दिये तो शीघ्र ही कपट करके इन्द्र घड़े को चुरा लाये। इसी घड़े को प्रयाग में रखने मात्र से वहाँ पर कुम्भ नामक पर्व लगता है। इस प्रकार गरुड़ जी ने बिना कलह के अपनी माता को दासता से मुक्त कराया। इन्हीं विशेषताओं के कारण भगवान् ने गरुड़ को अपनी विभूति बतलाया है ।।३०।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चस्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी ।।३१।।

अन्वय :- **अहम् पवताम् पवनः, शस्त्रभृताम् रामः अस्मि झषाणाम् मकरः च स्त्रोतसाम् जाह्नवी अस्मि।**

अर्थ :- मैं गमन करने वाले (यानी 'पवतां' अर्थात् गमन स्वभाव वाले) में पवन, (और) शस्त्रधारियों में राम हूँ। मछलियों में मगर और मैं नदियों में श्रीगंगा जी हूँ।

व्याख्या :- प्रकरण ही अर्थ का निर्णायक होता है, **'पुञ् पवने'** धातु से पवन बनता है परन्तु धातु के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ पवन से तात्पर्य गमन करने वाले से है। **रूपरहितत्वे सति स्पर्शवत्वं पवनस्य लक्षणम्'** के अनुसार रूप रहित सबको स्पर्श करनेवाले को पवन कहते हैं। इसलिए जो लोग यहाँ पवन शब्द से मरुत् का आक्षेप करते हैं वह ठीक नहीं है। भगवान् का अभिप्राय यह है कि जितने गमन करने वाले पदार्थ हैं उनमें मैं पवन हूँ। प्राणायाम आदि क्रिया द्वारा पवन की उपासना होती है।

आगे भगवान् कहते हैं कि शस्त्रधारियों में मैं दाशरथी राम हूँ। यहाँ शस्त्र उपलक्षण है यह अस्त्र का भी बोधक है। जो तीन राम १. श्रीराम, २. श्रीपरशुराम और ३. श्रीबलराम प्रसिद्ध हैं उनमें श्रीमर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र

जी से ही यहाँ भगवान् का तात्पर्य है । इसके कारण ये हैं, भगवान् श्रीरामचन्द्र जी जन्म से ही आयुध ग्रहण करने वाले हैं जैसा कि कहा भी गया है कि **'शंखगदार्युदायुधम्'** (श्रीमद्भा. १०।३।९) गोस्वामी तुलसीदास जी भी लिखते हैं कि जन्म के समय ही भगवान् -

'निज आयुध भुजचारी' थे । (रा. मा. १।१९१ छन्द)

जब कि अन्य जन्म से नहीं, बल्कि बीच में आयुध धारण करते हैं । दुसरे भृगुकुल के श्रीपरशुराम में तीन कला, यदुकुल के श्रीबलराम में एक कला और रघुकुल के श्रीराम भगवान् में बारह कलाएँ हैं । तीसरे-श्रीपरशुराम और श्रीबलराम आपने आयुध का प्रयोग अकृत्य करण में भी करते हैं किन्तु भगवान् राम नहीं । श्रीपरशुराम जी अपने गुरु शंकर जी के पुत्र गणेश जी का एक दाँत को फरसे से काट लिए । श्रीबलराम जी तीर्थ करने गये और उन्हें देखकर जब सूत पौराणिक नहीं उठे तो उन्हें क्रोध में आकर उन्होंने मार दिया । अपनी अनुजवधू यमुना का हल के द्वारा कर्षण किया । चौथे-विश्वविजयी श्रीपरशुरामजी जिस धनुष को नहीं चढ़ा सके वह रघूत्तम श्रीरामचन्द्र जी के हाथ में आते ही अपने आप चढ़ गया जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी रामचरित मानस में कहते हैं -

देतहि चाप आपु चलि गयऊ । परशुराम मन बिसमय भयऊ ॥ (रा. मा. १।२८३।८)

भगवान् राम के युद्ध की तुलना उन्हीं के युद्ध से दी जा सकती है । कहा गया है कि-

'राम रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' ।

भगवान् राम के द्रोही की रक्षा कोई नहीं कर सकता, जैसा हनुमान् जी भी रावण को सावधान करते हुए कहते हैं कि -

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी । विमुख राम त्राता नहिं कोपी ॥
संकर सहस विष्नु अज तोही । सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥ (रा. मा. ५।२२।७।८)

अंगद रावण की भरी सभा में भगवान् राम को मनुष्य समझने वाले रावण से कहते हैं -

'राम मनुज कस रे सठ बंगा' (रा. मा. ६।२५।५)

श्रीराम को मनुज समझने वाले रावण को उनका परिचय देते हुए हनुमान् जी कहते हैं ये रावण ! ध्यान से सुनो कि मैं किस श्रीराम का सेवक हूँ ।

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया । पाइ जासु बल विरचति माया ।
जाकें बल विरंचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दससीसा ॥
जा बल सीस धरत सहसानन । अंडकोस समेत गिरि कानन ।
धरई जो विविध देह सुर त्राता । तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता ॥
हर कोदंड कठिन जेहि भंजा । तोहि समेत नृप दल मद गंजा ॥
खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली । बधे सकल अतुलित बलसाली ॥ (रा. मा. ५।२०।४-९)

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि ।

तासु दूत मैं जाकरि हरि आनेहु प्रिय नारि ॥२१॥

इस भगवान् श्रीराम ने सप्तपुरियों में अग्रगण्या श्रीअयोध्या में चैत्र की नवमी तिथि को मधुमास में अवतार लिया जैसा कि श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं -

नौमी भौम बार मधु मासा । अवधपुरीं यह चरित प्रकासा ।

जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं । तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ॥

असुर नाग खग नर मुनि देवा । आइ करहिं रघुनायक सेवा ॥(रा. मा. १।३३।५-८)

मज्जहिं सज्जन वृन्द बहु पावन सरजू नीर । जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुन्दर स्याम सरीर ॥३४॥

इसलिए विरक्त साधु लोग कहा करते हैं -

अवध धाम धामाधिपति । अवतारन पति राम ॥

आगे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मछलियों में सर्वोत्कृष्ट राजा मकर (मगर) मैं हूँ । इसलिए मकरालय समुद्र को कहा जाता है ।

'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' कहकर भगवान् कहते हैं कि स्रोतों आदि नदियों में जह्नु-तनया गंगा मैं हूँ । इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में बतलाया गया है-

धातुः कमण्डलु-जलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजन पवित्रतया नरेन्द्र ।

स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतति निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवती विशदेव कीर्तिः ॥

हे राजन् ! वह ब्रह्माजी के कमण्डलु का जल, भगवान् के चरणों में धोने से पवित्रतम होकर स्वर्गङ्गा (मन्दाकिनी) हो गया । वह गङ्गा भगवान् की निर्मल कीर्ति के समान आकाश से पृथ्वी पर गिरकर अब तक तीनों लोकों को पवित्र कर रही है । कहा भी गया है कि-

'गंगा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि ।

तस्य नश्यन्ति पापानि विष्णुलोकं स गच्छति ॥

अर्थात् अनेकों योजन से गङ्गा का स्मरण करता हुआ जीव सारे पाप तपों से मुक्त होकर विष्णु-लोक में चला जाता है । यहाँ पर जह्नुतनया गङ्गा को कहकर भगवान् इतिहास की ओर संकेत करते हैं । बिहार प्रदेश के मुंगेर जिले में सुल्तानगंज नामक स्थान है जिसके सन्निकट उत्तर दिशा में अजगैवीनाथ धाम नामक स्थान है । वहाँ बहुत पहले श्रीजह्नु महर्षि एक बृहद् यज्ञ करा रहे थे । उसी समय राजा भगीरथ ने इस गङ्गा के स्रोत के साथ उसी स्थान से होकर जाना चाहा । बीच में महर्षि की यज्ञशाला पड़ जाती थी । इस स्रोत के प्रबल वेग को देखकर लोगों ने महर्षि से कहा कि वेगवती यह जलधारा इधर ही आ रही है । तब पश्चिमाभिमुख होकर महर्षि ने तीन आचमन

'ओम् कशेवाय नमः, नारायणाय नमः 'माधवाय नमः'

कहकर किये । जिससे स्त्रोत ही सूख गया । राजा भगीरथ ने यह देखकर महर्षि जह्नु को साष्टांग प्रणाम किया और विनीत होकर अपने भूल के लिए क्षमा याचना की । दयालु महर्षि ने टूटे हुए कुशे को लेकर अपनी जंघे को चीर कर अविकृत रूप से उसी स्त्रोत को जो आचमन के समय पी गये थे, निकालकर दिया । इसीलिए गङ्गा जह्नुतनया कही जाने लगी । इसे भगवान् शंकर ने अपने मस्तक पर धारण किया है । लोग इसके सम्बन्ध में एक गीत गाया करते हैं -

जै गंगे जै गंगे जै संतन सुखदाई ।
आपकी महिमा कहाँ से गायें शंकर शीश चढ़ाई ॥

इस गंगा की महिमा को बतलाते हुए भारत का बन्दर (अंगद) भी कहता है -

'धन्वी कामु नदी पुनि गंगा' (रा. मा. ६।२५।५)

अन्य नदियाँ यमुना आदि इसकी सहायिका हैं । इसके किनारे महाकुम्भ का मेला प्रयाग, और हरिद्वार में लगता है । इस पर तीन बड़े-बड़े तीर्थ स्थान हैं - १. हरिद्वार, २. प्रयागराज, ३. गंगा सागर । लौकिक दृष्टि से भी इसके तट पर तीन हाई कोर्ट - १. इलाहाबाद, २. पटना और ३. कलकत्ता हैं । इसलिए इन तीर्थों को संकेत करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि -

'गंग अवनि थल तीनि बड़े रे' (रा. मा. २।२८६।४)

इस प्रकार भगवान् अपनी चार प्रधान विभूतियों को बताकर आदेश देते हैं कि चारो वर्ण, चारो आश्रम वाले मिलकर रहें । समय से वायु का नियमन करें, भगवान् राम की भक्ति करें और गंगा का दर्शन, मज्जन और पान करें ॥३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

अन्वय :- **अर्जुन ! सर्गाणाम् आदिः च मध्यम् च अन्तः अहम् एव । अहम् विद्यानाम् अध्यात्मविद्या, प्रवदताम् वादः ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! सर्गों (यानी सृष्टियों) में आदि तथा मध्य और अन्त मैं ही हूँ । मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या और विवाद करने वाले (शास्त्रार्थों) में वाद (यानी तत्त्व निर्णायक वाद) हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि ऐ सत्त्व-गुण विशिष्ट अर्जुन ! जितनी अलग-अलग वस्तुओं के आदि (कर्ता) अलग-अलग मालूम पड़ते हैं वह मैं ही हूँ । पृथक् ज्ञान उत्तम ज्ञान नहीं है । ज्ञानी लोग समझते हैं कि सारी वस्तुएँ भगवान् का शरीर हैं । श्रीयोगेश्वर कवि कहते हैं -

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च जोतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥ (श्रीमद्भागवत ११।२।४२)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र सभी भगवान् के शरीर हैं-ऐसा समझकर चराचर भूतमात्र को अनन्य भाव से प्रणाम करना चाहिए ।।४२।। अज्ञानी इनका कर्ता अलग-अलग मानते हैं । भगवन् कहते हैं कि सभी वस्तुओं का संहार करनेवाला अन्तक मैं ही हूँ । उदाहरणार्थ आत्मा में आरोप करने के कारण देवदत्त आता है, जाता है इत्यादि व्यवहार होता है, वास्तविकता तो यह है कि आने-जाने वाली आत्मा है, वह देवदत्त आदि नहीं हो सकती है, जो तत् तत् वस्तुओं को नष्ट किया करता है । क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है कि **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'** (गी. ७।७) इन सभी वस्तुओं में भगवान् सूत्र-स्थानीय हैं और सभी वस्तुएँ मणि स्थानीय हैं ।।७।। आगे भगवान् कहते हैं-लोग जो कि पालनकर्ता को भिन्न-भिन्न मानते हैं वह भी मैं ही हूँ । यहाँ एव शब्द निश्चयार्थक है । यहाँ पर भगवान् के कहने का तात्पर्य है कि यदि मैं इन सबों का नियामक नहीं होता तो ये सारी वस्तुएँ स्वतंत्र होतीं, किन्तु देखा जाता है कि कोई यह नहीं चाहता है कि मैं बीमार होऊँ अथवा मरुँ, लेकिन उसके नहीं चाहने पर वे, (अपने नियन्ता) मेरी इच्छा के अनुसार बीमार होते एवं मरते हैं । इसीसे उनको समझ लेना चाहिये कि सम्पूर्ण जगत् का नियन्ता मैं हूँ । उनकी सृष्टि, स्थिति और संहार मेरे वश में है । गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं-

परबस जीव स्वबस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ॥

इस श्लोक में विद्यमान 'चकार' प्रयोग का यह तात्पर्य है कि संसार को मोक्ष देनेवाला भी मैं हूँ ।

'मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्' (श्रीमद्भागवत)

आगे भगवान् कहते हैं कि सभी विद्याओं में उत्तम अध्यात्म विद्या मैं हूँ । विद्याएँ चौदह हैं-

१. पुराण, २. न्याय, ३. मीमांसा, (दोनों पूर्व और उत्तर) ४. धर्मशास्त्र, ५. व्याकरण, ६. शिक्षा, ७. निरुक्त, ८. कल्प, ९. छंद, १०. ज्योतिष, (तथा चार वेद-११. ऋक्, १२. यजु, १३. साम १४. अथर्व) वेदों के अन्तिम भाग में विद्यमान श्रुति जो मोक्षप्रदायिनी है उसी को भगवान् अपना स्वरूप बता रहे हैं । इसी विद्या को अध्यात्म-विद्या कहते हैं । **(वेत्ति अनयेति विद्या)** अर्थात् जिससे जाना जाय वह विद्या है । अन्य विद्याओं (अध्यात्म-भिन्न) को तो रावण, कंस आदि राक्षस भी जानते थे । रावण तो ब्रह्मा की लिखी हुई विद्या को भी पढ़ लेता था **''हसेउ जानि विधि गिरा असाँची''** परन्तु वह पिता को छोड़कर लंका चला गया, अति हल्का बताते हुए शिव को 'मराल' की उपमा देता है, भगवत् भागवत आचार्य को कुछ भी नहीं समझता है । फलतः उसके जीवन में ही उसके धन-जन का संहार हो गया । प्रह्लाद पढ़ा नहीं था पर भगवद्भक्त होकर उसने प्रसिद्धि प्राप्त की । इस अध्यात्म-विद्या ने दुश्चरित्र वाल्मीकि को महाचरित्रवान् बना दिया । गोस्वामी तुलसीदास इनको ब्रह्म के समान बतलाते हुए कहते हैं कि-

'बालमीकि भये ब्रह्म समाना' (२।१९३।८)

लव और कुश को उन्होंने शस्त्रविद्या इस तरह से पढ़ायी कि हनुमान् और भरत आदि जैसे वीर उनसे पराजित हो गये । अध्यात्म-विद्या के द्वारा ही स्वस्वरूप, परस्वरूप, उपायस्वरूप, विरोधि-स्वरूप एवं फलस्वरूप का उचित ज्ञान होता है ।

श्रीकृष्ण भगवान् आगे कहते हैं कि प्रकर्षरूप से जल्प वितंडा के द्वारा विवाद करनेवालों के अन्दर तत्त्व निर्णय करनेवाला वाद मैं हूँ । **'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'** वाद से तत्त्व का बोध होता है । इस प्रकार, भगवान् ने बताया कि तत्त्व निर्णय ही वाद है, नहीं तो धान की भूसी कूटने के समान व्यर्थ ही वाद विवाद होता है ।

अतः अर्जुन को उपदेश देकर भगवान् यह बताते हैं कि जगत् की उत्पत्ति, पालन, संहार एवं मोक्ष प्रदान करनेवाला अनेक नहीं एक मैं ही हूँ । मैं ही परंब्रह्म हूँ । तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कहा गया है-

''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति ।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति । (तै. उ. ३।भृगुव.।१)

अर्थात् जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए जीव जीते हैं तथा जिसमें अन्त में प्रवेश कर जाते हैं उसको जानो, वही ब्रह्म है । वह ब्रह्म मैं ही हूँ, इसी बात को बतलाने के लिए भगवान् अहम् (सर्वनाम) शब्द का प्रयोग करते हैं । जो निराकार ब्रह्म ही मानते हैं वे विवर्त के गर्त में पड़े हैं । गीता में भगवान् स्पष्ट करते हैं-

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय (७।७)

मुझसे न्यारा ब्रह्म कोई नहीं है (गी. ७।७) ।।३२।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।।३३।।

अन्वय :- **अहम् अक्षराणाम् अकारः च समासिकस्य द्वन्द्वः अस्मि । अहम् एव अक्षयः कालः (च) विश्वतोमुखः धाता ।**

अर्थ :- मैं अक्षरों में अकार और समासों के समूह में द्वन्द्वनामक समास हूँ । मैं ही अक्षय काल हूँ (और) मैं ही सब ओर मुखवाला विधाता (ब्रह्मा) हूँ ।

व्याख्या :- जैसे चार वर्ण होते हैं उसी तरह अक्षरों (वर्णों) में भी चार विभाग हैं-

१- स्वर, ये ९ हैं; अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए ऐ, ओ, औ ।

२- स्पर्श, ये २५ हैं; कवर्ग से पवर्ग पर्यन्त ।

३- अंतस्थ, ये ४ हैं; य, र, ल, व ।

और चार उष्मा-ये भी ४ ही हैं; श, ष, स, ह ।

इस प्रकार कुल मिलाकर ४२ वर्ण हैं । अन्य आ, अं, अः आदि अक्षर अ पर ही बिन्दु, विसर्ग आदि से हुए हैं तथा क्ष, त्र, ज्ञ, ये संयुक्त वर्ण हैं । भगवान् कहते हैं कि इन ४२ अक्षरों में मैं 'अ' अक्षर हूँ । ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है **'अकारो वै सर्ववाक्'** (ऐ. ३।६)

अकार निश्चय ही सर्ववाणी है ।।६।। इसके बिना व्यंजनों का उच्चारण नहीं हो सकता । पद्मपुराण में आया है-

'अकारेणोच्यते विष्णुः कल्याणगुणसागरः'

अकार से कल्याणगुण-सागर विष्णु कहे जाते हैं । एकाक्षरी कोषानुसार **'अकारो वासुदेवः स्यात्'** । पराशरभट्ट ने अष्टश्लोकी ग्रन्थ में लिखा है-

'अकारार्थो विष्णुः' ।।१।।

'अकार का अर्थ विष्णु है' ।।१।। इसलिए भगवान् ने यहाँ 'अ' की उत्कृष्टता बतायी है ।

जहाँ पर अनेक पद अपनी-अपनी विभक्तियों को त्यागकर एक पद हो जाते हैं उसे समास कहते हैं और समास के समूह को सामासिक कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि समासों के समूह में द्वन्द्व नामक समास मैं हूँ । इसका अभिप्राय यह है कि छः समासों-१-अव्ययीभाव, २-तत्पुरुष, ३-कर्मधारय, ४-बहुव्रीहि, ५-द्विगु और ६-द्वन्द्व में मैं उभयपद प्रधान द्वन्द्व समास हूँ । पाणिनिसूत्र के अनुसार **'चार्थे द्वन्द्वः'** (पा. व्या. २।२।२६) 'च' के अर्थ में द्वन्द्व समास होता है । इसमें यह विलक्षणता है कि इसमें दोनों ही पदों के अर्थ की प्रधानता रहती है जैसे रामकृष्णौ इसमें राम और कृष्ण दोनों पदों की प्रधानता है । इसलिये 'द्वन्द्व' श्रेष्ठ है जैसे अन्य वर्णों की अपेक्षा 'अ' उत्कृष्ट है । भगवान् कहते हैं कि कला-मुहूर्तादि विभाग वाला अविनाशी काल मैं ही हूँ ।

आगे भगवान् अपनी विभूति बताते हुये कहते हैं कि सबके सृजन करनेवाला चतुर्मुख ब्रह्म मैं हूँ । इन्हीं के मुख से चारो वेद निकले हैं । इनके लिए कहा गया है-

'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।'(मुण्डको. १।१।१)

ये भगवान् के शरीर हैं । भगवान् ने इन्हें अपने उदर में दिखलाया है जैसा कि अर्जुन स्वयं **'ब्रह्माणमीशम्'** (गी. ११।१५) कहता है । कुछ अज्ञानी ब्रह्मा को भगवान् के समान मानते हैं जो ठीक नहीं है । ज्ञानी ब्रह्मा को भगवान् का शरीर मानते हैं । शरीर कभी शरीरी नहीं हो सकता । कहा गया है -

'धाता तव भक्तोस्ति' (सिद्धान्तकौ.)

'धाता (ब्रह्मा) आपके (भगवान् के) सेवक हैं । श्रीरामवतार में इन्होंने जाम्बवान (भालू) बनकर भगवान् की सेवा की । ब्रह्माण्डपुराण में स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मा जाम्बवान के अवतार हैं । रामचरित मानस में स्वयं भगवान् राम अपने मुखारविंद से कहते हैं ।

'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई' (रा. मा. १।१४६।२)

आगे सतरूपा कहती हैं-

'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी' (रा. मा. १।१४६।६)

इसलिए ब्रह्मा की उपासना उन्हें भगवान् का दास मानकर करनी चाहिये । दास को भगवान् स्वयं ऊँचा स्थान देते हैं जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं-

प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किये आपु समान ।
तुलसी कहुँ न राम से, साहिब सील निधान ।

इससे यह भी संकेत करते हैं कि छोटे को प्रजा के तुल्य समझो । भगवान् बंदरों को भी भाई कहते हैं-

इसलिये शास्त्रानुसार पूजन करना चाहिये, मनोनुकूल नहीं । क्योंकि भगवान् कहते हैं कि-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ (गी. १६।२३)

जो शास्त्रविधि का त्याग करके इच्छानुसार बरतता है वह न सिद्धि को प्राप्त करता है, न सुख को और न परमगति को ही प्राप्त करता है ।।२३।३३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधाधृतिः क्षमा ।।३४।।

अन्वय :- **अहम् सर्वहरः मृत्युः च भविष्यताम् उद्भवः च नारीणाम् कीर्तिः श्रीः वाक् स्मृतिः मेधा धृतिः च क्षमा ।**

अर्थ :- मैं सबका हरण (यानी नाश) करने वाली मृत्यु, उत्पन्न होनेवालों का उद्भव (उत्पत्ति रूपी) कर्म हूँ और स्त्रियों में श्री, कीर्ति, वाणी, स्मृति मेधा, धृति और क्षमा हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि सबके प्राणों को हरण करने वाली मृत्यु मैं हूँ । कितनाहूँ किसी के पास शक्ति हो मैं उसका प्राण हरण कर लेता हूँ । देवकी के आठवें गर्भ के समय जब कंस ने देवकी को देखा तो कहा कि मालूम होता है मेरा प्राण हरण करनेवाला इसी गर्भ में है, क्योंकि गर्भ रहने पर तो सौंदर्य कम हो जाता है परन्तु देवकी में तो अत्यन्त अपूर्व सौंदर्य की वृद्धि हो गई ।' कंस के बड़े-बड़े रक्षक थे, परन्तु माता-पिता को कष्ट देने, दस दिन के शिशुओं की हत्या करने तथा देवाराधना न करने आदि के कारण भगवान् कृष्ण ने उसके भाँजे होकर भी पक्षपातरहित होकर प्राण हरण कर लिया । इसलिए भगवान् कहते हैं कि सबके प्राणों का हरण करनेवाला मैं मृत्यु हूँ । **'उद्भवश्च भविष्यताम्'** कहकर भगवान् बताते हैं कि जितने उत्पन्न होनेवाले हैं उनकी उत्पत्ति रूप कर्म मैं हूँ । उत्पत्ति के कर्म न करने पर कोई उत्पन्न ही नहीं होगा । इसका यह अभिप्राय है कि तुम कर्म का त्याग मत करो वरन् फलासक्ति का त्याग करो । कर्म-त्याग से तो हमारा ही त्याग कर दोगे । गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं-

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।' (रा. मा. २।२१८।४)

भगवान् ने पहले कहा कि मैं राजाओं में पुत्रवत् पालन करनेवाला राजा हूँ । इसी नियमानुसार यहाँ कहना

चाहिए था कि मैं नारियों में रानी हूँ, परन्तु यहाँ नारी की अधिक महत्ता बताने के लिए भगवान् सात स्त्री अपने को बताते हैं । भगवान् कहते हैं कि स्त्रियों में मैं १. कीर्ति, २. श्री, ३. वाक्, ४. स्मृति, ५. मेधा, ६. धृति और ७. क्षमा ये सात स्त्रियाँ हूँ । इससे ये बताते हैं कि केवल अपनी ही नारी के फेर में मत पड़ो बल्कि सुरदुर्लभ मानव का तन पाकर इन सात नारियों का भी सम्पादन करो तब तुम्हारा कल्याण तुम्हारी स्त्री करेगी । पहली स्त्री कीर्ति को अपनाकर कुछ कीर्ति-बाग, कूप अस्पताल आदि बनाने की चेष्टा करो । दूसरी स्त्री श्रीद्वारा खेती, व्यापार, नौकरी करके कुछ धन एकत्र करो जो भावी जीवन में भी काम आवे । तीसरी स्त्री वाणी को अपनाकर कुछ विद्या का अर्जन करो केवल पशु की तरह मत रहो । चौथी स्त्री स्मृति से अपनी बातों को याद कर उस पर दृढ़ रहो । पाँचवी स्त्री मेधा द्वारा बुद्धि से विचार कर कार्य करो । क्योंकि कहा गया है-

बिना विचार जो करै सो पीछे पछिताय ।
काम बिगारै अपनो जग में होत हँसाय ।।

छठवीं स्त्री धृति द्वारा धैर्य रखो । धर्म से विचलित मत होवो । जैसे भरत जी नहीं विचलित हुए । कुछ लोग अपनी अज्ञता का परिचय देते हुए इस चौपाई **'मागउँ भीख त्यागि निज धरमू.....'** (रा. मा. २।२०३।७) का अर्थ करते हुए कहते हैं कि भरत ने धर्म को त्याग कर भीख माँगी । परन्तु भरत जी जिन्हें धर्म की धुरी बतलाते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि-

जौं न होत जग जनम भरत को ।
सकल धरम धुर धरनी धरत को ।। (रा. मा. २।२३२।१)

फिर वे भरत जी किस तरह से धर्म का त्याग कर सकते हैं । इसलिए इस चौपाई का अर्थ यह है कि भीख का त्याग कर निज धर्म को भरत माँग रहे हैं । इसलिए गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं **भरत हंस रवि बंस तड़ागा'** (रा. म. २।२३१।६) रविवंश के अन्दर सब राजा जड़ तालाब तुल्य हैं और यह भरत चेतन हंस हैं । तभी इनके लिए आगे सन्त तुलसीदास जी कहते हैं -

होत न भूतल भाउ भरत को ।
अचर सचर चर अचर करत को ।। (रा. मा. २।२३७।८)

सातवीं स्त्री क्षमा द्वारा अपने अन्दर क्षमा रखो जिससे श्रेष्ठता आयेगी । अम्बा सीता परमशक्ति रखते हुए भी रावण को क्षमा करती हैं ।

इन्हीं सात स्त्रियों को रखना चाहिए । यदि न हो सके तो कम से कम दो चार का अवश्य पालन करें । नहीं तो अपनी ही नारी अपने स्वभावानुसार राक्षसी बनकर तुमको चौपट कर देगी । स्त्री को राक्षसी बतलाते हुए कहा गया है-

दर्शनात् हरते चित्तं स्पर्शनात् हरते बलम् ।

संभोगाद्धरते वीर्यं नारी प्रत्यक्षराक्षसी ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जो दर्शन से ही चित्त को, स्पर्श से बल को और संभोग से वीर्य को हर लेती है। बिना रूपवाली राक्षसी नारी ही बहुत परेशान कर देती है, यह तो प्रत्यक्ष राक्षसी है । इसमें भी व्यभिचारिणी स्त्रियों से सदा सावधान रहना चाहिये । इनके लिए कहा गया है -

घृतकुंभसमा नारी तप्तांगारसमः पुमान् ।
तस्मात् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

भाव यह कि घी के कलश के समान नारी है और तप्त अंगार के समान पुरुष है । दोनों को एकत्र एकान्त में स्थापित न करे नहीं तो स्वरूप ही बिगड़ जाता है । इसलिए उन सात स्त्रियों को प्राप्त करने की चेष्टा एकपत्नीव्रतनिष्ठ रहते हुए भी करनी चाहिए । भगवान् नरों में एक राजा, परन्तु यहाँ सात स्त्री बनकर स्त्री को पुरुष से श्रेष्ठ बताते हैं। जिन सात सतियों की पूजा की जाती है वे यही हैं केवल नाम भर परिवर्तित है । इनका चिन्तन करने को भगवान् कहते हैं । इन सातों नारियों के अतिरिक्त एक अन्य नारी को भी ग्रहण करना चाहिए ताकि मायारूपी नारी का प्रभाव न पड़े जो हमारी चेतनता अमलता, सहज सुखराशिता को नष्ट करती है । यह नारी पराभक्ति रूपी है । काकभुसुण्डी जी गरुड़ जी को उपदेश देते हुए यह अपूर्व (अकाट्य) नीति बता रहे हैं कि स्त्रियाँ दूसरी स्त्री के लावण्य को देखकर नहीं मोहती हैं, उसी तरह पराभक्ति रूपी नारी पर माया रूपी नारी का प्रभाव नहीं पड़ता । इसी का विवेचन करते हुए वे कहते हैं-

मोह न नारि नारि के रूपा । पन्नगारि यह रीति अनूपा ।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ । नारि वर्ग जानइ सब कोऊ ।
पुनि रघुबीरहिं भगति पिआरी । माया खलु नर्तकी बिचारी ।
भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया ॥

(रा. मा. ७।११५।२-५)

इसलिए सात नारियों को रखते हुए भगवान् की पराभक्ति को ज्ञानी महात्माओं की गोष्ठी में जाकर ग्रहण करना चाहिए ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

अन्वय :- **अहम् साम्नाम् बृहत्साम तथा छन्दसाम् गायत्री । अहम् मासानाम् मार्गशीर्षः, ऋतूनाम् कुसुमाकरः ।**

अर्थ :- मैं सामों में बृहत् साम तथा छन्दों में गायत्री हूँ । मासों में मार्गशीर्ष (अगहन) और ऋतुओं में वसन्त ऋतु हूँ ।

व्याख्या :- **'गीतिषु सामाख्या' (जैमिनी. न्या. मा.)**

वेद में जो गीत है उसे साम कहते हैं । वह सामदेव **'सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः'** ।। पात० महाभाष्य। सामवेद की सहस्त्र शाखायें हैं । द्राविडाम्नाय में भी तिरुवायमोल्ली (सहस्त्रगीत) को सामवेद कहते हैं । जैसे शरीर में सभी अंग प्रिय हैं परन्तु उनमें मस्तक का भाग विशेष प्रिय है उसी तरह सभी वेद भगवान् को प्रिय हैं, परन्तु उनमें पंचसंस्कार, भगवद् विषय होने से सामवेद भगवान् को विशेष प्रिय है । भगवान् पहले कह चुके हैं कि **'वेदानां सामवेदोऽस्मि'** (अ. १०।२२ गीता) फिर भी इसमें जो हजार शाखाएँ हैं उसमें बृहत् साम नाम की शाखा (जिसमें भगवान् के बड़प्पन का वर्णन है) यह अति प्रिय है । भगवान् स्वतः बृहत् हैं । इस शाखा में उनका बृहत्व यथार्थरूप से वर्णित है । यह कहकर भगवान् इस बात का संकेत करते हैं कि जो जैसा हो उसका वैसा ही वर्णन करने वाला श्रेष्ठ होता है । इसीलिए भगवान् कहते हैं कि जैसे वर्णों में ब्राह्मण उत्तम होता है तथा उसमें भी वेदपाठी ब्राह्मण बड़ा कहा जाता है वैसे श्रेष्ठ सामवेद में बृहत् नाम का जो साम है वह परम श्रेष्ठ है ।

गायत्री, बृहती, जगती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, उष्णिक्, अनुष्टुप्, इत्यादि छन्दों के अन्दर भगवान् कहते हैं कि २४ अक्षरों वाली गायत्री छन्द मैं हूँ । इसमें तीन पाद हैं-पहला - **'तत् सवितुर्वरेण्यं'** दूसरा-**'भर्गो देवस्य धीमहि'** तीसरा-**'धियो यो नः प्रचोदयात्'** जो अदन्त 'त' से प्रारम्भ और हलन्त 'त्' से समाप्त होता है । यही मन्त्र यज्ञोपवीत में दिया जाता है । यही मन्त्र द्विज (दो बार जिसका जन्म है) एक-माँ के गर्भ से, दूसरे-गायत्री से बनाता है । **'गायन्तं त्रायते इति गायत्री'** गानेवाले की जो रक्षा करे, वह गायत्री है । विश्वामित्र जी इस मन्त्र को जप कर श्रेष्ठ हो गये । इसलिए इसके ऋषि वे ही हैं । इसके द्वारा इतनी बड़ी शक्ति विश्वामित्र जी ने प्राप्त की कि हरिश्चन्द्र के पिता त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग में फेंक दिया और उधर से देवताओं द्वारा गिराये जाने पर बीच में ही रोक दिया । इन्हीं त्रिशंकु की लार से अपेया कर्मनाशा नदी निकली है । ऐसी महती शक्ति वाली गायत्री है । नारायणोपनिषद् में लिखा है -**'गायत्री छन्दसां माता'** गायत्री सभी छन्दों की माता है । देवीभागवत में कहा गया है-

गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता ।
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा ।। (२२।८।८६)

'गायत्री की उपासना को समस्त वेदों में नित्य कर्म (अनिवार्य) कहा है । इस गायत्री की उपासना के बिना ब्राह्मण का तो सब तरह से अधःपतन हो जाता है ।।८६।। संवर्तस्मृति में लिखा गया है-

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम् ।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत् । (२१८)

'गायत्री से बढ़कर पापकर्मों का शोधक दूसरा कोई उपाय नहीं है । प्रणव (ॐकार) सहित तीन महाव्याहृतियों से युक्त गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिए ।।२१८।।

इसलिए कहा गया है-

नास्ति गंगासमं तीर्थं न देवः केशवात्परः ।
गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति ।। (वृहद्योगियाज्ञवल्क्य १०।१०)

'गंगाजी के समान तीर्थ नहीं है, श्रीविष्णु भगवान् से बढ़कर देवता नहीं हैं और गायत्री से बढ़कर जपने योग्य मंत्र न हुआ न होगा ।।१०।।

जो बारह मास-१. मार्गशीर्ष, २. षौष, ३. माघ, ४. फाल्गुन, ५. चैत्र, ६. वैशाख, ७. ज्येष्ठ, ८. आषाढ़, ६. श्रावण, १०. भाद्रपद, ११. आश्विन, १२. कार्तिक हैं, इन बारह मासों में भगवान् कहते हैं कि मैं मार्गशीर्ष (अगहन) हूँ। भारत जिसका अर्थ है - भा=अर्थात् वेद के विज्ञान के प्रकाश में रत अर्थात् लीन । इस भारत के वैदिक काल में इस मास का नाम अग्रहायण था । जिसका अर्थ है अग्र=पहला, हायण=वर्ष, अर्थात् वर्ष का पहला मास है । वैदिककाल की प्रधानता द्योतन करने के लिए भगवान् यहाँ संकेत करते हैं । दूसरी बात यह है कि धान, जो प्रधान फसल है अगहन में ही होता है । पृथ्वी धान से समृद्धिशाली इसी मास में होती है और अन्न से ही प्राणियों का जीवन है । तीसरा कारण यह है कि सृष्टि का यज्ञ कारण है जैसा कि भगवान् गीता में कहते हैं-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। (अ. ३।१०)

'प्रजापति (भगवान् नारायण) ने सृष्टि के आदि में यज्ञ सहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा था कि तुम लोग यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होवो और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो ।।१०।। भगवान् की इस आज्ञा के अनुसार चलने वाले मुनि विश्वामित्र ने अगहन के कृष्णपक्ष में महायज्ञ किया जिसकी रक्षा भगवान् ने की-

'आपु रहे मख की रखवारी' (रा. मा. १।२०६।२)

इस यज्ञ के समान कोई यज्ञ नहीं हुआ । जैसा कि ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है-

'नाद्यापि दृश्यते शुभ्रं नीलवर्णं हि दृश्यते'

इस यज्ञ से इतना धूम निकला कि शून्याकाश आज तक सफेद नहीं दिखाई पड़ता । वह नीले रंग का धूएँ सा ही दिखाई देता है । इसी अगहन मास के शुक्लपक्ष में ही महाराज जनक ने धनुष-यज्ञ किया जिसमें जगज्जननी सीता का विवाह हुआ एवं विश्वविजयी परशुराम की पराजय हुई । महाराज दशरथ को जाति से बहिष्कृत कर दिया गया था । जिससे धनुष्य-यज्ञ का निमंत्रण इन्हें नहीं दिया गया था, परन्तु यज्ञ में रक्षा करने के फलस्वरूप इनके पुत्र श्रीरामजी राजा जनक के दामाद हुए और तीन अन्य पुत्रों का भी विवाह हुआ । इसलिए इस मास के समान कोई दूसरा मास नहीं है । श्रीमद्भागवत में आया है-

शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद्भर्तुरनुज्ञया ।
आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः ।। (६।१६।२)

पहले पहल मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष में स्त्री अपने पति की आज्ञा से सब कामनाओं को देनेवाले इस पुंसवन व्रत का आरम्भ करें ।।२।।

नन्दव्रज-कुमारियों ने इसी मास में भगवान् से, हविष्य खाकर व्रत करती हुई प्रार्थना की, जिससे भगवान् इन्हें दर्शन दिये । वाल्मीकीय रामायण में इसे संवत्सर का भूषण बतलाया गया है । इस प्रकार अन्यान्य मासों की अपेक्षा इसमें कई विशेषताएँ हैं । अत: भगवान् मासों में अपने को मार्गशीर्ष कह रहे हैं ।

भगवान् आगे बतलाते हैं कि छ: ऋतुओं-१. वसन्त, २. ग्रीष्म, ३. वर्षा, ४. शरद्, ५. हेमन्त और ६. शिशिर में ऋतुराज वसन्त मैं हूँ । यह ऋतुओं में कुसुम का आकर अर्थात् खजाना है । यह ऋतु केवल आर्यों की भूमि भारत में ही है । अन्य देशों-अमेरिका, इंगलैंड आदि में नहीं है । राजा जनक की फुलवारी में यह (वसन्त) ऋतु सर्वदा रहती थी-जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं **'जहँ वसन्त ऋतु रहे लुभाई'** । इस ऋतु के दो मास चैत और वैशाख हैं जिसमें चैत्रमास में शुक्ल नवमी को भगवान् राम ने जन्म लिया और वैशाख की शुक्ल नवमी को अम्बा सीता ने । गोस्वामी तुलसदास जी गीतावली में ऋतुराज वसन्त के समय की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कहते हैं -

ऋतुपति आये भलो बन्यो वन समाज । मानो भए हैं मदन महाराज आज ॥
सित छत्र सुमन बल्ली वितान । चामर समीर निरझर निसान ॥
मनो मधुमाधव दोउ अनिप धीर । वर विपुल विटप वानैत वीर ॥

(गीतावली २।४६)

इसीलिए भगवान् इसका श्रेष्ठता बताकर कहते हैं कि इसमें हमारी उपासना करना । इस प्रकार इसमें चार उपदेश देकर भगवान् बताते हैं कि चारो वर्णों को उपासना करने का अधिकार है ॥३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

अन्वय :- **अहम् छलयताम् द्यूतम्, तेजस्विनाम् तेज: अस्मि । अहम् जय:, व्यवसाय:, सत्त्ववताम् सत्त्वम् अस्मि ।**

अर्थ :- मैं छल करने वालों का जुआ (और) तेजस्वियों (यानी तेजधारियों) का तेज हूँ । मैं (जीतनेवालों की) विजय (निश्चित करने वालों) का निश्चय (या उद्योग करने वालों का व्यवसाय) और सत्त्वशीलों का सत्त्व हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि छल करनेवालों के जो छल के आश्रय हैं उनमें पाशे आदि से खेला जानेवाला जुआ मैं हूँ । युधिष्ठर ऐसे धर्मात्मा की बुद्धि पाशे के खेल से भ्रष्ट हो गयी । जिससे पाँच भाइयों की वस्तु द्रौपदी को स्वयं हार जाने के बावजूद भी उन्होंन दे दी । इसीके परिणामस्वरूप ही द्रौपदी को नग्न करने का कुत्सित प्रयास किया गया । वास्तव में भगवान् के साथ जीवात्मा को पाशा खेलना चाहिए । अगर परमात्मा हारेंगे तो वे हमारे हो जायेंगे और जीव हारा तो भगवान् का गुलाम बन जायेगा । दोनों में लाभ ही लाभ है ।

आगे भगवान् कहते हैं कि तेजस्वी प्राणियों में जो तेज है वह तेज मैं हूँ । तेज बिगड़ने पर स्वरूप नष्ट हो जाता है । सत्यव्रती हरिश्चन्द्र दरिद्र हो गये, परन्तु तेज से फिर अपने पूर्व के राज्य को पा गये । राजा शिबि तेज के कारण

ही नरपुंगव कहलाये । त्रिशंकु का भगवान् वसिष्ठ के अपमान से तेज नष्ट हो गया जिससे उसकी लार से अपेया कर्मनाशा नदी निकली, स्वयं चाण्डाल हो गये ।

भगवान् पहले षष्ठी का शब्द रूप बोलकर निर्धारण करते हैं, जैसे **'तेजः तेजस्विनामहम्'** । किन्तु यहाँ पर केवल **'जयोऽस्मि' 'व्यवसायोऽस्मि'** ही कहते हैं निर्धारण नहीं करते हैं; क्योंकि यहाँ भगवान् आक्षेप करके बता रहे हैं । जो जिसके बिना अनुपन्न होता है उसीसे उसका आक्षेप किया जाता है-

'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते'

यहाँ भगवान् के कहने का भाव यह है कि जय करने वालों की विजय मैं - **'जेतृणां जयः अस्मि'** । तथा उद्योग करनेवालों का मैं व्यवसाय हूँ - **'व्यवसायिनां व्यवसायः अस्मि'** । इसी तरह आगे भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत्त्वयुक्त पुरुषों का सत्त्व-महान् मनस्वीपन मैं हूँ, जिसके कायम रखने के लिए भगवान् की आज्ञा का पालन करना चाहिए । श्रुति-स्मृति ही भगवान् की आज्ञा है - **'श्रुति-स्मृती ममैवाज्ञे'** । आज्ञा का उल्लंघन करने वाले मेरे भक्त नहीं हैं - **'आज्ञाद्रोही न मद्भक्तः'** । लोक में भी देखा जाता है कि राजा के बनाये कानून का उल्लंघन करने वाला राजद्रोही कहा जाता है और उसे दंड मिलता है । फिर भगवान् के नियम का उल्लंघन करने पर कोई कैसे बच सकता है ? वे तो त्रिभुवन के मालिक हैं । भगवान् राघवेन्द्र भरी सभा में कहते हैं -

'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई । मम अनुसासन मानै जाई ॥ (रा. मा. ७।४२।५) ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥

अन्वय :- **(अहम्) वृष्णीनाम् वासुदेवः, पाण्डवानाम् धनञ्जयः अस्मि । अहम् मुनीनाम् व्यासः, कवीनाम् उशना कविः अपि (अस्मि)**

अर्थ :- मैं वृष्णियों में (वसुदेव पुत्र) वासुदेव (और) पाण्डवों में अर्जुन हूँ । मैं मुनियों में व्यास और कवियों में उशना कवि शुक्राचार्य भी हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि वृष्णिवंशियों में (वसुदेव पुत्र) वासुदेव मैं हूँ । वृष्णिवंश यदुवंश की शाखा है । जैसे सोमवंश की शाखा को तेजस्वी यदु से यदुवंश नाम पड़ा, जैसे भगवान् राम को रघुवंशी कहा जाता है-

रघुकुल रीति सदा चलि आई । (२।२७।४)
तथा **रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ ॥** (१।२३०।५)

आदि से गोस्वामी तुलसीदास ने कहा वैसे ही यदुवंश में प्रतापी वृष्णिवंश हुआ । वसुदेव के पुत्र बलराम से यहाँ तात्पर्य नहीं है । 'रथकाराधिकरण में वर्णित न्याय के अनुसार योग से रूढ़ि बलवान् मानो जाती है **'रूढिर्योगाद् बलीयसी ।'** वासुदेव शब्द शुद्ध श्रीकृष्ण में रूढ़ है । गीता के १८वें अध्याय में संजय कहते हैं -

'इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः' (गी. १८।७४)

'इस प्रकार मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण का और महात्मा अर्जुन का' संवाद सुना ।७४। भगवान् ने विदुर के यहाँ भोजन किया और दुर्योधन का राजसी भोग त्याग दिया । द्रौपदी के लिए वस्त्रावतार धारण किया । वे कोचवानी भी करते हैं । यह विशेषता बलराम में नहीं है । श्रीमद्भागवत में कहा गया है **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** इसलिए यहाँ वासुदेव शब्द का तात्पर्य भगवान् श्रीकृष्ण से ही है ।

पाँचों पाण्डवों-युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव में धन को जीतने वाला अर्जुन मैं हूँ । इनमें यह विशेषता है कि उत्तम कुरु के जीते गये धन को अपने उपयोग में न लाकर दीनों की सहायता और अच्छे कार्यों में लगा दिया । इससे ये शिक्षा देते हैं कि धन प्राप्त होने पर त्याग करना चाहिए और उसे अच्छे कार्यों में लगना चाहिए । अर्जुन में इतनी शान्ति थी कि पशुपति अस्त्र रखते हुए भी उसका प्रयोग इन्होंने नहीं किया, केवल स्वाभाविक लाठी तुल्य गाण्डीव को ही साथ में लिए रहे । इसीलिए भगवान् कहते हैं कि पाण्डवों में मैं धनंजय अर्जुन हूँ ।

मनन करके वेद-शास्त्र के अर्थ को यथार्थ रूप में समझने वाले मुनियों में मैं व्यास हूँ । भगवान् वेदव्यास ने वेदों के ध्यान से मथकर चार अध्याय-१. समन्वयाध्याय, २. विरोध-परिहाराध्याय ३. साधनाध्याय और ४. फलाध्याय रूपी सुधा को निकाला जिसको वेदान्तदर्शन कहते हैं । जो सबका कल्याण करने वाला है । महाभारत पुराण आदि अनेक ग्रन्थों के व्यासजी रचयिता हैं ।

अतिक्रान्तदर्शी विद्वानों का नाम कवि है । कवियों मैं उशना कवि (शुक्राचार्य) हूँ । ये अनेक अत्यन्त गुप्त और दुर्लभ मंत्रों के ज्ञाता महान् बुद्धिमान् और परम नीतिनिपुण थे । महर्षि भृगु के च्यवन आदि सात पुत्रों में ये प्रधान थे । ये अपने शिष्य के लिए प्राण न्योछावर करने को भी तैयार हो गये । देवताओं के पुरोहित बृहस्पति थे तथा दैत्यों में पुरोहित शुक्राचार्य । अपने शत्रु बृहस्पति के पुत्र कच को इन्होंने संजीवनी विद्या दी । इसलिए भगवान् कहते हैं कि कवियों में मैं शुक्राचार्य हूँ । इस प्रकार भगवान् उपदेश देते हैं कि धन पाने पर उसे यज्ञादि अच्छे कार्यों में देना चाहिए । विद्या प्राप्त होने पर शत्रु आवे तो उसे भी पढ़ाना चाहिए ।।३७।।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।।३८।।

अन्वय :- **दमयताम् दण्डः अस्मि जिगीषताम् नीतिः अस्मि, गुह्यानाम् मौनं च ज्ञानवताम् ज्ञानम् अहम् एव अस्मि ।**

अर्थ :- दण्ड देने वालों का दण्ड हूँ, विजय चाहने वालों की नीति हूँ, गुह्यों में मौन और ज्ञानवालों का ज्ञान मैं ही हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि नियम का अतिक्रमण करने पर दण्ड देनेवालों का दण्ड मैं हूँ । यदि वह न रहूँ तो सभी स्वतंत्र हो जायेंगे ।

भगवान् श्रीकृष्ण अपनी विभूति बताते हुए आगे अर्जुन से कहते हैं कि विजय की इच्छावालों को विजय की उपायभूत नीति मैं हूँ। इनके बिना विजय नहीं प्राप्त होती। गोपनीय वस्तु सम्बन्धी गोपन चेष्टाओं में मौन मैं हूँ। **'मौने कलहो नास्ति'** मौन में कलह नहीं होती। मन वाणी शरीर से मौन रहने से शान्ति रहती है।

ज्ञानवाले महापुरुष जो हैं उनमें ज्ञान मैं हूँ। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै. उ.) सत्य ज्ञान और अनन्त ब्रह्म हैं। भगवान् गीता में कहते हैं **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** गी. ७।१८। 'ज्ञानी भगवान् की आत्मा हैं ।।१८।। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं कि - 'ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा' मेरे हट जाने पर उसी तरह ज्ञानी नहीं रह जायेंगे जैसे धन न रहने पर धनी नहीं रहते। **'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्'** जिससे सत् असत् जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार भगवान् अपनी प्रधान विभूतियों को बताकर इनमें चिंतन करने का आदेश देते हैं ।।३८।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।।३९।।

अन्वय :- **अर्जुन ! सर्वभूतानाम् बीजम् च यत् तत् अपि अहम्, तत् चराचरम् भूतम् न अस्ति यत् मया विना स्यात् ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! सभी भूतों का बीज भी जो है वह भी मैं ही हूँ, ऐसा चर और अचर कोई भूत नहीं है, जो मेरे बिना हो।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि विभिन्न प्रकार की सब अवस्थाओं में स्थित सम्पूर्ण भूतों की उन-उन अवस्थाओं का जो व्यक्त या अव्यक्त बीज है वह मैं हूँ।

निरीश्वरवादी चाहे अयोग्य पुत्र की तरह ईश्वर को न मानें परन्तु भगवान् धनी-गरीब, बाल, युवा सभी के व्यक्ताव्यक्त बीज हैं। गीता के सातवें अध्याय के दसवें श्लोक में उन्हें सब भूतों का सनातन बीज **'बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्'** ।।१०।। कहकर और नवम अध्याय के अठारहवें श्लोक में 'अविनाशी बीज' **'बीजमव्ययम्'** कहकर बतलाया गया है। इसीलिए यहाँ भगवान् कहते हैं कि सारे भूतों का बीज मैं हूँ। **'कारणं ध्येयम्'** (श्रुति) आदि कारण का ध्यान करना चाहिए। बीज कारण को कहते हैं। ऐ अर्जुन ! ऐसा कोई चर-अचर नहीं है जो हमारे बिना हो क्योंकि आरम्भ में हमने कहा है कि **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** (गी. १०।२०) यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा के ४० वें अध्याय में कहा है कि **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्'** ।।१।। परमब्रह्म नारायण से यह जगत् व्याप्त है। **'अंतर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः'** अन्दर बाहर सब जगह नारायण व्याप्त हैं। संत नामदेव कहते हैं --

सबै घट रामु बोलै रामा बोलै, राम बिना को बोलै रे ।
असथावर जंगम कीट पतंगम घटि-घटि रामु समाना रे ।।

इसलिए कहीं दुराचरण करने का स्थान नहीं। यहाँ भगवान् कहते हैं कि यह नहीं समझना कि मैं विशेष विभूति में हूँ, मैं सर्वत्र हूँ। इसलिए किसी से विरोध न करना ।।३९।।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

अन्वय :- **परंतप ! मम दिव्यानाम् विभूतीनाम् अन्तः न अस्ति । एषः विभूतेः विस्तरः तु मया उद्देशतः प्रोक्तः ।**

अर्थ :- हे परंतप । मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है । यह विभूतियों का विस्तार तो मेरे द्वारा संक्षेप में कहा गया है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन को परंतप कहते हैं । पर अर्थात् शत्रुओं को तपानेवाला अर्जुन काम, क्रोध, लोभ, को त्याग करने वाला था । अर्जुन कहता है - **न काङ्क्षे विजयं** (१।४६ गी.) आदि तथा पशुपति अस्त्र रखते हुए भी उसका उसने प्रयोग नहीं किया । भगवान् कहते हैं- हे परंतप अर्जुन ! मेरी कल्याणमयी विभूतियों का अन्त नहीं है । यहाँ दिव्य का तात्पर्य मंगलमय है । दिव्य प्रकृति से भिन्न होता है, किन्तु भगवान् ने अर्जुन को दिव्यचक्षु देकर जिन विभूतियों पीपल, गंगा आदि को बताया ये प्रकृति से भिन्न नहीं हैं । इसलिए दिव्य से तात्पर्य कल्याण करनेवाली विभूति है । मेरी विभूतियों का अन्त शेष भी नहीं कह सकते हैं । श्रीयामुनाचार्य स्वामीजी कहते हैं कि-

'तत्त्वेन यस्य महिमार्णवशीकराणुः,
शक्यो न मातुमपि शर्वपितामहाद्यैः । (स्तो. १०)

अर्थात् जिन भगवान् के माहात्म्य रूपी समुद्र से निकले एक छोटे बूँद के कण का वर्णन 'इदं इत्थं' करके करना चाहें तो ब्रह्मा आदि भी नहीं कर सकते ॥१०॥ इसलिए अपनी विभूतियों का यह विस्तार तो मेरे द्वारा संक्षेप से कहा गया है । श्रीवसिष्ठजी कहते हैं **'महिमा अमित वेद नहिं जाना ।'** (रा. मा. ७।४७।५) इस प्रकार से शिक्षा देते हैं कि प्रभु की विभूतियों की यही इयत्ता न समझते हुये उनकी बनायी गयी विभूतियों में उपासना करनी चाहिये ॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

अन्वय :- **यत् यत् विभूतिमत् श्रीमत् वा उर्जितम् एव सत्त्वम्, तत् तत् मम तेजोंशसम्भवम् एव त्वम् अवगच्छ ।**

अर्थ :- जो जो विभूतिमान्, श्रीमान् या श्रीयुक्त अथवा उर्जित ही प्राणी या पदार्थ है, उस उस को मेरे ही तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ तू समझो ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो-जो प्राणी विभूति अर्थात् ऐश्वर्य से युक्त हैं अथवा श्री अर्थात् शोभावाले धन-धान्य से समृद्ध हैं या उर्जित अर्थात् कल्याणप्राप्ति के उद्योग में संलग्न हैं; उनको तू मेरे ही तेज अंश से उत्पन्न हुआ जाना । 'दूसरों को पराभूत करने के सामर्थ्य का नाम तेज है ।' यह तेज क्षत्रियों का स्वभावज कर्म है जैसा कि भगवान् ने गीता में आगे कहा है-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।गी. १८।४३॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और ईश्वर भाव ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ।।४३।।

आज जो लोग धनी, बुद्धिमान, तेजवान् हैं उन्होंने पूर्व जन्म में किए हुए भगवान् की भक्ति का फल प्राप्त किया है और जो विलासिता में पड़ भगवान् को भूल गये हैं उसका फल आगे पायेंगे । समृद्धि आदि उन्हें भगवान् के तेज के अंश से प्राप्त है । इसलिए उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता । जो निर्धन है उन्हें समझना चाहिए कि पूर्व जन्म में भगवान् की भक्ति से विमुखता का फल है । इस प्रकार भगवान् शिक्षा देते हैं कि विश्व के समस्त धन, बल, विद्या को भगवान् का तेज अंश समझ कर उनकी उपासना करनी चाहिए । जो उसे अपना समझते हैं अज्ञानता का परिचय देते हैं ।।४१।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।४२।।

अन्वय :- **अथवा अर्जुन ! तव एतेन बहुना ज्ञातेन किम् ? अहम् एकांशेन इदम् कृत्स्नम् जगत् विष्टभ्य स्थितः ।।**

अर्थ :- अथवा अर्जुन ! तुझे यह बहुत कुछ जानने से क्या (प्रयोजन) है ? मैं (अपने) एक अंशमात्र से इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करके स्थित हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में अर्जुन कहकर सात्विकता में विभूतियोग को समाप्त करते है। । इससे यह संकेत करते हैं कि जो सात्विक गुण विशिष्ट हैं, वे ही भगवान् की विभूति को समझेंगे । भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि बहुत ज्ञान से क्या प्रयोजन ? मैं अपने एक अंश से सम्पूर्ण जगत् के रूप में विद्यमान हूँ । जैसा कि भगवान् पराशर ने कहा है-

'यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता । (वि. पु. १।९।५३)

जिस भगवान् के ऐश्वर्य से दस हजारवें अंश के दस हजारवें अर्थात् दस करोड़वें अंश मात्र से यह सारी विश्व-शक्ति स्थित है ।।५३।।

श्रीमद्यामुनाचार्य भी कहते हैं **'कस्यायुतायुतशतैककलांशकांशे विश्वं विचित्रचिदचित् प्रविभागवृत्तम्'** (स्तोत्ररत्न १५) अर्थात् भगवान् के एक सूक्ष्मांश में विश्व की स्थिति है । श्रुति भी कहती है **'परास्यशक्ति र्विविधैव श्रूयते'** श्वेताश्व. उप. ६।८।। भगवान् की पराशक्ति अनेक प्रकार की सुनी जाती है ।।८।।४२।।

।। दसवाँ अध्याय समाप्त ।।

॥ श्रीः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ एकादशोऽध्यायः

॥ अर्जुन उवाच ॥

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच-मदनुग्रहाय अध्यात्मसंज्ञितम् यत् परमम् गुह्यम् वचः त्वया उक्तम् तेन मम अयम् मोहः विगतः ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले-मुझपर अनुग्रह यानी कृपा के लिए अध्यात्म नामक (या अध्यात्म विषयक) जो परम गुह्य वचन आपके द्वारा कहा गया, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् से कहते हैं कि अध्यात्म ज्ञानवाला जो द्वितीय अध्याय के १२वें श्लोक - **'न त्वेवाहं जातु नासम्'** यहाँ से लेकर ६वें अध्याय के ४६वें श्लोक - **'तस्माद्योगी भवार्जुन'** पर्यन्त परम गृह्य वचन आपने मुझपर अनुग्रह करके कहा । उससे मेरा देहासक्तात्म-विषयक सम्पूर्ण मोह नष्ट हो गया । भगवान् श्रीकृष्ण योग्य शिष्य पाकर रहस्य को छिपाते नहीं हैं । इसमें अर्जुन भगवान् के उपदेश को कृतज्ञता प्रकट करता है । इससे शिक्षा मिलती है कि शिष्य को आचार्य के पास जाकर संदेह को कहना चाहिए तथा आचार्यों को अपने उपदेश द्वारा शिष्य के शोक-मोह को दूर करना चाहिए जिससे जीव जो अपनी चेतनता, अमलता, सहज सुख-राशिता को भूल चुका है, वह उसे स्मरण हो जाय ॥१॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

अन्वय :- **कमलपत्राक्ष ! भूतानाम् भवाप्ययौ मया विस्तरशः त्वत्तः श्रुतौ च अव्ययम् माहात्म्यम् अपि ।**

अर्थ :- हे कमल-पत्र के सदृश विशाल नेत्रों वाले भगवन् ! भूतों की उत्पत्ति और क्षति या नाश की बातें दोनों को मैंने विस्तारपूर्वक आप से सुना, साथ ही आपके अविनाशी माहात्म्य को भी सुना ।

व्याख्या :- अर्जुन यहाँ विलक्षण मुद्रा से कह रहा है कि हे कमलपत्राक्ष ! अन्य स्थान पर पुण्डरीकाक्ष कमलनयन कहा परन्तु यहाँ पर कमल के पत्ते के समान गोला और विस्तृत नेत्रवाला भगवान् को सम्बोधन दे रहा है । इसमें यह विशेषता है कि कमलपत्र जल से निकलता है पर मूसलाधार वृष्टि होने पर भी उसका जल से सम्पर्क नहीं रहता । इससे यह संकेत कर रहा है कि हे भगवन् ! आप क्षत्रिय घर में रहे, क्षत्रिय का आपने कर्म भी किया, पर आप में जाति आदि का सम्पर्क नहीं है, आप समदृष्टि रखते हैं । अर्जुन कहता है कि हे विशालाक्ष ! समस्त प्राणियों की उत्पत्ति एवं प्रलय आपसे होते हैं । सातवें अध्याय के छठे श्लोक **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'** से प्रारम्भ कर ६वें अध्याय तक जो विस्तार से आपने कहा, उसे मैंने अच्छी तरह से सुन लिया तथा आपका अविनाशी माहात्म्य १०वें अध्याय के दूसरे श्लोक

"न मे विदुः सुरगणाः" से लेकर **"एकांशेन स्थितोजगत्"** समाप्ति-पर्यन्त, निस्सन्देह मेरे द्वारा विस्तारपूर्वक आपके मुखारविंद से सुना गया । इससे यह शिक्षा मिलती है कि गुरुजनों के यहाँ जाकर भगवान् का वैभव सुनने की चेष्टा करनी चाहिए ॥२॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

अन्वय :- **परमेश्वर ! त्वम् आत्मानम् यथा आत्थ एतत् एवम् । पुरुषोत्तम ! ते ऐश्वरं रूपम् द्रष्टुम् इच्छामि ।**

अर्थ :- हे परमेश्वर ! आप अपने को जैसा बतलाते हैं, यह ऐसा ही है । (इसलिए) हे पुरुषोत्तम ! आपका ऐश्वर-रूप (यानी ईश्वरीय रूप) मैं देखना चाहता हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन कहता है कि हे परमेश्वर ! आपने अपने विषय में जैसा उपदेश दिया है वैसे ही आप हैं इसमें सन्देह नहीं है । हे प्रभो ! भक्त को अपने मालिक से ही माँगना उचित है । मेरा एक मनोरथ है कि आपके ऐश्वर्ययुक्त रूप को जो कि ज्ञान, बल, शक्ति वीर्य और तेज आदि ईश्वरीय गुणों से युक्त है, देखना चाहता हूँ । हे पुरुषोत्तम ! सबका कल्याण करनेवाला विजातीय (विलक्षण) रूप जो आपका है उसका साक्षात्कार करना चाहता हूँ । इस अलौकिक स्वरूप को अर्जुन ने पहले कभी नहीं देखा था, इसलिए इसकी ऐसी इच्छा हुई, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दृश्यमान रूप से उसका विश्वास कम था । जैसे किसी के पास पारस आदि कोई अद्भुत वस्तु हो, उसके बतलाने पर सुननेवाले को पूर्ण विश्वास हो जाय परन्तु वह अद्भुत वस्तु पहले की देखी हुई न होने के कारण उसके मन में उसे देखने की इच्छा उत्पन्न हो जाय, वैसे ही अर्जुन के मन में इच्छा उत्पन्न हुई । उसे विश्वास था तभी देखने की इच्छा उसने प्रकट की । इससे यह बताता है कि शास्त्रीय जिज्ञासा गुरु से ही शान्त करा लेनी चाहिए ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

अन्वय :- **प्रभो ! यदि मन्यसे मया तत् द्रष्टुम् शक्यम् ततः योगेश्वर ! त्वम् आत्मानम् अव्ययम् मे दर्शय ।**

अर्थ :- हे प्रभो ! यदि आप मानते हों कि मेरे द्वारा (यानी अर्जुन द्वारा) वह रूप देखने में शक्य है (यानी सम्भव है) तो योगेश्वर ! आप अपने अव्यय रूप को मुझे पूर्णतया दिखाइये ।

व्याख्या :- अर्जुन कहता है कि हे प्रभो ! यदि आप यह समझते हों कि मुझसे यह रूप देखने में शक्य है तब हे योगेश्वर ! उस अपने ईश्वरीय रूप को पूर्णतया दिखलाइये । यहाँ योग शब्द चित्तवृत्ति निरोध का वाचक नहीं है बल्कि इससे तात्पर्य ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज आदि के जो आप मालिक हैं, इससे तात्पर्य है, क्योंकि **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (गी. ११।८) यह बात भगवान् आगे कहेंगे । इसलिए आचार्य के स्वरूपानुरूप प्रश्न करना चाहिए । गुरु के पास जाकर यह विज्ञापन करना चाहिए कि आप स्वयं मेरे कहे गये कार्य को जैसे उचित समझें वैसा करें, जैसा कि अर्जुन ने विज्ञापन किया ॥४॥

श्रीभगवानुवाच-

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।५।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-पार्थ ! अथ मे नानाविधानि च नानावर्णाकृतीनि शतशः सहस्रशः दिव्यानि रूपाणि पश्य ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले-हे पार्थ ! अब मेरे अनेक प्रकार के और तरह-तरह के आकार वाले सैकड़ों-हजारों (यानी अनन्त) दिव्य रूपों को देखो ।

व्याख्या :- अर्जुन ने जो विनीततापूर्वक विज्ञापन किया उसे सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण शिष्य की अभिलाषा पूर्ण करते हुए उसे पार्थ सम्बोधन देकर अपना गाढ़ा सम्बन्ध लगाते हैं । पृथा भगवान् श्रीकृष्ण की फूआ थी और भगवान् अर्जुन को पार्थ बतलाकर उसे अपना फुफेरा भाई घोषित करते हैं । मित्र चार प्रकार के होते हैं-

औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमागतम् ।

रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ।। (हितोपदे.)

भगवान् का अर्जुन से कृतसम्बन्ध है । अर्जुन का सम्बन्ध सुभद्रा एवं पृथा दोनों से है । सावधान करते हुए भगवान् कहते हैं कि मेरे रूप को देखो । यहाँ भगवान् रूप न माननेवालों का खण्डन करते हैं । यदि बिना आकार के बन्ध्या-पुत्र का ध्यान करने को कहा जाय तो कैसा होगा ? यदि ध्यान किया भी जाय तो जो वस्तु बन्ध्यापुत्रवत् है ही नहीं, उससे कुछ प्राप्त भी नहीं होगा । यदि भगवान् का आकार न होता तो अर्जुन के इस प्रश्न पर कि 'आपके ऐश्वर रूप को मैं देखना चाहता हूँ' भगवान् उसे गलत कह देते । यदि ईश्वर को रूप नहीं होता तो वह निरूप वायु और आकाश की तरह जड़ हो जायेगा, निरूप बन्ध्यापुत्र तुच्छ है । भगवान् रूप जो दिखाते हैं वह अप्राकृत, रज-वीर्य से रहित दिव्य है । भगवान् कहते हैं कि मेरे अनन्तरूप (सहस्रशः उपलक्षण है), नाना प्रकारवाले दिव्य अप्राकृत नाना वर्ण श्वेत-कृष्ण इत्यादि; नाना आकृति (मनुष्य, वानर, हाथी, बैल आदि अनेक आकार) वाले रूपों को देखो । इससे वे संकेत करते हैं कि मैं नाना रंग, नाना प्रकार का हूँ परन्तु सभी दिव्य हैं । इसलिये भगवान् के सभी अवतार दिव्य हैं, ईश्वर नहीं हैं, तथा ईश्वर हैं पर आकार ईश्वर का नहीं है- इन दोनों मतों को माननेवाले नास्तिक हैं, इसलिए दोनों से सावधान रहना चाहिए ।।५।।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।६।।

अन्वय :- **भारत ! आदित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ तथा मरुतः पश्य । बहूनि अदृष्टपूर्वाणि आश्चर्याणि पश्य ।**

अर्थ :- हे भरतवंशी अर्जुन ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों अश्विनी कुमारों और मरुतों को देखो । बहुत से पूर्व में न देखे हुए आश्चर्यों (आश्चर्यमय रूपों को) तू देखो

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन को भारत सम्बोधन देते हैं । 'भा' अर्थात् प्रकाश में रत जो हो उसे भारत कहते हैं । अर्जुन **'अमानित्वं अदंभित्वम्'** आदि प्रकाश से प्रोक्त ज्ञान में रत है, क्योंकि प्रारम्भ में राज्य को ठुकराता है । अपने उपर अत्याचार होने पर भी नीचानुसन्धान करता है । इस प्रकार गुरु के साथ-साथ शिष्य दोनों में भी यह गुण है, दोनों ज्ञान-सम्पन्न है । इसलिए भगवान् भारत का सम्बोधन देकर कहते हैं कि मेरे एक ही रूप में बारह आदित्यों (१०वें अध्याय के २१वें श्लोक में), आठ वसुओं (२३वें श्लोक), ग्यारह रुद्रों (२३वें), और उनचास मरुतों (२१वें श्लोक) को देखो । ये सभी हमारे शरीर में हैं, इसलिये मेरी पूजा से सबकी आराधना हो जाती है । इन चीजों को कहकर कहते हैं कि हम लोक में प्रत्यक्ष देखे हुए तथा शास्त्रों में सुने गये जो पदार्थ हैं जो पहले देखने में नहीं आये हैं ऐसे बहुत से अन्यान्य आश्चर्यों को तुम देखो । इससे भगवान् स्पष्ट कर देते हैं कि मेरा रूप है । अपनी इच्छा से जो भगवान् कोचवान थे वे ही ब्रह्म रूप बनाकर दिखाते हैं । ऐसे परमदयालु भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करे **'ध्यानं चिन्तापरपर्यायं'** कहा जाता है और नाम का स्मरण करे जिससे महापाप-राशि भस्म हो जाती है, जैसा कि श्रीवादारायण कहते हैं -

कृष्णेति द्व्यक्षरं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
भस्मीभवन्ति तस्याशु महापातकराशयः ॥ (पाण्डवगीता ५४)

अतएव अन्य व्यसनों की ही भाँति हमें भगवन्नामोच्चारण का भी व्यसन बना लेना चाहिये जिससे कि अनुक्षण किये जानेवाले हमारे पापों की राशि भी नष्ट होती रहे ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

अन्वय :- **गुडाकेश ! कृत्स्नम् सचराचरम् जगत् च यत् अन्यत् द्रष्टुम् इच्छसि, तत् इह मम देहे एकस्थम् अद्य पश्य ।**

अर्थ :- हे गुडाकेश ! सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् तथा जो कुछ इसके सिवाय भी देखना चाहते हो वह सब यहाँ मेरे शरीर में एकस्थ (एक देश में स्थित) आज देख लो ।

व्याख्या :- भगवान् अपने शिष्य को 'गुडाकेश सम्बोधन देते हैं । 'गुडाका' निद्रा को कहते हैं । उसके स्वामी को गुडाकेश कहते हैं । इससे यह भाव दिखलाते हैं कि निद्रा के जीते बिना अल्पायु हो जाओगे । रावण से बहुत बलिष्ट कुम्भकर्ण था पर निद्रा के वश में होने से एक दिन भी नहीं लड़ सका । इसलिये मानव को निद्रा के साथ-साथ तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता का भी त्याग कर देना चाहिये । तभी कल्याण होता है ।

निद्रातन्द्राभयं क्रोधम् आलस्यं दीर्घसूत्रता ।
षडेतत् हि त्यक्तव्यं संसारे भूतिमिच्छता ॥

आगे भगवान् कहते हैं कि गुडाकेश ! इस मेरे एक शरीर में समस्त स्थावर जंगम सहित समूचे जगत् को देख लो तथा और भी अपने और दूसरों के जय पराजय के दृश्यादि जो कुछ देखना चाहते हो उसे देखो । इससे संकेत करते हैं कि

कोई मानव दुनिया में समस्त लोक को नहीं दिखा सकता । वैज्ञानिकों ने अन्वेषण कर केवल खारे समुद्र का पता लगाया और उसका भी अन्त नहीं कर पाये । अभी तो इक्षु, सुरा, सर्पि, क्षीर, दधि और उदक् के समुद्र बाकी हैं । इसलिए परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण में मानव बुद्धि नहीं करनी चाहिये ।।७।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।८।।

अन्वय :- **तु अनेन एव स्वचक्षुषा माम् द्रष्टुम् न शक्यसे । ते दिव्यम् चक्षुः ददामि, मे ऐश्वरम् योगम् पश्य ।**

अर्थ :- परन्तु अपने इसी नेत्र से तू मुझे देखने में समर्थ नहीं है । (अतएव) मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ । तू मेरे ऐश्वर योग (और विभूति योग भी) देखो ।

व्याख्या :- अर्जुन ने भगवान् से ऐश्वर रूप दिखाने के लिए प्रार्थना की थी । भगवान् उसी रूप को दिखा रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि मैं अपने शरीर के एक देश में सम्पूर्ण जगत् को दिखलाऊँगा, परन्तु ये तुम्हारे प्राकृत नेत्र जो परिमित वस्तुओं को ग्रहण करने वाले हैं, इन नेत्रों के द्वारा तुम मेरे उस ऐश्वर रूप को देख नहीं सकते हो । तुम्हारे इन नेत्रों के आगे अज्ञान का पर्दा पड़ा है । अतः अत्यन्त सन्निकट होने पर भी मेरा वह स्वरूप तुमको व्याहत होने से नहीं दिखेगा । दूसरी बात यह है कि अत्यन्त तेजोमय उस रूप के प्रकाश में तुम्हारे इन नेत्रों की ज्योति काम नहीं कर सकती है । लोक में भी देखा जाता है कि सूर्य के सामने दीप अथवा अन्य ज्योतियों का कोई असर नहीं होता है । इसी तरह हमारे उस अनन्तानन्त प्रकाशमय रूप को तुम अपनी इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकते हो । हमारे उस दिव्य अनन्त रूप को देखने के लिए दिव्य चक्षुओं की आवश्यकता है । यद्यपि दिव्य नेत्र तुमको प्राप्त नहीं है फिर भी **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** समर्थ मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान कर रहा हूँ । जिससे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि कल्याणमय गुणों से युक्त मेरे ऐश्वर रूप को तुम देखो । भगवान् को सत्यस्वरूप ज्ञानवान् और त्रिविधपरिच्छेद-रहित बताते हुए श्रुति कहती है, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्तिरीयो. २।१) अतएव मेरे उस दिव्य अनन्त रूप को देखने के लिये मैं तुम्हें दिव्य (अप्राकृत) नेत्र देता हूँ । इस नेत्र से मेरे अनन्त ज्ञान आदि गुणों से युक्त असाधारण योग को और अनन्त विभूति-योग को देखो । अभीतक अर्जुन ने भगवान् के रूप को नहीं देखा था बल्कि कोचवान और साला के रूप को देखा था । जिसमें केवल मैत्री का ही भाव स्पष्ट था । अब भगवान् उसपर अहैतुकी दया करके उसे अपने विराट् स्वरूप को दिखा रहे हैं । इससे भगवान् शिक्षा देते हैं कि जब तत्त्वदर्शी महात्मा द्वारा आचार्य को जीव वरण करता है तो उनकी निर्हेतुक दया से भगवान् का रूप उसे दिखाई देता है । जैसे गाय को समझने के लिए जो उसे रखा हो, दूहा हो उसके पास जाना चाहिए । वैसे ही जो महाभागवत आचार्य की सेवा किये हों उनके द्वारा आचार्य का वरण करो तब मूलमन्त्र' हस्तगत होगा और भगवान् का दर्शन होगा नहीं तो भगवान् में तुम्हारी पाषाणमयी बुद्धि पाषाण और धातुमयी ही बनी रहेगी । यहाँ पर जो सज्जन कहते हैं कि परमात्मा विभु है उसका आकार नहीं है उस मत का भगवान् खण्डन करते हैं । महाकवि कालिदास रघुवंश के द्वितीय सर्ग के द्वितीय श्लोक में नन्दिनी के पीछे-पीछे चलती हुई सुदक्षिणा की उपमा श्रुति का अनुगमन करने वाली स्मृति से देते हुए कहते हैं **'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'** ।। श्रीमद्भगवद्गीता स्मृति है । अर्जुन कहता है **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (१८।७३) । भगवान् कहते हैं कि ऐश्वर रूप विभूतियोग रूप को देखो ।

भगवान् का यदि रूप नहीं होता तो भगवान् ऐसा नहीं कहते न अर्जुन ऐसा प्रश्न ही करता । श्रुति भी भगवान् के रूप का वर्णन करते हुए कहती है-

य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषोदृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः ।
तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवाक्षिणी तस्योदिति नाम ॥ (छा. १।६)

अर्थात् यह आदित्य मण्डल में जो हिरण्मय पुरुष दिखायी देता है उसके श्मश्रु और केश हिरण्मय हैं । उसके नख से लेकर सारे अंग सुवर्णमय हैं । उस परब्रह्म परमात्मा के विकसित लाल कमल के समान (मनोहर) नेत्र हैं । उस पर पुरुष का 'उत्' यह नाम है । इस तरह निराकारवादियों के मत का खण्डन हो जाता है । यहाँ भी अपने दिव्य रूप को देखने के लिए भगवान् अर्जुन को दिव्य नेत्र देते हैं, क्योंकि प्राकृत नेत्र उसे देखने में समर्थ नहीं है । श्रीकुलशेखर सूरि नेत्र के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों को भी भगवान् की सेवा करने की प्रेरणा देते हुये कहते हैं-

जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं ।
पाणिद्वन्द्व समर्चयाऽच्युतकथाः, श्रोत्रद्वय त्वं श्रृणु ॥
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छांघ्रियुग्मालयं ।
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्धन्नमाधोक्षजम् ॥

(मुकुन्दमाला-स्तोत्र, श्लोक १७)

अर्थात् हे जिह्वे ! भगवान् केशव के गुणगणों का कीर्तन करो । हे चित् ! तुम मुररिपु भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा करो; ऐ मेरे दोनों हाथ ! तुम श्रीधर भगवान् की पूजा करो; ऐ मेरे दोनों कान ! भगवान् अच्युत की कथाओं को सुनो । ऐ मेरे नेत्रद्वय ! भगवान् श्रीकृष्ण की माधुरीभरी मूर्ति का अवलोकन करो और ऐ मेरे दोनों पैर ! तुम भगवान् के मन्दिर में चलो । हे नासिके ! मुकुन्द भगवान् के पाद पर चढ़ी तुलसी को सूँघो । हे मस्तक ! अधोक्षज भगवान् को नमस्कार करो ॥१७॥

श्रीमद्यामुनाचार्य भगवान् के नित्य कैंकर्य की भावना में भर कर कहते हैं -

कदाहमैकान्तिकनित्यकिंकरः प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितम् ।
(आलवन्दार स्तो. श्लोक ४६)

अर्थात् कब मैं भगवान् का ऐकान्तिक नित्य किंकर बनकर अपने धन्य जीवन को मोदमय बनाऊँगा ॥४६॥

भगवान् आचार्य बनकर अर्जुन के व्याज से बारम्बार उपदेश देते हैं कि अपनी इन्द्रियों को प्राकृत विषयों की ओर से हटाकर उन्हें भगवद्विषय की ओर लगाओ और अपने में सदा नीचानुसंधान किया करो ॥८॥

॥ संजय उवाच ॥
एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

अन्वय :- **संजय उवाच - राजन् ! एवम् उक्त्वा ततः महायोगेश्वरः हरिः पार्थाय परमम् ऐश्वरम् रूपम् दर्शयामास ।**

अर्थ :- संजय बोला - हे राजा धृतराष्ट्र ! ऐसा कहकर तदुपरान्त महायोगेश्वर हरिने अर्जुन को अपना परम ऐश्वर रूप दिखलाया ।

व्याख्या :- सम अर्थात् अच्छी तरह से ग्यारह इन्द्रियों - ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, एक मन **'इन्द्रियाणि दशैकं च'** (गीता १३।५) को जो वश में रखे उसे संजय कहते हैं । यह संजय अपने राजा धृतराष्ट्र से दिल्ली में कह रहा है । यह सत्य पर है । भीष्म, द्रोणादि सत्य पर नहीं थे जिससे वे नष्ट हो गये । मैं यह कैसे देख सुन रहा हूँ ? इसका कारण यह है कि महात्मा व्यास को मैंने प्रसन्न किया था । गीता के १८वें अभ्यास के ७५वें श्लोक में वह कहता है-

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् । (गी. १८।७५)

भीष्म, द्रोण पर भगवान् प्रसन्न नहीं थे जिससे पहले ही वे मर गये । इसलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं-

मोतें संत अधिक करि लेखा । (रा. मा. ३।३५।३)

महात्मा सम्यक् इन्द्रियों की विजय करने वालों पर प्रसन्न होते हैं । अहिरावण ने देवता को प्रसन्न किया और महात्मा हनुमान को अप्रसन्न किया जिससे उसकी देवी भी नष्ट हो गयी और वह भी । संजय क्रूर धृतराष्ट्र से सभा में जिह्वा को दमन कर बहुमान पुरस्कार शब्द बोलते हुए कहता है-हे राजन् ! महान् लोगों को आश्चर्य हो जाय, ऐसे महायोगवाले ईश्वर श्रीहरि **'पापानि हरतीति हरिः'** जो बालघातिनी पाप-रत पूतनादि को सद्यः गति देनेवाले हैं, साक्षात् परब्रह्मरूप नारायण श्रीकृष्ण ने इतना कहकर अर्जुन को परम ऐश्वर्ययुक्त अपना रूप दिखलाया । जो सूर्य चन्द्र आदि के शासन करनेवाला रूप, विभूति योग है उसे जगदाधार श्रीकृष्ण भगवान् ने दिखलाया । परम स्वतन्त्र भगवान् आश्रितों के परतन्त्र हो जाते हैं और ठीक से उपासना करने पर कहते हैं कि मैं सबके (चर-अचर के) साथ भक्त का सेवक बन जाता हूँ, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं ।

मैं सेवक सचराचर, रूप राशि भगवन्त ॥ ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

(विशेषक श्लोक है - पूर्व श्लोक से कर्ता-महायोगेश्वरो हरिः और क्रिया 'दर्शयामास' लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- **अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम् अनेकदिव्याभरणम् दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।**

अर्थ :- (महायोगेश्वर हरि ने) ऐसा रूप-जो अनेक मुख और नेत्रवाला, अनेक अद्भुत दर्शन वाला (यानी दृश्य वाला) अनेक दिव्य अलंकार या आमरण वाला अनेक दिव्यास्त्रों को उठाये हुए था- (उसे अर्जुन को दिखलाया) ।

व्याख्या :- यह विशेषक श्लोक है । **'त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्'** तीन श्लोकों का अन्वय जिसमें हो उसको विशेषक कहते हैं । इसमें कर्ता एवं क्रिया नहीं हैं । इसका कर्ता इसके पूर्व के श्लोक में **'महायोगेश्वरो हरिः'** और क्रिया **'दर्शयामास'** है । संजय कहता है-कि अनेक मुख नेत्रों वाला, अनेक अद्‌भुत दर्शनों वाला, अनेक अप्राकृत भूषण कंकण, कटक कुण्डलादि संयुक्त, अनेक दिव्य शस्त्रों-शार्ङ्गधनुष, नन्दक खड्गादि को उठाये हुए (रूप) महायोगेश्वर परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् ने पृथा-सुनु अर्जुन को दिखाया । ऐश्वर रूप प्राकृत रूपों से विलक्षण है । ऋक्‌वेद में कहा है-**'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'** भक्त लोग जैसा रूप चाहते हैं परब्रह्म वैसा-वैसा रूप बना लेते हैं । भगवान् के अनेक भूषण उपनिषद् में वर्णित हैं । महानारायणोपनिषद् में कहा गया है **'केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी ।'** इनके शस्त्र बड़े भयंकर तथा दिव्य होते हैं और संग्राम में बड़े तीक्ष्ण होते हैं -

सामवेद में कहा गया है -

'भीमानि तेआयुधानि तिग्मानिधूर्वणे ।' अतः भगवान् के दिव्य रूप, गुण, चरित, धाम का अनुसंधान करना चाहिए ।।१०।।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।।११।।

अन्वय :- **दिव्यमालाम्बरधरम् दिव्यगन्धानुलेपनम्, सर्वाश्चर्यमयम् अनन्तं विश्वतोमुखम् देवम् ।**

(यहाँ भी महायोगेश्वरो हरिः कर्तृपद एवं दर्शयामास क्रियापद को आक्षिप्त कर अर्थ होगा)

अर्थ :- (महायोगेश्वर हरि ने) दिव्यमाला वस्त्र धारण किये हुए दिव्य गन्ध लेपन किये हुए, सब प्रकार से आश्चर्यमय सीमारहित, सब ओर मुखवाला, प्रकाशमय (यानी देव) रूप दिखलाया ।

व्याख्या :- इस विशेषक श्लोक का कर्ता **'महायोगेश्वरो हरिः'** तथा क्रिया **'दर्शयामास'** है । संजय कहता है कि परब्रह्म नारायण श्रीकृष्ण भगवान् ने, जिन्हें पाञ्चरात्र में नारायण भी कहा गया है-

एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः ।
नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरां पुरीम् ।।

अर्जुन को दिव्य माला वस्त्र धारण किये **'पीतकौशेयवाससम्'** (पाण्डव गीता ५) दिव्य गन्ध का लेप किये, सभी आश्चर्यमय, देव अर्थात् प्रकाशवाले रूप, देश-काल वस्तु के परिच्छेद से रहित अनन्तरूप और सम्पूर्ण दिशाओं की ओर वर्तमान मुखवाले **'सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'** (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१६) रूप को दिखलाया । यह कहकर इन्होंने बताया कि भगवान् का रूप है, पर वह विलक्षण रूप है ।।११।।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।।१२।।
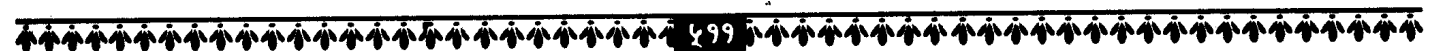
अन्वय :- **दिवि सूर्यसहस्रस्य भाः युगपद् उत्थिता सा तस्य महात्मनः भासः सदृशी यदि स्यात् ।**

अर्थ :- आकाश में हजारों सूर्यों की प्रभा एक साथ उदित हो जाय, वह (भी) उस महात्मा (भगवान् श्रीकृष्ण) के प्रकाश के समान यदि (यानी शायद) हो सके ।

व्याख्या :- भगवान् का रूप कैसा प्रकाशवाला है - इसका वर्णन करते हुए संजय कहता है कि आकाश में एक बार हजार सूर्यों की प्रभा उदित हो जाय तब **'आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावब्रह्मणोरपि'** इस कोश के अनुसार सर्वश्रेष्ठ आत्मा नाम शरीर जिसका है, ऐसे विश्वरूप धारण करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् के ऐश्वर रूप के तेज के समान शायद वह तेज हो । जिस प्रकाशरूपी केन्द्र से सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् में प्रकाश होता है । इसलिए ऋषियों ने बताया है - **'भीषोदेति सूर्यः'** (तैत्ति. उ. २।८) **यस्य भयात् 'सूर्यः तपति वातो वाति मृत्युर्धावति ।'** वह परब्रह्म है । गोस्वामी तुलसीदास जी उत्तरकाण्ड में लिखते हैं-

मरुत कोटि सत विपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास ।

(रा. मा. ७।९१ क) ।।१२।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।१३।।

अन्वय :- **तदा पाण्डवः देवदेवस्य तत्र शरीरे एकस्थम् अनेकधा प्रविभक्तम् कृत्स्नम् जगत् अपश्यत् ।**

अर्थ :- उस समय (या तब) पाण्डुनन्दन अर्जुन ने देवों के देव (भगवान् श्रीकृष्ण) के वहाँ शरीर में एक देश में स्थित अनेक प्रकार से विभक्त हुए समस्त जगत् को देखा ।

व्याख्या :- संजय यहाँ अर्जुन को पाण्डव कहता है । वेद में बताया गया है **'पितृदेवोभव'** (तैत्तरीयोपनिषद् शि. व.) पिता को देवता समझना चाहिये । पाण्डु अर्जुन के सामने नगण्य थे । अर्जुन ने गीता जैसा ज्ञान को प्राप्त किया, वह ब्रह्माण्ड को कँपानेवाला गांडीव धनुर्धारी था; परन्तु भगवान् उसे पाण्डव कह कर यह बताते हैं कि पिता के नाम से कीर्ति करनी चाहिये । **'पाण्डोरपत्यं पाण्डवः'** पाण्डु के अपत्य को पाण्डव कहते हैं । इससे संजय ने भारतीय संस्कृति को प्रकट किया । मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम भी कहते हैं **'कोसलेस दशरथ के जाये'** (रा. मा. ४।१।१) । भारत की भावी पीढ़ी पिता को भूल न जाय इसलिए भारतीय संस्कृति को जनाने के लिये संजय उसे पाण्डव कहते हैं । संजय कहते हैं कि पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने देवदेव जगदाधार, जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर में एक देश में अनेक प्रकार के स्थावर जंगम, पशु-पक्षी, अनेक विभागयुक्त ८४ लाख योनियों-गन्धर्व, यक्ष किन्नर आदि समस्त ब्रह्माण्ड के चराचर को देखा । भगवान् के एक ही पैर में संसार है - **'पादोस्यविश्वाभूतानि'** (यजु. ३१।३) देवताओं को पुत्र धन देनेवाले, प्रकाश करने वाले भगवान् ही हैं । भगवान् पहले १०वें अध्याय के ४२वें श्लोक में कह चुके हैं कि -

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् । (गी. १०।४२)

संजय यह शिक्षा देते हैं कि गुरुदेव श्रीकृष्ण भगवान् की कृपा से ही अर्जुन भगवान् के शरीर के एक देश में ही समस्त चराचर वस्तु, अयोध्या मथुरादि तीर्थ स्थलों को चलचित्र जैसा देख रहा है ।।१३।।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अन्वय :- **ततः सः विस्मयाविष्टः हृष्टरोमा धनंजयः देवं शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः अभाषत् ।**

अर्थ :- तदुपरान्त (यानी आश्चर्यमय रूप देखकर) वह विस्मय से भरा हुआ, रोमाञ्चित हुआ अर्जुन, देव यानी श्रीकृष्ण भगवान् को सिर से प्रणाम कर हाथ जोड़े हुए बोला ।

व्याख्या :- संजय अर्जुन को धनंजय संबोधित कर रहा है **'धनं जयति इति धनंजयः'** अर्जुन ने उत्तर कुरू के धन को जीतकर जनता की सेवा में लगा दिया । वह गुरु के मन्त्र से जो नमः है, 'नमः' शब्द में दो अक्षर हैं 'न' और 'म' न का अर्थ है नहीं और म का अर्थ है मेरा अर्थात् मेरा नहीं है, इसी भावना के अनुसार कार्य करता था । इससे उसने बताया है कि आलस्य त्यागकर धन का उपार्जन करना चाहिए और उसे जनता की सेवा, विद्यालय, अस्पताल इत्यादि निर्माण में लगाना चाहिए । संजय कहता है कि फिर वह अर्जुन भगवान् के शरीर के एक भाग में स्थावर जंगमात्मक जगत् को देखकर आश्चर्ययुक्त हो गया । इससे उसमें अति प्रेम उत्पन्न हुआ । भय और हर्ष दोनों अवस्थाओं में रोमांच हो जाता है, अर्थात् रोम खड़े हो जाते हैं । यहाँ अर्जुन के रोम प्रसन्नता से खड़े होते हैं । अर्जुन के रोम-रोम प्रसन्न होकर **'हृष्टरोमाः'** खड़े हो गये और उसने हनुमान्‌जी की भाँति हाथ जोड़ करके सिर पर रखते हुये फिर साष्टांग प्रणाम किया और बोला । यहाँ शिरसा शब्द उपलक्षण है जिसका तात्पर्य साष्टांग प्रणाम करके होगा । अंजलि मुद्रा से भगवत् भागवत के सामने प्रश्न करना चाहिये । जो लोग **'सकृत् कृतांजलिः'** भगवत् के सामने हो जाते हैं उनका अशुभ नष्ट हो जाता है **'मुष्णात्यशुभान्यशेषतः'** ।स्तोत्ररत्न।। अर्जुन दिल्लीश राजकुमार तथा धन, बल, विद्या में श्रेष्ठ होते हुए भी अति विनीत होकर बोलता है । इससे शिक्षा देता है कि जितना विनीत होवोगे उतना ही बड़े बनोगे ।।१४।।

॥ अर्जुन उवाच ॥
पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दीप्तान् ॥१५॥*

अन्वय :- **अर्जुन उवाच- देव ! तव देहे सर्वान् देवान् तथा भूतविशेषसंघान्, च कमलासनस्थम् ब्रह्माणम् ईशम् सर्वान् ऋषीन् च दीप्तान् उरगान् पश्यामि ।**

अर्थ :- हे देव ! आपके देह में सभी देवताओं को तथा प्राणियों के विभिन्न समूहों को कमलासन ब्रह्माजी को (उनकी गोद में) शिवजी को, सभी ऋषियों को और तेजस्वी सर्पों को मैं देख रहा हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन कहता है कि हे प्रभो ! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण (३३ कोटि) देवताओं को देख रहा हूँ तथा अण्डज, पिण्डज आदि विभिन्न प्रकार के ८४ लाख प्राणियों के समस्त समुदाय को तथा आपके नाभीह्रद से उत्पन्न कमल के आसन पर बैठे हुए ब्रह्मा को भी, (यहाँ कमलासन शब्द का अन्वय ब्रह्मा के साथ होता है । क्योंकि मीमांसा शस्त्र बतलाता है कि व्यवहित और सन्निहित अन्वय होने पर व्यावहारिक अन्वय करना अन्याय है । दूसरे बहुव्रीहि समास करने

* अन्यत्र 'दीप्तान्' की जगह 'दिव्यान्' पाठ भी है ।

पर कमलासन शब्द का अर्थ होगा कि **'कमलस्यासनमस्ति यस्य असौ'** अर्थात् कमल का आसन है जिसका ऐसे ब्रह्माजी को) मैं आपके शरीर में देखता हूँ और उनकी गोद में बैठे हुये ईश नाम वाले रुद्र को अर्थात् कमलासन ब्रह्मा की गोद में स्थित रुद्र को तथा देवर्षि नारद प्रभृति समस्त ऋषियों को और वासुकि तक्षक आदि तेजस्वी सर्पों को देख रहा हूँ ।

अर्जुन यह कहकर शिक्षा देता है कि गुरु की कृपा से समस्त ब्रह्माण्ड को देख सकते हो । बिना आचार्य की कृपा के भगवद् दर्शन नहीं होगा, चाहे भगवान् पास में ही क्यों न खड़े हों । यहाँ एक घटना उल्लेखनीय है । वाराणसी जिले में जाल्हूपुर नामक ग्राम में एक सिद्ध महात्मा रहते थे जो कच्चाबाबा के नाम से प्रसिद्ध थे । एक बार वे अपने शिष्यों के साथ बैठे बात कर रहे थे । उसी समय रामनगर का राजा पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से इनके पास चला । श्रीकच्चाबाबा यह जानकर अपने शिष्यों से कहने लगे कि आज रामनगर का राजा पुत्र की प्राप्ति की इच्छा से हमारे यहाँ आ रहा है परन्तु उसको पुत्र भी नहीं होगा और मेरा दर्शन भी उसे नहीं हो सकता । इसके बाद राम नगर का राजा आया और वहीं बैठे हुए कच्चा बाबा को नहीं देख सका । अन्त में सबसे पूछा कि कच्चा बाबा कहाँ हैं ? सब लोगों ने बताया भी कि ये तो आपके सामने ही बैठे हैं, फिर भी वह उन्हें देख नहीं सका । इससे पता चलता है कि मनोकामना की सिद्धि कल्याण एवं भगवद् दर्शन के हेतु आचार्य की कृपा आवश्यक है । बिना उसके ये सब नहीं प्राप्त हो सकते हैं ।।१५।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।।१६।।

अन्वय :- **त्वाम् अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् सर्वतः अनन्तरूपम् पश्यामि । (हे) विश्वेश्वर विश्वरूप ! पुनः तव न अन्तम् न मध्यम् न आदिम् पश्यामि ।**

अर्थ :- आपको अनेक बाहु, उदर मुखनेत्रों से युक्त, सब ओर से अनन्त रूपवाला देख रहा हूँ । हे विश्वेश्वर ! (यानी जगत् के स्वामी) हे विश्वरूप ! फिर आपका न अन्त, न मध्य, न आदि को देख पाता हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् को दो सम्बोधन विश्वेश्वर और विश्वरूप देते हुये कहता है कि हे भगवन् ! मैं आपके अनेक बाहू, उदर, मुख और नेत्र से युक्त रूप को देख रहा हूँ किन्तु न आपके आदि को देख रहा हूँ और न मध्य और अन्त को ही । यहाँ पर अर्जुन भगवान् को विश्वेश्वर शब्द से सम्बोधित कर उन्हें जगत् का नियन्ता बतलाता है कि सारा जगत् भगवान् का शरीर है । श्रीरामायण में महर्षि वाल्मीकि जी भी कहते हैं कि **'जगत् सर्व शरीरं ते'** अर्थात् हे भगवन् ! सारा जगत् आपका शरीर है । दुराग्रही व्यक्ति के लिये अर्जुन संकेत करता है कि भगवान् का अनेक बाहू, उदर आदि सम्पन्न रूप है । ये अपने ज्ञान द्वारा प्राकृत रूप भी बनाते हैं । भक्तों की कामना की पूर्ति अथवा भक्तों के कार्य जिस तरह से होता है, भगवान् उसी रूप को बना लेते हैं । जैसे ऐश्वर रूप से उन्होंने अर्जुन की कामना पूर्ण की और वस्त्र रूप से द्रौपदी का कार्य किया । भगवान् भक्तों के कार्यों को सम्पादित करने के लिए तदनुकूल रूप धारण कर लिया करते हैं । श्रीमद्यामुनाचार्य स्वामी जी भी स्तोत्ररत्न में कहते हैं -

मायाबलेन भवतापि निगूह्यमानं ।
पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावा: ॥१९॥

अर्थात् हे भगवन् ! यद्यपि आप अपनी माया के बल से अपने रूप को तिरोहित कर लिया करते हैं फिर भी आपके अनन्य भक्त आपके उस हृदयावर्जक रूप को सदा ही ध्यानयोग के द्वारा देख लिया करते हैं ॥१६॥

वेद में भगवान् के रूप का स्पष्ट वर्णन है । अर्जुन ने भी भगवान् के रूप को देखा । श्रुतियों तथा स्मृतियों ने भी भगवान् के रूप का वर्णन किया है । इसलिए कहीं निराकार वर्णन देखकर यह नहीं समझ जाना चाहिये कि भगवान् का आकार है ही नहीं, क्योंकि ऐसा मान लेने पर वेद भगवान् में प्रमत्तप्रलाप दोष लगेगा । इसलिये निराकार का अर्थ **प्रकृति सम्बन्धी रज-वीर्य जन्य आकार से रहित है** । इनका रूप **निज इच्छा निर्मित** होता है । तुरन्त जैसा चाहते हैं वैसा बना लेते हैं । जैसे माता कौशल्या के रूप बदलने के लिये कहने पर अपना रूप बदल लेते हैं । रासलीला में अनन्त रूप धारण करते हैं । महाभारत के युद्ध में अर्जुन का कोचवान बनते हैं । अर्जुन का अपना ऐश्वर रूप दिखाते हैं और पुन: द्विभुज बन जाते हैं । वे लोग भी अज्ञानता का परिचय देते हैं जो ब्रह्म में द्वैत बुद्धि करके कहते हैं कि निराकार ब्रह्म बड़ा और साकार ब्रह्म छोटा है । इन्हीं के लिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं, **द्वैत कि बिनु अज्ञान'** (रा. मा. ७।१११।ख) ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

अन्वय :- **तेजोराशिम् सर्वतो दीप्तिमन्तम् समन्तात् दुर्निरीक्ष्यम् दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयम् त्वां किरीटिनम् गदिनम् च चक्रिणम् पश्यामि ॥**

अर्थ :- तेज के पुञ्ज, सब ओर से देदीप्यमान, सब ओर से कठिनाई से देखे जाने योग्य, प्रज्वलित अग्नि तथा सूर्यकी-सी प्रभावाले अप्रमेयस्वरूप आपको मैं किरीट, गदा और चक्रधारण किये देखता हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् के द्वारा प्रदत्त अपूर्व नेत्र से देखता हुआ अर्जुन कहता है कि चारो तरफ तेजपुञ्ज से देदीप्यमान सब ओर से देखे जाने में बहुत कठिन, लहकते हुए देदीप्यमान अग्नि और सूर्य के समान तेजवाले, अप्रमेयस्वरूप तथा मस्तक पर मणिमय मुकुट धारण किये हुए नीचे की दाहिनी भुजा में कौमोदकी गदा धारण किये हुए, नीचे की बायीं भुजा में कोटि भास्कर तुल्य तेजवाले सुदर्शन चक्र को धारण करनेवाले 'चकार' से **'अनुक्त समुच्चयार्थक'** ऊपर की दाहिनी भुजा में पांचजन्य शंख को धारण किये आपको मैं देख रहा हूँ । भगवान् का यह साक्षात् ऐश्वर रूप अर्जुन ने श्रीकृष्ण की दया से देखा । अर्जुन को भगवान् ने ज्ञानांजन देकर अपना रूप दिखाया । गुरु के ज्ञानांजन लगाने से ही शिष्य गुप्त रूप को भी देख लेता है । गोस्वामी तुलसीदास जी 'रामचरित मानस' के बालकाण्ड के आदि में कहते हैं-

जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान ।
कौतुक देखत सैल बन, भूतल भूरि निधान ॥१।१॥

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन ।

नयन अमिअ दृग दोष विभंजन ॥१।१।१॥

सूझहिं रामचरित मनि मानिक ।

गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥१।८॥

इसलिए गुरु की शरण में जाकर ज्ञानांजन लगाना चाहिए, जिससे अज्ञानरूपी अंधकार दूर हो जाय ॥१७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

अन्वय :- **त्वम् वेदितव्यम् परमम् अक्षरम् त्वम् अस्य विश्वस्य परम् निधानम्, त्वम् अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता, त्वम् सनातनः पुरुषः, (इति) मे मतः ।**

अर्थ :- आपही जानने योग्य परम अक्षर हैं, आप इस विश्व के परम निधान (यानी परम आश्रय) हैं, आप अव्यय यानी अविनाशी हैं, शाश्वत धर्म के रक्षक हैं, (और) सनातन पुरुष हैं (ऐसा) मेरा मत है ।

व्याख्या :- दो विद्यायें जानने योग्य हैं **'द्वे विद्ये वेदितव्ये'** (मुण्डकोपनिषद् १।१।४) **'परा चापरा च, 'परा यया तदक्षरमधिगम्यते'** ॥५॥ परा वह है जिससे यह श्रेष्ठ अक्षर पुरुष जाना जाता है ॥५॥ अर्जुन कहता है कि मुण्डकोपनिषद् में जो जानने योग्य परम अक्षर कहा गया है वह जानने योग्य परम सबसे बड़ा अक्षर आपही हैं । यहाँ पर जो विवर्त के गर्त में पड़कर कहते हैं कि श्रीकृष्ण से भिन्न ब्रह्म परम अक्षर है उनका अर्जुन खण्डन करता है ।

इस विश्व के परम आधार रूप आपही हैं । गीता में भगवान् ने **'निवासः शरणम्'** गी ६।१८॥ कहा है । अर्जुन यहाँ आधार आधेय भाव को बताता है । आधार के बिना आधेय नहीं रह सकता है । यह जो आधेय दृश्यमान स्थावर, जंगमात्मक संसार है उसका अन्तिम श्रेष्ठ आधार आपही हैं । अन्यत्र बताया गया है-

पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि ! त्वं विष्णुना धृता ।

विष्णु श्रीकृष्ण का ही नाम है । यदि आधार आप न हों तो आधेय नष्ट हो जायेगा । आपके नाम, रूप, वैभव, स्वरूप का नाश नहीं होता, क्योंकि आप अविनाशी हैं । आपही श्रीराम, कृष्णादि अवतार धारण करके नित्य वैदिकधर्म की रक्षा किया करते हैं । इस कार्य में आप सूअर भी बनते हैं और लज्जा नहीं करते । वेद में वर्णित **'सत्यं वद'** आदि को भगवान् स्वयं करके दिखाते हैं, केवल कहते ही नहीं । चारो वेदों में जो पुरुष सूक्त है उससे वाच्य 'पुरुष' शब्द से आपको ही कहा गया है । आपही सनातन पुरुष हैं । मैं भी इसी प्रकार से जानता हूँ । इस प्रकार अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को परतत्त्व बताता है । अर्जुन ने गुरु श्रीकृष्ण की दया से यह यथार्थ तत्त्व समझा, इसलिए जबतक गुरुजनों की निर्हेतुक दया नहीं होती, तबतक यथार्थ तत्त्व को नहीं समझा जा सकता ॥१८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य- मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

अन्वय :- **त्वाम् अनादिमध्यान्तम् अनन्तवीर्यम् अनन्तबाहुम्, शशिसूर्यनेत्रम् दीप्तहुताशवक्त्रम् स्वतेजसा इदम् विश्वम् तपन्तम् पश्यामि ।**

अर्थ :- (मैं) आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित अनन्त वीर्य (यानी समर्थ्य) से युक्त, अनन्त भुजाओं से युक्त, चन्द्र-सूर्य के समान नेत्रवाले, प्रज्वलित अग्नि के समान मुखवाले (और) अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए देख रहा हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन कह रहा है कि आप आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं । वीर्य शब्द उपलक्षण मात्र है । इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त तेज, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त वीर्य से युक्त हैं । तभी आप **नख पर गिरिवर धारायण** कहलाये और रास-क्रीड़ा में ६ मास की रात्रि आपने बना दी तथा बिना सहायक के खरदूषण को मारा । अनन्तबाहु, यह वाक्य उपलक्षण है, क्योंकि पहले कह चुके हैं -**'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्'** (११।१६) इसलिए इसका अभिप्राय है कि अनन्त बाहु, उदर, पैर और मुख से युक्त आप हैं तथा चन्द्रमा के समान शीतलता और सूर्य के समान ताप देने वाले आपके अनन्त नेत्र हैं । यहाँ शशि और सूर्य दो नेत्र अर्थ करना उपयुक्त नहीं है । वेद में **'सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः'** (यजुर्वे. ३१।१) बताया गया है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में **'सर्वतोक्षिशिरोमुखम्'** (श्वेता. उ. ३।१६) कहा गया है । आगे कहते भी हैं कि महात्माओं के लिए शीतल **'नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः'** (११।३६) और दुष्टों के प्रति सूर्य के समान सन्ताप देने वाले हैं - **'रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति'** (११।३६) । महाप्रलय काल की कालाग्नि की प्रदीप ज्वाला के समान आपके मुख से अग्नि निकल रही है । दूसरों को पराभूत करने के सामर्थ्य का नाम तेज है, सो अपने तेज से स्थावर, जंगमात्मक संसार को आप तपा रहे हैं । मैं जो समझता था कि भिन्न-भिन्न देवता उत्पत्ति, पालन, संहार करनेवाले हैं, वह अब समझा कि आपही हैं । इसलिए गुरुजनों की दया से ही यथार्थ तत्त्व समझा जा सकता ।।१६।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।२०।।

अन्वय :- **महात्मन् ! हि द्यावापृथिव्योः इदम् अन्तरम् च सर्वाः दिशः एकेन त्वया व्याप्तम्, (अतः) तव इदम् अद्भुतम् उग्रम् रूपम् दृष्ट्वा लोकत्रयम् प्रव्यथितम् ।**

अर्थ :- हे महात्मन् ! चूँकि द्युलोक और पृथ्वी का यह मध्य भाग, तथैव सारी दिशाएँ एक आपसे ही व्याप्त हैं ! (अतः) आपके इस अद्भुत उग्र रूप को देखकर तीनों लोक व्यथित (यानी व्याकुल) हो रहे हैं ।

व्याख्या :- भगवान् को अर्जुन यहाँ महात्मन् सम्बोधन देता है । यहाँ आत्मा मनवाचक है । जिसकी मनोवृत्ति असीम हो उसे महात्मा कहते हैं । 'द्यु' शब्द ऊपर के लोकों का तथा पृथ्वी शब्द नीचे के लोकों का वाचक है । अर्जुन कहता है, हे महात्मन् ! द्युलोक और पृथ्वी के बीच का जो आकाश है, ऐसा यह समस्त आकाश और दिशा-विदिशा में एक आपही सर्वत्र व्यापक हैं । नारायणोपनिषद् में कहा गया है-

ऊर्ध्वञ्च नारायणः, अधश्च नारायणः,

दिशश्च नारायणः, विदिशश्च नारायणः,
अंतर्बहिश्च यत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥२॥

'लोकृदर्शने' धातु से लोक शब्द बनता है जिसका अर्थ है देखनेवाला । ये तीन प्रकार के होते हैं - १. अनुकूल, २. प्रतिकूल, ३. मध्यस्थ । यहाँ तीनों लोकों से तात्पर्य नहीं है क्योंकि वे जड़ हैं । यहाँ का अभिप्राय यह है कि युद्ध देखने के लिये ये तीन प्रकार के अनुकूल, प्रतिकूल और मध्यस्थ जो आये हैं वे सबके सब आपके उग्र भयंकर रूप को देखकर अति पीड़ित हो रहे हैं । यहाँ यह शंका है कि ये लोग कैसे देख रहे हैं ? जब कि भगवान् ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी है । इसका समाधान यह है कि अर्जुन के साथ-साथ उन लोगों को भगवान् तत्क्षण दिव्य नेत्र प्रदान किये थे, ताकि शास्त्र में धूर्तता न सिद्ध हो और शिष्य अर्जुन को लोग झूठा न कहें । इसलिये दर्शकों को भी दिव्य नेत्र देकर सत्य वक्तृत्व के लिये मध्यस्थ गवाह उन्होंने बनाया । अर्जुन यह शिक्षा देते हैं कि गुरुजनों के यहाँ विलक्षणता देखने पर घबड़ाना नहीं चाहिए । जैसे सिंह के बच्चे उसकी दहाड़ एवं पंजों से नहीं डरते, वैसे अर्जुन नहीं डरा ॥२०॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति, केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः, स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अन्वय :- **हि अमी सुरसंघाः त्वाम् विशन्ति, केचित् भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति, महर्षिसिद्धसंघाः स्वस्ति इति उक्त्वा पुष्कलाभिः स्तुतिभिः त्वाम् स्तुवन्ति ।**

अर्थ :- निश्चय ही वे सब देववृन्द (यानी देवताओं का समूह) आप में समा रहे हैं । कितने भयभीत हुए हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं । महर्षियों और सिद्धों के संघ 'कल्याण हो' ऐसा कहकर (आपके अनुरूप) विशद स्तुतियों से आपका स्तवन कर रहे हैं ।

व्याख्या :- गीता में कहा गया है-

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥१८।४०॥

पृथ्वी के (मनुष्यों में) या द्युलोक के भीतर देवताओं में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से छूटा हुआ हो ॥४०॥ देवता भी सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी होते हैं । इसलिये भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाले देवता श्रेष्ठ देवता हैं ।

जिन्ह के रही भावना जैसी । प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥ (रा. मा. १।२४०।४)

के अनुसार ही अर्जुन कहता है कि सात्त्विक अनन्त, गरुड़ प्रभृति देव समुदाय जगदाधार विश्वरूप आपको देख हर्षित चित्त से आपके पास आ रहे हैं । इसलिए यहाँ श्रेष्ठ देवताओं के हर्षित होने से तात्पर्य है । उनमें से राजसी ये इन्द्रादि प्रभृति आपके भयानक और आश्चर्यजनक रूप को देखकर भयभीत हुए आपके नाम, रूप, गुण, वैभव जिसमें प्रतिपादन किया गया है ऐसी स्तुति के वचनों को वे लोग हाथ जोड़कर उच्चारण कर रहे हैं । ब्रह्म, जीव, माया तत्त्व को यथार्थ

समझने वाले भृग्वादि महर्षि तथा कपिलादि सिद्ध लोग "विश्व का कल्याण हो" ऐसा कह कर आपके स्वरूपानुरूप बड़ी विस्तृत स्तुतियों से आप की स्तुति कह रहे है। । इससे अर्जुन यह बताता है कि अन्य देवता को भगवान् के समान समझ कर उपासना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि श्रीवादरायण कहते हैं **'यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः'** (श्रीमद्भा. १२।१३।१) अर्थात् ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र मरुत् आदि देवता भी जिनकी दिव्य स्तुतियाँ बनाकर स्तुति करते हैं । इसलिये देवतान्तर आराधना करते समय उनके आराधक को भगवान् श्रीकृष्ण की अराधना अवश्य करनी चाहिए । दूसरे यदि इन स्तुतियों से हमें शीघ्र फल प्राप्ति न हो तो घबड़ाना नहीं चाहिए क्योंकि जिनकी स्तुति बनायी होती है उन्हें शीघ्र फल मिलता है, क्योंकि वे बहुत परिश्रम और समय लगा कर उसे बनाते हैं फिर भी उन्हें देर लगती है । महाराज दशरथ ने कितना यज्ञदान किया पर वृद्धावस्था में उन्हें पुत्र हुआ । हमलोगों की प्राकृत स्तुति होती है । इसलिए स्तुति करने पर यदि देर लगे कामना पूर्ण होने में तो घबड़ाना नहीं चाहिए ।।२१।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।२२।

अन्वय :- **ये रुद्रादित्याः वसवः साध्या विश्वे च अश्विनौ चः मरुतः च उष्मपाः च गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः सर्वे एव विस्मिताः त्वाम् वीक्षन्ते ।**

अर्थ :- जो रुद्रगण, आदित्यगण, आठ वसु (बारह) साध्यगण (दस) विश्वेदेव और (दो) अश्विनी कुमार तथा (उन्चास) मरुद्गण और उष्मपा (पितृगण) गन्धर्व, यक्ष, असुर एवं सिद्धों के समूह हैं-वे सब ही विस्मित हुए आपको देख रहे हैं ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के ऐश्वर रूप को देखकर कह रहा है कि ग्यारह रुद्र (गी. १०।२३) बारह आदित्य, आठ वसु (गी. १०।२३), १२ साध्य देवता जो निम्नलिखित हैं -

मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान् ।।
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा ।
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे ।। (वायुपुराण ६६।१५।१६)

दस विश्वेदेव जो निम्नलिखित हैं -

क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा ।
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश ।। (वायुपुराण ६६।३२)

दोनों अश्विनी कुमार, उनचास मरुत्गण, उष्मपा **'उष्मभागा हि पितरः'** (यजु. वेद १।३।१०।६।१।३) अर्थात् पितृगण (देखें गी. १०।२६ की व्याख्या) गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समूह, ये सब के सब ही विस्मत होकर आपको देख रहे हैं । यानी सभी भगवान् द्वारा अर्जुन के साथ ही में दिव्य दृष्टि पाये हैं, जिससे देख रहे हैं । कोई अर्जुन को मिथ्याभाषी न कहे इसलिए भगवान् अन्य इन सबको भी अपना रूप दिखा रहे हैं, ताकि ये साक्षी रहें ।।२२।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं, महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं, दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ।।२३।।

अन्वय :- **महाबाहो ! बहुवक्त्रनेत्रम् बहुबाहूरुपादम् बहूदरम् बहुदंष्ट्राकरालम् ते महत् रूपम् दृष्ट्वा लोकाः तथा अहम् प्रव्यथिताः ।**

अर्थ :- हे महाबाहो ! बहुत मुख-नेत्रोंवाले, बहुत भुजा, जंघा और पैरोंवाले बहुत उदरों वाले और बहुतसी दाढ़ों (यानी दाँत) के कारण विकराल आपके महान् रूप (यानी विराट् रूप) को देखकर सबलोक और मैं (सभी के सभी) अत्यंत व्यथित हो रहे हैं ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् को महाबाहो कह रहा है । भगवान् की भुजा बहुत लम्बी है । इससे गजादि को बचाये । सामुद्रिक विद्या से जिसकी भुजा ठेहुन से नीचे हो वह महाबाहु कहा जाता है । महान् भुजा जिसकी हो उसे महाबाहु कहते हैं, जिससे वह भगवत् भागवत आचार्य की सेवा और आर्तों की सहायता करता है । अर्जुन कहता है, हे महाबाहो ! बहुत मुख, नेत्रोंवाले, बहुत भुजा, जाँघ और पैरोंवाले और बहुत उदरवाले और बहुत सी दाढ़ों के कारण भयानक आकार वाले आपके इस रूप को देखकर संग्राम में दर्शन करने आये अनुकूल, प्रतिकूल और तटस्थ तीनों प्रकार के लोग पीड़ित हो रहे हैं । अब मैं भी पीड़ित हो रहा हूँ । यहाँ बहु शब्द अनन्त का द्योतक है-महाभारत में कहा गया है -

नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे ।

अर्जुन समझता था कि लावण्य भरे भगवान् के रूप को देखूँगा पर उसने यह भयानक रूप देखा । इसलिए बताता है कि एक बार ही नहीं 'शनैः शनैः' उपासना प्रारम्भ करे ।।२३।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।।२४।।

अन्वय :- **हि विष्णो ! नभःस्पृशम् दीप्तम् अनेकवर्णम्, व्यात्ताननम्, दीप्तविशालनेत्रम् त्वाम् दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिम् च शमम् न विन्दामि ।**

अर्थ :- क्योंकि हे विष्णो ! नभ-स्पर्शी (यानी आकाश छूने वाले) प्रकाशमान, अनेकवर्णो वाले, फैले हुए मुख और प्रदीप्त विशाल नेत्रों वाले आपको देखकर प्रव्यथित अन्तरात्मा वाला (यानी भयभीत या व्यथित चित्त वाला) मैं धीरज और शान्ति नहीं पा रहा हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को 'विष्णु' नाम से सम्बोधित कर रहा है । 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से विष्णु शब्द बनता है जिसका अर्थ सर्वव्यापक होता है । जो मजहवी भगवान् को व्यापक मानते हुए उनके आकार को नहीं मानते उनके इस महाभूल का खण्डन अर्जुन करता है । यह संकेत कर रहा है कि सर्वव्यापक होते हुए भी भगवान् का रूप देखता हूँ । जैसे तिल में तेल और दूध में माखन व्यापक रहते हुए यन्त्र पर चढ़कर साकार हो जाता है, वैसे ही भगवान् प्रेमरूपी यन्त्र पर चढ़ते ही साकाररूप धारण कर लेते हैं । जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं-

प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी । (रा. मा. १।१८४।७)

यहाँ नभस् शब्द का तात्पर्य प्राकृत आकाश से नहीं है क्योंकि **द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन** (११।२०) इससे प्राकृत आकाश की बात पहले कर दी गयी है । फिर नभ: से प्राकृत आकाश अर्थ करने से पुनरुक्ति दोष होगा । इसलिये यहाँ 'नभ:' शब्द से अर्जुन का अभिप्राय **'तदक्षरे परमेव्योमन्'** (महाना. १।२) **'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'** (श्वे. उ. ३।८) **'परमे व्योमन्'** (ऋक्सं ८।६।१७।७) इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध त्रिपाद् विभूति का जो परम व्योम है, उससे है । जिसको सूरिगण साक्षात् करते हैं । तेज के सम्बन्ध में **'दिवि सूर्यसहस्रस्य'** -(११।१२) कह चुके हैं, ऐसे बड़े प्रकाशमान रूप हैं । दीप्त विशाल नेत्र जैसा कि पहले **'शशि-सूर्य नेत्रम्'** (११।१६) वाक्य में कहा जा चुका है । अर्जुन वही कह रहे हैं । हे सर्वव्यापक भगवान् विष्णो ! आपके सर्वव्यापी, प्रकृति से अतीत परमव्योम, बड़े प्रकाशमान एक ही रूप अनेक लाल, पीले, काले आदि वर्णों वाला, फैलाये हुए मुखवाला और प्रज्वलित विशाल नेत्र वाला (रूप) देखकर मेरे अन्त:करण को अत्यन्त पीड़ा हो रही है । मेरा धैर्य छुटा जा रहा है और मेरा मन अशान्त हो रहा है ।

भगवान् गीता के १८वें अध्याय में ४३वें श्लोक में कहते हैं -**'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं'** । अत: धैर्य धारण करना क्षत्रियों का प्रधान और स्वाभाविक गुण है । किन्तु भगवान् के इस रूप को देखकर अर्जुन का धैर्य छूट रहा है, क्योंकि अब वह डर रहा है । धृति तथा शान्ति ये दोनों अर्जुन के पास से चली गईं । इनके चले जाने से व्यर्थ सा अर्जुन समझता है । यहाँ अर्जुन गुरु से हृदय खोलकर कह देता है । यहाँ वह यह शिक्षा देता है कि विष्णु भगवान् की भाँति गुरु को उनके समान समझना चाहिये तथा गुरु से अपने सन्देह का निराकरण करना चाहिये ।।२४।।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।२५।।

अन्वय :- **ते कालानलसन्निभानि च दंष्ट्राकरालानि मुखानि दृष्ट्वा न दिश: जाने न च शर्म एव लभे । (अत:) देवेश ! जगन्निवास ! प्रसीद ।**

अर्थ :- तुम्हारे प्रलयकाल की अग्नि के सदृश और विकराल दाढ़ोंवाले मुखों को देखकर न तो मुझे दिशाएँ सूझ रही हैं और न शान्ति ही पा रहा हूँ । (अत:) हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ।

व्याख्या :- अर्जुन ने भगवान् के लिये 'देवेश' और 'जगन्निवास' दोनों सम्बोधनों का प्रयोग कर यह भाव दिखलाया कि आप ब्रह्मादि समस्त देवताओं के स्वामी और समस्त जगत् के परमाधार हैं । यहाँ प्रभु को आधार बताकर जो जगत् को मिथ्या कहते हैं उनका खण्डन करता है, क्योंकि आधार आधेय के बिना नहीं होता । वह कहता है कि आपके महाप्रलय काल की प्रचण्ड अग्नि के समान और भयंकर दाढ़ोंवाले मुख को देखकर हमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण का भी ज्ञान नहीं रह गया है और न सुख-शान्ति ही हमें मिलती है । हे जगन्निवास ! देवेश ! आप प्रसन्न होइये । इस प्रकार अर्जुन गुरु से सत्य-सत्य कह देता है । इससे शिक्षा देता है कि आचार्य की सन्निधि में सत्य बोलना चाहिये ।।२५।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा: सर्वे सहैवावनिपालसंघै: ।
भीष्मो द्रोण: सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यै: ।।२६।।

(युग्मश्लोक के चलते आगे के श्लोक से 'विशन्ति' क्रियापद आक्षिप्त करके अर्थ होगा)

अन्वय :- **च धृतराष्ट्रस्य अमी सर्वे पुत्राः अवनिपालसंघैः सह एव तथा भीष्मः, द्रोणः असौ सूतपुत्रः अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः सह त्वाम् (विशन्ति)**

अर्थ :- और धृतराष्ट्र के वे सब पुत्र, राजाओं के समूह के साथ ही तथा, भीष्म, द्रोण, वह सूत पुत्र कर्ण, हमारे भी मुख्य-मुख्य योद्धाओं के साथ आप में (यानी आपके मुख में) घुस रहे हैं ।

व्याख्या :- साहित्यकारों के अनुसार यह युग्मक श्लोक है । इसमें क्रिया पद नहीं है । इसकी क्रिया 'विशन्ति' आगे के श्लोक में है । इस विशन्ति का पहले पूर्वार्द्ध के साथ अन्वय है । अर्जुन भगवान् के ऐश्वररूप को देख रहा है, वह दिखाते हुए कह रहा है कि ये असुर स्वभाववाले जो धृतराष्ट्र के पुत्र समस्त दुर्योधनादि और पृथ्वी के पालन करनेवाले जो शल्य जयद्रथ, भूरिश्रवा, भगदत्त, गान्धारादि राजा हैं तथा भीष्म, द्रोण और सूतपुत्र कर्ण भी हमारे दलों के जो मुख्य योद्धा हैं जिनके बारे में दुर्योधन कहता है-

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।।४।।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।।५।।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।।६।। (गीता १।४।५।६)

उनके साथ सभी जल्दीबाजी से आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं । इसमें भीष्म, द्रोण और कर्ण को इसलिय अलग बताया गया है कि वे अवनिपाल नहीं हैं । भीष्म ने राज नहीं करने की प्रतिज्ञा की तथा विवाह भी नहीं किया । इसीलिये इन्हें देवव्रत की उपाधि मिली । द्रोणाचार्य भी ब्राह्मण थे । कोचवान की स्त्री सूत जाति की राधा ने कर्ण का पालन किया । अन्नदाता, भयत्राता को पिता कहते हैं, इसलिए सूतपुत्र कहलाये । ये तीनों वीर राजाअें में गतार्थ नहीं होंगे । इसलिए तीनों को अलग इस श्लोक में बताया गया है । कौरव दल के सात महान् वीर हैं -

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।। गी. १।८

यहाँ तीन बड़े ब्राह्मणों में एक द्रोणाचार्य ही प्रवेश कर रहे हैं । गौतम के खान्दान के कृपाचार्य एवं भारद्वाज खान्दान के अश्वत्थामा नहीं, अन्य क्षत्रिय प्रवेश कर रहे हैं । भीष्म, द्रोणाचार्य और कर्ण तीनों को अलग बताया गया है । अर्जुन को इन्हीं तीनों से बड़ा डर था । भीष्म को वह पहले नम्बर पर कहता है । भीष्म ने अमोघ ब्रह्मचर्य द्वारा यह वरदान प्राप्त किया कि जब वे चाहें उस दिन मरें । द्रोणाचार्य एक गुरुजन थे, व्यूह-रचना करनेवाले थे । उन्होंने यह वरदान प्राप्त किया था कि पुत्र का मरण सुनने से मैं मरूँ । **'अश्वत्थामा बलिर्व्यासः'** इत्यादि के अनुसार उनके पुत्र अश्वत्थामा चिरंजीवी हैं । तीसरे कर्ण को सूर्य ने अभेद्य कवच एवं बाण दिये, पास में जिनके रहने पर उसे कोई नहीं मार सकता था । इसलिये भगवान् इनको अलग दिखा रहे हैं । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि ऐसा रूप भगवान् क्यों दिखा

रहे हैं ? पहले ही भगवान् कह चुके हैं - **'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि'** (गीता ११।७) और भी जो कुछ देखना चाहते हो। अर्जुन ने भी पहले सन्देह किया था कि **यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'** (गीता २।६) हम जीतेंगे या ये हमें जीतेंगे। अर्जुन की इन सारी शंकाओं को दूर करने के लिये भगवान् ऐसा रूप दिखा रहे हैं। यहाँ शिक्षा देते हैं कि भीष्मादि की तरह भगवान् की आज्ञा के विपरीत करने पर वध करने योग्य हो जाओगे। इसलिए वेद शास्त्र का उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

अन्वय :- **ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि त्वरमाणाः विशन्ति । केचित् चूर्णितैः उत्तमांगैः दशनान्तरेषु विलग्नाः संदृश्यन्ते ।**

अर्थ :- वे (पूर्वोक्तभीष्मादि) दाढ़ों के कारण विकराल भयानक (आपके) मुख में बड़ी तेजी से (नष्ट होने के लिए) प्रवेश कर रहे हैं। कुछ चूर्ण हुए सिरों सहित (आपके) दाँतों के बीच लगे हुए दीख रहे हैं।

व्याख्या :- इस श्लोक का 'ते' पद पूर्व परामर्शक है। अर्थात् पूर्व श्लोक में कहे गये का वाचक है। अर्जुन कह रहा है कि वे जो भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधनादि, उनके पक्ष वाले तथा हमारे पक्ष में जो बड़े-बड़े संग्राम करने वाले सात्यकि, विराट द्रुपदादि महारथी वीर हैं, आपके (बड़ी दाढ़ों के कारण) विकराल एवं भयंकर मुख में नष्ट होने के लिये जल्दीबाजी के साथ प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमें कुछ लोग, जिनके मस्तक चूर्ण हो गये हैं आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिखाई दे रहे हैं। जिस प्रभु के लिये **'अहिंसा परमो धर्मः'** है उनका यह रूप अर्जुन देख रहा है। महाप्रलय काल का यह रूप है जिसके सम्बन्ध में श्रुति कहती है **'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।'** (कठोपनिषद् १।२।२५।।) और जिसके ब्रह्मण और क्षत्रिय भात बनते हैं ॥२५॥ अतएव कहा गया है - **'अत्ता चराचरग्रहणात्'** (ब्र. सू.) ये समस्त प्राणी तथा पृथ्वी जल, वायु को भी खा जाते हैं। यहाँ अर्जुन भगवान् को खाते हुए देख रहा है। कुछ दुराग्रही अज्ञ पूजा के समय कहते हैं कि आप फूलों में, पत्रादि में तथा मूर्ति में भी हैं, अतः आपही पर आपको मैं कैसे चढ़ाऊँ। किन्तु उनको यथार्थ का ज्ञान नहीं। अन्य व्यवहार में वे ऐसा नहीं करते वरना अन्य भोज्य पदार्थों एवं वस्त्रादि में भी भगवान् हैं, फिर वे अपने मुख में वर्तमान भगवान् को कैसे डाल देते हैं एवं वस्त्र शरीर पर कैसे पहनते हैं ? यह उनका कोरा भुलावा देना है। भगवान् जब महाप्रलय के समय खा रहे हैं तो भला अन्य समय न खायेंगे। कलि में भगवान् रस को खाते हैं। हम अपने विज्ञान रूपी भ्रष्ट नेत्र से उसे नहीं देख पाते। जैसे मधुमक्खी और भ्रमर प्रत्येक फूल के रस को खाते हैं और कुछ मधु छत्ता में भी रखते हैं परन्तु देखने में फूलों में कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता उसी प्रकार भगवान् भक्त के समस्त पदार्थों का रस खा लेते हैं, देखने में कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता। पर इसमें नियम बाँधते हैं कि-

'भक्त्युपहृतमश्नामि' (गीता ९।२६) भक्ति से अर्पण किया हुआ मैं खाता हूँ ॥२६॥ इसलिए शबरी, विदुर की भाँति भक्ति से जो देते हैं उसे भगवान् खाते हैं। भगवद्-भक्त भगवान् का गुणगान करते हुए गाया करते हैं-

दुर्योधन घर मेवा त्यागे साग बिदुर घर पारायण ॥२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८।

अन्वय :- **यथा नदीनाम् बहवः अम्बुवेगाः समुद्रम् अभिमुखाः द्रवन्ति तथा एव अमी नरलोकवीराः तव अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि विशन्ति ।**

अर्थ :- जैसे नदियों के बहुतेरे जल के प्रवाह समुद्रोन्मुख दौड़ते हैं (यानी समुद्र की ओर बहते चले जाते हैं) वैसे ही नरलोक के वीर आपके जलते हुए (यानी प्रज्वलित) मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में आधे श्लोक 'यथा.....द्रवन्ति' तक पढ़ते हुए शुद्ध जल से तुलसी की जड़ में मन्द धारा से जल दे तो लगी हुई अग्नि शान्त हो जाती है । इसी तरह से संसार दावानल को शान्त करने के लिये यह उपदेश देते हैं । अर्जुन कहता है कि जिस प्रकार गंगा प्रभृति नदियों के बहुत से जल के प्रवाह स्वतः प्रकृति द्वारा जैसे समुद्र के अभिमुख होकर बड़े वेग से दौड़े हुए जाते हैं, उसी प्रकार ये मनुष्यों के अन्दर बड़े-बड़े योद्धा वीर अपने नाम रूप का नाश करने के लिये आपके भयानक मुख में अच्छी तरह से प्रवेश कर रहे हैं । इससे अर्जुन ने यह बताया कि श्रुतिस्मृति के विपरीत जाकर स्वयं अपने को नष्ट होने के लिये उद्यत होते हैं - **'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः'** (गी. ६।५) इसलिए सर्वदा श्रौतमार्ग का अवलम्बन करना चाहिये ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

अन्वय :- **यथा पतंगाः नाशाय समृद्धवेगाः प्रदीप्तम् ज्वलनम् विशन्ति, तथा एव नाशाय लोकाः समृद्धवेगाः तव अपि वक्त्राणि विशन्ति ।**

अर्थ :- जैसे पतंग नष्ट होने के लिए तेज वेग से प्रज्वलित अग्निज्वाला में प्रवेश करते हैं (मानो) वैसे ही नष्ट होने के लिए ये लोग भी (पूर्वोक्त दुर्योधनादि जनाधिप) पूरे वेग से आपके भी मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ।

व्याख्या :- यहाँ कितने टीकाकार 'लोकाः' का अर्थ लोक (जड़) करते हैं, परन्तु **'लोकस्तु भुवने जने'** इस कोश प्रमाण से लोक शब्द यहाँ जन वाचक है । जनों में सब जन नहीं, **'जनप'** अर्थात् जन को पालन करने वाले राजा लोग से है । जिसे पहले **'अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य'** (११।२६) करके बता चुके हैं । अर्जुन कह रहा है कि जैसे बड़ी भारी प्रकाशमान अग्नि की ज्वाला को देखकर बड़े वेग से नाश होने के लिये फतिङ्गे प्रवेश करते हैं वैसे ही ये सभी लोग कौरव दल के तथा कुछ हमारे दल के सात्यकि विराटादि ज्वाला निकलते हुये आपके भयानक मुख में अपने नाश के लिये अति वेग से दौड़ते हुये प्रवेश कर रहे हैं । इस प्रकार जो वस्तु अर्जुन कभी नहीं देख सकता था उसे उसने निर्हेतुक गुरुदेव श्रीकृष्ण की दया से क्षणमात्र में देख लिया । इसलिये स्मार्त्त एवं वैष्णवों दोनों के मान्य **'नास्ति तत्त्वो गुरोः परम्'** वाक्य के अनुसार जीव गुरु की दया से सहज में ही अगम्य तत्त्वों को समझ लेता है ॥२६॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

अन्वय :- **विष्णो ! ज्वलद्भिः वदनैः समन्तात् समग्रान् लोकान् ग्रसमानः लेलिह्यसे, तव उग्राः भासः तेजोभिः समग्रम् जगत् आपूर्य प्रतपन्ति ।**

अर्थ :- हे विष्णु भगवन् ! (आप अपने) प्रज्वलित मुखों से सब ओर से सभी लोगों (यानी पूर्वोक्त सब राजाओं को) अपना ग्रास बनाते हुए (उनके रुधिर से भीगें अपने होठों को) जीभ मे बार-बार चाट रहे हैं । आपकी उग्र प्रभा (किरण) अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण करके तपा रही है ।

व्याख्या :- द्विबद्ध सुबद्ध न्याय से अर्जुन बारम्बार दुराग्रही की दाल न गले इसलिए 'विष्णो' सम्बोधन से भगवान् श्रीकृष्ण को सर्वव्यापक कह रहा है । अर्जुन यहाँ भगवान् के महाप्रलयवाले आकार को बतलाता है । वह कहता है कि हे सर्वव्यापक प्रभो ! आप उन समस्त राजा लोगों को अति भयंकर ज्वाला निकलने वाले बहुत से मुखों द्वारा अपना ग्रास बनाकर जैसे बालक रसगुल्ले खाने पर उसमें गिरे रसों से भीगे होठों को चाटते हैं उसी तरह उनके रक्त से भीगे होठों को जीभ निकाल कर बार-बार चाट रहे हैं । आपकी अत्यन्त उग्र भयंकर निकलती किरणें अपने तेज से समस्त ब्रह्माण्ड को परिपूर्ण करके प्रखररूप से अत्यधिक मात्रा में सन्तप्त कर रही हैं ॥३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो, नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं, न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

अन्वय :- **मे आख्याहि उग्ररूपः भवान् कः ? ते नमः अस्तु ! देववर ! प्रसीद । आद्यम् भवन्तम् विज्ञातुम् इच्छामि, हि तव प्रवृत्तिम् न प्रजानामि ।**

अर्थ :- मुझे बतलाइये कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं ? आपको नमस्कार है । हे देवश्रेष्ठ ! आप प्रसन्न होइये । आदिपुरुष आपको मैं जानना चाहता हूँ; क्योंकि मैं आपकी (इस) प्रवृत्ति को बिल्कुल नहीं जानता

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के भयंकर रूप को देखकर जिज्ञासु भाव से पूछता है कि हे ब्रह्मादि देवों में श्रेष्ठ ! मुझे बतलाइये कि आप यह अत्यन्त घोर रूपधारी कौन हैं ? और क्या करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं । आदि पुरुष आपको मैं जामना चाहता हूँ । आपकी इच्छित प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता हूँ कि आप किसलिये ऐसा बने हैं । आपको नमस्कार है । इन सारी बातों को बतलाकर आप प्रसन्न स्वरूप हो जाइये ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच -

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ॥
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच - लोकक्षयकृतः प्रवृद्धः कालः अस्मि, लोकान् समाहर्तुम् इह प्रवृत्तः । त्वाम् ऋते अपि प्रत्यनीकेषु ये सर्वे योधाः अवस्थिताः न भविष्यन्ति ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - मैं लोक का क्षय यानी संहार करने वाला बढ़ा हुआ काल हूँ । लोकों का (यानी राजा लोगों का) संहार करने क लिए यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ । तुम्हारे बिना भी प्रत्यनीकों में (प्रतिपक्ष में) जो सभी योद्धा स्थित हैं, नहीं बचेंगे ।

व्याख्या :- अर्जुन द्वारा पूछे जाने पर पार्थसारथी भगवान् श्रीकृष्ण अपने उग्ररूप धारण करने का कारण बतलाते हुए प्रश्नानुसार उत्तर देते हैं । ये जितने दुर्योधनादि वीर हैं उनकी आयु के अन्त समय की गणना कर-इन लोगों का संहार करनेवाला मैं घोररूप से बढ़ा हुआ काल हूँ । दूसरे इस धर्मक्षेत्र में जो दुर्योधनादि एवं उनकी ग्यारह अक्षौहिणी सेना है तथा कुछ तुम्हारे पक्ष के योद्धाओं को भलीभाँति नाश करने के लिये मैं प्रवृत्त हुआ हूँ । अर्जुन ने पहले जो यह कहा कि **'न योत्स्य इति गोविन्दम्'** (गीता २।९) मैं युद्ध नहीं करूँगा ।।९।। वही भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे संग्राम के उद्योग न करने पर भी तुम्हारे प्रतिपक्ष की सेना तथा वीर जो हैं, वे सबके सब नहीं रहेंगे-नष्ट हो जायेंगे । जो दो एक बचे हैं उन्हें सूक्ष्मता से भगवान् ने दिखा दिया है । इसलिए कहते हैं कि सभी को नहीं के तुल्य ही समझो । इस प्रकार शिष्य की जिज्ञासा की पूर्ति करते हैं । भगवान् अपने शिष्य के वैभव को बढ़ाने के लिये साहस दे रहे हैं । अतः शिष्य को शंका होने पर गुरुद्वारा ही उसको दूर कराना चाहिये ।।३२।।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहता पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।३३।।

अन्वय :- **तस्मात् सव्यसाचिन् ! त्वम् उत्तिष्ठ, शत्रून् जित्वा यशः लभस्व, समृद्धम् राज्यम् भुङ्क्ष्व, मया एते पूर्वम् एव निहताः, निमित्तमात्रम् भव ।**

अर्थ :- इसलिये हे सव्यसाची अर्जुन ! तू उठो, शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त करो और समृद्ध राज्य का भोग करो । मेरे द्वारा ये सब पहले से ही मारे हुए हैं, तू निमित्तमात्र हो जा ।

व्याख्या :- भगवान् यहाँ अर्जुन को 'सव्यसाचिन्' सम्बोधन देते हैं । 'षच् समवाये' (धा. पा. १।१०२२) इस धातु पाठानुसार समवायार्थक षच् धातु से 'साची' पद बना है । अतः सव्य माने बायें हाथ से बाणों का सचन अर्थात् संधान करने वाला । अभिप्राय यह है कि तुम दोनों ही हाथों से समान रूप से बाण समूहों का संधान करनेवाले हो फिर क्यों घबड़ाये हो ? इसलिए हे अर्जुन ! तू जो कहते हो कि -

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।। (गीता १।४५)

अर्थात् अहो ! बड़े शोक की बात है कि हमलोगों ने बड़ाभारी पाप करने का निश्चय कर लिया है जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने ही कुटुम्ब को मारने के लिये उद्यत हुए हैं ।।४५।। वही भगवान् कह रहे हैं कि जब तुम्हारे युद्ध न करने पर भी ये सब भागवतापचारी नहीं बचेंगे, तब तुम्हारे लिये युद्ध करना ही सब प्रकार से लाभप्रद है । दूसरे लोग भला द्रौपदी के नग्न किये जाने के समय ये भीष्मादि कुछ भी सभा में नहीं बोले ऐसे भागवतापचारियों को मैं मार चुका हूँ जिसे तुम देख भी चुके हो । इसलिए तुम्हें किसी प्रकार के पाप लगने की सम्भावना नहीं है । इसी बात को अज्ञानी नहीं जानते हैं, इसलिए यश प्राप्त करने को कहा है **'कीर्तिर्यस्य स जीवति'** । भगवान् ने भी **'कीर्तिः**

श्रीर्वाक्च' (गी. १०।३४) में कीर्ति को ही सर्वप्रथम कहा है । इन दुर्योधनादि दुराग्रही शत्रुओं को जीत लो । अश्वत्थामा कृपाचार्य को भी जीत लो वे कुछ नहीं करेंगे । सम्यक् निष्पन्न दिल्ली सत्ता का भोग करो । जिस भारतवर्ष के लिए देवता भी तरसते हैं, वे भी यह गीत गाते हैं-

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥ (वि. पु. २।४।२४)

भगवान् के अवतारों का यहाँ गीत गाया जाता है तथा यह महान् पुण्य स्थल है । कहा भी गया है-

अहोभुवः सप्तसमुद्रवत्याः द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः कर्माणि भद्राण्यवतारयन्ति ॥ (श्रीमद्भागवत ५।६।१३)

भारत को अमेरिका, ईंगलैन्ड आदि प्राचीनकाल में कर देते थे जिसका महाभारत में 'विडालाक्ष' (भूरे आँख वाले) करके वर्णन है । प्रकृति ने अन्य देशों को अपूर्ण बनाया है । उनके यहाँ के पुष्प में गन्ध नहीं, वसन्त ऋतु नहीं तथा उनमें खनिज पदार्थों की न्यूनता है । रूप में भी गौर एवं कृष्ण वर्ण भारतीयों जैसे वे सुन्दर नहीं होते तथा वस्त्र में भी वे धोती, कुर्त्ता, खड़ाऊँ आदि नहीं पहनते । देश, काल, रूप, धन सब में भारत पूर्ण है । इसीलिए वसुन्धरा नाम सार्थक होता है । आधुनिक कवि ठाकुर गोपालशरण सिंह लिखते हैं -

हो जगत् प्राण तुम प्रणत पाल,
हे विश्व-वन्द्य भारत विशाल !

हे आदि तपस्वी पुण्यवान !
हे आदि सभ्यता के निधान !
हे आदि यति के साम गान !

हे आदि ज्ञान-तरु तुम रसाल,

हे ऋद्धि सिद्धि के रुचिर धाम !
सुषमा के लीला थल ललाम !

हो तुम मानव मानस मराल,

हे अनुरागी त्यागी अपार !
हे कर्म-योग रत शुचि विचार !
हे भव्य भूतियों के विलास !
हे चिदानन्द के चिर-निवास !

हो तुम वसुधा के प्रेमजाल,
हे विश्ववन्द्य भारत विशाल !

इसी से कहा जाता है **'सुजलां सुफलां शस्य-श्यामलां मातरम्'** कविशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं, **'धन्य देश सो जहँ सुरसरी'** (रा. मा. ७।१२६।५) इसलिए भगवान् कहते हैं कि ऐसे समृद्ध राज्य भारत को भोगो । इन अपराधियों को मारने के लिये निमित्तमात्र बन जाओ । ये तो मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं । क्योंकि इन्होंने मेरे भक्तों के साथ अपराध किया है, और मैं कह चुका हूँ **'न सहामि कदाचन'** । भागवतापचार को मैं कभी नहीं सहता ।

यहाँ पर एक शंका है कि यदि भगवान् भागवतापचार के कारण भीष्मद्रोणादि को मारते हैं तो वही अपराध तो सभा में रहने के कारण अर्जुन का भी था, क्योंकि वह भी द्रौपदी के नग्न करते समय कुछ नहीं बोला । दूसरे आचार्यापचार भी अर्जुन पर था क्योंकि गुरु श्रीकृष्ण के सामने उनकी आज्ञा का नहीं पालन कर कहता है कि संग्राम नहीं करूँगा तथा **'तूर्ष्णीं बभूव'** (गीता २।६) मौन भी बन गया ।।६।। तीसरे गुरु के उपदेश को एक तो समझता नहीं दूसरे दोष भी देते हुए कहता है, 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे' (गीता ३।२) आप मिले हुए वचनों से मेरी बुद्धि को मोह रहे हैं ।।२।। इस प्रकार अर्जुन भी वध योग्य था । इसका समाधान यह है कि अगर भगवान् उसका वध कर देते तो वे ही अपराधी हो जाते क्योंकि भक्ता द्रौपदी विधवा हो जाती । इसलिए भक्ता द्रौपदी के मंगल-सूत्र की रक्षा करने के लिए भगवान् अर्जुन का दोषानुसंधान न कर गुणानुसंधान करते हैं तथा उसकी सहायता करते हैं । इस प्रकार शिक्षा देते हैं कि भागवतापराध नहीं करना चाहिये, क्योंकि भगवत् अपराध होने पर भगवान् बचा लेते हैं पर भागवत अपराध होने पर कोई नहीं बचा सकता । रामचरित मानस इसका साक्षी है । कैकेयी भगवदपराध करती है । भगवान् राम के लिये कठिन वेश, **'तापस वेष, विशेष उदासी'** (रा. मा. २।२८।३) माँगती है, १४ वर्ष का बन दिलवाती है पर भगवद्भक्त भरत के लिए वर माँगती है । इसलिए कैकेयी को मोक्ष हुआ । भगवान् राम उनसे पहले ही मिलते हैं, **'प्रथम राम भेंटी कैकेई'** (रा. मा. २।२४३।७) तथा बार-बार मिलकर नहीं अघाते । महाराज दशरथ भगवत् प्रेमी थे, भागवत प्रेमी उतना नहीं थे, इससे वे सुरलोक को जाते हैं । इसी को प्रकारान्तर से गोस्वामी तुलसीदास जी **'मोसे अधिक दास कर लेखे'** कहकर संकेत करते हैं । इसलिये भगवान् से अधिक भागवत प्रेमी होना चाहिये ।।३३।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णम् तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।।३४।।

अन्वय :- **त्वम् द्रोणम् च भीष्मम् च जयद्रथं च कर्णम् तथा अन्यान् अपि योधवीरान् मया हतान् जहि, मा व्यथिष्ठाः, युध्यस्व, रणे सपत्नान् जेता असि ।**

अर्थ :- तू द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी अन्य वीर योद्धाओं (जो) मेरे द्वारा मारे हुए हैं - (उन्हें) मारो, भय मत करो, युद्ध करो, रण में शत्रुओं को तू जीतेगा ।

व्याख्या :- जिस अर्जुन ने दूसरे अध्याय में कहा है कि - **'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन'** । (२।४) आदि तथा **'गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'** (२।५) आदि तथा । **'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'** (२।६) इसी सन्देह को दूर करते हुए भगवान् कहते हैं कि इन भागवतापराधी द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा भूरिश्रवा भगदत्त आदि जो मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं, उनको तुम मारो क्योंकि मरे हुए को कफन-दफन करने में पाप नहीं

पुण्य ही होता है । धर्माधर्म-भय से, बन्धु-स्नेह से या करुणाभाव से तुम शोक मत करो, क्योंकि वे मेरे द्वारा ही मृत्यु के लिये नियत किये जा चुके हैं । दूसरे द्रोण का गुरुत्व नष्ट हो गया है । जिसका गुरुत्व नष्ट हो जाय वह त्याज्य होता है । जैसा कि महाभारत के अश्वमेध पर्व में कहा गया है-

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथंप्रतिपन्नस्य शास्त्रैस्त्यागोविधीयते ॥

इसलिए युद्ध करो । रण में इन शत्रुओं को तुम निःसन्देह जीतोगे ।।३४।।

संजय उवाच-

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ।।३५।।

अन्वय :- **संजय उवाच - केशवस्य एतत् वचनम् श्रुत्वा किरीटी कृताञ्जलिः वेपमानः नमस्कृत्वा भीतभीतः एव भूयः प्रणम्य सगद्गदम् कृष्णम् आह ।**

अर्थ :- संजय बोले-भगवान् केशव के इस वचन को सुनकर किरीटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए काँपते हुए नमस्कार करके और डरते-डरते ही पुनः प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्ण से गद्गद वाणी में कहने लगा -

व्याख्या :- **'समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्'** के अनुसार एतत् शब्द अति समीप के अर्थ में प्रयुक्त होता है । सम्यक् रूप से इन्द्रियों को जीतने वाला संजय कह रहा है कि आश्रित-वत्सलता के समुद्र भगवान् के इस वचन को सुनकर किरीटधारी अर्जुन ने अंजलि मुद्रा बाँधकर काँपते हुए नमस्कार किया । यहाँ संजय भगवान् को केशव शब्द से कहता है, 'क' अर्थात् ब्रह्मा, ईश अर्थात् रुद्र तथा **'वा गतिगन्धनयोः'** धातु से निष्पन्न व शब्द गत्यर्थक है । अर्थात् ब्रह्मा और रुद्र को जो गति प्रदान करे उसे केशव कहते हैं, या **'स्व उदरे गृह्णाति'** वाक्य से अपने उदर में ब्रह्मा और रुद्र को प्रलयकाल में रखने के कारण भगवान् केशव हैं । अर्थात् जल में जो शव अर्थात् मृतक तुल्य बिना किसी कष्ट का अनुभव किये रहे उसे केशव कहते हैं । जल का एक नाम नार भी है **'आपो नारा इति प्रोक्ताः'** वही भगवान् का अयन है । अतएव वे नारायण हैं । भगवान् प्रलयकाल में जल में बिना कष्ट का अनुभव किये सुखपूर्वक रहते हैं । अतः भगवान् का नाम केशव है । अथवा-'केशः अस्यास्तीति केशवः' ।।५।२।१०९।। इस विग्रह वाक्य में **'केशाद् वोऽन्यतरस्याम्'** इस पाणिनि के सूत्र से केश से 'व' प्रत्यय होकर केशव शब्द बना है, अतएव केशव शब्द का अर्थ यह हुआ कि जिसका केश अत्यन्त प्रसिद्ध हो उसको केशव कहते हैं । इसके विषय में एक आख्यायिका है कि जब भगवान् ने वाराहावतार धारण करके हिरण्याक्ष का वध करके अपनी पत्नी पृथ्वी का उद्धार किया तो, इसके बाद अपने रोम को झाड़ा जिसके गिरने पर भगवान् के कर्णमल से मधुकैटभ की भाँति, उनके रोमों से कुश उत्पन्न हो गया । जो कुश देवता, पितरों, महात्मा, योगियों के आसन, अतिथि, कन्यादानादि कार्यों में काम आता है । इस प्रकार उनका केशव नाम पड़ा । अर्जुन को **'किरीटी'** कह कर संजय बता रहा है कि अर्जुन के मस्तक पर देवराज इन्द्र का दिया हुआ सूर्य के समान प्रकाशमान दिव्य मुकुट सदा रहता था । इसीसे उसका नाम किरीटी पड़ गया ।

महाभारत के विराट पर्व में अर्जुन कहता है -

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः ।
किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ॥ (४३।१७)

पूर्वकाल में जिस समय मैंने भीषण दानवों से युद्ध किया था, उस समय इन्द्र ने प्रसन्न होकर सूर्य के समान प्रकाशयुक्त किरीट मेरे मस्तक पर पहना दिया था, इसीसे मुझे किरीटी कहते हैं ।।१७।।

अर्जुन ने नमस्कार करके सोचा कि मैंने शास्त्र-विधि के अनुसार साष्टांग प्रणाम नहीं किया, इसलिए अत्यन्त भयभीत होकर पुनः साष्टांग प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति पराभक्ति से गद्‌गद वाणी से इस प्रकार वक्ष्यमाण बात को कहा । भगवान् को श्रीकृष्ण नाम से बताकर यह बताया गया है कि भगवान् अनादिकाल से अपनी ओर खींचने वाली माया से अपनी ओर अघासुर, बालघातिनी पूतना आदि को भी खींच लेते हैं । अथवा धातु के अनेक अर्थ होते हैं । इसलिये **'कृषिर्भूवाचकः शब्दः'** अर्थात् कृष् अर्थात् उत्पत्ति से 'न' यानी निवृत्ति कर देनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् हैं । जिससे जन्म-मरण के दुसह दुःख से जीव मुक्त हो जाता है ।।३५।।

॥ अर्जुन उवाच ॥
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच- हृषीकेश ! स्थाने तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यति च अनुरज्यते । भीतानि रक्षांसि दिशो द्रवन्ति च सर्वे सिद्धसंघाः नमस्यन्ति ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले-हे इन्द्रियों के स्वामी परमेश्वर, यह उचित है कि आपके (यश या गुणों के) कीर्तन से जगत् अत्यन्त हर्षित हो रहा है और अनुराग को प्राप्त हो रहा है । डरे हुए राक्षस (प्रेतादि) दिशाओं को भाग रहे हैं और समस्त सिद्धों के समूह (आपको) नमस्कार कर रहे हैं ।

व्याख्या :- यह रक्षोघ्न मन्त्र है । गाय के खुर की मिटी को लेकर बारह बार मन्त्र पढ़कर लगा देने से प्रेत बाधा ठीक हो जाती है । अथवा एक हाथ से लोटे को कुँए में डालकर एक हाथ घुमाते हुए खींच ले तथा उसे कपड़े से बाँध कर कुछ जल मन्त्र पढ़कर उस व्यक्ति को पिलावे, अगर भूत प्रेतादि कबुलवाना हो तो मन्त्र को पढ़ कर उस व्यक्ति पर जल को छिड़के ।

परम सात्त्विक अर्जुन प्रेम से गद्‌गद होकर भगवान् को **'हृषीकेश'** सम्बोधन दे रहा है । 'हृषीक' इन्द्रियों को कहते हैं । समस्त ब्रह्मांड की इन्द्रियों के ईश अर्थात् स्वामी भगवान् हैं, यह अर्जुन का अभिप्राय है । हे इन्द्रियों के स्वामी ! यह उचित ही है कि जो आपके अनुकूल दर्शक देव, गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष, किन्नर आदि आये हैं वे आपकी निर्हेतुक कृपा से आपके सर्वेश्वर रूप को देखकर आपके नाम, यश कीर्तन से अत्यन्त हर्षित हो रहे हैं, और अनुरक्त हो रहे हैं । श्रुति भी कहती है, **'यस्य नाम महद्-यशः'** और जितने प्रतिकूल राक्षस लोग हैं वे आपको देखकर सब दिशाओं की ओर भयभीत होकर वेग से भाग रहे हैं, यह भी उचित है । समस्त सिद्धों का समुदाय आपको साष्टांग प्रणिपात कर रहा

है। यह भी उचित है ॥३६॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

अन्वय :- **महात्मन् ! ब्रह्मणः अपि आदिकर्त्रे च गरीयसे ते (तुभ्यम्) कस्मात् न नमेरन् । अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! त्वम् अक्षरम् सत्, असत् च तत्परम् यत् ।**

अर्थ :- हे महात्मन् ! ब्रह्मा के भी आदिकारणभूत कर्ता और महान् से भी महान् (यानी गुरुतर) आपको क्यों न नमस्कार करें ? हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप अक्षर सत् असत् और उससे भी जो परे है, वह हैं ।

व्याख्या :- अर्जुन यहाँ भगवान् के लिए चार सम्बोधनों का प्रयोग कर रहा है । महात्मन् सम्बोधन से बता रहा है कि आप महान् आत्मा अर्थात् शरीर वाले विश्वरूप भगवान् हैं । आप महान् चतुर्मुख ब्रह्मा के आदि कारण रूप कर्ता हैं। अतएव आपको सबसे बड़ा और परमपूज्य समझकर ये सिद्धसमुदाय और ब्रह्मादि क्यों न साष्टांग प्रणिपात करें ? दूसरे आप अनन्त अर्थात् देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित हैं । आपके नाम, रूप, गुण प्रभाव अन्तरहित हैं । देवेश कह कर यह बताता है कि आप तैंतीस कोटि देवताओं के स्वामी हैं तथा 'जगन्निवास' से यह भाव दिखलाया कि आप जगत् जो समूह है उसमें 'नि' अर्थात् निश्चय करके निवास करने वाले हैं । आप आधेय जगत् के आधार हैं ।

अर्जुन कहता है कि आपही अक्षर-जीवात्मतत्त्व हैं । जिसका नाश न हो उसका नाम अक्षर है । भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय में कहा है **'न जायते म्रियते वा'** (२।२०) जीवात्मा न जन्म लेती है और न मरती है ॥२०॥ इसलिए यह भी नष्ट नहीं होती । सत् और असत् भी आपही हैं । नाम रूप विभाग से युक्त कार्यरूप प्रकृति तत्त्व को सत् कहते हैं । नाम रूप के विभाग की अवस्था में न हो ऐसा कारणरूप जो प्रकृतितत्त्व है उसे असत् कहते हैं । यह कार्य और कारण रूप प्रकृति तत्त्व भी आपही हैं तथा उसके ऊपर भी आपही हैं । जो इस प्रकृति से और प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाली जीवात्माओं से श्रेष्ठ अन्य मुक्तात्मतत्त्व है, वह भी आपही हैं ॥३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

अन्वय :- **त्वम् आदिदेवः च पुराणः पुरुषः, त्वम् अस्य विश्वस्य परम् निधानम्, वेत्ता, वेद्यम् च परम् धाम असि । अनन्तरूप ! त्वया विश्वम् ततम् ।**

अर्थ :- आप आदिदेव हैं और पुरातन पुरुष हैं । आप इस विश्व के परम निधान (यानी आश्रय) हैं, (सबको) जानने वाले हैं, जानने योग्य और परम धाम हैं । हे अनन्तरूप ! आपसे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् से कह रहा है कि आप समस्त देवों के आदिदेव हैं । ब्रह्मादि को आपके उदर में देख चुका हूँ । चारो वेदों में आपको ही 'पुरुष' शब्द से कहा गया है । सदा से और सदा ही रहने वाले आप सनातन नित्य पुरुष हैं । यह समस्त स्थावर जंगमात्मक संसार आप में ही लीन होता है । शरीर रूपी विश्व की आत्मा होने के कारण आपही

इसके परम आधार हैं । आप ही सम्पूर्ण संसार को यथार्थ तथा पूर्णरूप से जाननेवाले हैं । इसलिये गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं **'जगु पेखन तुम देखनिहारे'** (रा. मा. २।१२६।१) आपके समान कोई सर्वज्ञ नहीं है । गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -

सुमिरत जाहि मिटइ अग्याना । सोई सर्वग्य रामु भगवाना ॥

(रा. मा. १।५२।४)

आपही जानने योग्य हैं । जिसको जानना मनुष्य-जन्म का परम उद्देश्य है, वह साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर आपही हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने कवितावली में कहा है-

जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है ।
जानकीजीवनु जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यौ कहा है । (उ. का. ३६)

सबसे बड़ा प्राप्त करने योग्य स्थान आपही हैं । आपके यहाँ ही जीव को शान्ति मिलती है । सन्त रैदास कहते हैं-

जब लग नदी न समुद्र समावै, तब लग बढ़ै हंकारा ।
जब मन मिल्यो राम सागर सो तब यह मिटी पुकारा ॥

हे अनन्तरूप ! इस जड़ चेतन मिश्रित सम्पूर्ण संसार में आप व्याप्त रहते हैं । कोई भी स्थान आपसे रहित नहीं है । यहाँ अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को व्यापक बता रहा है । अगर व्यापक न होते तो कैसे खम्भे से नृसिंह रूप में प्रकट होते । वही व्यापक प्रभु अपने भक्तों के लिए साकार हो जाते हैं । सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी इसीका विवेचन करते हुए कहते हैं -

कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहिं ॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तन्त्र नित रघुकुल मनी ॥ (रा. मा. १।५० छं.)

ऐसे व्यापक प्रभु माया का पर्दा लगे रहने से नहीं दिखाई देते । जब गुरु की दया होती है तो माया का पर्दा हट जाता है और वे अर्जुन को दिख पड़े वैसे दिखाई देने लगते हैं । इसीको बाबा किन्नाराम भी कहते हैं-

वह अदृष्ट सूझै नहि तनिकौ, मन में रहै रिसानी ।
अंधहि अंधा डगर बतावत, बहिरहिं बहिरा बानी ।
रामकिना सत्गुरु सेवा बिनु, भूलि मर्यो अज्ञानी ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

अन्वय :- **त्वम् वायुः यमः अग्निः वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिः च प्रपितामहः । ते सहस्रकृत्वः नमः नमः अस्तु, च पुनः अपि ते भूयः नमः नमः ।**

अर्थ :- आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा प्रजापति (यानी ब्रह्मा) और प्रपितामह हैं । आपको हजारों बार नमस्कार हो, नमस्कार हो और फिर भी तुझे बारंबार नमस्कार, नमस्कार ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहा है कि आप चलने वालों में सबसे श्रेष्ठ वायु हैं क्योंकि वायु में आप व्यापक हैं । आपने स्वयं कहा है -

'पवनः पवतामस्मि' (गीता १०।३१) । संयमन करनेवालों में आप यम हैं, जैसा कि आप कह चुके हैं **'यमः संयमतामहम्'** (१०।२९) आप अग्नि हैं, अपने स्वयं कहा भी है **'वसूनां पावकश्चास्मि'** (१०।२३) जलचरों के स्वामी वरुण आप हैं । जैसा कि कह चुके हैं **'वरुणो यादसामहम्'** (१०।२९) । आप शशाङ्क हैं । भगवान् ने कहा है **'नक्षत्राणामहं शशी'** (१०।२१), प्रजाओं के पति ब्रह्मा हैं । भगवान् जैसा कि स्वयं कह चुके हैं **'धाताहं विश्वतोमुखः'** (१०।३३) और पितामह ब्रह्मा को जन्मदेने वाले आपही हैं जैसाकि श्रुति में बतलाया गया है- **'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्'** (श्वेताश्वतरो. ३।४) आपको हजारों बार नमस्कार और साष्टांगप्रणिपात है, फिर बारंबार आपको साष्टांग प्रणाम है । यहाँ 'भूयः' शब्द को लेकर कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् को दो बार प्रणाम करना चाहिए । परन्तु यहाँ **'सहस्र-कृत्वः'** में 'सहस्र' शब्द अनन्त वाचक है । साधारण अर्थ भी करने पर इसका अर्थ हजार बार होगा फिर दो बार कहना अज्ञता है । अर्जुन के 'सहस्रकृत्वः' पद के साथ पुनः पद का प्रयोग करने से भगवान् के प्रति सम्मान, आदर दिखलाने का भाव है । 'नमः' शब्द चार बार कहने पर भी कुछ लोग कुतर्क करते हैं । अर्जुन चार बार इसलिये कहता है कि चारो वेद कहते हैं कि चारो युग में चारो वर्णाश्रमी भगवान् श्रीकृष्ण को साष्टांग प्रणिपात करें । इस प्रकार भगवान् के ही सब शरीर हैं, ऐसा समझकर उपासना करनी चाहिए ।।३९।।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।४०।।

अन्वय :- **सर्व ! ते पुरस्तात् अथ पृष्ठतः नमः ते सर्वतः एव नमः अस्तु । अनन्तवीर्यामितविक्रमः त्वम् सर्वम् समाप्नोषि ततः सर्वः असि ।**

अर्थ :- हे सर्वरूप ! आपको आगे से और पीछे से नमस्कार है । आपको सब ओर से नमस्कार है । अनन्त शक्ति (वीर्य) एवं अपरिमित पराक्रम वाले आप सबको व्याप्त कर रहे हैं, इससे आप सर्वरूप हैं ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् से कह रहा है कि हे सर्वस्वरूप ! आप अनन्त शक्ति और अपरिमित पराक्रम से युक्त हैं । आपके लिए आगे से साष्टांग प्रणाम है । फिर भय से घबड़ा कर कि प्रभु **'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्'** (गीता ११।१६) और **'विश्वतो मुखम्'** (११।११) हैं, इसलिए कहता है कि पीछे से तथा सभी ओर से साष्टांग प्रणाम करता हूँ । 'सर्व' नाम से सम्बोधित करके अर्जुन ने यह भाव दिखलाया कि आप सर्वत्र व्यापक होकर रहते हैं । सम्पूर्ण जड़ चेतन वस्तुमात्र आपका शरीर होने से सबके स्वरूप में आप ही हैं । आप ही, मत्स्य, वाराह, पत्थर, राम, कृष्णादि बने । वेद भी बतलाता

है **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** (यजु. ४० वाँ. अ.) ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ न हों । इसलिए सन्त नामदेव कहते हैं -

एक अनेक विआपक पूरक जत देखउ तत सोई ।
सूतु एकु मणि सहस्र जैसे ओति प्रोति प्रभु सोई ।
घट घट अंतरि सरब निरंतरि केवल एक मुरारी ॥

जितने शब्द हैं उनमें 'सर्व' शब्द से आप कहे जाते हैं ऐसा ज्ञानी लोग समझते हैं । इसलिए प्रभु को एक देश में नहीं समझना चाहिए । जैसे 'मन्दिर में ही हैं' ऐसा न समझकर सर्वत्र रहते हुए 'मन्दिर में भी हैं,'- ऐसा समझना चाहिए । जगत् व्याप्य है जिसमें व्यापक भगवान् हैं । इसलिये जो एक वस्तु में व्यापक भाव मानते हैं उनका अर्जुन खण्डन करता है, क्योंकि व्यापक की उपपत्ति व्याप्य के बिना नहीं होती । वे ही सब में से प्रकट होते हैं । जैसे जड़ावतार वस्त्र द्रौपदी के लिये हो जाते हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -

सोई सच्चिदानन्द घन रामा । अज विग्यान रूप बलधामा ॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनंता । अखिल अमोघसक्ति भगवंता । (रा. मा. ७।७१।३,४)

इसलिए दुराचार, अत्याचार करने का कहीं स्थान नहीं, क्योंकि सर्वत्र भगवान् देख रहे हैं ।।४०।।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ।।४१।।

(युग्मक श्लोक होने के चलते अगले श्लोक से 'तत्क्षामये' - पद को लेकर अर्थ किया गया है)

अन्वय :- **तव इदं महिमानम् अजानता मया प्रमादात् वा प्रणयेन अपि सखा इति मत्वा, 'हे कृष्ण हे यादव हे सखा' इति प्रसभं यत् उक्तम् (तत्क्षामये)**

अर्थ :- आपकी इस महिमा को न जाननेवाले मुझ मूढ़ द्वारा प्रमाद से या प्रेम वश, 'सखा हैं ऐसा मानकर जो 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' ऐसा अविनय पूर्वक (यानी धृष्टता के साथ) कुछ कहा गया - (उसके लिए क्षमा माँगता हूँ)

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कह रहा है कि आपकी अनन्त शक्ति, अपरिमित पराक्रम से युक्त, समस्त जगत् के निर्माता, अन्तर्यामी, विश्वरूपवाले जो आपकी जो महिमा है, उसको न जाननेवाले मुझ मूर्ख के द्वारा समवयस्क मित्र मानकर, मोह से या बहुत दिन के परिचय रूप घना प्रेम से और अविनीतता पूर्वक जो 'हे सखे ! हे कृष्ण ! हे यादव' कहा गया है, उस सबके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ । यहाँ अर्जुन तीन छोटे सम्बोधन भगवान् के लिए देता है । इसके कहने का भाव यह है कि जैसे लोक में करियवा कहा जाता है वैसे ही मैंने हे कृष्ण ! कहा न कि प्रवृत्ति से निवृत्ति करनेवाला आपके नाम को समझ करके । हे यादव ! से अति धर्मात्मा यदु के वंश को न समझकर जैसे कि कहा गया है **'यदोश्च धर्मशीलस्य'** (श्रीमद्भागवत १०।१।२), बल्कि राजतिलक रहित के वंश का समझकर कहा । तथा हे सखे ! विवाहादि सम्बन्ध से दया करके सखा बनाया ऐसा समझकर कहा । मैंने आपके महान् गौरव और सर्वपूज्य महत्त्व का ख्याल नहीं रखा । इस प्रकार अर्जुन शिक्षा देता है कि उत्तम पुरुष को जिद्द न कर प्रभाव जानने पर गल्ती स्वीकार कर क्षमापन कराना

चाहिये । गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं कि प्रभु के अपरिमित पराक्रम, अनन्त शक्ति को देखकर अपनी त्रुटि पर समुद्र क्षमापन कराते हुए कहता है -

सभय सिन्धु गहि पद प्रभु केरे । छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अन्वय :- **हे अच्युत ! यत् च विहारशय्यासनभोजनेषु अवहासार्थं एकः अथवा तत्समक्षम् असत्कृतः असि तत् अप्रमेयम् त्वाम् अहम् क्षामये ।**

अर्थ :- हे अच्युत ! और जो कुछ विहार (चलते फिरते) समय में, सोते वक्त, बैठते या भोजन करते समय हास-परिहास (या हँसी-दिल्लगी) में अकेले में या लोगों (यानी अन्य साखाओं) के सामने आपका तिरस्कार हुआ हो, उसके लिए अप्रमेय ईश्वर आप से मैं क्षमा माँगता हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कह रहा है कि वर्ण और आश्रमधर्म से कभी च्युत न होनेवाले ऐ भगवन् ! सदा सत्कार करने योग्य आप परमेश्वर का जो परिहास के लिए अकेले में अथवा उन (मित्रों) के सामने चलते, सोते, बैठते और भोजन करते समय मुझसे जो-जो तिरस्कार किया गया है, उन अपराधों के लिए आप अप्रमेय परब्रह्म से क्षमा माँगता हूँ । कहा गया है-

आसनं शयनं वस्त्रं जायापत्यं कमण्डलुः ।
आत्मनः शुचीन्येतानि परेषां न शुचिः भवेत् ॥

इसके चलते कोई अर्जुन का अपराध हुआ, अथवा विहार, शय्या, आसन, भोजनादि में आपसे पहले अग्रसर हुआ । 'अच्युत' कहकर यह बताता है कि-

अच्युतः कल्पवृक्षोऽसावनन्तः कामधेनवः ।
चिन्तामणिश्च गोविन्दो हरिनाम विचिन्तयेत् ॥ (पाण्डव गीता ४६)

भगवान् का अच्युत नाम कल्पवृक्ष के समान फल देने वाला है । भगवान् का अनन्त नाम कामधेनु तुल्य तथा गोविन्द नाम चिन्तामणि तुल्य है । इसलिये भगवान् का नाम लेना चाहिये ॥४६॥४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

अन्वय :- **अप्रतिमप्रभाव ! त्वम् चराचरस्य लोकस्य पिता गरीयान् गुरुः च पूज्यः असि । लोकत्रये अपि त्वत्समः न अन्यः अस्ति, अभ्यधिकः कुतः ।**

अर्थ :- हे अप्रतिम (अनुपमेय) प्रभावशाली आप चराचर लोक के पिता हैं, श्रेष्ठ गुरु हैं और (परम) पूज्य हैं । तीनों लोकों में भी आपके समान दूसरा नहीं है (फिर) बढ़कर कहाँ से ?

व्याख्या :- अर्जुन कह रहा है कि हे अनुपम प्रभावशाली ! आप समस्त स्थावर, जंगमात्मक संसार की रक्षा करने वाले हैं । आपने स्वयं स्वीकार किया है कि **'पिताहमस्य जगतो'** (९।१७) 'इस जगत् का पिता मैं हूँ ।।१७।। लोक में भी देखा जाता है कि गर्भ में भगवान् बालक की रक्षा करते हैं तथा जठराग्नि से जलने नहीं देते । इसलिये महाकवि सूरदास कहते हैं-

पावक जठर जरत नाही कंचन सी मम देह करी ।
जगतपिता जगदीश सरन बिनु सुख तीनों पुर नाहीं ॥ (सू. सा. प्र. स्क. ११६।३२३)

आप अज्ञानरूपी अन्धकार को ज्ञानरूपी प्रकाश से दूर करनेवाले इस चराचर लोक के गुरु भी हैं । आदि देवता ब्रह्मा कहते हैं - **'नौमीड्य ते'** (पूर्वार्द्ध श्रीमद्भागवत १०।१४।४१) तथा श्रीबादरायण कहते हैं -**'शिवविरंचिनुतं'** (श्रीमद्भागवत) अतएव श्रेष्ठतम परम पूज्य हैं । यहाँ द्वितीय पाद में च लगाकर बोलने का तात्पर्य गुरु और श्रेष्ठ पूज्य से है । इसलिये महाकवि सूरदासजी कहते हैं -

वासुदेव की बड़ी बड़ाई ।
जगतपिता, जगदीस, जगत गुरु निजभक्तनि की सहत ढिठाई ॥
(सू. सा. प्र. स्क. ३)

इससे अर्जुन ने यह बताया कि ब्रह्म में पितृत्व, गुरुत्व और पूज्य सम्बन्ध भी लगाना । तीनों लोकों आकाश, पाताल और मृत्युलोक में कोई आपके समान उदारता, वत्सलता, बल शक्ति, ज्ञान ऐश्वर्य में नहीं है । भगवान् की उदारता के विषय में सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं-

ऐसो को उदार जग माँही ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी ।
सो गति देत गीध सबरी कहुँ प्रभु न बहुत जिय जानी ॥ (विनय पत्रिका १६२)

इनकी दानकारिता, वत्सलता आदि के सम्बन्ध में भक्त सूरदासजी कहते हैं -

दीन कौ दयाल सुन्यौ, अभय-दान-दाता ।
साँची बिरुदावली, तुम जग के पितु माता ।
व्याध-गीध-गनिका-गज इनमें को ज्ञाता ?
सुमिरत तुम आए तहँ त्रिभुवन विख्याता ।
तीनि लोक विभव दियौ तन्दुल कै खाता ।
सरबस प्रभु रीझि देत तुलसी के पाता । (सू. सा. प्र. स्क. १२४)

जब आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, तब आपसे बढ़ कर कोई हो ही कैसे सकता है ? यहाँ अर्जुन समाभ्यधिक तत्त्व का निषेध करता है, छोटा का नहीं । वेद में जहाँ 'एकमेव' ब्रह्म करके वर्णन है वहाँ उसका तात्पर्य

समाभ्यधिक के निषेध से है, छोटे के निषेध से नहीं । जैसे 'एक काशी नरेश है' कहने का तात्पर्य काशी नरेश के समान अथवा अधिक कोई नहीं है; यह होता है । उनका जड़तत्त्व गढ़ और उनके सेवक तो हैं हीं । वेद की बातों को स्मृति स्पष्ट कर देती है । स्मृति गीता द्वारा समाभ्यधिक का निषेध किया गया है छोटे का नहीं । दूसरे अर्जुन पिता, गुरु और पूज्य कहता है । यह तीनों एक में नहीं हो सकता । वह तीन दृष्टान्त देकर कहता है आप पिता हैं, हम पुत्र हैं । आप गुरु हैं हम शिष्य हैं और आप पूज्य हैं, हम पूजक हैं । भगवान् गीता में कहते हैं -

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । (गी. १३।१९)

'प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तू अनादि जान ।।१९।। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -

उभय बीच सिय सोहति कैसें ।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसे । (रा. मा. २।१२२।२)।।४३।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।४४।।

अन्वय :- **तस्मात् अहम् त्वाम् ईड्यम ईशम् कायम् प्रणिधाय च प्रणम्य प्रसादये । पिता इव पुत्रस्य सखा इव सख्युः, देव ! प्रियः प्रियाय सोढुम् अर्हसि ।**

अर्थ :- इसलिए मैं आप स्तुति-योग्य ईश्वर के प्रति शरीर को दण्डवत् निक्षिप्त कर (साष्टांग दण्डवत् कर) प्रणाम करके प्रसन्न करता हूँ (यानी मना रहा हूँ) जैसे पिता पुत्र की, मित्र मित्र की (धृष्टता सहता है) वैसे ही देव ! आप प्रियतम को मुझ प्रेमी के लिए सहना उचित है ।

व्याख्या :- अर्जुन कह रहा है कि समस्त ब्रह्माण्ड के पिता, गुरु और श्रेष्ठ पूज्य तथा समाभ्यधिक रहित आप हैं, इस कारण से सर्वेश्वर और सबके स्तुति करने योग्य आपके चरणों में इस शरीर को रखकर साष्टांग प्रणिपात करके प्रसन्न कराता हूँ । उत्तरार्द्ध में अर्जुन दो दृष्टान्त देते हुए कहता है कि अपराध करने वाले पुत्र और अपराध करने वाले मित्र के साष्टांग प्रणिपात करके क्षमापन कराने पर जिस प्रकार पिता पुत्र के अपराध को, मित्र-मित्र के अपराध को भूलकर प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही हे दिव्यदेव परब्रह्म नारायण ! आपको भी श्रीमान् के प्रेमी प्रिय सेवक मुझ भक्त के सब अपराधों को सहन करना उचित है । यहाँ पर मायावादी मनोनुकूल **'प्रियायाः'** षष्ठी पदच्छेद करके और छांदस तथा आर्ष सन्धि की क्लिष्ट कल्पना कर स्त्री के अपराध को जैसे पति सह लेता है, यह अर्थ करते हैं जो अन्याय तथा गीताशास्त्र के विरुद्ध है । सत्सम्प्रदायानुसार गीता में अनुमोदित विद्वानों के माननीय अर्थ होगा कि **'प्रियायार्हसि'** में प्रियाय-अर्हसि सन्धि होकर "अकः सवर्णे दीर्घः" (पा. व्या. ६।१।१०१) इस पाणिनि सूत्र से दीर्घ हुआ है । यहाँ प्रथमान्त प्रिय शब्द भगवान् का वाचक तथा चतुर्थ्यन्त प्रियाय शब्द भक्त का वाचक है । श्रीमद्भगवद्गीता में सर्वत्र प्रिय शब्द भगवान् के भक्त का वाचक है । उदाहरण स्वरूप-

प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः (७।१७)

'मैं ज्ञानी भक्त का अत्यन्त प्रिय होता हूँ और वह ज्ञानी भक्त भी मुझे प्रिय होता है ।।१७।।

अर्जुन के लिये भगवान् कह चुक हैं -

'भक्तोऽसि मे' (४।३) तू मेरा भक्त है ।।३।। १२वें अध्याय के १४वें श्लोक से प्रारम्भ कर बारंबार कहते हैं- **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।'**

जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है ।।१४।। फिर भी १८वें अध्याय के ६५ वें श्लोक में कहते हैं-

'प्रियोऽसि मे' तू मेरा प्रिय है ।।६५।। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन को भगवान् प्रिय कहते हैं । इसलिए अर्जुन अपने को यहाँ द्राष्टांतिक बतलाता है । इससे चतुर्थ्यन्त पद का अर्थ होगा कि हे दिव्य देव परब्रह्म नारायण ! ज्ञानी भक्तों के अत्यन्त प्रिय जो आप हैं, आप को पिता-पुत्र, मित्र-मित्र की तरह प्रेमी-प्रिय की भाँति, मुझ सेवक, भक्त के सब अपराधों को सहन करना उचित है ।।४४।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।४५।।

अन्वय :- **देव ! अदृष्टपूर्वम् दृष्ट्वा हृषितः अस्मि च भयेन मे मनः प्रव्यथितम् । तत् एव रूपम् मे दर्शय । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसीद ।**

अर्थ :- देव ! पूर्व में न देखे हुए (रूप) को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ, साथ ही साथ भय से मेरा मन अत्यंत व्यथित हो रहा है । इसलिए वही (अपना प्रसन्न) रूप मुझे दिखलाइये । हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ।।

व्याख्या :- अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को 'देव' सम्बोधन देते हुए कह रहा है हे दिव्य देव नारायण ! जैसा कभी पहले देखने में नहीं आया ऐसा अत्यन्त अद्भुत रूप को देखकर मैं बड़ा प्रसन्न हो रहा हूँ तथा आपके अति उग्ररूप को देखकर इन्द्रियों से भी श्रेष्ठ मेरा मन भय से अत्यन्त व्यथित हो रहा है । इसलिए **'चतुर्भुजं प्रसन्नवदनं'** जो शास्त्र बतलाता है उसी रूप को मुझे दिखलाइये **'तदिति परोक्षे विजानीयात्'** के अनुसार यहाँ तत् शब्द परोक्ष वाचक है । दो और सम्बोध न देते हुए अर्जुन कहता है कि हे ब्रह्मादि देवताओं के स्वामी ! और निश्चय करके जगत् जिसमें वास करता है ऐसे जगन्निवास ! मुझ पर प्रसन्न होइये । अर्जुन भगवान् के साथ तीन सम्बन्ध लगाकर प्रसन्नता की इच्छा करता है । पिता, गुरु और पूज्य के प्रसन्न रहने पर लोक परलोक में सुख प्राप्त होता है । भगवान् के साथ इस जीव के तीनों सम्बन्ध हैं । इसलिए सबके परम पिता परमाचार्य और परमपूज्य भगवान् को सर्वदा प्रसन्न करने की चेष्टा करनी चाहिये ।।४५।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।४६।।

अन्वय :- **अहम् त्वाम् तथा एव किरीटिनम् गदिनम् चक्रहस्तम् द्रष्टुम् इच्छामि । सहस्रबाहो ! विश्वमूर्ते तेन एव चतुर्भुजेन रूपेण भव ।**

अर्थ :- मैं आपके उसी तरह ही मुकुट धारण किये, गदा लिए हुए और चक्र धारण किये हुए देखना चाहता हूँ। सहस्रबाहो ! विश्वमूर्ते ! उसी चतुर्भुज रूप से युक्त हो जाइये ।

व्याख्या :- संस्कृत साहित्य में जहाँ 'तथा' रहता है वहाँ 'यथा' का आक्षेप किया जाता है । इसलिये इस श्लोक में यथा का ऊपर से आक्षेप किया जायेगा । अर्जुन कह रहा है कि जैसे पहले (जन्मकाल में) मस्तक पर मुकुट, नीचे के दाहिने हाथ में कौमोदकी गदा तथा नीचे के बायें हाथ में सुदर्शन चक्र धारण करने वाले आप पैदा हुए वैसा ही आपको मैं देखना चाहता हूँ । सहस्रबाहो में 'सहस्र' शब्द 'अनन्त' वाचक है । इसी अध्याय के १६वें श्लोक में अर्जुन ने भगवान् को 'अनन्त बाहु' कहा है । इसलिए हे अनन्तबाहो ! विश्वमूर्ते ! आप अपने पूर्वप्रसिद्ध चतुर्भुज रूप से युक्त हो जाइये । भगवान् अवतार के समय शंख, गदा, चक्र को धारण किये हैं । श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णन है - **'चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम्'** (१०।३।६) गाड़ी के पहिये की नाभि से चक्र तक तिरछी लकड़ी लगी रहती है उसे अर कहते हैं। अर जिसमें है उसे अरि कहते हैं । इसलिए यहाँ अरि से तात्पर्य चक्र सुदर्शन से है । शंख, गदा और अरि आयुध के साथ पैदा हुए । विष्णु-पुराण में लिखा है **'उपसंहर विश्वात्मन् रूपमेतच्चतुर्भुजम्'** ऐसा कहने पर भगवान् ने अपने रूप को बदल दिया । गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है -

निज आयुध भुज चारी - तजहु तात यह रूपा ॥१।१९१ छं

यहाँ बहुत लोग सन्देह कर सकते हैं कि गीता तथा श्रीमद्भागवतपुराण में कहीं यह वर्णन नहीं है कि किस हाथ में कौन आयुध भगवान् लिये हैं ? फिर कैसे निर्णय हुआ कि किस हाथ में कौन आयुध है ? इसके लिए अन्यत्र लिखा हुआ है-

कौमोदकीति गदयाऽखिलदैत्यहन्त्र्याऽधोराजते यदरविन्दकरः सुदक्षः ।
वामार्ककोटिनिभभासितचक्रलक्ष्मी-नारायणस्य चरणौ शरणं प्रपद्ये ॥

अर्थात् समस्त दैत्यों का नाश करनेवाली कौमोदकी गदा अधः अर्थात् नीचेवाले दाहिने करकमल में सुशोभित है । नीचेवाले बायें हाथ में करोड़ों सूर्य के समान तेजवाला चक्रसुदर्शन है । तथा-

सव्योर्ध्वपाणिपुटकेऽष्टदलारुणाब्जं दक्षे च कोटिशशिनिन्दकपाञ्चजन्यम् ।

ऊपर के बायें हाथ में अष्टदलवाला लाल कमल तथा ऊपर के दाहिने हाथ में करोड़ो चन्द्रमा को लज्जित करनेवाला पाञ्चजन्य शंख है । शंख के लिए श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में कहा गया है । **'पाञ्चजन्यं हृषीकेशो'** (१।१५) हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने (अपने) पाञ्चजन्य नामक शंख को बजाया ।।१५।। यहाँ शंख-वाद्य होते हुए भी 'आ' यानी अच्छी तरह से युध अर्थात् संग्राम में वार करनेवाला है । जैसे वर्णाश्रम धर्मावलम्बी भागवत धर्मावलम्बी भी होते हैं, जैसे 'ङ' कण्ठस्थानीय होते हुए नासिका स्थानीय भी है, वैसे ही शंख भी वाद्य होते हुए आयुध भी है । पहले अध्याय के १९वें श्लोक में बताया गया है -

'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्'

इस भयंकर शब्द ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया.।।१९।। इसलिए शंख को भी आयुध कहा गया है । श्रीवादरायण ने भी इसको आयुध कहा है, जबकि चौथे हाथ में लाल कमल है । यहाँ छत्री न्याय से जैसे चार व्यक्ति में से तीन को छाता लगाये जाते देख चारो के लिये 'छत्रिणो यान्ति' छातावाले जा रहे हैं कहा जाता है, उसी न्याय से यद्यपि चौथे हाथ में भगवान् के, आयुध नहीं है, फिर भी उसको बादरायण ने आयुध कहा है । इसलिये शास्त्रानुसार भगवान् के चतुर्भुज रूप को समझ कर आराधना करने से पूर्ण फल प्राप्त होता है ।।४६।।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।।४७।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-अर्जुन ! प्रसन्नेन मया यत् मे इदम् परम् तेजोमयम्, अनन्तम् आद्यम् विश्वम् रूपम् आत्मयोगात् तव दर्शितम्, (तत्) त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - हे अर्जुन ! प्रसन्न हुए मुझ (ईश्वर) द्वारा जो मेरा यह श्रेष्ठ तेजोमय अनन्त, सबका आदिस्वरूप विश्वरूप अपने सत्यसंकल्प रूप योग (या आत्मयोग) द्वारा तुमको दिखलाया गया, (वह) तेरे सिवा किसी दूसरे से पहले नहीं देखा गया है ।

व्याख्या :- अर्जुन द्वारा प्रार्थना करने के बाद भगवान् बोले कि हे शुद्ध सत्त्वगुणी अर्जुन ! तुम्हारे उपर अति प्रसन्न होकर मैं अपना तेजराशि, अनन्त अर्थात् आदि मध्य और अन्त-रहित, जैसा कि इसी अध्याय के १९वें श्लोक में अर्जुन ने कहा है **'नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं,'** मुझसे अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् का आदि कारण विश्वरूप अपने सत्य संकल्परूप योग से तुझे दिखलाया हूँ । यहाँ 'अनन्त' पद उपलक्षणार्थक है, अत: उसका तात्पर्य आदि, मध्य और अन्त रहित है । मेरा यह विश्वरूप जिसे तुझे दिखलाया हूँ तेरे अतिरिक्त और किसी ने पहले नहीं देखा । काकभुसुण्डी, मार्कण्डेय, कौशल्यादि ने भी भगवान् के विराट् रूप को देखा पर यह रूप नहीं जिसमें भीष्म, द्रोण, कर्णादि शूरवीर भयानक मुख में प्रवेश कर रहे हों तथा कितनों के चूर्ण हुए सिर चूर-चूर होकर दाँतों में लगे दिखाई दे रहे हों ।।४७।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूप:शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।।४८।।

अन्वय :- **कुरुप्रवीर ! नृलोके एवंरूपः अहं न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः, न क्रियाभिः च न उग्रैः तपोभिः त्वदन्येन द्रष्टुम् शक्यः ।**

अर्थ :- हे कुरुकुल के श्रेष्ठवीर अर्जुन ! मनुष्य-लोक में इस प्रकार (विश्व) रूपवाला मैं न तो वेदों से न यज्ञ से, न स्वाध्याय से, न दानों से, न क्रियाओं से और न उग्र (यानी उत्कट) तपस्याओं से ही तेरे अतिरिक्त दूसरे के द्वारा देखा जा सकता हूँ ।

व्याख्या :- भीष्म द्रोणादि के अन्याय की ओर चले जाने से भगवान् अर्जुन के लिये 'कुरुप्रवीर' सम्बोधन देते हुए कहते हैं - हे कुरुवंश के श्रेष्ठ वीर अर्जुन ! इस मृत्युलोक में मुझमें भक्ति रखनेवाले तुझ भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई

ऐकान्तिक परमभक्ति से रहित एक हजार एक सौ इकतीस शाखात्मक वेद द्वारा भी इस **'विश्वरूप'** को नहीं देख सकता। केवल अश्वमेधादियज्ञ से, केवल वेद के अंग जिनके लिये - 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (श्रुति ने कहा है) उन व्याकरण, शिक्षा निरुक्त, कल्प, छन्द, ज्योतिष से पराभक्ति रहित इस रूप को नहीं देख सकते। पराभक्ति रहित केवल गोदानादि करके इस विश्वरूप का कोई दर्शन नहीं कर सकता। भक्तिरहित केवल नेती, धौती वस्ति, नवली, त्राटक, कपालभाती इन क्रियाओं से और पराभक्ति रहित केवल रात दिन खड़ा रहकर, शीतकाल में गले भर जल में रहकर, धूप में चारो तरफ अग्नि के बीच रहकर, वर्षाकाल में मैदान में रहकर, कृच्छ्र, चान्द्रायण, प्राजापत्यादि उग्र तप से कोई इस विश्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता। बहुत से लोग समझते हैं कि यहाँ वेद, यज्ञादि का खण्डन किया गया है, परन्तु यहाँ अभिप्राय पराभक्तिरहित वेद यज्ञादि से है। इस प्रकार भगवान् ने अनन्योपाय बतलाया। भक्ति से हीन को भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

वारि मथें घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ, यह सिद्धांत अपेल॥ (रा. मा. ७।१२२क) ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

अन्वय :- **मम इदम् ईदृक् घोरम् रूपम् दृष्ट्वा ते मा व्यथा, च विमूढभावः मा। व्यपेतभीः प्रीतमनाः त्वम् पुनः मे तत् एव रूपम् प्रपश्य।**

अर्थ :- मेरे इस ऐसे घोर रूप को देखकर तुझे व्यथा मत हो और न विमूढ़ता का भाव हो। भयरहित और प्रसन्नचित्त होकर तू पुनः मेरे उसी (यानी पहले वाले) रूप को भलीभाँति देखो।

व्याख्या :- अर्जुन ने यह कहा था कि **'प्रव्यथितं मनो मे'** (११।४५) उसी के लिये भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि मेरे इस प्रकार के घोर कराल भयानक रूप को देखकर तुम मत पीड़ित होवो तथा जो अर्जुन ने यह कहा था कि -**'दिशो न जाने न लभे च शर्म'** (११।२५) वही भगवान् कह रहे हैं कि जो विमूढ़भाव वाले हुए हो यह भी न होवो। जो डर गये हो सो, भय से रहित हो जाओ, क्योंकि प्रपन्न को भय कहाँ? **'विष्णोः पदं निर्भयम्'** कहा गया है। इसलिये भय का त्याग कर दो। तुम प्रसन्न वदन मुझे देखना चाहते हो इसलिये प्रसन्न मुखवाले हो जाओ। तेरा पहले से ही चिरपरिचित जो सौम्य वपु किरीटी गदी, चक्री चतुर्भुज मेरा रूप है उसको भलीभाँति फिर से देख लो।

इससे भगवान् यह बताते हैं कि आयुध विशिष्ट, प्रसन्न चतुर्भुज रूप को देखने पर ही जीव के भय और विमूढ़ता दूर होकर परमानन्द प्राप्त होता है ॥४९॥

॥ संजय उवाच ॥
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अन्वय :- **संजयः उवाच-वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा भूयः तथा स्वकम् रूपम् दर्शयामास च महात्मा सौम्यवपुः भूत्वा एनम् भीतम् पुनः आश्वसयामास।**

अर्थ :- संजय बोले-वासुदेव भगवान् ने अर्जुन से ऐसा कहकर फिर अपना वैसा (चतुर्भुज) रूप दिखलाया, और महात्मा (श्रीकृष्ण) ने सौम्य रूप होकर इस भयभीत अर्जुन को फिर आश्वासन दिया ।

व्याख्या :- संजय बोले कि भगवान् वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण ने शुद्ध सात्विक अर्जुन से इस प्रकार कह कर फिर से आयुध , भूषण विशिष्ट अपने चतुर्भुज रूप को दिखाया । 'स्वकं रूपम्' का तात्पर्य है कि भगवान् का निजी रूप चतुर्भुज ही है । सत्यसंकल्प से द्विभुज, सहस्रभुजादिरूप बना लेते हैं । विष्णुपुराण में लिखा है 'विश्वात्मन् ! अपने इस चतुर्भुजरूप को छिपा लीजिये' तब भगवान् ने छिपा लिया । इस प्रकार सत्य संकल्पवाले महात्मा श्रीकृष्ण भगवान् ने सौम्य मूर्ति प्रसन्न वदन होकर उग्र विश्वरूप देखकर डरे हुए अर्जुन को फिर धैर्य दिया । यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण के लिये महात्मा शब्द कहा गया है-

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ (हितोप.)

विपत्ति में धैर्य, उन्नति पर क्षमा, सभा में योग्य बात कहना, संग्राम में पुरुषार्थ दिखाना, कीर्ति में प्रीति करना, श्रुति में व्यसन रखना ये महात्माओं की स्वभावसिद्ध बाते हैं । इन गुणों से युक्त महात्मा श्रीकृष्ण भगवान् का ध्यान करना चाहिये, जिससे उनके गुण हमारे अन्दर भी आवें ॥५०॥

॥ अर्जुन उवाच ॥
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच - जनार्दन ! तव इदम् सौम्यम् मानुषम् रूपम् दृष्ट्वा इदानीम् सचेताः संवृत्तः, प्रकृतिं गतः अस्मि ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे जनार्दन । आपके इस सौम्य मनुष्य-रूप को दखेकर अब मैं सचेत (यानी स्थिर चित्त -वाला) हो गया हूँ, अपनी प्रकृति (यानी स्वाभाविक स्थिति) को पा लिया हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन यहाँ भगवान् को 'जनार्दन' सम्बोधन देते हुए कहता है - हे दुष्ट जनों को पीड़ित करनेवाले जनार्दन श्रीकृष्ण भगवन् ! अथवा भगवान् की प्रतिज्ञा को याद दिला रहा है कि उन्होंने स्वयं कहा है-

सत्यं ब्रवीमि मनुजाः स्वयमूर्ध्वबाहुर्यो मां मुकुन्द नरसिंहजनार्दनेति ।
जीवो जपत्यनुदिनं मरणे रणे वा पाषाणकाष्ठसदृशाय ददाम्यभीष्टम् ॥३७॥
(पाण्डव गीता)

ऐ मनुष्यो ! स्वयं भुजा उठा कर सत्य कहता हूँ-मुझको मुकुन्द, नरसिंह, जनार्दन कहकर जो जीव नित्य मरण या रण में स्मरण करता है, वह कठोर पत्थर और काठ के समान क्यों न हो मैं उसका मनोरथ पूर्ण करता हूँ ॥३७॥ इसलिए मनोरथ को पूर्ण करनेवाले भगवान् के लिए जनार्दन सम्बोधन देकर कहता है कि आपका जो सुन्दर वसन, भूषण,
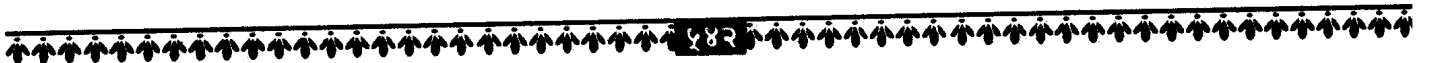
आयुध से अति सुन्दर मानवाकार चतुर्भुज रूप है, इसे देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ। अर्थात्, भय, व्याकुलता, कायरता दूर हो गई है। यहाँ प्रकृति शब्द माया-वाचक नहीं स्वभाव वाचक है। जैसे '**यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः**' प्रकृति से गौ का दूध मधुर होता है। इसमें प्रकृति शब्द स्वभाव वाचक है। अर्जुन के कथन से मालूम होता है कि अन्य रूप से नहीं बल्कि 'इदानीं' अब, जब कि वसन, भूषण, आयुधविशिष्ट चतुर्भुज, अतिशय सौंदर्य, सौकुमार्य युक्त चतुर्भुज रूप को देखकर ही मनुष्य सचेत और अपने स्वभाव को प्राप्त होता है। इसीलिए वादरायण कहते हैं -

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये ॥

तात्पर्य यह है कि दैहिक, भौतिक विघ्नों की शान्ति के लिये शुक्ल सात्त्विक रूप वस्त्र को वदन में लपेटे, पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान वर्णवाले, अपने मुखारविन्द से जो सूक्ति-सुधा को टपकानेवाले प्रसन्नवदन चतुर्भुज भगवान् हैं, उनका ध्यान करना चाहिए ।।५१।।

॥ श्री भगवानुवाच ॥
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।।५२।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच- मम इदम् रूपम् दृष्टवान् असि, (तत्) सुदुर्दर्शम्, देवाः अपि अस्य रूपस्य नित्यम् दर्शनकाङ्क्षिणः।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - मेरा यह (जो) रूप तूने देखा है, इसका दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ है या कठिन है। देवगण भी इस रूप को देखने की सदा आकाँक्षा रखते हैं।

व्याख्या :- षडैश्वर्य सम्पन्न श्रीकृष्ण भगवान कह रहे हैं कि अत्यन्त कठिनता से देखे जाने योग्य जो इस मेरे किरीटी, गदी, चक्री चतुर्भुजरूप को तुमने देखा है उसे सब कुछ जाननेवाले प्रभावशाली ब्रह्मादि देवता भी देखने की नित्य इच्छा करते हैं, परन्तु आज तक देख नहीं सके क्योंकि वे स्वार्थान्ध हैं तथा उनका असन, वसन, आचरण, राजस, एवं तामस रहता है। गोस्वामी तुलसीदास जी उनकी स्वार्थान्धता का संकेत करते हुए कहते हैं :-

इन्द्रीं द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥ (रा. मा. ७।११७।११)

विषयरूपी हवा आने पर ये सहयोग करके शेष ज्ञान को भी लुप्त कर देते हैं।

आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥ (रा. मा. ७।११७।१२)

इसीलिए भगवान् के निजी दिव्य शान्त चतुर्भज स्वरूप के दर्शन के लिए स्वार्थान्धता का त्याग कर असन, वसन आचरण को सुधारना चाहिए ।।५२।।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।५३।।

अन्वय :- **यथा माम् दृष्टवान् असि एवंविधः अहम् न वेदैः न तपसा, न दानेन च न इज्यया द्रष्टुम् शक्यः ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! जैसा मुझको तूने देखा है इस प्रकार का (यानी चतुर्भुज रूप वाला) मैं न वेदों से, न तपस्या से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि जैसा वसन, भूषण आयुधयुक्त सौम्य चतुर्भुज रूप में तूने मुझको देखा है वैसा हे अर्जुन ! भक्ति से रहित केवल चारो वेदों के अध्ययनाध्यापन, प्रवचन, श्रवण और यज्ञ से दान से तथा तप से इस प्रकार देखने में कोई समर्थ नहीं हो सकता । अतएव रावण जो चारो वेदों का वक्ता था केवल पाठ करने से उस रूप को नहीं देख सका बल्कि मर कर फिर राक्षस हो गया । भक्ति से रहित केवल चान्द्रायण, कृच्छ्र अनशनादि तपस्या से इस चतुर्भुज रूप को देखने में समर्थ नहीं हो सकता । पुलहाश्रम (हरिहर क्षेत्र) गण्डकी के किनारे महातपस्वी आदि भरत ने वायु भक्षण तक किया । गीता में जिन्हें भक्त राजर्षि बताया गया है परन्तु मरकर हरिण हो गये । जैसा कि भक्त सूरदासजी भी कहते हैं -

'भरत देह तजि कै मृग भयौ' (सू. सा. पं. स्क.) भक्ति रहित केवल गोदानादि से इस सौम्य चतुर्भुज रूप को देखने में समर्थ नहीं हो सकता । वर्षा की बूँद को गिना जा सकता है, पर जिसके दान को नहीं गिना जा सकता, ऐसे भक्तिहीन दानी राजा नृग भगवान् के इस स्वरूप को नहीं देख सके और मरकर गिरगिट हो गये । कबीरदासजी कहते हैं -

कोटि गाय नित पुन करत नृग गिरगिट जोनि परी ।

भक्ति-रहित केवल अश्वमेधादि यज्ञों द्वारा भी इस प्रकार के चतुर्भुज रूप को नहीं देखा जा सकता है । राजा नहुष ने सौ अश्वमेध किये पर भक्तिहीन होने से मरकर वे अजगर सर्प हो गये । श्रुति भी कहती है -

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।। (कठो. १।२।२३)

यह आत्मा (यहाँ आत्मा परमात्मा का वाचक है) यानी ब्रह्म न प्रवचन से प्राप्त हो सकता है, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही, बस यह जिसको वरण करता है उसी को प्राप्त हो सकता है । उसी के लिये अपने स्वरूप को भगवान् प्रकट कर देते हैं ।।२३।। जैसे बिल्ली अपने बच्चे को स्वयं जाकर पकड़ती है जिससे वह गिरता नहीं वैसे ही भगवान् स्वयं जिसका वरण करते हैं उसका अधःपतन नहीं होता । कौन वरणीय होता है इसके सम्बन्ध में कहा गया है । **'प्रियतमो हि वरणीयो भवति'** अत्यन्त जो प्रिय है उसी को स्वीकार करते हैं । भगवान् के कौन प्रिय होते हैं ? गीता के १२वें अध्याय में कहते हैं **'भक्तिमान्यः स मे प्रियः'** (१२।१७) जो भक्तिमान् है वह प्रिय है ।।१७।। जिस प्रकार लोक में भी माता-पिता को वे ही पुत्र प्रिय होते हैं जो उनकी सेवा करते हैं, चाहे वे अध्ययन, तपस्यादि में कम हों, उसी तरह जो **'अग्या सम न सुसाहिब सेवा'** (रा. मा. २।३००।४) के अनुसार जो परमपिता परम ब्रह्म चराचर के

माता-पिता हैं उनकी सेवा जो करते हैं वे उनके प्रिय होते हैं तथा वे ही उनके चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन करते हैं । रामबाग में जहाँ भीमरथी नदी के तट पर चातुर्मास्य व्रत मैंने किया था, वहीं श्रीरामाचार्य नाम क एक भागवताभिमानी रहते थे । वे वहाँ पर अपने से प्रतिकूल परिस्थिति को देखकर उद्विग्नता से चल दिये । मार्ग में एक धनीमानी के वेश में श्रीविट्ठल भगवान् आये और उनसे बोले कि आप वापस अपने स्थान पर चले जाएँ । आपको किसी बात की तकलीफ न होगी । आग्रह करने पर वे वहाँ गये जहाँ पर पर्याप्त मात्रा में भोज्य सामग्री पहुँच गई । फिर जैसा अपना पता भगवान् विट्ठल नाम तथा पंढरपुर के पाण्डुरंगम् गली में बताये थे वहाँ जाकर बहुत तलाश किये पर नहीं मिले । इस प्रकार भगवान् के भक्त सर्वदा उनके प्रिय होते हैं ।।५३।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।५४।।

अन्वय :- **तु परंतप अर्जुन ! अनन्यया भक्त्या एवंविधः अहम् तत्त्वेन ज्ञातुम् च द्रष्टुम् च प्रवेष्टुम् शक्यः ।**

अर्थ :- परन्तु हे परन्तप अर्जुन ! अनन्या भक्ति के द्वारा इस प्रकार का (यानी चतुर्भुज रूप वाला) मैं तत्त्व से जानने, देखे जाने एवं प्रवेश किये जाने (यानी प्राप्त किये जाने) के लिए शक्य हूँ ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन के लिए दो सम्बोधन विलक्षणरूप से दे रहे हैं कि कामादि शत्रुओं को तपानेवाले हे परंतप ! सात्त्विक आसन-वसन गुणयुक्त परम सात्त्विक हे अर्जुन ! इस प्रकार भूषण, आयुधयुक्त चतुर्भुज सौम्य मेरा रूप अनन्या भक्ति से ही यथार्थरूप से जाना जा सकता है, अनन्या भक्ति के द्वारा ही मैं इस प्रकार यथार्थरूप से देखा जा सकता हूँ और अनन्या भक्ति के द्वारा यथार्थरूप से हमारे रूप में प्रवेश किया जा सकता है । गीता में भगवान् कई बार अनन्या भक्ति से अपने को प्राप्त होना बताये हैं । ८वें अध्याय के २२वें श्लोक में कहते हैं **'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'** वह परम पुरुष सचमुच अनन्या भक्ति से प्राप्त करने योग्य है ।।२२।। आगे तेरहवें अध्याय के १०वें श्लोक में कहते हैं **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** मुझमें अनन्य योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति करना ।।१०।। फिर १४वें अध्याय के २६वें श्लोक में भगवान् कहते हैं - **'मां च योऽव्यभिचारेणभक्तियोगेन सेवते'** जो अव्यभिचारिणी भक्ति-योग से मुझे सेवन करता है ।२६।। इस प्रकार बारंबार भगवान् पराभक्ति के द्वारा अपने को प्राप्य बताते हुये अन्त में १८वें अध्याय के ५५वें श्लोक में कहते हैं **'भक्त्या मामभिजानाति'** पराभक्ति द्वारा मुझको जीव जान लेता है ।।५५।। श्रीमद्भागवत में कहा गया है **'तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्'** तीव्र भक्ति-योग से परमपुरुष की सेवा करें । इस प्रकार श्रुति स्मृति बारंबार अनन्या भक्ति को ही भगवत्-प्राप्ति का कारण बताती हैं । पांचरात्र की शाण्डिल्य-संहिता से विदित है कि अनन्य भक्ति द्वारा शाण्डिल्य महर्षि ने यथार्थ रूप से भगवान् को जाना है । श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध में लिखा है कि श्रीवसुदेव राजा ने अनन्या भक्ति द्वारा श्रीकृष्ण भगवान् के यथार्थ स्वरूप को जन्मकाल में देखा है और श्रीविष्णु धर्मोत्तर पुराणानुसार चिन्तयन्ती नाम की व्रज की गोपी ने रास समय में अनन्या भक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण भगवान् के यथार्थ स्वरूप में प्रवेश किया । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं-

श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं । रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ।

(७।१२१।१४)

रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान ।
ज्ञानवंत अपि सो नर पशु बिनु पूँछ विषान ।। (रा. मा. ७।७८ क)

जो भक्ति का त्याग करते हैं उनके लिये श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा जी कहते हैं-

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल आत्मलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।। (स्कं. १०)

श्रेय भक्तिमार्ग को त्याग कर हे प्रभो ! केवल आत्मज्ञान के लिए जो क्लेश करते हैं उन लोगों को क्लेश भर ही हाथ लगता है अन्य कुछ नहीं । जैसे धान की मोटी भूसी को बड़े परिश्रम से कूटने पर एक कणिका भी हाथ नहीं लगती । इसलिये भक्ति-विशिष्ट ज्ञान से ही जीव का कल्याण होता है । श्रीहनुमान् जी, श्रीशुकदेव मुनि, श्रीप्रह्लाद भक्ति के साथ ज्ञानी हुए । यही श्रेयमार्ग है इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -

श्रुति संमत हरि भक्ति पथ, संजुत विरति विवेक ।
तेहि न चलहिं नर मोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक ।। (रा. मा. ७।१०० ख)

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानउँ एक भगति कर नाता ।। (रा. मा. ३।३४।४)

इसलिए आगे भी कहते हैं -

मोहि भगत प्रिय संतत, अस विचारी सुनु काग ।
कायँ वचन मन मम पद, करेसु अचल अनुराग ।। (रा. मा. ७।८५ ख)।।५४।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।५५।।

अन्वय :- **पाण्डव यः मत्कर्मकृत् मत्परमः मद्भक्तः संगवर्जितः सर्वभूतेषु निर्वैरः सः माम् एति ।**

अर्थ :- हे पाण्डुकुमार ! जो मेरा कर्म करने वाला, मेरे परायण, मेरा भक्त संगरहित (यानी सर्वथा आसक्तिरहित) सभी भूतों (यानी प्राणिमात्र) में वैर रहित है, वह मुझे प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे पाण्डुपुत्र सात्त्विक अर्जुन ! जो अनन्य भक्तिनिष्ठ भगवत् उपासक वेद में अध्ययन, यज्ञ, दान, तप इत्यादि बताए गये समस्त कृत्यकर्म को आसक्ति और फलरहित हो मेरी आराधना के लिये करता है । मेरे को ही परम आश्रय मानता है, मेरा षोडशोपचार पूजन तथा मेरा कीर्तन, वन्दन, स्तवन, ध्यान इत्यादि कामनारहित होकर करता है, अति प्रेमाधिक्य होने के कारण सुत, वित, नारी आदि संसार के पदार्थों में आसक्तिरहित रहता है और यदि उसके साथ कोई दुराचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार भी करता है तो **'परबस जीव स्वबस भगवन्ता'** समझ कर भगवान् को ही सर्वशक्तिमान् न्यायाधीश जानते हुए अपने बुरे कर्मों का फल प्रभु द्वारा इस व्यक्ति से मिल रहा है, ऐसा समझ कर किसी प्राणी से वैर नहीं करता, वह पराभक्तिनिष्ठ पुरुष यथार्थरूप से स्थित मुझ परमेश्वर को प्राप्त करता

है। पाँचों लक्षणों से युक्त कुचैल मुनि सुदामा विप्र थे। मर्यादा पुरुषोत्तम राघवेन्द्र रामचरितमानस के उत्तर काण्ड में कहते हैं -

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। यथा लाभ संतोष सदाई ।।४५।२।
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ।।३।।
बैर न विग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब वासा ।।५।।
मम गुन ग्राम नामरत, गत ममता मद मोह ।७।४६।
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन वस्य मैं भाई ।।४५।४।

पाँच लक्षण जो भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहे हैं उनमें से एक भी लक्षण जिसमें हो जाय वह भगवान् का भक्त हो जाता है। जैसे महाराज जनक वेदविहित, यज्ञ, तपादि समस्त कर्म को आसक्ति-रहित करते थे। गीता में भगवान् स्वयं कहते हैं -

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। (३।२०)

जनकादि आसक्तिरहित कर्म के आचरण से ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए ।।२०।। भगवान् को पराश्रय समझते हुए श्रीकाकभुसुण्डी जी ने काक देह से भगवान् को प्राप्त किया। भगवान् स्वयं कहते हैं-

सब सुख खानि भगति तैं माँगी।
नहिं जग कोउ तोहि सम बड़ भागी ।। (रा. मा. ७।८४।३)

भगवान् में तन्मय होकर श्रीहनुमान् जी ने उन्हें कीर्तन ध्यानादि से प्राप्त किया। इसलिए भगवान् कहते हैं-

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना ।। (रा. मा. ४।२।७)

देवर्षि नारद ने ब्रह्मा पिता को छोड़ने के बाद किसी में आसक्ति नहीं की। वे दैवी, आसुरी दोनों समाज में मान्य थे, इसीलिए भगवान् कहते हैं **देवर्षीणां च नारदः'** (गीता १०।२६) श्रीप्रह्लाद ने किसी के साथ वैर नहीं किया। संडामर्कट के मारण मन्त्र करने पर भी उसे जिलाते हैं। इसीसे भगवान् कहते हैं-**'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां'** (गीता १०।३०)। भगवान् श्रीकृष्ण इस अन्तिम श्लोक में अर्जुन को पांडव सम्बोधन देकर पिता के महत्व की ओर संकेत करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् बतलाती है **'पितृदेवो भव'** पिता को देवता समझो। धर्मशास्त्र में बताया गया है -

पिता धर्मः पिता कर्म पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रियन्ते सर्वदेवताः ।।

इसलिए पिता को प्रसन्न करना चाहिये, जिससे समस्त देवता प्रसन्न हो जाते हैं **'पिताहमस्य जगतः'** (गीता ६।१७) इस वाक्यानुसार जगत्पिता परब्रह्म नारायण का सर्वदा सर्वविधि कैंकर्य करना चाहिए, जिससे मानव-जीवन कृतकृत्य हो जायं ।।५५।।

।। ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।।

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

।। अर्जुन उवाच ।।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।१।।

अन्वय :- **अर्जुन उवाच - एवं सततयुक्ताः ये भक्ताः त्वाम् पर्युपासते च ये अव्यक्तम् अक्षरम् अपि तेषाम् योगवित्तमाः के ?**

अर्थ :- इस प्रकार निरन्तर प्रयत्न में लगे हुए जो भक्त आप (यानी सगुण-साकार) की भलीभाँति उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं, उनमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन है ?

व्याख्या :- यहाँ अर्जुन भगवान् से परमात्मा एवं प्रत्यगात्मोपासना सम्बन्धी प्रश्न कर रहा है । कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ अर्जुन भगवान् से सगुण साकार और निर्गुण निराकार ब्रह्मोपासना को पूछ रहा है, परन्तु उन्हें ध्यान देना चाहिए कि सगुण साकार और निर्गुण निराकार दोनों एक श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं । उनसे अन्य कोई ब्रह्म नहीं है वे स्वयं कहते हैं - **'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (गीता ७।७) मुझसे श्रेष्ठतर दूसरा कुछ भी नहीं ।।७।। तथा ११वें अध्याय में अर्जुन कहता है **'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकःकुतोऽन्यो'** (११।४३) रामचरित मानस में कई स्थानों पर दोनों को एक ही बताया गया है - शिवजी वन्दना करते हुए कहते हैं -

अगुन सगुन गुन मंदिर सुन्दर । (रा. मा. ६।११४ छं.)

श्री सुतीक्ष्ण मुनि भगवान् राम की वन्दना करते हुए कहते हैं -

निर्गुण सगुण विषम सम रूपम् । (रा. मा. ३।१०।११)

वेद भी स्तुति करते हुए कहते हैं -

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने । (रा. मा. ७।१२ छं.)

श्रीसनकादि भी इसी प्रकार कहते हैं -

जय निर्गुन जय जय गुन सागर । (रा. मा. ७।३३।३)

इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा ।।

अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।। (रा. मा. १।११५।१,२)

इसलिये यहाँ पर जो निर्गुण-सगुण दो मानकर अर्थ करते हैं वह ठीक नहीं है । दूसरे निर्गुण का तात्पर्य गुणरहित नहीं बल्कि हेय गुणों से रहित तथा सगुण का तात्पर्य दिव्य गुणों से युक्त होता है । कुछ लोग निर्गुण का अर्थ करते हैं कि परमात्मा में गुण नहीं है । यद्यपि निर्णय के लिए वेद वाक्य ही मान्य होता है, परन्तु उन लोगों का कहना है कि **'महिम्नोनापरास्तुतिः'** अर्थात् महिम्न स्तुति से बढ़ कर कोई स्तुति नहीं है । उनको दुर्जन-तोष न्याय से महिम्न को मानने पर उसमें भी भगवान् के अनेक गुण बतलाये गए हैं । महिम्न स्तोत्र में ही बताया गया है कि वे अनन्त गुणों से युक्त हैं-

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे सुरतरुवरशाखालेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

अभिप्राय यह कि भगवान् अनन्त गुणों से युक्त हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि निर्गुण-सगुण दोनों श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं । अर्जुन प्रश्न करते हुए कहता है कि 'मत्कर्मकृत्' आदि जो ११वें अध्याय के अन्तिम श्लोक द्वारा बतलाये हुए प्रकार से उस नियमानुसार सर्वदा प्रयत्न करने वाले जो अनन्य भक्तिनिष्ठ लोग दिव्य वसन, भूषण, आयुध युक्त तथा अनन्त गुणागार श्यमसुन्दर आप परमेश्वर की परिपूर्ण उपासना करते हैं तथा चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न होने लायक अव्यक्त अक्षर जीवात्मा की उपासना करते हैं, उन दोनों में उत्तम योगवेत्ता कौन है ? अभिप्राय यह है कि अपने साध्य के समीप शीघ्रता से कौन पहुँचते हैं ।

यहाँ पर 'अक्षर' और 'अव्यक्त' शब्द को लेकर निराकार ब्रह्म अर्थ कुछ लोग करते हैं, परन्तु भगवान् स्पष्ट **'अव्यक्तोऽयम्'** (गीता २।२५) यह आत्मा नेत्रादि से व्यक्त न किये जा सकने पर अव्यक्त है ।२५। तथा **'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः'** (८।२१) अव्यक्त अक्षर नाम से कहा गया है ।।२१।। और **'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** (१५।१६)अक्षर कूटस्थ कहलाता है ।।१६।। इसलिये यहाँ अव्यक्त, 'अक्षर' से निराकार ब्रह्मपरक अर्थ करना भ्रम तथा प्रकरण-विरुद्ध है। प्रत्यगात्मा-परक अर्थ ही ठीक है । किंच एक तत्त्व को मानने वालों के मत में कर्तृत्त्व और कर्मत्व बन ही नहीं सकता है । यहाँ पर स्पष्टरूप से युष्मद् शब्द के द्वितीया रूप 'त्वाम्' और कर्ता 'योगवित्तमाः' का निर्देश है । पाणिनी अनुशासन के अनुसार जो कर्म करने में स्वतंत्र होता है वह कर्ता है तथा कर्ता को अपनी क्रियाओं द्वारा जो अभीष्ट होता है वह कर्म होता है । **'स्वतन्त्रः कर्ता'** (पा. व्या. १।४।५४।।) **'कर्तुरिप्सिततमं कर्म'** (पा. व्या. १।४।७६।।) इन दोनों कारक प्रकरण के सूत्रों में इसका स्पष्ट प्रतिपादन है । साथ ही स्वामी शंकराचार्य भी एक तत्त्व को नहीं स्वीकार करके जीव और ब्रह्म में भेद स्वीकार करते हैं । इसका निर्देश वे अपने षट्पदी-स्तोत्र में करते हुए कहते हैं -

...................नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रोहि तरङ्गः क्वचन समुद्रोन तारङ्गः ॥

अर्थात् हे नाथ मैं आपका हूँ आप मेरे नहीं, क्योंकि तरङ्ग ही समुद्र का होता है, तरङ्ग का समुद्र नहीं होता । वे तो स्पष्ट कहते हैं -

नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ।।७।। (षट्पदी)

अर्थात् हे करुणामय नारायण मैं सब प्रकार से आपके चरणों की शरण हूँ ।।७।। स्वामी श्रीशंकराचार्य तो हृदय से भगवान् का सगुणत्व स्वीकार करते हैं । भगवान् को करुणामय कहते हैं तथा श्रीलक्ष्मीनृसिंह स्तोत्र में कहते हैं -

लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम् ।

यही नहीं श्रीस्वामी शंकराचार्य जी महाराज ने तुंगभद्रा नदी के तट पर श्रीशारदा देवी की स्थापना करते हुए अपने हार्दिक उद्‌गारों को अभिव्यक्त किया है । इस बात का उल्लेख 'ब्रह्मांड गिरिजी' ने अपने 'शंकरविलास' नामक ग्रन्थ में किया है । उसको बंगला में प्रामाणिक विद्वान् श्रीहरिमोहन जी ने अपने 'भारतवर्षीय संस्कृत कवियों के समय निरूपण' नामक ग्रन्थ में उद्धृत किया है, जो निम्न है -

साकरश्रुतिमुल्लंघ्य निराकारप्रवादतः ।
यदघं मे कृतं देवि तद्दोषं क्षन्तुमर्हसि ॥
त्वमेव जगतांधातृ शारदेऽक्षररूपिणी ।
तव प्रसादाद्देवेशि मूको वाचलतां व्रजेत् ।।२।।
विचारार्थे कृतं यच्च वेदान्तार्थविपर्ययम् ।
देवानां जपयज्ञादि खण्डितं देवतार्चनम् ।।३।।
स्वमतस्थापनार्थाय कृतं मे भूरि दुष्कृतम् ।
तत्क्षमस्व महामाये परमात्मस्वरूपणि ।।४।।
कृताघपरिहाराय तवार्चा स्थापिता मया ।
अत्र तिष्ठ महेशानि यावदाभूत सम्प्लवम् ।।५।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट हो गया होगा कि शंकराचार्य ने जिस निर्विशेषाद्वैत का प्रतिपादन किया है उसका समर्थन वे हृदय से करते हैं कि नहीं ? अतएव भगवान् के अनन्त गुण, नाम, धाम का अनुसंधान करना ही उपनिषद् प्रतिपादित श्रेयःपन्था है ।।१।।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।२।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-मनो मयि आवेश्य नित्ययुक्ताः परया श्रद्धया उपेताः ये माम् उपासते ते मे युक्ततमाः मताः ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - मन को मुझ में लगाकर नित्ययुक्त हुए जो परम श्रद्धा से युक्त हुए मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे योगियों में श्रेष्ठ मान्य हैं । (यानी मेरे मत में श्रेष्ठ योगी हैं)

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण जो समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, प्रलय गति, अगति, विद्या-अविद्या को जाननेवाले हैं, वे अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि स्वेतर विलक्षण सगुण साकार श्याम सुन्दर मुझ में जो लोग संकल्प

विकल्पात्मक मन को प्रवेश कराकर अत्यन्त श्रद्धा के साथ मेरा स्मरण, ध्यान, उपासना करते हैं वे अनन्या भक्तिनिष्ठ प्रेमीजन समस्त योगियों में श्रेष्ठ मान्य हैं । यह हमारा मत है । इससे अतिरिक्त हमारे मत में श्रेष्ठ नहीं है । अभिप्राय यह कि वे श्रद्धायुक्त रामभक्तिनिष्ठ मुझे सुखपूर्वक और शीघ्र पा जाते हैं । यह साधन अपने अभिमत कार्य को निश्चय करके सिद्ध करेगा । ऐसे दृढ़तापूर्वक साधन में जो शीघ्रता करता है, इसी को श्रद्धा कहते हैं । जैसा कि बताया गया है - **'श्रद्धा हि स्वाभिमतं साधयति एतदिति विश्वासपूर्विका साधने त्वरा'** (रामा. भाष्य) वेदान्त, गुरुजनों के वाक्य में विश्वास करना भी श्रद्धा है । यह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है । गीता के १७वें अध्याय के दूसरे श्लोक में भगवान् कहते हैं -

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

प्राणियों की यह स्वभावजन्य श्रद्धा तीन प्रकार की होती है । १- सात्त्विकी, २-राजसी और ३- तामसी तथा आगे कहते हैं -

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ (१७।३)

हे भारत ! अन्तःकरण के अनुरूप सबकी श्रद्धा हुआ करती है । यह पुरुष श्रद्धामय है; जो जिस श्रद्धा वाला होता है, वह वही होता है । जैसे सात्त्विकी श्रद्धा से राजा रघु ने यज्ञ किया, वे सात्त्विकी हुए तथा महाराज दशरथ ने राजसी श्रद्धा से यज्ञ किया वे राजसी हुए । इनमें उत्कृष्टा सात्त्विकी श्रद्धा है ॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

(युग्म श्लोक है, अतः अगले श्लोक से 'संनियम्येन्द्रियग्रामम्' पद को तथा 'ते प्राप्नुवन्ति माम्' को आक्षिप्त करते हुए अर्थ किया गया है)

अन्वय :- **तु ये (संनियम्येन्द्रियग्रामं) अक्षरं अनिर्देश्यम् अव्यक्तम् सर्वत्रगम् अचिन्त्यम् कूटस्थम् अचलम् च ध्रुवम् पर्युपासते ।**

अर्थ :- परन्तु जो (इन्द्रिय समूह को भली भाँति रोक कर) अक्षर (प्रत्यगात्मा यानी नित्य जीवात्मा) अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ अचल और ध्रुव की भलीभाँति उपासना करते हैं - (वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं)

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि प्रत्यगात्मा के उपासक जो पुरुष अच्छी तरह से अपनी इन्द्रिय समूह को रोककर अविनाशी आत्मस्वरूप को शरीर से अलग होने के कारण यज्ञदत्त, देवदत्त प्रभृति नामों से नहीं निर्देश होने योग्य, नेत्रादि इन्द्रियों से व्यक्त न होनेवाला, सर्वत्र जानेवाला, इदं-इत्थं करके मन के भी अचिन्त्य अपने स्वभाव से स्थित, अपने स्वरूप से विचलित न होनेवाले नित्य जीवात्मा की उपासना करते हैं । इस श्लोक में प्रयोग किये गये शब्दों 'अक्षरादि'

को लेकर जिन लोगों ने निर्गुण निराकारपरक अर्थ किया है वह ठीक नहीं है । ये सभी शब्द जीवात्मा के लिए भगवान् ने प्रयोग किया है -

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (गीता २।२४) यह आत्मा नित्य, सर्वत्र जानेवाली, स्थिर-स्वभाववाली, अचल और सनातन है ।।२४।।

आगे कहते हैं -

'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम् (२।२५) **तथा 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** (१५।१६)

द्वितीयतः, अर्जुन का प्रश्न परमात्मा और प्रत्यगात्मोपासना का है । इसलिए भगवान् प्रश्नानुसार ही उत्तर दे रहे हैं । इसलिए निर्गुण-निराकार परक अर्थ साहसमात्र है । इस श्लोक में शरीर से अलग आत्मा बतलायी गयी है, क्योंकि -

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः ।
तथा त्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः । (सिद्धान्तमु.)

मृतक शरीर में चेतना नहीं उपलब्ध होती । दूसरे जैसे मेरा खेत, मेरा वस्त्र आदि कथन में खेत, वस्त्र मुझसे अलग है उसी तरह मेरा देह है, मैं मेरा पदवाच्य आत्मा देह से अलग है, जिसका सम्बन्ध लेकर बोला जाता है । इसलिए शरीर आत्मा नहीं वरन् उससे अलग वस्तु है । कुछ लोग इन्द्रिय को आत्मा कहते हैं, परन्तु नेत्र फूट जाने पर भी उससे देखी हुई वस्तुएँ स्मृत होती हैं, जबकि स्मरण नहीं होना चाहिए । इसलिए आत्मा इन्द्रियों से अलग है । कुछ लोग शरीर के बराबर परिणामवाला आत्मा मानते हैं, परन्तु यदि शरीर के बराबर आत्मा होगी तो शरीर में अँटेगी नहीं, दूसरे एक शरीर में रहनेवाली आत्मा दूसरे शरीर में नहीं अँटेगी । जैसे हाथी की आत्मा चिंटी में नहीं अँटेगी । इस प्रकार अन्य योनि से अन्य योनि में प्रवेश नहीं करेगी । जिससे आवरण भंग नहीं हो सकता । तीसरे मृत्यु के समय आत्मा को दिखाई देना चाहिए जब कि वह नहीं दिखाई देती । इसलिए शरीर के बराबर आत्मा को कहना ठीक नहीं । आत्मा अणु है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताया गया है -

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः ।।' (श्वे. उ. ५।६)

बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े करने पर उस किये हुए टुकड़े के भी सौ टुकड़े किये जाएँ, उसके एक भाग के बराबर सूक्ष्म अणु जीवात्मा होती है ।।६।। वेदान्त में कहा गया है 'अणवश्च' जीवात्मा अणु है । आधुनिक वैज्ञानिक भी शरीर के अन्दर सूक्ष्म कीटाणुओं का प्रवेश करना मानते हैं जो दिखाई नहीं पड़ते, फिर उन सूक्ष्म कीटाणुओं के अन्दर रहनेवाला अणु (आत्मा) कैसे दिखाई देगा । इसलिये आत्मा अणु है, वह दिखाई नहीं देती ।।३।।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।४।।

(युगम श्लोक है, पूर्व श्लोक के पूर्वार्द्ध को आक्षिप्त करते हुए अर्थ होगा)

अन्वय :- **इन्द्रियग्रामं संनियम्य सर्वभूतहिते रताः सर्वत्र समबुद्धयः (उपासते) ते माम् एव प्राप्नुवन्ति ।**

अर्थ :- इन्द्रियों के समूह को रोककर, सम्पूर्ण भूतों के हित में रत हुए, सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए उपासना करते हैं (यानी 'अक्षर' - प्रत्यगात्मा स्वरूप जीवात्मा की उपासना करते हैं) वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या :- युग्मक श्लोक के पहले श्लोक के पूर्वार्द्ध **'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते'** को लेकर इसका अर्थ करना चाहिए । भगवान् प्रत्यगात्मा के विषय में कह रहे हैं कि जो उपासना करनेवाले पुरुष अच्छी तरह से वाणी, पाणि, पैर, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय तथा श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, त्वचा और मन इन इन्द्रिय समुदायों को विषयों से खींचकर सब देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि में समान ज्ञानाकार बुद्धि होकर अर्थात् विषमाकार देवादि शरीर में स्थित आत्माओं के स्वरूप में ज्ञान की एकाकारता से समभावापन्न होकर तथा वैर करनेवाले सभी प्राणियों के हित में रत होकर नेत्रादि से व्यक्त न होनेवाले, अविनाशी, देवदत्तादि नामों से निर्देश न करने योग्य प्रत्यगात्मा स्वरूप जीवात्मा की उपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं । अर्थात् हमारे समान जन्म-मरण से रहित होकर आत्मस्वरूप प्राप्त कर लेते हैं । जैसा कि भगवान् १४वें अध्याय के दूसरे श्लोक में कहते हैं -

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेपि नोपजायनते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए पुरुष न तो सृष्टिकाल में उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकाल में व्यथित होते हैं ॥२॥ उसी को यहाँ भगवान् कहते हैं कि मुझको प्राप्त कर लेते हैं । श्रुति भी कहती है **'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'** (मु. उ. ३।१।३) निर्मलात्मा परमपुरुष की समता को प्राप्त कर लेती है ॥३॥ इस प्रकार भगवान् ने इन युग्म श्लोकों में प्रत्यागात्मा की उपासना और उसके फल को बताया । कुछ लोगों ने यहाँ निर्गुण निराकार ब्रह्मोपासना परक अर्थ किया है, परन्तु गुरु-शिष्य सम्बन्ध से आविर्भूत श्रीमद्भगवद्गीता के 'भक्ति-योग' नामक द्वादश अध्याय में किसी प्रकार निर्गुण ब्रह्मोपासना का अर्थ नहीं हो सकता । तात्पर्य-निर्णय में ६ वस्तुओं को समझकर अर्थ करना चाहिए -

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलं ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास द्वारा सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्ण को ही उपासना बताया गया है । उपक्रम में ही भगवान् कहते हैं - **'न त्वेवाहं जातु नासम्** (२।१२) इसमें अहम् करके सगुण साकार से ही प्रारम्भ किये हैं । उपसंहार में **'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'** (१८।६६) कहकर 'अहं' से सगुण-साकार श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने को ही निर्दिष्ट किया है । अभ्यास से भी सगुण साकार ब्रह्मोपासना को ही कहते हैं । गीता में तीन षट्क १-पहले से छठे अध्याय तक, २-सातवें से बारहवें अध्याय तक तथा ३- तेरहवें से १८वें अध्याय तक, इनमें प्रथम षट्क के छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में -

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः (४७)

कहकर 'मां' से भगवान् ने बताया है कि सगुण साकार मुझको भजनेवाला है श्रेष्ठतम है । दूसरे षट्क के ११वें अध्याय के अन्तिम श्लोक में -

'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः'।।५५।।

कहकर 'मत्' शब्द से सगुण साकार की ही भगवान् ने उपासना बतायी है। अन्तिम षट्क के १८वें अध्याय के ६५वें श्लोक-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामैवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५।।

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बनो, मेरी पूजा करनेवाला बनो और मुझको ही नमस्कार करो, तुम मुझको ही प्राप्त होवोगे। यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ ।।६५।। इसमें भी 'मत्' से सगुण-साकार ब्रह्मोपासना बतायी गयी है। इस प्रकार तीनों षट्कों में बारंबार भगवान् कहते हैं कि सगुण-साकार मेरी उपासना करो। यही नहीं अन्य का निषेध भी भगवान् ने किया है-

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७।७)

११वें अध्याय के ४३वें श्लोक में भी कहा गया है कि -

'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो' (११।४३)

फिर निगुर्ण निराकरोपासना कहाँ से ? क्योंकि- **'परं ब्रह्म परंधाम पवित्रं परमं भवान्'** (गी. १०।१२) आप सगुण साकार श्रीकृष्ण भगवान् ही परमब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं। १५वें अध्याय में स्पष्ट निर्णय कर दिये हैं कि-**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो'** (१५।१५) समस्त वेदों में मैं ही सगुण साकार रूप से वेद्य हूँ ।।१५।। इस प्रकार तात्पर्य निर्णय के छः कारण सगुण साकार ब्रह्मोपासना को ही बताते हैं। रामचरित मानस में श्रीसुतीक्ष्ण मुनि सगुण ब्रह्मोपासना को ही बताते हुए कहते हैं -

जदपि बिरज व्यापक अविनासी। सबके हृदयँ निरन्तर बासी ।।
तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसहु मनसि मम कानन चारी ।।
जे जानहिं ते जानहुँ स्वामी। सगुन अगुन उर अन्तरजामी ।।
जो कोसलपति राजिव नयना। करहुँ सो राम हृदय मम अयना ।।
(रा. मा. ३।१०।१७-२०)

इसी प्रकोर परमज्ञानी कुंभज ऋषि भी कहते हैं -

जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि सन्ता ।।
अस तव रूप बखानउँ जानऊँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ।। (रा. मा. ३।१२।१२-१३)

स्वयं वेद भी कहते हैं -

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ।। (रा. मा. ७।१२।६ छं.)

इसलिए यहाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण सगुण ब्रह्मोपासना को ही बताते हैं ।।४।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

अन्वय :- **तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम् क्लेशः अधिकतरः, हि देहवद्भिः अव्यक्ता गतिः दुःखम् अवाप्यते ।**

अर्थ :- उन अव्यक्त (आत्मा) में आसक्तचित्त वालों को क्लेश अधिकतर होता है, क्योंकि देहाभिमानियों द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक (यानी कठिनता से) प्राप्त की जाती है ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कह रहे हैं कि नेत्रादि इन्द्रियों से न ग्राह्य होनेवाले अव्यक्त जीवात्मा में अत्यन्त चित्त लगानेवाले पुरुषों को अधिकतर क्लेश होता है, क्योंकि अव्यक्त जीवात्मा विषयक मनोवृत्ति देहाभिमानियों को बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है । देह के विषय में दूसरे अध्याय में भगवान् कहते हैं कि - **'अन्तवन्त इमे देहाः नित्यस्योक्ताः शरीरिणः'** (२।१८) नित्य जीवात्मा के शरीर अन्त वाले कहे गये हैं । यह शरीर जिन वस्तुओं से बनता है उसके लिए १३वें अध्याय में कहते हैं -

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ (१३।५)

पंच महाभूत (१-पृथ्वी, २-जल, ३-तेज, ४-वायु और ५-आकाश) ६-अहंकार, ७-बुद्धि (महत्तत्व), ८-अव्यक्त (मूल प्रकृति), ९-श्रोत्र, १०-त्वचा, ११-चक्षु, १२-रसना, १३-घ्राण, १४-वाक्, १५-हाथ, १६-पैर, १७-गुदा, १८- उपस्थ, १९-मन तथा पाँच इन्द्रियों, के विषय, २०-शब्द २१-स्पर्श २२-रूप, २३-रस और २४-गन्ध, ये शरीर को उत्पन्न करनेवाले द्रव्य हैं ।।५।५।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।६।।

अन्वय :- **तु ये सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः अनन्येन योगेन माम् एव ध्यायन्तः उपासते ।**

अर्थ :- किन्तु जो सभी कर्मों को मुझमें संन्यास (यानी समर्पण) करके मेरे परायण हुए अनन्य योग से मुझे ही चिन्तन करते हुए (मेरी) उपासना करते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण जो उन्होंने-**'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमोमतः'** (६।४७) श्रद्धावान् भक्त जो मुझे भजते हैं वे मेरे मत में श्रेष्ठ हैं, कहा है, उसी को पुष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सगुण साकार की उपासना करनेवाले जो अनन्य भक्त जन लौकिक कर्म, कृषि, व्यापारादि और शरीर धारणार्थ किये जाने वाल भोजनादि कर्म तथा वेद द्वारा विधान किये गये यज्ञ, दान, तपस्यादि कर्म-अध्यात्म विषयक चित्तद्वारा हमारे में समर्पण कर देते हैं और केवल मुझ परब्रह्म नारायण को ही प्राप्य समझकर अनन्य योग से उपासना करते हैं । अन्तःकरण से अपने समस्त इन कर्मों को मुझे समर्पण कर सगुण साकार आश्रित-परतन्त्र पार्थसारथी वात्सल्य गुणसागर मेरे इस विग्रह का ध्यान, अर्चन, वंदन स्मरण और नाम

संकीर्तनादि करते हुए मेरी उपासना करते हैं वे ही सभी योग-वेत्ताओं में श्रेष्ठ हैं, यही मेरा मत है ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

अन्वय :- **पार्थ ! तेषाम् मयि आवेशितचेतसाम् अहम् मृत्युसंसारसागरात् नचिरात् समुद्धर्ता भवामि ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! उन मुझ में चित्त लगाये रखने वाले भक्तों का मैं मृत्युरूप संसार सागर से शीघ्र ही उद्धार करने वाला बन जाता हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! सगुण-साकार अनन्त गुणराशि पार्थ-सारथी मेरे में अंतःकरण से अध्यात्म विषयक अनन्य योग से ध्यान, अर्चन, वंदन, स्तवन करनेवाले जो महाप्रेमी भगवत्-उपासक हैं उनका मैं इस संसार से जो कि मेरी प्राप्ति का विरोधी होने के कारण मृत्युरूप है, शीघ्र ही अच्छी तरह से उद्धार करने वाला होता हूँ । अन्यत्र भी कहा गया है **'नरकादुद्धराम्यहम्'** (पाण्डव गीता ३६) नरक से भी उद्धार करता हूँ ॥३६॥ श्रीपराशरभट्ट अष्टश्लोकी में भी कहते हैं-**'मत्प्राप्तिबन्धकैर्विरहितं कुर्या शुचं मा कृथाः'** वाल्मीकि जैसे महापापी का उद्धार कर देते हैं और लक्ष्मी सीताजी स्वयं उनकी शरण में आती हैं तथा लवकुश जैसे पुत्र पैर उनके दबाते हैं । भगवान् ने स्वयं कहा है-

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामी भगवंत ॥ (रा. मा. ४।३)

इसलिए सगुण साकार मुझ ब्रह्म को उपासना करनेवाले ही श्रेष्ठतम हैं, यह मेरा मत है । भगवान् पार्थ सम्बोध न देकर माता की महत्ता की ओर संकेत कर रहे हैं । जैसा कि कहा गया है **'मातृदेवो भव'** (तैत्तिरीयोपनिषद्) माता को देवता समझो । अथवा **'...मातरं श्रियं वासय मे कुले'** (ऋग्वेद श्रीसूक्त) तथा **'माता मे कमला देवी'** के अनुसार प्राकृत माता की सेवा करते हुए लोकमाता श्रीदेवी की सर्वदा सर्वविधि कैंकर्य करने के लिए तैयार रहना चाहिए ॥७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अन्वय :- **मयि मनः आधत्स्व, मयि एव बुद्धिम् निवेशय, अतः ऊर्ध्वं मयि एव निवसिष्यसि, न संशयः ।**

अर्थ :- तू मुझमें मनको स्थापित करो, मुझ में बुद्धि को लगाओ, इसके अनन्तर या उपरान्त, तू मुझमें ही निवास करोगे - इसमें संशय नहीं है ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि दयासागर श्यामसुन्दर मदनमोहनस्वरूप मुझमें ही अपने मन को लगा दो । मन ही बन्धन-मोक्ष का कारण बताया गया है । भगवान् ने गीता के तीसरे अध्याय के ४२वें श्लोक में कहा है - **'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः'** इन्द्रियों को प्रबल कहते हैं, इन्द्रियों से प्रबल मन है ॥४२॥ इसलिए मन को भगवान् में लगाने पर इन्द्रियाँ स्वयं उस तरफ लग जायेंगी । गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

रे मन सब सों निरस ह्वै, सरस राम सों होहि ।
भलो सिखावन देत है, निसिदिन तुलसी तोहि ॥ (दोहावली ५१)

मन के लगने पर भी यदि बुद्धि दूसरी ओर है तो मन कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि **'मनसस्तु परा बुद्धि'** (गीता ३।४२) मन से प्रबल बुद्धि है ।।४२।। इसीलिए कहते हैं कि मुझमें ही **'व्यवसायात्मिका बुद्धिः'** (गी. २।४४) निश्चयात्मिका बुद्धि को लगाओ ।।४४।। मैं (परमेश्वर) ही परमप्राप्य तथा धन, बल, विद्या का विकास करनेवाला हूँ, ऐसा निश्चय कर लो । इसके बाद निश्चय करके हममें तुम निवास करोगे अर्थात् हमको तुम प्राप्त कर लोगे । जैसे गोपियों ने प्राप्त किया । जिसके आनंद को श्रीमद्भागवत में बताया गया है **'नेमं विरंचिः'** ब्रह्मा ने भी नहीं प्राप्त किया । इसमें संदेह न करना क्योंकि **'संशयात्मा विनश्यति'** (गीता ४।४०) संशयात्मा मनुष्य नष्ट हो जाता है ।।४०।। आज भौतिकता के चकाचौंध से भ्रमित लोग हर अच्छे कार्य में संदेह प्रकट करने लगे हैं और उनका क्यों ? सर्वत्र प्रचलित सा हो गया है, केवल दो स्थानीय डाक्टरों के यहाँ एवं शिक्षकों के यहाँ नहीं चलता । विज्ञ पुरुषों को सात्त्विक भोजन करके, सात्त्विक ग्रन्थों का अवलोकन करते हुए ऋषियों की परम्परा में विश्वास रखकर प्रत्येक बात को समझने की चेष्टा करनी चाहिए न कि संदेह । यह संशय लोक परलोक दोनों बिगाड़नेवाला होता है । गरुड़जी कहते हैं -

संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता । दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ॥ (रा. मा. ७।९३।६)

इसलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -

अस निज हृदयँ विचारि तजु संसय भजु राम पद । (रा. मा. १।११५)

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

अन्वय :- **धनंजय ! अथ मयि चित्तम् स्थिरम् समाधातुम् न शक्नोषि, ततः अभ्यासयोगेन माम् आप्तुम् इच्छ ।**

अर्थ :- हे धनंजय ! यदि तू मुझमें चित्त को स्थिरतापूर्वक (यानी अचल भाव से) स्थापित करने में समर्थ नहीं हो, तो अभ्यासयोग द्वारा मुझे (यानी मुझ ईश्वर को) पाने की इच्छा करो ।

व्याख्या :- गीता में मन और चित्त पर्यायवाची हैं । मनन करने से मन और स्मरण करने से चित्त कहा जाता है । भगवान् ने इसी अध्याय (१२) के आठवें श्लोक में **'मय्येव मन आधत्स्व'** कहा है, तथा छठे अध्याय के ३५वें श्लोक में कह चुके हैं **असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्'** हे अर्जुन ! निःसन्देह मन चंचल और दुर्निग्रह है ।।३५।। यहाँ भगवान् यह समझकर कि राजकुमार कोमल स्वभाव का अर्जुन और संग्राम के लिए उपस्थित है, इसलिए सरल ढंग से फिर मन को कहकर समझा रहे हैं । यदि चित्त अलग मन से होता तो भगवान् मन का ऊपर वर्णन कर फिर चित्त का कहाँ से प्रसंग लाते ? इसलिए चित्त का तात्पर्य मन से ही है । भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि अर्जुन ! यदि तू चंचल चित्त नाम मन को अनन्त गुणाकार मुझमें सम्यक्रूप से स्थिरतापूर्वक स्थापना करने में समर्थ न हो सके तो परब्रह्म परमात्मा मुझमें अनन्य प्रीति से बारंबार स्मरण रूप अभ्यास रूपी योग से मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो । बारंबार किसी

वस्तु को करने को अभ्यास कहते हैं । भगवान् अर्जुन को यहाँ धनंजय सम्बोधन देते हैं । इससे शिक्षा देते हैं कि वर्णाश्रमोचित कर्म से धन का उपार्जन करते हुए देश, काल, पात्र देखकर दान करो । कहा गया है - **'धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते'** देश, पात्र, काल देखकर दान नहीं किया, न सुन्दर भोजन किया तो उस धन से क्या लाभ ? गोस्वामी तुलसीदास जी इसी का संकेत करते हुए कहते हैं -

'सो धन धन्य प्रथम गति जाकी' (रा. मा. ७।१२६।७) अथवा ऋक्वेद में बताया गया है- **'धनमग्निः'** धन अग्नि को कहते हैं । तथा श्रीमद्भागवत में कहा गया है - **'द्रव्यमिच्छेत् हुताशानात्'** द्रव्य चाहो तो अग्नि की उपासना करो । इसलिए धन की वृद्धि चाहते हुए अग्नि में हवनादि द्वारा उपासना करनी चाहिए । दूसरे आचार्य कहते हैं **'पुत्रादपि धनवतोभीतिः'** बड़े धनवानों को पुत्र से भी भय रहता है । अनेक महाराजा, महान्तादि को धन के कारण ही विष दे दिया जाता है । इसलिए आचार्य कहते हैं - **'धनं मदीयं तव पादपंकजम्'** (स्तोत्ररत्न) श्रीकृष्ण भगवान् का चरणारविंद ही मेरा धन है । इसलिए राजा रघु, नन्दादि राजा की भाँति अपने देहरूपी तिजोरी में भगवत् चरणारविंदरूपी धन को भी उस धन के साथ रखना चाहिए । अर्जुन के पास यह चरणारविंदरूपी धन था, इसलिए धनंजय कहलाया । अतः कहा गया है -

'रे चित्त चिंतय चिरं चरणौ मुरारेः' ऐ चित्त ! भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों का चिन्तन करो, जो सबसे बड़ा धन है ॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अन्वय :- **अभ्यासे अपि असमर्थः असि, मत्कर्मपरमः भव, मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिम् अवाप्स्यसि ॥**

अर्थ :- (यदि) तू अभ्यास में भी असमर्थ है तो मेरे कर्मों के परायण (यानी मत्कर्मपरायण) हो जा । मेरे अर्थ यानी मेरे निमित्त कर्मों को करते हुए भी सिद्धि पा लेगा ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि अत्यन्त प्रेमयुक्त मेरे श्रीविग्रह की स्मृति के निरन्तर अभ्यास में भी यदि तू असमर्थ हो तो मेरे लिए कर्मों को अत्यनत प्रेम के साथ मत्परायण होकर करो, अर्थात् मेरे लिए मन्दिर बनवाना, बगीचे लगाना, दीपक जलाना, झाड़ू देना, मन्दिर धोना, आंगन लीपना, पूजन करना, नाम कीर्तन करना, नमस्कार करना और स्तुति करना आदि जो मेरे लिये कर्म हैं उनको अत्यन्त प्रेम के साथ करो । जैसा भगवान् पहले **'मत्कर्मकृत्'** (११।५५) में कह चुके हैं । इस प्रकार हमारे लिए कर्मों को करोगे तो कर्म मन, बुद्धि को स्थिर करेंगे और तब भगवत् प्राप्तिरूप सिद्धि को तुम प्राप्त करोगे । पहले कहे हैं **निवसिष्यसि** (१२।८) । इस प्रकार के कर्म करने पर बन्धन नहीं होता । अपने लिए किये गये कर्म ही बन्धन करते हैं । भगवान् ने तीसरे अध्याय में कहा है -

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (गी. ३।९)

यज्ञ के लिये किये जानेवाले कर्म के सिवा अन्य कर्म करने पर यह मनुष्य कर्म-बन्धन से बँध जाता है । अतएव हे अर्जुन ! तू आसक्ति-रहित होकर यज्ञ के लिये कर्म का भलीभाँति आचरण करो । कहा गया है **'यज्ञो वै विष्णुः'** (शतपथ) यज्ञ ही विष्णु भगवान् हैं । जैसा राजा अम्बरीष ने किया । कर्म के भी तीन विभाग हैं । उनमें सात्त्विक कर्म करते हुए भगवान् में अनन्य प्रेम करना चाहिए ॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

अन्वय :- **अथ मद्योगमाश्रितः एतत् अपि कर्तुम् अशक्तः असि ततः यतात्मवान् सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु ।**

अर्थ :- मेरे योग (यानी भक्तियोग) का आश्रित होकर या आश्रय लेकर तू यह (मदर्थ-कर्म) करने में असमर्थ हो तो मन को संयम में रखकर समस्त कर्मों के फल का त्याग कर

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि अतिशय प्रेमयुक्त मेरे भक्तियोग का आश्रयण करके यदि तुम मदर्थ मन्दिर निर्माणादि कर्म करने में समर्थ नहीं हो तो मन को सम्यक् संयमन करके फल को त्यागकर समस्त कर्मों को करो । नानार्थक आत्मा शब्द यहाँ मन वाचक है । आगे १८वें अध्याय में भगवान् कहते हैं कि -

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते । (गीता १८।११)

जो कर्म फल का त्यागी है वह यथार्थ त्यागी है, ऐसा कहा जाता है । ऐसा करने पर -

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः । (गीता १८।४६)

अभिप्राय यह है कि अपने वर्णाश्रमोचित कर्म के द्वारा मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है । यहाँ भगवान् सिंहावलोकनन्याय से बारम्बार मन को संयमित करने के लिए समझा रहे हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी भी इसे नीच सम्बोधन देते हुए कहते हैं -

लव निमेष परमानु जुग, बरष कल्प सरचंड ।
भजसि न मन तेहि राम को, कालु जासु कोदण्ड ॥ (रा. मा. ६।१ लं. का.)

लव बाण से बाली को, निमेष बाण से खरदूषण को, परिमाण बाण से हिरण्यकशिपु को, युग बाण से रावण को, वर्ष बाण से मधुकैटभ को और कल्परूपी बाण से आकाश, पृथ्वी आदि को नाश करनेवाले भगवान् को हे मन भजो । इसके बिना किसी को सुख नहीं मिला । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी विनयपत्रिका में कहते हैं -

मूढ़ मन सूनु सिखावन मेरो ।
हरि पद बिमुख लह्यो न काहु सुख सठ ! यह समुझ सबेरो ॥
बिछुरे शशि रवि मन नैननि ते पावत दुख बहुतेरो ।
भ्रमत श्रमित निसि दिवस गगन महँ तहँ रिपु राहु बड़ेरो ॥

जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँपुर सुजस घनेरो ।
तजे चरन अजहुँ न मिटत नित, बहिबो ताहू केरो ॥
छुटै न विपति भजे बिनु रघुपति श्रुति सन्देहु निवेरो ।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि होहु राम को चेरो ॥

इसलिए भगवान् कहते हैं कि अच्छी तरह से मन को वश में करके फलाभिसंधिशून्य समस्त कर्मों को करो ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अन्वय :- **अभ्यासात् ज्ञानम् श्रेयः, ज्ञानात् ध्यानम् विशिष्यते, ध्यानात् कर्मफलत्यागः, हि त्यागात् अनन्तरम् शान्तिः ।**

अर्थ :- अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से भी श्रेष्ठ है सब कर्मों का फलत्याग, क्योंकि त्याग के पश्चात् शान्ति होती है ।

व्याख्या :- प्रेमाधिक्य रहित नीरस स्मरण के अभ्यास की अपेक्षा अपरोक्ष आत्म-ज्ञान आत्मा के कल्याण के लिये श्रेष्ठ है । भली-भाँति सम्पन्न न होने से ऐसे अपरोक्ष आत्म-ज्ञान की अपेक्षा आत्मध्यान आत्मा के कल्याण के लिये श्रेष्ठ है । भली-भाँति सम्पन्न न होने पर ऐसे आत्म-ध्यान की अपेक्षा फलत्यागपूर्वक किया हुआ कर्मानुष्ठान ही श्रेष्ठ है । फलाभिसन्धिरहित किये हुए कर्मों से मन की शान्ति हो जाती है । मन की शान्ति होने पर पराभक्ति हो जायगी । पराभक्तिवालों को यदि कोई उससे हटाना भी चाहे तो नहीं हटते तथा शाप भी वरदान हो जाता है । जैसे नारदजी को दक्ष राजा ने शाप दिया कि एक जगह न ठहरो जो नारद के लिए अच्छा हुआ । उनमें आसक्ति नहीं रह गई और दक्ष को फल मिला कि उनके दामाद शंकरजी ने सिर कटवाकर हवन कुण्ड में डलवा दिया । इसलिए फल की इच्छा त्यागकर कर्म करना चाहिए जिससे अचला भक्तियुक्त शान्ति हो ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

(यह युग्मक श्लोक है, अगले श्लोक से 'स मे प्रियः' पद लेकर एवं 'अस्ति' क्रियापद आक्षिप्त करते हुए अर्थ होगा)

अन्वय :- **सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा च मैत्रः करुणः एव निर्ममः निरहंकारः समदुःखसुखःक्षमी (सः मे प्रियः)**

अर्थ :- सभी प्राणी से द्वेषभावरहित, मित्रता और दया भाववाला, और भी ममतारहित, अहंकारहीन, सुख-दुःख में समान और क्षमाशील (ऐसा मेरा भक्त) मुझे प्रिय है ।

व्याख्या :- इस युग्म श्लोक में अगले श्लोक के **मे प्रियः** पद को मिलाकर अन्वय होगा **'यत्र काचन क्रिया नास्ति तत्र अस्ति इत्याक्षिप्यते'** के अनुसार जहाँ क्रिया नहीं रहती वहाँ **'अस्ति'** इस क्रिया का आक्षेप होता है । इस श्लोक

तथा अगले १४वें श्लोक में क्रिया नहीं है । इसलिए 'अस्ति' का आक्षेप किया जायगा । फलाभिसन्धिरहित होकर कर्म करने में निष्ठा रखने वाले पुरुषों के उपादेय गुण भगवान् बता रहे हैं, १-जो समसत प्राणियों के प्रति द्वेषभाव नहीं करनेवाले अर्थात् अपने साथ बुराई करनेवालों के प्रति, जो इस विचार से कि मेरे पूर्व जन्म के कर्मानुसार ही ईश्वर के द्वारा प्रेरित वे सब भूत प्राणी मुझसे द्वेष करते हैं, द्वेष नहीं करते । २-जो समस्त प्राणियों के साथ यह समझकर कि सभी भगवान् के पुत्र हैं, मित्रता रखते हैं । ३-निर्हेतुक सभी प्राणियों के साथ दया भाव रखते हैं । जैसे अर्जुन युद्ध के समय बन्धु-बान्धवों को देखकर **'कृपया परयाविष्टो'** (गी. १।२८) करुणा से भर गया । ४-शरीर, इन्द्रिय और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों में ममता से रहित हैं । गुरु-मंत्र का नमः पद यही बताता है । (नमः=मेरा नहीं है) ५-देह को आत्मा, इन्द्रिय को आत्मा समझने से रहित हैं । भगवान् ने दूसरे अध्याय में कहा भी है कि **'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधि गच्छति'** (२।७१) ममता और अभिमान से रहित होकर जो विचरता है वह शान्ति को प्राप्त करता है ।।७१।। अहंकार (म्लेच्छ अशुद्ध जाति का) जिसकी ममतारूपी भार्या से संयोग होने पर जुड़वा दो पुत्र राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं । इसलिए अहंकार और ममता को नष्ट कर देने पर राग-द्वेष पुत्र बिना पोषण के स्वतः नष्ट हो जाते हैं । गुरु-मन्त्रों में प्रायः जो नमः पद आता है, उससे यही उपदेश देते हैं कि ममता और अहंकार को छोड़ो । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भयानक मानस रोगों के विवरण में **'ममता दादु'** तथा **'अहंकार अति दुखद डमरूआ'** (७।१२०।३५) कहा है । ६-सुख दुःख में समान है । शरीररूपी वृक्ष में सुखरूपी मधुर फल और दुःखरूपी कटु फल होते हैं । **'चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दुःखानि च'** ये पहिये की तरह सुख दुःख आते हैं । ऐसा समझकर दोनों में समान रहते हैं तथा ७-क्षमाशील मेरा प्रिय है । इस प्रकार भगवान् ने इस श्लोक में उत्तम पुरुष के ग्रहण योग्य सात गुण बताये ।।१३।।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१४।।

अन्वय :- **सन्तुष्टः, सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः, मयि अर्पितमनोबुद्धिः यः मद्भक्तः सः मे प्रियः ।**

अर्थ :- संतुष्ट, नित्ययोगी, मन को वश में रखनेवाला (यानी यतात्मा), दृढ़निश्चयी, मुझ में अर्पित मनबद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है ।

व्याख्या :- फलाभिसन्धिरहित कर्म करनेवाले पुरुषों के उपादेय गुण बताते हुए भगवान् इस श्लोक में ५ गुण बता रहे हैं । १ जो शरीर निर्वाह के लिए मिले, वस्त्र-भोजनादि से सन्तुष्ट रहता है । भगवान् पहले इसे कह चुके हैं **'यदृच्छालाभसन्तुष्टः'** (गीता ४।२२) यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट ।।२२।। वही सिंहावलोकनन्याय से तुलसीदास जी कहते हैं -

बिनु संतोष कि काम नसाहीं । काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ।। (रा. मा. ७।८९।१)

२- निरन्तर प्रकृति से वियुक्त आत्मा में लगा रहे । भगवान् छठे अध्याय में कह चुके हैं -

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।४६।।

योगी पंचधुनि मेघाडम्बर तपादि से श्रेष्ठ हैं, वाचिक ज्ञानियों से श्रेष्ठ हैं, अश्वमेधादि यज्ञ करनेवालों से श्रेष्ठ हैं । इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी बनो ।।४६।।

३- मनोवृत्तियों का संयम द्वारा निग्रह करो । नानार्थक आत्मा शब्द यहाँ मन वाचक है ।

४- अध्यात्म शास्त्र में कही गयी बातों पर दृढ़ निश्चयवाले बनो । इसके सम्बन्ध में एक आख्यायिका उपयुक्त है । एक बार काशी नरेश के गुरु ने दीक्षा देकर गायत्री जपने के लिए कहा । वे १२वर्ष तक इस नियम से रहे । इसी समय एक वाममार्गी फाटक के पास आकर रूका और अपने कुछ नजरबंद के चमत्कारों को दिखाया तथा अन्य लोगों से काशी नरेश को भी बुलाने के लिये कहा । लोगों के आग्रह पर काशी नरेश सायं सन्ध्या-वन्दन के बाद आए । वाममार्गी ने पूछा कि आप किस मन्त्र का जप कर रहे हैं और कितना दिन जप करते हुआ ? क्या उससे कुछ सिद्धि आपको मिली ? राजा ने कहा कि १२ वर्ष गायत्री का जप करते हो गये परन्तु अभी तक कुछ मालूम नहीं हुआ । उसने कहा कि मैं आपको एक मन्त्र बताता हूँ । उसे केवल १५ दिन श्मशान में नग्न जप करने पर अन्तिम दिन आपको दोनों हाथों में मछली और एक बोतल मदिरा रखनी होगी जिसे आप आए हुए इष्ट को अर्पित कर वर प्राप्त करेंगे । राजा सोच-विचार के बाद तैयार हो गया और श्मशान पर कथनानुसार जप करते समय १५ वें दिन इष्ट आकर खड़ा हो गया और बोला कि वर माँगो । राजा ने यह विचार करके कि इसे देखूँ कैसा है ? जब पीछे सिर घुमाना चाहा तो वह डर कर बोला कि आप पीछे न देखें नहीं तो मैं जल जाऊँगा, क्योंकि आपके नेत्र से ज्वाला निकल रही है । जैसे किसी को स्वयं अपने मुख की दुर्गन्ध नहीं मालूम पड़ती है उसी प्रकार आपका तेज आपको नहीं ज्ञात होता परन्तु दूसरों को ज्ञात हो जाता है । यह सुनकर राजा मछली, मदिरा को फेंक कर पुनः गायत्री का जाप प्रारम्भ करते हुए उस पर दृढ़ हो गए । **इसलिये यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि दृढ़ निश्चयवाला बनो** । तथा ५-मुझ सगुण साकार श्रीकृष्ण भगवान् में मन **बुद्धि को समर्पित कर दो** । इस प्रकार के कर्मयोग के द्वारा मुझको भजने वाला प्रिय है । भगवान् ने चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया है -

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।गी. ७।१६।।

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार प्रकार के भक्त हैं ।।१६।। क्रमानुसार द्रौपदी, उद्धव, ध्रुव और प्रह्लाद इनके उदाहरण हैं ।।१४।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१५।।

अन्वय :- **यस्मात् लोकः न उद्विजते च यः लोकात् न उद्विजते च यः हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः सः मे प्रियः ।।**

अर्थ :- जिससे संसार (यानी संसार का कोई प्राणी) उद्विग्न नहीं होता और जो लोक से (स्वयं भी) उद्विग्न नहीं होता और जो हर्ष, अमर्ष (यानी ईर्ष्या) भय तथा उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है ।

व्याख्या :- भगवान् १५वें श्लोक से लेकर १९वें श्लोक **'भक्तिमान्मे प्रियो नरः'** पर्यन्त प्रत्यगात्मनिष्ठ योगी का लक्षण बता रहे हैं । कोश के **'लोकस्तु भुवने जने'** के अनुसार तथा **'जनि प्रादुर्भावे'** के अनुसार ये जितने उत्पन्न होनेवाले

प्राणी हैं कोई जिससे उद्विग्न नहीं होते और जो लोक से भी उद्विग्न नहीं होते । जैसे नारदजी से लोक नहीं उद्विग्न होता था और देव असुर दोनों दल में मान्य थे । आगे भगवान् चार लक्षण और बताते हुए कहते हैं कि जो किसी के प्रति हर्ष, किसी के प्रति ईर्ष्या, किसी से भय और किसी के प्रति उद्वेग से रहित हो गया है ऐसा जो पुरुष है वह भी मेरा प्रिय है । यहाँ 'च' शब्द 'अपि' अर्थ में है । एतत् लक्षण विशिष्ट पुरुष भगवान् को प्रिय हैं । जैसे शुकदेव मुनि को मार्ग में नग्न स्नान करती कुलांगनायें पैर पकड़ती हैं, आगे जाने पर बालक पत्थर मारते हैं फिर भी वे ईर्ष्या नहीं करते । **'विष्णोः पदं निर्भयम्'** समझकर ये पुरुषों से भय नहीं करते । वस्तुतः भय जितना ही जिनको रहता है वे उतना ही अस्त्र-शस्त्रादि रखते हैं और उसी के अनुसार उनके शत्रु भी रहते हैं । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि भगवान् भी शंख, चक्र गदादि रखते हैं, उन्हें भी भय होगा । जिसके **'भृकुटि-विलास सृष्टि लय होई'** तथा जो अपने सत्य संकल्प से सृष्टि का संहार कर देते हैं वे प्रभु भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने के लिये तथा उनकी रक्षा के लिये जो अवतार में प्रथम कारण है **'परित्राणाय साधूनाम्'** (गीता ४।८), अच्छी तरह से रक्षा करते हैं । इन सन्मार्गवर्तियों की रक्षा के लिये वे आयुध लिये रहते हैं ।।१२।।१५।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१६।।

अन्वय :- **अनपेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनः गतव्यथः सर्वारम्भपरित्यागी यः मद्भक्तः सः मे प्रियः ।**

अर्थ :- अपेक्षा से रहित, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, व्यथा रहित, सारे आरम्भों को त्याग करनेवाला (यानी शास्त्रीय कर्मों के अतिरिक्त अन्य सभी आरम्भों का त्यागी) जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्रिय है ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोक में आत्मनिष्ठ योगी के ६ लक्षण बता रहे हैं । १-आत्मा से अतिरिक्त वस्तु की चाहना न करे । २-शुद्ध द्रव्य से सात्त्विक भोजन द्वारा भीतरी शुद्धि तथा मिट्टी, जल, स्नानादि से बाहरी शुद्धि करे । ३-शास्त्रीय कर्म करने में दक्ष होना । ४-शास्त्र से विपरीत कर्म से उदासीन रहना । ५-शास्त्रीय कर्म करने में शीत, उष्ण एवं कठोर वस्तुओं के स्पर्श आदि दुःखों की प्राप्ति में व्यथा से रहित रहना । जैसे रोम-रोम में बाण बिधे रहने पर भी भीष्म गतव्यथ होकर उपदेश देते हैं - जिसे सुनने के लिए गीता जैसे उपदेश देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण भी जाते हैं और ६-शास्त्रीय कर्मों के अतिरिक्त अन्य समस्त कर्मों के आरम्भ का त्यागी हो । एतत् लक्षणविशिष्ट जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्रिय है । इस श्लोक में जो **'सर्वारम्भपरित्यागी'** आया है उसका कुछ लोग यह अर्थ करते हैं कि समस्त कर्मों के आरम्भ को परित्याग करना, परन्तु यह अर्थ गीता के सिद्धान्तानुसार ठीक नहीं है । भगवान् १६वें अध्याय में कहते हैं -

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। (गीता १६।२३)

जो वेद, (मेरे अनुशासन), को त्याग कर मनमाने आचरण करता है वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख और न परम गति को ही ।।२३।। और फिर कहते हैं -

अर्थ :- हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! जो कुछ भी स्थावर जंगमात्मक सत्त्व (प्राणी) उत्पन्न होता है, उसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयाग से (उत्पन्न हुआ) जानो ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि स्थावर और जंगम दो तरह के प्राणी होते हैं । जंगम के (१) अण्डे से उत्पन्न होने वाला अण्डज (२) पिण्ड से जो स्थूल रूप में उत्पन्न होते हैं वे पिण्डज तथा (३) पसीना से उत्पन्न होने वाले (जैसे-खटमल, चिलर आदि) हैं, ये तीन भेद होते हैं । स्थावर पेड़, पर्वतादि हैं ।

चौरासी लाख योनि में सबका स्थान जानना महा कठिन है । कुछ लोग कहते हैं कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति हुई । जैसे गोबर में गोबरौरा पैदा होता है । भगवान् इसका खण्डन कर कहते हैं कि गोबर जिसे तुम अज्ञानतावश जड़ समझ रहे हो उसमें भी चेतनता है । तुम्हारे इस शरीर में भी जीव है पर वह दिखाई नहीं देता तो, गोबर के चेतन जीव को तुम कैसे देखोगे ? इस तरह तुम्हारा कहना यथार्थ नहीं, क्योंकि **'नासतो विद्यते भावः'** (गी. २।१६) असत् वस्तु की सत्ता कहीं पायी ही नहीं जाती - जैसे खरहा को सींग नहीं होता और न होगा ही, आकाश में पुष्प न है न होगा क्योंकि यह असत् है, किन्तु **'नाभावो विद्यते सतः'** (गी. २।१६) अर्थात् जो सत्य है वह तो होगा ही । उसका अभाव नहीं होगा । समय पर जरूर प्रकट होगा । गोबर में जीव था तभी गोबरौरा हुआ । चेतनता नहीं रहती तो वह होता ही नहीं ।

फिर यदि तुम यह मानते हो कि चेतन से अचेतन उत्पन्न हुआ जैसे नख, बाल आदि; तो जब शरीर में चेतनता रहती है तभी नख, बाल भी बढ़ते हैं पर मर जाने पर ये नहीं बढ़ते । भगवान् कहते हैं कि यहाँ भी चेतन है पर वह अदृश्य है । अतः यह भी गलत है, अर्थात् चेतन से अचेतन या अचेतन से चेतन की उत्पत्ति मानने वाले दोनों गलत रास्ते पर हैं । भगवान् कहते हैं कि चेतन-अचेतन के परस्पर संयोग से ही उत्पत्ति होती है । अर्थात् जीवात्मा तथा देह के संयोग से ही उत्पत्ति सम्भव है ।

भगवान् यहाँ अर्जुन को भरतर्षभ शब्द से सम्बोधित करते हैं । दुष्यन्त का पुत्र भरत हुआ था । उसीने पहले-पहले भारत भूमि को उर्वरा बनाया था । कहा भी गया है - **'भरतस्येदं भारतम्'** । पीछे चलकर उन्हीं के नाम पर इस देश का भारत नाम रखा गया । भगवान् कह रहे हैं कि ऐ अर्जुन ! तुम भरत के खान्दान में श्रेष्ठ हो । श्रेष्ठ वही होता है जिसमें अधिक त्याग हो । अर्जुन ने कहा है - **'न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च'** । (गी. १।३२) वह प्रेय मार्ग का त्याग कर भगवान् से श्रेष्ठ से श्रेष्ठ मार्ग की ही कामना करता है । उपनिषद् बताती है -

श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते ।
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ (कठो. व. २।श्लो. २)

जहाँ दोनों तरफ से लड़ाई शुरू होने को है वहाँ पर भी श्रेय मार्ग का पथावलम्बी होना कितना बड़ा त्याग है । इसीसे भगवान् अर्जुन को भरतवंशियों में श्रेष्ठ कह रहे हैं ।

भगवान् कहते हैं कि ऐ अर्जुन ! चर-अचर समस्त प्राणियों का समुदाय जड़-चेतन यानी दोनों के मिलने पर ही प्राणी होते हैं न कि एक दूसरे से अलग-अलग उत्पन्न होते हैं ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

अन्वय :- **यः सर्वेषु भूतेषु विनश्यत्सु परमेश्वरम् अविनश्यन्तम् समम् तिष्ठन्तम् पश्यति, सः पश्यति ।**

अर्थ :- जो पुरुष समस्त भूतप्राणी में शरीरादिक के विनष्ट होते हुए भी उनके परमेश्वर (यानी इन्द्रियादि के स्वामी आत्मा) को नाशरहित तथा समभाव से स्थित देखता है, वही देखता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि देह और जीवात्मा दोनों के परस्पर संयोग से चर-अचर समस्त प्राणी उत्पन्न हुए हैं। समस्त प्राणियों का यह विषमाकार शरीर नश्वर है तथा उन-उन शरीर इन्द्रिय और मन के लिए परमेश्वर यानी जीवात्मा होकर रहने वाला है । उस आत्मा को जो मनुष्य उन नश्वर शरीरों में ज्ञाता रूप से एकाकार, सुखस्वरूप तथा अविनाशी रहने वाला देखता है, वही वास्तविक देखता है । अन्य तो देखते हुए भी अन्धे हैं । तात्पर्य यह कि जो देव, मनुष्य, पशु, कीट आदि देहों के भिन्न-भिन्न आकार के कारण जीवात्मा को भी एकाकार न समझकर विषमाकार देखता है तथा जो जीवात्मा को जन्म-मरण आदि से संयुक्त देखता है, वह सदैव जन्म-मरण के चक्र में आता-जाता रहता है ।

भगवान् कहते हैं कि मुख्य नेत्र श्रुति स्मृति ही हैं । उन नेत्रों से जो देखता है वही यथार्थ देखता है ।

परमेश्वर शब्द से यहाँ शंका नहीं करनी चाहिये । यहाँ प्रकरण क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ही चल रहा है और प्रकरण ही अर्थनिर्णायक होता है । शरीर, इन्द्रिय और मन से श्रेष्ठ जो मालिक प्रत्यगात्मा जीवात्मा है उसे ही यहाँ परमेश्वर कहा गया है-जैसे ब्राह्मण भोजन पर बैठे हों और अभी दो चार कवर ही खाये हों तथा उनमें से कोई कह उठे कि **'सैन्धवमानय'** तो यहाँ पर 'सैंधव' का अर्थ घोड़ा लगाकर कोई अज्ञानी रसोई घर में घोड़ा ही ला दे तो यह उसकी नासमझी है, पर जो वहाँ लवण लेकर पहुँचे तो वह यथार्थ अर्थ-निर्णायक है । अतः हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कौन बात किस समय कही जा रही है ।

इसी अध्याय में भगवान् ने पीछे कहा है -

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

यहाँ भी भगवान् ने जीवात्मा को 'महेश्वर' तथा 'परमात्मा' शब्द से कहा है । फिर आगे भी भगवान् कहते हैं-

'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः' ॥१५॥८। यहाँ भी ईश्वर शब्द प्रत्यगात्मा जीवात्मा के लिए ही आया है ।

अतः प्रमाणयुक्त यह सिद्ध हो गया कि 'परमेश्वर' शब्द यहाँ जीवात्मा का वाचक है । इसके विपरीत जो यहाँ परमब्रह्म परमेश्वर अर्थ लगाते हैं, वे भले वेद के ज्ञाता कहलावें पर महा अज्ञानी हैं ॥२७॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ (गीता १६।२४)

इसलिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था में तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है । अत: तुम्हें यहाँ शास्त्र विधान में कहे हुए तत्त्व को समझकर कर्म करना चाहिये ।।२४।।

यदि भगवान् का तात्पर्य सब कर्मों के आरम्भ को त्याग करने का होता तो यहाँ इतना जोर देकर भगवान् कर्म करने को न कहते । पहले भी भगवान् कह चुके हैं -

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि (३।२०)

लोक-संग्रह को देखकर भी तुझे कर्म करना चाहिए । स्वयं भगवान् कोचवानी करके दिखा भी रहे हैं । अतएव वे कहते हैं -

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ (गीता ३।२२)

हे पार्थ ! यद्यपि मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है और न अप्राप्त वस्तु को प्राप्त ही करना है फिर भी मैं लोक-रक्षा के लिये कर्म करता हूँ ।।२३।। इसलिए यहाँ भगवान् का तात्पर्य वेद- विहित कर्म के अतिरिक्त कर्म के आरम्भ के त्याग से है न कि समस्त कर्मों के त्याग से । इस प्रकार उपर्युक्त कहे गये ६ लक्षणों से युक्त भगवान् के प्रिय होते हैं, चाहे वे किसी वर्ग के हों । इसके अतिरिक्त भगवान् के प्रिय नहीं हैं । श्रीवेदव्यासजी कहते हैं -

न शूद्राः भगवद्भक्तास्ते वै भागवताःस्मृताः ।
सर्ववर्णेषु ते शूद्राः ये त्वभक्ताः जनार्दने ॥

भगवान् के भक्त शूद्र नहीं; निश्चय करके उनको भागवत कहते हैं । जो परब्रह्म नारायण के भक्त नहीं, वे ही सब वर्णों में शूद्र हैं । इसलिए नर-नारियों को उपदेश देते हैं कि वर्णाश्रमोचित कर्म करते हुए भगवान् के भक्त बनें, जिससे प्रिय हो सकें ।।१६।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१७।।

अन्वय :- **यः न हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न काङ्क्षति, शुभाशुभपरित्यागी यः भक्तिमान् सः मे प्रियः ।**

अर्थ :- जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न आकाँक्षा (कामना) करता है, शुभ-अशुभ दोनों का त्यागी है, जो ऐसा भक्त (यानी एवंभूत भक्तिवाला) है, वह मेरा प्रिय है ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् आत्मनिष्ठ योगी के पाँच लक्षण बता रहे हैं । १-जो आत्मनिष्ठ पुरुष धन, पुत्रादि प्राप्त होने पर हर्षित नहीं होता । २-किसी के गाली देने पर, मारने पर, हरण करने पर उसके साथ द्वेष नहीं करता । ३-स्त्री, पुत्र, धन आदि के नष्ट होने पर शोक नहीं करता । ४-किसी वस्तु की चाहना नहीं करता और ५-पाप की भाँति पुण्य भी

समान भाव से बन्धन का कारण होने से, दोनों को त्यागता है । पुण्य सोने की बेड़ी तथा पाप लोहे की बेड़ी है पर दोनों बन्धन ही हैं । पुण्य से इन्द्रादिक लोक में जाते हैं जहाँ से पुण्य क्षीण होने पर अन्य योनियों में जीव जाते हैं तथा पाप से शूकर-कूकरादि योनि में जाते हैं । इन दोनों को बन्धन होने से आत्मनिष्ठ पुरुष कर्म के फल को त्याग देता है । इन पाँचों लक्षणों से युक्त जो भक्त है वह मेरा प्रिय है । जैसे महान् युधिष्ठिर ने धन, राज्यादि प्राप्त होने पर हर्ष नहीं किया, न हरण कर लेने पर द्वेष किया । स्वर्गारोहण में द्रौपदी आदि के गलने पर न शोक किया न राजसूय यज्ञ का फल चाहा और न अशुभ जुए से हार के फल का त्याग किया और न कुछ चाहना की । ऐसे भक्त भगवान् को प्रिय हो जाते हैं और भगवान् उनके लिये कोचवान बन जाते हैं, रजस्वला द्रौपदी की रक्षा के लिये वस्त्रावतार लेते हैं । पुराणाचार्य लिखते हैं -

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णु-भक्तो द्विजाधिकः ।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु यतिश्च श्वपचाधमः ॥ (नारद पु0)

ऐ राजन् ! चाण्डाल भी यदि विष्णु भगवान् का भक्त है तो ब्राह्मणादि से बड़ा है और भगवान् की भक्ति से रहित यदि ब्राह्मणों में श्रेष्ठ संन्यासी भी है तो वह चाण्डाल से नीच है । राजसूय यज्ञ में भगवान् के भक्त चाण्डाल के न खाने से घन्टा नहीं बजा । इसलिये समस्त नर-नारियों को प्रभु की भक्ति करनी चाहिये ॥१७॥

समःशत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

(युग्म श्लोक होने से अगले श्लोक से 'मे प्रियो नरः' पद लेकर, 'अस्ति' क्रिया को आक्षिप्त किया जायेगा)

अन्वय :- **शत्रौ च मित्रे च मानपमानयोः समः, शीतोष्णसुखदुःखेषु समः तथा सङ्गविवर्जितः ।**

अर्थ :- शत्रु और मित्र में तथा मान-अपमान में एक समान, शीत-उष्ण तथा सुख-दुःख में एक समान और आसक्ति से रहित (ऐसा भक्तिमान मेरा प्यारा है)

व्याख्या :- यहाँ भगवान् आत्मनिष्ठ योगी के चार लक्षण बताते हैं । **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्** (गीता १२।१३) इस श्लोक द्वारा शत्रु, मित्र में द्वेष न करना बताया गया था । इसमें भगवान् ने दूर से देखे हुए शत्रु-मित्र में द्वेष न रखने का भाव बताया था । इस श्लोक में भगवान् का तात्पर्य शत्रु के सान्निध्य प्राप्त होने पर मन में द्वेष न रखने का है । वही भगवान् कह रहे हैं कि १-शत्रु के और मित्र के सान्निध्य प्राप्त होने पर द्वेष तथा प्रीति नहीं हो । २-माला, धूप आदि लगा कर मान करने तथा मारने, गाली देने पर भी दोनों में एक समान रहता है । ३-अधिक ठंढक पड़ने तथा ज्येष्ठ के अधिक उष्ण दोनों में एक समान और सुख-दुःख में समान तथा ४-आसक्ति से रहित जो भक्तिमान पुरुष है, वही मेरा प्रिय है । इसी को आगे चलकर भगवान् कहते हैं -

समदुखः सुखः...॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते । (१४।२४-२५)
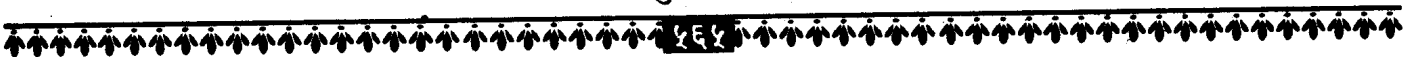
जो दु:ख और सुख में सम है, मान-अपमान में तुल्य है, मित्र और शत्रु के पक्ष में तुल्य है और जो शास्त्र में विपरीत आरम्भों का परित्यागी है, वह गुणातीत कहा जाता है ।।२५।। जैसे श्रीमद्भागवत में आवन्त्य भिक्षुक का वर्णन है । उनके ऊपर चाहे कोई मल-मूत्र फेंके, त्रिदण्ड तोड़े, चोर कहे, या माला पहनावे दोनों में सर्वदा समान रहते थे । एतत् लक्षण-विशिष्ट जन भगवान् के प्रिय हो जाते हैं । जो प्रिय होते हैं उनकी महत्ता को बताते हुए कहा गया है -

यं यं स्पृशति पाणिभ्यां यं यं पश्यति चक्षुषा ।
स्थावराण्यपि मुच्यन्ते किं पुनर्मानवा: जना: ॥

जिनको भगवान् के प्रिय भक्त हाथ से छू देते हैं, जिन-जिन लोगों को देख लेते हैं, वे जड़ भी मुक्त हो जाते हैं फिर कितना भी पापी मनुष्य हो, उनका कहना ही क्या ? जैसे प्रिय प्रह्लाद के स्पर्श से हिरण्यकशिपु जैसा महापापी मुक्त हो गया । इसलिए भगवान् का प्रिय बनना चाहिए ।।१८।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर: ॥१९॥

अन्वय :- **तुल्यनिन्दास्तुति: मौनी, येन केनचित् संतुष्ट: अनिकेत: स्थिरमति: भक्तिमान् नर: मे प्रिय: ॥**

अर्थ :- निन्दा और स्तुति को समान समझनेवाला, मौनी, जो कुछ (मिले) उससे ही सन्तुष्ट, गृह-हीन (यानी गृहासक्ति-रहित) स्थिरबुद्धिवाला जो भक्तिमान् है, (वह) मनुष्य मेरा प्यारा है ।

व्याख्या :- आत्मनिष्ठ योगियों के लक्षण बताते हुए और फलाभिसन्धिरहित कर्म करनेवाले पुरुषों के गुण को भगवान् इस श्लोक में बताकर समाप्ति कर रहे हैं । इसमें पाँच लक्षण आत्मनिष्ठ योगियों के बताये हैं । १-निन्दा करने पर न क्षुब्ध होते हैं और न स्तुति करने पर प्रसन्न होते हैं । २-वाक् इन्द्रियों का संयमन करते हैं या आत्मतत्त्व का सर्वदा मनन करते हैं । ३-शरीर के निर्वाह में उपयुक्त जिस किसी तरह के भोजन वस्त्रादि से सन्तुष्ट, ४-गृह आदि में आसक्तिरहित और ५-आत्मा में स्थिर बुद्धिवाले जो भक्तिमान् पुरुष हैं, वे मेरे प्रिय हैं । जैसे जनक जी की, धनुषयज्ञ में सभी राजाओं महाराजाओं ने प्रशंसा की और परशुराम ने **'रे जड़ जनक'** कुवाच्य कहा, पर दोनों में वे समान रहे । कुवाच्य कहने पर भी वाणी को उन्होंने संयमित रखा । सभी मिली वस्तुओं से संतुष्ट रहे । गृह में आसक्ति-रहित थे । विरक्त होने पर श्रीशुकदेवजी अपने पिता श्रीवेदव्यास से कहे गये वाक्य को ध्यान में रखकर जनक के यहाँ गये । उनके आगमन के बाद जनकजी ने उनका स्वागत सत्कार किया और सायंकाल कुछ उपदेश देने का आग्रह किया । श्रीशुकदेव मुनि ने जब उपदेश प्रारम्भ किया तो जनकजी ने अपने योगबल से अग्नि उत्पन्न की, जिससे उनका गृह जलने लगा । थोड़ी ही दूर पर श्रीशुकदेव जी अपना कौपीन टाँगे थे । जब ज्वाला उसके पास पहुँची तो वे चंचल हो उठे; जिसे देखकर जनकजी ने कहा कि श्रीमान् क्यों चंचल हो रहे हैं ? उन्होंने कहा कि ज्वाला हमारे कौपीन तक चली आ रही है इसलिये उसको बचाने के लिये चित्त में चंचलता आ गई । श्रीजनकजी ने कहा कि हमारी समस्त कोठी जल रही है । मैं नहीं घबड़ाता, परन्तु श्रीमान् जी एक कौपीन के लिये इतना क्यों चंचल होते हैं ? उसमें कोई हानि भी नहीं है । इस प्रकार जनकजी गृहासक्ति से रहित थे । ऐसे आत्मनिष्ठ को विश्वविजयी ईश्वरावतार परशुराम ने कुवाच्य कहा जिसका फल यह हुआ

कि वे जीव-कोटि के लक्ष्मण जी से हार गये, उनका अमोघ कुठार कुंठित हो गया और उनका तपोबल नष्ट हो गया। इसलिए इन ग्रहण करने योग्य गुणों को अपनाना चाहिये जिससे भगवान् के प्रिय बन सकें, क्योंकि भगवान् को कोई वर्ण, आश्रम प्रिय नहीं है। भक्तिमान् प्रिय हैं। श्रीवेदव्यास जी ने इसीलिये ८८ हजार सदस्यों के समक्ष कहा कि प्रिय बनना नीच नहीं बनना। -

केचिद् वदन्ति धनहीननरो जघन्यः केचिद् वदन्ति बलहीननरो जघन्यः।
व्यासो वदत्यखिलशास्त्रविचारदक्षो नारायणस्मरणहीननरो जघन्यः॥

एक सज्जन ने प्रस्ताव रखा कि नीच कौन है ? धनवानों के नेता ने कहा-जिसके पास धन नहीं है वह नीच है। बलवानों के नेता ने कहा कि जिसके पास बल नहीं है वह नीच है। इस विवाद को हल करने के लिये श्रीवेदव्याजी पंच बनाये गये। समस्त शास्त्रों में परिशीलन करने में कुशल व्यासजी कहते हैं कि सुरदुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर परब्रह्म नारायण को स्मरण न करने वाले ही नीच हैं। इसलिये नीच न बनकर भगवान् का प्रिय बनना चाहिये जिससे मानव-जीवन को कृतकृत्य कर सकें॥१६॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

अन्वय :- **तु ये यथोक्तं इदम् धर्म्यामृतम् पर्युपासते ते श्रद्दधानाः मत्परमाः भक्ताः मे अतीव प्रियाः।**

अर्थ :- पर जो यथोक्त यानी जैसे पहले कहे हुए (यानी उपर्युक्त) इस धर्म्यामृत का अनुष्ठान करते हैं वे श्रद्धा -युक्त मेरे परायण भक्त मेरे अत्यंत ही प्रिय हैं।

व्याख्या :- **धर्म्यं च अमृतं च'** इस विग्रह में जो धर्मानुकूल भी हो और अमृत भी वह **'धर्म्यामृत'** है। धर्म के सम्बन्ध में वैशेषिक शास्त्र में लिखा है - **'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः'** जिसके करने से ऐहिक उन्नति होते हुए परमानन्द प्राप्त होवे उसको धर्म कहते हैं। कुछ लोग बुरे काम से ऐहिक उन्नति मानते हैं। इसलिये जैमिनी लिखते हैं **'चोदना लक्षणो अर्थो धर्मः'** (पूर्व मीमांसा) जिस अर्थ का वेद में विधान किया गया है उसे धर्म कहते हैं। मनु धर्म के चिह्न लिखते हैं-

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचं इन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

१-विपत्ति में धीरता, २-सहनशीलता, ३-मन को रोकना, ४-चोरी न करना, ५-वाह्याभ्यंतर शुद्धि, ६-इन्द्रियों को वश में करना, ७-बुद्धि, ८-विद्या, ६-सत्य और १०-क्रोध न करना। ये दस धर्म के लक्षण हैं। भगवान् कहते हैं कि बारहवें अध्याय के दूसरे श्लोक - **'मय्यावेश्य मनो ये माम्'** इत्यादि कहे गये धर्मानुकूल और अमृत उपदेश का जो भक्त अनुष्ठान करते हैं वे श्रद्धायुक्त मेरे परायण भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।

यहाँ भगवान् पराभक्ति करने वालों को ही सबसे बड़ा प्रिय बताते हैं। प्रथम षटक् के छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहते हैं -

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

सब योगियों में भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें लगे हुए मन से मुझको भजता है, वह मेरे मत में श्रेष्ठतम है ॥४७॥ मध्यम षटक् के **'श्रद्दधानाः'** आदि (१२।२०) से तथा अन्तिम षटक् के १४वें अध्याय के २६वें श्लोक में **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते'** इत्यादि तथा अन्तिम १८वें अध्याय के ५५वें श्लोक में **'भक्त्या मामभिजानाति'** कहकर स्पष्ट कर देते हैं कि पराभक्तिनिष्ठ ही मेरे बड़े प्रिय हैं । जैसे प्रपन्न-जन-कूटस्थ श्रीपरांकुश मुनि तिंतिडि वृक्ष के नीचे पराभक्ति में विभोर थे, इसलिये स्वयं श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान् सांगसपरिवार वहाँ चले आये । श्रीपरांकुशजी ने भगवान् के दिव्य मंगलमय विग्रह में विभोर होकर मंगलाशासन किया । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -

मोरें मन प्रभु अस विश्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ॥ (रा. मा. ७।११६।१६)

अतः वे कहते हैं -

असि हरि भगति सुगम सुखदाई । को अस मूढ़ न जाहि सोहाई ॥ (रा. मा. ७।११८।१०)

पराभक्ति योग के पथिक आचार्य दीक्षा-काल में शिष्य के लिये तीन मन्त्र देते हैं । उनमें मूल मन्त्र में तीन पद, द्वय मन्त्र में छः पद और चरम श्लोक में ग्यारह पद हैं । सब मिलाकर २० पद हैं । इसी को संकेत करने के लिए भक्ति योग नामक बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण भगवान् ने २० पद कहे हैं ।

इस तरह मध्यम षटक् और भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०॥

॥ बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच कौन्तेय ! इदम् शरीरम् क्षेत्रम् इति अभिधीयते । यः एतत् वेत्ति तम् तत् विदः क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले-कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है । जो इसको (यानी इस क्षेत्र को) जानता है, उसको जानने वाले ज्ञानी पुरुष क्षेत्रज्ञ ऐसा (या ऐसे नाम से) कहते हैं ।

व्याख्या :- परम कारुणिक कृष्णचन्द्र भगवान् ने पार्थ-सारथी बनकर अर्जुन के व्याज से हमलोगों के कल्याणार्थ गीता द्वारा अति रहस्यतम उपदेश दिया है । भगवान् ने पीछे दो षट्कों में एक से लेकर बारह अध्याय तक जिनका वर्णन किया है उन्हीं सभी प्रसंगों का स्पष्टीकरण इस उत्तम षट्क में कर रहे हैं । तेरहवें अध्याय से लेकर १८वें, अन्तिम अध्याय तक उत्तम षट्क कहलाता है । १३वें अध्याय में भगवान् पहले देह और जीवात्मा का स्वरूप तथा इसके स्पष्टीकरण द्वारा यह अध्याय प्रारम्भ कर रहे हैं ।

यहाँ प्रारम्भ में ही '**श्रीभगवानुवाच**' कहा गया है । इसका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, अन्य नहीं ।

"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम् ।

वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥" (वि. पु. ६।५।७८)

भूतों की उत्पत्ति, प्रलय, अगति, गति, विद्या और अविद्या इन छः चीजों के ज्ञाता को भगवान् कहते हैं, जो सब कृष्ण भगवान् में उपस्थित हैं ।

शास्त्रानुसार बिना पूछे नहीं कहना चाहिये और जानते हुए भी जड़वत् व्यवहार करना चाहिये । यहाँ यह सन्देह नहीं करना चाहिये कि अर्जुन के बिना पूछे भगवान् कैसे कहते हैं ? क्योंकि अर्जुन पहले से कह चुका है "**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**" (गी. २।७) आप मेरे हित की बाते कहें । दूसरे भगवान् अर्जुन के मन की बात समझकर अपनी सर्वज्ञता द्योतन करने के लिए ही यह कह रहे हैं । तीसरे यह नियम गुरु-शिष्य में न्याय्य नहीं है, शिष्य गुरु के यहाँ अध्ययन करने जाता है, गुरु जैसा उचित समझता है वैसा ही उपदेश देता है ।

भगवान् कहते हैं कि ऐ कुन्ती-नन्दन अर्जुन ! यह देह जो कि देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं स्थूल हूँ आदि इस तरह भोगने वाली जीवात्मा के साथ समानाधिकरण रूप से प्रतीत होने के कारण स्थौल्यादियुक्त आत्मा रूप से प्रतीत होता

है, परन्तु वास्तव में भोक्ता जीवात्मा देह से भिन्न पदार्थ है । यह देह उस भोगने वाली जीवात्मा का भोग-क्षेत्र है । ऐसे देहतत्त्व को अच्छी तरह समझने वाले कहते हैं ।

जो इस देह के सारे अवयवों को पृथक्-पृथक् तथा संघात रूप से समझता है उसे यह भी ज्ञात होता है कि मैं इसको जानता हूँ । इससे सिद्ध होता है कि इस देह को जानने वाला इस देह से अलग तथा भिन्न है । उस ज्ञाता को, आत्मतत्त्व को यथार्थ समझने वाले पुरुष 'क्षेत्रज्ञ' नाम से कहते हैं-जैसे खेत का मालिक 'खेतिहर' खेत नहीं वह उससे अलग एवं भिन्न है ।

यद्यपि जिस समय मनुष्य घटादि का अनुभव करता है उस समय मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ इत्यादि रूप से देव मनुष्यादि शरीरों के 'मैं' 'मैं' इस रूप से प्रतीत होने के कारण शरीर को ही ज्ञाता रूप से आत्मा समझता है, फिरभी जिस समय वह देह का अनुभव करता है तो उसे यह अनुभव होता है कि मैं इस शरीर को जानता हूँ । उस समय वह अपने शरीर को भी उसी तरह से 'यह' इस रूप से जानता है जिस तरह घटादि को यह-यह इस रूप से जानता है । इस तरह ज्ञाता आत्मा से शरीर भी उसी तरह ज्ञेय होने के कारण भिन्न विषय है जिसतरह घटादि ज्ञेय पदार्थ । किञ्च जिस तरह ज्ञेय घटादि से ज्ञाता आत्मा भिन्न है उसी तरह से देह आत्मा से भिन्न है । शरीर की आत्मा के समानाधिकरण्येन प्रतीति तो इसलिए होती है कि शरीर आत्मा का अपृथक् सिद्ध विशेषण है, अर्थात् आत्मा के बिना शरीर स्थित नहीं रह सकता है । जिस तरह शरीर के अपृथक् सिद्ध विशेषण होने के कारण गोत्वादि के शरीर की समानाधिकरण्येन प्रतीति होती है उसी तरह आत्मा और शरीर के साथ भी स्थिति है । आत्मा चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय नहीं है । उसको योगयुक्त मन के द्वारा ही जाना जा सकता है । ऐसे उस असामान्य आकारवाली आत्मा को देही से संयुक्त होने के कारण अज्ञानी (चार्वाकादि) देह को ही आत्मा मानने लगते हैं । इस बात को भगवान् आगे चलकर कहेंगे भी :-

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्'
विमूढाः नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः । (भगवद्गीता अ. १५।१०)

अर्थात् शरीर छोड़कर जाते हुए को, अथवा शरीर में स्थित हुए को और विषयों को भोगते हुए को, अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानीजन नहीं जानते हैं, केवल ज्ञानरूपी नेत्रों वाले ज्ञानीजन ही तत्त्व को जानते हैं ॥१॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

अन्वय :- **भारत ! सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञम् अपि च माम् विद्धि । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः यत्ज्ञानम्, तत् ज्ञानम्, (इति) मम मतम् ।**

अर्थ :- अर्जुन ! सारे क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी तथा मुझे जान । क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही (उपादेय) ज्ञान है, यह मेरा मत है ।

व्याख्या :- श्रीकृष्ण भगवान् कह रहे हैं कि हे ज्ञान के प्रकाश में सदा रत रहनेवाले अर्जुन ! समस्त शरीरों में क्षेत्रज्ञ भी तू मुझको जान । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही उपादेय ज्ञान है, यही मेरा मत है ।

अर्थात् देव, मनुष्य आदि सभी शरीरों में नियमित रूप से ज्ञाता क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो । मैं उन सबों की (अन्तर्यामी होने के कारण) आत्मा हूँ । **'अपि शब्दः स्वार्थं ज्ञापयन् परार्थमपि ज्ञापयति'** । इस नियम के अनुसार अपि शब्द के द्वारा मुझे शरीर भी जानो यह अर्थ ज्ञात होता है । जिस तरह आत्मा का अपृथक् सिद्ध विशेषण होने के कारण शरीर का उसके सामानाधिकरण्येन निर्देश होता है, उसी तरह शरीर और जीव हमारे (भगवान् के) अपृथक् सिद्ध स्वभाव वाले हैं । अतः वे हमारे सामानाधिकरण्येन निर्देश करने के योग्य हैं । किञ्च जिस तरह शरीर से आत्मा भिन्न पदार्थ है उसी तरह मैं भी इन शरीर और आत्मा से भिन्न ही हूँ । १५वें अध्याय में भगवान् शरीर और क्षर तथा अक्षर शब्द से कहे जाने वाले जीवों से अपने को पृथक् बतलाते हैं -

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(भग. गी. अ. १५ श्लो. १६, १७, १८,।)

निम्न श्रुति भी इस बात का प्रतिपादन करती है कि पृथ्वी आदि के संघात स्वरूप शरीर और आत्मा भगवान् के शरीर हैं और भगवान् इन सबों की आत्मा हैं-

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद । यस्य पृथिवी शरीरम् ।
यः पृथिवीमन्तरोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः । (बृ. ३।७।३।)

इस तरह यह जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक विषयक ज्ञान बतलाया है वह ही ज्ञान उपादेय है, यह मेरा मत है ।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इस वाक्य को लेकर कुछ टीकाकार कहते हैं कि इस सामानाधिकरणक वाक्य से एकत्व की प्रतीति होती है, अतएव मानना चाहिये कि ईश्वर को ही अज्ञानता के कारण क्षेत्रज्ञत्व का भ्रम होता है । क्षेत्रज्ञत्व उस रूप भ्रम की निवृत्ति के ही लिए यह एकत्वोपदेश है । जिस तरह कोई आप्त पुरुष किसी भ्रान्त व्यक्ति को यह उपदेश देता है कि यह रज्जु है सर्प नहीं है तो उस भ्रान्त व्यक्ति का भ्रम दूर हो जाता है । उसी तरह आप्त पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ भगवान् के इस उपदेश से क्षेत्रज्ञत्व भ्रम की निवृत्ति हो जाती है।

उन (टीकाकारों) से यह पूछना चाहिए कि ये उपदेशक जो परमेश्वर भगवान् हैं, आत्मा के यथार्थस्वरूप के साक्षात्कार के द्वारा उनका अज्ञान नष्ट हुआ कि नहीं ? यदि हुआ है तो फिर निर्विशेष ज्ञानमात्र स्वरूप वाली आत्मा में क्षेत्रज्ञत्व की प्रतीति हो नहीं सकती । फिर उनको अर्जुन आदि के रूप से भेद दर्शन हो ही नहीं सकता है, फलतः यह उपदेश भी करना संभव नहीं है; क्योंकि उपदेश तो किसी दूसरे के रहने पर ही संभव है । यदि यह कहें कि उनका भी अज्ञान नहीं नष्ट हुआ है, तो फिर वे स्वयं अज्ञानी हैं, उनको आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं है तो फिर दूसरे को आत्मज्ञान का उपदेश कैसे दे सकते हैं ? भगवान् पहले कह भी चुके हैं **'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'** (गी. ४।३४)अर्थात् तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे ।

अतएव जिनलोगों ने कभी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, न्याय, सदाचार और अपने कथन के विरोध को नहीं समझा है, जिनको अपना सिद्धांत स्थापन करने का दुराग्रह है, ऐसे अज्ञानियों द्वारा संसार को मोह में डालने के लिए इस तरह के सिद्धांत चलाये गये हैं । अतः ऐसे सिद्धान्त को नहीं मानना चाहिये ।

इसके विषय में श्रुति भी कहती हैं -

'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' वह गुणेश्वर प्रकृति और पुरुष दोनों का स्वामी है । (श्वे. उपनि. ६।१६)

'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' (श्वे. उ. १।६) आत्मा और उसके प्रेरक को पृथक्-पृथक् समझकर फिर परमात्मा का प्रेमपात्र बना हुआ जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है ।

'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्ननन्योऽभिचाकशीति' (मु. उ. ३।१।१) इन दोनों में एक फल का स्वाद लेता हुआ उसका भोग करता है और दूसरा उसे नहीं खाता हुआ हृष्ट पुष्ट प्रसन्न रहता है । **'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः'** (श्वे. उ. ४।५) । लाल (रजोगुण), सफेद (सत्त्वगुण) और काला (तमोगुण) रंगवाली अपने अनुरूप बहुत सी सन्तानों को जन्म देनेवाली अकेली अजा का (माया को) एक अज (जीव) अनुकूल होकर प्रेमपूर्वक भोग करता है और दूसरा अज (परमात्मा) उस भुक्तभोगा का त्याग कर देता है ।

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे. उ. ६।८) जिसकी स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया रूपा विभिन्न प्रकार की परम शक्तियाँ सुनी जाती हैं ।

अतः यहाँ पर शरीर और जीवात्मा भगवान् के शरीर हैं । भगवान् शरीरी हैं, इस शरीरात्मभाव सम्बन्ध को ही लेकर भगवान् ने इस श्लोक को कहा है ।।२।।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।।३।।

अन्वय :- **तत्क्षेत्रम् यत् च यादृक् च यद्विकारि यतः च यत्, सः च यः, च यत्प्रभावः तत् समासेन मे शृणु ।**

अर्थ :- वह क्षेत्र जो है, और जैसा है और जिस विकारवाला है, जिससे तथा जो है (यानी उत्पन्न होता है) तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो है, जौर जिस प्रभाववाला है, वह सब तू मुझसे संक्षेप में सुनो ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! मैं इस अध्याय में यह शरीर जिन द्रव्यों से बना है और यह जिनका आश्रय है, इसके जो विकार हैं, यह जिस प्रयोजन के लिए उत्पन्न है तथा इसका जो स्वरूप है, किञ्च वह प्रसिद्ध जो क्षेत्रज्ञ है उसका स्वरूप तथा उस क्षेत्रज्ञ का जो प्रभाव है ये सारी बातें संक्षेप में कहूँगा । उन्हें तुम सुनो । इस श्लोक में भगवान् शरीरारम्भक द्रव्य, शरीराश्रित पदार्थ, शरीर के विकार, शरीर के प्रयोजन, आत्मा का स्वरूप तथा आत्मा के प्रभाव को बतलाने की प्रतिज्ञा करते हैं । इन्हीं बातों का प्रतिपादन इस अध्याय में भगवान् करेंगे ।।३।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।४।।

अन्वय :- **ऋषिभिः बहुधा गीतम्, विवधैः छन्दोभिः पृथक् च हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्रपदैः एव ।**

अर्थ :- (यह क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का तत्त्व) ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है, नाना प्रकार के वेद-मन्त्रों द्वारा पृथक्-पृथक् कहा गया है और ऐसे ही युक्तियुक्त विनिश्चित ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी (कहा गया है)

व्याख्या :- देह और जीवात्मा के स्वरूप का विवेचन पराशरादि ऋषियों के द्वारा बहुत तरह से किया गया है । अनेक तरह के वेद-मंत्रों द्वारा अलग-अलग कहा गया है तथा ऐसे ही निश्चित अर्थ करने वाले युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों में भी कहा गया है । इसीको परम कारुणिक भगवान् इस श्लोक में समझा रहे हैं । इस शरीर तथा जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन विष्णु-पुराण में पराशर ऋषि ने किया है - **'अहं त्वं च तथान्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव । गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् ।** (वि. पु. २।१३।६६)' अर्थात् राजन् ! मैं तू और अन्य सभी पञ्चभूतों के द्वारा ढ़ोये जा रहे हैं । यह पञ्चभूत वर्ग भी गुणों के प्रवाह में पड़कर जा रहा है और जीवात्मा के विषय में कहा गया है कि **'आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः । प्रवृद्ध्यपचयौ नास्य चैकस्याखिलजन्तुषु' (वि. पु. २।१३।७१)** । वस्तुतः आत्मा शुद्ध, अविनाशी, शान्त, निर्गुण और प्रकृति से परे है । सब प्राणियों में एक रूप से स्थित इस आत्मतत्त्व की वृद्धि और क्षय भी नहीं है तथा और भी कहा गया है कि - **'पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरः पाण्यादिलक्षणः** (वि. पु. २।१३।८६) । पुरुष का सिर और हाथ आदि लक्षणों वाला शरीर उससे अर्थात् जीवात्मा से सर्वथा पृथक् है ।

नाना प्रकार के छन्दों द्वारा अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के द्वारा भी देह और जीवात्मा का स्वरूप अलग-अलग बतलाया गया है ।

'तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः संभूतः आकाशाद् वायुः,
वायोरग्निः, अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः,
ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः, स वा एषः पुरुषः अन्नरसमयः' । (तै. उ. २।१)

अर्थात् ऐसी इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ । आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष अर्थात् देह उत्पन्न हुआ । ऐसा यह पुरुष अन्न और रसमय है । आत्मा के विषय में कहा गया है कि **'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'** (तै. उ. २।४) । ऐसे इस मनोमय शरीर से भिन्न उसके अन्तर में रहने वाली जीवात्मा विज्ञानमय है ।

ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाले सूत्र नामक पद को ही ब्रह्मसूत्र पद कहा गया है । वे पद युक्ति से युक्त तथा अच्छी तरह निर्णय करने वाले हैं । ऐसे शारीरक सूत्रों के पदों द्वारा भी यही तत्त्व कहा गया है । **'न वियदश्रुतेः'** (ब्रह्म. सू. २।३।१) । आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि इसमें श्रुति प्रमाण नहीं है । यहाँ से पूर्व पक्ष का आरम्भ करके क्षेत्र यानी शरीर के भेदों का निर्णय कहा गया है तथा **'नात्माऽश्रुतिर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः'** (ब्रह्मसूत्र २।३।१७)यानी आत्मा
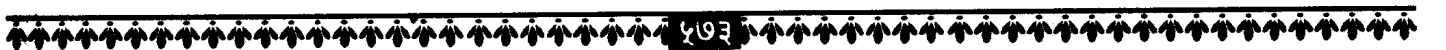
उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि जीवात्मा की उत्पत्ति बताने वाली कोई श्रुति नहीं है तथा उन श्रुतियों से उसका नित्यत्व भी प्रतिपादित है । यहाँ से आरम्भ कर **'ज्ञोऽतएव'** (ब्र. सू. २।३ १८) । इसीलिए वह जानने वाला है, इत्यादि सूत्रों द्वारा जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप का निर्णय किया गया है । इसके पश्चात् **'परात्तु तच्छ्रु तेः'** (ब्रह्मसूत्र २।३।४१) यह सूत्र बतलाता है कि उस ज्ञाता आत्मा का कर्तृत्व परमात्मा के अधीन ही श्रुतियों से सिद्ध होता है । इस तरह सबों की प्रवृत्ति परमात्मा के अधीन श्रुति-सिद्ध होने के कारण सबों का भगवदात्मकत्व सिद्ध होता है और सब भगवान् के शरीर सिद्ध होते हैं । महर्षि वाल्मीकि भी लिखते हैं **'जगत् सर्वं शरीरं ते ।'** (वा. रा. यु. का.) अर्थात् हे भगवन् ! यह सम्पूर्ण जगत् आपका शरीर है ।

सूत्र के विषय में ब्रह्माण्ड-पुराण में लिखा गया है -

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

अनवद्य, अस्तोभ, सर्वतोमुख सार वाला, सन्देह रहित जो अल्पाक्षर हो उसको सूत्रज्ञ लोग सूत्र कहते हैं ।

'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' (ब्रह्म सूत्र १।१।१) इस सूत्र से प्रारम्भ कर **'अनावृत्तिः शब्दात्'** (ब्रह्म-सूत्र १।४।२२ इस सूत्र पर्यन्त (१) समन्वयाध्याय (२) विरोध-परिहार अध्याय (३) साधना अध्याय और ४ फल अध्याय इन चार अध्यायों में ब्रह्म सूत्र विस्तृत है । इस प्रकार ऋषियों के द्वारा अनेक प्रकार से बतलाये गये शरीर और आत्मा के यथार्थ ज्ञान को मैं सुस्पष्ट कह रहा हूँ उसे तुम सुनो ॥४॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

अन्वय :- **महाभूतानि, अहङ्कारः बुद्धिः च अव्यक्तम् एव दश इन्द्रियाणि च एकम् च पञ्च इन्द्रियगोचराः ।**

अर्थ :- (पञ्च) महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि तथा अव्यक्त यानी प्रकृति (ये शरीरारम्भक द्रव्य), और दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँच इन्द्रियों के विषय (शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध)-(सोलह शरीराश्रित तत्त्व हैं)

व्याख्या :- इस श्लोक में कृष्ण भगवान् संक्षेप में शरीर के आरम्भक द्रव्यों तथा विकारों का वर्णन करते हैं जो निम्नांकित हैं -

भगवान् कहते हैं कि पञ्च महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्त ये शरीर के उत्पन्न करने वाले द्रव्य हैं अर्थात् ये शरीरारम्भक द्रव्य हैं ।

महाभूत पाँच हैं -

(१) पृथ्वी - जिस पर प्राणी विचरणादि करते हैं ।
(२) जल - जिसे पीकर प्राणी प्यास शान्त करते हैं ।

(३) तेज - जिससे प्राणी गर्मी प्राप्त करते हैं ।

(४) वायु - जिसे हम श्वास द्वारा ग्रहण करते हैं ।

(५) आकाश - जिसके द्वारा प्राणियों को अवकाश सब कामों को करने के लिए मिलता है । भूतों के आदि कारण को अहङ्कार कहते हैं ।

महत्तत्त्व को बुद्धि कहते हैं और प्रकृति का नाम अव्यक्त है । ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन और इन्द्रियों के पाँच विषय ये शरीर के आश्रित तत्त्व हैं ।

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच प्रकार की होती हैं -

(१) श्रोत्र - ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक शब्द का ज्ञान जिससे हो उसे श्रोत्र कहते हैं ।
(२) त्वचा - जिसके द्वारा शीत-उष्ण का ज्ञान हो उसे त्वचा कहते हैं ।
(३) चक्षु - जिससे लाल, पीला आदि रंग ज्ञात हो उसे चक्षु कहते हैं ।
(४) घ्राण - जिससे सुगन्धि दुर्गन्धि का ज्ञान हो उसे घ्राण कहते हैं ।
(५) रसना - जिस ज्ञानेन्द्रिय से खट्टा-तीता आदि का ज्ञान होवे उसे रसना कहते हैं ।

तथा कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच प्रकार की होती हैं, जो निम्न हैं -

(१) वाक् (वाणी) जिसके द्वारा कुछ कहा जाय ।
(२) हाथ - जिसके द्वारा कुछ करते हैं ।
(३) पैर - जिसके द्वारा चलते हैं ।
(४) गुदा - जिसके द्वारा प्राणी मल त्याग करते हैं ।
(५) उपस्थ - जिसके द्वारा प्राणी मूत्र त्याग करता है ।

ज्ञानेन्द्रियों के विषय भी पाँच प्रकार के होते हैं जो निम्न हैं -

(१) शब्द, (२) रूप, (३) स्पर्श, (४) रस और (५) गन्ध । श्रोत्रं का विषय शब्द, चक्षु का विषय रूप, त्वचा का विषय स्पर्श, जिह्वा का विषय रस और घ्राण का विषय गन्ध है ।

सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर विषयों का अनुभव मन के द्वारा ही होता है । यह युग्म श्लोक है । इस श्लोक में भगवान् ने शरीर के तत्त्वों को समझाया है ॥५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

अन्वय :- **इच्छा, द्वेषः, सुखम् दुःखम् चेतनाधृतिः संघातः, एतत् क्षेत्रम् समासेन सविकारम् उदाहृतम् ॥**

अर्थ :- (शरीराम्भक द्रव्य एवं शरीराश्रित तत्त्व सहित) - इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख चेतन का आधाररूप (आधृतिः) संघात यह क्षेत्र संक्षेप में विकारों सहित (यानी कार्य सहित) कहा गया है ।

व्याख्या :- यहाँ इस श्लोक में कृष्ण भगवान् संक्षेप में शरीर की चार चीजों को शरीर का विकार कहते हैं, जो निम्न हैं -

(१) इच्छा - जो अपनी कामना है उसको इच्छा कहते हैं ।

(२) द्वेष - किसी को दु:ख पहुँचाने के लिए भीतरी प्रवृत्ति पैदा होना ही द्वेष है ।

(३) सुख - अपनी आत्मा के अनुकूल जो ज्ञान होवे उसे सुख कहते हैं ।

(४) दु:ख - आत्मा के प्रतिकूल जो ज्ञान हो उसे दु:ख कहते हैं ।

इच्छा, द्वेष, सुख और दु:ख ये क्षेत्र के कार्य हैं, अत: इनको क्षेत्र का विकार कहते हैं । यद्यपि इच्छा द्वेष आदि को आत्मा का धर्म माना जाता है, फिर भी ये धर्म आत्मा में तब आते हैं जब कि आत्मा का शरीर से सम्बन्ध हो । निश्शरीर आत्मा में ये धर्म नहीं होते हैं, अतएव ये शरीर के ही विकार हैं । आगे चलकर भगवान् कहेंगे भी कि **'पुरुष: सुखदु:खानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।'** (गी. १३।२०) अर्थात् सुख दु:खादि के भोक्तृत्व में कारण प्रकृति संस्पृष्ट पुरुष ही है, अतएव ये शरीर के ही कार्य हैं । ''चेतनाधृति:'' यहाँ पर चेतन + आधृति: है । 'आधृति' पद का अर्थ आधार है । इससे यह अभिप्राय है कि सुख-दु:ख भोगने वाली तथा अपवर्ग का साधन करने वाली जीवात्मा के आधार रूप से उत्पन्न यह भूतसंघात क्षेत्र है । प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त द्रव्यों से बना हुआ इन्द्रियों के आश्रयभूत इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख आदि विकारों वाला भूतों का संघात स्वरूप इस शरीर का प्रयोजन चेतन को सुख, दु:ख आदि की प्राप्ति ही है । इस तरह संक्षेप में भगवान् ने कार्य सहित इस शरीर का वर्णन किया ।।६।।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रह: ।।७।।

(इस कूलक श्लोक के लिए ११वें श्लोक के उत्तरार्द्ध, 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' के साथ अन्वय अपेक्षित है)

अन्वय :- **अमानित्वम्, अदम्भित्वम्, अहिंसा, क्षान्ति:, आर्जवम् आचार्योपासनम् शौचम्, सथैर्यम्, आत्मविनिग्रह: ।**

अर्थ :- मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की उपासना, पवित्रता (यानी बाहर भीतर की शुद्धि) स्थिरता एवं मन का भलीभाँति निग्रह (ये 'नव' आत्मज्ञान के साधन हैं)

व्याख्या :- कृष्णचन्द्र भगवान् आत्मज्ञान के साधन होने के कारण ग्रहण करने योग्य २० गुणों को अर्जुन से कह रहे हैं । उनमें से इस श्लोक में पहले नव गुणों को ही बता रहे हैं । इस ७वें श्लोक का ११वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' वाक्य है उसके साथ अन्वय है, अत: इसको लेकर ही इस श्लोक का अर्थ करना चाहिये, क्योंकि यह कूलक श्लोक है । कूलक के विषय में लिखा गया है कि -

द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभि: श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिस्यात् तदूर्ध्वं कूलकं स्मृतम् ।। (वा.प.)

दो श्लोकों का जहाँ अन्वय हो उसे युग्मक, तीन श्लोकों का एक साथ जहाँ अन्वय हो उसे विशेषक चार श्लोकों का जहाँ एक साथ अन्वय किया जाय उसे कलापक और पाँच तथा इससे अधिक श्लोकों का जहाँ एक साथ अन्वय हो उसे कूलक श्लोक कहते हैं । भगवान् आत्मदर्शन के नव साधन बतला रहे हैं, वे निम्न हैं -

(१) अमानित्व (मानहीनता) श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति तिरस्कार बुद्धि न रखना ही अमानित्व है ।

(२) दम्भहीनता - आपनी ख्याति के लिए धर्मानुष्ठान करना ही दम्भ है और इस गुण का न होना ही दम्भहीनता है ।

(३) अहिंसा - मन, वाणी तथा शरीर से दूसरे को कष्ट न देना ही अहिंसा है ।

(४) क्षान्ति (क्षमा) - दूसरे द्वारा कष्ट दिये जाने पर भी हृदय में विकार का न होना ही क्षान्ति है ।

(५) आर्जव - आर्जव (सरलता) - पराये के लिए मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति का एकरूप होना ही आर्जव है ।

(६) आचार्य की उपासना - आचार्य का लक्षण पद्म-पुराण उत्तर खण्ड २२६ अ. में लिखा गया है कि -

यस्तु मंत्रद्वयं सम्यगध्यापयति वैष्णवः ।
स आचार्यस्तु विज्ञेयो भवबन्धविनाशकः ॥४॥

जो वैष्णव द्वयमंत्र को अच्छी तरह से पढ़ाता है तथा संसार के बंधन नाश करने वाला होता है उसको आचार्य जानना । ऐसे आत्मज्ञान देने वाले सद्‌गुरु को प्रणाम करने का, उनसे कुछ पूछने का और उनकी सेवादि में लगे रहने का नाम आचार्योपासना है ।

(७) शौच - मन, वाणी और शरीर में आत्मज्ञान और उसके साधन की शास्त्र-सिद्ध योग्यता प्राप्त हो जाने का नाम शौच है । अर्थात् बाह्य शुद्धि मिट्टी तथा जल से और आन्तरिक शुद्धि योगाभ्यास द्वारा करना ही शौच है ।

(८) स्थिरता - अध्यात्म शास्त्र में बतलायी गयी बातों पर दृढ़ भाव रखने का नाम स्थिरता है ।

(९) आत्मविनिग्रह - आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त विषयों से चित्त को अलग हटाये रखना ही आत्मविनिग्रह है ।

इस तरह भगवान् नव साधन बतलाकर हमें इन्हें करने का उपदेश दे रहे हैं ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

(यह भी कूलक श्लोक है, पूर्ववत् 'एतत् ज्ञानमिति प्रोक्तम्' से अन्वय अपेक्षित है)

अन्वय :- **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्, अनहंकारः एव च जन्ममृत्युजराव्यधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।**

अर्थ :- इन्द्रियों के भोगों में वैराग्य, अहंकार का भी न होना और जन्म, मृत्यु जरा-व्यधि और दु:ख रूप दोषों को बार-बार देखना (ये भी 'ज्ञान' के साधन कहे गये हैं)

व्याख्या :- भगवान् यहाँ इस श्लोक में अर्जुन को आत्मज्ञान-साधन में से तीन गुणों की व्याख्या संक्षेप में कर रहे हैं, जो निम्न हैं -

(१) इन्द्रियों के भोगों में वैराग्य - आत्मा के अतिरिक्त विषयों में दोष देखकर उनसे विरक्त हो जाना ही वैराग्य है । हमारा चित्त अति चंचल है । इसे अभ्यास तथा वैराग्य से स्थिर रखना ही निर्मल करना है ।

(२) अहङ्काररहीनता - अहं बुद्धि न करना अर्थात् तीर्थ, व्रत, दानादि करते हुए अहंभाव न रखना ही अहंकारहीनता है और अनात्मा शरीर में आत्माभिमान का अभाव होना ही अहङ्काररहीनता है । यह उपलक्षण मात्र है; जो अपने को बोध कराते हुए अपने से अतिरिक्त का बोध करे उसको उपलक्षण कहते हैं । अतएव जो अपनी वस्तु नहीं है उसमें अपनेपन का अभाव हो जाना अहङ्काररहीनता है ।

(३) जन्म, मृत्यु, जरा-व्याधि एवं दु:खरूप दोष को बार-बार देखना-कहा भी गया है कि 'जनमत मरत दुसह दु:ख होई' चाहे गरीब हो या धनी अथवा किसी वर्ण का हो परन्तु जन्म-मरणादि से सभी को बराबर दु:ख है। यह सोचना चाहिये कि जन्म-मरणादि का दुसह दु:ख जब तक शरीर रहेगा तब तक हर योनि में होता ही रहेगा, अत: ऐसा उपाय सोचना चाहिये कि जन्म-मरणादि का चक्र ही छूट जाय ।।८।।

असक्तिरनभिष्वङ्ग: पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।९।।

(कूलक श्लोकहै, - 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' से अन्वय अपेक्षित है)

अन्वय :- **असक्ति: पुत्रदारगृहादिषु, अनभिष्वङ्ग: च इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यम् समचित्तत्वम् ।**

अर्थ :- अनासक्ति, पुत्र-स्त्री-गृहादि में अलिप्तता तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्तियों में सदा समचित्त रहना (ये भी 'ज्ञान' के साधन कहे गये हैं)

व्याख्या :- यहाँ भी भगवान् आत्मदर्शन के तीन साधनों को बतला रहे हैं जो निम्न हैं :-

(१) अनासक्ति - आत्मा के अलावे अन्य विषयों में आसक्ति न रखना ही अनासक्ति है । भगवान् कह रहे हैं कि तुमने भिन्न-भिन्न योनियों में कई बार माता-पिता, पुत्र, धनादि पाया पर अब भी रास्ते पर आओ और मुझमें आसक्ति करो ।

(२) पुत्र, स्त्री, घर, धनादि में अलिप्तता-अपने वर्णनुसार कर्म करते हुए उनमें अति आसक्ति नहीं रखना । भगवान् कह रहे हैं कि यह अपनी आँख से देखी हुई बात ही कहा रहा हूँ । कंस ने अपने माता-पिता को हीं जेल दिया, पुत्र होकर भी साथ न दिया । स्त्री में अति आसक्ति करनेवाले दशरथ को भी कैकेयी ने साथ न दिया । गृह में अति आसक्ति करने वाले दुर्योधन ने भी उस गृह का उपभोग नहीं किया । अत: व्यवहार मात्र ही इन उपर्युक्त चीजों

में प्रेम करना चाहिए ।

(३) इष्ट तथा अनिष्ट को पाने में सर्वदा मन को समचित्त रखना । मनोनुकूल पदार्थ होने पर हर्ष नहीं करना और प्रतिकूल पदार्थ होने पर उद्वेग नहीं करना सदा समचित्त रहना है । जैसे खाने को अच्छा भोजन मिले या रूखा-सूखा दोनों हालत में समचित्त रहना । युधिष्ठिर अपने राज्य-काल में तथा जंगल में घूमकर जीवन-यापन करने में भी समचित्त रहे ॥६॥

भगवान् कह रहे हैं कि इन साधनों को करना तभी शरीर पाने का फल आत्म-दर्शन पाओगे ।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
(कूलक श्लोक है, अन्वय एवं अर्थ 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' को लेकर होंगे)

अन्वय :- **मयि अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः, विविक्तदेशसेवित्वम् च जनसंसदि अरतिः ।**

अर्थ :- मुझमें अनन्ययोग से अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देश में रहने का स्वभाव एवं जनसमुदाय में अप्रीति (ये भी ज्ञान के साधन कहे गये हैं)

व्याख्या :- इस श्लोक में भी कारुणिक कृष्ण भगवान् आत्म-साक्षात्कार के साधन रूप तीन गुणों की विवेचना कर रहे हैं, जो निम्न हैं -

(१) भगवान् कहते हैं कि सर्वेश्वर परब्रह्म नारायण में ऐकान्तिक भाव से अचला भक्ति करना तब तुम आत्मदर्शन करोगे । अविच्छिन्न तैलधारावत् भक्ति करनी चाहिये । वह भक्ति वृद्धहारीत-स्मृति में नव प्रकार की कही गयी है, जो निम्नांकित हैं -

शंखचक्रोर्ध्वपुण्ड्रादिधारणं स्मरणं हरेः ।
तन्नामकीर्तनं चैव तन्निवेदितभोजनम् ॥
तत्पादवन्दनं चैव तत्पादाम्बुनिषेवणम् ।
एकादश्युपवासश्च तुलस्या अर्चनं हरेः ॥
तदीयानामर्चनं च भक्तिर्नवविधा स्मृता ॥ (वृ. हा. ५।७७।५६)

(१) शंख, चक्र ऊर्ध्वपुण्ड्रादि को धारण करना । (२) हरि का स्मरण करना (३) विष्णु का नाम-संकीर्तन करना । (४) विष्णु का भोग लगया हुआ भोजन करना (५) श्रीहरि के चरणारविन्दों की सेवा करना (६) श्रीविष्णु के चरणोदक का सेवन करना (७) एकादशी को उपवास करना (८) तुलसी से श्रीहरि की पूजा करना और (९) भागवतों की पूजा करना ।

भगवान् कहते हैं कि द्वितीय साधन यह है -

(२) एकान्तदेशीय होने का स्वभाव - निर्जन, निस्तब्ध स्थान में रह कर मन को इन्द्रियों सहित समेटने का अभ्यास करोगे तब आत्मदर्शन होगा । श्रीशठकोप स्वामी ने निर्जन इमली के वृक्ष के नीचे बैठकर ही तपस्या की और मुझे प्राप्त किया ।

(३) जन-समुदाय में अरति - भगवान् कहते हैं कि दुष्टों से व्यवहार मात्र ही प्रेम रखो, अति प्रीति न लगाओ । उनकी सभा मण्डली में जाना पर उनका दोष ग्रहण न करना । इन साधनों द्वारा आत्मदर्शन होगा ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानामिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अन्वय :- **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् एतत् ज्ञानम् इति प्रोक्तम्, यत् अतो अन्यथा (तत्) अज्ञानम् ।**

अर्थ :- अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति, तत्त्वज्ञान के अर्थ का दर्शन, - यह (सब) ज्ञान है इससे दूसरे प्रकार का यानी विपरीत जो है, वह अज्ञान है ।

व्याख्या :- आत्मा जिससे जानी जाये उसी को अध्यात्मज्ञान कहते हैं । दीन-दयालु भगवान् श्रीकृष्ण ने अब इस श्लोक में और दो गुणों को बतलाकर आत्मदर्शन के २० साधन रूप गुणों को कह दिया । वे दो गुण निम्न हैं -

(१) अध्यात्म-ज्ञान में नित्यस्थिति - भगवान् कहते हैं कि आत्मविषयक ज्ञान का नाम ही अध्यात्म-ज्ञान है । इसमें अविच्छिन्न रूप से स्थिर रहना चाहिये । अर्थात् नियम बनाकर कुछ देर तक भगवान का ध्यान करना चाहिये जिससे मन स्थिर रहे ।

(२) तत्त्व-ज्ञान के अर्थ का दर्शन - भगवान् बता रहे हैं कि जो तत्त्व-ज्ञान का फल रूप तत्त्व है उसमें भली-भाँति तल्लीन हो जाना । अर्थात् ब्रह्म, जीव एवं माया को समझना फिर चेतन तत्त्व जीवात्मा जो अणु है इसे जानना और भगवान् से मैं भिन्न हूँ इसे समझना । सन्त कवि तुलसीदास जी साफ शब्दों में लिखते हैं - **'जीव अनन्त एक श्रीकन्ता'** ।

भगवान् ने यहाँ पर ७वें श्लोक के 'अमानित्वम्' से लेकर ११वें श्लोक के 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' पर्यन्त बीस आत्म-साधन के गुण को कहा है और इसी को यहाँ पर ज्ञान कहा गया है, क्योंकि **'ज्ञायते अनेनात्मा इति ज्ञानम्'** यह इसकी व्युत्पत्ति है । इससे भिन्न सम्पूर्ण शरीर का कार्य आत्मज्ञान का विरोध है । इसी से वह अज्ञान है ॥११॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

अन्वय :- **यत् ज्ञेयम् तत् प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते । (तत्) अनादि मत्परम् ब्रह्म, तत् न सत् न असत् उच्यते ।**

अर्थ :- जो ज्ञेय है उसको मैं कहूँगा, जिसको जानकर (मनुष्य) अमृत भोगता है । वह अनादि, मत्पर (यानी मैं यानी भगवान्, जिसका स्वामी हूँ) और ब्रह्म है वह न सत् और न असत् ही कहा जाता है (यानी न सत् और न असत् कहा जा सकता है)

व्याख्या :- श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् बता रहे हैं कि 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थ-दर्शनम्' तक बीस साधन रूप गुणों द्वारा प्राप्त करने योग्य जो प्रत्यगात्मा जीवात्मा का स्वरूप है उसको मैं कहूँगा । जिसको जानकर मनुष्य जन्म-मरणादि धर्मों से रहित होकर अमृत स्वरूप प्रत्यगात्मा को प्राप्त कर लेता है ।

भगवान् कहते हैं कि वह जीवात्मा अनादि है । जिसका आदि न हो उसे अनादि कहते हैं । इस प्रत्यगात्मा की उत्पत्ति नहीं है और अन्त भी नहीं है, क्योंकि श्रुति ने कहा है - **'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'** (क. उ. १।२।१८) यानी विपश्चित् आत्मा न जन्मती और न मरती है । अतः वह अनादि है । **अहं परो यस्यः** इस बहुब्रीहि समास के अनुसार भगवान् कहते हैं कि मैं परमात्मा जिसका पर स्वामी हूँ उसका नाम ही मत्पर है । मैंने गीता में भी कहा है-**'इतस्त्वन्यां प्रकृतिम् विद्धि मे परां जीवभूताम्'** (गी. ७।५) और श्रुति भी कहती है - **'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'** (श्वे. उ. ६।१६) अन्य श्रुति भी कहती है - **'यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति'** (शतपथ १४।५।३०) यानी आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है ।

तथा वह क्षेत्रज्ञ तत्त्व ब्रह्म है, अर्थात् बृहत्व के गुणों से युक्त है । वह देह से भिन्न वस्तु है; यानी शरीरादि के द्वारा अपरिच्छिन्न है, क्योंकि श्रुति कहती है - **'स चानन्त्याय कल्पते'** (श्वे. उ. ५।९) क्योंकि वह अनन्त पद की प्राप्ति के योग्य होता है । यहाँ पर ब्रह्म शब्द जीवात्मा वाचक है, क्योंकि भगवान् ने इसी गीता में बताया है - **'स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते'** (गीता १४।२६) और **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च'** (गीता १४।२७) एवं **'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति'** (गीता १८।५४) अर्थात् ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा पुरुष न शोक करता है न आकाँक्षा ही । इन सभी स्थलों में स्पष्ट ब्रह्म शब्द जीवात्मा का वाचक आया है । अतएव यहाँ भी 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ जीवात्मा ही होता है ।

वह जीवात्मा न सत् कही जा सकती है और न असत् ही । यानी कार्य तथा कारण रूप दोनों अवस्थाओं से रहित होने के कारण सत् और असत् इन दोनों शब्दों द्वारा जीवात्मा का स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि कार्यावस्था में वह देव, मनुष्य आदि नाम से युक्त रहने के कारण सत् शब्द से कही जाती है, किन्तु शुद्धावस्था में वह नाम रूप से रहित रहती है, अतएव उसे सत् शब्द से नहीं कहा जा सकता है, फिर भी उसकी सत्ता रहती है अतएव वह असत् भी नहीं कही जा सकती ।।१२।।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।१३।।

अन्वय :- **तत् सर्वतः पाणिपादम्, सर्वतः अक्षिशिरोमुखम्, सर्वतः श्रुतिमत् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति ।**

अर्थ :- वह (यानी जीव-तत्त्व) सब ओर हाथ पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर, मुखवाला सब जगह कानवाला है

तथा संसार में सबको ढक कर स्थित हो रहा है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भी भगवान् जीवात्मा के स्वरूप को ही समझा रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि वह प्रत्यगात्मा जीवात्मा सर्वत्र हाथ पैर वाली है, अर्थात् देह के संसर्ग से रहित विमल अणु जीवात्मा सभी जगह हाथ पैर का कार्य करने में समर्थ है ।

यह अणु (जीवात्मा) सर्वत्र नेत्र वाला, सिर वाला, कान वाला है । त्रिपाद विभूति या लीला विभूति दोनों जगहों में सर्वत्र सर्वदा देखता रहता है, अर्थात् यह नेत्र, मुख, कर्णादि इन्द्रियों का काम करने वाला है, क्योंकि उपनिषद् कहती है- **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'** श्वे. उ. ३।१६ अर्थात् वह बिना हाथ पैर के चलने और ग्रहण करने वाला है, बिना आँख के देखता है तथा बिना कान के सुनता है और मुक्त जीव के विषय में श्रुति कहती है - **'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति'** (मु. उ. ३।१।३) इस श्रुति के अनुसार परमात्मा के समान मुक्तात्मा जीव होता है । इससे वह उसके समान ही समस्त इन्द्रियों से युक्त रहता है । वह जीवात्मा संसार में सबको ढककर स्थित हो रही है, अर्थात् संसार में जो कुछ भी वस्तुमात्र है उन सबको व्याप्त की हुई है । अभिप्राय यह कि विमल, शुद्ध प्रत्यगात्मा जीवात्मा का स्वरूप देश आदि के द्वारा अविच्छिन्न होने के कारण सर्वव्यापी है ।।१३।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१४।।

अन्वय :- **सर्वेन्द्रियगुणाभासम्, सर्वेन्द्रियविवर्जितम्, असक्तम् सर्वभृत्, च एव निर्गुणम् च गुणभोक्तृ ।**

अर्थ :- वह (जीव तत्त्व) सब इन्द्रियों के गुणों के द्वारा भासमान, सब इन्द्रियों से रहित, असक्त पर सबका धारणकर्ता है और वैसे ही निर्गुण है पर गुणों का भोक्ता भी है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भी भगवान् जीवात्मा के स्वरूप की ही विवेचना कर रहे हैं ।

'सर्वेन्द्रियगुणैराभासो यस्य तत् सर्वेन्द्रियगुणाभासम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सभी इन्द्रियों के गुणों के द्वारा जिसका आभास हो उसे ही सर्वेन्द्रियगुणाभस कहते हैं तथा इन्द्रियों की वृत्तियों का नाम ही इन्द्रिय गुण है । भगवान् कहते हैं कि यह जीवात्मा इन्द्रियों की वृत्तियों के द्वारा ही विषयों को जानने में समर्थ है, परन्तु स्वभाव से यह जीवात्मा सब इन्द्रियों से रहित है, अर्थात् बिना इन्द्रियों की वृत्तियों के ही अपने-आप ही सब कुछ जानती है । यद्यपि यह स्वभावतः देव, मनुष्य, पशु आदि देहों से संग रहित है पर इन देव, मनुष्यादि सब देहों को धारण करने में समर्थ भी है । श्रुति कहती है -

'स एकधा भवति (द्विधा भवति) त्रिधा भवति' । (छा. उ. ७।२६।२) और वह जीवात्मा स्वभावतः सत्तोगुण, रजोगुण, तमोगुण से रहित है, परन्तु इन सभी गुणों को भोगने में समर्थ भी है ।।१४।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१५।।

अन्वय :- **तत् भूतानाम् बहिः च अन्तः, चरम् च अचरम् एव, तत् सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयम् च दूरस्थम् च अन्तिके ।**

अर्थ :- वह भूतों के बाहर और अन्दर है, चर और अचर भी है, वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है और दूरस्थ भी है तथा समीप भी ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् विमल प्रत्यगात्मा जीवात्मा के स्वरूप को समझा रहे हैं ।

भगवान् कहते हैं कि यह जीवात्मा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन भूतों को छोड़कर देह से रहित होकर बाहर रहती है । इसे भगवान् ने पीछे भी बताया है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ (गी. २।२२)

और साधारण स्थिति में देह के भीतर भी रहती है । श्रुति कहती है - **'जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा'** (छा. उ. ८।१२।३) अर्थात् भोजन करता हुआ, स्त्रियों से क्रीड़ा करता हुआ, या रथ आदि यानों द्वारा भ्रमण करता हुआ यह जीव विचरता है । स्वच्छन्द प्रवृत्तियों में वह अचर होते हुए भी चर, है, अर्थात् स्वभावतः तो वह अचर है, परन्तु देह के संयोग से चर है । भगवान् ने गीता में ही पीछे कहा है -**'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो'** २।२० एवं **'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः'** २।२४ अतः यह जीवात्मा मुक्तावस्था या शरीरावस्था में सदा एक-सी रहती है तथा जीवात्मा अणु अति सूक्ष्म है । अतः यह अविज्ञेय है । श्रुति कहती है -

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥९ ॥ (श्वे. उ. ५।९)

एक बाल की नोक को हम सौ टुकड़ा कर लें, फिर उनमें से एक टुकड़े को पुनः सौ टुकड़ा कर लें । उनमें से एक टुकड़ा जितना सूक्ष्म हो सकता है उसके समान ही जीवात्मा का स्वरूप समझना चाहिए । इस तरह वह सर्वशक्तिसम्पन्न सर्वज्ञ आत्मतत्त्व इस देह में पृथक्, भाव से रहता हुआ भी अतिसूक्ष्म होने के कारण संसारी मनुष्यों के द्वारा पृथक् रूप में नहीं समझा जाता ।

वह अति दूर भी है समीप भी है, अर्थात् भगवान् ने १३।७ **'अमानित्वम्'** से लेकर **'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'** १३।११ तक जो आत्मदर्शन के २० साधनों को बताया है वैसा आचरण करने वालों के लिए जीवात्मा समीप ही है और इसके विपरीत आचरण करने वालों के लिए वह बहुत दूर भी है । अर्थात् विपरीत गुण वाले शरीर में रहते हुए जीवात्मा का दर्शन नहीं कर पाते हैं, अतः दूर है और इन गुणों को रखने वाले शरीर में ही इस जीवात्मा का दर्शन कर लेते हैं, इनके लिए समीप है ॥१६॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

अन्वय :- **च (तत्) अविभक्तम् भूतेषु विभक्तम् इव स्थितम् च तत् ज्ञेयं भूतभर्तृ च ग्रसिष्णु च प्रभविष्णु ।**

अर्थ :- और वह (यानी आत्म-तत्त्व) अविभक्त होते हुए भी सब भूतों में विभक्त की तरह स्थित है और वह ज्ञेय तत्त्व भूतों का भर्ता (भरण करने वाला) तथा ग्रसने वाला और उत्पन्न करने वाला (यानी उत्पत्ति का हेतु) भी है ।

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि पहले कहे गये बीस साधनों को न जानने वाला मनुष्य शरीर से जीवात्मा को अलग नहीं समझता । ऐसे लोग कहते हैं कि मैं मनुष्य हूँ, मेरी बाँह है, मैं काला हूँ - आदि समझते हुए अपने-अपने शरीर को ही जीवात्मा समझ बैठते हैं, परन्तु इन बताये गये २० साधनों को जो जानते हैं वे मनुष्य जीवात्मा को शरीर से अलग देखते हैं । अगर शरीर ही जीवात्मा है तो प्राणान्त होने पर इसमें चेतना क्यों नहीं रहती ? अतः शरीर जीवात्मा नहीं ।

वह ज्ञेय तत्त्व जीवात्मा प्राणियों के शरीर का पालन पोषण करती है । अर्थात् वह पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश से बने देह को धारण करने वाली जीवात्मा शरीर के द्वारा ही खाद्य पदार्थों का रसास्वादन करती है । खाद्य पदार्थ चार प्रकार के होते हैं (१) भक्ष्य - अन्नादि जो चबाकर खाया जाता है । (२) चोष्य-(भोज्य) चूसकर खाने वाला पदार्थ जैसे नींबू आदि । (३) लेह्य - चाट कर खाने वाला पदार्थ जैसे चटनी और (४) पेय - जैसे, दूध । खाये जाने वाले भूतों से जीवात्मा उन पदार्थों का भक्षक होने से देह से भिन्न वस्तु है ।

वह जीवात्मा उत्पत्ति का कारण भी है । चारो तरह के खाद्य पदार्थ वैश्वानर अग्नि द्वारा पचाया जाता है । मोटा अंश मल, पतला अंश पेशाब, विशुद्ध अंश हड्डी-मांस, उत्तम अंश रुधिर बनता है । उससे भी उत्तम अंश जो होता है वह नरों में वीर्य तथा नारियों में रज बनकर रहता है । ऋतु काल में ही सर्वप्रथम रज-वीर्य के संयोग से देह का पिंड बनता है । यह अति बारीक (सूक्ष्म) जीव वीर्य के साथ ही पिंड में चला जाता है । जिस तरह जमीन पर गिरा हुआ अन्न समय पर ही अंकुरित होता है उसी प्रकार पिण्ड में विद्यमान जीव भी समय आने पर उत्पन्न होता है । अतः यह जीवात्मा उत्पत्ति का हेतु भी है ।

कुछ लोग श्रुति में कहे गये - **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'** (बृ.) इस वाक्यानुसार इसका गलत अर्थ समझ कर यह कहते हैं कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म है, पर नहीं । मिट्टी को जानने वाला मिट्टी नहीं कहलाता, मशीन को जानने वाला इन्जीनियर मशीन नहीं कहलाता उसी तरह ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म नहीं कहला सकता । यहाँ पर मुझे एक सज्जन का किया गया प्रश्न याद आ गया जो इसी का उत्तर है । काशी में जब मैं प्रवचन कर रहा था तो एक गाँव के पण्डित ने हमसे पूछा कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म क्यों नहीं कहलाता ? मैंने उन्हें समझाते हुए कहा कि तब तो गदहा को जानने वाले को गदहा हो जाना चाहिये और पुस्तक को जानने वाला पुस्तक हो जाय तो वे बहुत शर्मिन्दा हुए । मैंने कहा कि ब्रह्म को अच्छी तरह जानने वाला ब्रह्म के समान हो सकता है पर ब्रह्म नहीं हो सकता । हमारे सन्त तुलसीदास ने भी कहा है कि **'बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना'** । व्याकरण से भी ब्रह्मैव पद में ब्रह्म + आ + इव ऐसा पदच्छेद है । अतः ब्रह्म को अच्छी तरह से जानने वाले ब्रह्म के समान हो जाते हैं, ब्रह्म नहीं । यदि दुर्जन तुष्यतु न्याय से ब्रह्म + एव ऐसा ही पदच्छेद मान लिया जाय तो भी एव शब्द साम्य का ही वाचक होगा । एव शब्द को साम्यार्थक बतलाते हुए निघण्टु कहता है - 'साम्ये चैव क्वचिच्छब्दः' अर्थात् एव शब्द कहीं-कहीं समानार्थक भी देखा जाता है । इसलिए न्याय
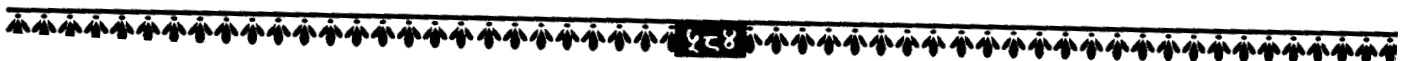
सुदर्शनकार एव शब्द को इस श्रुति में साम्यवाची ही बतलाते हैं । **'एव शब्दः साम्यवाची'** । किञ्च **नानार्थ वैजयन्ती के अव्ययपर्याय संग्रहाध्याय में** भी एव शब्द को समानार्थक बतलाते हुए कहा गया है - **'साम्ये वद्वैवमेवेव'** अर्थात् वति प्रत्यय वा शब्द, एवं शब्द, एव शब्द और इव शब्द साम्य के वाचक हैं । किञ्च वेद का एक वाक्य है, **'वैष्णवं वामनमालभेत स्पर्धमानो विष्णुरेव भूत्वेमान् लोकानभिजयति'** इस वाक्य में प्रयुक्त विष्णुरेव शब्द में एव समानार्थक ही है ।

इसलिए श्रीभाष्यकार भी 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति' इस श्रुति में एव शब्द समानार्थक ही मानते हैं । इस तरह ब्रह्म+एव पदच्छेद करने पर भी साम्यार्थक ही अर्थ सिद्ध होता है जो लोकन्याय के भी अनुकूल है ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

अन्वय :- **तत् ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः, तमसः परम् उच्यते । (तत्) ज्ञानम् ज्ञेयम् ज्ञानगम्यम्, सर्वस्य हृदि विष्ठितम् ।**

अर्थ :- वह ज्योतियों की भी ज्योति है । (उसे) अन्धकार से पर (यानी प्रकृति से पर) कहा जाता है । (वह) ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है तथा सबके हृदय में स्थित है ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में भी प्रत्यगात्मा जीवात्मा के स्वरूप की व्याख्या कर रहे हैं ।

भगवान् कहते हैं कि दीपक, सूर्य, मणि और चन्द्रमा आदि सभी ज्योतियों की वह जीवात्मा ही ज्योति है, क्योंकि जब शरीर में जीवात्मा है तभी हम सूर्य अग्नि आदि को भी देखते और जानते हैं । जीवात्मा के निकल जाने पर ये सब अन्धकारमय हो जाते हैं । जीवात्मा ज्ञान की ज्योति को ज्योतिर्मय करने वाली है । सूक्ष्मावस्था की मूल प्रकृति को तम कहते हैं । ये दीपक आदि तो इन्द्रियों और विषय के संयोग में विघ्न डालने वाले अन्धकार को ही नष्ट करते हैं और इसीसे वे प्रकाशक समझे जाते हैं, वह जीवात्मा तो इनकी भी ज्योति है।

वह आत्मतत्त्व जीवात्मा तम से श्रेष्ठ है, अर्थात् वह जीवात्मा प्रकृति से परे है । अतः वह ज्ञान रूप से ज्ञेय है । अर्थात् केवल ज्ञान-स्वरूप है । इस प्रकार वह जानने योग्य है और वह ज्ञानगम्य है । यानी पहले बतलाये गये बीस साधनों द्वारा प्राप्त हो सकने वाली है और देव, मनुष्यादि सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित है । शरीर के अन्दर जीवात्मा का प्रवेश करना तथा बाहर निकलना नहीं देखा जाता । इसके बाहर के नव दरवाजे हैं । श्रुति बताती है कि -

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ (श्वे. ३।१८)

इन्हीं मार्गों से सूक्ष्म प्रकृति से भी परे जीवात्मा शरीर से बाहर निकलती है ॥१७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

अन्वय :- **इति क्षेत्रम् तथा ज्ञानम् च ज्ञेयम् समासतः उक्तम् । मद्भक्तः एतद् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते ।**

अर्थ :- इस प्रकार क्षेत्र और ज्ञान तथा ज्ञेय संक्षेप से कहा गया । मेरा भक्त इसको जानकर मेरे भाव को प्राप्त होने के योग्य बन जाता है ।

व्याख्या :- परम कारुणिक कृष्णचन्द्र भगवान् कहते हैं कि **'महाभूतान्यहंकारः'** १३।५ से लेकर **'संघातश्चेतनाधृतिः'** १३।६ पर्यन्त क्षेत्र अर्थात् देह का स्वरूप मैंने बताया । फिर **'अनादिमत्परम्'** १३।१२ से लेकर **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** १३।१७ पर्यन्त भगवान् ने संक्षेप में जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप भी कहा ।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! मेरे भक्त देह के यथार्थ स्वरूप को, देह से अलग जीवात्मा के स्वरूप की प्राप्ति के उपाय के यथार्थ स्वरूप को तथा जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर मेरा स्वभाव प्राप्त कर लेता है । अर्थात् वह असंसारित्व की प्राप्ति कर लेता है ।

मनुष्य-योनि ही जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा देने वाली योनि है । भगवान् कहते हैं कि मेरा जो प्रेमी मेरी बातों को ग्रहण कर लेगा अर्थात् अच्छी तरह से शरीर को, जीवात्मा के साक्षात्कार के साधनों को एवं जीवात्मा के स्वरूप को यथार्थ रूप से जान लेगा वह जनक की तरह संसार में रहते हुए भी असंसारित्व को प्राप्त कर देह से मुक्त होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । अर्थात् वह हमारे समानधर्म को प्राप्त कर लेता है ॥१८॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

अन्वय :- **प्रकृतिम् च पुरुषम् अपि उभौ एव अनादी विद्धि । च विकारान् च गुणान प्रकृतिसंभवान् एव विद्धि ।**

अर्थ :- प्रकृति तथा पुरुष भी दोनों को ही अनादि जानो और सब विकारों और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुआ ही जानो ।

व्याख्या :- भगवान् यहाँ पर शरीर और इसमें जो सोवे उसे पुरुष बता रहे हैं । जीवात्मा के सोने का स्थान शरीर है । अमरकोष ने बतलाया है **'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः'** ये तीनों पर्यायवाची हैं और प्रकृति के विषय में भी बताया गया है कि - **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** (श्वे. उ. ४।१०)गो-गोचर पदार्थ ही माया है और प्रकृति शरीर है ।

भगवान् कहते हैं कि प्रकृति तथा पुरुष दोनों संश्लिष्ट हैं तथा ये दोनों अनादि हैं । जिस प्रकार मिट्टी का छोटा रूप दीपक या बड़ा रूप घड़ा बनाता है उसी प्रकार जीवात्मा भी भिन्न-भिन्न रूप का शरीर धारण करती है । इसीलिए प्रकृति को अनादि समझो तथा पुरुष भी अनादि है ।

शरीर के कार्य को विकार कहते हैं । चौबीस तत्त्वों से बने इस शरीर के (१) सुख (२) दुःख (३) इच्छा और (४) द्वेष ये ही चार विकार हैं और ये ही विकार जीवात्मा को बाँधकर भिन्न-भिन्न योनियों, प्रकृति अर्थात् शरीर के रूप में करते रहते हैं । नर में जन्म देने की शक्ति नहीं है, पर नारी में यह शक्ति निहित है ।

भगवान् कहते हैं कि 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक जो २० साधन आत्म-दर्शन के बताये हैं, ये गुण भी प्रकृति से ही उत्पन्न हैं । अर्थात् पुरुष के संसर्ग में पड़ी हुई यह अनादिकाल से प्रवृत्त देह की आकृति में परिणत प्रकृति ही अपने विकार सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष के द्वारा जीवात्मा को बाँधने का कारण होती है और वही अपने विकार बीस साधन रूप अमानित्व आदि गुणों द्वारा जीवात्मा के मोक्ष का कारण होती है ।।१६।।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।२०।।

अन्वय :- **कार्यकारणकर्तृत्वे प्रकृतिः हेतुः उच्यते । सुखदुःखानाम् भोक्तृत्वे पुरुषः हेतुः उच्यते ।**

अर्थ :- कार्य-कारण के कर्तापन में प्रकृति (यानी पुरुषाधिष्ठित प्रकृति) हेतु कहलाती है । सुख-दु:खों के भोक्तापन में पुरुष हेतु कहलाता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि देह का नाम ही कार्य है और १ मन ५ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा ५ कर्मेन्द्रियाँ ये कुल ग्यारह इन्द्रियाँ ही कारण हैं । इनकी क्रियाओं को करने में पुरुषाधिष्ठित प्रकृति (देह) ही कारण है । जैसे-सुनना, देखना, खाना आदि क्रियाओं को करवाने में पुरुषाधिष्ठित प्रकृति ही कारण है । देह स्वतन्त्र रूप से कारण नहीं, बल्कि जीवात्मा-संश्लिष्ट प्रकृति ही कारण है ।

पुरुष (जीवात्मा) का तो केवल अधिष्ठातापन ही उस प्रकृति की अपेक्षा अधिक है क्योंकि देह के अधिष्ठान का और प्रयत्न का कारण होना ही जीवात्मा का कर्तापन है । देह से संयुक्त जीवात्मा ही सुख-दु:ख के भोगने में कारण है, अर्थात् देह-संसर्ग से युक्त रहने से ही जीवात्मा इन सुख-दु:खों का अनुभव करती है । शक्ति के उपासक कहते हैं कि शक्ति अर्थात् भगवती से ही यह सारा संसार उत्पन्न है, पर नहीं । लोक में हमें यह देखने को मिलता है कि माता को बच्चा पैदा करने की शक्ति है पर बिना पति के नहीं । अतएव ऐसे मत वाले स्वयं अपनी भगवती का खण्डन करते हैं । यह उनकी अज्ञानता ही है, क्योंकि बच्चा माता से उत्पन्न हुआ यह ठीक पर बिना पिता के वीर्य के यह कदापि सम्भव नहीं । दूसरे यह भी लोक में देखा जाता है कि माता के जन्म देने पर भी बच्चा पिता के नाम से कहा जाता है, अमुक का पुत्र है । माता के नाम से नहीं । अत: यह कहना भ्रम है कि केवल प्रकृति से ही संसार उत्पन्न है बल्कि प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से यह उत्पन्न है ।।२०।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।२१।।

अन्वय :- **हि पुरुषः प्रकृतिस्थः प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते (अतः) गुणसंगः अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणम् ।**

अर्थ :- चूँकि (यह) पुरुष प्रकृतिस्थ हो (यानी प्रकृति) के संसर्ग से उत्पन्न (प्रकृतिजन्य) गुणों को भोगता है (अतएव) गुणों का संग ही उसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म का कारण है ।

व्याख्या :- भगवान् बतलाते हैं कि प्रकृति अर्थात् शरीर होने में हेतु क्या है ? भगवान् कहते हैं कि सबसे पहले वाले शरीर के परिणामस्वरूप देव, मनुष्य, पशु आदि तरह-तरह योनियों में स्थित यह जीव उन-उन देहों में प्राप्त सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण से सुख-दु:ख आदि में आसक्त रहकर और उन-उन कर्मों के अनुसार उन फलों को भोगने के लिए शुभ-अशुभ योनियों में जन्म लेता है । तदनन्तर फिर कर्म करता है और फिर उत्पन्न होता है । यानी जन्म-मरण का ताँता लगा रहता है । इस प्रकार जबतक पुरुष **'अमानित्वम्'** १३।७ से लेकर **'तत्त्वज्ञानार्थदशनम्'** १३।११ पर्यन्त इन बीस साधनों द्वारा आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर लेता तबतक जन्म-मरण के चक्र से पुरुष को छुटकारा नहीं मिलता । श्रुति ने भी कहा है -

'ये रमणीयचरणास्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् । ये कपूयचरणास्ते कपूयां योनिमापद्येरन्' ।। छा. ५।१०।७ तात्पर्य यह है कि अपने कर्म के अनुसार ही पुरुष सत् और असत् योनियों में जन्म लेकर पुण्य और पाप के फल को भोगता है ।

'गुण' शब्द यहाँ गुणों के कार्यों का औपचारिक नाम है - जैसे स्वर्ण के कटक, कुण्डल आदि स्वर्ण ही कहे जाते हैं । मिट्टी से बना घड़ा, दीप आदि को मिट्टी ही कहा जाता है । वैसे ही यह जीवात्मा देह में स्थित होकर अर्थात् शरीर के संसर्ग से युक्त होकर शरीर के गुणों को भोगती है । यानी देह के संसर्ग से उत्पन्न सत्त्वादि गुणों के कार्यरूप सुख-दु:ख आदि का अनुभव करती है । जीवात्मा तो स्वभाव से सुख-स्वरूप है पर देह से संश्लिष्ट होकर ही सुख-दु:ख का अनुभव करती है ।।२१।।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।।२२।।

अन्वय :- **देहे अस्मिन् परः पुरुषः उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता च महेश्वरः च परमात्मा अपि, इति उक्तः ।**

अर्थ :- इस शरीर में (यह) पर पुरुष उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता तथा महेश्वर और परमात्मा भी (है) - ऐसा कहा गया है ।

व्याख्या :- गीता का अर्थ करते समय प्रकरण का हमें ध्यान रखना चाहिये । भगवान् ने कौन शब्द कहाँ प्रयोग किया है इस पर ध्यान रखना चाहिये । यहाँ पर **'महेश्वर'** तथा **'परमात्मा'** दो शब्द आये हैं । ये दोनों जीवात्मा वाचक ही हैं । इसीको मैं पहले बता रहा हूँ ।

यहाँ सुखस्वरूप विमल जीवात्मा का ही प्रकरण चल रहा है । भगवान् ने पीछे बताया है- **'जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः'** ६।७। यहाँ परमात्मा शब्द प्रत्यगात्मा जीवात्मा के लिए ही है । फिर इसी अध्याय में भगवान् ने कहा है कि **'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।'** १३।२४। यहाँ भी **'आत्मानम्'** का अर्थ जीव वाचक आया है । आगे भी भगवान् बतलाते हैं - **'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः'** ।१५।८। इस श्लोक में ईश्वर शब्द जीवात्मा के लिए ही आया है । इस तरह सर्वत्र ईश्वर या परमात्मा शब्द जीववाचक ही भगवान् बताते हैं। अतः यहाँ भी परमात्मा और महेश्वर शब्द जीवात्मा वाचक ही भगवान् कह रहे हैं ।

भगवान् कहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय और मन से श्रेष्ठ जो जीवात्मा है वह उपद्रष्टा है । पुण्डरीकाकार हृदय में रहनेवाली जीवात्मा अपने सेवक इन्द्रियों द्वारा सब कामों को देखती है । शरीर से संश्लिष्ट होकर यह प्रत्यगात्मा इन्द्रियों द्वारा कार्यों का मनन भी करती है और देह का भरण-पोषण भी करती है । देह के संसर्ग से जीवात्मा प्रकृति की प्रवृत्ति से उत्पन्न सुख-दु:ख को भोगने वाली भी है ।

इस तरह सुखस्वरूप प्रत्यगात्मा देह का नियमन करने से और धारण तथा पोषण करने से यह देह का स्वामी भी है, इसलिए शरीर, इन्द्रिय और मन का महेश्वर भी है । यहाँ भोक्ता के साहचर्य से महेश्वर शब्द जीवात्मा का वाचक है, क्योंकि श्रुति कहती है -

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' (श्वे. उ. १।१२) यहाँ भी जीवात्मा को भोक्ता बतलाया गया है ।

इस प्रकार महेश्वर एवं परमात्मा यहाँ जीवात्मा को ही भगवान् बतला रहे हैं । अत: इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ प्रकरण में यहाँ अन्य अर्थ करना अन्याय है ।।२२।।

य एनं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिम् च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभियाजते ।।२३।।

अन्वय :- **यः एनम् पुरुषम् च गुणैः सह प्रकृतिम् वेत्ति, सः सर्वथा वर्तमानः अपि भूयः न अभिजायते ।।**

अर्थ :- जो इस पुरुष को और गुणों के साथ प्रकृति को जानता है, वह सब प्रकार से बरतता हुआ भी (यानी बर्ताव करते हुए भी) फिर जन्म नहीं ग्रहण करता है ।

व्याख्या :- यहाँ पर 'एनम्' शब्द पद जो है वह अन्वादेश है । कही हुई बात को फिर से कहना ही अन्वादेश है । भगवान् कहते हैं कि सुख-स्वरूप जो विमल जीवात्मा है वह देह के सम्बन्ध से सत्त्वादि गुणों की क्रिया कराने में कारण है तथा सुख-दु:ख को भोगती है । शरीर में रहकर ही उपद्रष्टा एवं भरण-पोषण करने वाली है । यह जीवात्मा ही शरीर, इन्द्रियों तथा मन का परमात्मा भी है । इस प्रकार जीवात्मा को जो विवेकपूर्वक यथार्थ रूप में ज्ञानी गुरु द्वारा इस देह में ही जान लेता है, वही वक्ष्यमाण सत्त्वादि गुणों से रहित इस देह को विवेकपूर्वक यथार्थ रूप से जानता है । वह जीवात्मा इस तरह शरीर के सम्बन्ध से मनुष्य, पशु पक्षी आदि योनियों में नाना प्रकार के कष्ट झेलते हुए भी इस देह को छोड़ देने के बाद फिर देह के सम्बन्ध से निर्मुक्त हो जाती है, अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से वह जीवात्मा छूट जाती है । और जो जीवात्मा को ऐसा नहीं समझते हैं वे इसी चक्र में फँसे रहते हैं ।

उदाहरणार्थ एक सज्जन ने ऐसी आराधना की कि उन्हें भूत तथा भविष्य दोनों का ज्ञान हो गया । वे यह जान गये कि वे पहले जन्म में मैं कुत्ता था । सन्त के सहवास में रहते हुए उनका जूठा पत्तल चाटकर ही समय बिताया । उसी का फल हुआ कि मैं इस जन्म में उत्तम कुल में पैदा हुआ हूँ पर इतना जानकर भी उन्होंने विषयवासना में ही अपना सारा समय गँवा दिया । यद्यपि वे जानते थे कि खा-पी करके जो विषय में ही सारा समय गुजार देता है वह निश्चय करके सूकर योनियों में ही जाता है । अत: यह भी जान गये कि मैं सूकर योनि में ही जन्म लूँगा । वे अपने बेटे को बुलाकर बोले कि मैं अमुक हरिजन के यहाँ अमुक सूकर के रूप में अमुक समय में जन्म लूँगा । बेटे को यह भी समझा

दिये कि तुम जन्म लेते ही मुझे मरवा देना । कुछ दिनों के बाद बेटा निश्चित समय पर उस हरिजन के यहाँ जहाँ उस सूकर ने जन्म लिया था पहुँचा, ज्योंहि सुअर को मारने के लिए हथियार चलाया गया त्योंहि सूअर ने नकारात्मक रूप से सिर हिला दिया । अर्थात् वह सूअर नहीं चाहता था कि मैं मारा जाऊँ । इस तरह हम-आप जिस योनि में जन्म लेते हैं उसी योनि में ही आनन्द अनुभव करने लगते हैं । सत्-असत् का अन्वेषण इस नर-तन में गुरु से प्राप्त ज्ञान द्वारा ही किया जा सकता है, अन्य योनि में यह ज्ञान असम्भव है ।।२३।।

ध्यानेनात्मानि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।२४।।

अन्वय :- **केचिद् आत्मनि आत्मानम् आत्मना ध्यानेन पश्यन्ति अन्ये सांख्येन योगेन च अपरे कर्मयोगेन ।**

अर्थ :- कुछ पुरुष आत्मा में (यानी शरीर में) स्थित आत्मा को आत्मा (मन) से ध्यान के द्वारा देखते हैं, कितने ही सांख्य योग के द्वारा और दूसरे कर्मयोग के द्वारा (देखते) हैं ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में आत्मदर्शन कौन कैसे करते हैं इसीको बतला रहे हैं । भगवान् ने पीछे बताया है कि - **'ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते'** (१२।१२) ज्ञानी से ध्यान करने वाले श्रेष्ठ हैं । ध्यान भक्ति को कहते हैं । तिल के तेल को गिराने पर जैसे धारा अविच्छिन्न रहती है, वैसे भगवान् के चरणारविन्द की स्मृति रूप ध्यान को भक्तियोग कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि कितने सिद्ध योगी लोग अपने शरीर में अपने मन से जिस तरह तेल की धार गिरने में छिन्न-भिन्न नहीं होती वैसे ही भगवान् के चरणों को स्मरण कर भक्ति-योग द्वारा जीवात्मा को देख लेते हैं । अतः ज्ञानी से भगवान् की भक्ति करने वाले श्रेष्ठ हैं, जैसे- नारद, परांकुश मुनि आदि ।

अन्य लोग जो क्रिया करते हैं पर सिद्ध योगी नहीं हैं, वे सांख्य योग वाले ज्ञान द्वारा मन को संस्कारयुक्त करके अपने देह में आत्मा का दर्शन कर लेते हैं । यह मार्ग दुष्कर है । पंचशिखाचार्य, कपिलमुनि आदि ने सांख्ययोग द्वारा ही आत्मदर्शन किया और जो लोग इन दोनों योगों के अधिकारी नहीं हैं, अर्थात् जो ज्ञानयोग या सांख्ययोग के अधिकारी नहीं हैं अथवा जो अति सुलभ मार्ग द्वारा आत्मदर्शन चाहते हैं वे कर्मयोगी लोग आसक्ति और फलों का त्याग करके शीरर में ही कर्मयोग के द्वारा योग की योग्यता प्राप्त करके मन से जीवात्मा को देख लेते हैं - जैसे शिवि, जनकादि ने आसक्ति तथा फल को त्याग करके आत्मदर्शन कर लिया ।

इस प्रत्यगात्मा जीवात्मा के विषय में भीष्माचार्य ने उपदेश दिया है कि -

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यह्रदा ध्यानतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ।।

अर्थात् हे पाण्डुपुत्र ! आत्मारूपी नदी के संयमरूपी जल से भर कर सच्चे हृदय से ध्यान को ही तट आदि और तरंग बनाकर उसी में स्नान करो, केवल जल-स्नान से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती है ।।२४।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।।२५।।

अन्वय :- **अन्ये तु एवम् अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते च ते श्रुतिपरायणाः अपि अतितरन्ति एव मृत्युम् ।**

अर्थ :- दूसरे (कितने ही) तो इस प्रकार से न जानते हुए, अन्य (तत्त्वज्ञानियों) से सुनकर उपासना करते हैं और वे श्रुतिपरायण (यानी श्रवण-निष्ठ) भी मृत्यु को अवश्य पार कर जाते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि भक्तियोग, सांख्ययोग, कर्मयोग के जो अधिकारी नहीं हैं वे उपासक तत्त्वदर्शी ज्ञानी से सुनकर अपनी आत्मा की उपासना करते हैं और आत्मदर्शन द्वारा मृत्यु से तर जाते हैं । वाल्मीकि दुराचार-अत्याचार से ही जीवन-यापन करते थे । एक दिन सप्त ऋषि आये और उन्होंने उपदेश दिया कि तुम्हारे पापों का भोक्ता तुम्हारा परिवार नहीं है, तुम्हें ही सब पाप भोगना पड़ेगा । तुम इतना पाप क्यों करते हो ? यदि हमलोगों की बात पर विश्वास नहीं है तो अपने घर वालों से ही जाकर पूछ लो कि तुम मेरी कमाई में तो शामिल रहते हो पर इस पाप में शामिल रहोगे या नहीं ? मुनि सीधे घर गये और माता-पिता से उन्होंने प्रश्न किया, पर उन्होंने कहा कि मैंने तो तुम्हें पाल-पोसकर अपने भरण-पोषण के लिए ही इतना बड़ा किया - जैसे भी हो तुम्हें हमें खिलाना-पिलाना है । तुम्हारे पाप के भागी हम क्यों होंगे ? अपनी अर्द्धांगिनी से भी ऋषियों द्वारा कहे प्रश्न को उन्होंने दुहराया पर उसने भी वही ज़वाब दिया कि तुम्हारे पाप का भागी मैं क्यों होऊँ ? वाल्मीकि मुनि फिर सप्तर्षियों के पास आये और चरणों में झुक गये । उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं फिर से ऐसा पाप नहीं करूँगा और इनके उपदेश से अपने कृत पापों का प्रक्षालन कर उन्होंने आत्मदर्शन कर लिया ।

भगवान् कहते हैं कि श्रुतिपरायण उपासक भी भगवान् की चर्चा सुनते-सुनते दुराचार, अत्याचार आदि अवगुणों का त्यागकर पाप से रहित हो जाते हैं और योग-युक्त इस शरीर में ही आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं । कहा भी गया है कि - **'श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्'** अर्थात् उस शास्त्र-श्रवण से क्या लाभ जबकि धर्म का आचरण ही नहीं किया जाय । इसी तरह की श्रेणी में राजा परीक्षित भी हैं जिन्होंने शुकदेवजी से भगवान् की चर्चा सुनकर राज्य-भोग का त्यागकर आत्मदर्शन कर परमानन्द पा लिया ।

ऊपर कहे गये २४वें एवं २५वें श्लोक में वर्णित उपासक ही मन द्वारा आत्मा को देखते हैं, इससे भिन्न लोग आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते । यह आखिरी उपाय बताकर भगवान् उपदेश देते हैं कि नर-नारी का शरीर पाकर श्रवण में तत्पर रहना चाहिए । भगवत् चर्चा सुनने का अभ्यास बना लेना चाहिये । दत्तात्रेय के उपदेश द्वारा पिंगला वेश्या भी श्रवण के द्वारा पापों से रहित होकर कर्मयोगादि करके मृत्यु से तर गयी, जिस मृत्यु के विषय में श्रीमद्भागवत में लिखा गया है -

'मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते' ऐसी मृत्यु को भी श्रुतिपरायण पार कर जाते हैं । अन्यथा ऐसा आचरण जिन्होंने नहीं किया, वे तो **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'** (चर्पट्टिका. स्तो.) इस जन्म-मृत्यु चक्र से छुटते नहीं हैं और बार-बार देह पाते ही रहते हैं ।।२५।।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।२६।।

अन्वय :- भरतर्षभ ! यावत् किंचित् स्थावरजङ्गमम् संजायते, तत् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् विद्धि ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

अन्वय :- **हि सर्वत्र समवस्थितम् ईश्वरम् समम् पश्यन् आत्मना आत्मानम् न हिनस्ति, ततः पराम् गतिम् याति ।**

अर्थ :- क्योंकि सर्वत्र समभाव से स्थित ईश्वर (यानी क्षेत्रपति जीवात्मा) को एक समान देखने वाला, आत्मा (मन) के द्वारा आत्मा का हनन नहीं करता, इसलिये वह परम गति को प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- समस्त नर-नारियों को भगवान् उपदेश दे रहे हैं कि जितने संसार में चर-अचर प्राणी हैं जैसे-देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि सभी क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) दोनों के परस्पर संयोग से उत्पन्न होते हैं । इन समस्त देहों में जो जीवात्मा को समानाकार, नित्य, ज्ञाता, अणु, चेतन, सबका नियमन करने वाला, शरीर का स्वामी देख लेता है, वह पुरुष आत्मा यानी मन से अपनी आत्मा का हनन नहीं करता । अर्थात् हिंसा न कर वह प्रत्यगात्मा जीवात्मा की रक्षा करता है, और वह पुरुष जीवात्मा को संसार-चक्र से मुक्त कर देता है । ज्ञाता रूप से हर जगह समानाकार देखने के कारण वह जीवात्मा परमगति को प्राप्त हो जाती है । परमगति का तात्पर्य यहाँ मोक्ष नहीं समझना चाहिए । **'गम्यते इति गतिः'** - इस विग्रह के अनुसार जो प्राप्त किया जाय उसका नाम गति है । यानी प्राप्त करने योग्य वस्तु ही गति है । इस तरह श्रेष्ठ प्राप्त करने योग्य जो प्रत्यगात्मा जीवात्मा है उसको ऐसा मुमुक्षु प्राप्त कर लेता है ।

चौरासी लाख योनियों में घूमकर भी जो जानने योग्य स्वस्वरूप है, जिसे हम देख नहीं सकते उस परम अगम्य प्रत्यगात्मा जीवात्मा को देख लेना ही परमगति है और जो जीवात्मा को मनुष्य, पशु, कीट आदि भिन्न-भिन्न शरीरों में विषमाकार, अनित्य, अज्ञाता समझता है वह अपनी आत्मा का अपने-आप हनन करता है और जीवात्मा को जन्म-मरण के भवसागर में डूबो देता है ।

यहाँ पर भी ईश्वर शब्द लेकर कुछ लोग परब्रह्म अर्थ लगाते हैं पर यह यथार्थ नहीं । लोक में कहा जाता है कि अमुक साधु अमुक मठ के मठेश्वर हैं । मठेश्वर कहने से वह साधु मठ के मालिक हुए, ईश्वर नहीं हुए इसी तरह गृहेश्वर कहने से गृह के मालिक का बोध होता है, ईश्वर का नहीं ।

शरीर के साहचर्य से ईश्वर शब्द भी जीवात्मा का वाचक है; क्योंकि शरीर, इन्द्रिय और मन का ईश्वर अर्थात् मालिक जीवात्मा ही है । भगवान् ने स्वयं गीता में कहा है - **'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः'** ।१५।८

ईश्वर शब्द यहाँ जीव के लिए ही आया है । जीवात्मा ईश्वर अर्थात् मालिक है; क्योंकि इसके न रहने से शरीर की इन्द्रियाँ आदि अपना काम करना बन्द कर देती हैं ।

इस तरह लोक और शास्त्र दोनों तरफ से सिद्ध हो गया कि यहाँ ईश्वर शब्द जीवात्मा का वाचक ही है ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

अन्वय :- **च यः कर्माणि सर्वशः प्रकृत्या एव क्रियमाणानि पश्यति तथा आत्मानम् अकर्तारम्, सः पश्यति ।**

अर्थ :- तथा जो कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वह (यथार्थ) देखता है ।

व्याख्या :- भगवान् यह बता रहे हैं कि संसार के सब कर्म जैसे-खेती, व्यापारादि ये सब पुरुषाधिष्ठित प्रकृति के द्वारा ही होते हैं । भगवान् ने पीछे कहा है - **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'** (गी. ३।२७।)

मनुष्य कहते हैं कि 'मैंने स्कूल बनवाया', मन्दिर बनवाया, आदि खुशी के कर्म का तो स्वयं कर्ता समझते हैं पर जवान बेटा के मरने पर, फसल बर्बाद होने पर कहते हैं कि 'भगवान् ने चक्र डाल दिया' । ऐसे प्राणी अहंकार से पतित होते हैं । अहंकार के आने से ही ममता भी उसकी पत्नी बनकर साथ ही आ जाती है और दोनों के संयोग से राग तथा द्वेष दो पुत्र उत्पन्न होते हैं । इसलिए गीताचार्य कहते हैं कि अहंकार का त्याग कर दो तो ममता होगी ही नहीं तथा राग, द्वेष का जन्म ही नहीं होगा । इसी अध्याय में भगवान् ने कहा है - **'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'** १३।२०

• इस प्रकार जो जीवात्मा को सब शरीरों में समानाकार, नित्य, ज्ञाता, नियमन करनेवाला, शरीर का स्वामी, देखता है और समस्त कर्मों को प्रकृति के द्वारा किये हुए देखता है तथा जीवात्मा को अकर्ता रूप से देखता ही वही यथार्थ देखता है । तथा जो उस जीवात्मा का देह के साथ संयोग, उसको अधिष्ठान बनाना और उस संयोग से होने वाले सुख-दुःखों का अनुभव, इन सभी को कर्मरूप, अज्ञान से उत्पन्न समझता है वही जीवात्मा को यथार्थ स्थिति में देखता है । इसके विपरीत देखने वाले को जन्म-मरण के चक्र में डालते रहते हैं ।।२९।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।।३०।।

अन्वय :- **यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति, च ततः एव विस्तारम् तदा ब्रह्म संपद्यते ।**

अर्थ :- जब वह भूतों के पृथक् भाव को एकस्थ (यानी एक तत्त्व-प्रकृति में स्थित) देखता है और इससे ही (यानी प्रकृति से ही) विस्तार (यानी भूतों के फैलाव) को देखता है तब वह ब्रह्म (यानी अपरिमित ज्ञान स्वरूप आत्मा) को पा लेता है ।

व्याख्या :- श्रीकृष्ण भगवान् शिष्य अर्जुन के व्याज से हमें उपदेश दे रहे हैं कि जिस समय मनुष्य देह और जीवात्मा इन दो तत्त्वों से ही बने हुए देव, मनुष्य, पशु, कीट आदि समस्त भूत प्राणियों में उन सब भूतों के देवत्व, मनुष्यत्व, नाटेपन, लम्बेपन आदि अनेक भावों को एक तत्त्व में स्थित अर्थात् देह में स्थित देखता है, जीवात्मा में स्थित नहीं देखता तथा जब मनुष्य उस शरीर से ही उत्तरोत्तर पुत्र, पौत्र, दामाद, आदि के भेद के विस्तार को देखता है तो जैसे-घड़ा, दीपक आदि के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं पर एक प्रकृति मिट्टी से ही सबका विस्तार है । ऐसी प्रकृति में स्थित ही संसार के विस्तार को वे जान लेते हैं । ऐसा देखनेवाले उसी समय, चाहे वे नौकरी करते हों या खेती करते हों वे बृहत्त्व गुण युक्त जो जीवात्मा है, उसे वे शरीर में ही प्राप्त कर लेते हैं ।

यहाँ पर 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ जो परमात्मा (ईश्वर) लगाते हैं, उचित नहीं करते । यहाँ पर ब्रह्म का अर्थ ब्रह्मगुण युक्त है, परब्रह्म परमेश्वर नहीं । भगवान् आगे भी कहेंगे- **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च'** (१४।२७) यहाँ पर ब्रह्म शब्द जीवात्मा के लिए ही आया है तथा पीछे भी भगवान् ने बतलाया है । **'अनादिमत्परं ब्रह्म'** (१३।१२) यहाँ भी ब्रह्म शब्द जीवात्मा के लिए ही कहा गया है । अत: इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ प्रकरण में यहाँ ब्रह्म का अर्थ ब्रह्मगुणयुक्त ज्ञानस्वरूप जीवात्मा करना ही उचित है ।।३०।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।३१।।

अन्वय :- **कौन्तेय ! अनादित्वात् निर्गुणत्वात् अयम् अव्ययः परमात्मा शरीरस्थः अपि न करोति न लिप्यते ।**

अर्थ :- हे कुन्ती-पुत्र ! अनादि और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा (यानी प्रत्यगात्मा जीवात्मा) शरीर में स्थित हुआ भी न (कुछ) करता है और न लिप्त होता है ।

व्याख्या :- यहाँ पर पार्थसारथी भगवान् ने अर्जुन को कौन्तेय कहकर सम्बोधित किया है । धर्मशास्त्र बतलाता है कि अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती आदि देवियों के नाम-स्मरण मात्र से ही मनुष्य पाप से रहित हो जाते हैं, इसीलिए नित्य प्रात: काल इन नामों को लेकर मनुष्य पाप से विमुक्त होकर परमगति को प्राप्त कर लेता है । अर्जुन को यह भय हो गया है कि मैं पापी हूँ, क्योंकि कहा भी है -

अहो बत महात्पापं कर्तुम् व्यवसिता वयम् १।४५

बड़े शोक की बात है कि हम लोगों ने बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर लिया है ।

इसीलिए भगवान् अर्जुन को यह बताने के लिए कि तुम पापी नहीं हो; ऐसा सम्बोधन दे रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि तुम तो कुन्ती के पुत्र हो, पाप कहाँ ? अब मैं जो कहता हूँ उसे सावधानी से सुनो ।

यह सिद्ध हो गया है कि देह से जीवात्मा अलग है और यह शरीर में रहकर भी अनादि है । इसी अध्याय में भगवान् ने बताया है -

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । (गी. १३।१९)

जीवात्मा आरम्भ-रहित होने से अनादि है । जिसमें विकार न हो उसे अव्यय कहते हैं । देह में रहकर भी जीवात्मा का नाश नहीं होता, यानी व्यय-रहित है । जैसा कि पीछे दूसरे अध्याय में भगवान् स्वयं कह भी आये हैं - **विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ।** (गीता २।१७) किञ्च - **वेदाविनाशिनम् नित्यं य एनमजमव्ययम् ।** (गीता २।२१) तथा यह सत्तोगुण, रजोगुण और तमोगुण रहित है । शरीर, इन्द्रियों तथा मन से यह उत्कृष्ट, विलक्षण श्रेष्ठ जीवात्मा है । यह कर्ता न होने के कारण गुणों से लिप्त भी नहीं होती । अर्थात् देव, मनुष्य, पशु, कीट आदि योनियों में यह प्रत्यगात्मा जीवात्मा शरीर में रहते हुए भी कर्ता नहीं है । इसीलिए शरीर के बन्धन से रहित है - जैसे विष को खाने वाला ही मरता है, ज्ञाता अर्थात् उस विष को देखने वाला नहीं मरता । इसी तरह जीवात्मा ज्ञाता भी बन्धन में नहीं पड़ता ।

यहाँ परमात्मा शब्द को लेकर कुछ लोग परब्रह्म परमेश्वर का अर्थ लगाते हैं । यहाँ भगवान् ने स्वयं ही समझाया है कि परमात्मा का अर्थ जीव के लिए ही आया है । इसी अध्याय में भगवान् ने कहा है -

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

यहाँ पर जीवात्मा को ही भगवान् ने महेश्वर एवं परमात्मा बतलाया है ।

इस तरह जीवात्मा और शरीर के प्रकरण में यहाँ जो परब्रह्म-परक अर्थ करते हैं वे भगवान् की वाणी का ही खण्डन करते हैं, और अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाने का व्यर्थ प्रयास करते हैं ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

अन्वय :- **यथा सर्वगतम् आकाशम् सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते, तथा आत्मा सर्वत्र देहे अवस्थितः न लिप्यते ।**

अर्थ :- जैसे सर्वगत (समस्त वस्तुओं में संयुक्त होने पर भी) आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, उसी तरह आत्मा सर्वत्र शरीर (देव, मनुष्यादि समस्त शरीर) में स्थित होकर भी लिप्त नहीं होती ।

व्याख्या :- कृष्ण भगवान् कहते हैं कि जैसे आकाश सर्वगत है । अर्थात् समस्त पृथ्वी, जल, तेज, वायु, देव, मनुष्य, पशु, कृमि आदि सभी वस्तुओं में रहते हुए भी सूक्ष्म होने के कारण इन वस्तुओं के भले-बुरे गुणों से लिप्त नहीं होता । ठीक उसी तरह जीवात्मा भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण देव, मनुष्य, पशु, कृमि आदि समस्त शरीरों में स्थित रहकर भी उन-उन शरीरों के गुण-दोष को ग्रहण नहीं करती । आत्मा कितनी सूक्ष्म है यह पहले मैं बता चुका हूँ कि बाल के अग्रभाग का सौ टुकड़ा किया जाय, फिर उस एक छोटे टुकड़े को भी सौ भाग किया जाय तो जितना सूक्ष्म एक भाग होगा उतना ही सूक्ष्म जीवात्मा है ।

कितने अज्ञानी कहते हैं कि निराकार में गुण नहीं होता, पर आकाश तो निराकार ही है पर इसमें भी शब्द गुण है । आकाश का लक्षण - **'शब्दगुणकमाकाशम्'** (त. सं.) लिखा हुआ है । केवल एक शब्द गुण जिसमें हो उसे आकाश कहते हैं और जब निराकार आकाश में भी शब्द गुण है तो भला भगवान् में गुण नहीं हो, यह कैसे हो सकता है ? अतः यह कथन यथार्थ नहीं ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

अन्वय :- **भारत ! यथा एकः रविः इमं कृत्स्नम् लोकम् प्रकाशयति, तथा क्षेत्री कृत्स्नम् क्षेत्रम् प्रकाशयति ।**

अर्थ :- हे भारत ! (प्रकाशरत यानी ज्ञानरत अर्जुन !) जिस तरह एक ही सूर्य इस समस्त लोक को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्री (आत्मा) समस्त क्षेत्र (आपादमस्तक शरीर) को प्रकाशित करता है ।

व्याख्या :- भगवान् ने अर्जुन को भारत कहकर संबोधित किया है । 'भा' यानी विज्ञान रूपी प्रकाश, तथा रत माने उसमें रत रहने वाला अर्थात् अर्जुन सदा विज्ञानरूपी प्रकाश में रत रहने वाला है । अर्जुन के समय में विज्ञान अपनी चरम सीमा पर था । आजकल के वैज्ञानिकों को देखकर लोग कहते हैं कि आज विज्ञान बहुत तरक्की पर है पर यह अज्ञानता के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है । आज तो रेलगाड़ी रेल की पटरी पर चलती है पर वह आकाश या पानी में नहीं चल सकती । बहुत थोड़ी अचानक भूमि पर आ जाती है तो हजारों मनुष्यों की जान चली जाती है पर अर्जुन का तो रथ ऐसा था कि पानी-पंक में चलते हुए आकाश या भूमि पर सर्वत्र स्वच्छन्दता से चलता था । बाण भी ऐसे विलक्षण थे कि दुश्मन को पहचान कर ही मारते थे, फिर मारकर वापस भी चले आते थे, परन्तु आजकल के अणु बम या परमाणु बम में ऐसी विलक्षणता अभी तक नहीं आयी है । अत: हमें यह समझना चाहिए कि पहले का विज्ञान अधिक तरक्की पर था । इसीलिए भगवान् अर्जुन को भारत कहकर सावधान कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि जीवात्मा का स्थान हृदय में है । जिस तरह सूर्य आकाश मण्डल में रहते हुए अपनी प्रभा के द्वारा समस्त लोक को प्रकाशित करता है यह सभी लोग जानते हैं । ठीक उसी प्रकार जीवात्मा भी एक स्थल हृदय में रहते हुए भी ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा पाद के तलवे से लेकर मस्तक-पर्यन्त समस्त अंगों को प्रकाशित करती है और कहती है कि यह मेरा शरीर है, मेरी नाक है, मेरा पैर है, आदि । अर्थात् सारे शरीर को अपने ज्ञान से क्षेत्री प्रकाशित करता है । अभिप्राय यह है कि जिस तरह प्रकाशक सूर्य अपने प्रकाश्य लोक से भिन्न अर्थात् अलग है, उसी प्रकार प्रकाशक जीवात्मा भी प्रकाश्य लोक शरीर से अलग अर्थात् विलक्षण है ।

कुछ नास्तिक मत वाले शरीर को ही आत्मा मानते हैं । लोक में हम लोग कहते हैं कि यह मेरी धोती है, यह मेरी छड़ी है, परन्तु धोती या छड़ी दोनों शरीर से अलग वस्तु ही है । वैसे ही उनको यह भी समझना चाहिए कि शरीर का ज्ञाता शरीर से अलग वस्तु ही है । अगर शरीर ही आत्मा है तो मृतक शरीर में चेतनता की उपलब्धि क्यों नहीं होती है ? आत्मा चेतन है तथा शरीर जड़ है, इसलिए आत्मा के निकल जाने पर चेतनता नहीं रह जाती । कुछ लोग तो इन्द्रियों को ही आत्मा समझते हैं । पहले उन्हें यह समझना चाहिए कि आँख द्वारा जो मनुष्य काला, लाल, हरा आदि रंग देख लेता है फिर आँख यदि फूट जाय तो मनुष्य को उस रंग का स्मरण तो रह जाता है, परन्तु इन कुतर्कियों के अनुसार जब आत्मा फूट गई तो उसे रंग का कैसे स्मरण रह गया ? अत: इन्द्रिय आत्मा नहीं है । कुछ लोगों की यह धारणा है कि हाथी मरेगा तो हाथी ही होगा, घोड़ा नहीं होगा । उनके मतानुसार तो योनि निवृत्ति होगी ही नहीं, पर नहीं, यह शास्त्र के विपरीत मत है । हाहा और हूहू गन्धर्व थे और मरकर गज तथा ग्राह हुए । अत: यह अज्ञानियों का मत है । ऐसे अपने को दार्शनिक समझने वाले वेद का नाद सुनते ही हार मान लेते हैं । कुछ नास्तिक यह मत देते हैं कि आत्मा शरीर के बराबर ही होती है, परन्तु बराबर चीज बराबर वाली वस्तु में कभी अँट ही नहीं सकती । दूसरे यदि आत्मा शरीर के बराबर है तो मरते समय यह दृष्टिगोचर क्यों नहीं होती ? अत: यह प्रत्यक्ष प्रमाणवादियों का मत भी यथार्थ उत्तर नहीं दे सकता ।।३३।।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।३४।।

अन्वय :- एवम् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो: अन्तरम् च भूतप्रकृतिमोक्षम् ये ज्ञानचक्षुषा विदु: ते परम् यान्ति ।
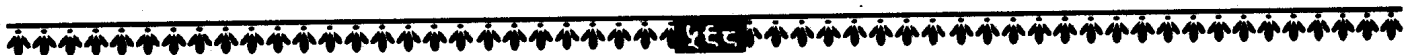
अर्थ :- इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को और भूत-प्रकृति के मोक्ष को (अमानित्वादि उपायों को) जो ज्ञान-नेत्र द्वारा जान लेते हैं, वे परम तत्त्व (ज्ञानस्वरूपआत्मा) को प्राप्त कर लेते हैं ।

व्याख्या :- पार्थ-सारथी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि पहले कहे हुए प्रकार के अनुसार जो उपासक शरीर और जीवात्मा के भेद को ज्ञानरूपी चक्षु द्वारा जानकर समस्त भूतों, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि के आकार में परिणत जो प्रकृति है उस प्रकृति से छुटने के 'अमानित्वम्' १३।७ से लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् (१३।११) पर्यन्त जो २० ज्ञान के साधन हैं इसको जान लेते हैं और जानकर आचरण में भी लाते हैं वे उपासक शुद्ध, नित्य, ज्ञानस्वरूप, शरीर, इन्द्रिय एवं मन से श्रेष्ठ जो जीवात्मा है उसे प्राप्त कर लेते हैं । औरों को, जो इससे भिन्न हैं उन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता । यहाँ पर 'मोक्ष' शब्द का अर्थ 'परमपद प्राप्त करना' नहीं समझना चाहिये । व्युत्पत्ति के अनुसार -**'मोक्ष्यते अनेन इति मोक्षः'**

अर्थात् जिसके द्वारा बन्धन से छुटा जाय उसे मोक्ष कहते हैं । अभिप्राय यह कि प्रकृति से मुक्त होने के जो २० ज्ञान साधन बतलाये गये हैं उन्हीं को जानकर आचरण में लाने पर शरीर-बन्धन से मुक्त होता है ।

यहाँ पर 'विदुः' शब्द का अर्थ कितने लोग केवल 'जान लेना ही' करते हैं परन्तु इस 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक इन २० ज्ञान-साधनों को केवल जान लेने मात्र से ही उपासक प्रकृति से निर्मुक्त नहीं हो सकता । कहा गया है कि - **'श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्'**

अतः जानकर उन ज्ञान-साधनों को जो उपासक आचरण में लाते हैं वे ही शरीर के बन्धन से निर्मुक्त होते हैं ।

कुछ लोग जो केवल जीव को हीं मानते हैं और वे लोग भी जो केवल शरीर को ही मानते हैं, ये दोनों कुमार्ग पर चलने के कारण आत्मस्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकते ।

आत्मस्वरूप को उन्होंने अभी जाना ही नहीं और ब्रह्म की बात करने लगे कि मैं ब्रह्म को देखता हूँ । कलछुल को जो दाल बघारने (छौंकने) के काम में आती है लोग अच्छी तरह से जानते हैं । वह घिसकर नष्ट हो जाती है पर उससे बने पदार्थ को खाने वाला मनुष्य मस्त तथा मोटा हो जाता है, क्योंकि उस पदार्थ का असर उस कलछुल पर कुछ भी नहीं पड़ता । ठीक उसी तरह वेद-शास्त्र को जानकर केवल भाषण ही किये और आचरण में न लाये तो वे लोग भी उस कलछुल की तरह ही नष्ट होकर सारतत्त्व से अलग होकर सूकर, कूकर आदि निम्न योनियों में पुनः पुनः जाते रहते हैं, देह-बन्धन से निर्मुक्त नहीं होते । (१) उपक्रम (२) उपसंहार (३) अभ्यास (४) अपूर्वताफल (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति (युक्ति) इन्हीं छः लिंगों से तात्पर्य निर्णय किया जाता है ।

इस अध्याय में जीवात्मा का ही वर्णन है; क्योंकि अध्याय का प्रारम्भ -

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

से होता है, अन्त में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ से उपसंहार भी है-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा । भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति परम् ॥३४॥

अभ्यास :- भगवान् कहते है -

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि (१३।१९)

और यह भी कहते हैं कि - **'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'** (१३।२०)

फिर कहते हैं कि - **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्'** (१३।२१)

इस तरह बार-बार भगवान् ने जीवात्मा को ही कहा है । अपूर्वताफल- **ये विदुर्यान्ति ते परम्** ।।१३।।३४।।

यहाँ पर 'ये' 'ते' कर्तृपद में और विदुः यान्ति इस क्रियापद में बहुवचन कहकर अभियुक्त ज्ञानस्वरूप ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, यह भगवान् फल बता रहे हैं ।

अर्थवाद-परमात्मा, ब्रह्म, महेश्वर आदि पद अर्थवाद है । उपपत्ति-

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।१३।।३३।।

यहाँ पर स्पष्ट उपपत्ति भगवान् ने दिखायी है । अतः जो दुराग्रही इस प्रकरण में परमात्मा का अर्थ करता है वह शास्त्र से विपरीत है ।।३४।।

।। तेरहवाँ अध्याय समाप्त ।।

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

।। श्रीभगवानुवाच ।।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।१।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-ज्ञानानाम् उत्तमम् परम् ज्ञानम् भूयः प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः पराम् सिद्धिम् गताः ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले- मैं ज्ञानों में उत्तम परम (श्रेष्ठ) ज्ञान को फिर कहूँगा, जिसे जानकर सभी मुनि इस संसार से (मुक्त हो) परम सिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं ।

व्याख्या :- करुणामय श्रीकृष्ण भगवान् ने विचार किया कि मैंने सब उपदेश दिया पर यह नहीं बताया कि कैसे सत्त्वादि गुणों का संग ही कारण है ? अतिसूक्ष्म विमल अणु जीवात्मा को कैसे ये गुण बाँधते हैं ? किन-किन उपायों द्वारा गुण-संग छुटते हैं ? इसी को बताने के लिए करुणा-सागर भक्त-जीवन भगवान् इस अध्याय का प्रारम्भ करते हैं । दूसरे भगवान् अर्जुन के हृदय में जो प्रश्न है उसे स्वयं कहकर अपनी सर्वज्ञता द्योतन कर रहे हैं कि सर्वज्ञ हूँ । तीसरे शिष्य अर्जुन ने श्रेय मार्ग बताने के लिए ही भगवान् से कहा है । इसीलिए भगवान् कहते हैं कि शरीर और जीवात्मा के विषय में जो ज्ञान मैंने कहा उसीमें सत्त्वादि गुणविषयक सम्बन्धी परम श्रेष्ठ, विलक्षण ज्ञान जो उससे भिन्न है, अर्थात् प्रकृति के गुण-संगों से यह जीवात्मा कैसे निर्मुक्त होगी इसीको बता रहा हूँ ।

मैंने पहले तुझे बताया था-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।३।२७।।

देह और जीवात्मा सम्बन्धी सभी ज्ञानों में उत्तम यह विलक्षण ज्ञान है जिसे समझकर पराशरादि मुनिजन ने उसका मनन करके इस संसार-मण्डल से छुटकर विमल प्रत्यगात्मा स्वरूप जीवात्मा को प्राप्त कर लिया । अर्थात् परमसिद्धि को प्राप्त कर लिया । श्रुति कहती है **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** अर्थात् आत्मा के विषय में श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए । उपदेश को सुनना, सुनकर मनन करना, तब साक्षात्कार करना । अगर उपदेश सुन लिया कि प्रकृति गुण संगों से जीवात्मा कैसे छुटती है और उपदेश का मनन न किया तो उसकी हालत वैसी ही होती जाती है, जैसे कवि ने कहा है-

'छुटै न अधिक अधिक अरुझाई'

अर्थात् जीव बन्धन में और फँसता ही जाता है, छुटता नहीं ।

अतः गुरु का उपदेश सुनकर उसका मनन करना तब आत्मस्वरूप का ज्ञान होगा ।

उपनिषद् कहती है -

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ (मु. उ. ख. २ श्लो. १२)

जिज्ञासु को परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और नम्रतापूर्वक ऐसे सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए जो वेदों के रहस्यों को पूर्णरूपेण जानते हों, मनन करते हों और परब्रह्म में स्थित हों ।

गीता में भी भगवान् कहते हैं - **'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'** (गीता ४।३४)

अर्थात् जिस ज्ञान को मैंने कहा है उसे जब मन, वाणी और शरीर से नम्र होकर मनन करोगे तब ज्ञान होगा । गुरु का उपदेश सुनकर कहीं तुम्हें शंका भी हो जाय तो पहले उसका स्वयं मनन करना चाहिए और जब समझ में न आवे तो उसी गुरु से देश-कालानुसार साष्टांग प्रणिपात कर प्रश्न करना चाहिए । किसी दूसरे से अपने उस प्रश्न का हल नहीं ढूढ़ना चाहिए । ज्ञानी गुरु के शरीर की रक्षा भोजनादि द्वारा शिष्य करता है और भक्त की आत्मा की रक्षा ज्ञानी गुरु से होती है । भगवान् शिष्य अर्जुन पर निर्हेतुक दया करके ही यह उपदेश दे रहे हैं । आचार्य शास्त्रानुसार आचरण करते हैं और अन्य से भी वैसा आचरण करवाते हैं ।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

अन्वय :- **इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः सर्गे अपि न उपजायन्ते च प्रलये न व्यथन्ति ।**

अर्थ :- इस (आगे कहे जाने वाले) ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि काल में भी न उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकाल में व्यथित (व्याकुल) होते हैं, यानी उनका नाश नहीं होता ।

व्याख्या :- 'इदम्' का प्रयोग सन्निकृष्ट में किया जाता है । क्योंकि कोष कहता है - **'इदमस्तु सन्निकृष्टे'**

भगवान् कहते हैं कि गुणत्रय विषयक जो वक्ष्यमाण ज्ञान है उस ज्ञान का आश्रयण करके वामदेव ऋषि वगैरह ने मेरी समता को प्राप्त किया है, यानी समान धर्म प्राप्त किया है । जो उस चीज से भिन्न हो और तादृश धर्म उसमें होवे उसे सदृश कहते हैं । समान धर्म का अर्थ सदृश से ही है । सदृश का लक्षण है -

'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वम् ।'

जैसे कोई कहे कि अमुक बालक का मुख चन्द्रमा के सदृश है । अर्थात् उस बालक में आह्लादक सुन्दरता का गुण चन्द्रमा से मिलता है, अतः वह चन्द्रमा सदृश है, परन्तु वह चन्द्रमा नहीं, चन्द्रमा से भिन्न है ।

उसी प्रकार ऊपर कहे गये वे ऋषि भगवान् की समता को प्राप्त किये हैं । तात्पर्य यह कि सृष्टि की उत्पत्ति के समान सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, आकाश, मनुष्य, पशु आदि जन्म लेते हैं और लेंगे भी पर वे जन्म नहीं लेते तथा प्रलय काल में भी जब सूर्य, आकाश, पृथ्वी, मनुष्य आदि का विनाश हो जाता है उस समय के विनाश को नहीं प्राप्त करते ।

मुक्तावस्था में जीव समता को प्राप्त कर लेता है । वह ईश्वर के सब धर्म की समता को नहीं प्राप्त करता । (१) केवल प्रलय काल में विनष्ट नहीं होता । (२) सृष्टि काल में जन्म नहीं लेता है, इन्हीं दो धर्मों की समता प्राप्त करता है ।

श्रुति में कहा गया है कि-

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरंजनः परमं साम्यमुपैति । (मु. उप. ३।१।३)

अर्थात् ज्ञानी भक्त अतिविमल होकर भगवान् की समता को प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार श्रुति और स्मृति दोनों की एकता हो गई ।

भाषा के कवि तुलसीदास जी कहते हैं -

'वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना'

कुछ लोग श्रुति में शंका करते हैं और कहते हैं कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, क्योंकि श्रुति कहती है - **'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'** ऐसा अगर होता तो वेद में प्रमत्त-प्रलाप दोष आ जायेगा, परन्तु वेद का तो एक भी वर्ण अनर्थक नहीं । वेद का मुख व्याकरण है **'व्याकरणं मुखं प्रोक्तम्'** वेद का अर्थ व्याकरण कहता है । व्याकरण से ब्रह्म+आ+इव ब्रह्मैव का खण्ड है । पाणिनि के **'आद्गुणः'** सूत्र से आ+इव मिलकर एव होता है (पा. ६।१।८८) । इस तरह ब्रह्म+एव हुआ फिर **'वृद्धिरेचि'** (पा. ६।१।८८) सूत्र से वृद्धि होकर **'ब्रह्मैव'** पद होता है । इस तरह 'आ' नाम अच्छी तरह से 'इव' का अर्थ तुल्य या सदृश है । यानी ब्रह्म को जानने वाला अच्छी तरह ब्रह्म के समान हो जाता है । यहाँ परब्रह्म ही होता है, यह अर्थ लगाना भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन ही करना है ।

लोक में भी मशीन को जानने वाला इंजीनियर मशीन नहीं होता, मिट्टी को जानने वाला मिट्टी नहीं होता । वैसे ही ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म नहीं होता । इस प्रकार विपरीत अर्थ करने वाले भले वेदान्ती कहलायें पर उनका अर्थ शास्त्र से विपरीत है ।।२।।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।३।।

अन्वय :- **भारत ! मम महद् ब्रह्म योनिः, अहम् तस्मिन् गर्भं दधामि, ततः सर्वभूतानाम् संभवः भवति ।**

अर्थ :- हे अर्जुन (जो) मेरी महद्ब्रह्म योनि (प्रकृति) है, मैं उसमें गर्भ को स्थापित करता हूँ, उस (संयोग) से समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन को भारत कहकर सावधान कर रहे हैं कि तुम श्रेयमार्ग रूपी ज्ञान के प्रकाश में सदा रत रहने वाले हो । अतः ध्यान से मेरी बात सुनो ।

भगवान् १३वें अध्याय में समझा चुके हैं कि -

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥१३।२६॥

जितने संसार में प्राणी हैं, ये जड़ और चेतन के संयोग से ही उत्पन्न हैं । भगवान् कहते हैं कि वह सुनो ।

'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र. सू. १।३) इस ब्रह्म-सूत्र में योनि शब्द कारण वाचक है । कारण जो महत्तत्व ब्रह्म यानी मेरी प्रकृति है उसमें मैं गर्भ स्थापन करता हूँ । इसके बारे में मैंने पहले बताया भी है :-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥७।४॥

अर्थात् (१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) आकाश (६) मन (७) बुद्धि (८) अहंकार यही आठ प्रकार की अपरा प्रकृति मेरी है । जीव परा प्रकृति को ही कहते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि परा प्रकृति जीव के पुञ्जरूप राशि का सत्य संकल्प के द्वारा मैं अपरा प्रकृति के साथ संयोग करा देता हूँ । उस महत्तत्व में, जिसे जड़ प्रकृति कहते हैं चेतन के राशिमय गर्भ को मैं ही धारण करता हूँ । तब इन दोनों के संयोग से ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है । साधारण कुम्हार की तरह जो परब्रह्म को समझते हैं उनके मत में परब्रह्म व्यापक नहीं हो सकते, क्योंकि भगवान् तो सत्य संकल्प द्वारा सृष्टि करते हैं, पर कुम्हार ऐसा नहीं करते ।

यहाँ पर 'महद्ब्रह्म' को लेकर कुछ लोग शंका करते हैं कि यहाँ 'महद्ब्रह्म' में ब्रह्म का प्रकृति अर्थ कैसे होगा ? इसमें श्रुति स्मृति प्रमाण हैं । श्रुति कहती है - **तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते** । (मु. उ. १।१।९) उस परमात्मा से यह ब्रह्म यानी प्रकृति नाम रूप और अन्न उत्पन्न होता है ।

गीता में भगवान् स्वयं कहते हैं -

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥३।१५॥

कर्म को ब्रह्म यानी शरीर से उत्पन्न हुआ जानो और ब्रह्म अर्थात् शरीर, अक्षर यानी जीवात्मा से उत्पन्न हुआ है, इसीलिए समस्त अधिकारियों को प्राप्त शरीर सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! सर्वासु योनिसु याः मूर्तयः संभवन्ति तासाम् योनिः महत् ब्रह्म, अहम् बीजप्रदः पिता ।**

अर्थ :- हे कुन्ती-नन्दन ! सभी योनियों में जो मूर्तियाँ (शरीराकृतियाँ) पैदा होती हैं, उन सबकी योनि महद्ब्रह्म है । मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ ।

व्याख्या :- यह गीता का उपदेश कलि की सन्धि के समय का है, अतएव भगवान् ने पारलौकिक सम्बन्ध लगाते हुए लौकिक सम्बन्ध लगाकर अर्जुन को कुन्ती (फूआ) का पुत्र कहकर सम्बोधित किया है ।

वस्तु की, कार्य और कारण दो अवस्थायें हैं । कार्यावस्था में प्रकृति स्थूल रहती है और कारणावस्था में प्रकृति सूक्ष्म रहती है । भगवान् कहते हैं कि ऐ कुन्तीनन्दन ! देव, मनुष्य, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट आदि चौरासी लाख जो योनियाँ हैं वे तत्-तत् शरीर के आकारों में उत्पन्न होती हैं, उनकी योनि यानी कारण, विशिष्ट ब्रह्म है, (महद्ब्रह्म) अर्थात् प्रकृति है । कहने का तात्पर्य यह कि मैंने जिसका सम्बन्ध चेतन-वर्ग के साथ किया है ऐसे महत्तत्व (मन) से लेकर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श तक १६ अवस्थावाली प्रकृति ही इनका कारण है । भगवान् कहते हैं कि बीज प्रदान करने वाला पिता मैं हूँ । यानी उन-उन शरीर के आकार के कर्मों के अनुसार ही चेतनवर्ग का उस-उस योनि में सत्य संकल्प के द्वारा जड़ प्रकृति के साथ सम्बन्ध करा देता हूँ ।

जो निर्विशेष ब्रह्म मानते हैं वे यह नहीं समझते कि दुनिया में कोई भी चीज बिना विशेषण के नहीं है । यदि ब्रह्म विशेषण रहित है तो वह ब्रह्म ही नहीं हो सकता है । ब्रह्म शब्द की व्याख्या करते हुए यास्काचार्य कहते हैं - **'ब्रह्म परिबृढं सर्वतः'** (यास्क. निरु.) अर्थात् ब्रह्म हर तरह से बृहत् है । ब्रह्म शब्द की व्याख्या करते हुए श्रुति भी कहती है - **बृहति बृहंयतीति ब्रह्म'** अर्थात् जो सबसे महान् है और जो दूसरों को बढ़ाये वह ब्रह्म है । स्मृति भी ब्रह्म शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहती है - **'बृहत्वाद्बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते ।'** अतएव ब्रह्म में इन दो विशेषणों बृहत्व और बृह्वत्व को मानना ही होगा । इसलिए ब्रह्म शब्द की व्याख्या **'अथातोब्रह्मजिज्ञासा'** (शा. मी. १।१।१) सूत्र की श्रीभाष्य में व्याख्या करते हुए भगवद्रामानुजाचार्य कहते हैं - **'ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येयगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते ।'**

किञ्च, जो लोग निर्विशेष ब्रह्म को मानते हैं उनके मत से ब्रह्म अप्रामाणिक होगा, क्योंकि निर्विशेष वस्तु का ज्ञान किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं । प्रत्यक्ष प्रमाण के सविकल्प प्रत्यक्ष और निर्विकल्प प्रत्यक्ष के भी सविशेष पदार्थ ही विषय होते हैं । जो लोग निष्प्रकारक ज्ञान का ग्राहक निर्विकल्प प्रत्यक्ष को मानते हैं वे भी निष्प्रकारक ज्ञान का उदाहरण नहीं दे सकते हैं । **'इदंकिञ्चिद् वर्तते'** यह उदाहरण जो लोग देते हैं वह भी निष्प्रकारक ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि इसमें **'इदन्त्व'** विशेषण होगा ही । अतएव निर्विकल्प प्रत्यक्ष का लक्षण श्रीभाष्यकार **'निर्विकल्पकं नाम केनचिद्विशेषेण विमुक्तस्य ग्रहणम्, न तु सर्व विशेषरहितस्य'** करते हैं । प्रत्यक्ष मूलक होने के ही कारण अनुमान के द्वारा भी सप्रकारक वस्तु का ही ज्ञान होता है । शब्द के द्वारा जो भी ज्ञान होता है वह भी सप्रकारक ही होता है, क्योंकि शब्द के दो भाग होते हैं - प्रकृति और प्रत्यय और उन दोनों का जो अर्थ होगा वह भी विषय का विशेषण होगा ही, अतएव कोई भी वस्तु निर्विशेष नहीं हो सकती जो प्रामाणिक हो और अप्रामाणिक कोई भी वस्तु तुच्छ होती है - जैसे अप्रामाणिक आकाश पुष्प । अतएव निर्विशेष ब्रह्म नहीं हो सकता है ।

ऊपर के श्लोक ३ में जिन प्रभाणों से 'ब्रह्म' शब्द प्रकृति का वाचक है उन्हीं प्रमाणों से यहाँ भी ब्रह्मशब्द प्रकृति के लिए ही आया है ।

यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि चेतन का अचेतन के साथ भगवान् संयोग करायें तो विषमता और निर्दयालुता का दोष भगवान् में लग जायेगा । इस शंका का उत्तर ब्रह्मसूत्रकार निम्न दो सूत्रों से देते हैं :-

वैषम्यनैघृण्येन सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति (२।१।३४)
'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च । (२।१।३५)

इन दोनों सूत्रों से स्पष्ट है कि भगवान् में विषमता, निर्दयालुता आदि नहीं है, क्योंकि वे समस्त रचना पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार करते हैं । यदि कहें कि यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि महाप्रलय में कर्मों का विभाग नहीं; तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म अनादि हैं । इससे सिद्ध हो गया कि भगवान् के सत्य संकल्प से चेतनवर्ग का कर्मों के अनुसार उस-उस योनि में संयोग होता है ।।४।।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।५।।

अन्वय :- **महाबाहो ! सत्वम् रजः तमः इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः, अव्ययम् देहिनम् देहे निबध्नन्ति ।**

अर्थ :- हे महाबाहो ! सत्त्व, रज, तम, ऐसे ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होने वाले हैं (और) ये अविनाशी देही (आत्मा) को देह में बाँध लेते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् यहाँ अर्जुन को महाबाहो कहकर सम्बोधित करते हैं । गौ को कष्ट देने वालों से गौ की रक्षा कर उसकी सेवा में रत रहने वाले को ही महाबाहु कहा जाता है । दुर्योधन ने एक वर्ष के लिए पाण्डवों को अज्ञातवास दिया था तब सभी पाण्डव अपना वेश बदल-बदलकर समय गुजार रहे थे । अर्जुन हिजड़ा का वेश बनाकर विराट कन्या उत्तरा की सेवा में रहा करते थे । दिल्ली में बैठे दुर्योधन ने अपने सहायकों समेत विचार किया कि अगर एक वर्ष उनका बीत जायेगा तो वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर लेंगे, अतएव इसके भीतर ही विघ्न डालना चाहिए । यह विचार कर उसने अपने गुप्तचरों को छोड़ा पर उन्हें पाण्डवों के बारे में कुछ भी मालूम न हो सका । अन्त में दुर्योधन ने भीष्म, द्रोणादि महारथी लोगों को आदेश दिया कि आप लोग पूर्व दिशा में जायें और गौ पर आक्रमण करें, कष्ट देकर सतावें । अगर अर्जुन वहाँ कहीं होगा तो जरुर प्रत्यक्ष हो जायेगा । इस तरह द्रोणादि ढूँढते-ढँढ़ते पूरब की तरफ चले । वे एकचक्र के (आरा के) बकरी गाँव में भी आये थे जहाँ उन्होंने बकासुर को मारा था, वह गाँव आज भी वर्तमान है । विशेष तात्पर्य तो इनका अर्जुन को पकड़ना ही था इसीलिए गौ को सताना शुरू किये । यह अत्याचार जब गोपाल से बर्दास्त न हुआ तो वे विराट राजा के पास अपनी रक्षा के लिए गये । वे जाकर राजा से बोले कि दिल्ली से दुर्योधन द्वारा भेजे गये द्रोणादि महारथी आये हैं और गौ को घेर कर ले जा रहे हैं । यद्यपि गौ का दोष नहीं तौभी वे अन्यायपूर्वक पकड़ कर ले जा रहे हैं । वृद्ध विराट ने जब भीष्म द्रोणादि का नाम सुना तो साफ इन्कार कर दिया कि मैं उनसे युद्ध नहीं करूँगा, पर उनका पुत्र उत्तर संग्राम करने के लिए तैयार हो गया । पिता पुत्र की वाणी सुनकर धन्य हो गया पर अब तो सारथी की जरुरत थी । तेजधारी, गोरक्षक, बलशाली अर्जुन की भुजा भीतर-ही भीतर फड़क रही थी । हिजड़ा रूप में ही उसने राजा से कहा कि मैं इसका सारथी बनूँगा । राजा बोले कि तुम तो मेरी कन्या की सेवा करता था, रथ हाँकना कब से सीख लिया, परन्तु हिजड़ा वेशधारी अर्जुन ने यह जवाब दिया कि मैं सब विद्या थोड़ा-बहुत जानता हूँ । इस प्रकार सारथी

बनकर हिजड़ा वेश में अर्जुन उत्तर को लेकर उस स्थल पर पहुँचने ही वाला था कि उत्तर राजकुमार द्रोणादि के सुवर्णमय रथ को देखते ही भागने की तैयारी करने लगा । किसी तरह अर्जुन ने उसे रोका और हिजड़ा वेश में ही रथी बन गया और उत्तर राजकुमार को सारथी बना दिया । तब उत्तर राजकुमार को जान-में जान आयी । अपने गुरु के समीप पहुँचते ही अर्जुन ने बाण से गुरु द्रोण को साष्टांग प्रणाम किया, पर भीष्म वगैरह अर्जुन के वेश को नहीं पहचान सके । भीष्म ने तो हिजड़ा वेश देखते ही मुँह फेर लिया । तब द्रोणाचार्य कहते हैं -

नदीज लंकेशवनारिकेतुः नगाह्वयो ह्येष नगारिसूनुः ।
एषोऽङ्गनावेषधृतः किरीटी हत्वास्मकान्नेष्यति चाद्य गावः ॥ (महाभारत)

द्रोणाचार्य कहते हैं कि हे गंगा के पुत्र भीष्म ! लंकेश रावण की पुष्पवाटिका को विध्वंस करने वाले मारुति जी जिसके पताका पर रहते हैं और अर्जुन नाम वाला पर्वतों के पंख छेदन करने वाले इन्द्र का तनय यह उर्वशी के शाप से अंगना का भेषधारण करने वाला किरीटधारी आज हमलोगों को मारकर गौवों को ले लेगा ।

पाण्डवों के अज्ञातवास का यही आखिरी दिन था । इस तरह यह सिद्ध हो गया कि अर्जुन ने भीष्म द्रोणादि महारथियों को हराकर गौ की रक्षा की । इसी से इसीदिन से अर्जुन का नाम महाबाहु पड़ा ।

भगवान् कहते हैं कि शरीर में प्रकृति स्वरूपानुबन्धी तीन गुण हैं । श्वेत रंग सत्त्वगुण का, लाल रंग रजोगुण का और काला रंग तमोगुण का स्वरूप है । इन्हीं तीन गुणों को लेकर ही प्रकृति को सफेद, लाल और काले रंग से कहा गया है । कारणावस्था में ये तीनों गुण मालूम नहीं होते पर कार्यावस्था में प्रकृति से उत्पन्न हुई ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और मन इन महत्तत्वादि में ये तीनों गुण प्रकट हो जाते हैं एवं दिखाई देते हैं ।

भगवान् ने जीवात्मा के विषय में गीता में कहा है -

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२॥२१॥

जीवात्मा के स्वरूप में गुण का सम्बन्ध नहीं परन्तु इसका सम्बन्ध देह से होने के कारण यानी अविनाशी जीवात्मा देह में स्थिर रहते समय गुणों से बँध जाती है, अर्थात् शरीर में स्थितिरूप उपाधि से बँध जाती है । तात्पर्य यह कि इन तीनों गुणों में रजोगुण अधिक हो गया तो उसी से देह संश्लिष्ट जीवात्मा का व्यवहार किया जाता है - जैसे शरीर जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश द्वारा बना है पर उसमें पृथ्वी का अधिक अंश होने से उसे पार्थिव ही कहा जाता है । उसी प्रकार सर्वदा सब गुण रहते हैं पर जो अधिक होता है उसी से व्यवहार किया जाता है ॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

अन्वय :- **अनघ ! तत्र निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम् सत्त्वम् सुखसङ्गेन च ज्ञानसंगेन बध्नाति ।**

अर्थ :- हे निष्पाप अर्जुन ! उनमें निर्मल होने के कारण प्रकाशक और निर्विकार सत्त्वगुण सुख के संग से और ज्ञान के संग से (जीवात्मा को) बाँधता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे अनघ अर्जुन ! नित्य, अविनाशी, विमल, जीवात्मा को सत्त्वगुण का स्वरूप कैसे बाँधता है ? यही पहले बतलाता हूँ, ध्यान से सुनो । अनघ या पापरहित कहने का आशय है कि अकृत्यकरण, भगवदपचार, भागवतापचार और असह्यापचार - इनमें कोई पाप अर्जुन में नहीं है । ऐसे निष्पाप अर्जुन को समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि -

सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण इन तीनों में सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और अनामय है, अर्थात् प्रकाश तथा सुख को प्रकट करने का स्वभाव रखता है । इसीसे सत्त्वगुण प्रकाश और सुख का कारण है । वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान को ही प्रकाश कहते हैं । यही सत्त्वगुण जीवात्मा को सुख और ज्ञान की आसक्ति से बाँधता है । तात्पर्य यह है कि सुख और ज्ञान में ही पुरुष की आसक्ति उत्पन्न करता है । जब आसक्ति प्रकट हो जाती है तो मनुष्य ज्ञान और सुख दोनों के लौकिक और वैदिक (पारलौकिक) साधनों की तरफ प्रवृत्त होता है फिर उन कर्मों के फल भोगने की साधन-स्वरूपा योनियों में जन्म लेता है । इस तरह सत्त्वगुण सुख और ज्ञान की आसक्ति द्वारा पुरुष (जीव) को बाँधता है, क्योंकि सत्त्वगुण ही ज्ञान और सुख उत्पन्न करता है और फिर इन दोनों में आसक्ति भी उत्पन्न करता है ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! रजः रागात्मकम् तृष्णासंगसमुद्भवम् विद्धि । तत् देहिनम् कर्मसंगेन निबध्नाति ।**

अर्थ :- हे कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! रजोगुण को रागात्मक एवं तृष्णा एवं आसक्ति का उद्‌भव यानी उत्पत्ति स्थान जानो । वह देही यानी जीव को कर्म के संग से बाँधता है ।

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि हे कुन्ती-नन्दन ! तुम्हारे मातृवंश तथा पितृवंश दोनों पवित्र हैं । रजोगुण का स्वरूप क्या है ? तथा नित्य, चेतन, विमल, जीवात्मा को रजोगुण कैसे बाँधता है ? यहाँ यही तुम्हें बतला रहा हूँ ।

रजोगुण रागात्मक है यानी राग का कारण-स्वरूप है । स्त्री-पुरुष के पारस्परिक मिलन की इच्छा का नाम ही राग है । फिर यह रजोगुण तृष्णा और आसक्ति की उत्पत्ति का स्थान है, यानी रजोगुण तृष्णा और सङ्ग का भी कारण है । शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श समस्त विषयों के मिलने की इच्छा का नाम ही तृष्णा है । तृष्णा का उत्पादक रजोगुण ही है । पुत्र, मित्र, भाई, दामाद आदि सम्बन्धियों में सम्बन्ध विषयक स्पृहा का नाम ही सङ्ग है । इसको भी उत्पन्न करने वाला रजोगुण है । इस तरह राग, तृष्ण-और संग की उत्पत्ति का कारण रजोगुण है । यह रजोगुण कर्मों की क्रियाओं में स्पृहा उत्पन्न करके जीव को बाँधता है, क्योंकि जीव क्रिया में पाने की इच्छा करके जिन क्रियाओं का आरम्भ करता है, वे पुण्य-पाप रूप होती हैं, इसीलिए वे अपने फलभोग की साधनरूपा योनियों में जन्म देने वाली होती है । अतः रजोगुण क्रियाओं की आसक्ति के द्वारा जीव को बाँधता है । अभिप्राय यह है कि रजोगुण राग, तृष्णा सङ्ग और कर्म-आसक्ति का भी कारण है ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

अन्वय :- **भारत ! तमः तु अज्ञानजम् सर्वदेहिनाम् मोहनम् विद्धि । तत् प्रमादालस्यनिद्राभिः निबध्नाति !**

अर्थ :- हे भारत ! तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला और सभी देहधारियों (यानी जीवों) को मोहित करने वाला जान । वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा (इस जीवात्मा को) बाँधता है ।

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि हे भरतवंशी अर्जुन ! तुम्हें मैं यहाँ तमोगुण का स्वरूप एवं विमल चेतन जीवात्मा को यह कैसे बाँधता है, इसे बतला रहा हूँ, ध्यान से सुनो ।

वस्तु के यथार्थ बोध का नाम ज्ञान है और इससे विपरीत को अज्ञान कहते हैं । तमोगुण वस्तु के यथार्थ स्वरूप से विपरीत ज्ञान उत्पन्न करने वाला और सभी जीवों को मोहित करने वाला है । विपरीत ज्ञान को मोह कहते हैं, अर्थात् तमोगुण विपरीत ज्ञान का कारण है । यह अन्धकार स्वरूप है । इन्द्र, चन्द्रमा आदि को भी मोह ने नहीं छोड़ा । समस्त देहधारियों द्वारा यह तमोगुण विपरीत अनुष्ठान कराने वाला है । रथ हाँकने वाले कंस को जब मोह ने घेर लिया तो वह अपनी बहन देवकी को जान मारने के लिए तैयार हो गया । वासुदेवजी ने प्रार्थना की कि देवकी का इसमें दोष नहीं । मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि देवकी द्वारा जो पुत्रादि उत्पन्न होंगे उन्हें मैं तुम्हें दे दूँगा और तुम्हारा भय जाता रहेगा, अतः देवकी की जान मत मारो । तब कंस ने देवकी को छोड़ा । मोह का प्रभाव जीव पर जल्दी पड़ता है । फिर यह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा का कारण होने से उनके द्वारा देह में जीव को बाँधता है । अकर्तव्यकर्म अर्थात् क्रिया में प्रवृत्त करने वाली असावधानी को प्रमाद कहते हैं । क्रिया में प्रवृत्त न होने के स्वभाव को यानी शिथिलता को आलस्य कहते हैं । इन्द्रियों द्वारा क्रिया करते-करते जब पुरुष थक जाता है, इस थकान के कारण सभी इन्द्रियाँ काम करने में असमर्थ हो जाती हैं, इसीका नाम निद्रा है । जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं तो उस थकावट को दूर करने के लिए मन को छोड़कर ये सभी आत्मा के पास पहुँच जाती हैं, तो इस अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं और इन्द्रियों के साथ-साथ जब मन भी आत्मा के पास चला जाता है तो ऐसी अवस्था को सुषुप्तावस्था कहते हैं । इस तरह तमोगुण प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा द्वारा जीव को बाँधता है, अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन में डालता है । भगवान् हमें यह उपदेश दे रहे हैं कि तुम सत्त्वगुण एवं रजोगुण का त्याग यदि न कर सको तो तमोगुण का त्याग अवश्य करो, क्योंकि तमोगुण मलमूत्र के कृमि-कीट आदि की निम्न योनियों में जन्म कराकर अति कष्ट देने वाला है ॥८॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

अन्वय :- **भारत ! सत्त्वं सुखे, रजः कर्मणि संजयति, उत तमः तु ज्ञानम् आवृत्य प्रमादे संजयति ।**

अर्थ :- हे भारत ! (देहधारी को) सत्त्वगुण सुख में (और) रजोगुण कर्म में लगता है और तमोगुण तो ज्ञान को ढँककर प्रमाद में लगाता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि ज्ञानरूपी प्रकाश में रत रहने वाले हे अर्जुन ! अब सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के प्रधान कारण को जिसके द्वारा **'चेतन अमल सहज सुखरासी'** ये अणु जीवात्मा को बाँधते हैं, यहाँ बतला रहा हूँ । गौर से सुनो -

सुखासक्ति ही सत्त्वगुण में मनुष्य के बन्धन का प्रधान कारण है, अर्थात् सुखासक्ति ही चेतन, अणु विमल जीवात्मा को बाँधती है । अपनी आत्मा के अनुकूल अनुभव को सुख कहते हैं । रजोगुण में कर्मासक्ति यानी क्रिया में आसक्ति ही प्रधान कारण है, जिसके द्वारा यह जीवात्मा को बाँधता है । सुख और कर्म तीन प्रकार के होते हैं । यह मैंने पहले इसी अध्याय के ७वें श्लोक में भी बता दिया है । तमोगुण वस्तु के यथार्थ ज्ञान को ढँककर विपरीत ज्ञान का कारण होने से जीवात्मा को अकर्तव्य निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त कराता है । इसका प्रमाद ही प्रधान कारण है । विषयों में आसक्ति का नाम ही प्रमाद है । प्रमाद में अच्छा भोजन ठीक नहीं लगता और अभक्ष्य पदार्थ में ही मन लगता है ।

इस तरह भगवान् हमें उपदेश दे रहे हैं कि सर्व प्रथम तमोगुण का त्याग अवश्य करना । खेती, व्यापार, नौकरी करते हुए मधुर भक्ष्य पदार्थ ही खाना । यह सुर-दुर्लभ नर-नारी का शरीर इसीलिए मिला है कि हमारी आज्ञा के अनुसार आचरण करो ।।६।।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१०।।

अन्वय :- **भारत ! सत्त्वम् रजः तमः, रजः सत्त्वम् च तमः, तथा तमः रजः सत्त्वं अभिभूय एव भवति ।**

अर्थ :- हे भारत ! सत्त्व गुण रजोगुण एवं तमोगुण को, रजोगुण सत्त्वगुण एवं तमोगुण को और तमोगुण रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर ही होता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि धर्मप्राण भारत में रहने वाले हे अर्जुन ! यद्यपि सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण ये तीनों स्वभाव से ही सदा शरीर से संयुक्त जीवात्मा के साथ रहने वाले हैं, तौभी प्राचीन कर्मानुसार तथा जिस विषम भोजन से शरीर का पोषण होता है, इससे ये तीनों गुण एक दूसरे को दबाकर वृद्धि को प्राप्त कर लेते हैं । जैसे प्राचीन का सात्विक कर्म तथा वर्तमान समय पर शरीर द्वारा किया गया सात्विक भोजन भी है तो सत्त्वगुण अधिक बढ़ जाता है और यह रजोगुण, एवं तमोगुण को दबा देता है, अतएव ऐसे मनुष्य सात्विक, कहलाते हैं । जैसे - प्रह्लाद वगैरह ।

जब प्राचीन कर्म में रजोगुण का प्रवाह आया और मनुष्य ने खट्टा, तीता, भोजन किया जिससे रजोगुण बढ़ा एवं उसने तमोगुण तथा सत्त्वगुण को दबा दिया तब वे मनुष्य रजोगुणी कहलाये जैसे:- गन्धर्व चित्रकेतु आदि ।

जब मनुष्य ने प्राचीन देह में गुरु माता, पिता की निन्दा की, नारी पति को कुवचन बोली और वर्तमान समय में आज भी मांस, मदिरादि भक्षण किया तो ऐसे भोजनानुसार उसका तमोगुण बढ़ा और सत्त्वगुण एवं रजोगुण को दबा दिया । तब वे मनुष्य तामस कहलाये जैसे- रावण, कुम्भकर्णादि ।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।

अन्वय :- **उत यदा प्रकाशे सर्वद्वारेषु ज्ञानम् उपजायते तदा अस्मिन् देहे सत्त्वम् विवृद्धम् इति विद्यात् ।**

अर्थ :- और जब (वस्तु के यथार्थ स्वरूप को) प्रकाशित करते समय सभी इन्द्रिय-द्वारों (यानी ज्ञानेन्द्रियों में) ज्ञान उत्पन्न होता है, तब इस देह में सात्विक गुण बढ़ा है, - ऐसा समझना चाहिये ।
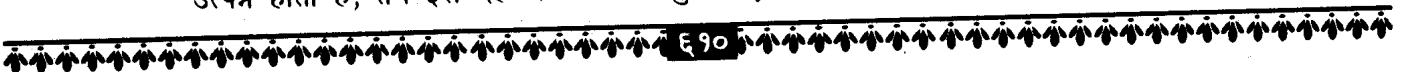
व्याख्या :- भगवान् समझा रहे हैं कि हे अर्जुन ! अब मैं तुझे वह चिह्न बतला रहा हूँ जिससे तुम समझोगे कि सत्त्वगुण बढ़ा है ।

जिस समय समस्त ज्ञानेन्द्रियों - यानी, आँख, कान, नाक, जीभ, तथा त्वचा के द्वार पर अर्थात् दो आँख, दो कान, दो नाक, मुख एवं रोमकूपों के छिद्रों पर जब यथार्थ वस्तु का अवबोधरूपी प्रकाश यानी ठीक जो जैसा है वैसा ही समझने का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो समझना कि इस २४ तत्त्व वाले देह में, जिसे मैंने **'महाभूतानि'** आदि श्लोकों में पीछे १३ वें अध्याय में बताया है, सत्त्वगुण बढ़ा है । जैसे भरत जी को राजगद्दी मिली, भोग मिला पर सब त्याग कर उन्होंने भगवान् के चरण-कमलों में प्रेम किया क्योंकि उनको यथार्थ ज्ञान का प्रकाश मिल चुका था । अत: सब का त्याग किया । तुलसीदास जी भी जिस भरत जी के बारे में कहते हैं -

'भरतु हंस रबिबंस तडागा ।' (रा. मा. २।२३१।६)

सत्त्वगुण का चिह्न बतला कर भगवान् ने हमें बतलाया कि अपने वर्णानुसार कर्म करते हुए महात्माओं के सत्संग द्वारा इन्द्रिय रूपी घोड़े के वेग को रोककर सत्त्वगुण को लाने का प्रयत्न करें तभी हम यथार्थ सुख को प्राप्त करेंगे ।।११।।

लोभ: प्रवृत्तिरारम्भ: कर्मणामशम: स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।१२।।

अन्वय :- **भरतर्षभ ! लोभ: प्रवृत्ति: कर्मणाम् आरम्भ:, अशम: स्पृहा, एतानि रजसि विवृद्धे जायन्ते ।**

अर्थ :- हे भरत-श्रेष्ठ ! लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति (और) स्पृहा ये सब रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ।

व्याख्या :- जिसमें अधिक त्याग हो उसे ही श्रेष्ठ कहते हैं ! अर्जुन ने पहले अध्याय में ही भगवान् से कहा है -

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।।१।।३२।

अर्थात् हे भगवन् ! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य और न तो सुख ही । अर्जुन सबका त्याग कर श्रेय मार्ग बताने की ही प्रार्थना करता है । **'यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** इसीलिए भगवान् अर्जुन को भरतवंशी क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ कहकर सम्बोधित कर रहे हैं ।

भगवान् कहते हैं कि भरतवंशी क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ अर्जुन ! अब तुम्हें मैं यह बता रहा हूँ कि कैसे जाना जायेगा कि रजोगुण बढ़ा है ? देश, काल, पात्र देखकर अपनी वस्तु का त्याग न कर सकने के स्वभाव को लोभ कहते हैं । प्रयोजन न समझकर भी कर्मों में चपलता के स्वभाव को प्रवृत्ति कहते हैं । फल के साधनरूप कर्मों के आरम्भ के लिए किये जाने वाले उद्योग को कर्मारम्भ कहते हैं । इन्द्रियों की उपरामता के अभाव को ही अशम यानी अशान्ति कहते हैं । विषयों की इच्छा का नाम स्पृहा है । **'विषं याति इति विषय:'** अत: विषयों को विष की तरह समझकर इनका त्याग करना चाहिये ।

ये पाँचों (१) लोभ, (२) प्रवृत्ति, (३) कर्मारम्भ, (४) अशम, और (५) स्पृहा रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं। अभिप्राय यह है कि जब ये वर्तमान रहें तो समझना चाहिए कि इस २४ तत्त्वों वाले देह में रजोगुण बढ़ा है-जैसे रोहिताश्व के उत्पन्न होने पर सत्य राजा हरिश्चन्द्र में भी रजोगुण बढ़ा था।

मन्द बुद्धि के लोग वामन भगवान् को भी लोभी बतलाते हैं, परन्तु ऐसा नहीं कहना चाहिये। आज भी तीर्थ बक्सर में वामनद्वादशी को मेला बड़ी धूम-धाम से लगता है। उनका त्याग आज भी हमें प्रतिवर्ष यह मेला बतलाता है पर हम समझने की कोशिश नहीं करते। वामन भगवान् ने सब माँगा पर अपने लिए नहीं और देश, काल पात्र में राजा बलि से जो लिए थे वह सब दान दे दिये। लोभी वह नहीं जो त्याग करे बल्कि वह तो प्रशंसनीय है। इस दान को लेने में भगवान् को ही घाटा लगा। राजा बलि ने यह वर माँगा कि जहाँ कहीं भी मैं रहूँ प्रतिदिन सबेरे इसी वेश में आप मुझे दर्शन देवें। फलतः भगवान् को प्रतिदिन मौजी मेखला पहने हुए हाथ में पलाश का दण्ड लिए हुए राजा को दर्शन देना पड़ता है। दान माँगना तो नीच कर्म है ही, जैसे तुलसीदासजी ने कहा है -

तुलसी वह नर मर चुका जो कछु माँगन जाय।

परन्तु माँगकर यज्ञ में लगा देना, देश, काल पात्र देखकर उसका त्याग कर देना तो उत्तम कार्य है। पं. मदनमोहन मालवीय ने माँगकर ही सर्वश्रेष्ठ हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना वाराणसी में की। ऐसे त्यागी पुरुष लोभी नहीं कहला सकते।

दूसरे वामनावतार तो सात्त्विकावतार है, अतः भगवान् को लोभी कहना नासमझी है ॥१२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

अन्वय :- **कुरुनन्दन ! अप्रकाशः अप्रवृत्तिः च प्रमादः च मोहः एतानि एव तमसि विवृद्धे जायन्ते।**

अर्थ :- हे कुरुवंशी अर्जुन ! अप्रकाश (ज्ञानोदय के प्रकाश का अभाव), अप्रवृत्ति तथा प्रमाद और मोह-ये सब ही तमोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि हे कुरुवंश का नाम उजागर करने वाले अर्जुन ! अब तुम्हें मैं यह बता रहा हूँ कि बढ़े हुए तमोगुण का लक्षण क्या है ? इसे ध्यान से सुनो। ज्ञान के उदय न होने का नाम ही अप्रकाश है और निश्चेष्ट पड़े रहने का नाम अप्रवृत्ति है। कर्म में प्रवृत्ति करने की कारणरूपा जो असावधानी है उसीको प्रमाद कहते हैं। विपरीत ज्ञान को ही मोह कहते हैं। इस तरह (१) अप्रकाश, (२) अप्रवृत्ति, (३) प्रमाद और (४) मोह ये सब तमोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं, अर्थात् ये सब जब वर्तमान रहें तो समझना चाहिए कि २४ तत्त्ववाले इस देह में तमोगुण बढ़ा है। जैसे-पिता का पुत्रादि के मरने पर रोना तमोगुण बढ़ने की निशानी है।

यहाँ इस श्लोक में 'च' शब्द दो बार आया है। गीता के 'च' शब्द का अर्थ अति कठिन है। यहाँ भोज प्रबन्ध में वर्णित कालिदास की एक आख्यायिका उल्लेखनीय है - एक बार कालिदास घूमते हुए भगवान् के दर्शनार्थ काशी में गये। उनको विचार हुआ कि गुरुस्थल पर जाकर व्यास जी का भी दर्शन कर लें। यह सोचकर वे वहाँ पहुँचे।

व्यास जी की मूर्ति के यहाँ जाकर उनके पेट को थपथपाते हुए उन्होंने कहा कि सरकार के पेट में बहुत चकार है । ऐसा कालिदास के कहते ही उनका हाथ पाषाण के व्यास जी की मूर्ति में चिपक गया । बड़े प्रयास के बाद भी वे जब अपना हाथ न छुड़ा सके तो चारो तरफ हाहाकार मच गया । इसी मध्य आकाशवाणी हुई कि 'तुम अपने को कवि लगाता है और 'च' का अर्थ समझता ही नहीं । इस गर्व के ही कारण तुमको ऐसा फल मिला है ।' आकाशवाणी सुनकर कालिदास को क्षोभ हुआ और व्यासाष्टक की रचना करके अपने अपराध को क्षमा उन्होंने करायी तब उनका हाथ छूटा ।।१३।।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४।।

अन्वय :- **यदा तु सत्त्वे प्रवृद्धे देहभृत् प्रलयम् याति, तदा उत्तमविदाम् अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते ।**

अर्थ :- जब अगर सत्त्वगुण की वृद्धि के समय (यानी सात्त्विकगुण बढ़ने पर) देहधारी प्रलय यानी मरण को प्राप्त करता है, तब वह उत्तमवेत्ताओं (यानी आत्मज्ञानियों) के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं - ऐ अर्जुन ! तुझे अब यह बतला रहा हूँ कि सत्त्वगुण के बढ़ने पर जो मरते हैं वे कैसा फल पाते हैं ?

भगवान् कहते हैं कि मैने तुझे बतलाया है कि **'अन्तवन्त इमे देहाः' (२।१८)** अर्थात् ये सारे शरीर विनष्ट होने वाले हैं । फिर यह भी जान गया कि -

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।१३।५।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।१३।६।।

अर्थात् २४ तत्त्वों का शरीर है और २५ वाँ तत्त्व जीवात्मा है ।

जब सत्त्वगुण बढ़ा हो उसी समय यदि जीवात्मा मृत्यु को प्राप्त करे तो वह उत्तम तत्त्व के ज्ञाताओं के यानी जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाताओं के अज्ञान रहित लोक समूहों को प्राप्त होती है । तात्पर्य यह कि सत्त्वगुण की वृद्धि के समय चाहे काशी में मरे या घर पर मरे ऐसा पुरुष आत्मज्ञानियों के वंश में जन्म लेकर जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप ज्ञान के साधन रूप पुण्यकर्मों के करने का अधिकारी हो जाता है-जैसे भीष्माचार्य ।।१४।।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१५।।

अन्वय :- **रजसि प्रलयम् गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते तथा तमसि प्रलीनः मूढयोनिषु जायते ।**

अर्थ :- रजोगुण में मृत्यु को प्राप्त कर (मनुष्य) कर्मासक्तों में जन्म लेता है और तमोगुण में मरा हुआ मूढ़योनियों में जन्म लेता है ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् यह बतला रहे हैं कि रजोगुण तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरण को प्राप्त पुरुष कैसा फल पाता है ?

जब रजोगुण बढ़ता है तो उस समय मृत्यु को प्राप्त होकर पुरुष फल प्राप्ति के लिए कर्म करने वालों के वंश में उत्पन्न होता है, यानी वहाँ जन्म लेकर स्वर्ग, पुत्र, धनादि फलों के साधनरूप कर्म करने का अधिकारी होता है - जैसे राजा दशरथ । अति जघन्य तमोगुण की वृद्धि होने पर मरा हुआ पुरुष (मनुष्य) मूढ़ योनियों में जन्म लेता है, अर्थात् कूकर, शूकर आदि योनियों में जन्म लेता है । कहने का तात्पर्य यह है कि वह सम्पूर्ण पुरुषार्थों के अयोग्य हो जाता है । ऐसे मनुष्य मरने के पहले कितनाहूँ पूजा-पाठ किये हों पर मरते समय तमोगुण में आसक्ति के कारण ही इन जघन्य योनियों में जन्म लेते हैं, - जैसे जड़ भरत । इन्होंने तपस्या भी की परन्तु मरते समय गुरु, माता-पिता में प्रेम न करके हरिण में ही प्रेम किया और मरकर निम्न योनि हिरण में ही जन्म लिया ॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

अन्वय :- **सुकृतस्य कर्मणः फलम् सात्त्विकम्, निर्मलम्, तु रजसः फलम् दुःखम्, तमसः फलम् अज्ञानम् (इति) आहुः ।**

अर्थ :- सत्कर्म (यानी शुभ कर्म) का फल सात्त्विक और निर्मल होता है लेकिन रजोगुण का फल दुःख और तमोगुण का फल अज्ञान होता है - ऐसा कहा गया है ।

व्याख्या :- करुणानिधि श्रीकृष्ण भगवान् इस श्लोक में सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के बढ़ने पर क्या फल होता है, इसीकी व्याख्या कर रहे हैं ।

सत्त्वगुण की वृद्धि के समय मरण को प्राप्त कर व्यक्ति आत्मज्ञानियों के कुल में उत्पन्न पुरुष के द्वारा किये हुए फल रहित मेरी आराधना रूप पुण्य कर्मों का फल पहले से भी बढ़कर सात्त्विक एवं निर्मल परम सुख पाता है, ऐसा सत्त्वगुण के परिणाम जानने वाले कहते हैं । रजोगुण के बढ़ने पर जो मरण को प्राप्त करता है वह स्वर्गादि फल के साध न रूप कर्म में आसक्त रहने वाले पुरुषों के वंश में जन्म लेता है, फल की इच्छा से कर्मों का आरम्भ करता है, उन कर्मों के फलों को भोगता है, पुनः जन्म लेता है, पुनः रजोगुण बढ़ता है तथा पुनः फल की इच्छा से कर्मों का प्रारम्भ करता है । इस तरह परम्परारूप दुखःमय सांसारिक जीवन व्यतीत करता है पर जन्म-मरण के बन्धन से वह निर्मुक्त नहीं होता ऐसा रजोगुण के स्वरूप को जानने वाले कहते हैं । इसी तरह अन्तकाल में जब तमोगुण बढ़ता है तो इसका फल अज्ञान प्राप्त होता है । विपरीत ज्ञान का नाम ही अज्ञान है । इस प्रकार मरणोपरान्त ये पुरुष, पशु कीटादि निम्न योनियों में जन्म लेते हैं और अज्ञान रूपी फल को बार-बार प्राप्त करते रहते हैं ।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

अन्वय :- **सत्त्वात् ज्ञानम् संजायते रजसः लोभः एव, तमसः प्रमादमोहौ भवतः च अज्ञानम् एव ।**

अर्थ :- सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ ही (और) तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं, और (यानी प्रमाद मोहोपरान्त) अज्ञान ही (प्रादुर्भूत होते है) ।

व्याख्या :- भगवान् अपने परमप्रिय शिष्य अर्जुन को यह बता रहे हैं कि अगर मानव शरीर में सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण अधिक बढ़ जाये तो इसका फल क्या होता है ? यह ध्यान से सुनो -

शरीर में सत्त्वगुण बढ़ने पर ज्ञान की वृद्धि होती है, यह सत्त्वगुण का फल है । आत्मा के यथार्थ बोध का नाम ही ज्ञान है । श्रुति में लिखा है कि - **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** । अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं । सन्त तुलसीदासजी कहते हैं -

धर्म ते विरति योग ते ज्ञाना । ज्ञान मोक्ष-प्रद वेद बखाना ।।

भगवान् गीता में कहते हैं - **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** गी.।४।३८।

आगे भी कहते हैं - **'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति'** गी. ।४।३६।

तथा दूसरी जगह लिखा है - **'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्'** जिसके द्वारा आत्मा जानी जाय उसे ज्ञान कहते हैं ।

रजोगुण के बढ़ने पर स्वर्गादि फलों का लोभ पैदा होता है जो रजोगुण का फल है । अपनी वस्तु का देश, काल, पात्र देखकर भी उसका त्याग न करना तथा दूसरे की वस्तु हड़प लेना ही लोभ है और यही नरक का द्वार है । भगवान् ने गीता में ही आगे कहा है कि :-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।१६।२१।।

काम, क्रोध, लोभ ये नरक के तीन द्वार हैं । अर्थात् आत्मा का पतन करने वाले हैं, अतः इनका त्याग कर देना चाहिये । गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं -

तात तीन अति प्रबल खल, काम, क्रोध, अरु लोभ ।
मुनि विज्ञान धाम, मन, करहिं निमिष महु छोभ ।।

तमोगुण के बढ़ने से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, यह तमोगुण का फल है । कर्तव्य कर्म को त्यागकर अकर्तव्यकर्म को ग्रहण करना ही प्रमाद है । विपरीत ज्ञान को मोह कहते हैं तथा विवेकपूर्वक न जानना ही अज्ञान है ।

भगवान् ने आगे कहा है -

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।१६।४।

यह स्वभाव आसुरी संपदा वालों का है । ये ही सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के बढ़ने के फल हैं ।।१७।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

अन्वय :- सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति, राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति, जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति ।

अर्थ :- सत्त्वगुण में स्थित (पुरुष) उपर को जाते हैं, रजोगुणी बीच में ठहर जाते हैं और निकृष्ट गुण की वृत्तियों में स्थित तमोगुणी नीचे जाते हैं । यानी अधोगति में जाते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि सत्त्वगुण में स्थित पुरुष क्रमशः ऊपर की ओर जाते हैं, अर्थात् पूर्ण जीवनपर्यन्त तो पूर्ण ज्ञानी रहते हैं तथा मरणोपरान्त अन्तिम लक्ष्य सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करते हैं, जिसको भगवान् ने पीछे बतलाया है कि -

अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥८।२४॥

अग्नि आदि अभिमानी देवताओं के द्वारा गये हुए ब्रह्मवेत्ता जन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ।

राजस प्रकृति में स्थित मरणोपरान्त स्वर्गादि लोकों में अपूर्व फल भोगकर पुनः मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं क्योंकि ये सकामोपासक हैं, जिसके विषय में गीता में कहा गया है कि -

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥९।२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥९।२१॥

अर्थात् तीनों वेदों में निष्ठा रखने वाले, सोमरस पीने वाले, जिनके पाप विशुद्ध हो चुके हैं ऐसे पुरुष यज्ञों से मुझे पूजकर स्वर्ग प्राप्ति की याचना करते हैं और पुण्य फलरूप इन्द्रलोक को पाकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं । वे उस विशाल स्वर्ग को भोगकर पुण्य के क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में प्रवेश करते हैं । इस प्रकार केवल वेदत्रयी-प्रतिपादित धर्म के आश्रित और भोगों की कामना वाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं ।

तमोगुणी पुरुष पहले असुर रहते हैं । इसके बाद उत्तरोत्तर जघन्य एवं निकृष्ट योनियों में जन्म लेते-लेते निकृष्टतम योनि में चले जाते हैं, अर्थात् पहले अन्त्यज, फिर तिर्यक्, इसके बाद कीड़े-मकोड़े, फिर वृक्षादि, इसके पश्चात् गुल्म और लतादि तदुपरान्त शिला, काष्ठ, लोष्ट और तृण आदि के रूपों को क्रमशः प्राप्त करते हैं ।

भगवान् ने गीता में कहा कि -

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥१६॥२०॥

आसुरी योनि को प्राप्त होकर वे मूढ लोग मुझको (परब्रह्म को) न पाकर प्रत्येक जन्म में और भी नीच गति

को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार पुरुषों को तीन गति भगवान् बताकर यह संकेत कर रहे हैं कि भूलकर भी तमोगुणी न बनना ।।१८।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।१९।।

अन्वय :- **यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यम् कर्तारम् न अनुपश्यति च गुणेभ्यः परम् वेत्ति सः मद्भावम् अधि गच्छति ।**

अर्थ :- जब द्रष्टा पुरुष गुणों से भिन्न दूसरे को कर्ता नहीं देखता है और गुणों से पर को (आत्मा को अकर्ता) जानता है, तब वह मेरा जो भाव है, उसको प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- भगवान् बतलाते हैं कि हे अर्जुन ! सात्त्विक आहार के सेवन से और बिना फल की इच्छा किये भगवदाराधन रूप कर्मों के अनुष्ठान से रजोगुण और तमोगुण सब तरह से दब जाते हैं तथा सत्त्वगुण में वर्तमान रहता हुआ यह द्रष्टा पुरुष जब गुणों से भिन्न दूसरे को कर्ता नहीं समझता है, यानी ऐसा जानता है कि गुण ही अपनी अनुकूल प्रवृत्तियों में कर्ता है, तथा जीवात्मा को कर्तृभूत गुणों से यानी सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से परे समझता है - जैसे कमल के पत्तों पर ऊपर से भी जल गिरे और नीचे से भी जल बढ़े, तौभी ऊपर सतह पर पानी नहीं ठहरता, वैसे ही जीवात्मा भी गुणों से रहित है । ऐसा समझने वाले ही मेरे भाव को प्राप्त होते हैं । यानी ज्ञान रूप विमल जो अमृतात्मा है उसका अनुभव वह सर्वदा करता है । स्वरूपतः परिशुद्ध स्वभाववाले जीवात्मा का नाना कर्मविषयक कर्तापन पूर्व किये हुए कर्मों से उत्पन्न गुणासक्ति से ही हुआ है, इसलिए जीवात्मा को समझ लेने पर ही मेरे भाव को वह प्राप्त होता है ।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।

अन्वय :- **देही देहसमुद्भवान् एतान् त्रीन् गुणान् अतीत्य, जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः अमृतम् अश्नुते ।**

अर्थ :- देहधारी (यानी जीवात्मा) देह से उत्पन्न इन तीनों (यानी सात्त्विक, राजस और तामस) गुणों को पारकर, जन्म, मृत्यु जरा के दुःखों से मुक्त होकर अमृत का अनुभव करता है (यानी अमृत रूप आत्मा का अनुभव करता है)

व्याख्या :- भगवान् यहाँ अर्जुन को मद्भाव यानी भगवद्भाव क्या है ? यही समझा रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि यह जीवात्मा देह से उत्पन्न अर्थात् देह के आकार में परिणत शरीर (प्रकृति) से उत्पन्न सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण इन तीनों गुणों को त्यागकर उनसे भिन्न गुरु के उपदेश द्वारा तथा सात्त्विक आहार से एकमात्र ज्ञान स्वरूप, नित्य विमल जीवात्मा को अपने देह में साक्षात्कार करके जन्म, मृत्यु एवं बुढ़ापे के कष्टों से छुटकर अमृत स्वरूप आत्मा का अनुभव करती है, यानी अमृत स्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लेती है, यही मेरा भाव है ।

अर्जुन उवाच -

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।।२१।।

अन्वय :- **प्रभो ! एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः कैः लिंगैः भवति, किमाचारः च एतान् त्रीन् गुणान् कथम् अतिवर्तते ।**

अर्थ :- हे प्रभो ! इन तीनों से अतीत (यानी परे) पुरुष किन चिह्नों से युक्त होता है ? किसा आचारवाला होता है ? और इन तीनों गुणों को कैसे लाँघ जाता है ?

व्याख्या :- गुणातीत विषयक ज्ञानार्जन का जिज्ञासु परम सात्त्विक अर्जुन पूछता है कि हे प्रकर्ष रूप से अवतार धारण करने वाले प्रभो ! आप यह बतला चुके हैं कि - **'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः'** ।१४।५ अब आप मुझे यह बतलावें कि इन तीनों गुणों से अतीत पुरुष किन-किन लक्षणों से पहचाने जाते हैं । असाधारण धर्म को ही लक्षण कहते हैं । यह भी बतावें कि वे पुरुष किस तरह का आचरण करते हैं । आचरण को महत्त्व देते हुए वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है - **आचारः प्रथमोधर्मः** अर्थात् आचरण ही सर्व प्रथम धर्म है **'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'** (दक्षस्मृ.) आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर पाते हैं ।

'लीनमर्थं गमयतीति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार छिपे हुए अर्थ जिससे प्राप्त होवे उसे लिंग कहते हैं । तीसरा प्रश्न अर्जुन यह पूछता है कि भगवन् किस उपाय से सत्त्वगुण, रजोगुण, एवं तमोगुण को वे मनुष्य लाँघ जाते हैं ?

इस प्रकार अर्जुन एक ही श्लोक में तीन प्रश्न करता है । एक अद्वैत में तीन चीजों का विचार है । इसीलिए यह विशिष्टाद्वैत को झलका रहा है । विशिष्टाद्वैत की व्युत्पत्ति है -

द्वयोर्भावः द्विता द्वितैव द्वैतम् न द्वैतमद्वैतम् विशिष्टञ्च
तदद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम् । वैशिष्ट्यं च चिदचिदोः ।

अर्थात् दो के भाव को द्विता कहते हैं और द्विता को ही द्वैत कहते हैं । द्वैत के अभाव को अद्वैत कहते हैं। विशिष्ट अद्वैत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं । यहाँ पर वैशिष्ट्य जड़चेतन का अभिप्रेत है, अतएव विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जड़चेतन विशिष्ट श्रीमन्नारायण ही परम तत्त्व हैं । यानी सूक्ष्म चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म कारण और स्थूल चित्-अचित् ब्रह्मरूप कार्य जगत् से अभेद इस सिद्धांत में माना जाता है । इसीलिए न्याय सिद्धाञ्जन में वेदान्तदेशिक जी भी कहते हैं - **'अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्मकमेव तत्त्वम्' अथवा विशिष्टस्य कार्यकारणसर्वावस्थपूर्व-चिदचिद्-विशिष्टस्य ब्रह्मणः अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम् ।** यहाँ पर अद्वैत शब्द अभेद अर्थ का वाचक है । यह दूसरी व्युत्पत्ति है अथवा षष्ठीतत्पुरुष समास करके **विशिष्टस्य अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम्** भी होता है । श्रुति कहती है **'एकमेवाद्वितीयम्'** (छा. उ.) अर्थात् ब्रह्म एक और अद्वितीय है । जैसे यह कहा जाय कि बिहार में दरभंगा राजा अद्वितीय हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि उस राजा के न समान और न उससे बढ़कर कोई दूसरा राजा बिहार में है । गीता में भी अर्जुन कहता है- **'....न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो'** (११।४३) अर्थात् हे भगवन् ! आपके समान ही कोई नहीं बढ़कर कहाँ से होगा ? इस तरह स्मृति भी बतलाती है कि न तो भगवान् के समान ही कोई है और न उनसे अधिक ही कोई है । निर्विशेषवादी तो माया-मोह का महाजाल बिछाये हैं । बिना विशेष की तो दुनिया में कोई वस्तु ही नहीं । घोड़ा है तो वह भी लाल, काला, चितकबरा आदि किसी न किसी रंग का ही होगा । इसीलिए बिना विशेषण के जो ब्रह्म को मानते हैं वे महाअज्ञानी हैं और धूल फेंककर आपको धोखा दे रहे हैं ।

गीता में कहा गया है -

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।' ।४।३४। अर्थात् उस ज्ञान को गुरु से साष्टाङ्ग प्रणिपात पुरस्सर बार-बार प्रश्न करते हुए उनकी शुश्रूषा द्वारा सीखो ।।२१।।

श्रीभगवानुवाच -

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।२२।।

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच- हे पाण्डव ! प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहम् संप्रवृत्तानि एव न द्वेष्टि च निवृत्तानि न काङ्क्षति ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - हे पाण्डुनन्दन ! प्रकाश तथा प्रवृत्ति एवं मोह प्रवृत्त हुए हों तौभी द्वेष नहीं करता और न निवृत्त होने पर (उनकी) आकाँक्षा करता है ।

व्याख्या :- प्रपन्न-पारिजात षडैश्वर्य सम्पन्न जो श्रीकृष्ण हैं वे बोले कि हे अर्जुन ! तुम्हारे द्वारा पूछे गये पहले प्रश्न का उत्तर अभी मैं तुम्हें दो श्लोकों में दे रहा हूँ । इसे ध्यान पूर्वक सुनो ।

यहाँ अर्जुन को भगवान् पाण्डुनन्दन शब्द से सम्बोधित कर रहे हैं । यद्यपि माता पिता से शास्त्रानुसार बड़ी है । लोक-दृष्टि से भी माता नौ मास बच्चे को गर्भ में रखती है पर प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुसार पिता के नाम से ही बच्चे पुकारे जाते हैं । भगवान् हमारी संस्कृति के अनुसार ही पाण्डुनन्दन कहकर अर्जुन को सावधान कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि यदि कोई तुमसे पूछे कि किसके पुत्र हो तो तुम्हें अपने पिता का ही नाम बताना चाहिए । भगवान् कह रहे हैं कि हे पाण्डुनन्दन ! सत्त्वादि तीनों गुणों से परे पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होते हैं, यह ध्यान से सुनो -

इसी अध्याय में मैंने पहले बताया है कि -

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।।१४।११।।

अर्थात् सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश है । वस्तु के यथार्थ स्वरूप-ज्ञान को ही प्रकाश कहते हैं ।

और **'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः'........................।।१४।१२।।**

रजोगुण का कार्य प्रवृत्ति है । प्रयोजन न समझकर भी कर्मों में चपलता के स्वभाव को प्रवृत्ति कहते हैं ।

तथा '..................**प्रमादो मोह एव च' ।।१४।१३।।**

तमोगुण का कार्य मोह है और विपरीत ज्ञान को ही मोह कहते हैं । यह सब मैं तुमको बतला चुका हूँ ।

जो मनुष्य आत्मा से भिन्न अनिष्ट विषयों के रूप में जब सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश, रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति और तमोगुण के कार्य मोह के आने पर भी द्वेष नहीं करते और इष्ट विषय में जब प्रकाश प्रवृत्ति और मोह से वे निवृत्त हो जाते हैं तो ऐसे पुरुषों में आकाँक्षा नहीं रह जाती है । अर्थात् वे नहीं चाहते कि अमुक इच्छा पूर्ण होवे ।

जैसे शुकदेव जी चलते थे तो राह में लड़के ढेला मारते थे, रम्भा रात भर देह में लिपटी रही तौभी उन्होंने द्वेष नहीं किया । इनके पिता विवाह करने के लिए रोते कलपते रह गये पर इन्होंने चाहना नहीं की ।

श्रीमद्भागवत में लिखा गया है -

पुत्रेतितन्मयतया तरवोऽभिनेदुः (स्कन्ध-१)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने पीछे १२वें अध्याय में आत्मनिष्ठ योगी के लक्षण बतलाये हैं, जो ये हैं :-

यो न हृष्यति न द्वेष्टि च शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१२।१७॥

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है न आकाङ्क्षा करता है और शुभ-अशुभ दोनों का त्यागी है, वही मेरा प्रिय है ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१२।१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१२।१९॥

शत्रु-मित्र और मान-अपमान में एक समान, शीत-उष्ण तथा सुख-दुःख में एक समान, आसक्ति से रहित, निन्दा और स्तुति को समान समझने वाला, मौनी, जिस किसी से भी सन्तुष्ट, अनिकेतन और स्थिर मतिवाले जो भक्तिमान् हैं वे मुझे प्यारे हैं ।

इन गुणों से मिलता-जुलता हुआ लक्षण भगवान् यहाँ इस १४वें अध्याय में भी गुणातीत पुरुषों के संबंध में बतला रहे हैं ।

जैसे-१२ वें अध्याय के १७वें श्लोक में '**.........न द्वेष्टि**' और न '**काङ्क्षति**' जो पद हैं वही अनुपूर्वी ढ़ंग से भगवान् यहाँ पर भी कह रहे हैं, अर्थात् आत्मनिष्ठ योगी के लक्षणों से मिलता-जुलता लक्षण भगवान् गुणातीत पुरुषों के भी बतला रहे हैं ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

अन्वय :- **यः उदासीनवत् आसीनः, गुणैः न विचाल्यते गुणाः एव वर्तन्ते इति यः अवतिष्ठति न इङ्गते ।**

अर्थ :- जो उदासीन की भाँति स्थित हुआ, गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता । गुण ही (गुणों में) बरत रहे हैं ऐसा समझता हुआ जो स्थिर रहता है (तथा अपनी स्थिति से) चलायमान नहीं होता ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन को गुणातीत पुरुषों के लक्षण ही बतला रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि हे पाण्डु-पुत्र अर्जुन !

सत्त्वादि गुणों से अतिरिक्त आत्मदर्शन से तृप्त होने के कारण जो आत्मा के सिवा अन्यत्र उदासीन के सदृश स्थित हैं अर्थात् किसी के प्रति हित एवं अहित इन दोनों भावों से जो रहित हैं तथा इच्छा एवं द्वेष रूप गुणों के द्वारा जो विचलित नहीं होते ऐसे पुरुष ही गुणातीत पुरुष हैं । जैसे शुकदेव को रम्भा अपने शरीर में दबा लेती है, पर वे द्वेष नहीं करते और न तो शाप ही देते हैं । पिता द्वारा राज्यभोग देने, मनोनुकूल शादी कराने की बात पर भी जरा सा भी विचलित नहीं होते । सत्त्वगुण अपने कार्य प्रकाश रूप में, रजोगुण अपने कार्य प्रवृत्ति रूप में और तमोगुण अपने कार्य मोह रूप में रत रहते हैं । ऐसा समझकर जो आत्मा में तृप्त पुरुष चुपी साधे रहते हैं, जरा सा भी विचलित नहीं होते, उन सत्त्वादि गुणों के कार्य जो प्रकाश, प्रवृत्ति, और मोह हैं उनके अनुरूप चेष्टा भी नहीं करते वे गुणातीत पुरुष हैं । इसी तरह इन लक्षणों से मिलते-जुलते लक्षण भगवान् ने पीछे आत्मनिष्ठ योगी के भी बतलाये हैं । १२वें अध्याय में १३वें श्लोक से १९वें श्लोक तक आत्मनिष्ठ योगी के लक्षण बतलाये गये हैं । भगवान् कहते हैं -

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।१२।१६।

इस श्लोक में **'उदासीनो'** शब्द आया है, जो १४वें अध्याय के इस २३वें श्लोक में भी आया है । इससे दोनों श्लोकों की एकता झलकती है । आत्मनिष्ठ योगी के लक्षण ही गुणातीत आत्माओं के लक्षण हैं । इस तरह भावानुपूर्वी से एकता दिखाते हैं ।।२३।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।२४।।

अन्वय :- **समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः, तुल्यप्रियाप्रियो धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।**

अर्थ :- जो सुख-दुःख में सम है, स्वरूप में स्थित है, जिसे मिट्टी, पत्थर, सोना समान है, प्रिय अप्रिय में तुल्य है, जो धीर है, निन्दा और अपनी स्तुति दोनों जिसके लिए समान है, (वह गुणातीत है)

व्याख्या :- परमकारुणिक श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् अर्जुन के प्रथम प्रश्न का उत्तर जो उसने २१वें श्लोक के आधे भाग में किया है, देने के बाद अब आगे के २४वें एवं २५वें इन दो श्लोंको में उसके दूसरे प्रश्न का उत्तर अर्थात् गुणातीत पुरुष का आचरण कैसा होता है ? बतला रहे हैं । ये दो श्लोक युग्म श्लोक हैं । **'द्वाभ्यां युग्म इति प्रोक्तम्'** ।

इस तरह दो श्लोकों का जहाँ एक ही में अन्वय हो उसे युग्म श्लोक कहते हैं । इस २४वें श्लोक में क्रिया तथा विशेष्य पद नहीं हैं । यहाँ केवल विशेषण ही है । यहाँ आगे २५वें श्लोक में 'उच्यते' पद क्रिया है ।

अपनी आत्मा के अनुकूल अनुभव को सुख तथा प्रतिकूल अनुभव को दुःख कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि जो दुःख एवं सुख में समान चित्तवाला और स्वस्थ है, केवल आत्मा में ही स्थित है । आत्मा से अलग पुत्रादि के जन्म-मरण के जो सुख एवं दुःख हैं उन सभी में समान आचरण करने वाला है, जो धीर है यानी प्रकृति और आत्मा के विवेक में कुशल है, निन्दा या गाली देनेवालों तथा स्तुति करने वालों के साथ समभाव रखता है । तात्पर्य यह है कि जो प्रियवाणी से अत्यधिक हर्षित नहीं होता और अप्रियवाणी से विषाद नहीं करता वही गुणातीत पुरुष है । कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा में मनुष्यत्व, देवत्व आदि का अभिमान करने से होने वाले गुण और अवगुण निमित्तक स्तुति

और निन्दा से अपना कोई सम्बन्ध न रखकर समभाव में जो स्थित रहते हैं-ऐसा उपर्युक्त आचरण करनेवाले आत्मदर्शी पुरुषों को वेद तथा महर्षियों ने गुणातीत बतलाया है-जैसे राजा जनक । उनको संतान प्राप्ति हुई, जानकी जी की शादी की, सब खुशी-ही-खुशी आयी पर तौभी वे समभाव रहे और जब सब आलिशान अट्टालिकाएँ जलने लगीं उन्हें जरा सा भी दु:ख का अनुभव नहीं हुआ । धनुर्भंग के समय परशुराम जी के कठोर वचन को लिखते हुए गोस्वामी जी कहते हैं -

अति रिस बोले वचन कठोरा । कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा ॥ (रा.मा. १।२६६।३)

पर तौभी जनकजी को रोष नहीं हुआ । ऐसे जनकजी की महिमा बताते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं -

'जोग भोग महँ राखेउ गोई' (रा.मा. १।१६।२)

ऐसे ही गुणातीत आचरण वाले हाते हैं ।

यहाँ पर भी भगवान् ने अनुपूर्वी की एकता दिखलायी है । १२वें अध्याय में १३वें श्लोक से १६वें श्लोक तक आत्मनिष्ठ योगी के लक्षण बताये हैं । १२वें अध्याय के १३वें श्लोक में भगवान् कहते हैं -.......**'समदु:खसुख: क्षमी'** ॥

और यहीं १६वें श्लोक में कहते हैं - **'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' ॥१२।१९॥**

इन दोनों श्लोकों का 'सम दु:ख-सुख' और 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' ऊपर के २४वें श्लोक से मिलता-जुलता है, अर्थात् जो लक्षण भगवान् आत्मनिष्ठ योगी के बतलाये उसी से मिलता-जुलता आचरण गुणातीत पुरुषों का भी बतला रहे हैं । इस तरह भगवान् ने यह उपदेश दिया कि दु:ख-सुख में समभाव रखना चाहिए और धार्मिक कार्यों पर आरूढ़ रहना चाहिये ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो: ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत: स उच्यते ॥२५॥

अन्वय :- **(य:) मानापमानयो: तुल्य: मित्रारिपक्षयो: तुल्य:, सर्वारम्भपरित्यागी स: गुणातीत: उच्यते ।'**

अर्थ :- जो मान और अपमान (दोनों) में समान हो, मित्र और शत्रु दोनों दलों के लिए तुल्य हो (शास्त्र-विपरीत) सभी आरम्भों का परित्यागी हो, वह (मनुष्य) गुणातीत कहा जाता है ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में भी गुणों से परे पुरुष के बारे में बतला रहे हैं कि वह कैसा आचरण वाला होता है ? भगवान् कहते हैं कि मान में यानी पुष्पमाला चढ़ाने पर और अपमान में अर्थात् गाली दी जाय या मारा जाय तथा उससे होने वाले मित्र एवं शत्रु के पक्षमें भी अपना सम्बन्ध न समझकर जो समुचित आचरण करता हो । जो समवयस्क हो एवं सदा हित की चाहना करता हो वह मित्र कहा जाता है और सर्वदा किसी भी युक्ति से अहित की चाहना रखता हो उसे शत्रु कहते हैं, इन दोनों में जो समान रहे, तथा जो शरीरधारी होने के नाते समस्त शास्त्र-विपरीत आरम्भों का त्यागी हो अर्थात् सर्वदा जो भी कर्मारम्भ करता हो वह शस्त्रानुसार ही करता हो ऐसे उपर्युक्त आचरण करने वाले पुरुष को वेद तथा महर्षियों ने गुणातीत बतलाया है ।

कुछ लोग कहते हैं कि '**सर्वारम्भपरित्यागी**' का अर्थ सब कुछ त्याग कर देना है पर यह अर्थ शास्त्र के विपरीत है । सब कुछ त्याग करने वाला न आज तक हुआ और न आगे होगा ही । इसीलिए ये विपरीत अर्थ करने वाले बालू की भीत उठाते हैं और ये महा दल-दल में फँसे हैं । विद्वानों की सभा में तो इनका मुँह काला हो जायेगा । यहाँ पर 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ शास्त्र से वर्जित आरम्भों का त्याग करना ही है, क्योंकि भगवान् ने स्वयं गीता में बतलाया है ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१६।२३॥

जो शास्त्र की विधि का त्याग करके इच्छानुसार बरतते हैं वे न सिद्धि को प्राप्त होते हैं, न सुख न तो परमगति ही पाते हैं, अतः यहाँ पर 'शास्त्र विधि का परित्याग' अर्थ कभी नहीं हो सकता ।

कुछ मन्द बुद्धि वाले सुहृद् तथा मित्र का एक ही अर्थ करते हैं यह ठीक नहीं । यदि ऐसा होगा तो इस गीता में पुनरुक्ति द्वेष आ जायेगा जो एकदम असम्भव है । भगवान् गीता में कहते हैं ।

'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु' ।६।९।

यहाँ पर सुहृद् तथा मित्र दोनों दो शब्द हैं ।

गुणातीत पुरुषों की तरह आचरण करने वालों में श्रीपाणसूरि जी हैं । दक्षिण भारत में श्रीरंगधाम है, जहाँ कावेरी के तट पर श्रीपाणसूरि रहते थे । ये दूर से ही श्रीरंगनाथ भगवान् का स्मरण, ध्यान, पूजा करते थे । वे अपने में नैच्यानुसंधान करते हुए अपने आप को पापी समझकर मन्दिर में नहीं जाते थे, क्योंकि ये सोचते थे कि श्रीरंगम् तो वैकुण्ठधाम है उसमें हम जैसे मर्त्य पापी जन कैसे जा सकते हैं ? एक दिन श्रीपाणसूरि गाते हुए भगवान् की भक्ति में मस्त थे । उसी समय उस घाट पर श्रीरंगनाथ भगवान् के पुजारी ब्राह्मण जल लेने के लिए वहाँ पहुँचे । वे पुजारी बोले दूर हटो पर प्रेमानन्द में विभोर पाणसूरि नहीं हटे । इस पर पुजारी बोले कि नीच जल को अपवित्र कर दिया और हटाने पर हटता भी नहीं, इतना कहते हुए अर्चक उन्हें पत्थर से मारने लगे, परन्तु मारे जाने पर भी पाणसूरि शान्त रहे । फिर अर्चक लोग कुवाच्य भी बोले तौभी वे मौन रहे । जल लेकर पुजारी मन्दिर में गये तो वहाँ पर श्रीरंगनाथ भगवान् के ललाट से रक्त टपक रहा था और जहाँ-जहाँ इन लोगों ने श्रीपाणसूरि को मारा था वहाँ-वहाँ भगवान् की मूर्ति में भी चोट के निशान थे । वहाँ हाहाकार मच गया और राजा को बुलाया गया । उसी समय आकाशवाणी हुई कि-

'भक्त पाणसूरि के लिए मैं कवच बन गया था और पत्थर की सब चोट मुझे ही लगी है । यह चोट तब ठीक होगी जब श्रीलोकसारंग महामुनि श्रीपाणसूरि को जबर्दस्ती अपने कन्धे पर चढ़ाकर मेरे सम्मुख मेरे धाम में लायेंगे तथा जबतक वे नहीं आयेंगे तबतक मेरे शरीर की वेदना एवं रुधिर का गिरना बन्द नहीं होगा, क्योंकि श्रीलोकसारङ्ग महामुनि के वहाँ रहते हुए भी कुछ न बोलने के कारण उन्हें महापाप लगा है । इसी तरह दुर्योधन की सभा में भी द्रौपदी के चीरहरण के समय महात्मा भीष्म को कुछ न बोलने के कारण ही बड़ा पाप लगा था । भगवान् की आज्ञा पाकर श्रीलोकसारङ्ग महामुनि बड़े प्रसन्न हुए कि चलो इसी जन्म में इस घोर पाप से छुटकारा मिल गया । यह भगवान् की कृपा
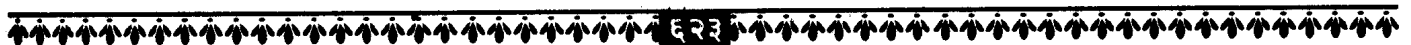
का ही फल है । वे दौड़े-दौड़े कावेरी नदी के उस घाट पर आये और हठ करने पर भी श्रीपाणसूरि को अपने कन्धे पर लेकर श्रीरंगनाथ भगवान् के सम्मुख उन्हें लाये । भगवान् अति प्रसन्न हो गये जैसे समुद्र में नदियाँ समा जाती हैं वैसे ही भगवान् ने अपनी दिव्यकला से सशरीर श्रीपाणसूरि को अपने वदन में लीन कर लिया । इस तरह श्रीपाणसूरि को कन्धे पर बैठकर भगवान् के यहाँ आने पर भी हर्ष नहीं हुआ और समभाव में रहे इसी से ये गुणातीत, पुरुष थे ।

गीता के १२वें अध्याय में १३वें श्लोक से १९वें श्लोक तक भगवान् ने आत्मनिष्ठयोगी के लक्षण बतलाये हैं । अनुपूर्वी गुणातीत पुरुषों में भी भगवान् वही लक्षण बतला रहे हैं, जैसे भगवान् ने पीछे कहा है कि -

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः । १२।१८।

इस श्लोक में 'मित्र', 'मानापमानयोः' शब्द ऊपर के कथित श्लोक से मिलते-जुलते हैं । इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन के द्वितीय प्रश्न का उत्तर यहाँ समाप्त किया ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

अन्वय :- **च यः अव्यभिचारेण भक्तियोगेन माम् सेवते, सः एतान् गुणान् समतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते ।**

अर्थ :- और जो अव्यभिचारी भक्तियोग (यानी ऐकान्तिक भक्तियोग) के द्वारा मेरा सेवन (यानी मेरी उपासना) करता है वह इन गुणों (सत्त्वादि गुणत्रय) को पारकर ब्रह्मभाव की प्राप्ति के योग्य होता है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन द्वारा पीछे २१वें श्लोक में किये गये तीसरे प्रश्न का उत्तर एक श्लोक से दे रहे हैं कि गुणातीत पुरुष किन-किन उपायों से सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण को लाँघता है ?

भगवान् कहते हैं कि इसी अध्याय के १९वें श्लोक में **'नान्यम् गुणेभ्यःकर्तारम्'** इस कथनानुसार देह और जीवात्मा को पृथक्-पृथक् जान लेने मात्र से ही कोई गुणातीत नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा विवेक ज्ञान अनादि काल से ही प्रवृत्त विपरीत वासना से युक्त हो सकता है-कपिल मुनि ने हजारों वर्ष तपस्या की ओर प्रकृति पुरुष का विवेचन सांख्य शास्त्र में किया, पर सगर के ६०,००० पुत्रों को क्रोधाग्नि से भस्म कर दिया । सगर के पुत्रों ने गाली दी, अभद्र व्यवहार किया, पर कपिल मुनि का शत्रु-मित्र में समभाव नहीं रहा । भगवान् कहते हैं कि यह गलत सिद्धान्त है । आगे कहते हैं कि सिर्फ एक उपाय राजमार्ग भक्तिमार्ग ही है जो सत्य संकल्प, परम दयालु, शरणागतवत्सलता के समुद्र, मदनमोहन श्यामसुन्दर मुझ परमेश्वर की सेवा अव्यभिचारिणी सर्वश्रेष्ठ भक्ति योग के द्वारा करता है, वही गुणातीत है ।

तेल की धारा गिराने में जैसे छिन्न-भिन्न नहीं होती ऐसी ही भक्ति अव्यभिचारिणी भक्ति है, परन्तु बेटा मर गया या दरिद्र हो गये अथवा महा आपत्ति आ गयी तो भगवान् का पूजा-पाठ छोड़ दिये तो ऐसी भक्ति को व्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि जो कोई भी पशु या पक्षी भी अचला अनन्या परा भक्ति से मेरी उपासना करते हैं वे सत्त्वगुण, रजोगुण तमोगुण को पारकर ब्रह्म-भाव के लिए समर्थ हो जाते हैं, अर्थात् ऐसे लोग यथार्थ स्वरूप में स्थित नित्य, अव्यय, विमल, अमृत-स्वरूप जो आत्मा है उस जीवात्मा का अनुभव करने लगते हैं । कुछ लोग यहाँ

'ब्रह्मभूयाय' का 'ब्रह्म हो जाता है' ऐसा अर्थ करते हैं, पर यह उचित नहीं । सन्त तुलसीदास जी कहते हैं कि - **'बाल्मीकि भये ब्रह्म समाना'** अर्थात् वह ब्रह्म नहीं होता वह आत्म-स्वरूप नित्य, अव्यय, अमल, अमृत स्वरूप जीवात्मा को प्राप्त कर लेता है ।

गीता में भगवान् ने भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलाया है **'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः'** ।११।५४।

अनन्या भक्ति द्वारा ही मैं प्राप्त करने योग्य हूँ । फिर **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** ।१३।१०। आगे भी कहते हैं कि - **भक्तिं मयि परां कृत्वा १८।६८।** महानारायणोपनिषद् में लिखा गया है कि **'भक्तिं विना चतुर्मुखः'** और अन्यत्र भी लिखा है कि - **भक्तिर्मोक्षप्रदायिनी'** इन उपायों से सत्त्वादि गुणों से पार होने का सुलभ मार्ग अव्यभिचारिणी भक्ति ही सिद्ध होती है । भाषा के कवि तुलसीदास जी भी लिखते हैं - **भक्ति पक्ष हठ नहीं सठताई ।**

अतः कोई कितनाहूँ कहे पर हमें भक्ति मार्ग पर अटल रहना चाहिए । काकभुसुण्डीजी ने लोमश ऋषि का शाप शिरोधार्य कर लिया पर अपनी भक्ति पर दृढ़ रहे इसी से वे पूजनीय रहे । जिस पक्षिराज के बारे में तुलसीदास ने बड़े ही रहस्यमय ढंग से कहा है -

गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी । हरि सेवक अति निकट निवासी ॥

(रा.मा. ७।५४।३.)

वे गरुड़ जी भी काकभुसुण्डी के आश्रम पर गये, परन्तु लोमश को आज तक जन्म-मरण के बन्धन से निवृत्ति नहीं मिली । गीता का ऐसा संदेश परम मान्य है ।

उपनिषद् तो उपनिषद् कहलाती है पर यह श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषद् है । 'सु' (यानी) सुन्दर उपनिषद् यह गीता है- जैसे दुग्ध का सार 'तत्त्व' घी है, वैसे ही उपनिषद् का सार सूपनिषद् गीता अति मान्य है ।।२६।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।२७।।

अन्वय :- **हि अमृतस्य च अव्ययस्य ब्रह्मणः च शाश्वतस्य धर्मस्य च ऐकान्तिकस्य सुखस्य प्रतिष्ठा अहम् अस्मि ।**

अर्थ :- क्योंकि अमृत और अव्यय ब्रह्म (यानी आत्म तत्त्व) और शाश्वत धर्म (अर्थात् इससे लक्षित शाश्वत ऐश्वर्य) और ऐकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा (यानी) आश्रय मैं हूँ ।

व्याख्या :- अर्जुन द्वारा पूछे गये तीनों प्रश्नों का उत्तर देकर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् इस अध्याय का उपसंहार इस श्लोक से कर रहे हैं, जिसमें बता रहे हैं कि मैं कौन हूँ ? भगवान् श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानने में हमें विवाद नहीं करना चाहिये । पीछे अर्जुन ने कहा है - **परं ब्रह्म परं धाम, पवित्रं परमं भवान्'** ।१०।१२।

ऐसे भगवान् को अज्ञानी कहते हैं कि वे परब्रह्म नहीं हैं तो इसमें चिन्ता का विषय नहीं । भगवान् कहते हैं कि अमृत, अविनाशी, नित्य, अचल, सुख-स्वरूप, ब्रह्म नाम जीवात्मा की प्रतिष्ठा मैं हूँ और अतिशय नित्य ऐश्वर्य की भी प्रतीष्ठा मैं ही हूँ । यद्यपि 'शाश्वतधर्म' शब्द प्राप्य वस्तु के साधन का वाचक है तथापि यहाँ उसके आदि अन्त के शब्द प्राप्य वस्तु के वाचक हैं । इसीलिए यह भी (शाश्वत धर्म) उसका सहचारी होने से प्राप्य वस्तु का ही लक्ष्य करने वाला है । इसी कारण धर्म का अर्थ यहाँ ऐश्वर्य ही होगा और आगे भगवान् कहते हैं कि ऐकान्तिक सुख की भी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ तथा अव्यभिचारिणी, परा, अनन्या भक्ति द्वारा जो ज्ञानी सुख प्राप्त करते हैं उस सुख की प्रतिष्ठा भी मैं हूँ ।

यहाँ पर कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि यहाँ ब्रह्म का अर्थ जीवात्मा कैसे किया गया ? प्रकरण अर्थ ही निर्णायक होता है और यहाँ पर जीवात्मा का ही प्रकरण है । भगवान् ने पीछे कहा है - **अनादिमत्परंब्रह्म १३।१२।** तथा'.........**ब्रह्म संपद्यते तदा**' ।१३।३०।

और इसी अध्याय में कहा है '..............**ब्रह्मभूयाय कल्पते ।' १४।२६**

और आगे के अध्याय में भी भगवान् कहते हैं -

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति' ।१८।५४

इन सभी स्थलों पर ब्रह्म शब्द जीवात्मावाचक ही है । अतः यहाँ पर भी ब्रह्म शब्द जीवात्मा का ही वाचक है । दूसरे ब्रह्म का प्रयोग परब्रह्म परमात्मा करने पर हो ही नहीं सकता है क्योंकि सम्बन्ध द्विनिष्ठ होता है, अर्थात् दो में होता है । परमात्मा की प्रतिष्ठा परमात्मा में नहीं हो सकती, अतः ऐसे टीकाकार महा दल-दल में हैं । यदि यहाँ ब्रह्म का अर्थ प्रकृति किया जाये तो वह प्रकृति अविनाशी नहीं, अतः यह भी अर्थ नहीं हो सकता, इसलिए पूर्वोक्त अर्थ करना ही ठीक है ।।२७।।

यहाँ पर २७ श्लोकों में इस अध्याय की समाप्ति कर भगवान् श्रीसम्प्रदाय की निष्ठा बतला रहे हैं, अर्थात् इन २७ श्लोकों का अर्थ जानने के लिए जिज्ञासु भक्तों को आचार्यों तथा आल्वारों की सूक्ति का ध्यान करना होगा, अर्थात् **'श्रीशं श्रीशैलनाथं...........'**

इस श्लोक में वर्णित लक्ष्मीनाथ से वरवर मुनि तक १८ आचार्यों एवं **भूतं सरश्च महदाह्वयभट्टनाथ-श्रीभक्तिसार-कुलशेखर-योगिवाहान् । भक्ताङ्घ्रिरेणुपरकालयतीन्द्रमिश्रान् श्रीमत्पराङ्कुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥** इस लोक में वर्णित श्रीसरोयोगी से श्रीपरकाल स्वामी पर्यन्त ६ आल्वारों की सूक्ति का जब अनुसंधान करोगे तो इस गुणत्रय विभाग योग नामक १४ वें अध्याय के २७ श्लोकों का अर्थ भी समझ जाओगे ।

श्रुति कहती है - **आचार्यवान् पुरुषोवेद** (छान्दो. ६।१४।२)

॥ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

अन्वय :- **ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थम् अव्ययम् प्राहुः । छन्दांसि यस्य पर्णानि, यः तम् वेद सः वेदवित् ।**

अर्थ :- ऊपर जड़वाले, नीचे शाखाओं वाले अश्वत्थ (पीपल) को अव्यय कहते हैं । वेद जिसके पत्ते हैं । जो उसको जानता है, वह वेदवेत्ता है ।

व्याख्या :- अर्जुन को उत्तमाधिकारी समझकर भगवान् श्रेय मार्ग को बतला रहे हैं । फिर इस बात को जनाने के लिए कि मैं अन्तर्यामी हूँ, भगवान् अर्जुन के हृदय की बात जानकर उसके मन में उठे प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं ।

भगवान् कह रहे हैं कि संसार अनोखा पीपल का वृक्ष है । कठोपनिषद् में कहा गया है -

उर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन ।
एतद्वैतत् ॥ (अध्या. २ वल्ली ३।१)

गीता में बतलाया गया है -

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः...................................८।१६
फिर, अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति...॥८।१८।

इन प्रमाणों से लीलाविभूति के सब लोकों से ऊपर रहने वाले चतुर्मुख ब्रह्मा इस संसार वृक्ष के आदि हैं ।

पृथ्वीलोक में बसने वाले सब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट और स्थावर तक वृक्ष के नीचे वाली शाखा के रूप में फैले हुए हैं । अनासक्ति के हेतुभूत सम्यक् ज्ञान के उदय होने तक प्रवाह रूप से अच्छेद्य होने के कारण यह अव्यय अर्थात् जैसा-का तैसा रहता है । यह संसार अनोखा पीपल का वृक्ष है, जिससे देवता, पितर, मनुष्य, पशु-पक्षी, भूत सबका कल्याण होता है । शास्त्रों में कहा गया है कि - पीपल वृक्ष में शनिवार को जल देकर पूजा करने से ३३ कोटि देवताओं की आराधना हो जाती है जिसमें प्रेतादि भी आराम करते हैं । मरे हुए पितरों में घट का जल पीपल में ही दिया जाता है । पीपल के वृक्ष से मनुष्य छाया पाते हैं, पशु उसके पत्ते खाकर, पक्षी उसका फल खाकर लाभान्वित होते हैं । इसीसे

भारत के हर गाँव में सबका कल्याण करने वाला पीपल का वृक्ष जरूर रहता है । उसी प्रकार संसार के मनुष्य, स्वधा द्वारा पितरों को, स्वाहा द्वारा देवताओं को, गोशालादि से पशुओं को, अतिथि-महात्माओं को सत्कार द्वारा सन्तुष्ट करने वाले हैं । अत: यह संसार पीपल का वृक्ष है ।

वेद ही इस अनोखे पीपल वृक्ष के पत्ते हैं जिससे यह बढ़ता है । यजुर्वेद में लिखा गया है कि -

वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः । (यजु. २।१।१)

और

ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः ॥ (यजु. का. २।१)

अर्थात् विभूति की कामनावाले वायु देवता सम्बन्धी श्वेतसत्त्व की बली दें एवं प्रजा की कामन वाले इन्द्र और अग्नि देवता के लिए ग्यारह पत्रों में पुरोडाश अर्पण करें ऐसा कहा गया है ।

और

पुत्रेष्ट्या पुत्रकामो यजेत् । स्वराज्यकामो राजसूयेन यजेत् ॥

इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित काम्य कर्मों से यह संसार वृक्ष बढ़ता है, अत: वेद ही इसके पत्ते हैं ।

ऐसे संसाररूपी पीपल वृक्ष को जो जानता है वह वेद-वेत्ता है, क्योंकि वेद ही इस संसार वृक्ष को काटने का उपाय बतलाता है और काटने योग्य इस संसार वृक्ष के स्वरूप का ज्ञान भी काटने के उपायों को समझाने में उपयोगी है, इसलिए उसको वेद-वेत्ता कहा जाता है ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्यशाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

अन्वय :- **अधश्च ऊर्ध्वं तस्य शाखाः प्रसृताः, (याः) गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवालाः । च अधः मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि मूलानि अनुसंततानि ।**

अर्थ :- नीचे और ऊपर इस (संसारवृक्ष) की शाखाएँ फैली हुई हैं । (जो) गुणों से बढ़ायी हुई हैं, विषय जिनकी कोपले हैं, तथा नीचे मनुष्य लोक में भी कर्मरूप बन्धनवाली (इसकी) जड़ें फैली हुई हैं ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में संसार को विचित्र पीपल वृक्ष की समता प्रदान कर उसे साङ्गरूपक के द्वारा बता रहे हैं । लीलाविभूति में ही ऊपर क्रमशः (१) वायुलोक, (२) चन्द्रलोक, (३) विद्युत् लोक, (४) सूर्य लोक, (५) वरुण लोक, (६) इन्द्रलोक और मूलरूप में सबसे ऊपर (७) ब्रह्मलोक है जहाँ पर आदि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा हैं ।

उस मनुष्य आदि शाखा वाले संसार रूपी पीपल वृक्ष और भी उन-उन प्राणियों के कर्मों से निर्मित नीचे की शाखाएँ बार-बार मनुष्य, पशु, कीटादि देहों के रूप में फैलती जाती हैं । यही नहीं ऊपर भी गन्धर्व, यक्ष, देवादि के रूप

में इस विलक्षण वृक्ष की शाखायें फैली हुई हैं । साधारण वृक्ष तो पानी से बढ़ता है पर यह संसाररूपी पीपल का वृक्ष सत्वादि गुणों से बढ़ता है । भगवान् ने गुण के विषय में स्पष्ट शब्दों में पीछे कहा है -

'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः' ।१४।५।

इन्हीं तीनों गुणों से यह बढ़ा है और जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये ५ विषय हैं; ये ही इस वृक्ष के किसलय (पल्लव) हैं । अर्थात् अति कोमल कोपलों वाली पत्तियाँ हैं । भगवान् और भी कहते हैं -

'पञ्च चेन्द्रियगोचराः' १३।५।

यह संसार अति लुह-चुह एवं लुभावना कैसे होता है ? इसका उत्तर बताते हुए भगवान् कहते हैं कि नीचे जो मनुष्य का देह है उसमें कर्मरूप बन्धनवाली, इस वृक्ष की जड़ें फैली हुई हैं । अर्थात् ब्रह्मलोक जिसका मूल है और मनुष्य जिसकी शाखायें हैं ऐसे इस वृक्ष की कर्मरूप अनुबन्धन वाली जड़ें नीचे मनुष्य देह में भी फैली हुई हैं । अभिप्राय यह कि जीव को बार-बार बाँधने वाली कर्मरूपी जड़ें मनुष्य देह में ही होती हैं । मनुष्य देह से किये हुए शुभ कर्मों द्वारा गन्धर्व, यक्ष, देवादि योनियों में जाकर ऊपर शाखा वाला हो जाता है और अशुभ कर्मों द्वारा पशु, कीटादि योनियों में नीचे जीव जाता है । अतः ऊपर नीचे जाने में हेतु मनुष्य देह ही है जिसके द्वारा कर्म किये जाते हैं । इसीसे सन्त कवि तुलसीदासजी लिखते हैं- **'सुर-दुर्लभ सद्ग्रन्थन्ह गावा'** (रा. च. मा.) यह मनुष्य का देह ही कर्म करने का पूर्ण अधिकारी है । कर्मों के अनुसार ही मनुष्य ऊपर या नीचे जन्म लेता है । इसी संसार-वृक्ष का श्रीमद्भागवत महापुराण में निम्न प्रकार से वर्णन किया गया है -

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलः चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगोह्यादिवृक्षः ।। (स्कं-१०)

सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगणुण ये वृक्ष की मूसलें हैं । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार रस हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच प्रकार हैं । (१) है, (२) उत्पन्न होता है, (३) बढ़ता है, (४) विपरिणाम होता है, (५) क्षीण होता है और (६) नष्ट होता है यह इसकी षडात्मकता है । (१) मल, (२) मूत्र, (३) मांस, (४) मज्जा, (५) शुक्र, (६) शोणित और (७) त्वचा ये सात इसके छिलके हैं ।

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) आकाश, (६) मन, (७) बुद्धि और (८) अहंकार ये आठ इसकी शाखाएँ हैं ।

(१) दो आँख, (२) दो नाक, (३) दो कान, (४) मुँह, (५) मल द्वार और मूत्र द्वार ये नव इसके खोंढ़रे हैं ।

(१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान, (५) व्यान, (६) नाग, (७) कूर्म, (८) कृकल (९) देवदत्त और (१०) धनञ्जय ये दस वायु वृक्ष को हरा भरा करने वाली हैं । जीवात्मा एवं परमात्मा इस वृक्ष की दो चिड़ियाँ है । यह आदि वृक्ष संसार का एक अव्यक्त अयन नाम स्थान है, तथा सुख एवं दुःख ये इसके दो फल हैं ।।२।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

(युग्मश्लोक है, अर्थ और अन्वय के लिए अगले श्लोक से 'प्रपद्ये' क्रियापद का लेना अपेक्षित है)

अन्वय :- **इह अस्य रूपम् न तथा उपलभ्यते न (अस्य) आदिः, न च अन्तः, च न संप्रतिष्ठा । (अतः) एनम् सुविरूढमूलम् अश्वत्थम् दृढेन असंगशस्त्रेण छित्वा (तं.....प्रपद्ये)**

अर्थ :- इस लोक में इस (वृक्ष) का रूप न तो वैसा (जैसा कि उपर निर्दिष्ट किया गया है) पाया जाता है, न इसका आदि और अन्त और न पूर्णप्रतिष्ठा (यानी स्थिति) ही है । अतः इस दृढ़ मूल वाले पीपल को असंगरूपी दृढ़ शस्त्र से काटकर (मैं आदि पुरुष की शरण ग्रहण करता हूँ)

व्याख्या :- भगवान् समझा रहे हैं कि यह पीपल का वृक्ष अति अनोखा है । यह अति पवित्र वृक्ष है और परमार्थ बुद्धि वाले ही इस वृक्ष को लगाते हैं । इस पीपल का मूल चतुर्मुख ब्रह्मा हैं जिस कारण यह ऊपर मूलवाला वृक्ष है । मनुष्य उस वृक्ष की सन्तान-परम्परा से शाखाग्र होने के कारण यह वृक्ष नीचे की शाखा वाला है । मनुष्य देह से किये हुए मूल रूप कर्मों के द्वारा यह नीचे और ऊपर गन्धर्व आदि रूप में फैली हुई शाखा वाला है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है । इस प्रकार इसका जैसा रूप बतलाया गया है वैसा संसारी मनुष्यों को देखने में नहीं आता । संसारी मनुष्य यही देखते हैं कि मैं मनुष्य हूँ, मैं धनञ्जय का पुत्र मृत्युञ्जय हूँ, मैं काला हूँ, गोरा हूँ ऐसा ही देखते हैं । त्रिगुणमय भोगों,में अनासक्ति के द्वारा ही इस वृक्ष का विनाश होता है । यह रहस्य भी उनकी समझ में नहीं आता । इसी प्रकार गुणों का संग ही इसँके आदि का कारण है, यह भी समझ में नहीं आता तथा अनात्म में आत्माभिमान रूप यानी आत्मबुद्धि रूप अज्ञान इस वृक्ष की प्रतिष्ठा है, यह भी संसार के लोगों को समझ में नहीं आता । **'सम्यक् प्रकर्षेण तिष्ठति इति संप्रतिष्ठा'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार अच्छी तरह से स्थिति ही सम्यक् प्रतिष्ठा हुई । यह बात भी संसारी मनुष्य नहीं जानते ।

इस दृढ़तापूर्वक जमी हुई जड़वाले वृक्ष को अनासक्ति रूपी दृढ़ शस्त्र द्वारा काटकर विषयों में अनासक्ति रूप साधना से उस पद को ढूँढ़ना चाहिये जिसमें पहुँचे हुए वापस नहीं लौटते । यदि कोई कहे कि विपरीत ज्ञान कैसे निवृत होता है ? तो इसपर साक्षात् भगवान् ही कहते हैं कि समस्त जगत् के मूल कारणभूत उस आदि पुरुष परब्रह्म नारायण की मैं शरणगति करता हूँ, अतः हमें भी उसका आदि कारण जो भगवान् हैं उन्हीं की शरण में जाना चाहिए । भगवान् कहते हैं - **अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।१०।८।**

अर्थात् मैं ही सबों की उत्पत्ति का स्थान हूँ और मुझमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रवर्तित है । अर्जुन भी कहता है - त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः (गी. ११।३८) अर्थात् आप ही आदिदेव और सबसे पुराने पुरुष हैं ।

यह शरणागति छः प्रकार की होती है जिसके विषय में भारद्वाजसंहिता में वर्णन है -

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः । (भारद्वाज संहिता तथा यती. मतदीपिका)

अर्थात् (१) शास्त्रानुसार कर्म करना-जैसे-प्रह्लादादि ने किया । (२) शास्त्र के प्रतिकूल का त्याग करना-जैसे-विभीषण द्वारा भाई का त्याग । (३) यह विश्वास करना कि भगवान् जरुर रक्षा करेंगे-जैसे-गजेन्द्र । (४) रक्षकत्व को वरण करना यानी स्वीकार करना-जैसे-द्रौपदी । (५) अपनी आत्मा को ब्रह्म के लिए समर्पित कर देना-जैसे-अहिल्या । (६) शरणागति मन्त्र को कृपणता से छिपाकर रखना-जैसे-ध्रुव, अर्जुनादि ।।३।।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।४।।

अन्वय :- **ततः यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता तम् एव आद्यम् पुरुषम् प्रपद्ये (इति) तत् पदम् परिमार्गितव्यम् यस्मिन् गताः भूयः न निवर्तन्ति ।**

अर्थ :- उसके बाद (यानी संसारवृक्ष की जड़ काटने के बाद) जहाँ से पुरानी प्रवृत्ति फैली हुई है (यानी पुरातन काल से प्रवृत्ति आ रही है) मैं उसी आद्य पुरुष की शरण ग्रहण करता हूँ । (ऐसी भावना या सुदृढ़ निश्चय करके), वह पद ठीक से अन्वेषण करना चाहिये जहाँ पहुँचे हुए फिर वापस नहीं लौटते ।

व्याख्या :- अनादि काल से विषयों में आसक्ति और उसके द्वारा होने वाला विपरीत ज्ञान कैसे निवृत्त होगा ? यही दयानिधि कृष्ण भगवान् बतला रहे हैं । इसके लिए सिर्फ एक ही राजमार्ग शरणागति है जिसे श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणों ने बतलाया है । यजुर्वेद में कहा गया है कि - **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (यजु. ३१।१८ एवं श्वे. ३।८) अर्थात्, मुक्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है । जगत् के आदि कारण परमात्मा की हमें शरणागति करनी चाहिए । भगवान् कहते हैं कि वह आदि पुरुष मैं ही हूँ जिस परमेश्वर से पुरातन गुणमयी प्रकृति फैली हुई है । यह स्पष्ट महाभारत में कहा गया है कि-**'जंगमाजंगमञ्चेदं जगन्नारायणोद्भवम्'** अर्थात् यह जड़-चेतनात्मक जगत् नारायण से उत्पन्न है और विष्णुपुराण में लिखा गया है कि - **'विष्णोः सकासादुद्भूतं जगत्...'** ।१।१।३१ अर्थात् यह सम्पूर्ण चराचर जगत् भगवान् विष्णु से उत्पन्न हुआ है । लीलावतारधारी कृष्ण भगवान् कहते हैं कि मैं भी उसकी प्रपत्ति करता हूँ । अतः दृढ़ निश्चय करके, विषयों में अनासक्ति रूप साधन से, प्राप्त करने योग्य पद को ढूँढ़ना चाहिए, क्योंकि भगवान् ने गीता में कहा है कि- **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** । ७।१४। आगे भी कहा गया है कि - **'तमेव शरणं गच्छ'** ।१८।६२ उस परम प्रभु की शरणागति जरूर करनी चाहिए । श्रुति बतलाती है कि **'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'** (श्वे. उप. ६।१८) अर्थात् मैं मोक्ष की इच्छा वाला आपकी शरण में हूँ । शरणागति मार्ग की तरह अन्य कोई मार्ग ही नहीं । भक्तिमार्गावलम्बी तो भोगते हैं, जैसे-राजा दशरथ । भाषा के कवि तुलसीदासजी भी प्रपत्ति की महत्ता बताते हुए कहते हैं - **'कोटि विप्र अघ लागहिं जाहू** । भगवान् कहते हैं कि ऐसे घोर पापी को भी शरण में आने पर - **'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'** अर्थात् मैं सभी पापों से रहित कर दूँगा जैसे-जटायु को । शरणागति मार्गावलम्बी जटायु के लिए भगवान् राम अपनी जटा खोल कर उससे उनकी धूल झाड़ने लगते हैं । उन्हें गोद में लेकर रोते हैं और श्राद्ध हेतु पिण्डदान भी करते हैं । दशरथ हाय राम ! हाय राम ! कहते ही रह गये परन्तु पीछे घूमकर श्रीराम देखते भी नहीं । अतः शरणागति मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ राजमार्ग है ।

'प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः' अर्थात् उस आदि पुरुष भगवान् में शरणागत होकर, गुरुजनों से समझकर विषयों में अनासक्ति रूप जो हथियार है उसके द्वारा इस दृढ़ मूलवाले वृक्ष का छेदन करना चाहिए, जिससे जीव फिर विषयों में नहीं आवे, क्योंकि श्रुति कहती हैं **'न सः पुनरावर्तते'** (छा. उ. ८।१५।१) क्यों नहीं लौटते ? इसका उत्तर हमारे यामुन मुनि स्तोत्र-रत्न में लिखते हैं - **'स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतोनेक्षुरकं हि वीक्षते'** (स्तो. र. ३०) कहने का आशय यह है कि अति पराग भरा हुआ सरस कमल जब भ्रमर को प्राप्त हो जाता है तो वह तालमखाने की तरफ नहीं जाता, वैसे ही जीव उस परमपद को पाकर फिर नहीं लौटता ।

शरणागति के विषय में लक्ष्मीतन्त्र में लिखा गया है कि -

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदं तितीर्षतां पारमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥

(१) अज्ञाधिकारियों की यही शरणागति ही रक्षक है, (२) ज्ञानाधिकारियों के लिए भी यही रक्षक है और (३) अनन्तब्रह्म की इच्छा करने वाले और संसार सागर को पार करने वाले भक्तिपरवशाधिकारियों के लिए भी केवल यही उपाय है ।

इस प्रकार शरणागति करने वाले तीन तरह के हुए -

(१) अज्ञाधिकारी - अज्ञान से शरणागति करने वाले, जिन्हें शरणागति का ज्ञान भी नहीं है ।

(२) ज्ञानाधिकारी - पहले के आचार्य जैसे श्री नाथमुनि वगैरह । ये प्रथम से बढ़कर हैं ।

(३) भक्तिपरवशाधिकारी-ये दोनों से बढ़कर होते हैं । जैसे दिव्यसूरि, श्रीशठकोप स्वामी आदि आल्वरों ने शरणागति की है ॥४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंगै-र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

अन्वय :- **निर्मानमोहाः जितसंगदोषाः अध्यात्मनित्याः विनिवृत्तकामाः सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः अमूढाः तत् अव्ययम् पदम् गच्छन्ति ।**

अर्थ :- मान-मोह से रहित, सङ्गदोष (यानी भोगों में आसक्तिरूप दोष) को जीत लेने वाले, सदा अध्यात्म में स्थित निवृत्त कामनाओं वाले, सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से मुक्त हुए अमूढ़ (नहीं मोहित, अन्ययाभक्ति-विशिष्ट ज्ञानी) पुरुष उस अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या :- परमदयालु श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्, अव्यय, नित्य, अविनाशी जो पद है उसे कौन लोग प्राप्त करते हैं ? यही शिष्य अर्जुन को न पूछने पर भी अन्तर्यामी होने के कारण बता रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि यह पद किसी आश्रम या वर्ण पर आधारित नहीं है ।

इस तरह मेरी शरण ग्रहण करके जो (१) मान और मोह से रहित हो । वाणी से की गई प्रशंसा को मान कहते हैं । अनात्मा में आत्मबुद्धि का होना ही मोह है ।

(२) सङ्ग के दोष को जीत लिया हो, अर्थात् जो गुणमय भोगों में आसक्ति रूप दोष को अपने वश में कर लिया हो । जिससे हम दूषित हो जायें उसे दोष कहते हैं, - जैसे नारद जी कंस के यहाँ भी गये पर उसका दोष ग्रहण उन्होंने नहीं किया ।

(३) जो आत्मा के ध्यान में संलग्न हैं, यानी यह समझते हैं कि शरीर में जीवात्मा है; क्योंकि चेतन, विमल, अणु जीवात्मा जब शरीर से बाहर चली जाती है तो उस मृतक शरीर में चेतनता नहीं रह जाती । इस प्रकार जानकर जो नित्य आत्मा नाम की नदी में स्नान करते हैं ।

(४) जिनकी समस्त कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हों, यानी विशेष रूप से रुचि वासना सहित विषय का जो त्याग कर चुके हों । रुचि से वासना का जब तक त्याग नहीं होगा तब तक वासना का अन्त नहीं होगा, जैसे-हींगदानी की गन्ध हींग के समाप्त हो जाने पर भी रहती है । और

(५) जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से मुक्त हो चुके हों ।

एतादृश लक्षणों से युक्त अनन्या भक्ति-विशिष्ट जो ज्ञानी हैं वे अव्यय, नित्य, अविनाशी, विमल ज्ञान-स्वरूप आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं । ज्ञान और भक्ति में भेद नहीं । हमारे सन्त कवि तुलसीदासजी ने कहा है- **'ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा ।'**

भगवान् १८वें अध्याय में कहते हैं - **भक्त्या मामभिजानाति**' (गी. १८।५५)

और तुलसीदासजी भी कहते हैं - **'ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा'** ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

अन्वय :- **तत् न सूर्यः भासयते, न शशाङ्कः न पावकः । यत् गत्वा न निवर्तन्ते, तत् मम परमम् धाम ।**

अर्थ :- उस (आत्म-ज्योति) को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि । जिसको प्राप्त कर (फिर) नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् अपनी श्रेष्ठ ज्योति को बतला रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि उस आत्म-ज्योति को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा तथा न तो अग्नि ही, क्योंकि वास्तव में ज्ञान ही सबका प्रकाशक है । सूर्य दैनिक पदार्थों को प्रकाशित करता है, चन्द्रमा चन्द्रोदय के अन्दर की वस्तु को ही प्रकाशमान करता है, इन दोनों से जब प्रकाश सम्भव न हो तो अग्नि या बिजली पदार्थों को प्रकाशित करती है, किन्तु उपर्युक्त सभी केवल विषय एवं इन्द्रियों के सम्बन्ध के विरोधी अन्धकार को दूर करते हैं । इस कारण ज्ञान में सहारा देकर सूर्य, चाँद, अग्नि, बिजली आदि विषयों तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध के अवरोध को दूर करते हैं ।

भगवान् ने पीछे बतलाया है कि - **'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'** ।१३।१७। परम उत्कृष्ट ज्योति मेरी ही वस्तु है । जिस परम श्रेष्ठ आत्म-ज्योति को पाकर पुरुष इन विषयों में नहीं लौटते वह परम ज्योति मेरी ही है ।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'धाम' का अर्थ यहाँ ज्योति कैसे किया गया ? गीता में और भी स्थलों पर 'धाम' शब्द आया है, जो कि ज्योतिवाचक ही है ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।८।२१ एवं

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।१०।१२

इत्यादि श्लोकों में भी प्रयुक्त धाम शब्द ज्योति का ही वाचक है । श्रीमद्भागवत महापुराण में लिखा गया है कि - **'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्'** (श्रीमद्भा. स्क. १ श्लो १)

यहाँ पर धाम शब्द प्रकाश के लिए आया है, अतः 'धाम' शब्द प्रकाश का ही वाचक है ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।७।।

अन्वय :- **मम एव जीवभूतः सनतानः अंशः जीवलोके - प्रकृतिस्थानि मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि कर्षति ।**

अर्थ :- मेरा ही जीवरूप सनातन अंश जीवलोक में प्रकृति में स्थित मनसहित (यानी मन+पाँच इन्द्रियाँ) छः इन्द्रियों को खींचता है ।

व्याख्या :- पार्थ-सारथी श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् इस श्लोक में परम ज्योति क्या है ? इसी को साफ शब्दों में बतला रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि यह परम ज्योति जीव जो इसी जीव लोक में है मेरा सनातन अंश है और दास है । वह अनादिकाल से है । जीवात्मा ईश्वर का शेष ही है पर कुछ अज्ञानी इस तथ्य को न समझकर जीव को ही परमात्मा कहते हैं । जीव परमात्मा कभी हो नहीं सकता ।

ब्रह्मसूत्र में लिखा गया है - **'अंशोनानाव्यपदेशात्'** ।

हमारे तुलसीदासजी तो इन दुराग्रहियों को समझाने के लिए और भी साफ शब्दों में कहते हैं -

ईश्वर अंश जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी । (रा. च. मा.) फिर भी अज्ञानी नहीं समझते जैसे-कोई कहे कि 'यह मेरी पुस्तक है' तो उस कहने वाले से पुस्तक अलग एवं भिन्न वस्तु है । पुस्तक कभी कहने वाला नहीं हो सकती वैसे ही जीव भी ब्रह्म कभी नहीं हो सकता । परमात्मा तो एक ही है पर जीव अनेक हैं । इस पर सन्त तुलसीदासजी कहते हैं - **'जीव अनन्त एक श्रीकन्ता'** ।

भगवान् कहते हैं कि स्वरूपतः सनातन मेरा अंश वह जीव कभी ब्रह्म नहीं हो सकता । जीव का स्वरूप अनादि कर्मरूप अज्ञानता से ढका हुआ है ऐसी यह जीवात्मा देह में ही बरतने वाली है । प्रकृति का परिणामरूप जो देव, मनुष्य, पशु आदि के देह में स्थित श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, त्वचा एक मन-इन छः इन्द्रियों को यह जीव अपने साथ-साथ

जहाँ जिस योनि में जाता है वहाँ-वहाँ खींचता चलता है और फिर कहे गये उपर्युक्त उपायों से वह जीव अज्ञानता से दूर रहकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है ।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

अन्वय :- **ईश्वरः यत् शरीरम् उत्क्रामति च यत् अवाप्नोति (तत्र) एतानि गृहीत्वा संयाति, वायुः गन्धान् इव आशयात् ।**

अर्थ :- (इन्द्रियों का) ईश्वर (यह जीव) जिस शरीर को छोड़ता है और (उससे) जिस शरीर में जाता है (वहाँ) इन्हें (यानी इन इन्द्रियों को) वैसे ही पकड़कर ले जाता है, जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को (ले जाती है)

व्याख्या :- दयानिधि भगवान् दृष्टान्त देकर अर्जुन को जीवात्मा को ही समझा रहे हैं । भगवान् कहते हैं (कि पीछे १३वें अध्याय में **'महाभूतानि'** से **'इन्द्रियगोचराः'** के द्वारा वर्णित) २४ तत्त्वों से शरीर बना है । उस शरीर का स्वामी जीव जब कभी देह छोड़ता है तो वहाँ से श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, त्वचा एवं मन इन छः इन्द्रियों को लेकर अपने साथ-ही-साथ उस नये शरीर में जाता है-जैसे वायु पुष्प से, केशर से, कपूर से जब चलती है तो अपने साथ सूक्ष्मांश गंध को लेकर चलती है पर वह दिखाई नहीं देती, उसी तरह जीवात्मा भी दिखाई नहीं देती ।

जिसका रूप न दिखाई दे और उसके स्पर्श का अनुभव होवे उसे वायु कहते हैं । संकल्पात्मक होते हुए सुख-दुःख की उपलब्धि में साधन जो इन्द्रिय है उसे मन कहते हैं । जो भोग का आयतन हो, जो चेष्टा का आश्रय हो, उसे शरीर कहते हैं । भगवान् के इतना कहने पर भी जो अज्ञानी जीव और ब्रह्म में अन्तर नहीं समझते कि जीव एक देह से दूसरे देह में जाता है पर ब्रह्म में ऐसा अवगुण नहीं । जीवात्मा अणु है क्योंकि वेदान्त-दर्शन में लिखा है-**'अणवश्च'** ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

अन्वय :- **अयम् श्रोत्रम्, चक्षुः स्पर्शनम् च रसनम् च घ्राणम् च मनः अधिष्ठाय एव विषयान् उपसेवते ।**

अर्थ :- यह (जीव) श्रोत्र, नेत्र, त्वचा एवं जीभ, और घ्राण तथा मन को अधिष्ठान बनाकर ही विषयों का सेवन करता है ।

व्याख्या :- परम कारुणिक भगवान् इस श्लोक में उन छः इन्द्रियों के नाम बता रहे हैं जिसे सदा साथ लेकर ही जीव एक देह से दूसरे देह में जाता है ।

भगवान् कहते हैं कि २४ तत्त्वों के बने देह को जब जीवात्मा छोड़ती है तो (१) श्रोत्र, (२) चक्षु, (३) त्वचा, (४) रसना, (५) घ्राण और (६) मन इन छः इन्द्रियों को अपने साथ-ही साथ उस नये देह में ले जाती है ।

इन इन्द्रियों के बारे में ज्ञातव्य है -

(१) श्रोत्रेन्द्रिय - जिससे शब्द सुना जाय और यह कान में रहती है ।

(२) चक्षुरिन्द्रिय - जिससे देखा जाय और यह नेत्रगोलक में रहती है ।

(३) त्वगिन्द्रिय - जिससे शीत-उष्ण का अनुभव किया जाय और यह त्वचा में रहती है ।

(४) रसनेन्द्रिय - जिससे स्वाद का अनुभव हो और यह जीभ के अग्रभाग में रहती है ।

(५) घ्राणेन्द्रिय - जिससे सुगन्धि-दुर्गन्धि का ज्ञान हो और यह नाक के अग्रभाग में रहती है ।

(६) मन - संकल्प विकल्पात्मक होते हुए सुख-दुःख की उपलब्धि में साधन जो इन्द्रिय है उसे मन कहते हैं। मन मस्तिष्क में रहता है ।

इन छः इन्द्रियों को जीवात्मा अपनी-अपनी वृत्ति के अनुकूल बनाकर (१) शब्द, (२) रूप, (३) रस, (४) गन्ध और (५) स्पर्श इन विषयों का उपयोग करती है । इन विषयों को मात्रा भी कहते हैं । भगवान् ने पीछे कहा है -**'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय'**..........................।२।१४। यहाँ मात्रा का अर्थ विषय ही है और १३वें अध्याय में **'पंच चेन्द्रियगोचराः'** ।१३।५। करके इन्हें बतलाये हैं ।

अभिप्राय यह है कि शरीर में रहकर यह जीवात्मा (मानो अणु रूप में), कर्णेन्द्रिय से शब्द, नेत्रेन्द्रिय से रूप, त्वगिन्द्रिय से स्पर्श, रसना से रस एवं घ्राणेन्द्रिय से सुगन्धि दुर्गन्धि का अनुभव करती है । इन छः इन्द्रियों के द्वारा पाँचों विषयों को भोगती है और सत्-असत् कर्मों द्वारा भली-बुरी योनियों में जाती है । अनादिकाल से जीव ने इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगा । अब से भी दुर्लभ नर-नारी का देह पाकर हमें सावधान हो जाना चाहिये । आचार्यों ने उपदेश भी दिया है कि- **'विषयान् विषवत्त्यजेत्'** अर्थात् विषयों को विष की भाँति समझकर उनका त्याग कर देना चाहिये, अन्यथा यदि तुम विषय में ही आनन्द समझते हो तो तुम उस अज्ञानी मनुष्य की भाँति हो, जो मरुभूमि में नाचते हुए साँप की छाया में विश्राम हेतु जाता है और सर्प द्वारा मारा जाता है । विषय में पहले आनन्द की छाया मात्र ही है और पीछे दुःख ही दुःख है । परमात्मा के साथ रहने पर भी जीवात्मा भोक्ता होने के कारण इन भोगों को भोगती है - जैसे दो साथी हैं, उनमें से एक विष खा ले तो विष खाने वाले को ही असर करेगा साथ में रहकर देखने वाला इस विष का नहीं अनुभव करेगा ।।९।।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१०।।

अन्वय :- **गुणान्वितम् उत्क्रामन्तम् वा अवस्थितम् वा भुञ्जानम् अपि विमूढाः न अनुपश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति ।**

अर्थ :- (इस प्रकार) गुणों से युक्त (जीवात्मा) को (शरीर से) निकलते हुए अथवा (शरीर में) स्थित अथवा (विषयों को) भोगते हुए (किसी अवस्था में) भी, मूढ़ पुरुष नहीं देखते हैं, ज्ञाननेत्र वाले देखते हैं ।

व्याख्या :- श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् इस श्लोक में अर्जुन को यह बतला रहे हैं कि जीव को कौन देखता है ? और कौन

नहीं देखता ? भगवान् कहते हैं कि सत्त्वादिगुणयुक्त प्रकृति परिणाम रूप मनुष्य, पशु आदि आकृति वाले शरीर में रहने वाली जो जीवात्मा है, वह जिस समय देह से निकलती है, उस समय हजारों की संख्या में घेरे रहने पर भी अज्ञानी पुरुष उस अणु को नहीं देख पाते। जब देह में यह जीवात्मा है तौभी विमूढ़ नाम अज्ञानी पुरुष उसको नहीं देखते तथा जीवात्मा के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन विषयों का भोग करते समय भी विमूढ़ पुरुष विशेष रूप से उसे नहीं देखते।

अनात्मा में आत्मा बुद्धि जो करते हैं उसे विमूढ़ कहते हैं। ऐसे विमूढ़ पुरुष देह से अलग पुष्कर पलाशवत् निर्लेप आत्मा है, उसे इस तरह नहीं समझते। इसीलिए शरीर के ही पालन-पोषण में ऐसे लोग सदा फँसे रहते हैं।

शरीर एवं जीवात्मा को पृथक्-पृथक् समझने वालों को ही **'ज्ञानचक्षुषः'** कहा जाता है। ऐसे विवेकी पुरुष देह और आत्मा को सभी अवस्थाओं में निर्लेप समझते हैं। भगवान् ने जीव का स्वरूप पीछे बताया है - **'अजोनित्यो शाश्वतोऽयं पुराणो-'** (गी. ।२।२०।) यह आत्मा, नित्य, सनातन पुराण है। ऐसा विवेकी पुरुष ही देखते हैं। शरीर तो दाह्य, छेद्य, शोष्य है पर जीवात्मा अदाह्य अच्छेद्य, एवं अशोष्य है।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

अन्वय :- **यतन्तः योगिनः एनम् आत्मनि अवस्थितम् पश्यन्ति च अकृतात्मानः अचेतसः यतन्तः अपि एनम् न पश्यन्ति।**

अर्थ :- यत्न करने वाले योगी लोग इसे आत्मा में स्थित देखते हैं और अशुद्ध मनवाले (यानी असंस्कृत अन्तःकरण वाले) अविवेकी पुरुष यत्न करते हुए भी इसे नहीं देख पाते।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में भी आत्मा के देखने वाले को ही बता रहे हैं। भगवान् कहते हैं कि शरणागति योग में निष्ठ जो प्रपन्न जन हैं तथा जिनका अन्तःकरण साधनों से निर्मल हो गया है, इस तरह से जानने वाले योगी जन शास्त्रानुसार क्रियाओं में यत्न करते हुए देह में स्थित नित्य विमल जो जीवात्मा है उसे शरीर से निर्लिप्त अपने स्वरूप में स्थित देखते हैं।

भगवान् कहते हैं कि अविवेकी पुरुष जो मेरी शरणागति नहीं करते, जिनका मन शुद्ध नहीं है, जो आत्मदर्शन में समर्थ चित्त से रहित हैं, वे पूजा पाठादि बड़ी-बड़ी क्रियाओं द्वारा यत्न करते हुए भी इस जीवात्मा को देख नहीं पाते, जैसे-महाविद्वान्, पूजा पाठ करनेवाला रावण।

यहाँ पर 'आत्मनि' पद भगवान् ने देह के लिए ही कहा है। हमारा कोष भी कहता है - **'आत्मा, जीवे धृतौ देहे स्वभावब्रह्मणोरपि'**। इसके अनुसार भी 'आत्मा' शब्द शरीरवाचक हुआ, यहाँ भी 'आत्मा' का अर्थ शरीर से ही किया जाना चाहिए।

अतः भगवान् कहते हैं कि नर-नारी का उत्तम देह पाकर मेरी शरणागति करो तभी तुम्हारा कल्याण होगा। तीर्थ, व्रतादि करते हुए शरणागति के द्वारा ही आत्मदर्शी बन सकते हो ॥११॥
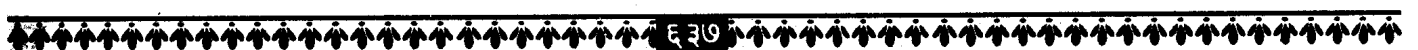
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

अन्वय :- **यत् आदित्यगतम् तेजः अखिलम् जगत् भासयते च यत् चन्द्रमसि च यत् अग्नौ, तत् तेजः मामकम् विद्धि ।**

अर्थ :- जो सूर्य में रहने वाला तेज समस्त जगत् को प्रकाशित करता है और जो (तेज) चन्द्रमा में है और जो (तेज) अग्नि में है, उस तेज को तू मेरा ही जान ।

व्याख्या :- भगवान् यहाँ अर्जुन को यह समझा रहे हैं कि संसार को प्रकाशित करने वाला जो तेज सूर्य के अन्दर है वह तेज मेरा ही है । संसार भास्य पदार्थ है एवं उसका भासक मैं ही हूँ । जो उष्ण स्पर्श वाला हो उसे तेज कहते हैं। फिर चन्द्रमा के अन्दर जो स्थावर जङ्गमात्मक संसार को प्रकाशित करने वाला प्रकाश है तथा अग्नि के अन्दर जो तेज है, वह प्रकाश तथा तेज मेरा ही समझना ।

यजुर्वेद की मध्यान्दिनी शाखा के ३१ वें अध्याय में लिखा है -

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत,
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत । (पु. सू. श्लो. १२)

श्रीनारायण प्रभु के मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य श्रोत्र से वायु तथा प्राण एवं मुख से अग्नि की उत्पत्ति हुई ।

भगवान् कहते हैं कि मेरा तेज है, अर्थात् मेरा दिया हुआ ही तेज इनमें समझो । जब सूर्य चन्द्रमा, अग्नि ने मेरी उपासना की तब मैंने उन लोगों को प्रकाश एवं तेज दिया है । इनमें किसी का भी अपना अस्तित्व नहीं ।

अत: सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि की आराधना करते हुए इन लोगों ने भी जिसकी उपासना की है, उस परब्रह्मनारायण प्रभु की आराधना जब करोगे तब तुमको अनन्त फल प्राप्त होगा ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

अन्वय :- **अहम् गाम् आविश्य भूतानि ओजसा धारयामि च रसात्मकः सोमः भूत्वा सर्वाः औषधीः पुष्णामि ।**

अर्थ :- मैं पृथ्वी (लोक) में प्रवेश करके ओज (अपनी शक्ति) से समस्त जीवों को धारण करता हूँ और रसमय चन्द्रमा होकर सब औषधियों को पुष्ट करता हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् अपनी व्यापकता बतलाते हुए अर्जुन को समझा रहे हैं कि मुझे केवल कोचवान ही मत समझना । तिल में व्यापक तेल जैसे यंत्र द्वारा साकार रूप में बोतल या टीना में हो जाता है उसी तरह मैं सर्वव्यापी हूँ तथा प्रेमरूपी यंत्र द्वारा साकार रूप बना लेता हूँ । मेरे बनाने में कभी भ्रम न करना । भगवान् कहते हैं कि पृथ्वी में प्रवेश करके मैं

अप्रतिहत अर्थात् नहीं रूक सकने वाले सामर्थ्य से अण्डज, पिण्डज, ऊष्मज तथा स्थावर इन समस्त प्राणियों को धारण करता हूँ । मैं ही अमृत रसमय सोम होकर समस्त ओषधियों को भी परिपुष्ट करता हूँ । कोष में कहा गया है कि **'ओषध्य: फलपाकान्ता:'** ।

जिसके फल पकने पर पौधा सूख जाता है उसे ओषधि कहते हैं । जैसे-धान, गेहूँ, वगैरह । अर्थात् क्षुधा रूपी रोग की औषधि (दवा) अन्न ही है जिसकी पुष्टि भगवान् करते हैं । तैत्तिरीयोपनिषद् में बताया गया है कि जो खाया जाय उसे अन्न कहते हैं । **'अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते इति ।'** (तैत्त. उप. व २ अनु. १ श्रु. २)

औषधि शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र आया है । अपने को बोध कराते हुए जो अपने से अतिरिक्त का बोध कराते उसे उपलक्षण कहते हैं । इससे 'ओषधि' से समस्त पदार्थों का बोध होता है जिनसे प्राणियों का पोषण होता है ।

इस तरह भगवान् कहते हैं कि समस्त प्राणियों को धारण करने वाला तथा पोषण करने वाला भी मैं ही हूँ जो तुम्हारे सामने सारथी रूप में खड़ा हूँ ।।१३।।

अहं वैश्वानरोभूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित: ।
प्राणापानसमायुक्त: पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।१४।।

अन्वय :- **अहम् प्राणिनाम् देहमाश्रित: वैश्वानर: भूत्वा प्राणापानसमायुक्त: चतुर्विधम् अन्नम् पचामि ।**

अर्थ :- मैं प्राणी के (जीवों के) देह में रहने वाला वैश्वानर (यानी जठरानल) होकर, प्राण-अपान से युक्त होकर चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ ।

व्याख्या :- सभी प्राणियों के देह में वैश्वानर होकर मैं ही स्थित रहता हूँ । गीता में कहा गया है कि - **'अन्तवन्त इमे देहा:'** ।२।१८। भगवान् कहते हैं कि मैं ही सब प्राणियों के २४ तत्त्व वाले विनाशशील देह में जठरानल अग्नि रूप में स्थित हूँ । अग्नि चार तरह की होती है :-

(१) भौम - हवन, रसोई आदि में जो उत्पन्न अग्नि है ।

(२) दिव्य - जल ही जिसका ईंधन है, जैसे सूर्य में ।

(३) औदर्य - उदर की अग्नि जिसे जठरानल अग्नि कहते हैं, जो हमारे भोजन को पचाती है ।

(४) आकरज अग्नि - जैसे खनिज वगैरह में जो अग्नि लगती है वह आकरज अग्नि है

यहाँ भगवान् बता रहे हैं कि जठराग्नि होकर (१) प्राण, (२) अपान (३) समान, (४) उदान एवं (५) व्यान । इन पाँच वायु की वृत्तियों को लेकर प्राणियों द्वारा खाये गये (१) खाद्य (२) चोष्य (३) लेह्य और (४) पेय इन चार प्रकार के भोज्य पदार्थों को पकाता हूँ । अर्थात् मैं पचा देता हूँ ।

भगवान् मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का व्यवहार करने वाले नर-नारियों को यह बतालते हैं कि अपवित्र हालत में जैसे तुम भगवान् के मन्दिर में भी नहीं आते हो तथा अशुचि पदार्थ भी भगवान् को नहीं चढ़ाते वैसे ही तुम्हारे देह मन्दिर में भी वैश्वानर रूप में सर्वदा विद्यमान रहता हूँ, अत: यह सोचकर तुम्हें शास्त्रादि से वर्जित अभक्ष्य पदार्थों का

कभी सेवन नहीं करना चाहिए । हमारे देहातों में भी यह कहावत प्रचलित है कि 'जइसन खाईं अन्न, ओइसन होई मन'। **'छान्दोग्योपनिषद्'** में भी कहा गया है कि -

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥ (छा. उ. अ. ७ खं. २६ श्रु. २)

अर्थात् आहार शुद्ध करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और अचला स्मृति होती है । अचला स्मरण-शक्ति हो जाने से जड़-चेतन की बंधी हुई गाठें स्वयं खुल जाती हैं ।

इसीलिए भाषा के कवि कहते हैं **'सेवकु सो जो करै सेवकाई'** (रा. मा. १।२७०।३)

इस प्रकार भगवान् कहते हैं कि हमारी आज्ञा का पालन अवश्य करना तभी तुम परमानन्द को पावोगे ।।१४।।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

अन्वय :- **सर्वस्य हृदि अहम् सन्निविष्टः, च मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् च अपोहनम्, च अहम् एव सर्वैः वेदैः वेद्यः अहम् एव वेदान्तकृत् च वेदवित् ।**

अर्थ :- सबके हृदय में मैं प्रविष्ट हूँ और मुझसे (ही) स्मृति, ज्ञान और अपोहन होते हैं तथा मैं ही सब वेदों से जानने योग्य हूँ और मैं ही वेदान्त का (वेदोक्त फल का) कर्ता और वेदों को जानने वाला हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् ने इसी अध्याय के १३वें श्लोक में कहा है कि मैं ही सोम होकर औषधि को पुष्ट करता हूँ और वैश्वानर होकर अन्न को पचाता हूँ । इस प्रकार भगवान् सोम और अग्नि को अपनी विभूति बतलाते हैं ।

यहाँ १३वें एवं १४वें श्लोकों में समानाधिकरण्य से कह रहे हैं कि सब मैं ही हूँ । भगवान् ऐसा क्यों कह रहे हैं ? क्योंकि जैसे देहात्मा की एकता लेकर हम आप 'मैं देवदत्त हूँ' मैं मनुष्य हूँ, मैं काला हूँ' आदि का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार भगवान् के चन्द्रमा, देवगण आदि शरीर हैं और वे शरीरी हैं । अतः शरीरात्मा भाव से ही ऐसा प्रयोग कर अर्जुन को बतला रहे हैं ।

हृदय कमल-कोष के सदृश नीचे की ओर मुख वाला है । जो नाभि से १० अंगुली ऊपर है तथा **'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म'** । (छा. उ. ।८।१।१)

अर्थात् इस ब्रह्मपुर नाम शरीर में हृदय कमल है, ब्रह्म का घर है, इत्यादि श्रुतियाँ भी कहती हैं ।

भगवान् कहते हैं कि चन्द्रमा आदि तथा अण्डज, पिण्डज, उष्मज, स्थावर समस्त प्राणियों के हृदय में मैं प्रविष्ट हूँ । अर्थात् सम्पूर्ण प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के कारण रूप ज्ञान की उत्पत्ति के स्थान में यानी हृदय में अपने संकल्प के द्वारा सबका शासन करता हुआ आत्मरूप से स्थित हूँ ।

श्रुतियाँ भी कहती हैं -

'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' । (तै. आ. ३।११)

अर्थात् प्राणियों का शासक सबकी आत्मा अन्तर में प्रविष्ट है ।

'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' । (बृह. उ. ३।७।३)

तथा **'यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्..'** (शतपथ १४।५।३०)

भगवान् कहते हैं कि सबकी स्मृति मुझसे ही होती है । पूर्व में अनुभव के संस्कारमात्र से प्रकट होने वाली ज्ञान-वृत्ति का नाम स्मृति है, तथा ज्ञान भी मुझसे ही होता है । जो जैसी वस्तु है उसे वैसा समझना ही ज्ञान है । समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ, क्योंकि अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्रादि का अन्तर्यामी मैं ही हूँ, इसीलिए मैं उनकी आत्मा हूँ ।

वेद शब्द का अर्थ निम्न प्रकार का है -

(१) **'विद् ज्ञाने'** - धातु से वेद बनता है । उसका यह अर्थ है कि समस्त ज्ञान का भण्डार वेद है ।

(२) **'विद् विचारणे'** - धातु से यदि वेद शब्द निष्पन्न किया जाता है तो यह अर्थ हुआ कि ऐहिक वस्तु को विचार करते हुए पारमार्थिक वस्तु का जिससे विचार किया जाय उसे वेद कहते हैं ।

(३) **'विद् सत्तायाम्'** - धातु से यदि वेद शब्द सिद्ध होता है तो अर्थ यह है कि समस्त ब्रह्माण्ड की सत्ता जिससे जानी जाय उसे वेद कहते हैं ।

(४) **'विद् लृ लाभे'** - धातु से यदि वेद शब्द निष्पन्न किया जाता तो यह अर्थ होता है कि ऐहिक लाभ होते हुए ब्रह्मान्द सुख जिससे प्राप्त होवे उसे वेद कहते हैं ।

उस मन्त्र ब्राह्मणात्मक ११३१ शाखायुक्त वेदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ । अतः तुम मेरी प्रपत्ति करो तथा मैं ही वेदान्त यानी वेदोक्त फल का कर्ता अर्थात् प्रदाता हूँ । **इन्द्रं यजेत् ! वरुणं यजेत् !** इत्यादि वेद-वाक्यों का जो अन्त यानी फल है उसी का नाम वेदान्त है, क्योंकि उन सब वेद वाक्यों का अपने फल में ही पर्यवसान होता है ।

इसलिए भगवान् वेदोक्त फल के प्रदाता हैं -
इसके पहले **'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।'** ।७।२१।
से लेकर **'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।'** ।७।२२।

तक और **'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।'** ।६।२४।

में कहा गया है । अथवा वेदान्त दर्शन को व्यास रूप से बनाने वाला मैं ही हूँ और वेद को जानने वाला भी मैं ही हूँ । वेद मेरा विधान करने वाले हैं । इस बात को मैं स्वयं जानता हूँ । इससे विपरीत वेद का अर्थ जो करते हैं वे वेदवेत्ता नहीं ।।१५।।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

अन्वय :- **लोके क्षरः च अक्षरः इमौ द्वौ एव पुरुषौ । क्षरः सर्वाणि भूतानि अक्षरः कूटस्थः उच्यते ।**

अर्थ :- लोक में क्षर और अक्षर ये दो प्रकार के ही पुरुष हैं । क्षर तो समस्त भूतप्राणी हैं, और अक्षर कूटस्थ (आत्मज्ञानी) कहलाता है ।

व्याख्या :- अकारण करुणा-वरुणालय श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् अर्जुन को समस्त वेदों का सार ही बतला रहे हैं, क्योंकि इन्द्र ऐसे पढ़नेवाले तथा बृहस्पति जैसे पढ़ाने वाले १००० वर्ष में भी जिस वेद का अन्त नहीं कर सके तो हम कलि के दीन-हीन प्राणियों के लिए उसका अन्त करना तो और भी कठिन है, इसीसे भगवान् अर्जुन के व्याज से हमें सार ही बता रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि ऐ भक्तराज अर्जुन ! लोक में दो प्रकार के पुरुष विख्यात हैं । मनु ने बतलाया है कि - **'त्रयो लोकाः'** । स्वर्ग लोक, मृत्यु लोक एवं पाताल लोक ये तीन लोक हैं । प्रधान रूप से लीला विभूति एवं त्रिपाद् विभूति ये दो विभूतियाँ हैं । त्रिपाद् विभूति तथा लीला विभूति के अन्दर दो प्रकार की जीवात्मा ही विख्यात हैं ।

प्रपन्न-पारिजात भगवान् कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त ये जड़ प्रकृति (देह) के सम्बन्ध वाले क्षर जीवात्मा कहे जाते हैं, क्योंकि नाशवान् प्रकृति से इनका सम्बन्ध है । यहाँ जड़ के संसर्ग रूप एक उपाधि से सबका सम्बन्ध है, अतः क्षर शब्द से निर्दिष्ट ('पुरुषः') पद एकवचनान्त है, तथा जड़ प्रकृति के सम्बन्ध से रहित स्वरूप में स्थित जो मुक्तात्मा है उसे अक्षर जीवात्मा कहते हैं । यहाँ पर भी जड़ के संसर्ग के अभाव हो जाना रूप एक उपाधि को लेकर ही कूटस्थ का प्रयोग एकवचन में किया गया है । अन्यथा यदि कूटस्थ को एक ही मानते हों तो भगवान् ने पीछे कहा है -

'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' ।४।१०।

एवम्

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥१४।२

भगवान् इन श्लोकों में भी बहुवचन शब्द का ही प्रयोग कर रहे हैं, क्योंकि पहले अनादि काल से केवल एक ही आत्मा मुक्त हुई हो ऐसी बात नहीं । बहुत आत्मा मुक्त हुई हैं और बहुत बन्धन से युक्त भी हैं, अतः एक संख्या लेकर जो अर्थ करते हैं वे भ्रम में हैं ।

जो टीकाकार लिखते हैं कि पृथ्वी आदि पाँच महाभूत क्षर पुरुष हैं वे भगवान् के सिद्धान्त के एकदम विरुद्ध बोलते हैं ।

हमारा कोश बतलाता है कि **क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः** (अमरकोश)

इसको भगवान् ने गीता में भी बताया है कि - **'प्रकृतिं पुरुषं चैव'** १३।१९

अत: प्रकृति को पुरुष कहना भी गलत है ।

और भी कहा है कि - **'पुरुषः सुखदु:खानाम्'** १३।२०

भगवान् इस प्रकरण में पुरुष को जीवात्मा बतलाते हैं तथा और भी कहते हैं - **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्** ।१३।२१

और आगे कहते हैं - **श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो ....।१७।३**

इन सभी स्थलों पर भगवान् ने पुरुष जीवात्मा को ही बतलाया है, इसलिए अपने मन का अर्थ करना मजहबी अर्थ ही है सैद्धान्तिक अर्थ नहीं । जीवात्मा अणु, अविनाशी है । प्रकृति जड़ तथा विनाशी है ।

अत: ऐसे टीकाकार अपनी फूँक से हिमालय को ही उड़ाना चाहते हैं ।।१६।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१७।।

अन्वय :- **तु उत्तमः पुरुषः अन्यः, (यः) परमात्मा इति उदाहृतः, यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति ।**

अर्थ :- परन्तु उत्तम पुरुष दूसरा है, जो परमात्मा (ऐसा या इस नाम से) कहलाता है, जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है ।

व्याख्या :- कृष्ण भगवान् कहते हैं कि क्षर पुरुष यानी लीला विभूति में रहनेवाले बद्ध जीव तथा अक्षर पुरुष यानी मुक्तात्मा जो त्रिपाद् विभूति को प्राप्त कर चुके हैं इन दो पुरुषों से भिन्न जो उत्तम पुरुष मैं हूँ, उस मुझे ही परमात्मा कहा गया है । समस्त वेद शास्त्रों में परमात्मा नाम से कहे जाने के कारण ही उत्तम पुरुष (परमात्मा) बद्धात्मा एवं मुक्तात्मा से अलग वस्तु है, यह बात जानी जाती है । भगवान् अब कारण बताते हैं कि कैसे ? 'इति' शब्द यहाँ हेतुवाचक है ।

'लोक्यते अनेन इति लोक:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण के द्वारा दिखाई पड़ने वाली प्रकृति, जड़ बद्ध जीवात्मा और प्रकृति रहित मुक्तात्मा इन तीनों का नाम लोकत्रय है । जो इन तीनों में स्थित होकर व्याप्त है तथा धारण करता है वह इन तीनों से भिन्न पदार्थ है - जैसे माखन दूध में व्यापक है पर दूध एवं माखन दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, वैसे ही परमात्मा भी उक्त तीनों में व्यापक है पर (१) प्रकृति (२) बद्धात्मा एवं (३) मुक्तात्मा से अलग है ।

भगवान् आगे भी कहते हैं - **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** ।गी. १८।६१।।

जैसे जिस कुटी में साधु रहते हैं, वह कुटी और साधु दोनों एक नहीं हैं । जो ब्रह्म तथा जीव को एक मानते हैं वे महा दल-दल में हैं । श्रुति भी कहती है -

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' (तै. आ. ३।११) द्वितीय हेतु, भगवान् कहते हैं कि परम पुरुष अविनाशी एवं ईश्वर है, अतएव उक्त तीनों से अलग वस्तु है, क्योंकि वह अव्यय है, जिसका न विकार हुआ और न तो विकार होगा ही । प्रकृति क्षय होने वाली है, उसके स्वभाव का अनुसरण करने वाली बद्धात्मा भी क्षय होने योग्य

है, तथा मुक्तात्मा का भी पहले अचेतन से सम्बन्ध था ऐसी मुक्तात्मा से भी नित्य, अविनाशी स्वभाववाला परमात्मा सर्वथा भिन्न पदार्थ है ।

तृतीय कारण भगवान् कहते हैं कि प्रकृति, बद्धात्मा एवं मुक्तात्मा तीनों का मैं ही ईश्वर हूँ ।

श्रुति कहती है कि - **'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'** (श्वे. ।६।१६) भगवान् कहते हैं कि जड़, बद्ध आत्मा, मुक्तात्मा इन तीनों लोकों का मैं ही अधिपति नाम स्वामी हूँ, क्योंकि मेरे ही शासन में ये तीनों रहते हैं और मैं इन तीनों से भिन्न हूँ; क्योंकि खेत तथा खेत का मालिक दोनों एक नहीं । मैं शासक हूँ और उपर्युक्त तीनों शास्य हैं । शासक शास्य एक कभी हो ही नहीं सकते । अतः जीव को ब्रह्म समझने वाले अज्ञानता के दल-दल में फँसे हुए हैं ।।१७।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१८।।

अन्वय :- **यस्मात् अहम् क्षरम् अतीतः च अक्षरात् अपि उत्तमः, अतः लोके च वेदे पुरुषोत्तमः प्रथितः अस्मि ।**

अर्थ :- जिसलिये कि मैं क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम हूँ, अतः लोके और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन को यही बतला रहे हैं कि मैं पुरुषोत्तम नाम से कैसे प्रसिद्ध हूँ ? विष्णु-पुराण में बतलाया गया है कि - **'अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य'** (५।१७।३७) भगवान् कहते हैं कि जिस कारण से मैं नियामक, शासक एवं स्वामी हूँ उसे सुनो । श्रुति कहती है -

'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो........यो आत्मानमन्तरो यमयति.........।। (शतपथ १४।५।३०)

मनुस्मृति में कहा गया है कि -

'प्रशासितारं सर्वेषामणियांसमणियसाम् ।' (मनु. १२।१२)

किञ्च - **'यमो वैवश्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः'** (मनु. ८।९२)

जिस कारण से मैं क्षर पुरुष यानी बद्ध जीवात्मा का नियामक, शासक एवं स्वामी होने पर भी उससे अलग हूँ उसी कारण से अक्षर पुरुष यानी मुक्तात्मा का भी नियामक, शासक एवं स्वामी हूँ और अलग हूँ । श्रुति कहती है -

यः क्षरे संचरन् अक्षरमन्तरो नियमयति' (सुबालो. ७) अर्थात् जिस कारण से भीतर प्रवेश करने से, व्यापक होने से, भरण पोषण करने से एवं स्वामी होने से मैं बद्ध जीवात्मा से अन्य हूँ, उसी कारण से, व्यापक होने से, भरण-पोषण करने से तथा स्वामी होने से मुक्तात्मा से भी उत्तम हूँ ।

इस तरह ये दोनों मेरे नियाम्य, शास्य एवं सेवक होने से मुझसे भिन्न हैं । इसीसे लोक यानी स्मृति एवं वेद नाम श्रुति में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ क्योंकि लिखा गया है - **'स उत्तमः पुरुषः ।'** छा. ।८।१२।३।

यहाँ पर लोक का अर्थ स्मृति क्यों किया गया इस पर कुछ लोग शंका कर सकते हैं ?

मंजूषा में लिखा गया है कि साहचर्य अर्थ ही निर्णायक होता है । यहाँ पर वेद के साथ में ही लोक शब्द आया है - जैसे रामलक्ष्मण कहने से दाशरथी राम का ही बोध होता है । यहाँ पर लक्ष्मण के साहचर्य से दाशरथी राम का जैसे बोध होता है वैसे ही वेद के साहचर्य से लोक का भी अर्थ स्मृति ही होगा ।

'लोकृदर्शने' धातु से लोक बना है । **'वेदार्थः लोक्यते अनेन इति लोकः'** यानी वेद के अर्थ को जो अवलोकन करावे उसे लोक कहते हैं । कालिदास भी कहते हैं - **'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'** (रघु. २।२)

श्रुति के अर्थ को स्मृति देखती है और धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं, अतः लोक का अर्थ स्मृति ही होगा ॥१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

अन्वय :- **भारत ! यः असंमूढः एवं माम् पुरुषोत्तमम् जानाति, सः सर्ववित् माम् सर्वभावेन भजति ।**

अर्थ :- हे भरतवंशी अर्जुन ! जो असंमूढ़ (मोहमुक्त) पुरुष इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जानता है और मुझको सर्वभाव से भजता है ।

व्याख्या :- कृष्ण भगवान् कहते हैं कि अर्जुन ! मैंने अभी पीछे इसी अध्याय के १७वें एवं १८वें श्लोकों में समझाया है कि मैं अविनाशी, सर्वव्यापी हूँ, सबको धारण एवं भरण-पोषण करने वाला हूँ सर्व-ऐश्वर्य सम्पन्न सबका स्वामी हूँ । बद्ध जीव तथा मुक्त जीव मेरा नियाम्य, शेष तथा सेवक हैं । अतएव मैं उनका नियामक, शासक तथा स्वामी होने से उनसे अलग हूँ । इस प्रकार मूढ़तारहित पुरुष श्रुति एवं स्मृति द्वारा जो मुझे पुरुषोत्तम सहमझते हैं वे मेरी प्राप्ति के सभी साधनों को जानते हैं तथा सभी भावों से मेरा स्मरण करते हैं तथा मुझे पाने के भजनों के जो-जो प्रकार हैं उन सभी को वे जानते हैं । अभिप्राय यह है कि जो मेरे विषय के सभी ज्ञानों एवं सभी भजनों से मुझे प्रसन्न करता है, इस प्रकार मुझ श्यामसुन्दर को वे ही प्रपन्न जन, मन, वचन, कर्म से भजते हैं और मेरे परमप्रिय हैं ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

अन्वय :- **अनघ ! इति इदम् गुह्यतमम् शास्त्रम् मया उक्तम् । भारत ! एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् च कृतकृत्यः स्यात् ।**

अर्थ :- निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह गुह्यतम (यानी रहस्यतम) शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया । हे भारत ! इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ।

व्याख्या :- कृष्ण भगवान् अर्जुन को इस श्लोक के प्रथम पद में अनघ शब्द से सम्बोधित कर रहे हैं । अघ चार रूपों में विभक्त है (१) अकृत्यकरण, (२) भगवदपचार, (३) भागवतापचार और (४) असह्यापचार जिसकी व्याख्या पीछे

हो चुकी है । भगवान् अर्जुन को इन चारों अपराधों से रहित कहते हैं । यही नहीं जैसे दो बार बाँधने से गाँठ मजबूत हो जाती है और खुलने का भय नहीं रहता वैसे भगवान् भी दो बार सम्बोधित करके अर्जुन को सचेत करा रहे हैं । भारत कहकर अर्जुन को विज्ञानरूपी प्रकाश में सदा रत रहने वाला बतला रहे हैं । इस तरह अर्जुन को प्रपत्तिमार्ग का उत्तमाधिकारी बताकर कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुम चारो अपराधों से रहित सदा विज्ञानरूपी प्रकाश में रत रहनेवाले हो । तुझे उत्तमाधिकारी समझकर ही मैंने वेद का सारगर्भित उपदेश दिया है । इस प्रकार मुझे पुरुषोत्तम बतलाने वाला यह शास्त्र समस्त गुप्त रखने योग्य पदार्थों में भी गुप्ततम है । वस्तुत: (१) आयु, (२) धन, (३) घर का दोष, (४) मन्त्र, (५) मैथुन -नारी सम्पर्क, (६) जड़ी-औषधि, (७) तपस्या, (८) दान और (९) अपमान, ये नव चीजें छिपाने लायक हैं । भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! निष्पाप होने के कारण तू श्रेष्ठ अधिकारी हो, इसीसे तुझे मैंने इस गुह्यतम पदार्थ को बताया है । इसको समझकर लोग बुद्धिमान् और कृत-कृत्य हो जाते हैं । यानी मुझे प्राप्त करने वाले को सब उपाय जिसे मैंने कहा है प्राप्त हो जाते हैं और इस शास्त्र को समझकर कर्तव्य की स्वयमेव पूर्ति हो जाती है । इस तरह भगवान् कहते हैं कि यह पुरुषोत्तम-विषयक शास्त्र-जनित ज्ञान ही उपर्युक्त समस्त फल देने वाला है ।

शास्त्र शब्द के संबंध में उल्लेखनीय है कि शासन करने के कारण ही शास्त्र कहा जाता है, क्योंकि **'शासनात् शास्त्रम्'** इसके अनुसार शासन करने वाले को ही शास्त्र कहते है । यहाँ पर 'इति' शब्द इस अध्याय की समाप्ति का द्योतन करने के लिए ही भगवान् ने कहा है ।

परमदयालु भगवान् ने इस अध्याय की समाप्ति २० श्लोकों में करके वेद शास्त्र का समस्त सार बतलाया और प्रपत्तिमार्ग का उपदेश दिया । प्रपत्तिमार्गावलम्बी दीक्षा देते समय शिष्य के लिये रहस्यत्रय का उपदेश देते हैं । इनमें प्रथम मन्त्र में ३ पद, द्वितीय रहस्य द्वय मन्त्र में ६ पद तथा तृतीय रहस्य चरमश्लोक में ग्यारह पद हैं । इस प्रकार सब २० पद हैं और इन्हीं में समस्त श्रुति, स्मृति, इतिहास पुराण का सार निहित है । इसी को संकेत करने के लिए भगवान् ने इस अध्याय में २० पद कहे हैं ।

॥ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥
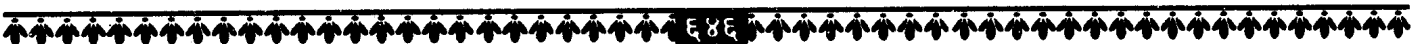
।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ षोडशोऽध्यायः

।। श्रीभगवानुवाच ।।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।१।।

(विशेषक श्लोक है, तृतीय श्लोक में 'भवन्ति' क्रिया पद लेकर अर्थ करना उपयुक्त है)

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-अभयम्, सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः च दानम् दमः यज्ञः स्वाध्यायः तपः च आर्जवम् ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले- (अर्जुन !) अभय सत्त्वसंशुद्धि (यानी अन्तःकरण की शुद्धि) ज्ञानयोगव्यवस्थिति, तथा दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और आर्जव (ये गुण दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुए पुरुषों में होते हैं)

व्याख्या :- भगवान् ने जो १५वें अध्याय में वर्णन किया उसी को दृढ़ करने के लिए शास्त्राधीनता की आवश्यकता है, यही बतलाने के लिए शास्त्र के अनुसार आचरण करने वालों की और विपरीत आचरण करने वालों की विवेचना वे यहाँ आरम्भ कर रहे हैं ।

यह अध्याय **भगवान्** विलक्षणता से प्रारम्भ कर रहे हैं । पहले विशेषक से ही प्रथम श्लोक उन्होंने शुरु किया है । **'त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्'** अर्थात् तीन श्लोकों का एक साथ जिसमें अन्वय हो उसे विशेषक कहते हैं । शास्त्र का नियम है कि - **'कुर्यादन्ते क्रियापदम्'** परन्तु इस श्लोक में क्रिया पद नहीं है । तृतीय श्लोक में 'भवन्ति' क्रिया पद आया है। अतएव इस अध्याय के तृतीय श्लोक के उत्तरार्द्ध को लेकर ही यहाँ अर्थ समझना चाहिये ।

भगवान् कहते हैं-अर्जुन ! मैं तुझे शास्त्रानुसार आचरण करने वाले पुरुषों में कौन-कौन गुण होते हैं उसी को बतला रहा हूँ, ध्यान से सुनो । दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले में नव गुण होते हैं जो निम्न हैं -

(१) **अभय** - इष्टवियोग एवं अनिष्ट संयोग रूप दुःख के कारण को देखकर होने वाले दुःख का नाम भय है । उसकी निवृत्ति को ही अभय कहते हैं ।

(२) **सत्त्वसंशुद्धिः** - अन्तःकरण का रजोगुण और तमोगुण से स्पर्श रहित हो जाना ही सत्त्वसंशुद्धि है ।

(३) **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः** - प्रकृति-संसर्ग से रहित आत्म-स्वरूप के विवेचन में निष्ठा का नाम ज्ञानयोग-व्यवस्थिति है ।

(४) **दान** - न्यायोपार्जित धन को देश, काल, पात्र देखकर देना ही दान है । दान तीन तरह का होता है, जिसे भगवान् ने १७वें अध्याय में बताया है ।

(५) **दम** - अन्तःकरण की मनोवृत्ति को विषयों की ओर जाने से रोक लेने का नाम 'दम' है ।

(६) **यज्ञ** - फलाभिसन्धि-रहित भगवदाराधना के रूप में किये जाने वाले महायज्ञादि अनुष्ठान का नाम यज्ञ है । यज्ञ के भी तीन रूप भगवान् ने १७वें अध्याय में बताये हैं ।

(७) **स्वाध्याय** - समस्त वेद विभूतियों के सहित भगवान् एवं उनकी आराधना के भेदों का प्रतिपादन करने वाले हैं, यह समझकर वेदाभ्यास में निष्ठा करने को ही स्वाध्याय कहते हैं, क्योंकि लिखा है - **'स्वाध्यायोध्येतव्यः'**।

(८) **तप** - भगवान् को प्रपन्न करने वाले कर्म करने की योग्यता उत्पन्न करने वाले चान्द्रायण, द्वादशी आदि व्रतों के करने का नाम तप है । तप के तीन प्रकारों की व्याख्या गीता में ही भगवान् ने १७वें अध्याय में की है ।

(९) **आर्जव** - दूसरे के प्रति व्यवहार करते समय मन, वाणी एवं शरीर के कर्मों की और वृत्तियों की एकनिष्ठा का नाम आर्जव है ।

इस श्लोक में भगवान् ने दैवी सम्पदा में उत्पन्न होने वाले के नव गुणों को बतलाया, जो नवधा भक्ति के प्रतीक हैं ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।२।।

(विशेषक श्लोक है, अतः तीसरे श्लोक के उत्तरार्द्ध को लेकर अर्थ करना अपेक्षित है)

अन्वय :- **अहिंसा, सत्यम्, अक्रोधः, त्यागः शान्तिः, अपैशुनम् भूतेषु दयाअलोलुप्त्वम्, मार्दवम् ह्रीः अचापलम् ।**

अर्थ :- अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (दूसरे का छिद्रान्वेषण या चुगलखोरी न करना), प्राणी पर दया, लोभहीनता, मार्दव (यानी मृदुलता या कोमलता), ह्री (यानी लज्जा) और अचपलता (ये लक्षण दैवी सम्पदा में उत्पन्न पुरुषों में हाते हैं)

व्याख्या :- कृष्ण भगवान् अर्जुन को यहाँ समझा रहे हैं कि दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले पुरुषों में ग्यारह गुण होते हैं जिससे ग्यारह इन्द्रियों को वश में किया जाता है । वे गुण निम्न हैं

(१) **अहिंसा** - मन, वाणी और शरीर से प्राणिमात्र को कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है ।

(२) **सत्य** - जो जैसा हो उसे देखकर या सुनकर समझी हुई बात को ठीक वैसे ही प्राणियों के हितकर वचन कहना ही सत्य है ।

(३) **अक्रोध** - अन्य को कष्ट पहुँचाने के कारण मन में विकार होने के अभाव को अक्रोध कहते हैं ।

(४) **त्याग** - परकल्याण भाव के परिग्रह का ग्रहण ही त्याग है ।

भगवान् ने १८वें अध्याय में कहा है :-

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।२।।

विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फल त्याग को त्याग कहते हैं । आगे १८वें अध्याय में भगवान् ने सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के त्याग को बतलाया है ।

(५) **शान्ति** - विषयों की तरफ से इन्द्रियों को रोकने का अभ्यास ही शान्ति है ।

(६) **अपैशुन** - अन्य के प्रति हानिकारक वचन न बोलना ही अपैशुन है ।

(७) **प्राणियों पर दया** - प्राणियों के दु:ख को देखकर द्रवित हो जाना ही प्राणियों पर दया करना है ।

(८) **अलोलुपता** - विषयों में अनिच्छा के भाव को अलोलुपता कहते हैं ।

(९) **मार्दव** - साधु पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखने की क्षमता ही मार्दव है ।

(१०) **ह्री** - न करने लायक कार्य में लज्जा का नाम ही ह्री है ।

(११) **अचपलता** - आसक्ति उत्पन्न करने वाले विषय की समीपता में चपलता न होने के स्वभाव को ही अचपलता कहते हैं ।

ये ग्यारह गुण दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले पुरुष में होते हैं जिससे वे ५ ज्ञानेन्द्रियों, ५ कर्मेन्द्रियों तथा एक मन इन ग्यारह इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हैं ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

अन्वय :- **भारत ! तेजः क्षमा धृतिः शौचम् अद्रोहः, नातिमानिता-दैवीम् सम्पदम् अभिजातस्य भवन्ति ।**

अर्थ :- हे भारत ! तेज, क्षमा, धैर्य, शौच द्रोह का अभाव (और) निरभिमानिता (ये सब गुण) दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुए में होते हैं ।

व्याख्या :- कृष्णचन्द्र भगवान् कह रहे हैं कि ऐ ज्ञानरूपी प्रकाश में रत रहने वाले अर्जुन ! दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले पुरुषों में छः गुण होते हैं जो षड्विधा शरणागति को सम्पादन करने वाले हैं ।

(१) **तेज** - दुर्जन पुरुषों से जो शक्ति न दबायी जा सके उस शक्ति को तेज कहते हैं ।

(२) **क्षमा** - अन्य द्वारा कुठाराघात करने पर भी उसके लिये चित्त में सहनशीलता का भाव आना ही क्षमा है ।

(३) **धृति या धैर्य** - महती आपत्ति में भी करने योग्य कर्तव्य के निश्चय करने की शक्ति अर्थात् अपने स्वरूप से विचलित न होने की शक्ति को धैर्य कहते हैं । यह तीन प्रकार का होता है (सात्त्विक, राजस एवं तामस धैर्य) जिसे गीता के १८वें अध्याय में भगवान् ने बताया है ।

(४) **शौच** - बाह्य तथा आन्तरिक इन्द्रियों को शास्त्रानुसार यथार्थ कर्म के उपयुक्त बना लेना ही शौच है । यह दो प्रकार का होता है -

(१) **बाह्य शौच** - मिट्टी तथा जल से शरीर की बाह्य शुद्धि होती है ।

(२) **अभ्यन्तर शुद्धि** - यह प्रणायामादिक करने से होती है ।

(५) **अद्रोह** - अन्य की स्वतन्त्रता में बाधा न डालना ही अद्रोह है - जैसे किसी ने द्रोह करने का काम किया तौभी वह पुरुष उस अन्यायी के साथ द्रोह न करे तो उस पुरुष को अद्रोही कहेंगे ।

(६) **नातिमानिता** - अपने से महान् पुरुष के सामने घमण्ड न करना ही नातिमानिता है - जैसे हम अपने से श्रेष्ठ महात्मा के यहाँ जायें और वहाँ आसन नहीं मिले अथवा महात्मा उठकर न मिलें तौभी अपने चित्त में घमण्ड न आना ही नातिमानिता है ।

भगवान् कहते हैं कि प्रथम श्लोक में **'अभयं..............'** पद से लेकर तृतीय श्लोक के प्रथम पद **'नातिमानिता'** पर्यन्त ये २६ गुण दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले पुरुषों में होते हैं । मेरी आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाले को देवता कहते हैं, और यह सम्पत्ति दैवी सम्पत्ति है । जिसे मैंने आज्ञा दी है उसे सुनो **'श्रुति स्मृति ममैवाज्ञे ।'**

श्रुति-स्मृति के अनुसार जो आचरण करते हैं वे ही मेरी आज्ञा का पालन करते हैं । वेद को, श्रुति एवं स्मृति को शास्त्र कहते हैं । इस तरह दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले पुरुषों में जब ये २६ गुण हो जाते हैं तो वे वेदान्त से प्रतिपादित २६वें तत्त्व मुझ परमब्रह्म नारायण का साक्षात्कार कर लेते हैं ॥३॥

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

अन्वय :- **पार्थ ! दम्भः दर्पः च अतिमानः, क्रोधः च पारुष्यम् च अज्ञानम् एव आसुरीम् सम्पदम् अभिजातस्य ।**

अर्थ :- पार्थ ! दम्भ, दर्प, अतिमान (अभिमान) क्रोध, पारुष्य (कठोरता) और अज्ञान भी आसुरी सम्पदा में उत्पन्न हुए में होते हैं ।

व्याख्या :- अब कृष्ण भगवान् आसुरी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले पुरुषों में छः प्रकार के गुण (यानी छः बातें) होते हैं, यही बतला रहे हैं । भगवान् की आज्ञा का जो उल्लंघन करते हैं उन्हें असुर कहते हैं और इस सम्पदा में उत्पन्न होने वाले को आसुरी सम्पत्ति वाला कहते हैं । भगवान् अर्जुन को यहाँ पार्थ कहकर सम्बोधित कर रहे हैं । भगवान् कह रहे हैं कि मेरे फूफेरे भाई (यानी पृथा-पुत्र) पार्थ ! ऐसा कहकर भगवान् अपनी फुआ कुन्ती का वैभव बतलाकर नारियों को वैसा ही आचरण ग्रहण करने का उपदेश दे रहे हैं । कुन्ती के विषय में वेदव्यास जी लिखते हैं कि -

'अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती, मन्दोदरी तथा ।'

भगवान् इन पाँचों देवियों के नित्य स्मरण करने का भी उपदेश नर-नारियों को दे रहे हैं । दूसरे भगवान् फूफेरा भाई कहकर यह भी बतला रहे हैं कि धन, बल, विद्या पाकर प्रमाद नहीं करना, अपना हित गरीब भी रहे तौभी मेरी तरह ही व्यवहार रखना । मुझे अर्जुन ने माना, परमब्रह्म, परमधाम भी कहा पर मैं तो उसे फूफेरा भाई ही कहूँगा । इसी

बात को बताने के लिए भगवान् ने अर्जुन को पार्थ सम्बोधन दिया ।

भगवान् कहते हैं कि आसुरी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले पुरुषों में निम्न छः चीजें उत्पन्न होती हैं -

(१) **दम्भः** - धर्मात्मा कहलाने की ख्याति के लिए पूजा-पाठ करना ही दम्भ है ।

(२) **दर्प** - कर्तव्य तथा अकर्तव्य के ज्ञान को विनाश करने वाली तथा विषयों के अनुभव से होने वाली ख़ुशी को दर्प कहते हैं ।

(३) **अतिमान** - जो अपने परिवार तथा धन, विद्यादि के प्रतिकूल हो इस स्वभाव को अतिमान कहते हैं । अतिमान अभिमान को कहते हैं ।

(४) **क्रोध** - अन्य को कष्ट पहुँचाने के कारण मन में जो विकार उत्पन्न होता है उसे क्रोध कहते हैं ।

(५) **पारुष्य** - महात्मा को उद्विग्नकारक कठोर वचन कहने के स्वभाव को पारुष्य कहते हैं ।

(६) **अज्ञान** - अकर्तव्य तथा कर्तव्य को और इस लोक एवं परलोक के तत्त्व को मूर्खतापूर्वक जानना ही अज्ञान है ।

इस प्रकार ये छः वस्तुएँ, छः उर्मियों के प्रतिक हैं, जो निम्न है - (१) गर्भ में है, (२) उत्पन्न हुआ (३) बढ़ रहा है, (४) विपरिणाम होता है, (५) क्षय होता है और (६) नष्ट हो गया । इन छः उर्मियों द्वारा वे पुरुष जन्ममरण के चक्र में सर्वदा पड़े रहते हैं ।

अतः भगवान् यह बता रहे हैं कि खेती, व्यापार, नौकरी करते हुए सदा इन छः वस्तुओं को दबाने का प्रयत्न करना तभी तुम्हारा संसार-बन्धन छूटेगा ।।४।।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।।५।।

अन्वय :- **दैवी संपद् विमोक्षाय, आसुरी निबन्धाय मता । पाण्डव ! मा शुचः, दैवीम् संपदम् अभिजातः असि ।**

अर्थ :- दैवी संपदा मोक्ष के लिए (और) आसुरी (संपदा) बन्धन के लिए मानी जाती है । पाण्डुकुमार ! (तू) शोक मत कर, तू दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुआ है ।

व्याख्या :- दयानिधि कृष्ण भगवान् कह रहे हैं कि हे पाण्डुनन्दन अर्जुन ! श्रुति स्मृति जो मेरी आज्ञा है उसके अनुसार जो आचरण करते हैं वे दैवी संपत्ति वाले हैं और मेरी इस आज्ञा का उल्लंघन करके विपरीत आचरण करने वाले आसुरी सम्पत्ति वाले हैं । अब इन दोनों का अलग-अलग फल भी सुन लो ।

मेरी आज्ञा श्रुति-स्मृति के अनुरूप जो आचरण करते हैं वे मोक्ष प्रदान करने वाले फल को प्राप्त करके जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं । अर्थात् वे पुरुष मुझ परमानन्द को प्राप्त कर लेते हैं - जैसे सेबरी भिलनी

गुरु द्वारा बतलाये गये वाक्य पर अटल रही कि मेरे यहाँ भगवान् अवश्य आवेंगे, तो उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया । अतः भगवान् कह रहे हैं कि अपने वर्णानुसार कर्म करते हुए हमारी आज्ञा का पालन करो तो निश्चय मोक्ष पाओगे, क्योंकि वेद में कहा गया है -

' न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ! (छा. उप. ८।१५।१)

तथा वेद शास्त्र से विपरीत जो आचरण करते हैं उनका उत्तरोत्तर धन जन घटने लगता है और बन्धनयुक्त होकर पशु आदि निम्न योनियों में निश्चय करके वे जाते हैं । जैसे जड़ भरत ने राज्य भी छोड़ा पर अन्त में हिरण के बच्चे में मोह करके उसने पशुयोनि ही पायी ।

यह सब सुनकर अपने देह के विषय में ठीक निश्चय न कर सकने की वजह से अत्यन्त डरे हुए अर्जुन का उदास चेहरा देखकर परम कारुणिक भगवान् बोले कि ऐ पाण्डुनन्दन ! तुम शोक मत करो । तुम तो दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न हो, तुमने कहा है **'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च' १।३२।** यही नहीं तुमने यह भी कहा है कि - **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' २।७।** यही नहीं यह भी तूने ही कहा है - **'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' ३।२। तथा यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' ५।१** इस तरह बार-बार अर्जुन तुमने श्रेय मार्ग ही माँगा और तेरा झुकाव दैवी सम्पदा की तरफ ही है । दूसरे तुम महाधर्मात्मा पाण्डु के पुत्र हो । अतः दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न भी हो, क्योंकि वेद में कहा गया है - **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** । निश्चय करके आत्मा ही पुत्र होती है । धार्मिकों में अग्रगण्य पाण्डु के तुम पुत्र हो, अतएव डरो मत । आधुनिक कवि भी कहते हैं - **'आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः'** ? ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशःप्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

अन्वय :- **अस्मिन् लोके द्वौ एव भूतसर्गौ दैवः च आसुरः । पार्थ ! दैवः विस्तरशः प्रोक्तः, मे आसुरं शृणु ।**

अर्थ :- अर्जुन ! इस लोक में दो ही (प्रकार की) भूत-सृष्टि (प्राणी वर्ग की संरचना) है - दैवी और आसुरी । पार्थ ! दैवी सृष्टि विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है, (अब) मुझसे आसुरी को सुनो ।

व्याख्या :- हे पार्थ ! सम्बोधन द्वारा भगवान् कुन्ती को महानता दिग्दर्शित कर रहे हैं । अज्ञानी यह कहते हैं कि सनातन धर्म बड़ा पाखण्डी है । बाल्यावस्था में ही जिसके गर्भ से कर्ण उत्पन्न हो गया, बिना पति के संयोग से ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन पैदा हो गये वैसी नारी को भी यह सनातन धर्म साध्वी, पापनाशिनी कहता है । ऐसा क्यों कहा जाता है ? वस्तुतः वे अज्ञानी यह नहीं समझते कि सनातन धर्म क्या है ? सभी धर्मों का तो ओर-छोर है पर **'सदाभवस्सनातनः'** इस व्युत्पत्ति से हमारा सनातन धर्म तो आदि समय का ही है । यदि सौ वर्ष पीछे की बात हमसे पूछी जाय तो हमलोग मुँह फैलाये ही रह जायेंगे, कुछ जवाब नहीं आयेगा और जो धर्म सृष्टि के आदि से ही है उसे समझना तो टेढ़ी खीर ही है । पहले उन अज्ञानियों से यह पूछा जाय कि वे सूर्य का चलना मानते हैं या नहीं ? यदि वे चलना मानते ही नहीं तो कुन्ती के साथ मैथुन करना भी उन्हें नहीं मानना चाहिये । यदि वे चलना मानते हैं तो द्युलोक में ही मानते हैं, पृथ्वी

पर चलना नहीं मानते । कहा गया है कि - तीस चरण महि चलत ना श्रवण नयन छत्तीस (सात घोड़ों के २८ पैर और सारथी के दो पैर=३० पैर) दूसरे उन्हें यह भी सोचना चाहिये कि सूर्य में कितना ताप है ? भला १० वर्ष की सुकुमारी कुन्ती के पास सूर्य आ जायें तो मैथुन की तो बात दूर रही वह उनके तेज से ही भस्म हो जायेगी, अत: ऐसा कहना ठीक नहीं । अब कैसे कर्ण उत्पन्न हुआ यह सनातन धर्म का इतिहास बतलाता है । इसे पूरा समझकर ही किसी तरह का आक्षेप करना चाहिये । घटना ऐसी है कि दुर्वासा ऋषि का प्राचीन समय में चातुर्मास्य व्रत चल रहा था । कुन्ती के पिता कुन्ती को लेकर ऋषि के यहाँ आये । दुर्वासा ऋषि ने बतलाया कि यह आपकी कन्या कुन्ती तो बड़ी भाग्यशालिनी है, परन्तु जिस दिन इसके साथ पति का समागम होगा उसी दिन से यह विधवा हो जायेगी । यह सुनकर कुन्ती के पिता बहुत दु:खी हुए और महात्मा जी से उन्होंने प्रार्थना की कि इसका कोई उपाय बतलाइये । इस पर ऋषि ने कुन्ती को एक मन्त्र दिया और कहा कि जिस किसी देव का स्मरण करके तुम इस मन्त्र को जपोगी उस काल में वैसा ही गर्भाधान तुमको हो जायेगा । कुन्ती के साथ उसके पिता घर आये । सब हाल कुन्ती की सखियों को भी मालूम हो गया । सखियों में शोर-गुल मचा कि यह बात एकदम झूठ है । भला ऐसा कैसे हो सकता है ? अभी कुन्ती चंचला थी ही वह ऋषि के द्वारा दिये गये मन्त्र की परीक्षा के लिए यमुना नदी के तट पर आयी और सूर्य का ध्यान करके उस मन्त्र को उसने जपा । मन्त्र को जपते ही **'सद्य: गर्भधरा कुन्ती'** और अति शीघ्र नव मास का समय क्षणमात्र में ही व्यतीत हो गया । पिताकुल भी कलंकित हो गया यह सोचकर कुन्ती रोने लगी और फिर सूर्यनारायण की उसने स्तुति की कि यदि मैं सच्ची हूँ तो यह बच्चा योनि से न जन्म ले । आर्त पुकार सुनकर भगवान् की कृपा से कुन्ती के कान नीचा करते ही पुत्र की उत्पत्ति कान से हो गई, इसी से उस बालक का नाम कर्ण पड़ा । इसी प्रकार कुन्ती ने जब धर्म का स्मरण किया तो धर्मराज युधिष्ठिर हुए, पवन का स्मरण किया तो भीम हुए और इन्द्र का स्मरण कर मन्त्र को जपा तो अर्जुन पैदा हुए । कुन्ती को यह शक्ति दुर्वासा से ही मिली थी । इस उत्पत्ति से पतिव्रता तथा महात्मा की महान् शक्ति का द्योतन हो रहा है । अत: कुन्ती को व्यभिचारिणी कहना घोर पाप है । ऐसा वे लोग कहते हैं जो सनातन धर्म के इतिहास को नहीं जानते हैं और अपना ही राग अलापते हैं । इसी बात को बताने के लिए भगवान् अर्जुन को पार्थ कहकर सम्बोधित कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि पतिव्रता कुन्ती के नन्दन अर्जुन ! इस कर्म-भूमि में दो प्रकार से मनुष्यों की उत्पत्ति है । एक वे हैं जो वेद शास्त्रानुसार मेरी आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाले हैं, उनकी गणना देवसृष्टि में की जाती है, जो देव कहलाते हैं । दूसरे जो मेरी आज्ञा के विपरीत आचरण करते हैं, चाहे वे किसी भी वर्ण के हों उनकी गणना असुर सृष्टि में की जाती है और वे असुर कहलाते हैं । इसमें से दैवी उत्पत्ति को, मैं विस्तारपूर्वक तृतीय अध्याय में कर्मयोग, ७वें अध्याय में ज्ञानयोग तथा १२वें अध्याय में भक्तियोग द्वारा उनके आचरणों का वर्णन कर चुका हूँ । अर्जुन तुम सावधानी से सुनना अब मैं तुझे यह बतला रहा हूँ कि आसुरी वर्गवाले कैसा आचरण करते हैं ? किन्तु उसे भूलकर भी ग्रहण न करना ।

सुनने वाले दो तरह के होते हैं । एक सूप की तरह और दूसरे चलनी की तरह । तुम सूप के समान ही होना-जैसे माताएँ सूप से चूरा कूटकर फटकती हैं तो अच्छा चूरा (दाना) यह पेट में ही रखता है और भूसा आदि को फटककर बाहर कर देता है । अत: गुण को ही ग्रहण करना चाहिये और दुर्गुण को बाहर फेंक देना चाहिये, परन्तु चलनी तो अच्छा आटा या पदार्थ को बाहर करती है और निसठ पदार्थ को ही अन्दर रखती है अर्थात् अवगुण ही ग्रहण करती है, अत: हमें सूप की तरह ही होना चाहिये ।।६।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

अन्वय :- **आसुराः जनाः प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् न विदुः च तेषु न शौचम्, न आचारः च न सत्यम् अपि विद्यते ।**

अर्थ :- आसुर लोग (यानी आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्य) प्रवृत्ति और निवृत्ति (दोनों) को नहीं जानते हैं तथा उनमें न शौच न आचार और न सत्य ही होता है ।

व्याख्या :- परमदयालु भगवान् आसुर सर्ग वालों का चिह्न अर्जुन को बताकर सावधान करा रहे हैं, जिससे अर्जुन उसको ग्रहण न कर सके । भगवान् कहते हैं कि श्रुति-स्मृति जो मेरी आज्ञा है उसके विपरीत चलने वाले आसुर सर्ग वाले निम्न चिह्नों से पहचाने जाते हैं -

(१) **प्रवृत्ति** - इस लोक की उन्नति के साधन रूप जो वैदिक कर्म है यानी यज्ञादि कर्म को वे नहीं जानते केवल खाना-पीना, मैथुन करना ही जानते हैं और चूहे-चिड़ियों की तरह अपना बहुमूल्य जीवन गवाँ देते हैं ।

(२) **निवृत्ति** - मोक्ष के साधन रूप जो वैदिक कर्म हैं उन्हें भी वे असुर नहीं जानते हैं, अर्थात् निष्काम भाव से जनता के कल्याणार्थ यज्ञादि धार्मिक कर्म करना भी नहीं जानते ।

(३) **शौच** - वैदिक कर्म करने के लिए बाह्य शुद्धि तथा आन्तरिक शुद्धि अति आवश्यक हैं, इसे ही शौच कहते हैं । इसे भी व्रे असुर नहीं जानते । कुछ लोग कहते हैं कि भीतर की शुद्धि ठीक रहनी चाहिए । बाहर की शुद्धि में कुछ नहीं, पर हमारा सनातन धर्म तो दोनों शुद्धि अत्यावश्यक मानता है । लोक में यदि आपको एक ग्लास में जल पीने के लिए भीतर से खूब साफ मलकर दिया जाय और ग्लास के ऊपर जरासी गन्दी वस्तु लगा दी जाय तो क्या उस जल को आप ग्रहण करेंगे ? आप कहेंगे नहीं, तो क्यों ? ऐसा इसलिए न कि आपने उसमें बाह्य शुद्धि नहीं पायी । वैसे ही शरीर की बाह्य शुद्धि भी मिट्टी तथा जल से करना नितान्त जरूरी है । शौच की महत्ता को हमारी भाषा के कवि गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं - **'सकल शौच करि जाई नहाए ।'** पुरुषोत्तम राम ने भी शौच को नित्य क्रिया समझकर ही ऐसा किया है ।

(४) **आचार** - बाहर तथा भीतर की शुद्धि के लिए **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत्'** इत्यादि ।

इस श्रुति से विहित जो आचार है, वह आचार भी उन आसुरी प्रवृत्ति वालों में नहीं होता । हमारा शास्त्र कहता है कि- **'आचारः प्रथमो धर्मः'** और इसे जो नहीं मानता वह असुर है । दक्ष-स्मृति में कहा गया है कि **सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।** (२।१६) जो सन्ध्या-वन्दन नहीं करता वह सदा अशुद्ध है और सब कर्मों के लिए वह अयोग्य है ।

(५) **सत्य** - जनता के कल्याणार्थ यथार्थ सुन्दर बोलना ही सत्य है । हमारा सनातन धर्म कहता है, कि जिस वचन के कहने से जनता में कलह हो जाय वह सत्य भी हो तो नहीं कहना चाहिए । **'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'**

सत्य बोलना चाहिये पर अप्रिय नहीं । जिस सत्य के बोलने से गोबध हो जाय वह भी महापाप है, क्योंकि वहाँ तो असत्य ही सत्य हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

भगवान् ये चिह्न बताकर हमें सावधान करा रहे हैं कि उपर्युक्त आचरणों को कभी ग्रहण न करना ।।७।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।८।।

अन्वय :- **ते आहुः, जगत् असत्यम् अप्रतिष्ठम् अनीश्वरम् अपरस्परसम्भूतम् कामहैतुकम् किमन्यत् ?**

अर्थ :- वे (यानी आसुरी प्रकृतिवाले) कहा करते हैं कि संसार असत्य, अप्रतिष्ठ (यानी बिना आश्रयवाला) और बिना ईश्वर के (यानी बिना नियामक के) बिना कारण के (यानी मात्र स्त्री पुरुष के संयोग से) उत्पन्न हुआ है । कामहेतुत्व को छोड़कर इसका और दूसरा हेतु या कारण ही क्या हो सकता है ?

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! जो मेरी आज्ञा का (वेद-शास्त्र में जो आचरण बतलाया गया) उसके विपरीत आचरण करनेवाला आसुर सृष्टि के हैं ।

(१) वे विपरीत आचरण करने वाले जगत् को असत्य बतलाते हैं । तात्पर्य यह है कि वे गुरु, माता-पिता, तीर्थ व्रत, यज्ञ, दान सबको झूठा मानते हैं । भगवान् कह रहे हैं कि इस प्रकार आचरण करने वालों का संग तुम्हें भूल कर भी नहीं पकड़ना चाहिये, क्योंकि वे लोग यह नहीं जानते कि -

'सत्यं, ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्त. उप. ब्रह्मानन्दव. अनु-१)

परब्रह्म परमात्मा सत्य स्वरूप है । इस श्रुति से तथा सूक्ष्म चेतन-अचेतन विशिष्ट ब्रह्म कारण हैं और स्थूल चेतन-अचेतन युक्त ब्रह्म कार्य जगत् है । इससे जगत् भी सत्य है और इसको वे नहीं जानते - जैसे मिट्टी से बने घट शराव आदि कार्य हैं और मिट्टी का पिण्ड कारण है और यदि मिट्टी सत्य है तो घटादि सब सत्य हैं ।

(२) दूसरी बात, वे अज्ञानी यह भी कहते हैं कि संसार का कोई आधार ही नहीं । अर्थात् वे नहीं जानते कि संसार का कोई नियामक एवं शासक भी है । लोक में ही आप लोग रेल, मोटर, जहाज आदि को प्रत्यक्ष देखते हैं । जिस वैज्ञानिक ने इसे बनाया है उसको आप सभी नहीं देखते, परन्तु यह बात मान लेते हैं कि कोई-न-कोई इसे बनाया होगा, वैसे ही ये सूर्य, चाँद एक निश्चित समय पर आते-जाते हैं, तो इनका भी कोई नियामक जरूर होगा ?

जिसे वेद बतलाता है - **'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता शास्ता जनानां ।** (मुण्डको. १।१।१)

अर्थात् वह परब्रह्म सबों का स्रष्टा, जगत् की रक्षा करने वाला और सभी जनों का नियामक है ।

स्मृति भी कहती है - **पृथ्वि त्वया धृता लोकाः देवि त्वं विष्णुना धृता ।।**

अर्थात् हे पृथ्वी ! तुम लोकों को धारण की हो और तुम्हें भगवान् विष्णु ने धारण किया है, किन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी सभी लोगों को पृथ्वी धारण करती है और पृथ्वी को विष्णु धारण करते हैं, ऐसा वे लोग नहीं जानते ।

(३) तीसरी बात यह है कि वे यह भी नहीं जानते कि भगवान् के सत्य संकल्प से यह जगत् है, वे तो जगत् को अनीश्वर बतलाते हैं । गीता में कहा गया है कि-**'अहं सर्वस्य प्रभवा: मत्त: सर्वं प्रवर्तते'** ।१०।८

अर्थात् मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ, सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं । इस बात को भी वे नहीं जानते । वे आँख से देखी हुई बात को ही सत्य मानते हैं तथा कहते हैं कि यहाँ इस संसार में तो केवल नर-नारी का समुदाय है, ईश्वर कहाँ ?

यदि आँख से देखी हुई बात को ही कोई सत्य माने तो वह अज्ञ अपने पिता को भी सिद्ध नहीं कर सकता ।

(४) फिर उनसे यदि यह पूछा जाता है कि संसार कैसे हुआ ? तो वे वैदिकों से कहते हैं कि स्त्री-पुरुष के परस्पर संयोग से यह जगत् उत्पन्न है । इसके सिवाय दूसरा क्या दिखता है ? यानी कुछ भी नहीं । वे कहते हैं कि समस्त संसार काम से उत्पन्न हुआ है । ऐसी ही उन लोगों की समझ होती है और ये ही मूर्ख आसुर सृष्टि वाले हैं । कृष्ण भगवान् कहते हैं कि ऐ अर्जुन ! तुम हमारा भक्त हो; अत: इन बातों को भूलकर भी ग्रहण न करना । दुनिया के नाश के लिए ही इन लोगों का मत है, अत: वेद-शास्त्र से अनुमोदित मार्ग का ही पथगामी होना ।

श्रीवेदव्यास मुनि ने पद्मपुराण के उत्तर खण्ड के २३६वें अध्याय में निरीश्वरवादियों के विषय में लिखा है-

धीषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम् ।
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा ।।५।।
बौद्धशास्त्रं महत्प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम् ।
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौधमुच्यते ।।६।।
निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम् ।
द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमपार्थकम् ।।७।। (पद्म. पु. उ. ख. ६ अ. २३६ श्लो. ५-७)

अर्थात् बृहस्पति ने कहा कि अति गर्हित चार्वाक शास्त्र से कहा गया है और दैत्यों के विनाश के लिए बुद्ध रूप से विष्णु ने नग्न, नीलपट आदि युक्त बृहत् बौध शास्त्र का वर्णन किया है और मायावाद असत् शास्त्र है जो प्रच्छन्न (गुप्त रूप) से बौद्ध कहा गया है । इससे सिद्ध हो गया कि जो संसार को असत्य कहते हैं, वे प्रच्छन्न बौद्ध हैं ।।८।।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धय: ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माण: क्षयाय जगतोऽहिता: ।।९।।

अन्वय :- **एताम् दृष्टिम् अवष्टभ्य उग्रकर्माण: नष्टात्मान: अल्पबुद्धय: अहिता: जगत: क्षयाय प्रभवन्ति ।**

अर्थ :- इस (यानी पूर्वोक्त प्रकार की) दृष्टि का सहारा लेकर वे उग्रकर्म करनेवाले नष्टात्मा अल्पबुद्धि और अहित करनेवाले (सबका अपकार करनेवाले) जगत् के नाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि श्रुति-स्मृति जो मेरी आज्ञा है, उसके विपरीत आचरण करने वाले, इसके पीछे ८ वें श्लोक में कहे गये आसुरी सृष्टि के लोग आत्मा को नहीं मानते, वे शरीर को ही आत्मा मानते हैं । घट को मैं जानता

हूँ इस प्रतीति में घट से अन्य अर्थात् भिन्न ज्ञाता आत्मा है, इस प्रकार शरीर को मैं जानता हूँ ऐसा कहने में भी शरीर का ज्ञाता शरीर से अलग आत्मा है, ऐसा समझना चाहिये, पर वे अज्ञानी ऐसा नहीं समझते । दूसरी बात यह कि वे लोक में भी कहते हैं कि यह मेरी घड़ी है, यह मेरी छड़ी है' आदि । इस प्रकार घड़ी और छड़ी दोनों से भिन्न वे हैं जो ऐसा कहते हैं । सम्बन्ध द्विनिष्ठ होता है, इसलिए ऐसा कहा जाता है । जैसे लोक में भी व्यवहार होता है कि यह मेरा शरीर है, यह मेरी आँख है, वैसे ही देह से भी अलग इसका ज्ञाता आत्मा है पर वे अज्ञानी इसे नहीं मानते । तीसरी बात यह है कि अगर शरीर ही आत्मा है तो मरने पर सभी इन्द्रियों के रहते हुए भी इसमें चेतनता क्यों नहीं रहती ? इन बातों को भी वे अल्पबुद्धिवाले नहीं समझते ।

यही नहीं, वे संसार के शत्रु अपने शरीर की पुष्टि के लिए गाय, सूकर, बकरा, पक्षी आदि तथा जलचर मीन, कूर्म, ग्राहादि को मारकर हिंसा भी करते हैं । ऐसे वे आसुर सर्ग वाले जगत् का नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं ।

आधुनिक कवि ने बतलाया है :-

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत् ॥

अर्थात् स्वतन्त्र उत्पन्न हुए, शाकादि से भी यह जला हुआ उदर (पेट) भर सकता है तो इस उदर पुष्टि के लिए महापातक हिंसा को कौन करे ?

इस प्रकार भगवान् अर्जुन को इन आसुर सर्ग वालों के अवगुणों को ग्रहण न करने का उपदेश दे रहे हैं ॥९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

अन्वय :- **दम्भमानमदान्विताः अशुचिव्रताः दुष्पूरम् कामम् आश्रित्य मोहात् असद्ग्राहान् गृहीत्वा प्रवर्तन्ते ।**

अर्थ :- दम्भ, मान और मद से युक्त अशुद्ध आचरण वाले लोग दुष्प्राप्य कामनाओं का आश्रय लेकर मोह से असत् परिग्रहों का संग्रह करके बलपूर्वक बरतते हैं ।

व्याख्या :- निर्हेतुक दया करने वाले भगवान् अर्जुन को त्याज्य आचरण को बतलाते हुए कह रहे हैं कि तुम इनको भूलकर भी ग्रहण न करना ।

वेद-शास्त्र के विरुद्ध अशुद्ध आचरण करने वाले कहते हैं कि -

'मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।'

इन पाँचों से व्रतादि करना चाहिये और यह भी कहते हैं कि ऐसा करते समय -

'कपालचर्मभस्मास्थिचिह्नान्यमरसर्वशः'

मुण्डादि इन चार चिह्नों को भी रखना चाहिये ।
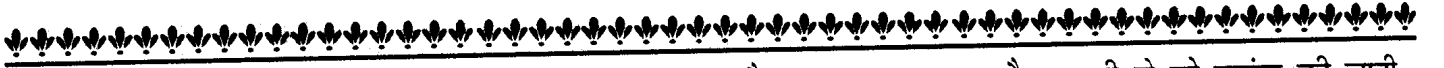
धर्मनिष्ठ कहलाने के लिए जो धर्मादि किया जाता है वह दम्भ कहलाता है । वाणी से जो प्रशंसा की जाती है उसे मान कहते हैं । अहं भावना लेकर जो कार्य किया जाता है उसे मद कहते हैं और वे विपरीत आचरण करने वाले दम्भ, मान तथा मद से युक्त होते हैं । अर्थात् अप्राप्य विषयों की अभिलाषा का अवलम्ब लेकर उनकी प्राप्ति की चाहना से मोह यानी विपरीत ज्ञान के द्वारा अन्यायपूर्वक कुत्सित धनादि भोग्य वस्तुओं का संग्रह करके जनता के साथ बलपूर्वक प्रवृत्त होते हैं । भगवान् कहते हैं कि ऐसे नीचे प्राणी जगत् के विनाश के लिए ही उत्पन्न होते हैं । अतः हे अर्जुन ! तुम मेरे प्रपन्न हो; इनके आचरणों को भूलकर भी ग्रहण न करना, सदा मेरी आज्ञा का पालन करना ।।१०।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।।११।।

अन्वय :- **प्रलयान्ताम् अपरिमेयाम् चिन्ताम् उपाश्रिताः कामोपभोगपरमाः च एतावत् इति निश्चिताः ।**

अर्थ :- वे (आसुरी प्रकृति वाले) प्रलयान्त यानी प्रलयकाल में ही जिनका अन्त हो ऐसी अपरिमित चिन्ताओं का आश्रय लेनेवाले, कामोपभोग को सर्वोत्कृष्ट (या 'परम') मानने वाले और इतना ही (परम पुरुषार्थ) है, ऐसा निश्चयवाले होते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि जो आसुर सर्ग वाले हैं वे असीम चिन्ता करते हैं । महाप्रलय में सूर्य, चाँद के अन्त होने पर भी उनकी अपरिमेय चिन्ता का अन्त नहीं होता, परन्तु चिन्ता बड़ी दुःखदायिनी है । तुलसीदासजी लिखते हैं-**'चिन्ता सापिनी काहि न खाया'** और भाषा के दूसरे कवि कहते हैं कि - **चिता दहत निर्जीवहि, चिन्ता जीव समेत ।**

तौभी आसुर सर्ग वाले अपनी चिन्ता नहीं छोड़ते-जैसे रावण ने यह चिन्ता की थी कि खासकर उसी खेत में पानी होवे जिसमें पानी की कमी है तथा इस मृत्युलोक में जो जैसे जन्म ले वैसे मरे जिससे जीव को कष्ट न भोगना पड़े, पर वह इसे अपने जीवन में पूर्ण न कर सका ।

वेदशास्त्र के विपरीत आचरण करने वाले विषय के उपभोग को परम पुरुषार्थ समझकर सदा उपभोग करने के लिए परम तत्पर रहते हैं । वे मदिरा पान करते समय यह सोचते हैं कि अबकी बार मदिरा पीने आऊँगा तो इससे भी शक्तिशाली मदिरा पान करूँगा तो और विशेष मजा आयेगी । इस तरह विपरीत ज्ञान को लेकर वे उल्टा ही करते हैं । वे सदा हमारी आज्ञा का उल्लंघन ही करते हैं - जैसे, महाबली रावण कैलास को भी उठाने वाला, एक लाख पुत्रवाला, महान् धनी होकर भी विषय-भोग में ही तत्पर रहा, पर अपने जीवनकाल में ही धनादि से उसने हाथ धो दिया । अतः जिनका जन्म जगत् का नाश करने के लिए हुआ है ऐसे आसुर सर्ग वाले कहते हैं कि नर-नारी का देह विषय-भोग के लिए ही है, इससे बढ़कर अन्य कोई पुरुषार्थ है ही नहीं ।

उनका कहना यह होता है कि -

हत्वा-हत्वा सुरां पिबेत् । ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् । (चार्वा.)

भगवान् कहते हैं कि ऐसे नीचलोगों के धन-जनादि उनके जीवनकाल में ही नष्ट हो जाते हैं । अतः हे अर्जुन !
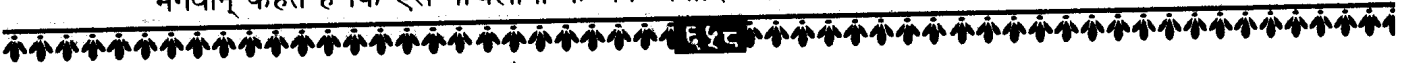
किसी के सहवास से या अन्य दोष से इन दुष्ट जनों के आचरणों को ग्रहण न करना ।।२१।।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।।१२।।

अन्वय :- **आशापाशशतैः बद्धाः कामक्रोधपरायणाः कामभोगार्थम् अन्यायेन अर्थसंचयान् ईहन्ते ।**

अर्थ :- सैकड़ों आशापाशों (यानी आशाओं के बन्धन या जाल) से बँधे हुए, काम और क्रोध के परायण हुए कामोपभोग के लिए अन्यायपूर्वक अर्थ-संचय की चेष्टा करते हैं ।

व्याख्या :- श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि मेरी आज्ञा के विपरीत आचरण करने वाले आसुर सर्ग के लोग आशा रूपी सैकड़ों फाँसों से फँसे रहते हैं । आशा परम दु:ख का कारण है । श्रीमद्भागवत महापुराण में कहा गया है कि - **'आशा हि परमं दुःखम्'** । (श्रीमद्भा. स्क. ११ अ. ८ श्लो. ४४) फिर भी वे अज्ञानी नहीं समझते । साधारण एक फाँस द्वारा पशु बाँधे जाते हैं तो निकलते ही नहीं; तो भला ये आसुर सर्ग वाले सैकड़ो फाँसों से बन्धने वाले कैसे निकलेंगे ? अर्थात् उनका निकलना मुश्किल है । अतः आसुर सम्प्रदाय वाले जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं होते । आसक्ति की परिपक्वावस्था को ही काम कहते हैं । दूसरों की बुराई करने के लिए चित्त में विकार होना ही क्रोध है । आसुर सर्गवाले काम, क्रोध में परम निष्ठा रखते हुए भोगों को भोगने के लिए अन्यायपूर्वक अर्थ-संग्रह करने का प्रयास करते हैं, लेकिन अन्यायपूर्वक संग्रह किया गया धन स्थायी नहीं होता । अन्यायी दुर्योधन ने धन संग्रह हेतु जुआ खेला, लाह का घर बनवाकर उसमें आग भी लगवा दी, भीम को विष देकर नदी में बहा दिया, परन्तु उसका धन, जन, उसके जीवन काल में ही समाप्त हो गया ।

अर्जुन के व्याज से भगवान् हमें यह उपदेश दे रहे हैं कि खेती, व्यापार, नौकरी करते हुए अन्यायपूर्वक धन संग्रह न करना । देश, काल, पात्रानुसार अपने धन को जनता के हित में लगाना तभी सुखमय जीवन व्यतीत करोगे ।।१२।।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।।१२।।

अन्वय :- **इदम् मया अद्य लब्धम्, इमम् मनोरथम् प्राप्स्ये, इदम् धनम् मे अस्ति, इदम् अपि पुनः भविष्यति ।**

अर्थ :- यह मुझे आज मिल गया और इस मनोरथ को पूर्ण कर लूँगा या प्राप्त कर लूँगा, यह धन मेरा है, यह (धन) भी फिर (मेरे पास) हो जायेगा ।

व्याख्या :- कृष्ण भगवान् निषेध वाक्य ही अर्जुन को बतला रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि आसुर सर्ग वाले यह समझते हैं कि ये धन, जमीन, पुत्रादि जो मेरे पास हैं, वह सब मैंने अपने समर्थ्य से पाया है, इसमें प्रारब्ध आदि कारण नहीं है तथा यह भी कहते हैं कि वह जो राज्य है, जो वह जमीन है उसे भी मैं अपने सामर्थ्य से प्राप्त कर लूँगा । कहने का तात्पर्य यह है कि मेरे भाई के पास जो जमीन तथा लाखों की सम्पत्ति है, भाई के मरने के बाद मेरी ही होगी ऐसा ही वे अज्ञानी सोचते हैं । वे यह नहीं सोचते कि प्रारब्धानुसार उनका ही वंश समाप्त हो जायेगा, यह राज्य कोई तीसरा

(व्यक्ति) ही ले लेगा । इस तरह वे प्रारब्ध को कुछ भी नहीं समझते और यही सोचकर वे दान आदि भी कभी नहीं करते तथा अपने धन का अपव्यय केवल विषयों में ही करते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुम दैवी सर्ग वाले हो, अतः इनके आचरणों को भूलकर भी ग्रहण न करना । प्रारब्ध को जरुर मानना पर अपने कर्तव्य को न छोड़ना । धन, बल, विद्या प्राप्त होवे तो यह समझना कि यह सब मुझ पर परमेश्वर की ही कृपा है ।।१३।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।।१४।।

अन्वय :- **असौ शत्रुः मया हतः च अपरान् अपि हनिष्ये । अहम् ईश्वरः अहम् भोगी अहम् सिद्धः बलावन् सुखी ।**

अर्थ :- अमुक शत्रु मेरे द्वारा मार दिया गया और दूसरों को भी मैं मार डालूँगा । मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ ।

व्याख्या :- कृष्ण भगवान् कह रहे हैं कि आसुर सर्ग वाले कहते हैं कि अमुक शत्रु जो सदा मुझसे लड़ाई करता था, बलवान् भी था तौभी मैंने अपने सामर्थ्य से उसे मार डाला । जो सदा बुराई करने की चेष्टा करता है उसे शत्रु कहते हैं, परन्तु विचार-शील लोग अपने शत्रु को मारकर भी पश्चात्ताप करते हैं ।

आसुर सर्ग वाले यह भी कहते हैं कि मैं महाबली तथा धीर हूँ, जो कोई भी मेरा शत्रु है अथवा होगा, उन सभी शत्रुओं को अपने सामर्थ्य से अकेले मार डालेंगे । वे कहते हैं कि मन्द बुद्धि वाले तथा कमजोर लोग ही प्रारब्ध पर जीते हैं, कपोल-कल्पित प्रारब्ध कारण नहीं । वे अन्यायी यह नहीं सोचते कि बीच ही में यदि अकालमृत्यु हो जायेगी तो उनके दुश्मन तो जिन्दे रह जायेंगे और उनकी सब कल्पना रह जायेगी । वे यह भी कहते हैं कि मैं स्वयं ही भोगी हूँ, अदृष्ट आदि के सहयोग से यह भोग मुझे प्राप्त नहीं हुआ । मैं स्वयं सिद्ध हूँ; इसमें प्रारब्ध कारण नहीं तथा मैं स्वयं ही बलवान् हूँ तथा अपने-आप सुखी भी हूँ । मुझे सुखी तथा बलवान् बनाने वाला दूसरा कोई नहीं । दूसरी बात वे अन्यायी यह भी कहते हैं कि मैं ही ईश्वर हूँ, अर्थात् स्वाधीन और दूसरों का नियन्ता भी मैं ही हूँ ।

'ईश्वरोऽहम्' इस वाक्य के अनुसार वे कहते हैं कि **ईशावास्यमिदं सर्वम्** (ईश. उप. मं.-१) इस श्रुति में ईशा पद में जो ईश शब्द है और **'यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः'** गी. १५।१७ तथा **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।१८।६१** गीता के इन श्लोकों में जो 'ईश्वर' शब्द है वह ईश्वर मैं ही हूँ ऐसा कहने वालों को तथा **'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्'** ।१६।८। गीता के इस श्लोक के अनुसार जगत् असत्य है ऐसे भाषण करने वालों को स्पष्ट भगवान् आसुर सृष्टि का कहते हैं, परन्तु आज कराल कलि के प्रभाव से वे लोग अपने को बड़ा महात्मा कहते हैं ।

कृष्ण भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुम मेरे प्रपन्न हो, अतः इन दुराग्रहियो के बहकावे में मत पड़ना और प्राचीन ऋषियों के वाक्यानुसार आचरण करना । अपने को सदा मेरा दास समझना ।

वाल्मीकिजी लिखते हैं -

'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य' (वा. रा. सुन्दर काण्ड ४२।३४) यजुर्वेद ने बतलाया है - **'यस्यायं विश्वं आर्यो दासः'** (अ. ३३ मं. ८२) अर्थात् जिस ईश्वर से विश्व में यह आर्य श्रेष्ठ जनदास है। ब्रह्मसूत्र बतलाता है - **'ब्रह्मदासा ब्रह्मदासाः'** पराशर ऋषि ने पराशर धर्म-शास्त्र के उत्तर खण्ड में लिखा है- **'दासभूताः स्वतः सर्वेह्यात्मनः परमात्मनः।'** सब लोग ईश्वर के दास हैं, परन्तु वे आसुरी सृष्टि वाले इसे नहीं समझते और अपने राग में ही रमे रहते हैं। महर्षि वादरायणाचार्य मायावाद के विषय में पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में लिखते हैं :-

मयैव वक्ष्यते देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ।
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयन् लोकगर्हितम् ॥७॥
कर्मस्वरूपं त्याज्यत्वं यत्र वै प्रतिपाद्यते ।
सर्वकर्मपरिभ्रष्टो विकर्मस्थः स उच्यते ॥८॥
परेशजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते ।
ब्रह्मणोऽत्र परं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया ॥९॥
सर्वस्य जगतोप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे ।
वेदार्थवन् महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ॥१०॥

अर्थात् शिवजी कहते हैं कि हे देवि ! कलियुग में मैं ही ब्राह्मण-रूप से मायावाद असत् शास्त्र को कहूँगा जो गुप्तरूप से बौद्ध कहा जाता है। जिस मायावाद शास्त्र में श्रुतिवाक्यों के विरुद्ध अर्थ को लोक-गर्हित दिखाते हुए स्वरूपतः छोड़ना प्रतिपादन किया गया है। सब कर्मों से जो परिभ्रष्ट हो अर्थात् कर्मों को छोड़ दे वह विकर्मस्थ कहा जाता है। मैं इस शास्त्र में जीव और ईश्वर की एकता प्रतिपादन करूँगा और मायावाद में ब्रह्म परस्वरूप को मैं समस्तगुणों से रहित बताऊँगा।

इस कलियुग में सम्पूर्ण जगत् को मोहने के लिए वेद के अर्थों के समान अवैदिक मायावाद महाशास्त्र को हे देवि ! जगत् के नाश का कारण होने से मैं ही कहूँगा। असुरों को मोहने के लिए ही ये मत मेरे द्वारा कहे गये।

इस तरह हमें समझना चाहिये कि इन दुराग्रहियों का मत पाखण्ड के सिवा कुछ नहीं। अतः हमें ऐसे कराल कलि के प्रभाव में भगवान् द्वारा बताये गये सुदृढ़ मत का ही आश्रयण करना चाहिये तभी हमारा कल्याण होगा ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अन्वय :- **(अहं) आढ्यः अभिजनवान् अस्मि । मया सदृशः अन्यः कः अस्ति ? यक्ष्ये, दास्ये, मोदिष्ये इति अज्ञानविमोहिताः ।**

अर्थ :- मैं धनवान् (हूँ) कुलीन हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा-अज्ञान से मोहित लोग इस प्रकार (समझते हैं)

व्याख्या :- भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को निषेध वाक्य ही बतला रहे हैं ।

भगवान् कहते हैं कि आसुरसर्गवाले कहते हैं कि मैं स्वयं अर्थात् अपनी शक्ति द्वारा ही महान् धनी हुआ हूँ तथा अपने आप उत्तम कुल में जन्म लिया हूँ । इस संसार में मेरे समान दूसरा कौन ऐसा है जिसको अपने सामर्थ्य से सब वैभव प्राप्त हुआ हो ? दैवी सर्ग वाले धन, बल, विद्या पाकर भी सब ईश्वर का दिया हुआ ही समझते हैं, पर ये दुराग्रही अपने को ही सब कुछ मानते हैं । ये अन्यायी यह भी कहते हैं कि मैं अपने सामर्थ्य से ही यज्ञ करूँगा अर्थात् सेनादि यज्ञ के द्वारा अपने शत्रुओं को ठीक करके छोड़ूँगा यही उनकी घोषणा रहती है । वे कहते हैं कि दान करूँगा तथा यज्ञादि धार्मिक कार्यों में नहीं ? बल्कि नटादि को ही दान करूँगा और मादक वस्तुओं का सेवन करके मैं आनन्द लुटूँगा । इस तरह के अज्ञान-विमोहित मनुष्य ऐसा समझते हैं कि ईश्वर की कृपा नाम की कोई वस्तु ही नहीं । हम सब कुछ अपने सामर्थ्य से कर सकते हैं । ऐसी ही उनकी धारणा रहती है-जैसे शराब आदि के नशे में मस्त मनुष्य अकबक बोलता है, वैसे ही ये अज्ञानी भी जो मन में आता है वही कह देते हैं, उन्हें उचित अनुचित का ज्ञान नहीं रह जाता ।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! आसुर सर्गवालों के धन, बल, विद्या थोड़े ही दिनों में समाप्त हो जाते हैं - जैसे अजेय शक्तिवाला हिरण्यकशिपु चीलर की तरह मारा गया, अतः तुम भूलकर भी इनके आचरणों को ग्रहण न करना । तुम मेरी आज्ञा यानी श्रुति-स्मृति के अनुसार ही आचरण करना ।।१५।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६।।

अन्वय :- **अनेकचित्तविभ्रान्ताः मोहजालसमावृताः कामभोगेषु प्रसक्ताः अशुचौ नरके पतन्ति ।**

अर्थ :- अनेक सङ्कल्पों से जिनका चित्त अत्यन्त भ्रमित है, मोह जाल से घिरे हुए, भोगों के उपभोग में अत्यन्त आसक्त (आसुर लोग) अपवित्र नरक में गिरते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि आसुर सर्ग वाले ईश्वर और प्रारब्ध को नहीं मानते तथा अपने चित्त में अनेक प्रकार के संकल्प करते रहते हैं - जैसे यह जमीन ले ली, वह जमीन भी अपने सामर्थ्य से ले लूँगा, उसका धन तो छीन ही लिया, अब मैं अमुक का भी धन स्वयं प्राप्त कर लूँगा । इस तरह नाना प्रकार के संकल्पों द्वारा उनका मन भ्रमित होता रहता है । यहाँ मन को ही चित्त कहा गया है । वे सभी कार्यों में अपना सामर्थ्य ही सब कुछ समझते हैं । वे यह नहीं समझते कि प्रारब्धवश वे ही मर गये तो उनका धन कोई तीसरा ही ले लेगा, परन्तु मोह जाल में उनका रोम-रोम फँसा रहता है । वे अज्ञानी यह नहीं समझते कि यह सुर-दुर्लभ शरीर इस मोह-जाल से निकलने के लिए ही मिला है ।

ये आसुर सर्ग वाले भोगों में आसक्त होकर ही खेती, व्यापार नौकरी करते हैं । वे विषय के भोग में अति आसक्त होकर बीच में ही मर जाते हैं, क्योंकि वे नहीं समझते कि मैथुन कम करने से आयु बढ़ती है, अतः आसुर सर्ग वाले उपभोगों में अति आसक्त होने के कारण ही बीच आयु में मरकर घोर नरक को पाते हैं ।

गीता में अर्जुन ने भी कहा है कि -

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥१।४४।

जैसे धुन्धकारी ब्राह्मण जो वेश्या से ही आसक्त था और अपनी शादी-सुदा स्त्री का सब गहना बेचकर उसी वेश्या को दे दिया, जिस आसक्ति के कारण उसे अति निम्न प्रेतयोनि में जाना पड़ा ।

इस तरह आसुर सर्ग वाले घोर नरक में गिरते हैं ।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

अन्वय :- **आत्मसम्भाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ते दम्भेन अविधिपूर्वकम् नामयज्ञैः यजन्ते ।**

अर्थ :- अपने आप ही बड़ा मानने वाले, कुछ भी न करनेवाले (स्तब्ध यानी अक्खड़) धन मान के मद में चूर वे दम्भसहित बिना विधि के नाममात्र का यज्ञ करते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में आसुर सर्ग वालों का चिह्न बतला रहे हैं, जिससे अर्जुन उनका अनुचर न बन सके । भगवान् कहते हैं कि आसुर सर्ग वाले स्वयं ही अपने को महान् मानते हैं, अर्थात् अपना गुणगान वे खुद करते हुए कहते हैं, कि यह धर्मशाला बनाया, वह स्कूल बनाया आदि तरह-तरह की अपनी प्रशंसा करते रहते हैं । कुछ न करते हुए भी वे अपने को परिपूर्ण मानने वाले होते हैं । वाणी से जो प्रशंसा की जाती है, उसे मान कहते हैं । वे दुराचारी धन, विद्या एवं कुल के अभिमान से उत्पन्न मद के कारण उन्मत्त अर्थात् पागल जैसा हो जाते हैं । ऐसे आसुर सर्ग वाले अपनी ख्याति के लिए शास्त्र से विपरीत यज्ञ करते हैं । ख्याति के लिए जो यज्ञ किया जाता है, उसे दम्भ कहते हैं । अर्थात् अपने पापों को छिपाने के लिए ही ये दुराचारी कहते हैं कि 'मैं यज्ञ करनेवाला हूँ' जिससे यह बात आम जनता में फैल जाय कि वे यज्ञ कर रहे हैं पर वे अन्यायी तो शास्त्रों के विपरीत यज्ञ किया करते हैं ।

शास्त्र-विधि से विपरीत यज्ञ यहाँ उपलक्षण मात्र है । भगवान् ने आगे गीता में बताया है -

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१७।१३।

इस तरह से दुराग्रही तामस यज्ञ ही किया करते हैं । श्रीरामायण में लिखा गया है कि - **'विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ।** (रामायण, बाल-काण्ड)

जैसे मेघनाद ने यज्ञ किया पर तामसी यज्ञ ही किया । यही कारण था कि वह मारा गय ।

भगवान् कह रहे हैं कि अतः मेरे प्रपन्न अर्जुन, तुम दैवीसर्ग वाले हो । भूलकर भी कभी इन आचरणों को अपने में न लाना । इस तरह भगवान् हमें भी अर्जुन के व्याज से इनके आचरणों का त्याग करने का ही आदेश दे रहे हैं ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अन्वय :- **अहंकारम् बलम् दर्पम् कामम् च क्रोधम् संश्रिताः आत्मपरदेहेषु माम् अभ्यसूयकाः प्रद्विषन्तः ।**

अर्थ :- अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का आश्रय लेने वाले (ऐसे लोग) अपने तथा दूसरे के शरीर में अवस्थित मुझ (अन्तर्यामी) के निन्दक (मुझसे) द्वेष करते हैं ।

व्याख्या :- भगवान् यहाँ भी शास्त्र से वर्जित आचरण की ही विवेचना कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि आसुर सर्ग वाले कहते हैं कि मैं स्वयं अपने सामर्थ्य से ही सब कुछ करता हूँ, दूसरों की मुझे अपेक्षा नहीं है, ऐसा अहंकार लेकर ही सब पूजा-पाठादि भी करते हैं । वे कहते हैं कि सब कुछ करने में मेरा ही बल पर्याप्त है, प्रारब्ध हेतु नहीं । इस तरह बल का आश्रय लेकर तथा मेरे समान संसार में कोई नहीं है, ऐसा दर्प लेकर एवं वे यह भी कहते हैं कि मेरी इच्छा मात्र से ही मुझे सब कुछ मिल जायेगा अर्थात् उनका कहना है कि मेरी इच्छा चाँद की हो जायेगी तो उसे भी हाथ पर ले लूँगा । इस तरह असम्भव वस्तु की इच्छा कर काम का आश्रय लेकर विषय-भोग के लिए सब करते हैं । यही नहीं वे कहते हैं कि अनिष्ट करने वाले जो-जो हैं उन सबों को मैं मार डालूँगा, इस प्रकार क्रोध का आश्रय लेकर ही कर्म करते हैं - जैसे पूजा-पाठ भी करते रहेंगे तो उस समय भी मन में सोचते रहते हैं कि अमुक को ऐसे मारूँगा, अमुक को ऐसे लूटूँगा आदि ।

इस प्रकार इन सबों का आश्रय लेने वाले मनुष्य अपने देह में तथा दूसरों के देह में स्थित सबके प्रेरक मुझ पुरुषोत्तम परमात्मा को नहीं जानते, जिसे मैंने पीछे भी बताया है - **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो'** ।१५।१५।। वे इसे न समझकर हमारी निन्दा करने वाले तथा मेरे प्रति द्वेष रखने वाले यानी कुत्सित उपायों के द्वारा मेरे अस्तित्व में नाना तरह से दोषारोपण करके मुझको न सह सकने वाले हो जाते हैं । तात्पर्य यह कि अहंकार, बल, दर्पादि से ही समस्त यज्ञादि कर्मों को करते हैं । अतः हे अर्जुन ! तुम इनकी नकल न करना और व्यास, सनक आदि महात्माओं के वाक्यानुसार ही आचरण करना तभी तुम्हारा कल्याण होगा ।।१८।।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

अन्वय :- **तान् द्विषतः क्रूरान् नराधमान् अहं संसारेषु अजस्रम् आसुरीषु योनिषु एव क्षिपामि ।**

अर्थ :- उन (मुझ से) द्वेष करने वाले क्रूर अशुभ नराधमों को मैं संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालता रहता हूँ ।

व्याख्या :- परम कारुणिक श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् इस श्लोक में अर्जुन को यह समझा रहे हैं कि आसुर सर्ग वालों की कैसी गति होती है ? भगवान् कहते हैं कि इस तरह जो मुझसे एवं मेरे भक्तों से द्वेष करते हैं, उन अशुचि पापी नरों को मैं निरन्तर जन्म, जरा और मरण रूप से चक्रवत् परिवर्तित होने के लिए संसार में उत्पन्न करता रहता हूँ । वहाँ भी उन्हें आसुरी योनियों में ही जन्माता हूँ, अर्थात् अपनी अनुकूलता के विरोधी योनियों में डालता हूँ-जैसे वे कुत्ता भी होंगे

तो कटहवा कुत्ता ही होंगे या कीट-पतंग होंगे तो प्रसादादि में पड़कर आसुरी आचरण ही करेंगे ।

भगवान् कहते हैं कि उन दुराग्रहियों को मैं आसुर योनि में जन्म देकर उनमें आसुरी बुद्धि भी उत्पन्न कर देता हूँ जिससे आसुरी आचरण कर फिर वे आसुर योनियों में ही जन्म लें - जैसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु बार-बार असुर होते रहे । अत: हे अर्जुन ! तुम सदा सावधान रहना और इनके स्वभाव को स्वप्न में भी ग्रहण न करना । भगवान् अर्जुन के व्याज से हमलोगों को भी यह उपदेश दे रहे हैं कि किसी के संग से या अन्य दोष से तुझमें ऐसा अवगुण आ भी गया हो तो उसे हटाने का प्रयास करना ।।१९।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।२०।।

अन्वय :- **कौन्तेय ! आसुरीम् योनिम् आपन्ना: मूढा: माम् अप्राप्य जन्मनि जन्मनि तत: अधमाम् गतिम् एव यान्ति ।**

अर्थ :- हे कुन्तीनन्दन ! आसुरी योनि को प्राप्त हुए वे मूढ़ लोग मुझको न पाकर जन्म जन्म में उससे भी निम्न गति को (यानी उत्तरोत्तर अधमगति को) ही प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या :- कृष्ण भगवान् इस श्लोक में अर्जुन के ननिहाल में रहने के कारण भारतीय परम्परा की याद दिलाने के लिए,ही उसे कुन्तीनन्दन कहकर सम्बोधित कर रहे हैं । विपरीत ज्ञान के आचरण करने वाले को विमूढ कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि हे कुन्तीनन्दन ! असुरसर्ग वाले मेरी अनुकूलता के विरोधी जन्मों को पाकर वे फिर भी प्रत्येक जन्म में मोहित होकर अर्थात् मुझसे विपरीत ज्ञान वाले होकर और मुझको न पाकर, तात्पर्य यह कि वे नहीं जानते हैं कि सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर वासुदेव मैं ही हूँ और इस ज्ञान को न पाकर पूर्व-पूर्व जन्मों की अपेक्षा और भी अधम गतियों को प्राप्त होते रहते हैं ।

वे अधम क्रमश: मनुष्य, पशु, पक्षी, क्रीमि, वृक्षादि योनियों को पाकर तामिस्त्र, कुम्भीपाक, रौरव नरक आदि में चलते जाते हैं । गंगा तट पर रहने वाला एक धनी यज्ञादि धार्मिक कार्यों की सदा निन्दा किया करता था । बुराई का प्रचार करना ही उसने अपना कर्तव्य बना लिया था । इस तरह वह भगवत्, भागवतों, आचार्यों की निन्दा करते हुए मरने के बाद अन्धतामिस्त्र नरक में गया । वहाँ जब दण्ड दिया जाने लागा तो उसने बहुत जोर से चिल्लाना शुरू किया । आवाज सुनकर संयमनि-नायक आये और बोले-

नरके पच्यमाने तु यमेन परिभाषित: ।
किं त्वया नार्चितो देव: केशव: क्लेशनाशन: ।। (पा. गी. श्लो. ३६)

अत: हे अर्जुन ! तुम्हारा कोई हित भी ऐसा आचरण करनेवाला हो तो उस आचरण को ग्रहण न करना जिससे कि तुम घोर नरक से बच सको ।।२०।।

त्रिविधं नरकस्यैतद्द्वारं नाशनमात्मन: ।
काम:क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।२१।।

अन्वय :- **कामः क्रोधः तथा लोभः एतत् त्रिविधं आत्मनः नाशनम् नरकस्य द्वारम्, तस्मात् एतत् त्रयम् त्यजेत् ।**

अर्थ :- काम, क्रोध और लोभ-यह त्रिविध यानी तीन प्रकार के आत्मा का नाश करने वाला नरक के द्वार हैं। इसलिये इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में आसुर स्वभाव के मूल कारण को बतला रहे हैं ।

जहाँ निमिष मात्र भी सुख न हो उसे नरक कहते हैं । यहाँ पर द्वार शब्द मार्ग या हेतु का वाचक है । भगवान् कहते हैं कि आसुर स्वभाव रूप जो कि नरक है उसके तीन मार्ग हैं । विषयों की प्राप्ति करने की उत्कट इच्छा को काम कहते हैं । मन में दूसरों के प्रति बुराई करने का विकार उत्पन्न होना ही क्रोध है । अपने से उपार्जित धन को देश-काल, पात्र देखकर न देना तथा अन्यायपूर्वक दूसरों का धन हड़प लेना ही लोभ है । ये काम, क्रोध तथा लोभ ही आत्मा का नाश करने वाले हैं । अतः काम, क्रोध तथा लोभ तीनों का त्याग कर देना चाहिए । यहाँ पर कुछ लोग सन्देह कर सकते हैं कि भगवान् ने पीछे कहा है **'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति'** २।१७ अर्थात् इस अत्मा अविनाशी का नाश नहीं होता पर यहाँ भगवान् कहते हैं कि काम, क्रोध, लोभ आत्मा का नाश करने वाले हैं, अतः यहाँ परस्पर विरोध होता है, पर नहीं । यहाँ पर नाश का अर्थ अधोगति समझना चाहिये अर्थात् ये तीनों जीवात्मा को अति घोर नरक देने वाले हैं ।।२१।।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।२२।।

अन्वय :- **कौन्तेय ! एतैः तमोद्वारैः विमुक्तः आत्मनः श्रेयः आचरति, ततो पराम् गतिम् याति ।**

अर्थ :- कुन्तीपुत्र अर्जुन ! इन तीनों तमोद्वार (यानी अज्ञान के द्वार) से विमुक्त मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है, उससे वह परम गति को प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में काम, क्रोध एवं लोभ इन द्वारों से छुटे हुए मनुष्य की गति बतला रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि हे पतिव्रता कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! मेरे विरोधी ज्ञान के कारणरूप जो काम, क्रोध तथा लोभ तीन द्वार हैं, इससे छुटा हुआ पुरुष आत्म-कल्याण का आचरण करता है । अर्थात् मैंने जो वेद शास्त्र द्वारा आज्ञा दी है उस ज्ञान को ग्रहण कर वह मेरी आज्ञा के अनुसार आचरण करता है । अतः प्रेयमार्ग को छोड़कर वह पुरुष श्रेयमार्ग को अपनाता है और परमगति को प्राप्त होता है, यानी वह पुरुष मुझको प्राप्त कर परमानन्द प्राप्त कर लेता है । जैसे-वाल्मीकि, प्रभृति । अतएव हे अर्जुन ! तुम मेरी आज्ञा का पालन कर मुझ परमानन्द को पाने का प्रयास करना ।।१०३।।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।२३।।

अन्वय :- **यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य कामकारतः वर्तते, सः न सिद्धिम् न सुखम् न पराम् गतिम् अवाप्नोति ।**

अर्थ :- जो शास्त्रविधि का त्याग करके अपनी इच्छा के अनुसार मनमाने ढंग से बरतता है (यानी आचरण करता है), वह न सिद्धि, न सुख न परम गति को प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में ऊपर कहे गये नरक का प्रधान कारण शास्त्र का अनादर करना ही बतला रहे हैं। यहाँ शास्त्र शब्द वेदवाचक है । शासन करने से वेद का नाम शास्त्र है और विधि का अर्थ अनुशासन है ।

भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष वेद तथा वेदार्थ-निर्णायक श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण में जो अनुष्ठान के विधान बताये गये हैं, उस अनुशासन का परित्याग करके अपने मनोनुकूल विपरीत आचरण करते हैं वे लोक की आठ सिद्धियों को नहीं पा सकते हैं । वे सिद्धियाँ निम्न हैं -

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥ (अम. को. स्व. व. ३५)

इतना ही नहीं, वे छः जो जीव के सुख हैं उसको भी वे लोग नहीं पाते हैं । प्राकृत छः सुख ये हैं ।

अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ (महाभारत)

भगवान् कहते हैं कि इस तरह मेरी आज्ञा के विपरीत अर्थात् शास्त्र से विपरीत अनुष्ठान करके आचरण करने वालों को अधोगति प्राप्त होती है । परमगति को वे प्राप्त नहीं करते । उनको भगवान् मिलेंगे तो कैसे ? यहाँ एक आख्यायिका उल्लेखनीय है । गोदावरी के तट पर श्रीरामावतार में शम्बूक नामक अन्त्यज माता-पिता को अपमान करके, बिना गुरु की दीक्षा के ही मनमाने ढंग से पंचकेश रखते हुए, तिलक लगाते हुए साधु के वेश में नीचे सिर करके तपस्या करने लगा । वह ऐसा ढोंग करते हुए, धूम्रपान, मद्यपान आदि भी करता था । उसकी तपस्या के पाप से अयोध्या के एक ब्राह्मण का पुत्र मर गया । वह ब्राह्मण मरे हुए बालक को भगवान् राम के सिंहासन के समीप रखते हुए बोला कि "न तो मैंने पाप किया और न तो मेरी पत्नी ने ही पाप किया तो यह बालक कैसे मरा ?" ऐसा कहते हुए ब्राह्मण भगवान् के चरणों पर गिर पड़ा । भगवान् गोदावरी के तट पर गये और शम्बूक को उन्होंने देखा । श्रीराम भगवान् साधु-वेषधारी मुनि को मारने के पहले संकुचित होकर कहते हैं :-

रे हस्तदक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य जीवातवे प्रहर शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य गात्रमसि दुर्वहगर्भखिन्न-सीतानिवासनपटो करुणा कुतस्ते ॥ (उ. रा. च. २।१०)

रामजी कहते हैं कि - रे दक्षिणहस्त ! मरे हुए ब्राह्मण के लड़के को जिलाने के लिए मुनि वेश वाले इस शूद्र पर कृपाण प्रहार करो । यदि कहो कि मुझे दया आती है तो तुम राम का हाथ हो, गर्भावस्था में सीता को जंगल में निकालने वाले तुझे दया कहाँ ? ऐसा कहकर भगवान् ने उस पाखंडी को कृपाण से मार दिया । मारते ही ब्राह्मण का लड़का जी उठा । यह कथा पद्म पुराण की है । भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुम शास्त्रानुसार ही आचरण करना तभी तुम्हारे अनुष्ठान का यथार्थ फल मिलेगा ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

अन्वय :- **तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ ते शास्त्रम् प्रमाणम्, इह शास्त्रविधानोक्तम् ज्ञात्वा कर्म कर्तुम् अर्हसि ।**

अर्थ :- इसलिये कार्य और अकार्य की व्यवस्था में तेरे लिए शास्त्र ही प्रमाण है । अत: तुझे यहाँ शास्त्र विधान में कहे हुए (तत्त्व) को समझकर कर्म करना चाहिये ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि ऐ अर्जुन ! कौन काम करने योग्य है और कौन काम नहीं करने योग्य है, इसका निर्णय वेद तथा वेदार्थ निर्णायक श्रुति, स्मृति, इतिहास पुराण ही करते हैं । अर्थात् इसमें जो विधान किया गया है; वही करने योग्य है तथा जो निषेध किया गया है वह नहीं करने योग्य है । जैसे-प्रतिदिन संध्या करना विधि वाक्य है और मद्यपानादि न करना निषेध वाक्य है । इस तरह धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणादि के द्वारा जो विधान में कहा गया है कि पुरुषोत्तम कौन हैं ? उनकी आराधना कैसे होगी ? उनकी प्राप्ति किन कर्मों को करने से होगी ? उस शास्त्र विधान से बतलाये हुए तत्त्व को तथा कर्मों को यथार्थ जानकर, न कम न अधिक, ठीक समझकर अर्जुन तुझे वैसा ही करना चाहिये । अर्थात् शास्त्र विधान में बतलाये गये विधि-वाक्य को ही ग्रहण करना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा ।

कर्म के विषय में 'मनुस्मृति' के १२वें अध्याय में लिखा है कि -

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्मवैदिकम् ॥८८॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते ।८९॥ (मनु. १२।८८-८६)

प्रवृत्त और निवृत्त दो प्रकार का वैदिक कर्म जानना चाहिये ॥८८॥

इस लोक में या परलोक में जो कामना से कर्म किया जाता है उसको प्रवृत्त कर्म कहते हैं और जो फल की कामना से रहित ज्ञानपूर्वक कर्म किया जाता है उसको निवृत्त कर्म कहते हैं ॥८६॥

और भविष्य-पुराण में लिखा है कि -

फलं विनाप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् ।
काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु ॥
नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्मणां फलम् ।
क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥
अनुत्पत्तिं तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते ।
नित्यां क्रियां तथा चान्य आनुषंगिकफलं विदुः ॥ (भवि. पु.)

बिना फल के नित्य कर्मों का अनुष्ठान निश्चय करके इच्छित है और अपने फल के लिए तथा दोषघात के लिए काम्य कर्मों का अनुष्ठान होता है तथा नैमित्तिक कर्म करने पर तीन प्रकार के फल होते हैं । कोई-कोई प्राप्त पाप का नाश करते हैं और अन्य लोग प्रत्यवाय की उत्पत्ति को नहीं मानते हैं तथा अन्य सब नित्यक्रिया और आनुषंगिक फल जानते हैं ।

गीता में भी भगवान् ने १८वें अध्याय के क्रमश: २३, २४ और २५ वें श्लोकों में बतलाया है कि कर्म तीन तरह के होते हैं । जो शास्त्र नियत कर्म कर्तापन के सम्बन्ध से रहित, बिना राग-द्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है वह सात्त्विक कर्म कहलाता है ।।२३।। जो कर्म फलाकाङ्क्षी पुरुष के द्वारा अहंकार के साथ और बहुत प्रयास से किया जाता है; वह कर्म राजस कर्म कहलाता है ।।२४।। अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष को न देखकर जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है ।।२५।।

चौबीस श्लोकों में इस अध्याय को समाप्त कर भगवान् हमें संकेत करके कह रहे हैं कि मैंने जो १३वें अध्याय में **'महाभूतानि...............'** आदि श्लोकों में बताया है कि यह शरीर चौबीस तत्त्वों से बना है । यह अति मलिन शरीर फिर कभी न मिलने पावे इसीलिए मैंने गीता के ही १०वें अध्याय में **'गायत्री छन्दसामहम्'** ।१०।३५। चौबीस अक्षर की गायत्री को बतलाया है । इस गायत्री के द्वारा हमारी नित्य आराधना करना, तब तुम जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर फिर से इस मलवाही शरीर को नहीं पा सकते तथा भगवान् यह भी बता रहे हैं कि चौबीस अक्षर की गायत्री के एक-एक अक्षर की व्याख्या एक-एक हजार श्लोकों में करने वाले चौबीस हजार श्लोकों में वर्णित इस मन्त्र की व्याख्या जो श्री वाल्मीकि मुनिने श्रीरामायण में की है उस रामायण के अर्थ को श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के यहाँ जाकर परिशीलन करना तब इस मलास्पद शरीर से मुक्त होगे ।।२४।।

।। दैवासुरसंम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त ।।

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

॥ अर्जुन उवाच ॥

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच - कृष्ण ! ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य श्रद्धया अन्विताः यजन्ते तेषां निष्ठा तु का ? सत्त्वम् आहो रजः तमः ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे श्रीकृष्ण जो शास्त्रविधि को छोड़कर श्रद्धा से युक्त हुए यज्ञादिकर्म करते हैं (यानी देवताओं का पूजन करते हैं), उनकी निष्ठा फिर क्या है ? सात्त्विक है अथवा राजसी, (या) तामसी ।'

व्याख्या :- अर्जुन छल-छिद्र छोड़ कर योग्य शिष्य की भाँति भगवान् श्रीकृष्ण से प्रश्न करता है । भगवान् पूर्व के सोलहवें अध्याय में बता चुके हैं कि -

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ (१६/२३)

जो शास्त्र नाम वेद-विधि का त्याग करके इच्छानुसार बरतता है वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न परम गति को ही ।' यहाँ शास्त्र शब्द से वेद ही बतलाये गये हैं । शासन करने के कारण वेद को शास्त्र कहा जाता है । विधि नाम अनुशासन का है । 'शिष्यते अनेन' इसी अर्थ में शास्त्र शब्द व्युत्पन्न है । अर्जुन इस आशय को न समझ कर पूछता है कि हे प्रभो ! जो मनुष्य शास्त्र-विधि का त्याग करके श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओं की आराधना करते हैं उनकी स्थिति सात्त्विकी है या राजसी है या तामसी है ?

इस श्लोक में निष्ठा शब्द स्थिति का पर्याय है । जिसमें स्थित हुआ (ठहरा) जाय उसे स्थिति कहते हैं । इसके अनुसार सत्त्वादि गुण ही निष्ठा शब्द वाच्य हैं । अर्जुन के प्रश्न का अभिप्राय यह है कि श्रद्धायुक्त जो वेद की विधि को नहीं जानते और उसके विपरीत व्यवहार करते हैं ऐसे लोगों की स्थिति कौन-सी मानी जायगी ?

यहाँ पर अर्जुन भगवान् को 'कृष्ण' कह कर अपने को निर्मल बनाता है । वह पहले कह चुका है **'पापमेवाश्रयेत्'** (१।३६) पाप का ही आश्रय लिया हूँ । मैं कुन्ती जैसी माता से उत्पन्न होकर कुरुक्षेत्र जैसे तीर्थ-स्थल में भीष्म पितामह, गुरु आदि से संग्राम करने आया वह मेरा पाप 'कृष्ण' नाम लेने से ही छूटेगा । पाण्डव-गीता में कहा भी गया है -

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।

भस्मीभवन्ति तस्याशु महापातककोटयः ॥ (५४)

'कृष्ण' यह मङ्गल नाम जिसकी वाणी से निकलता है उसके करोड़ों महापातक तुरन्त ही नष्ट हो जाते हैं। बालघातिनी पूतना के भी कृष्ण नामोच्चारण मात्र से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। 'कर्षति इति कृष्ण:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनादि काल से जो माया जीवों को अपनी ओर खींच रही है उससे कृष्ण नाम लेने से भगवान् अपनी ओर खींच लेते हैं। जैसा कि वे स्वयं कहते हैं -

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (गी. ७।१४)

जो एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं ॥१॥

॥ श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच-देहिनाम् सा स्वभावजा श्रद्धा सात्त्विकी च राजसी च तामसी इति त्रिविधा एव भवति, ताम् शृणु ।**

अर्थ :- श्रीभगवान् बोले - प्राणियों की वह स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा, सात्त्विकी तथा राजसी और तामसी - ऐसे तीन प्रकार की ही होती है, उसको तुम सुनो ।

व्याख्या :- श्रीभगवान् बोले कि सभी प्राणियों की वह नैसर्गिक (स्वभावजन्य) श्रद्धा तीन प्रकार की होती है - सात्विक, राजस और तामस, सो तू इस श्रद्धा को सुनो अर्थात् वह श्रद्धा जिस स्वभाव से होती है उस स्वभाव को सुनो।

'अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा' इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है, उसका नाम श्रद्धा है। ज्ञान और सत्य जो ब्रह्म है उसकी प्राप्ति का साधन श्रद्धा है। जैसा कि श्रुति भी कहती है - 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु. १९।३०) श्रद्धा के द्वारा सत्य स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है तथा गीता में भगवान् कहते हैं 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' (४।३९) श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। मानस में भी कहा गया है 'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई' (७।८९।४) अपना-अपना जो असाधारण (विशेष) भाव है उसका नाम स्वभाव है, यानी प्राचीन वासनाओं के निमित्त होने वाली विभिन्न रुचि का नाम स्वभाव है।

अर्जुन के न पूछने पर भी गुरु-शिष्य सम्बन्ध के कारण भगवान् श्रद्धा के विषय में बतलाते हैं। 'देहिनाम्' इस बहुवचनान्त प्रयोग द्वारा बतलाया गया है कि जीव अनन्त (अनेक) हैं। संत तुलसीदासजी भी कहते हैं 'जीव अनेक एक श्रीकंता' (रा. मा. ७।७७।७)। देही और शरीरी पर्यायवाचक शब्द हैं। भगवान् ने गीता में बताया है कि - 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता: शरीरिण:' (२।१८)

शरीरधारी नित्य आत्मा के ये (कर्मानुसार प्राप्त होने वाले) शरीर अन्त वाले हैं। यह देह २४ तत्त्वों से बना है, जिसको भगवान् ने १३वें अध्याय में बतलाया है -

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा: ॥५॥
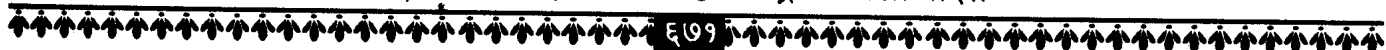
१-पृथ्वी, २-जल, ३-तेज, ४-वायु, ५-आकाश, ६-अहंकार, ७-बुद्धि, ८-प्रकृति, ९-श्रोत्र, १०-त्वचा, ११-चक्षु, १२-रसना, १३-घ्राण, १४-वाक्, १५-हाथ, १६-पैर, १७-गुदा, १८-उपस्थ, १९-मन, २०-शब्द, २१-स्पर्श, २२-रूप, २३-रस, २४-गन्ध । इन २४ तत्त्वों से देह बना है जिसमें रहने वाला २५ वाँ तत्त्व देही अविनाशी है । इस प्रकार देह वाले मनुष्यों के स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा तीन प्रकार की सात्त्विकी, राजसी और तामसी होती है । भगवान् कहते हैं कि इसको आगे मैं कहूँगा तुम सावधान होकर सुनो । इससे बतलाते हैं कि आचार्य-सन्निधि में अपनी इन्द्रियों को पूर्व व्यापार से हटाकर सावधानी से श्रवण करना चाहिए । 'चकार' से यह बतलाते हैं कि केवल सुनो ही नहीं वरन् उसके अनुसार आचरण भी करो, क्योंकि -

'श्रुतेन किं ? यो न च धर्ममाचरेत्'

यदि धर्म का आचरण नहीं किया गया तो केवल श्रवणमात्र से क्या लाभ ? ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

अन्वय :- **भारत ! सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति । अयम् पुरुषः श्रद्धामयः, य यच्छ्रद्धः सः एव सः ।**

अर्थ :- हे भारत ! अन्तःकरण के अनुरूप सबकी श्रद्धा होती है । यह पुरुष श्रद्धामय है, जो जिस श्रद्धावाला है, वह वही होता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि भारत ! सत्त्व (अन्तःकरण) के अनुरूप ही सबकी श्रद्धा हुआ करती है । यह पुरुष श्रद्धा के अनुसार परिणामवाला है, जो पुरुष जैसी श्रद्धा से युक्त होता है, वह वैसा ही होता है, यानी उस श्रद्धा के सदृश फल का भागी होता है ।

सत्त्व अन्तःकरण को कहते हैं । सभी पुरुषों की श्रद्धा अन्तःकरण के अनुरूप हुआ करती है और अन्तःकरण भोजन शुद्ध होने से शुद्ध होता है । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः (छा. उ. ७।२६।२) आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है । भगवान् कहते हैं कि अन्तःकरण जैसा होगा वैसी ही श्रद्धा होगी । 'सर्वस्य' शब्द से भगवान् सभी नर-नारियों, गृहस्थ, विरक्तादि सबों को निर्दिष्ट करते हैं । आगे भगवान् अर्जुन को समझाते हुये कहते हैं कि ये जो पुरुष हैं वे श्रद्धामय अर्थात् श्रद्धा के अनुसार हैं । जो जिस श्रद्धावाला है, वह वही है । जैसे 'मृण्मयोऽयंघटः' से मिट्टी का ही घट है, वैसे ही श्रद्धा का ही पुरुष है । तात्पर्य यह कि सात्त्विकी श्रद्धावाला सात्त्विकी पुरुष, राजसी श्रद्धा वाला राजसी पुरुष और तामसी श्रद्धा वाला तामसी पुरुष होता है । सात्त्विकी श्रद्धा भरत जी की थी जिन्होंने कन्दमूल, फल खाकर तपस्वी जीवन व्यतीत किया और भगवान् के आने में एक दिन बाकी रहने पर वे तड़फड़ाते हैं और अपार दुःख का अनुभव करते हैं । जैसा कि तुलसीदासजी ने कहा है -

रहेउ एक दिन अवधि अधारा । समुझत मन दुख भयउ अपारा ॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ । जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ॥

X X X

बीतें अवधि रहहिं जौ प्राना । अधम कवन जग मोहि समाना (रा. मा. ७।१)

इसीलिये श्रीभरतसूरि के लिये कहा गया-

भरत सरिस को राम सनेही (रा. मा. २।२१७।७)

राजसी श्रद्धा गालव की थी । उन्होंने विश्वामित्र से दुराग्रह करके दक्षिणा का आग्रह किया, पर माँगने पर पूर्ण न कर सके, जिससे महाकष्ट को उन्होंने झेला ।

तामसी श्रद्धा राजा नहुष की थी, जो सात्त्विक पदार्थ भी तामस (बासी) हो जाने पर खाते थे । शतक्रतु: होने के बाद वह स्वर्ग का राजा हो गया परन्तु तामसी श्रद्धा के कारण इन्द्र की पत्नी शची को भी अन्य वस्तुओं की ही तरह अपनी समझते हुये उसका पातिव्रत्य भंग करना चाहा । शची द्वारा अभूतपूर्व वाहन लाये जाने के लिए कहने पर दुर्बुद्धि से दरबार में आये सप्तर्षियों को ही वाहन बनने के लिये वचनबद्ध करा लिया । वाहन बने सप्तर्षियों में से विश्वामित्र को चरण से प्रहार कर 'सर्प-सर्प' ऐसा शीघ्र चलने के लिये उसने कहा जिससे क्रोधित हो विश्वामित्र ने सर्प हो जाने का शाप दे दिया । इस प्रकार तामसी श्रद्धा के कारण नहुष का पतन हुआ जैसा मानसकार भी कहते हैं -

हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस ॥ (रा. मा. २।६१)

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

अन्वय :- **सात्त्विकाः देवान् यजन्ते, राजसाः यक्षरक्षांसि च अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् यजन्ते ।**

अर्थ :- सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस मनुष्य यक्ष और राक्षसों को और दूसरे तामस लोग प्रेत और भूतों के समुदाय को पूजते हैं ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् सात्त्विक, राजस एवं तामस पुरुषों की पहचान बता रहे हैं जिससे उनकी सात्त्विकी, राजसी और तामसी श्रद्धा का ज्ञान हो सके । भगवान् कहते हैं कि सात्त्विक श्रद्धा से युक्त पुरुष देवताओं का पूजन करते हैं, राजसी श्रद्धा से युक्त मनुष्य यक्ष और राक्षसों का पूजन किया करते हैं और उनसे भिन्न तामसी श्रद्धा से युक्त मनुष्य प्रेतों और भूतों के समुदाय का पूजन किया करते हैं ।

जो सात्त्विक आहार करते हैं वे देवता की पूजा करते हैं । तीन देवता प्रधान हैं - अग्नि, वायु और सूर्य । जैसा कि वेद में कहा गया है- **'अग्नि र्देवता वातो देवता सूर्यो देवता'** (यजु. १४।२०) । गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि **'वसूनां पावकश्चास्मि' (१०।२३)** आठ वसुओं में अग्निदेव मैं हूँ ॥२३॥ **पवन पवतामस्मि (१०।३१)** गमन करने वाले में पवन देव मैं हूँ ॥३१॥ 'ज्योतिषां रविरंशुमान्' (१०।२१) ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य देव मैं हूँ ॥२१॥ इनकी पूजा करने वाले (अर्थात् अग्नि में हवन, प्राणायम तथा सूर्य को जल देना आदि कार्य करने वाले) सात्त्विकी श्रद्धा वाले हैं ।

राजसी पुरुष यक्षों और राक्षसों की पूजा किया करते हैं - जैसे कुबेर और राहु आदि की । भगवान् ने दसवें

अध्याय में कहा है 'वित्तेशो यक्षरक्षसाम्' (१०।२३) यक्ष और राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर मैं हूँ ।।२३।। सिंहिकापुत्र राहु राक्षस है । तामसी श्रद्धा वाले पुरुष भूत (अर्थात् जीव जैसे कुत्ते, मुर्गे आदि) प्रेत (अर्थात् वामत, ब्रह्म, राक्षस आदि) की पूजा करते हैं, परन्तु इन सबों का पूजन का फल नाशवान् है । जैसा कि सातवें अध्याय में इसे समझाते हुये भगवान् कह चुके हैं -

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। (७।२१)

जो-जो भक्त जिस-जिस तनु (देवतारूप मेरे शरीर) को श्रद्धा के साथ पूजना चाहता है, उस-उसकी उस श्रद्धा को मैं ही अचल-(स्थिर) कर देता हूँ ।।२१।। तथा 'अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्' (७।२३) परन्तु उन अल्प बुद्धिवालों को वह फल अन्तवाला होता है ।।२३।। भगवान् बतलाते हैं कि यद्यपि इन सभी फलों को मैं ही देता हूँ । जैसे राजा द्रुपद ने अग्नि की पूजा की जिससे उन्हें द्रौपदी जैसी सन्तान प्राप्त हुई परन्तु द्रौपदी के द्वारा धन-जन का संहार हुआ । दिति देवी ने वायु देवता की पूजा की । मारुत को पेट में रखा लेकिन उससे ४६ वायु का आविर्भाव हुआ तथा वे भी इन्द्र के तरफ हो गये । शत्राजीत ने सूर्य की पूजा की और मणि प्राप्त कर ली, परन्तु इसी कारण उसका भाई मारा गया और भगवान् श्रीकृष्ण को भी कलंक लगा । देवता लोग पूजा भी लेते हैं और काम, क्रोध, लोभादि के आक्रमण पर शरीर रूपी घर के कपाट भी खोल देते हैं । तुलसीदासजी भी कहते हैं -

इंद्रीं द्वार झरोखा नाना । तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना ।।
आवत देखहिं विषय बयारी । ते हठि देहिं कपाट उघारी ।। (रा. मा. ७।११७।११-१२)

इसलिये 'चकार' से भगवान् यह समझाते हैं कि केवल देवताओं की ही पूजा न करो, भगवान् की भी पूजा करो, क्योंकि उन्होंने स्वयं गीता में कहा है -

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।। (८।१६)

अर्जुन ! ब्रह्मभुवन से लेकर सभी लोक पुनरावृत्तिशील (नाशवान्) हैं । कुन्तीपुत्र ! मुझे पा लेने के बाद पुनः जन्म नहीं होता । भगवान् की पूजा से अविनाशी फल मिलता है और दुःख का अत्यन्ताभाव हो जाता है । शबरी ने शास्त्रीय विधान से भगवान् राम की पूजा की । पानी न देकर फल ही देती है जिससे उसके दुःख का अत्यन्ताभाव हो गया । श्रीवाल्मीकि जी ने कहा है कि शबर्यापूजितः सम्यक् (प्रथम सर्ग ५८) शबरी ने भली-भाँति पूजा की ।

भूतों को जो पूजते हैं वे भूत को प्राप्त होते हैं जैसा भगवान् ने गीता में ही कहा है-भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् (६।२५) भूतों को पूजने वाले भूतों को और मेरे पूजक मुझको प्राप्त होते हैं ।।२५।।

इसलिये देवताओं की पूजा करते हुये भगवान् की भी पूजा कर अविनाशी फल प्राप्त करना चाहिए जिससे लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त हों ।।४।।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

(यह युग्मक श्लोक है, अतः आगे के श्लोक से 'तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्' पद लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- **ये जनाः अशास्त्रविहितं घोरम् तपः तप्यन्ते, दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।**

अर्थ :- जो लोग शास्त्र-विधि से रहित घोर (यानी अत्यंत कठिन) तप तपते हैं, (वे) दम्भ और अहंकार से युक्त, काम और राग से बलात् (हठात्) फँसे हुए हैं या उनसे युक्त हैं, (उन्हें आसुरी निश्चयवाला जानो ।)

व्याख्या :- वेद-विधि से रहित दान, तप और ज्ञान आदि मेरी आज्ञा के विपरीत हैं । अतः उनमें लेशमात्र सुख नहीं है, प्रत्युत उनमें अनर्थ ही है, इस हृदय में रखे हुए अभिप्राय को प्रकट करते हुये भगवान् कहते हैं -

वेदों ने जिस प्रकार की तपस्या का विधान नहीं किया है ऐसी तपस्या को घोर तप कहते हैं । ऐसी तपस्या दूसरों को दुःख देने के लिये हिंसात्मक तपस्या होती है । ऐसी तपस्या करने वाले तथा अहंकार, पाखण्ड, आसक्ति एवं बलाभिमान युक्त जो तपस्या करते हैं उन्हें आसुरी निश्चयवाले जानो ।

भगवान् ने गीता के १६वें अध्याय के आदि में दैवी-सम्पदा के वर्णन में तप का वर्णन किया है-'दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्' (१६।१) तथा आगे १८ वें अध्याय में वे बताते हैं-'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८।५) 'यज्ञ, दान और तप तीनों बुद्धिमानों को भी पवित्र करने वाले हैं' ।५। भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्म की योग्यता उत्पन्न करने वाले कृच्छ्र चान्द्रायण तथा द्वादशी उपवासादि व्रतों द्वारा शरीर सुखाने का नाम तप है । परन्तु यहाँ वेद की विधि से रहित तपस्या को आसुरी तपस्या कहते हैं । यहाँ शास्त्र शब्द से वेद का तात्पर्य है । क्योंकि 'शासनात् शास्त्रम्' शासन करने के कारण वेद को शास्त्र कहते हैं । इसलिये पाण्डव-गीता में कहा गया है -

'न वेदाच्च परं शास्त्रम्' (पा. गी. ६८)

वेद से बढ़कर शासन करने वाला कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है । वेद की विधि का उल्लंघन कर वृकासुर ने तपस्या की । उसने श्रीपार्वती के सौन्दर्य, लावण्य, माधुर्य से मुग्ध होकर उन्हें प्राप्त करने की इच्छा से महा अनशन किया । शिव के मारने की हिंसात्मक घोर तपस्या की तथा हड्डी में प्राण है, इस बल का अहंकार भी उसे था । इसके द्वारा उसने आशुतोष से - 'जिसके मस्तक पर हाथ रख दूँगा वह भस्म हो जाय'-यह वरदान भी प्राप्त कर लिया, परन्तु फल प्राप्त करके भी अन्त में स्वयं नष्ट हो गया तथा उसके लोक-परलोक दोनों बिगड़ गये । इसीलिये वेद की विधि का उल्लंघन कर तपस्या करना कल्याणकारी नहीं होता है ॥५॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

(युग्मक श्लोक है । पूर्व के श्लोक के पूर्वार्द्ध को लेकर अर्थ करना अपेक्षित है)

अन्वय :- **शरीरस्थम् भूतग्रामम् च एव अन्तः शरीरस्थम् माम् कर्शयन्तः तान् अचेतसः आसुरनिश्चयान् विद्धि ।**

अर्थ :- शरीर में स्थित भूत-समूह को और वैसे ही अन्तःशरीरस्थ मुझे (यानी मेरे अंशरूपजीव) को कष्ट पहुँचाते हैं, उनको (शास्त्रविधिरहित घनघोर तप करने वालों को), तुम आसुर निश्चय वाला जानो ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि पिछले श्लोक में वर्णित जो अज्ञानी जीव शरीरोपदानभूत पञ्चभूतों के समुदाय को कृश करते हुये शरीर के भीतर स्थित मेरे अंश रूपी जीव को भी कष्ट पहुँचाते हुए वेद-विधि से रहित तपस्या करते हैं या यज्ञादि कर्म करते हैं, उनको तू आसुरी निश्चय से युक्त जान । इस श्लोक में 'भूत' शब्द से 'पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशपंचकं भूतपदवाच्यम्' इस सूक्ति के अनुसार 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच कहे जाते हैं । गीता के 'नवद्वारे पुरे देही' (५।१३) के अनुसार यह नौ द्वार वाला देह ही ग्राम है । यह ग्राम २४ तत्त्वों से बना है जिसे मैं इस अध्याय के दूसरे श्लोक की व्याख्या में कह चुका हूँ । इस ग्राम में स्थित आत्मा को भी कष्ट देते हैं, वेद-विपरीत प्रक्रिया के द्वारा किसी को कष्ट देने के लिये तपस्या यज्ञ आदि कार्यों को करते हैं, ऐसे जीवों के निश्चय को आसुर निश्चय जानो ।

'आसुरनिश्चयान्' कहकर भगवान् यह बतलाते हैं कि असुर उन जीवों को कहा जाता है जो मेरी आज्ञाभूत श्रुति-स्मृति के विपरीत आचरण करते हैं और मेरी आज्ञा के विपरीत आचरण करने वाले जीवों का निश्चय आसुर निश्चय है, ऐसे जीवों को जीवन में केवल कष्ट ही मिलता है । इनके लिये भगवान् कह चुके हैं कि 'निबन्धायासुरी मता' (१६।५) जिसकी आसुरी मति होती है, वे निश्चय करके जन्म-मरण के बन्धन में पड़े रहते हैं और 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' (१६।१६) वे घोर नरक में गिरते हैं । ।।१६।।

रावण ने अशास्त्र-विहित तपस्या की । उसकी कामना थी कि हमें कोई न मारे, हम सबको मारें । उसने शरीर को घोर तप से सुखाया जिससे आत्मा को भी कृश किया । इसके परिणाम स्वरूप वह असुर हुआ और यद्यपि उसने शिव, ब्रह्मा से वर भी ले लिया लेकिन आसुरी मति होने के कारण वह जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा और पहले विश्वश्रवा के उच्च कुल में पैदा हुआ और मरने के बाद क्षत्रिय कुल में शिशुपाल के रूप से पैदा हुआ । सोने के गाँव के स्थान पर ईंट का गाँव, समुद्र के स्थान पर नद, तालाब मिला । पहले कैलाश को उठाया था सो पहाड़ का टुकड़ा भी नहीं उठाया ।

'चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्' चेष्टा का जो आश्रय हो उसे शरीर कहते हैं । जैसे राजा, प्रजा का रहन-सहन देखने के लिये राज्य में गुप्त रूप से घूमता है उसी प्रकार भगवान् शरीर में अन्तर्यामी रूप में रहते हैं । जिस प्रकार आज्ञा पालन न करने से माता-पिता बालक से दुःखी हो जाते हैं । उसी तरह 'पिताहमस्य जगतो माता' (९।१७) के अनुसार चराचर रूप जगत् के माता-पिता भगवान् हैं और 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' श्रुति-स्मृति ही भगवान् की आज्ञा है । इसलिये जो इस आज्ञा को न मानकर मनगढ़न्त तपस्या करते हैं-उनसे भगवान् असन्तोष का अनुभव करते हैं ।

उपर्युक्त प्रकार के आसुर भाव वाले निश्चय करके अपना सब नष्ट कर देते हैं और किसी की बात नहीं मानते । जैसे इस भाव वाला रावण बहुत लोगों, हनुमान, अंगद, विभीषण, जगज्जननी माता सीता द्वारा समझाया गया परन्तु किसी की न सुनकर उसने सब धन-जन संहार कर दिया । इसलिए शास्त्र-विरुद्ध तपस्या नहीं करनी चाहिए ।।६।।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

अन्वय :- **भारत ! आहारः अपि सर्वस्य त्रिविधः प्रियः भवति, तथा यज्ञः तपः दानम् तु तेषाम् इमम् भेदम् शृणु ।**

अर्थ :- हे भारत ! आहार भी सबको तीन प्रकार का प्रिय होता है (और) वैसे ही यज्ञ, दान और तप भी । इनके इस भेद को सुनो ।

व्याख्या :- सत्त्वगुण आदि की वृद्धि में आहार प्रधान कारण है, इसीलिए भगवान् आहार के पहले तीन भेद बताते हैं । जिस प्रकार श्रद्धा तीन प्रकार की होती है उसी प्रकार सभी प्राणियों को आहार भी सत्त्वादि तीन गुणों के सम्बन्ध के कारण प्रिय होता है । ऐसे ही यज्ञ, तप तथा दान भी तीन प्रकार के होते हैं । उनके इस भेद को तुम सुनो ।

भगवान् गीता में पहले ही कह चुके हैं कि किसी भी मानव में श्रद्धा अन्त:करण के ही अनुरूप होती है । जो जैसा भोजन करता है वैसा ही उसका अन्त:करण होता है । यह कहा भी गया है कि -

'जैसा खाये अन्न, वैसा बने मन ।'

उपनिषद् ग्रन्थ में भी कहा गया है -

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' । (छा. उ. ७।२६।२)
आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है ॥२॥

अन्यत्र उपनिषद् में ही कहा गया है - 'अन्नमयं हि सोम्य मनः । (छा. उ. ६।५।४)

हे सोम्य ! यह मन अन्नमय ही है ॥४॥ अन्न 'अद् भक्षणे' धातु से बना है । जो भोजन किया जाय उसे अन्न कहते हैं । अन्न भी चार प्रकार का होता है जैसा कि भगवान् भी बताते हैं - 'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' (१५।१४) चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ ।

भगवान् अर्जुन से कह चुके हैं कि समस्त नर-नारी में श्रद्धा स्वभाव के अनुसार होती है । सात्त्विक श्रद्धा सात्त्विक स्वभाव वाले के पास, राजस श्रद्धा राजस स्वभाव वाले के पास तथा तामस श्रद्धा तामस स्वभाव वाले के पास होती है । यह श्रद्धा (सात्त्विकी, राजसी और तामसी) आहार के अनुसार भी तीन प्रकार की होती है । सात्त्विक आहार वाले सात्त्विक श्रद्धा से युक्त, राजस आहार वाले राजस श्रद्धा से युक्त और तामस श्रद्धा वाले तामस श्रद्धा से युक्त होते हैं । आहार 'हृञ् हरणे' धातु से आङ् उपसर्ग लगाकर बना है, जिसका हरण अर्थ होता है परन्तु 'आँ' लग जाने से उसका अर्थ हरण न होकर भोजन हो जाता है । जैसेकि बताया गया है -

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
विहाराहारसंहारप्रतिहारप्रहारवत् ॥

उपसर्गों के सम्बन्ध से धातुओं का अर्थ बदल जाया करता है-जैसे हृञ् धातु में वि उपसर्ग लगने पर विहार बनता है, आङ् उपसर्ग लगने पर भोजन का वाचक आहार बनता है, सम् उपसर्ग लगने पर संहार बनता है, प्र उपसर्ग लगने पर प्रहार बनता है ।

यज्ञ का अर्थ है 'देवातोद्देशेन द्रव्यत्यागः यागः' देवता के उद्देश्य से जो वस्तुओं का त्याग किया जाता है उसको यज्ञ कहते हैं । भगवान् ने गीता के चौथे अध्याय के 'दैवमेवापरे यज्ञम्' इस २५वें श्लोक से लेकर तीसवें श्लोक तक १२ प्रकार के यज्ञ का वर्णन करते हुये कहा है, 'एवं बहुविधा यज्ञाः' (४।३२) इस प्रकार बहुत प्रकार के यज्ञ होते हैं ।।३२।। आगे भी कहा है -

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।। (गी. १८।५)

यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, बल्कि वे तो करने योग्य ही हैं (क्योंकि) यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को भी पवित्र करने वाले हैं । (१८।५)

यज्ञ भी तीन प्रकार के होते हैं - सात्त्विक, राजस और तामस ।

शास्त्रीय विधि के अनुसार उपवासादि द्वारा शरीर को सुखाना ही तप है । तप भी तीन प्रकार के होते हैं - सात्त्विक, राजस और तामस । न्याय से उपार्जित किया धन पर अपना स्वत्व न रखकर उसे दूसरे के अधीन कर देना ही दान कहा गया है । दान के भी तीन भेद हैं - सात्त्विक, राजस और तामस । इस प्रकार भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तुम मेरे द्वारा बताये हुए भेद को केवल सुनो ही नहीं बल्कि सुनकर मनन करो और उसे आचरण में लाओ । श्रुति भी कहती है - 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदा. ४।५।६) हे अर्जुन ! तुम श्रेयमार्गावलम्बी हो । इस प्रकार अर्जुन के व्याज से हम लोगों को भी भगवान् ने बताया कि किसी भी चीज को सुनो, मनन करो और तब आचरण में लाओ । बिना आचरण में लाये केवल सुनने मात्र से कल्याण नहीं होता ।

धर्म दो प्रकार का होता है - सामान्य धर्म और विशेष धर्म । सामान्य धर्म से विशेष धर्म अधिक बलवान होता है । सब धर्मों में परम धर्म भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । जैसा कि महात्मा लोग कहा करते हैं -

'ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ।। (महा. वन. ८८।२६)

जो वेद को जानने वाले ब्राह्मण हैं और जो अध्यात्म के जानने वाले पुरुष हैं वे महात्मा श्रीकृष्ण को सनातन धर्म रूप बतलाते हैं ।।२६।। गीता के १५ वें अध्याय के १५ वें श्लोक में भगवान् ने स्वयं बताया है -

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (१५।१५) सब वेदों में मैं ही जानने योग्य हूँ ।।१५।। इसलिए भगवान् ने बताया कि हे अर्जुन ! तुम सब सुनकर मुझमें ध्यान लगाओ ।

इसलिए हम लोगों को दिनचर्या बनाकर किसी अच्छे देवस्थान या गंगादि नदियों के किनारे कुछ समय निकाल कर मनोनिग्रह करके भगवान् का ध्यान करना चाहिये ॥७॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥

अन्वय :- **आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।**

अर्थ :- आयु, सत्त्व (ज्ञान), बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला, रसदार, चिकना, स्थिर (शरीर में जिसका सार बहुत काल तक रहे) चित्त को रमणीय लगने वाला आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होता है ।

व्याख्या :- आयु, सत्त्व, (ज्ञान) बल, नीरोगता, सुख तथा प्रसन्नता को बढ़ाने वाले मधुर रस से युक्त चिकने, स्थायी और चित्त को प्रसन्न रखने वाले आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं । सत्त्व-गुण सम्पन्न पुरुष सात्त्विक आहार करता है । वह हाथ पैर धोकर, मुँह साफ कर शुद्ध जल लेकर भोजनालय में जाता है । जलपात्र को दाहिने रखता है । इसके पश्चात् तुलसीदल डालकर भगवान् को निवेदित और प्रोक्षण किये हुए प्रसाद को पात्र में रखकर गोकर्णाकृति दक्षिण हाथ में जल को लेकर 'ॐ अमृतापस्तरणमसि' इस मन्त्र को पढ़कर आचमन करता है । ऐसा करते हुए धातृ फल के बराबर पाँच कवल ग्रास को अनामिका, मध्यमा और अंगुष्ठा में उठाकर १-'ॐ प्राणाय स्वाहा, २-ॐ अपानाय स्वाहा, ३-ॐ समानाय स्वाहा, ४-ॐ व्यानाय स्वाहा, ५-ॐ उदानाय स्वाहा, इन पाँच मंत्रों से पाँच आहुति मुख में देकर पुनः पूर्ववत् दक्षिण हाथ में जल लेकर 'ॐ अमृतापिधानमसि' इस मन्त्र को पढ़कर आचमन करता है । इसके बाद भोजन से दो हिस्सा पेट भरता है, एक हिस्सा जल के लिये और एक हिस्सा वायु के लिए खाली रखता है । जैसा कि कहा गया है -

'जठरं पूरयेदर्धमन्नैर्भागं जलेन तु ।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥

भक्त सूरदास ने भी इसी ओर संकेत करते हुए सूरसागर के तृतीय स्कन्ध में कहा है -

'अरु भोजन सो इहि विधि करै । आधौ उदर अन्न सौ भरै ॥
आधे मैं जल वायु समावै । तब तिहिं आलस कबहुँ न आवै ॥ (३।१३)

आहार के भेद में सात्त्विक आहार को बताते हुए भगवान् कहते हैं कि सात्त्विक आहार करने वालों के आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रेम विशेष रूप से बढ़ते हैं । 'अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्' जो मनोनुकूल मालूम हो उसे सुख कहते हैं । यह सुख भी तीन प्रकार का होता है - सात्त्विक सुख, राजस सुख, और तामस सुख ।

'रसनाग्राह्यो गुणो रसः' रसना जिस गुण को ग्रहण करती है उसे रस कहते हैं । यहाँ भगवान् ने 'रस्याः' कहकर मधुर रस मिश्रित भोज्य पदार्थों को कहा है, क्योंकि आगे कटु, अम्ल आदि रस को राजस आहार में वर्णन किया है । 'स्निग्धाः' से माखन आदि चिकने पदार्थ, 'स्थिराः' से खोवा आदि तथा 'हृद्याः' से देखने में मन को प्रसन्न करने

वाले का, जैसे तस्मई आदि भोजन का वर्णन किया गया है ।

भगवान् उपर्युक्त गुणों से युक्त सात्त्विक आहार के लिये जीवों को उपदेश देते हैं । जैसा कि राजा रघु, वसिष्ठ और भगवान् राम ने किया, जिससे वे उपर्युक्त आयु आदि गुणों से युक्त हैं । गोस्वामी तुलसीदास भगवान् राम के विवाह के समय सात्त्विक विधि से भोजन करने का संकेत करते हुए कहते हैं -

सादर सबके पायँ पखारे । जथा जोगु पीढ़न्ह बैठारे । (रा.मा. १।३२७।३)

पंच कवल करि जेवन लागे .... ।

एहि विधि सबहीं भोजनु कीन्हा । आदर सहित आचमनु दीन्हा ॥ (रा. मा. १।३२८-१,८)

मानसकार सात्त्विक आहार की ओर संकेत करते हुए कहते हैं - 'सूपोदन, सुरभी सरपि, सुन्दर स्वादु पुनीत ।।' (१।३२८)

सात्त्विक आहार के अन्तर्गत आने वाले पदार्थ के बारे में बताया गया है -

'गोधूमशालियवशाष्टिकशोभनान्नं, क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।

शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं मुग्दादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्र पथ्यम् ॥

गेहूँ, चावल, (साठी का चावल) जौ, श्यामक, नीवार आदि, दूध, घी, खाँढ, मक्खन, मिश्री, मधु, सोंठ, परवल आदि सुन्दर साक, मूँगादि की दाल तथा निर्दोष जल ही योगियों का सात्त्विक भोजन है । इसलिये ममुक्षु पुरुषों को सात्त्विक आहार ही करना चाहिए ।।८।।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

अन्वय :- **कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः दुःखशोकामयप्रदाः आहाराः राजसस्य इष्टाः ।**

अर्थ :- कड़वे, खटे, नमकीन बहुत गर्म, तीखे, रूखे जलन पैदा करने वाले, दुःख, शोक और रोग पैदा करने वाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ।

व्याख्या :- कड़वे, खट्टे, अधिक नमक वाले, बहुत गर्म, अत्यन्त तीखे, रूखे और जलन पैदा करने वाले तथा जो दुःख शोक और रोग उत्पन्न करने वाले हैं, ऐसे आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ।

राजस पुरुष जैसे-तैसे हाथ-पैर धोने का नाम करके बैठते हैं, न तो वे आचमन करते हैं और न पञ्चकवल ही करते हैं । उन्हें जो भोजन प्रिय लगता है, वह इस प्रकार है -

१. कड़ुवा-जैसे करैले का साग, मसाला डाला हुआ अथवा तेल में भूजा हुआ ।

२. अम्ल यानी खट्टा-जैसे अमड़ा अथवा इमली की चटनी ।

३. लवण-नमकीन जो चटक रहे ।

४. उष्ण-अति गर्म पदार्थ-जैसे चाय आदि ।

५. तीक्ष्ण अर्थात् अत्यन्त शीतलता अथवा अत्यन्त तीक्ष्णता के कारण जिनका उपयोग दु:खकारक हो । जैसे-लाल मिर्च आदि ।

६. रूखा-शोषण करने वाला पदार्थ जैसे भूना चना आदि ।

७. विदाही-कलेजे पर दाह उत्पन्न करने वाले को विदाही कहते हैं । जैसे बनारसी राई, बाड़ा आदि ।

इस प्रकार के राजस पदार्थ खाने से दु:ख, शोक और व्याधि तीनों उत्पन्न होते हैं । 'प्रतिकूलता वेदनीयं दु:खम्' मन के प्रतिकूल जो होवे उसको दु:ख कहते हैं । दु:ख तीन प्रकार के होते हैं -

१. आध्यात्मिक-जिन दु:खों का सम्बन्ध शरीर से होता है जैसे ज्वर, सिर-दर्द आदि ।
२. आधिदैविक-पत्थर, बनौरी, बिजली गिरना आदि ।
३. आधिभौतिक-साँप काटना, बिच्छू मारना, कुत्ता काटना आदि ।

गोस्वामी तुलसीदास ने इसी को 'दैहिक दैविक भौतिक तापा' (रा. मा ७।२०।१)

राजस पुरुषों को ये तीनों प्रकार के दु:ख प्राप्त होते हैं । उन्हें शोक भी अधिक होता है तथा वे अत्यधिक रोते हैं । आमय नाम रोग का है । राजस पुरुषों को अनेक प्रकार के रोग भी होते हैं ।

राजस भोजन महाराज दशरथ ने किया जिससे उनका दु:ख भगवान् भी दूर न कर सके । वसिष्ठ आदि का सहवास पाने पर भी उनका शोक दूर नहीं हुआ । एक आख्यायिका उल्लेखनीय है-श्रीहर्ष कवि सात्त्विक भोजन करते थे । काश्मीर की एक सभा में हर्ष के पिता श्रीहरि कवि थे, उनको पराजय मिली जिसके शोक में उनका देहावसान हो गया । कवि श्रीहर्ष इसका ध्यान रखते हुए काश्मीर गये और वहाँ सात्त्विक भोजन करने के कारण इतना कड़ा संस्कृत उनके मुख से निकलता था कि काश्मीरी विद्वान् उसे नहीं समझ सकते थे जिससे वे बड़े परेशानी में पड़ गये । एक महात्मा की सलाह पर उन्होंने एक दिन राजसी भोजन बुद्धि कम करने के लिये किया, जिसमें तीन दिन का दही, भैंस की छिनुही, कुड़रु का साग और प्रथम पहर का बना हुआ भात आधी रात को खाये, जिससे उनकी बुद्धि घट गयी और फिर उन्होंने शास्त्रार्थ में सभी को पराजित किया । इस पर भी सात्त्विक भोजन करने के प्रभाव से दो कीर्ति करने वाले ग्रन्थ १-खण्डन-खण्डखाद्य ग्रन्थ और २-नैषध काव्य बनाये ।

इसलिये जो राजस भोजन करते हैं उनके धन, बल, विद्या का विकास नहीं होता । जैसा भगवान् ने स्वयं कहा है - 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:' (गीता १४।१८) राजस पुरुष मध्य में ही रहते हैं ।।१६।।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।१०।।

अन्वय :- यत् यातयामं गतरसम् पूति पर्युषितम् उच्छिष्टम् अमेध्यम् अपि भोजनम्, (तत्) तामसप्रियम् ।

अर्थ :- जो बहुत देर का रखा हुआ, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा एवं अमेध्य (अपवित्र) भी भोजन है (वह) तामस मनुष्य को प्रिय होता है ।

व्याख्या :- परमदयालु भगवान् तामस आहार से दूर रहने के लिए उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो बहुत देर का रखा हुआ, रसहीन, दुर्गन्धित, बासी, जूठा और (यज्ञ के लिए अयोग्य) आहार है वह तामस मनुष्यों को प्रिय होता है । जो खाया जाय उसे भोजन कहते हैं । अत: भोजन आहार का ही नाम है । बनने के बाद एक प्रहर बीत जाने पर बना हुआ सात्त्विक भोजन दाल, भात, सतपुतिया का साग आदि भी तामस हो जाता है । रस बदल जाने पर जैसे इक्षु का रस सात्त्विक है परन्तु कई दिन धूप में रखने के बाद उसका रस बदलकर सिरका हो जाता है । दुर्गन्धयुक्त को पूति कहते हैं । मालपुआ सात्त्विक है पर कई दिन रखे रहने से जब उसमें सूता निकलने लगे और दुर्गन्ध आ जाये तो वह तामस हो जाता है । समय अधिक बीत जाने का कारण जिसका रस बदल गया हो, उस बासी आहार को पर्युषित कहते हैं। जैसे गेहूँ की रोटी सात्त्विक है परन्तु बासी हो जाने पर तामस हो जाती है । तामसी लोगों को बासी भोजन ही प्रिय होता है । गुरु आदि के अतिरिक्त दूसरों के भोजन करने पर बचे हुए का नाम उच्छिष्ट है । यह भी तामस हो जाता है । केवल दीक्षा-गुरु और स्त्रियों को अपने पति का ही जूठा खाना चाहिए ।

भगवान् ने 'अमेध्य' इस व्यापक शब्द का प्रयोग किया है । अमेध्य अपवित्र को कहते हैं । इसके अन्तर्गत आने वाले पदार्थ कुछ कह देता हूँ ।

प्याज, लहसुन, गाजर, पृथ्वी से निकला हुआ छत्ता, अशुद्ध जगह में उत्पन्न हुआ साग अमेध्य पदार्थ हैं । जिस पशु का खुर न फटा हो उसका दुग्ध, खुर फटने वाली गाय, भैंस, बकरी के भी बियाने के बाद दस दिन के अन्दर का दुग्ध, लाल रंग के पेड़ों के गोंद, हिंगु और काटने से उत्पन्न ताल, खजूरादि के रस शेलुफल, नई बियाई गाय, भैंस, बकरी का फेनुस, जिस गाय का बछड़ा मर गया हो तथा जिसका बछड़ा पास में न हो उस गौ का दूध, ये सब अमेध्य पदार्थ हैं ।

अपने लिये रसोई बनाकर खाना और भोग लगाये बिना भोजन अमेध्य है । जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है -

भुञ्जते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् । (३।१३)

'जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं, वे पापी तो पाप ही खाते हैं' । संस्कार-रहित कन्या का दिया हुआ अन्न और रजस्वला समय में दिया हुआ अन्न तथा लोहे के पात्र से दिया हुआ अन्न अमेध्य हैं । एकादशी तथा सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण काल का अन्न, जननाशौच या मरणाशौच के समय का अन्न एवं प्रथम वर्षा का तालाब आदि में आया जल अमेध्य होते हैं । हाथ से मथा हुआ दही, हाथ से हाथ में दिया हुआ नमक, घी और जल, ताँबा के पात्र से संयुक्त गव्य, नमक मिला दूध अमेध्य होता है । कुत्ते, कौवा, सूअर, ऊँट, रजस्वला, सूतिका परपुरुष से रमण करने वाली स्त्रियों, शूद्रा के पतियों से देखा हुआ, छूआ हुआ तथा दिया हुआ और भोजन से बचा हुआ पदार्थ अमेध्य होता है । मांस, मदिरा, तालफल, बीड़ी, सिगरेट, गांजा, भांग, चरस, खैनी, पियनी, जर्दा, नश, मद्य मादक वस्तुएँ तथा शास्त्र में वर्जित सभी भोजन-सामग्री अमेध्य हैं ।

(श्रीवचनभूषण की चिंतामणि टीका के ३२१ वें सूत्र की व्याख्या में भी मैंने उल्लेख किया है)

कुम्भकर्ण अमेध्य पदार्थ खाता था इसलिये युद्ध में शीघ्र भाग गया। जैसा कि मानसकार कहते हैं कि वह रावण से अमेध्य पदार्थ मँगवा कर सेवन करता है -

रावन मागेउ कोटि घट, मद अरु महिष अनेक। (रा. मा. ६ दो. ६३)
महिष खाई करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना। (६।६३।१)

आधुनिक कवि ने भी अमेध्य पदार्थों को त्याग कर सात्त्विक पदार्थ सेवन करने पर बल देते हुए कहा है-

मांस, मद्य, अंडे, अशुचि, पापार्जित उच्छिष्ट।
अघस्पर्शित दुर्गन्ध युत, वर्धक व्याधि अरिष्ट॥
इन सबका कर त्याग, करो सात्त्विक आहार।
अर्पण कर प्रभु को प्रथम, मन में भर सत्कार॥
होगा सात्त्विक आहार तो मन भी होगा शुद्ध।
मन की शुद्धि बनायगी, जीवन को परिशुद्ध॥
जीवन की परिशुद्धि, होंगे शुचि सत्कर्म।
उनसे होगा मुक्तिपद विकसित मानव धर्म॥

इसलिये परम कारुणिक भगवान् ने तामस पदार्थों का वर्णन कर अर्जुन के व्याज से यह बताया कि सुर-दुर्लभ नर-नारी का देह पाकर हित चाहने वाले मनुष्यों को सत्त्वगुण को बढ़ाने के लिये सात्त्विक आहार का ही सेवन करना चाहिए ।।१०।।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अन्वय :- **अफलाकाङ्क्षिभिः यष्टव्यमेव इति मनः समाधाय विधिदृष्टः यः यज्ञः इज्यते सः सात्त्विकः।**

अर्थ :- फल की कामना से रहित पुरुषों के द्वारा 'यज्ञ करना ही कर्तव्य है' ऐसे भाव से मन का समाधान करके शास्त्र-विधि के अनुसार (यानी विधि को देख या समझ कर) जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है।

व्याख्या :- पहले जो भगवान् ने यज्ञ, दान और तप के तीन-तीन भेदों को कहा है उनमें यज्ञ के तीन भेदों-सात्त्विक, राजस और तामस में से यहाँ सात्त्विक यज्ञ को बताते हुए कहते हैं कि फल की चाहना न कर शास्त्रीय विधि के अनुसार तथा 'अवश्य यज्ञ करना चाहिए' इस भाव से मन को समाहित करके जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को सात्त्विक यज्ञ कहते हैं।

यज्-'देवपूजासंगतिकरणदानेषु' इस धातु से **"यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्"** (३।३।९०) इस पाणिनि

सूत्र से नङ् प्रत्यय होकर यज्ञ शब्द निष्पन्न होता है । भगवान् ने गीता के तृतीय अध्याय में कहा है -

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (३।१०)

प्रजापति (भगवान् नारायण) ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित मरीचि आदि को बनाकर आदेश दिया कि इस यज्ञ के द्वारा तुम लोग वृद्धि को और समस्त मनोरथ को पूर्ण करोगे । सोलहवें अध्याय के प्रथम श्लोक में दैवी सम्पदा के अन्तर्गत 'दानं दमश्च यज्ञश्च' करके यज्ञ को बताया । अठारहवें अध्याय के पाँचवें श्लोक में -

'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' कह कर यज्ञ को कभी त्याग न करने के लिए भगवान् ने कहा है । यहाँ भगवान् सात्त्विक यज्ञ करने का उपदेश देते हैं ।

'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः'

सुख दुःख की उपलब्धि का साधन जो इन्द्रिय हो उसे मन कहत हैं । यह संकल्प-विकल्प करने वाला है । मन को अन्तःकरण कहते हैं । इस मन को फल की चाहना से रहित करके किया जाने वाला यज्ञ सात्त्विक यज्ञ होता है । इससे धन, बल और विद्या का विकास होता है । ज्ञानी को भी यज्ञ करना चाहिए । विश्वामित्र महाज्ञानी थे । उन्होंने बिहार प्रदेशान्तर्गत (भोजपुर) गंगा के दक्षिण तट पर सिद्धाश्रम वन में ६ रात्रि का सात्त्विक यज्ञ किया जिससे धन, बल और विद्या का विकास हुआ तथा ताड़का सुबाहु के विघ्न डालने पर भी यज्ञ पूर्ण हुआ, जिसकी रक्षा स्वयं भगवान् राम ने की । महाराजा दिलीप ने अयोध्या में सात्त्विक यज्ञ किया जिसकी रक्षा रघु ने की और इन्द्र के घोड़ा चुराने पर भी यज्ञ पूर्ण हुआ । इसलिये सात्त्विक यज्ञ ही करना चाहिए जिसमें विघ्न भी आयेगा तौभी यज्ञ पूर्ण होगा और इससे ध न, बल और विद्या का उत्तरोत्तर विकास होगा ॥१॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यः ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

अन्वय :- **तु भरतश्रेष्ठ ! यत् फलम् अभिसन्धाय एव इज्यते च दम्भार्थम् अपि तम् यज्ञम् राजसम् विद्धि ।**

अर्थ :- किन्तु हे भरत-श्रेष्ठ ! जो फल की इच्छा लेकर ही यज्ञ किया जाता है और दम्भ (दिखावे) के लिए भी किया जाता है, उस यज्ञ को राजसी समझो ।

व्याख्या :- राजस यज्ञ का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि परन्तु भरतश्रेष्ठ ! जिसका फल यश है; जिसके भीतर दम्भ छिपा है ऐसा जो यज्ञ फलाभिसन्धि से युक्त पुरुषों द्वारा किया जाता है उस यज्ञ को तुम राजस जानो । यहाँ अर्जुन को भगवान् भरत-श्रेष्ठ सम्बोधन दे रहे हैं । सोमवंशीय क्षत्रिय राजा दुष्यनत की पत्नी शकुन्तला के गर्भ से 'भरत' नाम का पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ जो सिंह के बच्चों के साथ खेलते हुए दाँत गिना करता था । उसी वंश में कुरु पैदा हुए जिसके वंश में अर्जुन हुआ; इस श्रेष्ठ कुल में होने से भगवान् ने भरत-श्रेष्ठ का सम्बोधन दिया । दूसरे, जिसमें ज्ञान, वैराग्य और त्याग हो वही श्रेष्ठ कहा जाता है । अर्जुन में ये सभी बातें थी । वह दुर्योधन द्वारा अत्यन्त पीड़ित किये जाने पर

भी कहता है -

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च । (गीता १।३२)

'श्रीकृष्ण ! न मैं विजय चाहता हूँ और न राज्य और सुखों को ही ।' ।।३२।। वह श्रेय मार्ग की अभिलाषा करते हुए कहता है -

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता २।७)

जिससे हमारा स्वरूप उज्ज्वल हो ऐसे कल्याण के निश्चित साधन को मुझे बताइये । इसलिए भगवान् अर्जुन को भरतश्रेष्ठ सम्बोधन दे रहे हैं ।

धार्मिकता की प्रसिद्धि के लिये धर्मानुष्ठान करने का नाम 'दम्भ' है । भगवान् कहते हैं कि दम्भ और फल की इच्छा लेकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस यज्ञ कहलाता है । ऐसे यज्ञ का फल दुःख होता है । जैसा कि महाराज दशरथ ने किया । 'पुत्रेष्ट्या पुत्रकामो यजेत्' इस श्रुति के अनुसार पुत्र की इच्छा लेकर सरयू के उत्तर तट पर पवित्र भूमि में ऋषि शृंग जैसे आचार्य तथा जिसके चारों वेद के ज्ञाता, गौ, वेद विरोधियों को जड़ से नष्ट करने वाले चक्रवर्ती महाराज दशरथ यजमान थे परन्तु कमाना लेकर कराया गया यज्ञ राजस हुआ और इसका फल दुःखदायी हुआ । चार पुत्र होने पर भी मृत्यु के समय एक भी पुत्र उनके पास नहीं रहा तथा उनका शरीर तीन दिन तक सरसों के तेल में डुबाकर रखा गया । स्वयं भगवान् पुत्र बने परन्तु उनके दुःख को दूर न कर सके ।

दक्ष प्रजापति ने भी राजस यज्ञ कराया । यह यज्ञ सप्तपुरियों में गुणराशि रूपा मायापुरी की विष्णु-पादोदकी गंगा से सिंचित तथा हिमालय की गोद में बसे कनखल जैसी भूमि में, भृगु जैसे आचार्य और दक्ष जैसे यजमान द्वारा कराया गया, परन्तु दम्भ को लेकर फल की इच्छा से यज्ञ कराया गया इसलिये राजस यज्ञ हुआ तथा इसका फल भी दुःखदायी हुआ । जैसा कि भक्त सूरदास भी इसका वर्णन करते हुए कहते हैं -

वीरभद्र तब दच्छहि मार्‌यौ । अरु भृगु ऋषि कौ केस उपार्‌यौ ।।
हाथ पाई बहुतनि के काटे ।
दक्ष-सीस जो कुंड मैं जर्‌यौ । ताके बदले अज-सिर धर्‌यौ ।। (सू. सा. ४।५)

इसलिए भगवान् ने राजस यज्ञ न कर सात्त्विक यज्ञ करने का उपदेश दिया है ।।१२।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।१३।।

अन्वय :- **विधिहीनम् असृष्टान्नम् मन्त्रहीनम् अदक्षिणम् श्रद्धाविरहितम् यज्ञम् तामसम् परिचक्षते ।**

अर्थ :- विधिहीन, शास्त्रविहित अन्न से रहित मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन, श्रद्धारहित यज्ञ को तामस कहते हैं ।

व्याख्या :- परम कारुणिक भगवान् ने तामस यज्ञ का वर्णन करते हुए बताया कि इस यज्ञ से धन, बल और विद्या

तीनों का विनाश होता है और कभी कल्याण नहीं होता है । इसलिये इस यज्ञ को न करना चाहिये, और न तो करने के लिये सम्मति ही देनी चाहिये । यह यज्ञ कैसे किया जाता है इसे स्पष्ट समझाते हुए भगवान् कह रहे हैं कि शास्त्र में जो यज्ञ की विधियाँ बताई गई हैं उनके अनुसार न करना, 'यवाश्च ये गोधूमाश्च' के अनुसार जो अन्न यज्ञ में देने के लिये शास्त्र ने बताया है उसे न देना और मादक वस्तुओं को देना तथ जो मन्त्र, दक्षिणा और श्रद्धा से रहित है, ऐसे यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं । जिस यज्ञ में अतिथि के लिये अन्न त्याग न किया गया वह कितना ही सात्त्विक यज्ञ हो तामस हो जाता है, क्योंकि अतिथि-सत्कार का यज्ञ में बड़ा ही महत्त्व है और अन्न के समान कोई दान नहीं है, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी भी मानस में कहते हैं -

'अन्न दान अरु रस पीयूषा' (६।२५।६)

'मंतारं त्रायते इति मन्त्रः' इस व्युत्पत्ति से मनन करने वाले की जो रक्षा करे उसे मन्त्र कहते हैं । महर्षि जैमिनी ने कहा है - **'तच्चोदकेषु मंत्राख्या'** (मी. अ. २।१।३२) प्रेरणालक्षण श्रुति का नाम मंत्र है । यज्ञ में जितना मंत्र बोलने का विधाान है उतना ही बोलना चाहिए । मन्त्र का स्वर और वर्ण शुद्ध होना चाहिए । जैसे व्याकरण के अनुसार दन्त्य 'स' के स्थान पर तालव्य 'श' नहीं बोलना चाहिए । यास्काचार्य ने कहा है -

स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ....॥

तथा पाणिनि-शिक्षा में भी कहा गया है -

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ (पा. शि. ५२)

अर्थात् स्वर और वर्ण से हीन मंत्र मिथ्या प्रयुक्त उस अर्थ को नहीं कहता है । वह वाक् वज्र होकर यजमान का नाश करता है । जैसे इन्द्र का शत्रु स्वर के अपराध से मारा गया । इसलिये मन्त्र के स्वर या वर्ण में न्यूनता आ जाने पर वह यज्ञ तामस हो जाता है । जैसे इन्द्र के शत्रु त्वष्टा ने इन्द्र के नाश हेतु 'श्येनेनाभिचरन् यजेत्' (श्रुति) 'मारण के लिये श्येन याग करे' के अनुसार यज्ञ किया और इस कार्य के लिये एक पुत्र की भी कामना की । इसमें 'इन्द्रशत्रो विवर्द्धष्व' हे यज्ञ देव ! इन्द्र के शत्रु को आप अच्छी तरह बढ़ा दें' यह मंत्र बोला गया । परन्तु षष्ठी तत्पुरुष के स्थान पर कर्मधारय समास 'इन्द्रश्चासौ शत्रुः' इन्द्र नाम के शत्रु की वृद्धि हो' ऐसा स्वर दिया गया । जिसके फलस्वरूप यद्यपि कुण्ड से वृत्रासुर जैसा बलवान् पुत्र उत्पन्न हुआ जो इन्द्र को निगल भी गया परन्तु उसके पेट में इतनी जलन होने लगी कि इन्द्र बाहर निकल आये तथा उन्होंने अपने वज्र में फेन को लगाकर उसे मार डाला । इसलिये यज्ञ में स्वर तथा वर्ण की शुद्धि पर पूर्ण ध्यान रखना चाहिये, नहीं तो वह तामस हो जाता है ।

जिस यज्ञ में दक्षिणा नहीं दी जाती अथवा योग्यतानुसार दक्षिणा नहीं दी जाती और श्रद्धापूर्वक न करके केवल नाम बढ़ाने के लिये जो यज्ञ किया जाता है वह यज्ञ तामस होता है । जैसा कि मेघनाद ने किया । उसने अकेले, निकुंभिला नामक स्थान में, अभक्ष्य वस्तुओं का कुंड में हवन करते हुए, श्रीराम लक्ष्मण को मारने के उद्देश्य से, दक्षिणा और श्रद्धा-

विहीन तामस यज्ञ किया । जिसका परिणाम यह हुआ कि मारुति आदि वीरों ने उस यज्ञ का विध्वंस कर दिया और तीन दिनों के भीतर सुलोचना जैसी पतिव्रता स्त्री के रहते हुए भी वह मारा गया । जैसा कि सन्त तुलसीदासजी भी 'मानम' में कहते हैं -

मेघनाद मख करइ अपावन । खल मायावी वेद सतावन ॥ (६।७४ ख।४)

...आहुति देत रुधिर अरु भैंसा ॥

कीन्ह कपिन्ह सब जग्य बिधंसा ॥ (६।७५।१,२)

इसलिये तामस यज्ञ का त्याग करके सात्त्विक यज्ञ मनुष्यों को करना चाहिए जिससे धन, बल, विद्या का विकास हो तथा परिणामस्वरूप लोक परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति हो, परन्तु इस समय 'तामस बहुत रजोगुण थोरा' (मानस ७।१०३।५) के अनुसार तामस यज्ञ ही लोग अधिक कर रहे हैं । सात्त्विक यज्ञ तो कोई विरले लोग ही करा रहे हैं । इसी कारण भारत का विकास न होकर अध:पतन होता जा रहा है ।

इसलिये जबतक सात्त्विक यज्ञ न होगा तबतक भारत अपने प्राचीन गौरव को नहीं प्राप्त करेगा ।।१३।।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।१४।।

अन्वय :- **देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् शौचम् आर्जवम् ब्रह्मचर्यम् च अहिंसा शारीरम् तपः उच्यते ।**

अर्थ :- देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी का पूजन, शौच (यानी शुद्धि रखना) आर्जव (ऋजुता या सरलता) ब्रह्मचर्य और अहिंसा (यह) शारीरिक तप कहलाता है ।

व्याख्या :- अब तप के गुणजनित तीन भेद बतलाने के लिये पहले शरीर सम्बन्धी तप को बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानियों का पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा-यह शारीरिक तप कहलाता है । सोलहवें अध्याय में तप को बतलाते हुए भगवान् ने कहा है -

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् । (१६।१)

आगे १८ वें अध्याय में कहते हैं -

यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यम् । (१८।५) यज्ञ, दान और तप ये तीन कर्म त्यागने योगय नहीं हैं ।।५।। क्योंकि-यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् (१८।५) यज्ञ, दान और तप ये तीन ही बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं ।।५।। अग्रजन्मा ब्राह्मण के कर्म में - 'शमो दमस्तप:' (१८।४२) कहकर तप को भगवान् ने स्वाभाविक कर्म बताया है -

शरीर सम्बन्धी तपस्या के बारे में बताते हुए भगवान् कहते हैं कि देवता की पूजा करना शरीर की तपस्या है । देवयोनि यह अलग ही है ।। इसके सम्बन्ध में कहा गया है 'परोक्षप्रिया: देवा:' (ऐतरे. उ. १।३।१४) देवता परोक्ष-प्रिय होते हैं ।

'विद्वांसो हि देवा:' ये मन की बात भी जन लेते हैं तथा 'अनिमेषा: देवा:' इनकी पलकें नहीं गिरती हैं। कुछ मुख्य देवताओं का वर्णन गीता में भी किया गया है जो इस प्रकार है - ग्यारहवें अध्याय के १५वें श्लोक में अर्जुन कहता है - 'देव ! आपके देह में समस्त तैंतीस कोटि देवताओं को, ब्रह्मा को और कमलासन महादेव को देख रहा हूँ।' आगे भी अर्जुन कहता है -

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च । (११।२२)

एकादश रुद्रदेव, द्वादश आदित्यदेव, आठ वसु देव, साध्यदेव, विश्वे देव, दोनों अश्विनी कुमार और उनचास मरुत् देवों को देखता हूँ। फिर आगे कहते हैं -

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः, प्रजापतिः । (११।३९)

वायुदेव, यमदेव, अग्निदेव, वरुणदेव, चन्द्रमा देव और प्रजापति देव। दसवें अध्याय में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए भी भगवान् कहते हैं -

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ (१०।२१)

अदिति के बारह पुत्रों में मैं विष्णुदेव, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्यदेव, उनचास वायु देवताओं में मरीचि देव और नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा देव हूँ। आगे कहते हैं -

................देवानामस्मि वासवः (गी. १०।२२)

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि..................................॥ (गी. १०।२३)

देवताओं में राजा इन्द्र हूँ, एकादश रुद्रों में शङ्करदेव हूँ, यक्ष तथा राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर देव हूँ और आठ वसुओं में अग्नि देव मैं हूँ। आगे -

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः ....॥ (गीता १०।२४)

हे अर्जुन ! पुरोहितों में प्रमुख बृहस्पति देव और सेनापतियों में स्वामी कार्तिकेय देव हूँ। दसवें अध्याय के ही २९वें श्लोक में कहते हैं -

वरुणो यादसामहम् । यमः संयमतामहम् ॥ (गी. १०।२९)

जलचरों का राजा वरुण देव तथा शासन करने वालों में यम देव हूँ। आगे - 'पवनः पवतामस्मि ।' (१०।३१)

गमन करने वालों में पवन देव हूँ । तथा 'मृत्यु: सर्वहरश्चाहम्' (१०।३४) सबके प्राणों का हरण करने वाला मृत्युदेव मैं हूँ । इसके साथ ही साथ -

'कीर्ति श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधाधृतिः क्षमा । (गी. १०।३४)

१-श्रीदेवी २-कीर्ति देवी ३-वाणी देवी ४-स्मृति देवी ५-मेधा देवी ६-धृति देवी और ७-क्षमा देवी करके सात देव पत्नियों -का भी वर्णन किया गया है । 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव' (तैत्ति. उ. १।११।२) के अनुसार माता, पिता तथा अतिथि भी देव हैं । समस्त देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस है जिसको मैंने 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की 'गूढार्थ दीपिका' टीका में लिखा है । इससे यह सिद्ध होता है कि देव योनि अलग है । इन देवताओं की पूजा करने वाला शरीर की तपस्या करता है ।

इसके बाद भगवान् कहते हैं कि द्विज नाम ब्राह्मण की सेवा करना शारीरिक तपस्या है । 'द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायते इति द्विज:' एक माता से तथा दूसरे यज्ञोपवीत संस्कार से, इस प्रकार जो दो बार जन्म ले उसे द्विज कहते हैं । यहाँ 'देव' और गुरु के साहचर्य से 'द्विज' शब्द से ब्राह्मण का तात्पर्य है, क्योंकि साहचर्य अर्थ-निर्णायक होता है ।

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैवमुत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः । (बृ. हारी. १।१५)

शुद्ध ब्राह्मणी कन्या द्वारा उत्पन्न बालक को ब्राह्मण कहते हैं । कहा गया है -

'ब्राह्मणानां शरीरेषु तिष्ठन्ति सर्वदेवताः । (ब्रह्म. वै.)

ब्राह्मण के शरीर में समस्त देवता निवास करते हैं । इसलिये पढ़ा हो अथवा न पढ़ा हो परन्तु सदाचारी ब्राह्मण पूजनीय होता है । भगवान् भी गीता में कहते हैं - किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः' (६।३३) फिर पुण्यशील ब्राह्मणों के विषय में कहना ही क्या ? स्वयं शिव जी भी कहते हैं -

सुन मन वचन सत्य अब भाई । हरितोषन व्रत द्विज सेवकाई ॥ (मानस ७।१०८।११)

वह जन्म धन्य बताया है जिसमें ब्राह्मण के प्रति अखण्ड भक्ति हो - 'धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा ।' (रा. मा. ७।१२६।८) इसलिये ब्राह्मण के शरीर को सुर-दुर्लभ बताते हुए श्रीकाकभुसुण्डी जी कहते हैं -

चरम देह द्विज कै मैं पाई । सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई ॥ (रा. मा. ७।१०६।३)

इसलिये ब्राह्मण की सेवा, भगवान् ने शरीर की तपस्या बतायी है । आगे भगवान् कहते हैं, गुरु की सेवा करना शरीर सम्बन्धी तप कहलाता है । गुरु के विषय में महाभारत में बताया गया है-

यतिर्गुरुर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥ (अश्वमेध पर्व)

ब्राह्मणों के गुरु यति हैं, द्विजातियों के गुरु ब्राह्मण हैं, स्त्रियों के प्रधान गुरु पति और अभ्यागत सबके गुरु हैं,

परन्तु यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि संन्यासी का प्रधान चिह्न दण्ड है, अन्य एकांगी होते हैं । जैसा कि संत तुलसीदास भी कहते हैं 'दण्ड जतिन्ह कर भेद जहँ ।' (मा. ७।२२) 'गृणाति तत्त्वमिति गुरुः' जो तत्त्व को बतलाये उसे गुरु कहते हैं । 'अद्वयतारकोपनिषद्' में गुरु का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है -

'गु' शब्दस्त्वन्धकारस्स्यात् 'रु' शब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥

'गु' नाम अन्धकार का है और 'रु' नाम प्रकाश का है अर्थात् जो अज्ञान रूपी अन्धकार को अपने सदुपदेश रूपी प्रकाश से दूर कर देता है उसे गुरु कहते हैं । श्रीमद्भागवत में जहाँ एक-एक साधन बताया गया है, उसी प्रसंग में सर्वदोष विजय का साधन एकमात्र श्रीगुरु चरणों में दृढ़ भक्ति को बताया गया है - 'एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्' (श्रीमद्भा. ७।१५।२५) इसलिए कहा गया है कि 'न गुरोरधिकः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते' (योशि. ५।५६) तीनों लोकों में गुरु से अधिक कोई नहीं है । महर्षि वाल्मीकि गुरु-सेवा करने वाले के हृदय को भगवान् का निवासस्थान बताते हुये कहते हैं -

तुम्हें तें अधिक गुरहि जियँ जानी । सकल भायँ सेवहिं सनमानी । (रा. मा. २।१२८।८)

\- - - - - - - -

तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ । (रा. मा. २।१२९)

भक्त सूरदास ने भी सूरसागर में गुरु को परम उद्धारक बताते हुये कहा है कि -

गुरु बिनु ऐसी कौन करै ?
माला तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै ॥
भवसागर तें बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै ।
सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ, छिन मैं लै उधरै ॥ (सू. सा. ६।६)

देवता, द्विज और गुरु इन तीनों की पूजा करने वाले के हृदय में भगवान् निवास करते हैं । इसे बताते हुए मानसकार ने कहा है -

सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी । प्रीति सहित करि विनय विसेषी ॥

\- - - - - - - -

राम बसहु तिन्ह के मन माहीं । (रा. मा. २।१२८।३,५)

गुरु शब्द अपने चाचा, भाई, सास, ससुर तथा सम्बन्ध में जो बड़े हों उनका भी वाचक है, इसलिये इन लोगों की सेवा करनी चाहिए ।

प्राज्ञ अर्थात् ज्ञानी की सेवा करना शरीर-सम्बन्धी तप कहलाता है । भगवान् ने गीता में कहा है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'' (७।१८) ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है ।।१७।। संत तुलसीदास जी ने भी कहा है 'ग्यानी प्रभुहिं बिसेषि पिआरा' (रा. मा. १।२१।७) ज्ञानी किसी भी जाति का हो उसकी सेवा करना, उसे खिलाना तथा उसका सम्मान

करना चाहिए । ज्ञानी में जातित्वानुसंधान करने से मानव दोष का भागी होता है । जैसे प्रह्लाद आदि में ।

उदाहरणार्थ श्रीकाञ्चीपूर्ण स्वामी जी ज्ञानी थे जिन्होंने 'श्रीवरदराजाष्टक' बनाया है । जिनसे श्रीवरदराज भगवान् बात-चीत करते थे । इसीलिए पुण्यमल्ली दिव्य-देश में आज तक सभी लोग उनकी मूर्ति बनाकर पूजा करते हैं। अत: ज्ञानी की सेवा जातित्वानुसंधान न करते हुए करनी चाहिए ।

'शौचम्' अर्थात् पवित्रता । बाहर और भीतर की इन्द्रियों को शास्त्रानुसार कर्तव्य कर्म के योग्य बना लेने का नाम 'शौच' है । सर्वदा शुचि रहना शरीर की तपस्या है । शुचिता दो प्रकार की होती है, वाह्य शुचि और अन्त: शुचि । वाह्य शुद्धि मिट्टी, जल आदि से तथा अन्त: शुचि भगवान् के स्मरण से होती है - 'य: स्मरेत् पुण्डरीकाक्षम्' । अत: दोनों शुद्धि करनी चाहिए ।

मन के भाव के अनुसार ही वाणी और शरीर की क्रिया का होना 'आर्जव' है । आर्जव रखना भी शरीर सम्बन्धी तप कहलाता है । स्त्रियों में भोग्य बुद्धि करके उनका दर्शन आदि न करना ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्य रहना शरीर की तपस्या कहलाता है । अथर्ववेद में इसके विषय में कहा गया है - 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' (अथर्व. ११।७।१६) 'ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ तप है, उसके द्वारा ही मानव देव हो जाते हैं और अनन्य भक्ति से अविद्या रूपी मृत्यु का विध्वंस कर देते हैं ।' नर-नारी दोनों को आठो प्रकार के मैथुन को त्याग करना ब्रह्मचर्य कहलाता है । जैसा कि अत्रि मुनि भी कहते हैं -

स्मरणं कीर्तनं, केलि:, प्रेक्षणं, गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।
एतन् मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिण: ॥ (दक्ष-स्मृति ३२)

१-बुरे भाव से स्मरण करना २-बुरे भाव से अश्लील गीत गाना ३-एकान्त में स्त्री से ताश आदि खेलना ४-स्त्री से गुह्य भाषण करना ५-बुरे भाव से किसी अंग को देखना ६-बुरे भाव से संकल्प करना ७-बुरे भाव से यत्न में लगे रहना और ८-साक्षात् मैथुन करना इन आठो प्रकार के मैथुन का त्याग करना शरीर की तपस्या है । इसके अतिरिक्त शिशु-मैथुन, हस्त-मैथुन आदि का त्याग ब्रह्मचर्य है । अपनी स्त्री से भी दिन में या रजस्वला समय में, गर्भ रहने पर मैथुन नहीं करना चाहिए । इन नियमों का जो पालन करते हैं वे ब्रह्मचर्य द्वारा शरीर की तपस्या करते हैं ।

अहिंसा व्रत का पालन करना भी शरीर की तपस्या है । मन, वाणी और शरीर से जीवों के प्राणवियोगानुकूल व्यापार न करना अहिंसा है । स्मृति कहती है - 'अहिंसा परमो धर्म:, अहिंसा परमं तप:' 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' (श्रुति) अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा श्रेष्ठ तप है तथा किसी प्राणी की हिंसा मत करो । इसलिये कहा गया है -'एकस्य क्षणिका प्रीति: अन्य: प्राणैर्विमुच्यते ।' हिंसात्मक वस्तु खाने से एक को क्षणमात्र जिह्वा-स्वाद की प्रीति होती है और दूसरा प्राणों से रहित हो जाता है । इसलिये- 'अस्य दग्धोदरस्यार्थे क: कुर्यात् पातकं महत्' इस दग्ध उदर के लिये कौन हिंसा रूपी बड़ा पाप करे ? भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण स्वयं अहिंसाव्रतधारी बनकर हम लोगों को भी इसका पालन करने के लिये उपदेश देते हैं । मांसादि खाने वाले अल्पायु और दुर्गन्धयुक्त होते हैं तथा उनके मांस को मांसाहारी भी नहीं खाते जैसे कुत्ते, शृंगाल आदि । मांसाहारी रावण फलाहारी भगवान् राम के द्वारा तथा मांस मदिरा का अत्यधिक सेवन

करने वाला कंस दुग्धाहारी भगवान् कृष्ण के द्वारा मारा गया । इसलिये जिह्वा स्वाद के लिये किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसीलिए इसे परम धर्म कहा है -

'परम धर्म श्रुति विदिता अहिंसा' (रा. मा. ७।१२०।२२) इस प्रकार जो अहिंसा व्रत का पालन करते हैं वे शरीर सम्बन्धी तप करते हैं ।।१४।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।१५।।

अन्वय :- **अनुद्वेगकरम् सत्यम् च प्रियहितम् यत् वाक्यम् च स्वाध्यायाभ्यसनम् एव वाङ्मयम् तपः उच्यते ।**

अर्थ :- उद्वेग न करने वाला, सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य (वाणी), तथा स्वाध्याय का अभ्यास ही - वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है ।

व्याख्या :- वाणी सम्बन्धी तपस्या बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि उद्वेग न करने वाले, सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य तथा स्वाध्याय का अभ्यास यह वाचिक तप कहलाता है । ऐसा वाक्य जिसे सुन कर उद्विग्नता न हो । जैसे किसी दु:खद मृत्यु की घटना को उसके सम्बन्धी से सीधे 'मृत्यु हो गई' न कह कर दूसरे प्रकार से कहना वाणी की तपस्या है । तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली की प्रथम वल्ली में 'सत्यं वद' सत्य बोलो, बताया गया है । उसी सत्य को समझाते हुए भगवान् यहाँ कहते हैं सत्य हो, प्रिय और हित हो ऐसा बोलना वाणी की तपस्या है । 'मानव धर्म-शास्त्र' में मनु भगवान् ने इसे सनातन धर्म बताया है -

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, सत्य बात को अप्रिय नहीं बोलना चाहिए, प्रिय झूठ नहीं बोलना चाहिए, यही सनातन धर्म है ।

निगम (वेद), आगम (पांचरात्र), स्मृति (मनुस्मृति आदि), इतिहास (वाल्मीकि रामायणादि) पुराण (श्रीमद्भागवतादि) का पाठ करना निश्चय करके वाणी की तपस्या है । इस श्लोक में दो बार 'चकार' आया है । वस्तुत: गीता के अन्दर चकार का ही अर्थ करना कठिन है । इसलिये गीता के अन्दर 'चकार' का बड़ा रहस्य है । यहाँ दो चकार कह कर भगवान् पहले चकार से 'द्राविडाम्नाय' तथा बारह आलवारों, आचार्यों के ग्रन्थों का पाठ करना तथा दूसरे चकार से 'राम चरित मानस' और निगमागम सम्मत सद्भक्तों की वाणियों का पाठ करना भी वाणी की तपस्या बताते हैं ।

सत्य के सम्बन्ध में भी एक व्याख्यायिका उल्लेखनीय है । गो-वध बचाने के लिये असत्य बोलना ही सत्य हो जाता है । प्राचीन काल में काशीपुरी के ब्रह्मनाल नामक स्थान में अग्निहोत्री, वेदपाठी, कर्मनिष्ठ एक ब्राह्मण रहते थे । वे बड़े ही सत्य-वक्ता थे । एक दिन गंगा-स्नान के पश्चात् लौटते समय उन्होंने एक गाय को भागते हुए देखा

। जिसे कुछ खा लेने के कारण एक व्यक्ति मारने के लिए पीछे-पीछे दौड़े आ रहा था । पीछा करने वाले व्यक्ति के पूछने पर मौन रहने के कारण जिधर गाय गई थी उधर इशारा से उस ब्राह्मण ने बता दिया । वह व्यक्ति उस गाय को उसी बताये मार्गानुसार पा गया और उसके मारते ही वह संयोगवश मर गई । कुछ ही दिनों बाद गाय को बताने वाले उस ब्राह्मण की मगध के एक यजमान के विवाहोत्सव में हैजे से मृत्यु हो गई । मरणोपरान्त उसका जन्म कसाई के यहाँ हुआ । उसका नाम सदन रखा गया परन्तु वह पूर्व जन्म के संस्कार से कसाई के कार्य को न करने के कारण घर से निकाल दिया गया । इसके बाद वह महात्माओं की संगति से पतित-पावन जगन्नाथ भगवान् की रथ-यात्रा का महत्त्व सुनकर देखने की इच्छा से चला । मार्ग में जाते-जाते एक जगह कटक नाम के नगर में आगे अँधेरा देख कर ठहर गया और रात्रि में निवास हेतु स्थान खोजने लगा । यहीं पर अति वृद्धावस्था में विवाह करने वाला एक सेठ रहता था । जो किसी अतिथि आदि की कभी सेवा नहीं करता था, परन्तु किसी नागा के कहने पर सेठानी ने एक कोठी अभ्यागतों के रहने के लिये बनवा दी थी । इसी कोठी में सदन रात्रि व्यतीत करने के लिये रुका । सदन की सुन्दरता देख सेठानी मुग्ध हो गई और स्वयं सुन्दर भोजन लेकर सदन के पास रात्रि में गयी और विषय-भोग की इच्छा उसने व्यक्त की । परस्त्री को माता के समान देखना चाहिए इस भाव को लेकर सदन ने उसे समझाया और कहा कि आपके स्वयं पति मौजूद हैं फिर ऐसी बातें क्यों कहती हैं ? यह सुन कर सेठानी ने तलवार लेकर अपने वृद्ध पति के सिर को काट दिया । यह सब कृत्य देखकर सदन वहाँ से भागने लगा । सेठानी, भागते हुए सदन को देखकर मेरे पति का सिर काट कर यह भाग रहा है-ऐसा कहती हुई जोर से आवाज देने लगी, जिसे सुनकर घूमते हुए राजा के कर्मचारियों ने सदन को पकड़ लिया और बहुतों से मार खाता हुआ सदन राजा के सामने लाया गया जहाँ उसकी आज्ञा से उसके दोनों हाथ काट दिये गये । किसी तरह दुर्दशा सहते हुए वह जगन्नाथ भगवान् के धाम पहुँच कर सद्गति को प्राप्त हुआ । उपर्युक्त वर्णित प्रसंग में गाय को मारने वाला अति वृद्ध सेठ के रूप में तथा गाय सेठानी के रूप में पैदा हुई थी । इस प्रकार 'रोमकूपे महर्षय:' के अनुसार गाय के प्रत्येक रोम में महर्षियों का निवास होता है, यह जानकर उसकी रक्षा के उद्देश्य से बोला गया असत्य भी सत्य होता है ।।१५।।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।१६।।

अन्वय :- **मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनम् आत्मविनिग्रहः भावसंशुद्धिः इति एतत् मानसम् तपः उच्यते ।**

अर्थ :- मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मविनिग्रह (और) भावसंशुद्धि इस तरह यह मानसिक तप कहा जाता है ।

व्याख्या :- मन-सम्बन्धी तप को बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मविनिग्रह और भावसंशुद्धि-इतना यह मानस तप कहलाता है । मन का क्रोध आदि विकारों से रहित होना मन की प्रसन्नता है ।

सुख-दु:ख के साक्षात् करने में जो साधन इन्द्रिय है उसे मन कहते हैं । यह संकल्प, विकल्पात्मक है । यहाँ अन्तिम तथा सबसे प्रमुख तप भगवान् बता रहे हैं । इसके विषय में कहा गया है 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:'

(वि. पु. ६।७।२८) मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है । अर्जुन भी कहता है -

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ (गीता ६।३४)

श्रीकृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथनशील, दृढ़ और बलवान् है, उसका रोकना मैं वायु को रोकने के समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ । भगवान् भी इसका समर्थन करते हुए कहते हैं -

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (गीता ६।३५)

अर्जुन ! निस्सन्देह मन चञ्चल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से (यह) वश में किया जाता है । सुर-दुर्लभ नर-नारी का देह पाकर मन को अवश्य वश में करना चाहिए, क्योंकि इसके (मानव) लिये कोई भी चीज असाध्य नहीं है । मन की प्रसन्नता के बारे में भगवान् दूसरे अध्याय में कह चुके हैं -

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ (२।६५)

मन निर्मल हो जाने से इसके समस्त दुःखों का नाश हो जाता है, क्योंकि प्रसन्न चित्त वाले पुरुषों की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ॥६५॥ इससे ज्ञात होता है कि मन के प्रसाद से समस्त दुःखों का नाश हो जाता है । जैसे युधिष्ठिर ने हिमालय-यात्रा के समय द्रौपदी के गल जाने पर भी अपने मन को प्रसन्न रखा ।

दूसरों की उन्नति के लिये मन के झुकाव को सौम्यता कहते हैं अथवा सोम के भाव को सौम्यता कहते हैं। सोम यानी चन्द्रमा में जैसी शीतलता है उसी प्रकार बल, बुद्धि, धन बढ़ने पर सर्वदा शीतल रहना चाहिए । जिस प्रकार चन्द्रमा धूप से व्याकुल लोगों को चाहे वे निन्दक ही क्यों न हों शीतलता प्रदान करता है उसी तरह शत्रु-मित्र सभी के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए ।

मन द्वारा वाणी की प्रवृत्ति का संयम करना मौन है । अथवा ब्रह्म, जीव, माया तत्त्व को जो परिशीलन करे उसे मुनि कहते हैं । 'मनु अवबोधने' धातु से 'मनेरूच्य' (उणादि) से मुनि बना है और मुनि से मौन बना है । इस प्रकार मुनि के भाव जिनके मन में आ जाय वह मन की तपस्या करता है । चाहे वह किसी जाति का हो, जैसे शबरी, अनुसूया आदि ।

मन की वृत्ति का ध्येय में स्थिरतापूर्वक स्थापन करना आत्मविनिग्रह कहलाता है । आत्मा शब्द यहाँ मन का वाचक है । मन यदि अन्नदोष या सहवास दोष से शास्त्र-विधि से विपरीत जाय तो मन को उससे लौटाना मन की तपस्या है । जैसे कुतर्क द्वारा यदि कहा जाय कि मदिरा तो महुवा, गुड़ और जल से बना है फिर पीने में क्या हानि होगी ? तो यह समझना चाहिए कि वेद में कहा गया है - 'न सुरां पिबेत्' मदिरा नहीं पीना चाहिए और वेद से बढ़कर ज्ञान का कोई भण्डार नहीं है । इसलिए कुतर्क में न पड़ कर मन को उधर से निश्चय मोड़ना चाहिए ।

आत्मा से अतिरिक्त अन्य किसी विषय के चिन्तन से रहित होना भाव-संशुद्धि है । यदि मन कुमार्ग पर जाय तो उस पर विचार करके मन को रोकना चाहिए । जैसे तरुणावस्था से युक्त एक ऋषिकुमार गुरुपत्नी के साथ सोने पर भी पुत्र जैसे माता के साथ सोता है वैसे ही सोया । किसी प्रकार का बुरा भाव मन में न आने दिया । जिससे सर्वज्ञ गुरु द्वारा उसे समस्त शास्त्रों के प्रकाशित होने का आशीर्वाद प्राप्त हुआ । इसीलिए भगवान् कहते हैं कि अन्तःकरण शुद्ध रखना मन की तपस्या है । गोस्वामी तुलसदास जी मन को कुमार्गों से बचाने के लिये उसे चेतावनी देते हुए कहते हैं -

लव निमेष परमानु जुग वरष कलप सर चंड,
भजसि न मन तेहि राम को कालु जासु कोदंड ॥ (रा. मा. ६।१)

इसलिए मन द्वारा भगवान् का स्मरण करे । इस प्रकार हम लोगों को मन की तपस्या करते हुए भगवान् के चरणारविंदों में मन लगाना चाहिए ।।१६।।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।।१७।।

अन्वय :- **अफलकाङ्क्षिभिः युक्तैः नरैः परया श्रद्धया तप्तम् त्रिविधं तपः सात्त्विकम् परिचक्षते ।**

अर्थ :- फल की आकाँक्षा नहीं रखनेवाले युक्त पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा के साथ तपा हुआ (उपर्युक्त) तीन प्रकार का तप सात्त्विक कहलाता है ।

व्याख्या :- पूर्व तीन प्रकार की तपस्या (शरीर, वाणी और मन की) जो भगवान् वर्णित कर चुके हैं उन्हीं के सम्बन्ध में भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि तीनों तपस्या परा श्रद्धा अर्थात् उत्कृष्ट श्रद्धा से युक्त हो, क्योंकि श्रद्धा से ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है । जैसा कहा गया है - श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु. १९।३०) श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है । तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति. २।१।१) सत्य ही ब्रह्म है । इस प्रकार फलाकाँक्षा से रहित और 'यह तप परम पुरुष की आराधना ही है' ऐसी विचारधारा से युक्त पुरुषों के द्वारा उत्कृष्ट श्रद्धा से युक्त जो त्रिविध तप शरीर, मन और वाणी के द्वारा तपा जाता है, उसे सात्त्विक कहते हैं । युक्त के विषय में गीता के छठे अध्याय में बताया गया है-

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।८।।

जो मिट्टी, पत्थर (कोहिनूरादि) और सुवर्ण को समान समझने वाला है, वह योगी युक्त कहा जाता है । इस प्रकार के सात्त्विक तप से धन, बल, विद्या का विकास होता है और ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है । इस प्रकार की सात्त्विक तपस्या ब्रह्मा के पौत्र प्राचेतस (वाल्मीकि) ऋषि ने की । वे 'राम' का नाम लेते, अहिंसा का पालन करते और शान्त होकर तपस्या करते थे । इस प्रकार तीनों प्रकार की तपस्या वाल्मीकि ने पराश्रद्धा से युक्त होकर फल की कामना न करते हुए की । उनकी तपस्या सात्त्विक थी । जिसका फल यह हुआ कि दादा होते हुए भी ब्रह्मा जी पौत्र के दर्शन करने आये और स्वयं आसन देकर बैठाये । वर न माँगने पर भी कहते हैं कि तुम 'रामायण' की रचना करो तथा तुम्हारे मुख से झूठी वाणी नहीं निकलेगी 'न ते वागनृता काव्ये' (वा. रा. बा. का. २।३५) । वे इतने प्रकाण्ड पाण्डित्य वाले हुए कि

चौबीस अक्षरों वाली गायत्री के एक-एक अक्षर की व्याख्या उन्होंने एक-एक हजार श्लोकों में की । इस प्रकार चौबीस हजार श्लोकों की रचना की और उनसे वेदावतार हुआ । जैसा इस श्लोक से ज्ञात होता है -

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ।। (मू. रा. १०)

जैसे वेद से जानने योग्य परमात्मा संसारी चेतनों की रक्षा के लिये दशरथ महाराज के पुत्र रूप से मनुष्यावतार धारण करते हैं, वैसे ही श्रीरामावतार के गुणचेष्टितों के कथन द्वारा श्रीरामचन्द्र में प्रेम कराने के लिये वेद रामायण का अवतार महर्षि वाल्मीकि से धारण करता है । यह आदिकाव्य भी है और सर्वदेश, सर्वकाल में इसका प्रचार हुआ । इसको इतिहास तथा 'सीता' का चरित कहने से महाकाव्य भी कहा जाता है । अकारण करुणालय भगवान् राम ने भी जब जगज्जननी माता सीता को ठुकरा दिया तब इस महाविपत्ति में वाल्मीकि ने ही उनका पालन पोषण किया । वे शस्त्र और शास्त्र दोनों ही विद्याओं में इतने पारंगत थे कि सीता के दोनों पुत्र लव और कुश को बाल्यावस्था में ही इतना प्रवीण उन्होंने कर दिया कि लक्ष्मण और भरत जैसे विश्वविजयी योद्धाओं को दोनों ने पराजित किया तथा हनुमान को बाँधकर लाया । जैसा कि लवकुश स्वयं कहते हैं-'आज समर जीतो भरत' 'रामाश्वमेध पर्व' में इसका वर्णन किया गया है । इसलिए भगवान् कहते हैं कि सात्त्विक तप के द्वारा मानव को विद्या, धन, बल, का विकास करना चाहिए ।।१७।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।१८।।

अन्वय :- **यत् तपः सत्कारमानपूजार्थम् एव च दम्भेन क्रियते तत् चलम् अध्रुवम् इह राजसम् प्रोक्तम् ।**

अर्थ :- जो तप सत्कार मान और पूजा के लिए ही तथा दम्भपूर्वक किया जाता है वह चञ्चल और अस्थिर तप यहाँ राजस कहा गया है ।

व्याख्या :- भगवान् इसी अध्याय के १४वें, १५वें और १६वें श्लोक में शरीर, वाणी और मन सम्बन्धी तपस्या कह चुके हैं । इन तीनों से सम्बन्धित राजस तपस्या को बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि सत्कार अर्थात् मन से, बहुत आदर मिले, मान अर्थात् वाणी द्वारा स्तुति या प्रशंसा और पूजा अर्थात् शरीर से धूप, दीप नमस्कारादि ऐसे दम्भ अर्थात् पाखण्ड को लेकर जो शरीर से तप, वाङ्मय तप और मानस तप किया जाता है, सर्वशास्त्रमयी गीता में उसे राजस तप कहा गया है । इसका फल अनिश्चित और चञ्चल है, क्योंकि वह स्वर्गादि फल का साधन होने के कारण स्थिर रहने वाला नहीं है । अतः चल और अध्रुव है । गिरने का भय रहने से उसको चल तथा क्षयशील होने से अध्रुव कहा गया है । एक आख्यायिका है । गया तीर्थ जिसके विषय में 'पंच क्रोशं गयाक्षेत्रम्' (गया माहात्म्य) पाँच कोश में गया क्षेत्र है- कहा गया है । इस तीर्थ में रहने वाले गयापाल ब्राह्मणों के सत्कार, मान और पूजा को देखकर वहाँ का ही रहने वाला मतंग नाम के चाण्डाल ने सत्कार, मान, पूजा, का उद्देश्य लेकर इस देह से ही ब्राह्मण हो जाऊँ ऐसा सोचकर पाखण्ड के सहित तपस्या प्रारम्भ की । वह जाकर एक वापी पर बैठ गया । वह देवता सूर्य को जल देने लगा, स्कन्द-पुराण आदि का पाठ करने लगा और मौन भी रहने लगा । इस प्रकार उसने शारीरिक तप, वाङ्मयं तप और मानस तप तीनों किया । किसी

के आने पर सत्कार के साथ बैठाता भी था, पर उसका उद्देश्य सत्कार, मान, पूजार्थ ब्राह्मण होने का था । दम्भ के साथ अर्थात् किसी आचार्य से उसने पूछा नहीं और वेष बनाकर तपस्या की । उसने घोर तप किया, उस समय केवल हड्डी में प्राण थे । उसके मस्तक से धूम निकलने लगा । ब्रह्मा को सब लोगों ने समझाया । देवताओं की प्रार्थना करने से ब्रह्मा आये और वर माँगने के लिये उन्होंने कहा । तब उसने यही माँगा कि 'मैं ब्राह्मण हो जाऊँ' । ब्रह्मा ने कहा 'परक्षेत्रचिकित्स्य' दूसरे देह धरने पर ही यह रोग दूर होगा । इसलिए मैं यह वर नहीं दूँगा । तब उसने कहा कि मैंने इतने हजार वर्ष तक तप किया तो उसकी मजूरी कैसे पूर्ण होगी । ब्रह्मा ने कहा कि तुम इस शरीर से ब्राह्मण नहीं हो सकोगे परन्तु गया में श्राद्ध करने आने वाले लोगों को मतंग वापी को छूते हुए जाने से ही पूर्ण फल प्राप्त होगा । यही तुम्हारी मजूरी है । उसे आज भी सब लोग छूते हुए जाते हैं ।

गया में विष्णु-पद के पास श्रीरामानुजाचार्य मठ नामक मेरा स्थान है जिसके अध्यक्ष श्री राघवेन्द्राचार्य श्री त्रिदण्डी स्वामी जी थे । इस समय (१९७७ ई.) से वेद व्याकरणाचार्य श्रीराघवाचार्य स्वामी जी इसके अध्यक्ष हैं । गया जाने वालों को यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि वहाँ मुंडन और उपवास नहीं करना चाहिये ।।१७।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।१९।।

अन्वय :- **यत् तपः मूढग्राहेण आत्मनः पीडया वा परस्य उत्सादनार्थम् क्रियते तत् तामसम् उदाहृतम् ।**

अर्थ :- जो तप मूढ़-आग्रह से आत्मा को पीड़ा देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तामस कहा गया है ।

व्याख्या :- भगवान् तामस तपस्या को बताते हुए कह रहे हैं कि मूढ़तापूर्वक हठ से (हम ऐसा ही करेंगे कोई क्या करेगा) जो शरीर, वाणी और आत्मा को पीड़ा देकर दूसरे के अनिष्ट करने की इच्छा से शरीर, वाणी और मन से तप करते हैं, अट्ठासी हजार ऋषियों सहित भगवान् कहते हैं कि मैं भी कहता हूँ कि वह तामस तप है । इससे धन, बल, विद्या का अध:पतन होता है और अन्त बिगड़ जाता है । मूढ़ अविवेकियों को कहते हैं । रावण ने तामस तपस्या की, जैसा गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं -

कीन्ह विविध तप तीनिहुँ भाई । परम उग्र नहिं बरनि सो जाई ।।
करि बिनती पद गहि दससीसा । बोलेउ वचन सुनहु जगदीसा ।।
हम काहू के मरहिं न मारे । बानर मनुज जाति दुइ बारें ।। (रा.मा. बा. का. १६६।१,३,४)

ब्रह्मा, शिवादि की पूजा करके शरीर की तपस्या, शिवताण्डव स्तोत्रादि का पाठ करके वाणी की तपस्या और लंका के जलने, खर-दूषण, अक्षय कुमार के मारे जाने पर भी मन प्रसन्न रखकर मन की तपस्या, इस प्रकार तीनों प्रकार की तपस्या की , परन्तु मूढ़तावश सिर काटकर आत्मा को पीड़ित करते हुए दूसरे को पीड़ा देने के लिए उसने तपस्या की, इसलिये यह तामस तपस्या हुई । इसके परिणामस्वरूप, उसका धन, पुत्र आदि उसी के समय में नष्ट हो गये और उसका मनोरथ पूर्ण होते हुए भी अन्त में अति दु:ख देकर नष्ट हो गया । इस प्रकार तामस तपस्या से वस्तु प्राप्त करने

पर भी उसका फल नश्वर मिलता है । जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है -

'अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्' (७।२३)

उन अल्प बुद्धिवालों को नाशवान् फल प्राप्त होता है । इसलिये मनुष्य को तामस तपस्या न करके सात्त्विक तपस्या करनी चाहिए ।।१६।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।२०।।

अन्वय :- **दातव्यम् इति यत् दानम् देशे च काले च पात्रे अनुपकारिणे दीयते तत् दानम् सात्त्विकम् स्मृतम् ।**

अर्थ :- 'दान कर्तव्य है, ऐसा (समझकर) जो देश, काल और पात्र में (यानी योग्य देश में, योग्य समय में, योग्य पात्र में) प्रत्युपकार नहीं करने वाले को दिया जाता है, वह दान सात्त्विक समझा गया है ।

व्याख्या :- भगवान् दान के तीन भेदों सात्त्विक, राजस, और तामस में से यहाँ सात्त्विक दान को बताते हैं । वेद में लिखा है कि मनुष्यों के नेता राजा इक्ष्वाकु ने प्रजापति के 'द' का अर्थ दान ही समझा, और प्रजापति ने इसका निवारण नहीं किया । इसलिये दान अवश्य देना चाहिये, इस बुद्धि से देश अर्थात् श्रेष्ठ देश अयोध्या, मथुरा आदि देश में काल अर्थात् राम-नवमी, कृष्ण-जन्माष्टमी आदि अवसरों पर, पात्र अर्थात् जनता जनार्दन की सेवा करने वाले सदाचारी श्रीवैष्णव ब्राह्मण के प्राप्त होने पर, उपकार अर्थात् प्रत्युपकार की भावना न लेकर जो दान दिया जाता है, वह दान सात्त्विक दान बतलाया गया है । इसमें भगवान् ने दो चकार कहकर यह बतलाया कि शास्त्र-विधि के अनुसार जो दान जैसे देने को लिखा है, उदाहरणार्थ कन्यादान कन्या का हाथ पकड़कर, हाथी दान दाँत पकड़कर, घोड़ा दान उसका कान पकड़कर और गो-दान पूँछ पकड़कर इत्यादि प्रकार से दान तथा पाद-प्रक्षालन आदि, प्रणामादि और सत्कारपूर्वक दान देना सात्त्विक दान कहा जाता है ।

'स्वसत्त्वनिवृत्तिपूर्वकं परसत्त्वोत्पादनं दानम्' (महाभाष्य)

आपने न्यायोपार्जित धन पर अपना अधिकार न रखते हुए दूसरे के अधिकार में दे देना दान कहलाता है । भगवान् ने गीता के १६वें अध्याय में दान को दैवी संपदा में **'दानं दमश्च यज्ञश्च'** (१६।१) कहकर वर्णित किया है । १८ वें अध्याय के पाँचवें श्लोक में दान को न त्यागने योग्य तथा ज्ञानियों को पवित्र करने वाला भगवान् ने बताया है । क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म में **'दानमीश्वरभावश्च'** (१८।४३) कहकर दान को गिनाया है । दान के विषय में कहा गया है - **'दानं दुर्गतिनाशनम्'** दान दुर्गति का नाश कर देता है । इसीसे विद्यालय, अनाथालय, मन्दिर, गोशाला आदि कार्य चलते हैं । अथर्ववेद में कहा गया है -

'शतहस्तसमाहर सहस्रहस्त संकिर' (अथर्व. ३।२४।५)

सौ हाथों के उत्साह एवं प्रयत्न द्वारा तू हे मानव ! धन धान्यादि के सम्पादन कर और हजार हाथों की उदारता द्वारा तू उसका दान कर, योग्य अधिकारियों में वितरण कर । ऋग्वेद में बताया गया है -

'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋ. १०।११७।६) अतिथि, बन्धु वर्ग, दरिद्र आदि को न देकर, केवल आप अकेला ही अन्नादि खाता है वह अन्न नहीं अपितु पाप ही खाता है । गोस्वामी तुलसीदासजी धन की प्रथम गति दान को धन्य मानते हुए कहते हैं -

'सो धन धन्य प्रथम गति जाकी' (रा. मा. ७।१२६।७) इस प्रकार भगवान् के अनुसार ही सात्त्विक दान देना मानव का कर्तव्य है । अर्थात् फलाभिसन्धि से रहित श्रेष्ठ देश में दान देना चाहिये । जैसे अयोध्या आदि में अथवा जिस देश में जिस वस्तु का अभाव हो उसे दान देना जैसे-अन्न, जल आदि । श्रेष्ठ काल अर्थात् रामनवमी आदि के पर्वो पर क्योंकि ऐसे समय सभी तीर्थ एक स्थान पर एक साथ मिल जाते हैं । जैसा कहा भी गया है कि-

जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं । तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ॥ (रा. मा. १।३३।६)

अथवा जिस काल में जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसी वस्तु का दान करना । जैसे शीतकाल में अत्यन्त शीतल जल नहीं देना चाहिये । श्रेष्ठ सदाचारी श्रीवैष्णव ब्राह्मण को देना चाहिये । अथवा गृहस्थ के लिये अतिथि भी दान देने योग्य सबसे बड़ा पात्र है । जैसा कि वेद में कहा गया है - **'अतिथिदेवो भव'** (तै. उ.) जो भी वस्तु गृह में वर्तमान हो उसी सात्त्विक अन्नादि से जातित्वानुसंधान न करते हुए अतिथि का सत्कार करना चाहिये । जैसे भरद्वाज ऋषि के आश्रम में अयोध्या पुरी से गए हुए चाण्डालादि का सत्कार ऋषिकुमारों ने किया । यदि कुछ भी न हो तो चार वस्तुओं से अतिथि का सत्कार करना चाहिये । १-तृण अर्थात् पुआल आदि । इसके न रहने पर २-भूमि पर आदर के साथ बैठाना ३- जलादि से और इसमें भी असमर्थ होने पर ४-सुन्दर वाणी से सत्कार करना चाहिए । यदि इसके रहते हुए भी अतिथि का सत्कार नहीं होता है तो अतिथि उसके सभी पुण्य को ले लेता है और उसके घर पाप को छोड़ जाता है । अन्यत्र भी कहा गया है - **'दरिद्रान् भर कौन्तेय'** (महाभा.) ऐ कोन्तेय ! जो दीन हीन हों, भूखे प्यासे हों उनका भरण पोषण करो । श्रीशंकराचार्य जी ने भी कह है -

'देयं दीनजनाय च वित्तम्' (चर्प. १३) दीन जन के लिये धन देना चाहिए । इसलिए घर आये अतिथि का स्वागत करना मानव का परम धर्म है । प्राचीन काल में रन्तिदेव राजा हुए । जन्मान्तरीय पाप के उदय होने के चलते धर्मात्मा होते हुए भी वे अति दीन हो गये तथा १२ वर्ष का अकाल उनके राज्य में पड़ा । बड़े ही कष्ट से उनके पास कुछ जल शेष था और वही उनके तथा उनके परिवार का आधार था । उसी समय धूप से व्याकुल एक प्यासा हुआ अतिथि उनके पास में आया जिसे उन्होंने रखा जल सत्कारपूर्वक पिला दिया । इस सात्त्विक दान का फल यह हुआ कि साक्षात् भगवान् ने दर्शन दिया और भगवान् के बहुत कहने पर राजा ने यह वर माँगा कि जब तक मैं जिन्दा रहूँ तबतक हमारी दृष्टि के अन्दर हमारे राज्य में कोई भी अन्न, जल और वस्त्र के बिना दु:खी न हो । इसलिये सात्त्विक दान देने से अन्तःकरण भी निर्मल हो जाता है । इस प्रकार भगवान् सात्त्विक दान और सात्त्विक सहवास करने का उपदेश देते हैं ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२१॥

अन्वय :- **तु यत् प्रत्युपकारार्थम् वा पुनः फलम् उद्दिश्य च परिक्लिष्टं दीयते तत् दानम् राजसम् स्मृतम् ।**

अर्थ :- परन्तु जो प्रत्युपकार के लिए या पुनः फल के उद्देश्य से दिया जाता है और अशुभ द्रव्य से युक्त (यानी परिक्लिष्ट) होता है, वह दान राजस माना जाता है ।

व्याख्या :- जो दान लोक में हम उनके साथ करेंगे तो समय आने पर वे हमको देगें, हमारी प्रतिष्ठा या बड़ाई होगी ऐसा सोंचकर तथा स्वर्गादि फल और रोग-निवृत्ति के लिए दिया जाता है, जो अकल्याणकारक द्रव्य अर्थात् अन्याय पूर्वक, व्यभिचारपूर्वक प्राप्त हो अथवा जिसका द्रव्य शुद्धता से नहीं आया अर्थात् देने के बाद मन में दुःख हुआ, वह दान राजस बतलाया गया है । ऐसा दान देने वाले मध्य गति को प्राप्त होते हैं ।

कर्ण राजस दान देने वाला था । जो कर्ण बड़ा त्यागी गिना गया है । जिसका नाम सात महारथियों में तीसरे स्थान पर दुर्योधन ने लिया है - 'भवनान्भीष्मश्च कर्णश्च' (गीता १।८) अर्जुन भी 'भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः' (गीता ११।२६) कहकर कर्ण का नाम तीसरे स्थान पर लेता है तथा परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण ने भी 'द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णम्' (११।३४) कहकर चौथा स्थान कर्ण को दिया है, परन्तु उसने इस भाव से-कि सबसे बड़ा दानी हम कहलायें, हमें मान, प्रतिष्ठा, बड़ाई मिले तथा सबसे बड़े हम हो जायें और स्वर्ग की प्राप्ति हो, दान दिया । यहाँ तक कि कर्ण ने अपना अभेद्य कवच भी दान में दे दिया, परन्तु उसके बदले में एक बाण भी लिया जिससे घटोत्कच मारा गया । इस प्रकार यह दान प्रत्युपकार की भावना से देने के कारण राजस दान हुआ जिसका फल यह हुआ कि लोक में भी उसके पुत्र-पौत्रादि का विकास नहीं हुआ । राजस दान कितनाहूँ दिया जाय उससे बुद्धि शुद्ध नहीं होती । इसीलिए द्रौपदी के राजस्वला समय में वस्त्र खींचते समय कर्ण ने 'गौ-गौ' अर्थात् यह गाय है, खींच दो, ऐसा कहा । इसलिए भगवान् अर्जुन के व्याज से उपदेश देते हैं कि राजस दान की ओर से अपने को हटाते हुए सात्त्विक दान की तरफ बढ़ना चाहिए ।।२१।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

अन्वय :- **यत् दानम् अदेशकाले असत्कृतम् च अवज्ञातम् अपात्रेभ्यः दीयते, तत् तामसम् उदाहृतम् ।**

अर्थ :- जो दान अयोग्य देशकाल में बिना सत्कार और बिना आदर के (यानी अवज्ञापूर्वक) अपात्र को दिया जाता है, वह (दान) तामस बतलाया गया है ।

व्याख्या :- माता पिता से हजारों गुना अतिकारुणिक भगवान् तामस दान से हटने के लिए बता रहे हैं । जो सत्कार रहित अर्थात् बिना प्रणाम और पाद-प्रक्षालनादि के दिया जाय, 'अवज्ञातम्' अर्थात् अपमान पूर्वक बात कहकर, अदेश अर्थात् वर्ण आश्रमादि का विभाग जिस देश में न हो ऐसे इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि में देना, 'अकाले' अर्थात् मल-मूत्रादि करते समय, मरणाशौच आदि के समय अथवा रजस्वला समय में देना, जो मद्य-मांसादि खाता हो, चोरी व्यभिचार करता हो उसे देना तथा 'चकार' से भगवत्, आचार्य-द्रोही को दिया हुआ दान तामस दान बताया गया है । ऐसा दान देने से लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं । इस देनेवाले के पितर तक नरक में जाते हैं ।' पतन्ति नरकेऽशुचौ' (गीता १६।१६)

वे अपवित्र नरक में गिर जाते हैं । यदि शुद्ध सात्त्विक दान किया जाय तो एक गौ के दान से उसके जितने रोम हैं, उतने वर्ष वह स्वर्ग में रहता है । एक बड़े धनी मानी प्रतिष्ठित राजा नृग थे । स्कन्द-पुराण में वर्णन है कि शायद आकाश के तारे, वर्षा के बूँद का परिगणन किया जा सके, परन्तु राजा नृग की दी गयी गौ का कोई परिगणन नहीं कर सकता। ऐसे राजा नृग थे, परन्तु उन्होंने ब्राह्मणों को प्रणाम आदि न कर, ले जाओ ऐसे अपमान आदि द्वारा तामस दान किया तथा दो ब्राह्मणों के सामने विवाद होने पर भी न्यायाधीश होते हुए प्रमादवश वे बोले नहीं, इसलिए उसका फल यह हुआ कि वे मरकर गिरगिट हो गए । भक्त सूरदास जी भी इसका वर्णन करते हुए सूरसागर में कहते हैं -

नौ लाख धेनु दई राजा नृग, बहुतहिं दान देवायो ।
कृष्ण भक्ति बिन विप्र शाप ते, गिरगिट की गति पायो ।
ताको चरन परसि कै माधव दुःखित शाप छुटायो ।
कृपा करी यदुनाथ महानिधि जिन वैकुण्ठ पठायो ॥ (प्र. स्क. ८२३)

इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के व्याज से हमलोगों को उपदेश देते हैं कि तामस दान न देकर सात्त्विक दान देना चाहिए जिससे अधोगति न हो ॥२२॥

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

अन्वय :- **'ओं तत् सत्' इति त्रिविधः ब्रह्मणः निर्देशः स्मृतः । तेन पुरा ब्राह्मणाः च वेदाः च यज्ञाः विहिताः ।**

अर्थ :- 'ओं तत् सत्' ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म (वेद) का निर्देश बतलाया गया । उसीसे पहले ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञ रचे गये हैं ।

व्याख्या :- यज्ञ, तप और ज्ञान के सत्त्व आदि गुणभेद के कारण होने वाले भेद भगवान् पहले कह चुके हैं । अब उन्हीं वैदिक यज्ञादि के ॐकार के संयोग से तथा तत् और सत् शब्दों के सम्बन्ध से व्यवहार करने योग्य लक्षण कहते हुए भगवान् कह रहे हैं कि 'ओम्, तत्, सत्' ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म (वेद) का निर्देश बतलाया गया है । उसीसे पहले ब्राह्मण अर्थात् वेदानुसार चलने वाले त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) तथा वेद और यज्ञ रचे गये हैं । यहाँ पर ब्रह्म वेद का वाचक है 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' जो परब्रह्म नारायण आदिकवि ने चतुर्मुख ब्रह्मा के हृदय में बैठकर वेद का विस्तार किया । 'वेदमध्यापद्विधिम्' नारायण ने ब्रह्मा को वेद (सिद्धान्त कौमुदी) पढ़ाया । गीता के इसी १७वें अध्याय में आगे भगवान् ने कहा है 'सततं ब्रह्मवादिनाम्' (२४) ब्रह्म अर्थात् वेद के उच्चारण करने वाले वैदिक लोग । ब्रह्म नानार्थक है । यहाँ पर ब्रह्म शब्द वेदवाचक है और वेद शब्द से यहाँ पर लक्षणा से वैदिक कर्म कहे जाते हैं । जो वैदिक यज्ञादि कर्म हैं, वे उपर्युक्त तीनों नामों से सम्बोधित होते हैं ।

'किं' यत्तत्पदमनुत्तमम्' (वि. सह. ना. ६१) किम्, यत्, तत्, पद, अनुत्तम तथा 'सदसदक्षरमक्षरम्' (वि. स. ६४) सत्, असत्, क्षर, अक्षर ये सब भगवान के नाम हैं । इसलिए वेद-विहित सभी कर्म को 'ओम्' से 'तत्' से और 'सत्' से सम्बन्ध करके करना चाहिए । भगवान् कहते हैं कि इसी 'ओम्, तत्, सत्' निर्देश से ब्राह्मण अर्थात् वेदानुसार

चलने वाले त्रैवर्णिक, वेद और यज्ञ तथा दो 'चकार' से दान और तप पूर्वकाल में हमारे द्वारा रचे गये हैं ।

यहाँ ब्राह्मण शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों को बताया गया है । भगवान् ने गीता के अठारहवें अध्याय के ४१वें श्लोक में - 'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' कहकर तीन द्विजातीय करके एक कहा है । चौथे अध्याय में 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' (१३) कहकर भगवान् ने बताया कि चारो वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं । महर्षि पतंजलि ब्राह्मण के संबंध में कहते हैं कि -

तप: श्रुतं च योनिश्च ह्येतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तप:श्रुतीभ्यां यो हीन: जातिब्राह्मण एव स: ।

तप, श्रुत और योनि ये निश्चय करके ब्राह्मण बनाने वाले हैं । यदि तप और श्रुत यानी अध्ययन से हीन भी हो तो जाति से भी ब्राह्मण होते हैं । जैसे गाय के दूध न देने पर भी वह गाय ही कही जाती है अन्य पशु नहीं । आगे भगवान् कहते हैं कि वेदों को मैंने बनाया अर्थात् ये हमसे उत्पन्न हुए । जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं उन यज्ञों को भी भगवान् कहते हैं कि मैंने बनाया । जैसा कि गीता के नवें अध्याय में भगवान् ने कहा है 'अहं यज्ञ:' (१६) मैं यज्ञ हूँ । दो चकार से भगवान् ने बताया कि गोदानादि तथा अध्ययनादि तप को इसी निर्देश से मैंने बनाया है । इसलिये सभी वैदिक कार्यों के प्रारंभ में भगवान् के 'ओम्' नाम का सम्बन्ध किया जाता है । यज्ञ में भी स्वाहा आदि में, गोदानादि, अध्ययनादि में 'ओम्' प्रारंभ में लगावे । 'तत्' और 'सत्' पूज्य और प्रशंसा के वाचक हैं । अत: पूज्य भाव प्रकट करने के लिये इनका सम्बन्ध वैदिक कर्मों से जोड़ा जाता है । शूद्र को नहीं कहना चाहिए । यह रहस्य विचारणीय है । जैसे वही सच्ची माता है जो अपने पुत्र से यथायोग्य व्यवहार करती है । जैसे छोटे बच्चे को स्तन का दूध पिलाती है परन्तु बड़े युवक पुत्र का भोजनादि से पेट भरती है, यदि दोनों के साथ विपरीत व्यवहार अर्थात् बड़े को स्तन पान तथा छोटे को भोजन दे तो दोनों नष्ट हो जायेंगे । उसी प्रकार करोड़ो माताओं से भी उदार श्रुति माता ने शूद्रों पर अनेक कार्यों का भार होने से वेद में पूर्णाधिकार नहीं दिया अन्यथा दोनों का काम बिगड़ जाता । इस विषमता में ही समता का रहस्य है । इस प्रकार भगवान् ने शास्त्र की मर्यादा को समझाते हुए परम रहस्य का उपदेश अर्जुन के व्याज से हमलोगों को दिया ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप: क्रिया: ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ता: सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

अन्वय :- **तस्मात् ब्रह्मवादिनाम् विधानोक्ता: यज्ञदानतप:क्रिया: सततम् ओम् इति उदाहृत्य प्रवर्तन्ते ।**

अर्थ :- इसलिये ब्रह्मवादियों (यानी वैदिक सिद्धान्तों को माननेवाले पुरुषों) के शास्त्रोक्त, यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ सदा 'ओं' ऐसा उच्चारण करके हुआ करती हैं ।

व्याख्या :- ॐ तत् और सत्-इन तीनों शब्दों के सम्बन्ध का प्रकार बतलाया गया है । इनमें भी पहले ॐ, इस शब्द के सम्बन्ध का प्रकार बतलाते हुए भगवान् कह रहे हैं कि इसलिए ब्रह्मवादी अर्थात् वैदिक ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की वेद में विधान की हुई अश्वमेधादि, यज्ञ, गोदानादि और अध्ययनादि तप रूपी सारी क्रियायें सर्वदा पहले ॐ इस शब्द का उच्चारण करके आरम्भ की जाती हैं तथा वेद भी ओंकार का उच्चारण करके ही आरम्भ किये जाते हैं ।

'ओम्' यह भगवान् का नाम है । विष्णुसहस्रनाम में 'प्राणद: प्रणव: पृथु:' (५७) कहकर प्रणव भगवान् का नाम बताया गया । महर्षि पतंजलि ने भी 'तस्य वाचक: प्रणव:' (योग. १।१।२७) में कहा है । परब्रह्म नारायण का वाचक प्रणव है । माण्डूक्योपनिषद् में भी 'ओमित्येतदक्षरम्' (मं. १) ओं इस एक अक्षर वाला ब्रह्म कहा गया है । यह वेद के पाठ के प्रारम्भ में लगाकर बोला जाता है । जैसा कहा गया है - 'प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जित'

इसमें भी 'ब्रह्म' शब्द से वेद तथा 'वादिनाम्' 'वदव्यक्तायां वाचि' इस धातु से बनता है जिसका बोलने वाले त्रैवर्णिक से तात्पर्य है । वेद कल्याणकारिणी माता है । जैसे लौकिक माता अपने ही पुत्रों में से योग्यतानुसार किसी को रोटी खिलाती है और किसी को स्तन का दूध पिलाती है, क्योंकि ऐसा ही करने में उसकी परिरक्षकता है । उसी प्रकार करुणामयी वेद-माता ने द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) पुत्रों को वेदपाठ में तथा शूद्र पुत्रों को कतिपय-मंत्रों में योग्यतानुसार अधिकार दिया है । उसमें भी ब्राह्मणी, क्षत्राणी, वैश्या को भी अधिकार नहीं दिया गया क्योंकि माताओं के हृदय कमजोर होते हैं और वेद पाठ का सीधा असर हृदय पर ही पड़ता है, इसलिए वंशोच्छेदन की संभावना से उन्हें अधिकार नहीं दिया गया । ज्ञातव्य है कि वेद में कहीं भी अछूत शब्द से शूद्रों को नहीं अभिहित किया गया है । यह आधुनिक लोगों की देन है । यदि अछूत मान लिया जायेगा तो उसका उद्धार कैसे किया जायेगा । जैसे अछूत अर्थात् न छूने योग्य बिजली की तार है उसको छूने से मृत्यु होगी, उसका उद्धार क्या होगा ? हमारे यहाँ तो जन्म के दिन शूद्र की स्त्री ही सूतिका गृह में प्रसवित्री माता के पास सर्वप्रथम जाती है । विवाह में हरिजन के ढोलक की पूजा पहले ही होती है तथा खेतों में बोझ आदि उठाये जाते हैं परन्तु कोई अछूत मानकर स्नानादि नहीं करता । इसलिये वेदों की वाणी को न समझ कर आधुनिक लोग भोलीभाली जनता को बहकाने के लिये ये सारी समस्यायें खड़ी करते हैं, जिससे विकास न होकर उत्तरोत्तर अवनति ही होती है ।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतप: क्रिया: ।
दानक्रियाश्च विविधा: क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभि: ॥२५॥

अन्वय :- **मोक्षकाङ्क्षिभि: फलं अनभिसंधाय विविधा: यज्ञतप:क्रिया: च दानक्रिया: क्रियन्ते, (ता:) तत् इति ।**

अर्थ :- मोक्ष चाहनेवाले पुरुषों के द्वारा फल की इच्छा से रहित होकर विविध प्रकार के यज्ञ-तप की क्रियाएँ और दान की क्रियाएँ (जो) की जाती हैं, वे 'तत्' नाम से निर्देश करने योग्य हैं ।

व्याख्या :- मोक्ष चाहने वाले त्रैवर्णिक पुरुषों के द्वारा जो फल की इच्छा का त्याग करके विविध प्रकार के यज्ञ, तप और दान तथा चकार से वेदाध्ययनादि क्रियाएँ की जाती हैं, वे ब्रह्म-प्राप्ति के उपायरूप होने के कारण ब्रह्मवाची 'तत्' नाम से निर्देश की जाने योग्य हैं ।

'तत्' भगवान् का नाम है जैसा कि कहा गया है 'किं यत्तत्पदमनुत्तमम् (वि. सह. ६१) अर्थात् १-किम्, २-यत्, ३-तत्, ४-पदम्, ५- अनुत्तमम् ये भगवान् के नाम हैं । केनोपनिषद् में भी लिखा है 'तद्वनं नाम' (केनोप. ४।६)

भगवान् के तत् और वन नाम हैं ।।६।। 'तनु विस्तारे' धातु से 'तत्' बनता है इसलिये 'तत्' परब्रह्म परमात्मा का वाचक है । इसी अध्याय में पहले यज्ञ, तप और दान के तीन-तीन भेद कहे गये हैं । उन तीनों में से सात्त्विक को ही मुमुक्षुओं को ग्रहण करना चाहिए ।।२५।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।

अन्वय :- **पार्थ ! सद्भावे च साधुभावे सत् इति एतत् प्रयुज्यते तथा प्रशस्ते कर्मणि सत् शब्दः युज्यते ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! सद्भाव (यानी सत्ता के भाव) और साधुभाव (श्रेष्ठ या कल्याणमय भाव) में, सत् ऐसे इस पद या नाम का प्रयोग किया जाता है और प्रशस्त (सत्कर्म) के लिए सत् शब्द का प्रयोग होता है ।

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि हे पृथापुत्र अर्जुन ! सत्ता के भाव में अर्थात् विद्यमानता में और साधु भाव में अर्थात् कल्याणमय भाव में सब वस्तुओं के साथ सत् शब्द का प्रयोग लोक में और वेद में भी किया जाता है तथा जिस किसी पुरुष के द्वारा किये जाने वाले शुभ कर्म के साथ सत् का प्रयोग किया जाता है । 'सत्' शब्द ही परब्रह्म नारायण का वाचक है, क्योंकि लिखा है कि 'सदसद्क्षरमक्षरम्' (महा. अनु. विष्णुस. ६४) सत्, असत्, क्षर, अक्षर ये सब भगवान् के नाम हैं ।''अस् भुवि'' धातु से अस्तीति विग्रह में ''सत्'' शब्द निष्पन्न होता है । जिसकी सर्वदा सत्ता रहे उसे सत् कहा जाता है । इससे ''सत्'' शब्द परब्रह्म नारायण का ही वाचक है ।

कर्म के विषय में आगे भगवान् १८वें अध्याय में कहेंगे कि जो शास्त्रनियत (कर्म) कर्तापन और ममता के सम्बन्ध से रहित, बिना राग द्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा कर्तव्य समझकर किया जाता है वह सात्त्विक कहा जाता है (१८।२३) परन्तु जो अनुष्ठेय कर्म भोगों को चाहने वाले पुरुष के द्वारा कर्तृत्वाभिमान से युक्त और अत्यन्त प्रयास से किया जाता है वह कर्म राजस कहलाता है । (१८।२४) तथा अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष न देखकर जो अनुष्ठेय कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है (१८।२५)

पार्थ कहकर भगवान् गुरु-शिष्य सम्बन्ध के अतिरिक्त लौकिक सम्बन्ध का भी द्योतन करते हैं और यह उपदेश देते हैं कि तुम हमारी बुआ के लड़के हो जो महापतिव्रता है, इसलिए तुमको हमारे आदेश का अवश्य पालन करना चाहिए ।।२६।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

अन्वय :- **यज्ञे च तपसि च दाने स्थितिः सत् इति उच्यते । च तदर्थीयम् कर्म एव सत् इति एव अभिधीयते ।**

अर्थ :- यज्ञ एवं तप तथा दान में स्थिति (स्थिरभावना या निष्ठा) सत् इस नाम से कही जाती है और तदर्थ (यानी उसके निमित्त त्रैवर्णिकों के कल्याणार्थ) किये जाने वाले कर्म भी 'सत्' इस नाम से ही कहे जाते हैं ।

व्याख्या :- वेदानुसार चलने वाले त्रैवर्णिकों की जो यज्ञ, दान और तप में स्थिति है वह कलयाणरूप होने से 'सत्' कहलाती है तथा उन त्रैवर्णिकों के कल्याणार्थ किये जाने वाले यज्ञ, दान और तप आदि कर्म भी सत् हैं, यही कहा जाता है ।

यहाँ पर यह जानना चाहिए कि वेद, वैदिक कर्म और ब्राह्मण शब्द के वाच्य त्रैवर्णिक इन सबके साथ 'ओं' 'तत्' 'सत्' शब्द का सम्बन्ध बतलाकर अवेद तथा अवैदिकों से इन्हें अलग कर दिया गया है ।

ऐसा कर्म बन्धनकारक नहीं होते हैं क्योंकि भगवान् तीसरे अध्याय में कह चुके हैं -

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर । (३।९)

हे अर्जुन ! तू आसक्ति रहित होकर यज्ञादि के लिए कर्म का भली-भाँति आचरण करो ।

यज्ञ, तप और दान के विषय में पहले कह चुका हूँ, इसलिए यहाँ अधिक नहीं कहता हूँ ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

अन्वय :- **पार्थ ! अश्रद्धया हुतम् दत्तम् तप्तम् तपः च यत् कृतम् असत् इति उच्यते तत् नो इह च न प्रेत्य ।**

अर्थ :- हे पार्थ बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया होता है, वह असत् ऐसा कहलाता है । यह (कर्म) न तो इस लोक में और न मरने के बाद में (फल देता है)।

व्याख्या :- भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! अश्रद्धा से किये हुए शास्त्र-विहित भी हवन, दान और तपस्या तथा वापी, कूप, तड़ाग, वाटिका निर्माणादि जो कुछ भी कार्य किया जाता है, वे असत् कहलाते हैं । इसलिए वे न तो इस लोक में लाभदायक हैं और न मरने के बाद ही ।

अभिप्राय यह कि अश्रद्धा से किए हुए उपर्युक्त कर्म न तो मोक्ष के लिए उपयोगी होते हैं और न तो सांसारिक फल के लिए ही श्रेयस्कर हैं । इसलिए पराश्रद्धा से युक्त होकर ही उपर्युक्त होम आदि कर्म करना चाहिए जिससे इस लोक एवं परलोक दोनों में लाभदायक हों । ऋग्वेद में कहा गया है - 'श्रद्धे श्रद्धापयेह नः' (ऋक् १०।१५१।५) हे श्रद्धा देवि ! हमारे हृदय में रहकर तू हमें श्रद्धालु आस्तिक बनाओ ।

॥ सत्तरहवाँ अध्याय समाप्त ॥

।। श्रीः ।।

श्रीमते रामानुजाय नमः

अथ अष्टादशोऽध्यायः

।। अर्जुन उवाच ।।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।।१।।

अन्वय :- **अर्जुन उवाच - महाबाहो ! हृषीकेश ! केशिनिषूदन ! संन्यासस्य च त्यागस्य तत्त्वम् पृथक् वेदितुम् इच्छामि ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - महाबाहो ! हृषीकेश ! केशिनिषूदन ! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ।

व्याख्या :- मुमुक्षु अर्जुन भगवान् को तीन सम्बोधन-महाबाहो ! हृषीकेश ! केशिनिषूदन ! देते हुए कहता है कि मैं, संन्यास और त्याग किसको कहते हैं, इसे पृथक्-पृथक् समझना चाहता हूँ ।

इसमें अर्जुन ने श्रेय मार्ग का अनुसंधान किया है । वह विज्ञ है इसलिए जो श्रुति-स्मृति में मोक्ष का साधन ज्ञात हुआ है, उसके विषय में हृदय में सन्देह रखकर भगवान् से प्रश्न करता है । श्रुति में कहा गया है -

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।। (मु. उ. ३।२।६)

वेदान्त के विज्ञान से सुन्दर तत्त्व जिन लोगों का निश्चय हो चुका है वे संन्यास-योग-शुद्धात्मा ब्रह्मलोक में जाकर परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं । गीता में भी भगवान् कहते हैं -'संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।' (६।२८) संन्यास योग से युक्त मन वाला कर्म छुटा हुआ मुझे प्राप्त होगा । इस प्रकार श्रुति-स्मृति में संन्यास को मोक्ष का साधन बतलाया गया है । दूसरे स्थान पर -

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः (महाना. ८।१४)

न यज्ञादि कर्म से, न पुत्र से और न धन से किन्तु केवल त्याग से अमृतत्व प्राप्त हुआ । 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२।१२) त्याग के अनन्तर शान्ति होती है और शान्ति के बिना मोक्ष सुख नहीं मिलता - 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' (गी. २।६६) इस प्रकार त्याग से मोक्ष-सुख बतलाया गया है । कहने का तात्पर्य यह कि मोक्ष के दो साधन बताये गये हैं । इसीलिए तत्त्व अर्थात् लक्षण को समझना चाहता हूँ । यदि पृथ्वी और मही की भाँति संन्यास और त्याग एक ही को कहा जाता है तौभी आप दोनों का लक्षण समझावें कि संन्यास क्या चीज है और - त्याग क्या है ?

इस श्लोक में अर्जुन कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों पापों को दूर करने के लिए तीन सम्बोधन देकर निर्मल हो जाता है, क्योंकि वह जानता है कि जबतक तीनों पाप रहेंगे तबतक वे मोक्ष की ओर नहीं जाने देंगे । पहला सम्बोधन,

कायिक पाप दूर करने के लिये महाबाहो ! देकर यह बताता है कि दीर्घ बाहु वाले आप ही अनादि काल से संसार सागर में पड़े हुए जीवों का उद्धार करेंगे । ऐसे दीर्घबाहु वाले भगवान् की प्रार्थना करते हुए तुलसीदास कहते हैं -

जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक विबस नाम टेरे ।
सीतल सुखद छाँह जेहि करकी मेटति पाप, ताप, माया ॥ (वि. १३८)

अन्यत्र भी कहा गया है -

देहि अवलम्ब कर कमल, कमलारमन, दमन दुःख, शमन संताप भारी ॥ (वि. ५०)

दूसरा सम्बोधन मानसिक अपराध दूर करने के लिये हृषीकेश देकर यह बताता है कि हृषीक नाम इन्द्रियों के आप ही ईश अर्थात् मालिक हैं । इसलिए मन, बुद्धि आदि भीतरी इन्द्रियों को आप ही ठीक करेंगे ।

तीसरा सम्बोधन वाचिक अपराधों को दूर करने के लिये केशिनिषूदन कहकर बताता है कि अत्याचार करने वाले केशि असुर को मारने वाले आप ही हैं । आपकी ही कृपा से वाचिक उपराध दूर होगा ।

संन्यास प्रकृति की देन है । भगवान् का भी सृष्टि के अन्त में संन्यास हो जाता है । जीव का मोक्ष में संन्यास हो जाता है । संन्यास धारण करने वाले का काषाय वस्त्र हो जाता है । काषय परिपक्व को कहते हैं । देखा जाता है कि दिन के अन्त में और रात्रि के अन्त में आकाश काषाय वस्त्र पहन लेता है । उसमें लालिमा आ जाती है । देहात में भी लोग प्रातःकालीन लालिमा को देखकर कहते हैं कि लोही लग गयी है । फल, अन्न तथा पत्ते भी पकने पर काषाय अर्थात् लाल गेरु जैसी लालिमा लिये हुए दिखाई देने लगते हैं । इस प्रकार ज्ञात हो जाता है कि संन्यास प्रकृति की देन है । संन्यास का दूसरा मुख्य चिह्न दण्ड है । वाह्य दण्ड के साथ-साथ मनुष्यों को वाक्दण्ड, मनोदण्ड और कायदण्ड ये तीन मुख्य दण्ड रखना चाहिये । इसके द्वारा क्रमशः वाणी, मन और शरीर को अत्याचार, दुराचार से हटाना चाहिए । तीन दण्ड जब मनुष्यों में आ जाते हैं तभी वह मोक्ष का अधिकारी होता है ।

त्याग से सही सुख मिलता है । एक कुरर पक्षी अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिये हुये था । उस समय दूसरे बलवान् पक्षी, जिनके पास मांस नहीं था, उससे छीनने के लिये उसे घेर कर चोंच मारने लगे । जब कुरर पक्षी ने अपनी चोंच से मांस का टुकड़ा त्याग दिया तभी उसे सुख मिला । इसी प्रकार जीव जब विषयों को त्याग देता है तब अनन्त सुख स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है । इसके विपरीत दुःख की प्राप्ति होती है । इसीको श्रीवेदव्यास जी ने कहा है -

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम् ।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः ॥ (श्रीमद्भा. ११।९।१)

'राजन्' ! मनुष्यों को जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकट्ठा करना ही उनके दुःख का कारण है । जो बुद्धिमान् पुरुष की बात समझकर अकिञ्चन भाव से रहता है उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है ।।१।। इसीसे आचार्य ने भी कहा है - 'विषयान् विषवत् त्यज' विषयों को विष के समान छोड़ दो । भक्त सूरदासजी ने भी

भाषा में कहा है -

समुझि न परो, विषय रस गीध्यौ, हरि हीरा घर माँझ गँवायौ ।
ज्यों कुरंग जल देख अवनि कौ, प्यास न गई चहूँ दिसि धायौ ॥ (सूर. १।३२६)

इन्हीं सब बातों को समझते हुए अर्जुन सुर-दुर्लभ नर देह पाकर भगवान् से संन्यास और त्याग के तत्त्व को समझना चाहता है । अर्जुन मुमुक्षु था, इसीलिए उसने मोक्ष के लिए प्रश्न किया । मुमुक्षु का लक्षण वृहद्नारदीय पुराण में इस प्रकार कहा गया है -

रागद्वेषविहीनो यः शमादिगुणसंयुतः ।
हरिध्यानपरो नित्यं मुमुक्षुरभिधीयते ॥ (वृ. ना. १।३३।५२)

जो रागेद्वेष से रहित, शमदमादि गुण सम्पन्न एवं नित्य नारायण का ध्यान-परायण है, उसे मुमुक्षु कहते हैं ॥५२॥

श्रीभगवानुवाच
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

अन्वय :- **श्रीभगवान् उवाच- कवयः काम्यानाम् कर्मणाम् न्यासम् संन्यासम् विदुः । विचक्षणाः सर्वकर्मफलत्यागम् त्यागम् प्राहुः ।**

अर्थ :- कविलोग (यानी कितने ही विद्वान्) काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं । (कितने) विचक्षण (विद्वान्) पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं ।

व्याख्या :- श्रीभगवान् कहते हैं कि अतिक्रान्तदर्शी कवि लोग कामना लेकर किये गये कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं और ज्ञानी पंडित जन नित्य, नैमित्तिक और काम्य इन सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं ।

यहाँ पर भगवान् अपना उत्तर पहले अर्जुन को न देकर अन्य ऋषि मुनियों के सिद्धान्त को पहले कह रहे हैं । एकाएक अपना ही निर्णय नहीं सुनाते हैं । इस श्लोक में कर्म शब्द आया है, इसलिये पहले कर्म को समझना चाहिये । भगवान् गीता के तीसरे अध्याय में बताते हैं - 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (३।१५) कर्म को सजीव शरीर से उत्पन्न हुआ जानो । आगे अर्जुन के 'किं कर्म पुरुषोत्तम' (८।१) हे पुरुषोत्तम ! कर्म क्या है ? इसका उत्तर देते हुये कहते हैं -

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ (८।३)

अर्थात् मनुष्यादि भूतों की जो सत्ता है उसको वृद्धि करने वाला जो स्थान है, उसका नाम 'कर्म' है । कर्म तीन विभाग में विभक्त है -

(१) नित्यकर्म- जैसे 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत्' प्रतिदिन सन्ध्योपासन करना चाहिए ।
(२) नैमित्तिक कर्म-जैसे 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' (श्रुति) ऋतु-काल पर अपनी भार्या से सहवास करे ।

(३) काम्य कर्म-जैसे 'पुत्रेष्ट्या पुत्रकामोयजेत्' पुत्र की कामना वाला पुत्रेष्टि याग करे ।

यहाँ पर भगवान् बतला रहे हैं कि ब्रह्मा, वाल्मीकि, शुक्राचार्य आदि अतिक्रान्तदर्शी कवि लोगों का सिद्धान्त है कि काम्य कर्म अर्थात् कामना लेकर किये जाने वाले कर्म को नहीं करना ही संन्यास है । ब्रह्मा कवि हैं क्योंकि लिखा है कि 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' (श्रीमद्भा. १।१।१) जिस परब्रह्म ने आदि कवि ब्रह्मा के लिये हृदय से ही वेद का उपदेश दिया । वाल्मीकि जी के सम्बन्ध में भी कहा गया है-

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ (रा. र. स्तो. ३४)

कवितामयी डाली पर बैठकर मधुर अक्षरों वाले राम-राम इस मधुर नाम को कूजते हुये वाल्मीकिरूप कोकिल की मैं वन्दना करता हूँ ।।३४।। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि जी कवि हैं । शुक्राचार्य के लिये स्वयं भगवान् ने गीता में कहा है 'कवीनामुशना कविः' (गीता १०।३७) कवियों में शुक्राचार्य कवि मैं हूँ ।

आगे भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि वामदेव, सनत्कुमार, विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि ज्ञानी जन कहते हैं कि नित्य, नैमित्तिक, काम्य इन सभी कर्मों को करना, परन्तु उनके फलों के त्याग को ही मुख्य शास्त्र में त्याग कहते हैं न कि कर्म के त्याग को । वामदेव ज्ञानी थे जैसा कहा गया है - 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति' (बृ. उ. १।४।१०) इस परब्रह्म को उपासना के द्वारा देखता हुआ सुप्रसिद्ध वामदेव नामक मन्त्रद्रष्टा ऋषि मैं मनु हुआ और मैं सूर्य हुआ-इस प्रकार मन्वादिकों के साथ अपना ऐकात्म्य साक्षात्कार को प्राप्त किया । इसी प्रकार सनत्कुमार के विषय में कहा गया है -

'सनत्कुमारो भगवान् पूर्वं कथितवान् कथाम्' (वा. रा. १।६।२)

भगवान् सनत्कुमार ने इस कथा को कहा, तथा विश्वामित्र को तुलसीदासजी ने वर्णन करते हुये कहा है 'विश्वामित्र महामुनि ज्ञानी' (रा. मा. १।२०५।२) इससे यह ज्ञात हो जाता है कि ये सभी महानुभाव ज्ञानी थे । इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में इस श्लोक में दो सिद्धान्तों को उपस्थित करते हुये बताया कि या तो कवियों के मत को ग्रहण करना चाहिये या ज्ञानियों के मत को । आजकल कलि के प्रभाव से दुराग्रही लोग किसी भी मत को ग्रहण न कर उल्टा आचरण करते हुये वेद के विपरीत बोलते हैं, जब कि स्वयं वेद भगवान् कहते हैं -

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (यजु. अ. ४० मं. २)

इस श्लोक में कहा गया है कि नित्य, नैमित्तिकादिक, निष्काम कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे । इस प्रकार तुम्हारे मनुष्य के विषय में यही मार्ग है, इससे दूसरा मार्ग नहीं है ।।२।।

अन्यत्र भी श्रुति कहती है -

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः ।
शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम् ॥ (यजु. अ. ३६ मं. २४)

हम सौ वर्षों तक भगवान् को देखें तथा सौ वर्ष-पर्यन्त जीते रहें और सौ वर्षों तक भगवच्चरित्रों को सुनें तथा सौ वर्षों तक भगवच्चरित्रों का कथन करें और सौ वर्षों तक हम अदीन रहें ।।२४।। गीता में भी लिखा है -

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । (१८।४५)

अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य परमपद की प्राप्तिरूपी संसिद्धि को पाता है । ज्ञानियों में अग्रगण्य जनक जी के विषय में भी लिखा है -

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (गीता ३।२०)

जनकादि राजर्षिगण भी कर्म के आचरण से ही मुक्ति को प्राप्त हुये । इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वज्ञानियों का कर्म में अधिकार है, परन्तु कुछ दुराग्रही वेदशास्त्र के विपरीत मन-गढंत मार्ग का अवलम्बन करते हैं । वे मानसकार के इस कथन का भी कहीं-कहीं उल्लेख करते हुए अर्थ को न समझकर जनता को बहकाने के लिए कहते हैं कि तुलसदासजी 'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें' (रा. मा. ७।१११।३) इस पंक्ति में स्वरूप ज्ञान में कर्म न होना कहते हैं । यदि ऐसा मान लिया जाय तो स्वयं श्रीतुलसीदासजी ने प्रारम्भ में ही मानस में 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्' (१।१) कहा है, उससे वेद-शास्त्र के विपरीत उनका कथन सिद्ध हो जायगा, जो मान्य नहीं है । दूसरे, जो लोग कर्म का त्याग इस चौपाई का अर्थ करते हैं, उनसे यह पूछना चाहिये कि रामचरित मानस में भगवान् राम, जनक, शिव, जगज्जननी सीता, हनुमान्, काकभुसुण्डी आदि अथवा मानसकार तुलसीदास जी को स्वरूप ज्ञान हुआ कि नहीं । क्योंकि सभी कर्म करते हैं । भगवान् राम यज्ञ रक्षा आदि, जनक यमादि, हनुमान् दूत आदि कर्म, शिवजी एवम् काकभुसुण्डी जो उपदेश आदि तथा तुलसीदास जी लिखने आदि कर्म को करते हैं । यदि आप कहेंगे कि इन सभी को स्वरूप ज्ञान ही नहीं हुआ, तो जब ऐसे महानुभावों को स्वरूप ज्ञान नहीं तो तुम्हें और तुम्हारे अनुयायियों को कहाँ से होगा ?

इस प्रकार सिर्फ कथनमात्र से ही काम नहीं चलेगा क्योंकि तुम्हारे मत में तो वे सभी महान् पुरुष अज्ञानी हो जायेंगे और स्वयं तुलसदासजी भी जो लिख रहे हैं अज्ञानी सिद्ध हो जायेंगे । इस प्रकार उनका कथन भी अज्ञानता का द्योतक तुम्हारे मतानुसार अपने आप सिद्ध हो जायेगा । इसलिये यहाँ निगमागम सम्मत अर्थ ही समझना अभीष्ट है । वास्तव में यहाँ 'कि' शब्द कुत्सित वाचक है, जिसका तात्पर्य यह होगा कि स्वरूप ज्ञान हो जाने पर चोरी, हिंसा आदि कुत्सित कर्म नहीं होते हैं । जैसे श्रीवाल्मीकि जी पहले चोरी आदि कर्म करते थे, परन्तु स्वरूपज्ञान के पश्चात् उनसे सभी प्रकार के बुरे कर्मों का त्याग हो गया । वर्णाश्रमादि वेद-विहित कर्मों को त्यागने का तात्पर्य यहाँ नहीं है । इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण गीता के चौथे अध्याय में कहते हैं - 'गहना कर्मणोगतिः' (४।१७) कर्म की गति समझने में बड़ी कठिन है । इसलिए जो शास्त्रानुसार रामचरित मानस का अर्थ करते हुये पठन-पाठन करते हैं वे ही कल्याण के भागी होते हैं ।।२।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।३।।

अन्वय :- **एके मनीषिणः कर्म दोषवत् त्याज्यम् इति प्राहुः । च अपरे यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यम् इति ।**

अर्थ :- कितने मनीषियों (विद्वान्) ने 'कर्म दोष की भाँति त्याज्य है' ऐसा कहा है और दूसरे विद्वानों ने, यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं है - ऐसा कहा है ।

व्याख्या :- सांख्य शास्त्र के निर्माता कपिलमुनि, आसुरी आचार्य, पंचशिखाचार्य आदि कुछ बुद्धिमान् कहते हैं कि रागद्वेष आदि दोषों की भाँति नित्य, नैमित्तिक, काम्य सभी कर्म त्याज्य हैं और भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि दूसरे मनीषी कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूपी कर्म कभी त्याज्य नहीं हैं ।

इस श्लोक में भगवान् पूर्व की भाँति दो महानुभावों के मत को उपस्थित करते हैं । इनमें पहले कपिल आदि के मत को भगवान् ने कहा है । इनके अनुसार जैसे रागद्वेष जन्म-मरण देने वाले बन्धनकारक हैं उसी तरह सभी कर्म भी बन्धन देने वाले हैं । रागद्वेष की निवृत्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं 'निर्ममो निरहंकार:' (२।७१) ममता और अहंकार से रहित । अर्थात् तीर्थ व्रत आदि करते हुए, धन, बल, जाति का अभिमान न करे ।

'अ' अर्थात् नहीं 'पर' अर्थात् श्रेष्ठ जिससे कोई श्रेष्ठ नहीं है ऐसे परम विवेकी भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि ज्ञानी जानों का सिद्धान्त है कि यज्ञ, दान और तपस्या ये तीन कर्म कभी त्यागने योग्य नहीं हैं, क्योंकि ये वेदानुसार हैं । भगवान् ने भी गीता के तीसरे अध्याय में कहा है -

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः (३।९)

यज्ञ के लिये किये जाने वाले कर्म के सिवा अन्य कर्म बन्धन हैं । इसीलिए बारम्बार याज्ञवल्क्य महाराजा जनक के आचार्य हुये हैं । ऐसा बृहादारण्यकोपनिषद् में विस्तार से वर्णित किया गया है । यज्ञ- यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' यज् धातुसे नङ् प्रत्यय लगाकर यज्ञ शब्द बना है । जिसका अर्थ 'देवतोद्देशेन विहितद्रव्यत्याग: याग:' अर्थात् देवता के उद्देश्य लेकर द्रव्य का त्याग करना याग है । दान के विषय में बताया गया है - न्यायोपार्जितद्रव्यस्यस्वसत्त्वनिवृत्तिपूर्वकं परसत्त्वोत्पादनं दानम्' न्याय से उपार्जित धन हो उसपर अपनी सत्ता न रखते हुये दूसरे को दे देने को दान कहते हैं ।

इसी प्रकार तप के विषय में कहा गया है - 'शास्त्रनियमेन देहक्लेशसहनं तप:' शास्त्र के नियमानुसार देह को सुखाना तप है ।।३।।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।४।।

अन्वय :- **भरतसत्तम ! तत्र त्यागे मे निश्चयम् शृणु, हि पुरुषव्याघ्र ! त्यागः त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।'**

अर्थ :- हे भरत-कुल श्रेष्ठ ! उस त्याग में तू मेरा निश्चय सुनो, क्योंकि हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ।

व्याख्या :- भरत-कुल में श्रेष्ठ ! पुरुषव्याघ्र अर्जुन ! इस त्याग-विषयक निश्चय (सिद्धान्त) को तू मुझसे सुनो क्योंकि किये जाने वाले वैदिक कर्मों का ही फलविषयक, कर्मविषयक और कर्तृत्वविषयक तीन प्रकार का त्याग मेरे द्वारा पहले ही कहा गया है ।

इस श्लोक में भगवान् अर्जुन को दो विशेषणों से सम्बोधित करते हैं । जिसमें पहले विशेषण 'भरतसत्तम' का भाव यह है कि तुम सोमवंशीय दुष्यन्त के पुत्र भरत के वंश में श्रेय मार्ग की जिज्ञासा करने के कारण अत्यन्त श्रेष्ठ हो । इसलिये मेरे द्वारा बताये गये त्याग को ग्रहण करने में समर्थ हो । दूसरे विशेषण 'पुरुषव्याघ्र' से तात्पर्य यह है कि पुरुष नाम ब्रह्म क्योंकि 'अव्ययः पुरुषः साक्षी' (वि. सह. २), 'पुरुष सूक्त' तथा 'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः' (गीता ११।३८) में आये हुये 'पुरुष' शब्द से स्पष्ट है कि 'पुरुष' शब्द का अर्थ ब्रह्म होता है तथा वि+आ+घ्र इस प्रकार 'पुरुषं विशेषेण आसमन्तात् जिघ्रति इति, तत्सम्बुद्धौ पुरुषव्याघ्र' इस व्युत्पत्ति से और 'घ्रा गतिगन्धनयोः' इस प्रकार धातु पाठ होने से यह अर्थ हुआ कि नारायण को विशेष रूप से भलीभाँति जो प्राप्त करे, अर्थात् भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि अर्जुन ! तुम ब्रह्म को विशेष रूप से प्राप्त करने वाले हो । अर्जुन ने भगवान् से संन्यास और त्याग दोनों को बतलाने के लिए प्रार्थना की थी । उसमें भी पहले संन्यास को समझाने के लिए कहा था परन्तु उन दोनों को एक समझकर भगवान् पहले त्याग से प्रारंभ करते हैं । अगर संन्यास और त्याग दो चीज होते तो पहले न्यायानुसार भगवान् संन्यास शब्द से ही तत्त्व कहते । दूसरे आगे कहीं भी संन्यास को त्याग से अलग मानकर भगवान् ने उत्तर नहीं दिया है । भगवान् के कहने का तात्पर्य यही है कि त्याग के सिद्धान्त को कह देने से संन्यास का सिद्धान्त भी गतार्थ हो जायेगा, क्योंकि दोनों एक ही चीज हैं ।

'शृणु' कहकर भगवान् अर्जुन को सावधान कर रहे हैं कि मैं त्याग अथवा संन्यास के विषय में पहले ही कह चुका हूँ परन्तु उसे तूने सावधानी से नहीं सुना इसी कारण उसे समझा नहीं । यदि आगे सावधान नहीं रहोगे तो फिर नहीं समझ पावोगे और पहले की तरह ही मेरे वाक्य को न समझ कर कह दोगे -

'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे' । (गी. ३।२) मिश्रित वचनों द्वारा मानो आप मुझे मोह में डाल रहे हैं ।।२।। क्योंकि अगर सावधानी से सुने होते, तो क्यों पूछते जब कि मैंने इसी गीता में ही तीसरे अध्याय के ३०वें श्लोक में तीन प्रकार का त्याग इस प्रकार बतलाया है -

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।। (३।३०)

इस श्लोक में भगवान् तीन प्रकार के त्याग का वर्णन करते हुए त्याग को संन्यास शब्द से कह कर समझाते हैं कि मेरे मत में संन्यास और त्याग एक ही हैं, दो नहीं । इसमें वर्णित तीन प्रकार के त्याग में १-फल-विषयक त्याग--कर्म के होने वाले स्वर्गादि फल मुझे न मिले, इस भावना को फल-विषयक त्याग कहते हैं । 'निराशीः' का तात्पर्य यही है कि फल की आशा न करे । क्योंकि 'आशा हि परमं दुःखम्' (श्रीमद्भा. ११।८।४४) आशा को ही परम दुःख कहा गया है । इसीसे गोस्वामी तुलसीदास जी इससे विमुख होना ही सुख का कारण बताते हुए कहते हैं -

तुलसी अद्‌भुत देवता आसा देवी नाम ।
सेएँ सोक समर्पई विमुख भए अभिराम ।। (दो. २५८)

एक आख्यायिका है विदेह नगरी मिथिला में एक पिङ्गला नाम की वेश्या रहती थी । वह नित्य नये-नये धनी

पुरुषों को अपने रूपजाल में फँसा कर धन कमाती थी । एक दिन रात्रि के समय किसी पुरुष को फँसाने के लिये सज-धज कर घर के बाहरी दरवाजे पर खड़ी रही । जोहते-जोहते रात बीतने लगी परन्तु कोई नहीं आया । उससे उसे दुराशा हो गई जिससे वैराग्य उत्पन्न हुआ और फिर सुखपूर्वक सो गई । इसीसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि फल की आशा नहीं करनी चाहिए ।

२-कर्मविषयक त्याग-मेरे फल का साधन होने से 'यह कर्म मेरा है' इस प्रकार कर्म में होने वाली ममता का परित्याग कर्म-विषयक त्याग है । इसीसे भगवान् कहते हैं कि निर्मम अर्थात् ममता को त्याग करना । देखा जाता है कि प्रतिदिन अनेक मनुष्यादि मरते हैं परन्तु सबको दु:ख नहीं होता । दु:ख उन्हीं को होता है जिनका उनसे 'मम' का सम्बन्ध रहता है । इसलिए गुरु द्वारा उपदिष्ट मन्त्र में 'नम:' अर्थात् मेरा नहीं है यही समझाने के लिए दिया जाता है । उदाहरण स्वरूप महाराजा जनक एक समय श्रीशुकदेव जी से ज्ञान वार्ता कर रहे थे कि एक कर्मचारी ने आकर कहा कि आप का महल जल रहा है, परन्तु वे ज्ञानी थे जानते थे कि यह मेरा नहीं है, इसलिए जरा भी विचलित नहीं हुए । दूसरी तरफ श्रीशुकदेव जी कौपीन को 'मेरा है' जानकर चंचल हो उठे । इसीसे भगवान् अर्जुन को उपदेश देते हैं कि ममता ही दु:ख का कारण है- इसलिये इसका त्याग करो ।

३-कर्तृत्वविषयक त्याग-जो सर्वेश्वर परमेश्वर को कर्ता समझकर अपने कर्तापन का त्याग करता है वह कर्तृत्व-विषयक त्याग है । श्रुति भी इसी को स्पष्ट करती हुई कहती है -

'अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानां सर्वात्मा' (तै. आ. ३।११)

सबकी आत्मा (परमेश्वर) सबके भीतर प्रविष्ट हुआ सब जीवों का शासक है ।

'यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति' (शतपथ. १४।५।३०)

आत्मा जिसका शरीर है, जो इस आत्मा का अन्तर्यामी रूप से नियमन करता है ।

स्मृति भी कहती है - 'प्रशासितारं सर्वेषाम् (मनु. १२।१२२) सबका भलीभाँति शासन करने वाले परमेश्वर को । गीता में भी भगवान् ने कहा है - 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट:' (१५।१५) मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ ।।१५।।

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। (१८।६१)

अर्जुन ! ईश्वर यन्त्रारूढ़ समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमाते हुए सब प्राणियों के हृदय में स्थित हैं । इसीको भाषा में संत शिरोमणि तुलसीदासजी कहते हैं -

उमा दारु जोषित की नाई । सबहिं नचावत रामु गोसाईं । (रा. मा. ४।१०।७)

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा मेरा शरीर होने के कारण वह मेरे ही शासन में मेरी ही शक्ति से बरतने वाली है, उसके स्वरूप को ऐसा समझ कर अन्त:करण से अर्थात् भीतर से ज्ञान से कर्म करते हुए कर्मों को मुझमें समर्पित करो । 'विगतज्वर:' कह कर भगवान् ने यह बताया कि आन्तरिक संताप अर्थात् अनन्त पापों से मेरी क्या

दशा होगी ? इस प्रकार का आन्तरिक संताप को त्याग देना चाहिये, क्योंकि जब हम स्वरूपतः कर्मों का त्याग न करते हुए अन्तःकरण से त्याग करेंगे तो इन कर्मों के द्वारा आराधित परम पुरुष ही सब बन्धनों से छुड़ा देंगे, ऐसा स्मरण करना चाहिए । दूसरे, अर्जुन को प्रारंभ में, ताप के जो चिह्न होते हैं, शरीर का जलना, मुख सूखना, कँपकँपी आदि, उत्पन्न हो गये थे, जैसा कि वह स्वयं कहता है -

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥
............................त्वक्चैव परिदह्यते ॥ (गी. १।२९-३०)

सारे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है, मेरे शरीर में कम्पन हो रहा है, रोएँ खड़े हो रहे हैं और मेरी त्वचा जल रही है । इसीसे भगवान् कह रहे हैं कि ज्वर के इन चिह्नों से रहित होकर तू युद्ध कर । इस प्रकार भगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को तीन प्रकार के त्याग जो पहले वर्णन कर चुके थे, समझाया ।।४।।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।५।।

अन्वय :- यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यम्, तत् कार्यम् एव । यज्ञः दानम् च तपः मनीषिणाम् एव पावनानि ।

अर्थ :- यज्ञ, दान और तपरूप कार्य त्यागने योग्य नहीं, वे करने योग्य हैं (क्योंकि) यज्ञ, दान और तप मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में अपने सिद्धान्त को बताते हुए कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप वैदिक कर्म मुमुक्षु पुरुषों के लिये कदापि त्यागने योग्य नहीं हैं, बल्कि वे तो मरणकालपर्यन्त करने योग्य ही हैं (क्योंकि) मनन करने वाले पुरुषों के लिये यज्ञ, दान और तप कर्म पवित्र करने वाले होते हैं ।

यद्यपि अन्य ऋषियों का भी यह सिद्धान्त है, फिर भी भगवान् अपना निजी सिद्धान्त इसमें कहते हैं । इससे भगवान् ने शास्त्रविहित कर्मों की अवश्य कर्तव्यता का प्रतिपादन किया है । सब त्यागने योग्य चीजों का त्याग कर देने वाले मुमुक्षु जनों को भी वैदिक तीन कर्म यज्ञ, दान और तपस्या का किसी अवसर पर कभी त्याग नहीं करना चाहिए । इन्हें त्यागने वाले भगवान् की शास्त्र-आज्ञा की अवहेलना करते हैं और आज्ञा की अवहेलना करने वाला भगवान् का द्रोही ही है । इसमें 'मनीषिणाम्' पद मनन नाम उपासना करने वाले मुमुक्षु पुरुषों का वाचक है । अभिप्राय यह कि जीवनपर्यन्त उपासना करने वाले मुमुक्षु पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ, दान और तप कर्म बन्धन-कारक नहीं हैं, बल्कि उनके अन्तःकरण को पवित्र करने वाले होते हैं । इन कर्मों के द्वारा उपासना की सिद्धि के विरोधी सम्पूर्ण प्राचीन कर्म नष्ट हो जाते हैं । इन्हें त्याग करने वाले के प्राचीन सम्पूर्ण पाप कर्म शेष रह जाते हैं जो उन्हें बारम्बार जन्म-मरण रूपी दुःसह दुःख के चक्कर में डालते रहते हैं, क्योंकि जीवात्मा गन्धाशयों से गन्ध ले जाने वाली वायु के समान शरीर से निकलने पर प्राचीन पाप कर्मों को लेकर जाती है । इसलिए समस्त स्वरूप को जानने वाले जर्वाणतर्वाण नामक ऋषि भी यज्ञादि कर्म को करते थे । बड़े ज्ञानी वैराग्यवान् राजा जनक, अश्वपति, केकय आदि राजाओं ने भी यज्ञ किया है ।

महामुनि और ज्ञानी कहलाने वाले विश्वामित्र भी यज्ञ-रक्षा के लिये श्रीराम, लक्ष्मण को माँगने हेतु अयोध्या गये तथा षडहोरात्र के यज्ञ का स्वयं यजमान बने । श्रुति भी इसलिये कहती है -

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा: विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' (बृहदा. ४।४।२२) विद्वान् लोग वेदाध्ययन से, यज्ञ से, दान से, तपस्या से, उस परब्रह्म नारायण को जानने की इच्छा करते हैं । चारो वेदों में यह मन्त्र आया है - 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (ऋग्वेद अ. ४।१६) इसमें बताया गया है कि यज्ञ के द्वारा यज्ञनारायण की आराधना करना सर्वप्रथम धर्म है । भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता के तीसरे अध्याय में कहा है -

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (३।१०)

विश्व के रचयिता भगवान् नारायण ने पहले यज्ञ के सहित प्रजा को रचकर समस्त प्रजा से यह कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग अपनी उन्नति करो । यह यज्ञ तुम लोगों के लिये परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष नामक काम का और उसके अनुकूल समस्त इच्छित भोगों को पूर्ण करने वाला होवे ।।१०।। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ, दान, तप कर्म त्यागने वाले श्रुति-स्मृति के विरुद्ध चलने वाले हैं तथा भगवान् के मतानुसार वे गलत मार्ग पर हैं ।।५।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।६।।

अन्वय :- **पार्थ! तु एतानि कर्माणि अपि संगं च फलानि त्यक्त्वा कर्तव्यानि इति मे निश्चितम् उत्तमम् मतम् ।।**

अर्थ :- हे पार्थ ! बल्कि ये कर्म भी (उपासना की भाँति ही) आसक्ति और फलों का त्याग करके करने योग्य हैं (अर्थात् इन्हें अवश्य करना चाहिये) - ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् अर्जुन को अपने उत्तम मत को बताते हुए कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप कर्म मनीषी को (भी) पवित्र करने वाले हैं, इसलिए हे पृथापुत्र अर्जुन ! ये मेरी आराधना रूप यज्ञादि कर्म भी उपासना की भाँति आसक्ति और उसके फलों को छोड़कर करने योग्य हैं । यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।

यहाँ भगवान् के अर्जुन को पार्थ सम्बोधन देने का अभिप्राय यह है कि तुम्हारी माता ऐसी साध्वी है कि उसके स्मरण से बड़े-बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं और तुम ज्यादातर माता के पास रहे हो इसलिए माता का असर तुझपर होने से तुझमें दोष की संभावना नहीं है । इसलिए तुम्हें योग्य देखकर ही मैं अपने इस उत्तम मत को कह रहा हूँ, जिसमें तुम समझ सको ।

'समीपतरवर्ति चैतदोरूपम्' (मनोरमा) के अनुसार एतद् शब्द का अत्यन्त समीप के अर्थ में प्रयोग किया जाता है । इसलिए यहाँ एतानि का तात्पर्य पूर्व के श्लोक में जो यह कह चुका हूँ कि मुमुक्षु पुरुषों को यज्ञ, दान, तप वैदिक कर्म मरणकाल पर्यन्त कभी त्याग नहीं करना चाहिए, उसके साथ 'तु' और 'अपि' इन दोनों अव्यय शब्दों से भगवान् ने यह बताया कि उनके अतिरिक्त माता-पितादि, गुरुजनों की सेवा, वर्णाश्रमानुसार जीविका-निर्वाह के कर्म और शरीर

सम्बन्धी खान-पान आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म हैं, उनको करना ।

यज्ञ, दान, तप कर्म को करते हुए क्या त्यागना चाहिए ? इसे समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि 'सङ्गम्' अर्थात् कर्म-विषयक ममता को और उसके फल को तथा 'चकार' कहकर कर्तृत्वाभिमान को त्याग देना चाहिए । इसी अभिप्राय को भगवान् चौथे अध्याय में कह चुके हैं - एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि: ।। (४।१५) इस प्रकार जानकर ही पूर्व में होने वाले इक्ष्वाकु, रघु आदि मुमुक्षुओं के द्वारा यज्ञादि कर्म किये गये हैं । जैसा कि विदित है कि जब ब्रह्मा ने 'द' उपदेश देवताओं के राजा इन्द्र को, दैत्यों के राजा विरोचन को तथा मानवों के राजा इक्ष्वाकु को दिया तो इक्ष्वाकु ने 'द' का अर्थ दान ग्रहण करके यह बताया कि भारतीयों को यज्ञ, विद्यालय, अस्पताल, अनाथालय, देवालय आदि के लिये दान करना चाहिए क्योंकि - 'दानं दुर्गतिनाशनम्' अर्थात् दान दुर्गति का नाश करने वाला कहा गया है तथा उन्होंने स्वयं मिट्टी के पात्र में जल ग्रहण करते हुए तपस्वी जीवन व्यतीत किया तभी इनके वंश में आगे चलकर भगवान् राम अवतार लेते हैं । यदि कहो कि कर्म नहीं करेंगे तो और को कौन कहे शरीर भी बिना कर्म किये नहीं रहेगा । गीता में ही भगवान् कहते हैं -

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण: । (३।८)

कर्म न करने पर तो तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी । इसलिये 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' श्रुति स्मृति भगवान् की आज्ञा हैं तथा 'आज्ञाद्रोही न मद्भक्त:' आज्ञा द्रोही मेरा भक्त नहीं है यह समझ कर पहले के महान् पुरुषों की भाँति, यज्ञ, दान, तप को करते हुय आसक्ति फल और कर्तृत्व का त्याग करना चाहिए । भगवान् कहते हैं कि यही मेरा उत्तम मत है । इससे बढ़कर कोई मत नहीं है । इसी को त्याग अथवा संन्यास जानना चाहिए । भगवान् का मत उत्तम इसलिये है कि इसमें ही त्याग और संन्यास के पूर्ण लक्षण मिलते हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्म स्वरूपत: बन्धनकारक नहीं हैं; उनके साथ ममता, फल की कामना और कर्तृत्वाभिमान करना ही बन्धन-कारक है ।।६।।

नियतस्य तु संन्यास: कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामस: परिकीर्तित: ।।७।।

अन्वय :- **नियतस्य कर्मण: तु संन्यास: न उपपद्यते । मोहात्तस्य परित्याग: तामस: परिकीर्तित: ।**

अर्थ :- शास्त्रनियत कर्म का तो त्याग उचित नहीं है । (अत:) मोह से उसका त्याग करना तामस (त्याग) कहलाता है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन को संन्यास अथवा त्याग को समझाते हुए कहते हैं कि शास्त्रविहित वर्णाश्रमोचित नित्य-नैमित्तिक महायज्ञादि कर्म का स्वरूपत: संन्यास, (त्याग) नहीं बन सकता । अत: ज्ञान के उत्पादक कर्मों का इस प्रकार विपरीत ज्ञान से त्याग करना तामस (त्याग) कहलाता है । इस श्लोक में भगवान् ने पूर्वार्द्ध में जिसको संन्यास शब्द से कहा है उत्तरार्द्ध में उसी संन्यास को त्याग शब्द से कहते हुए यह बताते हैं कि अर्जुन ने जो संन्यास और त्याग को अलग-अलग समझाने के लिए कहा यह उसका प्रश्न ही गलत है; क्योंकि जब दोनों एक हैं तो अलग-अलग समझाने की क्या आवश्यकता है ? इसीलिए भगवान् संन्यास और त्याग एक ही चीज होने से इसमें भी जिसे संन्यास शब्द से

कहे हैं, उसे ही आधे श्लोक में त्याग शब्द से कहते हैं ।

यहाँ नियत कर्म का तात्पर्य वर्ण, आश्रम, स्वभाव के अनुसार जिस मनुष्य के लिए जो कर्म शास्त्रों में अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं उसके लिए वे नियत कर्म हैं । ऐसे नित्य, नैमित्तिक, यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का स्वरूपत: त्याग नहीं बन सकता । अभिप्राय यह कि - 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण:' ।। (गी. ३।८) इसके अनुसार जीवन निर्वाह की सफलता कर्मों के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि यज्ञ के बचे हुए अन्न के द्वारा जो जीवन निर्वाह किया जाता है वही यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करता है । इससे विपरीत चलने वाले भगवान् के कथनानुसार -

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् । (गी. ३।१३)

यज्ञ में जो बचा हुआ नहीं है उस अन्न को केवल अपने लिए पकाकर खाने वाले पापी तो पाप ही खाते हैं । इस प्रकार उस पापरूप अन्न से शरीर पोषण करना तो मन में विपरीत ज्ञान उत्पन्न करने का कारण बन जाता है । श्रुति भी कहती है - 'अन्नमयं हि सोम्य मन:' (छा. उ. ६।५।४) हे सोम्य ! यह मन अन्नमय है । इससे ज्ञात होता है कि अन्न से ही मन का पोषण होता है । अन्यत्र भी श्रुति कहती है -

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥ (छा. उ. ७।२६।२)

आहार की शुद्धि से अन्त:करण की शुद्धि होती है, अन्त:करण की शुद्धि से स्थिर स्मृति होती है । स्मृति की स्थिरता से समस्त बन्धनों से छुटकारा मिलता है । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म-साक्षात्कार रूप ज्ञान आहारशुद्धि के अधीन कहा गया है । इसलिये महायज्ञादि नित्य नैमित्तिक कर्म मरणकाल पर्यन्त ब्रह्म-ज्ञान के लिए अवश्य कर्तव्य हैं । अतएव उनका त्याग नहीं बन सकता ।

महायज्ञादि कर्मों का त्याग मोह से बन्धनकारक समझकर छोड़ना तामस त्याग कहलाता है । यह तमोगुण से उत्पन्न होता है जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के १४वें अध्याय में कहा है -

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च । (१४।१७)

तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं । विपरीत ज्ञान को मोह कहते हैं । इसलिए तमोगुण से उत्पन्न ज्ञान से जो कोई भी अपने वर्णाश्रमोचित शास्त्रों में विधान किये हुए कर्तव्य कर्म को भूल से मुक्ति का हेतु समझकर त्याग करता है उसका वह त्याग तामस त्याग है । ऐसे तामसी मनुष्यों की, 'अधो गच्छन्ति तामसा:' (गी. १४।१८) के अनुसार अधोगति होना बतलाया गया है । जैसा कि भगवान् ने अठारहवें अध्याय में ही आगे इस प्रकार कहा है -

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ (श्लो. ३२)

अधर्म से ढकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म, ऐसी मानती है तथा सब बातों को विपरीत मानती है, हे पार्थ ! वह बुद्धि तामसी है । जैसा कि त्रिपुर पहले सब देवताओं की आराधना करता था परन्तु माया मोह रूपी दिगम्बरों के

बहकावे में आकर मूर्तियों की पूजा आदि कर्म न करके उल्टा ज्ञान कर लिया तथा इसीसे उसका विनाश भी अन्त में हो गया । इसलिए नित्य नैमित्तिक महायज्ञादि कर्मों का त्याग विपरीत ज्ञानमूलक है ।।७।।

दु:खमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।८।।

अन्वय :- **दु:खम् इति एव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् सः राजसम् त्यागम् कृत्वा त्यागफलम् न एव लभेत् ।**

अर्थ :- (कर्म) दु:खरूप है ऐसा मानकर जो कर्तव्य कर्म शारीरिक क्लेश के भय से त्याग दिया जाय तो वह (ऐसा करने वाला) राजस त्याग करके त्याग के (यथार्थ) फल को नहीं ही प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- पंचमहायज्ञादि कर्म दु:खरूप हैं, ऐसा जानकर जो कोई मन वाणी, शरीर के क्लेश के भय से कर्म का त्याग कर देता है तो वह राजस त्याग करके त्याग के वास्तविक फल अमृतत्व, शान्ति और ज्ञान की प्राप्ति को नहीं पाता है ।

'प्रतिकूलतया वेदनीयं दु:खम्' जो मन के प्रतिकूल हो उसे दु:ख कहते हैं । दु:ख तीन प्रकार का होता है - १-आध्यात्मिक २-आधिदैविक ३-आधिभौतिक । इसी दु:ख को ताप भी कहते हैं । भगवान् तीसरे अध्याय में कह चुके हैं 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' (३।८) वर्णाश्रमोचित शास्त्र द्वारा विधान किये हुए नियत कर्म को करो ।।८।। उसीको यहाँ 'यत्' पद से कहते हैं । 'काय' शब्द यहाँ उपलक्षण है ।

'स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वम् उपलक्षणत्वम्'

के अनुसार अपना बोध करता हुआ जो दूसरे का भी बोध कराता है उसे उपलक्षण कहते हैं । इससे 'काय' शब्द शरीर के साथ मन, वाणी का भी बोधक है । यद्यपि उपर्युक्त कर्म मोक्ष के साधन रूप हैं तथापि उनके अनुष्ठान में मन, वाणी, शरीर को परिश्रम होता है तथा दु:खरूप द्रव्योपार्जन से ये कार्य सिद्ध होते हैं और इनमें अनेक प्रकार के विघ्न होते हैं । इन्हें करने के लिए बहुत सी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है, शरीर के आराम का त्याग करना पड़ता है, व्रत, उपवास आदि करके कष्ट सहना पड़ता है तथा बहुत से भिन्न-भिन्न नियमों का पालन करना पड़ता है-इससे ये मन में खिन्नता पैदा करने वाले हैं, इस भय से अर्थात् उपर्युक्त परिश्रम से बचने के लिए तथा आराम करने की इच्छा से पंचमहायज्ञादि शास्त्रविहित कर्मों को छोड़ देना ही राजस त्याग है । ऐसा त्याग करने वाले 'त्यागेनैकेअमृतत्वमानशु:' (महाना. ८।१४) तथा 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२।१२) के अनुसार जो त्याग का फल अमृतत्व तथा शान्ति है उसको तथा ज्ञान को नहीं प्राप्त करते हैं । इसलिए भगवान् के कथनानुसार 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:' (गी. १४।१८) वे बीच में अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं । इसी बात को भगवान् आगे कहेंगे भी -

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।१८।३१।।

जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कार्य और अकार्य को यथार्थ रूप से नहीं जानता है, पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है । इसलिए कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को ऐसा त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिस शरीर के कष्ट से हम दूर भागते हैं वह शरीर तो २४ तत्त्वों का बना हुआ एक पिण्ड है । ये प्राकृत २४ तत्त्व हैं । इस प्रकार भगवान् यह समझाते हैं कि शरीर, मन वाणी के कष्ट को सोचकर शास्त्रविहित पंचमहायज्ञादि कर्मों के त्याग से त्याग का फल प्राप्त करना तो दूर है उल्टे अधोगति भी प्राप्त होती है । इसलिए कम से कम सभी सद्गृहस्थों को प्रतिदिन होने वाली पाँच हत्याओं को दूर करने के लिये पंचमहायज्ञ अवश्य करना चाहिये ।

सत्शास्त्रों का पाठ (ऋषियज्ञ), हवन (देवयज्ञ) अतिथियों की सेवा (नृयज्ञ) श्राद्ध और तर्पण (पितृयज्ञ) प्राणिमात्र के लिये आहार देकर उनकी सेवा करना (भूत-यज्ञ) ये पाँच महायज्ञ ब्रह्म यज्ञ आदि नामों से प्रसिद्ध हैं ।।८।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।९।।

अन्वय :- **अर्जुन ! यत् शास्त्रनियतम् कर्म कार्यम् एव इति संगं च फलम् त्यक्त्वा क्रियते सः एव त्यागः सात्त्विकः मतः ।**

अर्थ :- अर्जुन ! जो शास्त्रनियत (यानी वर्णाश्रमोचित) कर्म करना ही चाहिये ऐसा समझकर आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है, वह ही त्याग सात्त्विक माना गया है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि अर्जुन ! जिस वर्ण, आश्रम के अनुकूल जिन नित्य, नैमित्तिक, महायज्ञादि कर्मों का शास्त्र में विधान किया गया है वे कर्म करने योग्य हैं ऐसा समझकर आसक्ति, फल और कर्तृत्व का त्याग करके उन कर्मों को किया जाता है, वह आसक्ति आदि का त्याग सात्त्विक माना गया है ।

इस श्लोक में भगवान् अर्जुन सम्बोधन देते हैं । अर्जुन सफेद वस्तु को कहते हैं । सत्त्वगुण को भी सफेद ही बताया गया है । जैसा कि श्रुति में कहा गया है 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (श्वे. उ. ४।५) लाल (रजोगुण), सफेद (सत्त्वगुण) और काले (तमोगुण) रंग वाली (तथा) गीता में भी भगवान् ने बताया है -

'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।' (१४।६)

उनमें सत्त्व गुण निर्मल (सफेद) होने के कारण प्रकाशक है । इससे भगवान् यह बताते हैं कि तुम्हारे अन्दर सत्त्वगुण की मात्रा बढ़ी है इसिलए तुम उत्तमाधिकारी हो । सात्त्विक त्याग का लक्षण बताते हुए भगवान् कहते हैं कि सङ्ग अर्थात् कर्म विषयक ममता को अर्थात् मेरा यज्ञ है, मेरा तप है इस प्रकार की आसक्ति को और फल अर्थात् इस यज्ञ, दान, तप से स्वर्ग, धन पुत्रादि मिलेंगे तथा चकार से कर्तृत्वाभिमान अर्थात् मैं करने वाला हूँ जैसा कि कहा भी गया है -

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते (३।२७)

अहंकार से मूढ़ात्मा ऐसा मानता है कि 'मैं करने वाला हूँ, इस प्रकार आसक्ति, फल और कर्तृत्वाभिमान का
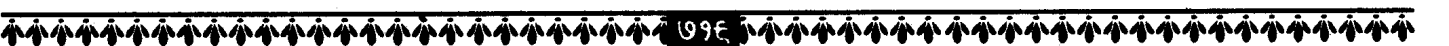
त्याग सात्त्विक त्याग माना गया है । सत्त्वगुण यथार्थ वस्तु का ज्ञान उत्पन्न करता है जैसा कि भगवान् ने १४वें अध्याय में कहा है - 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' (१४।१७) सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है । तथा आगे भी इसी प्रकार कहेंगे -

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ (१८।३०)

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष इन सबको जो बुद्धि जानती है पार्थ ! वह बुद्धि सात्त्विकी है । सात्त्विक त्याग करने वाले सात्त्विक पुरुषों के सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं - ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः (१४।१८) सत्त्वगुण में स्थित पुरुष संसार के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

अन्वय :- **सत्त्वसमाविष्टः मेधावी छिन्नसंशयः त्यागी न अकुशलम् कर्म द्वेष्टि न कुशले अनुषज्जते ।**

अर्थ :- सत्त्वगुण से ओत-प्रोत, मेधावी, संशयरहित त्यागी न अकुशल कर्म से द्वेष करता है और न कुशल (कर्म) में राग करता है ।

व्याख्या :- सत्त्वगुण से सम्यक् युक्त, मेधावी अर्थात् यथार्थ तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी और संशयरहित ऐसा कर्म-विषयक ममता, फल और कर्तापन का त्यागी पुरुष प्रमाद (भूल से) होने वाले अकुशल कर्म से न द्वेष करता है और न कुशल (कर्म) में राग करता है ।

शास्त्र द्वारा निषिद्ध अनिष्ट फल देने वाले कर्म का नाम अकुशल कर्म है । इस प्रकार के कर्म करने वाले मनुष्य को नाना प्रकार की नीच योनियों में और नरक में गिरना पड़ता है । जैसे 'न सुरां पिबेत्' 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' आदि शास्त्र द्वारा निषेध किया गया कर्म । यहाँ पर जो अनिष्ट फल देने वाले पाप कर्मों में द्वेष न करने की बात कही गई है, इसका अर्थ जो यह करते हैं कि वे द्वेष नहीं करते अर्थात् प्रीति करते हैं वह गलत अर्थ है, क्योंकि यह अर्थ श्रुति से विरोध में हो जायगा तथा विरोध होने पर श्रुति-प्राबल्याधिकरण न्याय से श्रुति का वाक्य मान्य होगा । जैसा कि कहा भी गया है 'विरोधं त्वनपेक्ष्यं स्यात्' (पू. मी.) श्रुति में कहा गया है 'नाविरतो दुश्चरितात्' (कठ. उ. १।२।२४) जो दुष्ट अर्थात् बुरे आचरणों से विरत नहीं हुआ है वह इस आत्मा को विशुद्ध ज्ञान के द्वारा नहीं पा सकता । इसमें स्मृति के द्वेष नहीं करता है इस वाक्य से विरोध हो जायगा और विरोध में भगवद् गीता का वाक्य अप्रमाण्य होगा, परन्तु गीता सभी उपनिषदों का सार कही गयी है । इसलिए यहाँ पर भगवान् के इस कथन का यह अभिप्राय है कि प्रमाद से, भूल से अथवा अज्ञान से होने वाले कर्मों से द्वेष नहीं करता । अथवा सात्त्विक त्यागी जो निषिद्ध कर्मों का त्याग करता है वह द्वेष बुद्धि से नहीं करता, बल्कि अकुशल कर्मों का त्याग करना कर्तव्य है इस भाव से लोक-संग्रह के लिए उनका त्याग करता है ।

स्वर्ग, पुत्र, पशु और अन्नादि इष्ट फल देने वाले कर्म का नाम कुशल कर्म है । जिनका वेद ने विधान किया है । जैसे 'स्वर्गकामोयजेत्' 'दर्शपौर्ण-मासाभ्यां यजेत्' आदि । सात्त्विक त्यागी उन कुशल कर्मों में आसक्त नहीं होता ।

इन किये जाने वाले दोनों प्रकार के कर्मों में द्वेष-राग नहीं करता, क्योंकि वह समस्त कर्मों में ममता रहित और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी फलों का त्यागी एवं कर्तापन का भी त्यागी होता है । इस प्रकार सत्त्वगुण से युक्त ज्ञानी पुरुष का संदेह दूर होता है, क्योंकि उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि सात्त्विक त्याग ही कर्म-बन्धन से मुक्त कर परमपद को प्राप्त कर लेने का पूर्ण साधन है । इसलिये वह ज्ञानी और संशय रहित है ।।१०।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।

अन्वय :- **हि देहभृता कर्माणि अशेषतः त्यक्तुम् न शक्यम्, तु यः कर्मफलत्यागी सः त्यागी इति अभिधीयते ।**

अर्थ :- क्योंकि देहधारी द्वारा कर्मों का सम्पूर्णतया त्याग शक्य (सम्भव) नहीं है, इसलिये जो कर्मफल का त्यागी है, वही (यथार्थ) त्यागी (है) ऐसा कहा जाता है ।

व्याख्या :- भगवान् इस श्लोक में संन्यासी अथवा त्यागी किसे कहते हैं यह बताते हुए कहते हैं कि शरीरधारी (प्राणी) के लिये कर्मों का सम्पूर्णतया त्याग सम्भव नहीं है । इसलिये जो नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों के फल, आसक्ति कर्तापन का त्यागी है वह (यथार्थ) त्यागी है, ऐसा कहा जाता है ।

'दुभृञ् धारणपोषणयोः' धातु से किप् प्रत्यय लगकर 'भृत्' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है शरीधारी । 'दिह उपचये' धातु से देह शब्द बना है । अतः उपचय अर्थात् अनेक अवयवों के संघात रूप देह । इस प्रकार जिनके द्वारा देह का धारण-पोषण किया जाता है, ऐसे समस्त मनुष्य-समुदाय का वाचक, यहाँ 'देहभृता' पद है । देह के सम्बन्ध में भगवान् ने कहा है 'अन्तवन्त इमे देहाः' (गीता २।१८) 'ये सब देह विनाशशील हैं ।' भगवान् कहते हैं कि देहधारी मनुष्य कभी समस्त कर्म को छोड़ने में समर्थ नहीं है । तीसरे अध्याय में भी कहा गया है -

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । (गी. ३।५)

इस लोक में रहने वाला कोई भी पुरुष क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता ।।५।। तथा बिना कर्म किये शरीर का निर्वाह ही नहीं हो सकता (३।८) इसलिये कर्म अनिवार्य होने से उनके लिए पंचमहायज्ञादि का अनुष्ठान भी अनिवार्य है क्योंकि बिना इसके स्वयं अपने लिये खाने वाले पाप ही खाते हैं (३।१३) अतः किसी वर्ण, आश्रम में रहने वाले मनुष्य को जब तक देह रहेगा तब तक खाना-पीना, सोना, बैठना, चलना-फिरना और बोलना आदि कुछ-न- कुछ करना ही पड़ेगा । इस प्रकार स्वरूपत कर्मों का त्याग किया जाना संभव नहीं है । श्रीशुकदेव जैसे परमहंस परिव्राजक भी स्वरूपतः कर्मों का त्याग न करके उपदेशादि कर्म, फल, आसक्ति और कर्तापन को छोड़कर करते थे । ऐसा ही सभी महापुरुषों का इतिहास वर्णित है ।

यहाँ 'फलत्यागी' उपलक्षण है । इसका भाव फल, आसक्ति और कर्तापन तीनों का त्यागी है क्योंकि आरम्भ में ही भगवान् कह चुके हैं - 'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः (१८।४) त्याग तीन प्रकार का कहा गया है । इसलिये जो श्रुति ने कहा है कि 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।' (महाना. ८।१४) कुछ लोग केवल त्याग से अमृतत्व को प्राप्त हुये । इसमें त्यक्तानुबन्धग्रहण न्याय से त्याग शब्द से कर्म के फल, आसक्ति और कर्तृत्व तीनों का त्याग करने को

कहा है, क्योंकि श्रुति का अर्थ स्मृति उपबृंहण करती है । इसलिए श्रुति के अर्थ को भगवान् ने स्मृति गीता में स्पष्ट किया है । इस प्रकार भगवान् ने इस श्लोक में स्पष्ट रूप से अर्जुन को समझाया कि शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि कर्तव्य कर्मों का स्वरूप से त्याग न करके फल, ममता और कर्तृत्वाभिमान को त्यागने वाला सच्चा त्यागी अथवा संन्यासी है ।।११।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।।१२।।

अन्वय :- **अनिष्टम् इष्टम् च मिश्रम् त्रिविधम् कर्मणः फलम् अत्यागिनाम् प्रेत्य भवति, तु संन्यासिनाम् क्वचित् न ।**

अर्थ :- अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित तीन प्रकार का कर्म फल अत्यागियों को पीछे (यानी कर्मानुष्ठान के बाद) मिलता है, परन्तु त्यागियों को कभी नहीं (मिलता)

व्याख्या :- अनिष्ट, इष्ट और मिश्र तीन प्रकार का कर्म फल अत्यागियों को कर्मानुष्ठान के बाद मिलता है, परन्तु फल, ममता और कर्तापन का त्याग कर देने वाले त्यागियों को कभी भी मोक्षविरोधी फल नहीं मिलता ।

पूर्व के श्लोक में यह बात कही गई है कि 'जो कर्म के फल, ममता और कर्तृत्व का त्यागी है, वही त्यागी है ।' इस पर शङ्का हो सकती है कि अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि तथा महायज्ञादि कर्म शास्त्रों में स्वर्गादि फल देने वाले बताये गये हैं । नित्य और नैमित्तिक कर्म भी 'प्राजापत्यं गृहस्थानाम्' (वि. पु. १।६।३७) 'गृहस्थों के लिये प्राजापत्य यज्ञ कर्तव्य है' इत्यादि वचनों से फल का सम्बन्ध बतलाकर ही किया गया है । अतः इस प्रकार फल के साधनरूप में बतलाये हुए कर्मों का अनुष्ठान करने से कर्मों का फल न चाहने पर भी किये हुए कर्म से इष्ट अनिष्ट फल प्राप्त (बीजवपनन्याय) से अवश्य होगा-जैसे बोया हुआ बीज समय पर अपने आप फल उत्पन्न कर देता है । अतएव मोक्ष के विरोधी फल देने वाले होने के कारण मुमुक्षु पुरुषों को कर्म नहीं करना चाहिये । उपर्युक्त शङ्का का उत्तर भगवान् इस श्लोक में देते हैं । इस श्लोक में भगवान् 'त्यागिनाम्' पद के स्थान पर 'संन्यासिनाम्' पद का प्रयोग कर यह बताते हैं कि संन्यासी और त्यागी दो नहीं एक हैं । भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उत्तर देते हुए कहते हैं कि कर्म के फल तीन प्रकार के होते हैं -
१-अनिष्ट फल नरकादि दुःख, जैसा अर्जुन कहता है -

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो............................।। (गी. १।४४)

जनार्दन ! जिनके कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्यों का अवश्य ही नरक में निवास होता है ।

२-इष्ट फल-स्वर्गादि सुख जैसा कि भगवान् ने ९वें अध्याय में कहा है -

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।। (९।२०)

तीनों वेदों में निष्ठा रखने वाले, सोमरस पीने वाले और जिनके पाप विशुद्ध हो चुके हैं ऐसे पुरुष यज्ञों से मुझे पूजकर (मुझे न जानने के कारण) स्वर्ग प्राप्ति की याचना करते हैं । वे इष्ट फल रूप इन्द्रलोक को पाकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ।

३-मिश्र फल-दु:ख से मिला हुआ राज्य पुत्र, पशु अन्नादि की प्राप्ति । जैसा कि अर्जुन पहले अध्याय में कहता है -

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगा: सुखानि च । (१।३३)

हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुखों की आवश्यकता है । उपर्युक्त तीन प्रकार का कर्म-फल अत्यागियों अर्थात् कर्म के फल, ममता और कर्तृत्वाभिमान का त्याग न करने वाले पुरुषों को कर्म करने के बाद मिलता है । यहाँ 'प्रेत्य' शब्द का अर्थ कर्मानुष्ठान के बाद का समय है । संन्यासियों अथवा त्यागियों को कभी नहीं मिलता इसका अभिप्राय यह है कि जो कर्म-फल, ममता और कर्तापन का त्याग करने वाले हैं, उन पुरुषों को कभी मोक्ष-विरोधी फल नहीं मिलता । भूने हुये बीज की भाँति उनमें फल नहीं उत्पन्न होता । जिस प्रकार अग्निहोत्र महायज्ञादि कर्मों का जीवन के लिये भोगों के लिये विधान है वैसे ही मोक्ष के लिए भी पृथक् रीति से इनका विनियोग होता है । जैसा कि वेद का शिरोभाग कहता है -

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा: विविदिषन्ति, यज्ञेन दानेन तपसा' (बृह. ४।४।२२)

उस वेदान्त-प्रतिपाद्य परमात्मा को ब्रह्मवेत्ता मुमुक्षु लोग वेदों के अध्ययन से, यज्ञ से, दान से, तप से जानने की इच्छा करते हैं । इस प्रकार श्रुतियों द्वारा कर्मों का मोक्ष में विनियोग बताकर भगवान् कहते हैं कि ऐसा जो किये जाने वाले कर्मों में फल ममता और कर्तापन का त्याग है यही शास्त्र-विहित संन्यास अथवा त्याग के नाम से कहा गया है । इसलिये कर्मों का स्वरूपत: त्याग नहीं करना चाहिये । यहाँ 'तु' अव्यय का प्रयोग त्यागियों की अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता प्रकट करने के लिये किया गया है ।।१२।।

पच्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१३।।

अन्वय :- **महाबाहो ! सांख्ये कृतान्ते सर्वकर्मणाम् सिद्धये प्रोक्तानि पञ्च एतानि कारणानि मे निबोध ।**

अर्थ :- हे महाबाहो ! सांख्य शास्त्र में निर्णय लिये गये सब कर्मों की सिद्धि के लिये कहे गये पाँच इन कारणों को मुझसे जान लो ।

व्याख्या :- त्यागी अथवा संन्यासी का निर्णय करके भगवान् कार्य कारण को बताते हुए कहते हैं कि महाबाहो अर्जुन ! लौकिक और वैदिक सभी कर्मों के होने के लिए यथार्थ तत्त्व को विषय करने वाली वैदिक बुद्धि के द्वारा विचार किये हुए निर्णय में बतलाये हुए ये पाँच कारण हैं, उनको तू भलीभाँति मुझसे समझ ।

सभी कर्मों से तात्पर्य शास्त्र-विहित और निषिद्ध सभी प्रकार के कर्मों से है । किसी कर्म का पूर्ण हो जाना यानी उसका बन जाना ही उसकी सिद्धि है । संख्या बुद्धि को कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि समस्त कर्मों के निष्पन्न

होने में जो पाँच हेतु बतलाये गये हैं अर्थात् जिन पाँचों के सम्बन्ध में समस्त कर्म बनते हैं उनको मैं तुझसे बतलाता हूँ, सावधान होकर सुन । ये पाँचो कारण, जहाँ सम्यक् वैदिकी बुद्धि के द्वारा परमार्थ तत्त्व का निर्णय किया गया है, वहाँ बतलाये गये हैं ।

यहाँ भगवान् बड़े विलक्षण मुद्रा से उपदेश दे रहे हैं । इसी अठारहवें अध्याय के प्रथम श्लोक 'संन्यासस्य महाबाहो' में अर्जुन ने भगवान् को महाबाहो ! सम्बोधन देकर प्रश्न किया था । भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुन के त्याग अथवा संन्यास प्रकरण को समाप्त कर 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।।' (गीता ४।११) 'जो प्रपन्न मुझको जैसे भजते हैं उनको मैं वैसे ही भजता हूँ' अपने इस कथनानुसार अर्जुन को महाबाहो ! सम्बोधन देकर कार्य-कारण का विवरण प्रस्तुत करते हैं । अर्जुन ने जो भगवान् को महाबाहो सम्बोधन दिया उसका अभिप्राय यह है कि भगवान् आजानुभुज हैं, क्योंकि लिखा है 'आजानुबाहुमरविन्ददलायताक्षम्' तथा 'आजानुभुज-शर-चाप-धर संग्राम जित खरदूषणम्' (वि. प. ४५) परन्तु यहाँ पर गुरु रूप में उपदेश दे रहे हैं, इसलिए आजानुभुज विशेषण से बढ़ाकर महान् भुजा वाला कहते है। । इससे यह बताते हैं, कि गुरु को भगवान् से बढ़कर समझना चाहिये । दूसरे महाबाहु उसे कहते हैं जो गौ की सेवा करता है । भगवान् परब्रह्म, समस्त चराचर के पिता होते हुये श्रीनन्द-नन्दन बनकर व्रज में गौ की सर्वविध सेवा करते हैं । जैसा कि गीता में अर्जुन कहता है -

'परं ब्रह्म परं धाम - (१०।१२)
पितासि लोकस्य चराचरस्य । (११।४३)

इसी भाव को रखकर अर्जुन ने भगवान् को महाबाहो कहा है । अर्जुन को महाबाहो कहने का भगवान् का यह अभिप्राय है कि तुम तो मुझसे भी बढ़कर हो क्योंकि मैं तो सम्पन्न गृह में था, गोप बालकों के साथ गौ चराने जाता था तथा उस समय अघासुर, बकासुर राक्षस मेरे पास आये थे जिनको मारकर गौओं की रक्षा मैंने की; परन्तु तूने तो विराट नगर में अज्ञातवास के समय, महाविपत्ति और दरिद्रता में भी द्रोणाचार्य, भीष्माचार्य जैसे धर्माचार्यों को अकेले ही नपुंसक वेष में अपनी भुजाओं से पराजित कर गौओं की रक्षा की । इसलिए तुम वास्तव में महाबाहो कहलाने योग्य हो । इससे भगवान् यह बताते हैं कि गौ की सेवा ही महानता का चिह्न है । भारतीय संस्कृति में गौ माता का अकथनीय महत्त्व है । भगवान् की अपौरुषेय वेद-वाणी गोमाता की महिमा वर्णन करते हुए कहती है -

'तुभ्यं गावो घृतं पयो बभ्रो दुदुह्रे अक्षितम् । (ऋ. मं. ६ सू. ३।१।५)

हे मानवो ! गायें तुम्हें स्थायी शक्ति देने वाला दुग्ध और घृत प्रदान करती हैं । इनकी सेवा करना ।

'यस्या देवा उपस्थे व्रता विश्वे धारयन्ते । (ऋ. मं. ८।६४।२)

सब देवता गौ के क्रोड में निवास करके विश्व को धारण करने में समर्थ हुए हैं ।

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिति सरस्वति महि विश्रुति ।
एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतम्ब्रूतात् ।। (यजु. अ. ८।४३)

हे गो माता ! तुम सबके द्वारा पूज्य, आनन्दप्रद, देव-दुर्लभ खाद्य प्रदान करने वाली, मनुष्यों की कामना पूर्ण करने वाली, हर्षवर्धक, प्रकाश को देनेवाली, देव माता अदिति के समान देवोपम बल देने वाली, पीयूष के समान दुग्ध प्रदान करने वाली, अहिंसनीय और महिमामयी हो । तुम्हारे ये नाम, तुम्हारे गुणों के अनुकूल हैं । तुम हमारे शुभ कर्मों को देवताओं तक पहुँचाओ ।

गो माता सबको पुत्रवत् पालने पोसने वाली, करुणामयी एवं रस प्रवाहिनी है । इसके दूध, घी, दही, मूत्र और गोबर के सम्मिश्रण को पञ्चगव्य कहते हैं जो समूचे पापों को नष्ट कर देता है । इसका पञ्चामृत मनोगत पापों को धो देता है । इसके शरीर की वायु से स्थान सुवासित तथा स्वास्थ्यप्रद बना रहता है । इसके गोबर-मूत्र में अन्न की वृद्धि करने की अलौकिक क्षमता है । अन्न की समृद्धि इसके चरणों के आश्रित है । इसके अमृत तुल्य दुग्ध से ही आयु, प्रज्ञा, कान्ति, सुमति उपलब्ध होती है । लोक में भी कहा जाता है 'गाय है लक्ष्मी बैल महादेव' । 'गावो विश्वस्य मातरः' गाय विश्व की माता है । गोमाता की सेवा करने वाले को इस लोक के अलावा परलोक सम्बन्धी विभूतियाँ भी उपलब्ध हो जाती हैं । इसीको बतलाने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने हाथ से गौओं को चराने से लेकर सभी प्रकार की सेवा की । सार्वभौम राजा दिलीप ने गाय की सेवा करके चक्रवर्ती पुत्र का आशीर्वाद पाया था । हमारे राष्ट्र-कवि कालिदास उस सेवा का वर्णन करते हुये कहते हैं - 'छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्' (रघु. २।६) छाया के समान राजा उसके पीछे - २ चलते थे । तथा 'पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्' (रघु. २।३) कहकर गाय के चार स्तनों की उपमा चार समुद्रों से भरी पृथ्वी से देते हैं । उसकी रक्षा में सिंह को अपना शरीर तक अर्पित कर उन्होंने आदर्श प्रस्तुत किया । इसीलिए कहा गया है कि गौओं की खुरों से उड़ी धूल जहाँ आकाश को ढक ले वही व्रज है । जहाँ उनके दूध से पृथ्वी पर रसधारा बहने लगे अर्थात् कीचड़ हो जाय वही बरसाना है । जहाँ ये विहार करती हैं वहीं वृन्दावन है । जहाँ उनके सुरस सुधा का पान किया जाता हो वही नन्दग्राम है और उनके परम श्रद्धालु भक्त गोचारक ही गोपाल हैं । ऐसी महिमामयी गौ की रक्षा अर्जुन ने बड़े-बड़े महारथियों की परवाह न करते हुए अकेले की, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोक में उसे महाबाहो सम्बोधन देते हैं । इससे भगवान् यह बताते हैं कि लज्जा न करते हुए हमें गौ की सब प्रकार से सेवा करनी चाहिये तथा उसकी रक्षा अपने प्राणों का बलिदान करके करनी चाहिये ।।१३।।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१४।।

(युग्मक श्लोक है ! अर्थ के लिए आगे के श्लोक से 'यत्कर्म प्रारभते नरः' पद लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- **अत्र अधिष्ठानम् तथा कर्ता च पृथग्विधम् करणम् च विविधाः पृथक् चेष्टाः च पञ्चमम् दैवम् एव ।**

अर्थ :- (मनुष्य जो कर्म प्रारम्भ करता है) - इसमें, अधिष्ठान (शरीर) तथा कर्ता (जीवात्मा) एवं विभिन्न प्रकार से करण (यानी मन सहित इन्द्रियाँ) और विभिन्न प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और पाचवाँ दैव (कारण हैं)

व्याख्या :- भगवान् पाँच हेतुओं का नाम बताते हुये कहते हैं कि मनुष्य जो कर्म यज्ञ, दान, तप, अध्ययन, अध्यापन,

उपदेश, युद्ध, प्रजापालन, पशुपालन, कृषि, व्यापार, सेवा, खान-पान आदि प्रारम्भ करता है उसमें अधिष्ठान शरीर, कर्ता (जीवात्मा), विभिन्न प्रकार के करण (मनसहित इन्द्रियाँ) नाना प्रकार की चेष्टा (प्राणादि, वायु की विभिन्न वृत्तियाँ) और पाँचवाँ दैव यानी अन्तर्यामी परमात्मा उसके कारण हैं । ये पाँच हेतु इस प्रकार हैं - अधिष्ठान- 'अधिष्ठियते जीवात्मना' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ होता है कि जो जीवात्मा से अधिष्ठित हो यानी महाभूतों के संघात रूप शरीर का नाम अधिष्ठान है । २-कर्ता नाम जीवात्मा का है । 'ज्ञोऽत एव' (ब्र. सू. २।३।१८) तथा 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् (ब्र. सू. २।३।३३) इन सूत्रों से जीवात्मा का ज्ञातापन तथा कर्तापन सिद्ध किया गया है ।

३-विभिन्न प्रकार के करण-मन सहित वाणी, हाथ, पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ । कर्मों के करने में इनकी क्रियायें अलग-अलग होती हैं । ४-विभिन्न प्रकार की पृथक-पृथक् चेष्टाएँ-यहाँ चेष्टा शब्द वायु की वृत्तियों का वाचक है । तात्पर्य यह कि शरीर और इन्द्रियों को धारण करने वाले प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान पाँच प्रकारों में विभक्त वायु की विविध वृत्तियाँ ।

५-दैवः-कर्म-निष्पत्ति का पाँचवाँ प्रधान कारण अन्तर्यामी परमात्मा हैं जैसाकि श्रुति में कहा गया है 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (श. प. १४।५।३०) जो आत्मा में रहता हुआ आत्मा की अपेक्षा अन्तरतम है, जिसको आत्मा नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप आत्मा है । गीता में भी कहा गया है -

'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।' (१५।१५)

मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है । यह 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र. सू. २।३।४१) इस सूत्र में जीवात्मा का कर्तापन परमात्मा के अधीन है- ऐसा सिद्ध किया गया है । यहाँ पर यह शङ्का होने पर कि परमात्मा के अधीन जब जीवात्मा का कर्तापन है तो जीवात्मा कर्म करती है - ये शास्त्र के वचन कैसे सिद्ध होंगे । उसका उत्तर 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्र. सू. २।३।४२) इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने कर दिया है । अर्थात् जीवात्मा से किये हुए प्रयत्न की अपेक्षा है । इसलिए विहित और प्रसिद्ध की व्यर्थता नहीं आई । यद्यपि जीवात्मा परमात्मा के द्वारा प्रदान किये गये इन्द्रिय, शरीर आदि के द्वारा और उसकी शक्ति की प्रेरणा से कर्म करती है, फिर भी यह स्वयं परमात्मा के अधीन उसकी शक्ति को प्राप्त कर अपनी इच्छा से भी इन्द्रिय और शरीर आदि की चेष्टा रूप प्रयत्न करती है । आत्मा के अन्दर अन्तर्यामी परमात्मा की अनुमति और अपनी बुद्धि से प्रवृत्त होने के कारण जीवात्मा का भी कर्म निष्पत्ति का कारण होना सिद्ध होता है । जैसे पाँच मनुष्यों द्वारा उठाये गये पत्थर या वृक्ष में पाँचो मिलकर ही उसके उठाने के कारण होंगे एक नहीं । इसी प्रकार किसी भी कार्य की सिद्धि में पाँचों को कारण समझना चाहिये, एक-एक को नहीं । उपर्युक्त पाँचों को समझने के लिए भगवान् की शेषता अथवा दासता का अनुसन्धान करना चाहिये ।

इसी भाव को व्यक्त करते हुए श्रीयामुन मुनि स्वामी कहते हैं -

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं,
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात् ।

बहिर्भूतं नाथ ! क्षणमपि सहे यातु शतधा,
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन ! विज्ञापनमिदम् ॥ (स्तोत्ररत्न ६०)

अभिप्राय यह कि यदि आप की शेषता रूप महान् धन से बाहर रहेंगे तो हम उस शरीर, इन्द्रिय, चेष्टा, आत्मा तथा अन्तर्यामी परमात्मा के रहने पर भी दुश्चरित्र हो जायेंगे इसलिए दासता यदि मुझमें न आवे तो मैं १-'न देहम्' अर्थात् अधिष्ठान देह को नहीं चाहता । २-'न प्राणान्' अर्थात् प्राणादि वायु की चेष्टा को भी नहीं चाहता । ३-'न सुखम्' - अर्थात् इन्द्रियों के अभिलषित सुख को नहीं चाहता ४-'न चात्मानम्' अर्थात् कर्ता आत्मा को नहीं चाहता और ५-'नान्यत्किमपि' अर्थात् अन्य कोई अन्तर्यामी हो तो उसे भी नहीं चाहता । इसलिए शेषता न होने पर उसी क्षण मैं अपने शरीर को सौ टुकड़े में विभक्त देखना चाहता हूँ ।।१४।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभतें नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।।१५।।

अन्वय :- **नरः शरीरवाङ्मनोभिः न्यायम् वा विपरीतम् यत् वा कर्म प्रारभते तस्य एते पञ्च हेतवः ।**

अर्थ :- मनुष्य शरीर वाणी और मन के द्वारा न्यायोचित (शास्त्र-विहित) अथवा विपरीत (शास्त्र-विरुद्ध) जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये (पूर्वोक्त अधिष्ठान, कर्ता आदि) पाँच हेतु होते हैं ।

व्याख्या :- जिस प्रकार १४वें श्लोक की व्याख्या में १५वें श्लोक के पद 'यत् कर्म प्रारभते नरः' लेकर अर्थ हुआ उसी तरह इस श्लोक की व्याख्या में -

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्तिचैतदोरूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥ (मनोरमा)

इदम् शब्द का पास के अर्थ में, एतत् शब्द का अत्यन्त समीप के अर्थ में, अदस् शब्द का दूर के अर्थ में तथा तद् शब्द का परोक्ष के अर्थ में प्रयोग किया जाता है । इस नियमानुसार 'एते' शब्द का अत्यन्त समीप में प्रयोग होने पर 'एते पञ्च' अर्थात् अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव इन पाँचों को लेकर अर्थ होगा । भगवान् कहते हैं कि अर्जुन ! जो मनुष्य न्याय्य (शास्त्रविहित) अथवा विपरीत (शास्त्र-विरुद्ध) कर्म शरीर, वाणी और मन के द्वारा प्रारंभ करता है उसमें शरीर, जीवात्मा, इन्द्रियाँ, प्राणादि वायु की विविध वृत्तियाँ और अन्तर्यामी परमात्मा ये पाँच उस कार्य की सिद्धि में कारण होते हैं ।

न्याय्य कर्म उसे कहते हैं जो शास्त्र-सिद्ध हो, जैसे-'अग्निहोत्रं जुहूयात्' अग्नि में हवन करना चाहिए । इस प्रकार शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप, विद्याध्ययन, गोरक्षा, सेवा आदि कर्मों के समुदाय का वाचक यहाँ 'न्याय्यम्' पद है । जिन कर्मों के करने का शास्त्रों में निषेध किया गया हो उसे विपरीत कर्म कहते हैं जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' (क. स्मृ. ८।२) ब्राह्मण मारने योग्य नहीं है । ऐसे ही धर्म के प्रतिकूल असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा मद्यपान, अभक्ष्य आदि पाप कर्मों का वाचक यहाँ विपरीत पद है ।

शरीर - 'चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम्' इस लक्षण के अनुसार चेष्टा का जो आश्रय है उसे शरीर कहते हैं ।

वाणी - 'शब्दप्रतिपादकत्वं वाक्-लक्षणम्' जो शब्द का प्रतिपादन करे उसे वाणी कहते हैं ।

मन - 'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः' जिस इन्द्रिय के द्वारा सुख दुःख का ज्ञान हो उसे मन कहते हैं ।

इस प्रकार मनुष्य शरीर, वाणी और मन से शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो भी कर्म करता है वे सभी शुभाशुभ कर्म उपर्युक्त पाँचों के संयोग से ही होते हैं । इन पाँचों शरीर, कर्ता, करण, चेष्टा तथा अन्तर्यामी परमात्मा में से किसी एक के न रहने से कर्म नहीं बन सकता । इसलिये समस्त कर्मों को ये पाँच मिलकर ही करते हैं ।।१५।।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।।१६।।

अन्वय :- **तु एवम् सति यः तत्र केवलम् आत्मानम् कर्तारम् पश्यति सः दुर्मतिः अकृतबुद्धित्वात् न पश्यति ।**

अर्थ :- परन्तु ऐसा होने पर भी यहाँ (यानी) कर्मों के विषय में केवल आत्मा को कर्ता देखता है, वह दुर्बुद्धि अकृतबुद्धि (यथार्थ बुद्धि का अभाव) के चलते (यथार्थ) नहीं देख पाता है ।

व्याख्या :- भगवान् अर्जुन से आत्मा को कर्ता मानने वालों की निन्दा करते हुए कहते हैं कि -

'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' (तै. अ. ३।११।३)

इस श्रुति, तथा -

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। (गी. १८।६१)

इस स्मृति एवं 'परात्तु तच्छ्रु तेः' (ब्र. सू. २।३।४१) इस सूत्र अर्थात् श्रुति, स्मृति तथा सूत्र के द्वारा यह सिद्ध हो जाने पर कि परमात्मा की अनुमति से जीवात्मा कर्म करती है फिर भी ऐसा समझ कर जो केवल आत्मा को ही कर्ता रूप से देखता है, वह दुष्टबुद्धि और अकृत बुद्धि होने के कारण यथार्थ कर्ता को नहीं देख पाता है ।

'सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञानं बुद्धिः' सर्व व्यवहारों का जो हेतु रूप ज्ञान है उसे बुद्धि कहते हैं । 'दुर्मतिः' कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः शास्त्र-विहित और शास्त्र-निषिद्ध समस्त कर्मों में परमात्मा की अनुमति से जीवात्मा का कर्तापन होने पर भी केवल आत्मा को कर्ता समझने वाले मनुष्य की बुद्धि दूषित है, अर्थात् उसकी मति दुष्ट है । उसको यथार्थ समझने की शक्ति नहीं है । 'अकृत-बुद्धि' का भाव यह है कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने की बुद्धि से रहित है । उसने श्रुति, स्मृति, सूत्र का ठीक से अध्ययन नहीं किया तथा ज्ञानी महात्माओं का सत्संग नहीं किया, इसलिए उसकी बुद्धि शुद्ध न होने से वह अज्ञानी है । अभिप्राय यह कि बुद्धि में विवेक शक्ति न रहने के कारण अज्ञानवश मनुष्य केवल जीवात्मा को ही कर्ता मान बैठता है । इस प्रकार वह यथार्थ कर्ता को नहीं समझ पाता है ।।१६।।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

अन्वय :- यस्य अहङ्कृतः भावः न, बुद्धिः यस्य न लिप्यते, सः इमान् लोकान् हत्वा अपि न हन्ति, न निबध्यते ।

अर्थ :- जिसका 'मैं कर्ता हूँ' यह भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है, वह इन लोगों को मारकर भी न तो मारता है और न तो बँधता ही है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और सूत्र के ज्ञान से जिसको 'मैं करता हूँ' ऐसा भाव नहीं है (और) ममतारूपी आसक्ति और फल की इच्छा न होने से जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती वह ब्रह्माण्ड के समस्तजनों को मार कर भी किसी को नहीं मारता और न युद्ध कृत फल से बन्धन को ही प्राप्त होता है ।

परमपुरुष का कर्तापन समझ लेने से जिस पुरुष के मन से 'अमुक कर्म मैं करता हूँ' यह कर्ता विषयक भाव नहीं है अर्थात् जिस पुरुष में कर्तापन का सर्वथा अभाव हो जाता है । कर्मों में ममता और उनके फल रूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, स्वर्ग, सुख की कामना का अभाव हो जाता है । अर्थात् किसी कर्म में मेरा कर्तापन न रहने के कारण इसके फल से अपना किसी प्रकार का सम्बन्ध न समझना यही बुद्धि का लिपायमान न होना है । 'लोकस्तु भुवने जने' (अमर. ३।३।२) के अनुसार समस्त भुवन जन को लोक कहते हैं । उपर्युक्त प्रकार से परमात्मा का कर्तापन भलीं-भाँति जान लेने के कारण जिसका अज्ञान-जनित अहंभाव सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसे महापुरुष लोक-दृष्टि से स्वधर्म पालन करते समय यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मों को करके उनका कर्ता नहीं बनते और उनके फल से नहीं बँधते हैं, इसमें तो कहना ही क्या ? किन्तु वैसे पुरुष भीष्मादि को कौन कहे ? क्षात्र धर्म करते हुए समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणियों के संहार रूप क्रूर कर्म करके भी उसका कर्ता नहीं बनते और उसके फल को भी नहीं भोगते अर्थात् समस्त कर्म करते हुए भी वे बन्धन-रहित रहते हैं । जैसे वायु, अग्नि, जल आदि के द्वारा किसी प्राणी का संहार रूप कर्म होने पर भी वे अग्नि वायु आदि न तो वास्तव में उस प्राणी को मारने वाले हैं और न उसके फल से बँधते ही हैं । यहाँ एक घटना उल्लेखनीय है । एक समय वाराणसी के कबीर चौरा स्थान में रहते हुए कबीर साहब को कुछ दुष्टों ने अपमानित करने की योजना बनायी । उन्होंने कबीर साहब की ओर से 'समष्टि' निमंत्रण सर्वत्र महात्माओं को भिजवा दिया । कबीर साहब अपने स्वभावानुसार जब एक दिन महात्मा के सत्संग हेतु गंगा-तट पर गये तो महात्माओं की आती हुई विशाल टोली से पूछने पर ज्ञात हुआ कि कबीर साहब के निमन्त्रण पर वे लोग आ रहे हैं । एक दिन बाद उनके यहाँ भण्डारा है । यह जानकर उन्होंने वहाँ गंगा-तट पर एक गुफा में समाधि ले ली । इधर परम दयालु अनेक रूप धारण करने वाले भगवान् ने स्वयं कबीर साहब बनकर आये हुए महात्माओं के विशाल दल को अनेक प्रकार से स्वागत कर विदाई कर दी । जब कबीर साहब तीसरे दिन समाधि के बाद आये तो भगवान् तिरोहित हो गये । यह देख प्रेम में गद्गद् होकर उन्होंने कहा कि 'किया सो हरि किया' अर्थात् भगवान् ही सब कुछ करने वाले हैं, मैं नहीं ॥१७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

अन्वय :- **ज्ञानम् ज्ञेयम् परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना, करणं, कर्म, कर्ता इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।**

अर्थ :- ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता (ये) तीन प्रकार की कर्म प्रेरणा (कर्म-चोदना) है, (और) करण, कर्मा तथा कर्ता-ऐसा त्रिविधा यानी तीन प्रकार का कर्म-संग्रह है ।

व्याख्या :- ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता तीन प्रकार की कर्म-प्रेरणा (कर्म-चोदना) है और जो ज्ञेयरूप कर्म है, वह करण, कर्म और कर्ता ऐसे तीन प्रकार से संग्रहीत है ।

कर्तव्यकर्मविषयक जानकारी का नाम ज्ञान है । यहाँ पर ज्ञान शब्द गीता के तेरहवें अध्याय में 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' (७ से ११) तक के ज्ञान का वाचक नहीं है । जैसे भोजन करते समय 'सैंधवमानय कहने पर नमक अर्थ और यात्रा समय में 'सैंधवमानय' कहने पर घोड़ा अर्थ होता है । उसी प्रकार प्रकरण अर्थ निर्णायक होता है । यहाँ कारण कार्य का विवेचन करते हुए 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं । इसलिए यहाँ करने योग्य कर्म की जानकारी ही 'ज्ञान' का अर्थ होगा । करने योग्य कर्म को 'ज्ञेय' कहते हैं और वर्णाश्रमानुसार ज्ञेय को अच्छी तरह जानने वाला 'परिज्ञाता' है । शास्त्र के विधि-वाक्यों का नाम 'चोदना' अर्थात् प्रेरणा है । इस प्रकार वेद के अन्दर जो विधान करने वाले कर्म जैसे 'ज्योतिष्टोमेन यजेत्' आदि हैं, उन कर्मों की विधि ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता से युक्त है । इस प्रकार अधिकारी मनुष्य ज्ञान-वृत्ति द्वारा यह निश्चय करता है कि अमुक-अमुक वस्तुओं द्वारा अमुक प्रकार से अमुक कर्म मुझे करना है तभी उस कर्म में उसकी प्रवृत्ति होती है ।

साधनभूत द्रव्यादि का नाम करण है । यज्ञादि का नाम कर्म है, जैसा कि इसी १८वें अध्याय में भगवान् कह चुके हैं - 'यज्ञदान तपः कर्म' (५) और करने वाले का नाम कर्ता है । यह करण, कर्म और कर्ता तीन प्रकार का कर्म-संग्रह है ।।१८।।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।।१९।।

अन्वय :- **ज्ञानम् च कर्म च कर्ता गुणसंख्याने गुणभेदतः त्रिधा एव प्रोच्यते, तानि अपि यथावत् शृणु ।**

अर्थ :- ज्ञान तथा कर्म और कर्ता गुण संख्यान में (यानी गुणों की कार्य-गणना में) गुण भेद से तीन प्रकार के ही कहे गये हैं, उन्हें भी यथावत् रूप में (अर्थात् जैसे वे हैं) मुझसे सुनो ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणों के कार्यों की गणना करते समय सत्त्वादि गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं । उनको भी तू यथार्थ रूप से मुझसे श्रवण करो । कर्तव्य कर्म विषयक ज्ञान, वेद विहित करने योग्य कर्म ओर उसको करने वाला कर्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं । कहाँ कहा गया है ? यह बताते हुए भगवान् कहते हैं कि गुण के कार्यों का जहाँ परिगणन किया गया है । जैसा कि भगवान् १४वें अध्याय में कह चुके हैं 'सत्वं रजस्तम इति गुणाः (१४।५) सत्त्व, रज और तम-ये तीन गुण हैं । इस प्रकार ज्ञान के सत्त्वादि तीन भेद हुए । इस उपदेश को ध्यानपूर्वक सुनने के लिए अर्जुन को सावधान कर रहे हैं, कि तू उन गुणों

के कारण अलग-अलग किये जाने वाले ज्ञानादि को यथार्थ रूप से सावधानी से मुझसे सुनो ।।१६।।

सर्वभूतेषे येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।२०।।

अन्वय :- **येन विभक्तेषु सर्वभूतेषु एकम् अविभक्तम् अव्ययम् भावम् ईक्षते, तत् ज्ञानम् सात्त्विकम् विद्धि ।**

अर्थ :- जिस (ज्ञान) से सम्पूर्ण विभक्त भूतों यानी प्राणियों में एक अविभक्त अविनाशी भाव को देखता है, उस ज्ञान को सात्त्विक जानो ।

व्याख्या :- १६वें श्लोक में भगवान् ने जो ज्ञान के तीन भेद सात्त्विक, राजस और तामस क्रमश: बतलाने की बात कही उसमें पहले सात्त्विक ज्ञान के लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि जिस ज्ञान से जीव सब विभक्त भूतों में एक अविनाशी भाव को देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान ।

भूत के सम्बन्ध में भगवान् पहले ही कह चुके हैं -

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव......................................।। (गीता २।२८)

ये मनुष्यादि शरीरों का आदि यानी जन्म से पूर्व की अवस्था प्रत्यक्ष नहीं है और निधन यानी मृत्यु के बाद की अवस्था भी प्रत्यक्ष नहीं है, केवल मनुष्यत्वादि मध्य की यानी वर्तमान अवस्था ही प्रत्यक्ष है । इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वाणप्रस्थ, संन्यासी आदि के रूप में विभक्त हुए समस्त कर्माधिकारी विषमाकार प्राणियों में जिस ज्ञान के द्वारा एक समानाकार आत्मभाव देखता है । वहाँ भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी आदि अनेक आकार वाले और साँवले, गोरे, काले, लम्बे आदि विभागों से युक्त सब प्राणियों में एक मात्र ज्ञानाकार जीवात्मा को साँवरे, गोरे, लम्बे, चौड़े आदि विभाग से रहित देखता है, इस प्रकार नाशवान् स्वभाववाले ब्राह्मण आदि शरीरों में जीवात्मा को अविनाशी देखता है तथा कर्माधिकार के समय फल आदि की इच्छा नहीं करता है उस ज्ञान को सात्त्विक समझना चाहिए । जैसे श्रीमद्रामानुजाचार्य स्वामी जी का सात्त्विक ज्ञान था, क्योंकि जब वे यादवप्रकाश के षड्यन्त्र के अनुसार विन्ध्याचल के घोर जंगल में जाकर भटकने लगे तब गहन रात्रि होने पर भगवान् इनके सात्त्विक ज्ञान की परीक्षा हेतु व्याध का रूप बना कर दम्पत्ति सहित एक वृक्ष के नीचे बैठ गये । इसके पश्चात् अम्बा को प्यास लगने पर जब वृद्ध बहेलिया बने भगवान् ने जल लाने में अपनी असमर्थता को कहा तब भगवत् रामानुजाचार्य ने व्याध के शरीर, काले, रूप, तथा उनके घृणित कर्मों का ध्यान न देकर ज्ञानाकार आत्मा को विभाग रहित देखते हुए तथा किसी फल की इच्छा न कर परिश्रमपूर्वक जल की तलाश करके जल ले आकर पिलाया । इससे वे शिक्षा देते हैं कि कल्याणकामी मनुष्य को सात्त्विक ज्ञान को ही प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये ।।२०।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानम् विद्धि राजसम् ।।२१।।

अन्वय :- **तु यत् ज्ञानम् पृथक्त्वेन सर्वेषु भूतेषु पृथग्विधान् नानाभावान् वेत्ति तत् ज्ञानम् राजसम् विद्धि ।**

अर्थ :- परन्तु जो ज्ञान पृथकत्व के अनुभव के कारण (यानी पृथक्-पृथक् आकार के कारण) सभी भूतों में विभिन्न प्रकार के पृथक्-पृथक् भावों को जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान ।

व्याख्या :- सात्त्विक ज्ञान के लक्षण कहकर अब राजस ज्ञान के लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि जो ज्ञान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि समस्त प्राणियों में पृथक्-पृथक् आकार के कारण तथा काले, गोरे, मोटे, पतले, लम्बे रूप के कारण आत्मरूप भावों को भी सब भूतों में विभिन्न प्रकार से जानता है तथा कर्माधिकारी होने पर फल को भी चाहता है उस ज्ञान को तू राजस जान ।

राजस ज्ञान भगवद् रामानुजाचार्य की स्त्री को था । वह विदुषी होते हुए भी जब श्रीमहापूर्ण स्वामी जी से उनके कलश के ऊपर जल का छिंटा पड़ गया तो अपने पृथक् ज्ञान के कारण अपने कलश को खूब धो करके जल ले आईं तथा जब एक अतिथि को भोजन कराने के लिए श्रीमद्रामानुजाचार्य स्वामी जी ने भेजा तो उन्होंने कह दिया कि भोजन नहीं है तथा उसी समय नैहर का बनाकर एक व्यक्ति को भेजा तो उसे अपना समझकर बहुमान से भोजन कराया । अतिथि को भिन्न आकार के कारण उसमें आत्मरूप भाव को दूसरे प्रकार का देखकर उन्होंने व्यवहार किया जो उनका राजस ज्ञान था । इस राजस ज्ञान से लोभ उत्पन्न होता है जैसा कि भगवान् स्वयं कहते हैं 'रजसो लोभ एव च' (गीता १४।१७) रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है । तथा लोभ को नरक का द्वार बताया गया है -

'त्रिविधं नरकस्यैतदद्वारं नाशनमात्मन । कामः क्रोधस्तथा लोभः'..... (गी. १६।२१।)

मानसकार भी कहते हैं -

केहि कै लोभ विडंबना कीन्हि न एहिं संसार । (उ. का. ७०)

इसलिये भगवान् भाष्यकार ने यह विचार कर स्त्री का त्याग कर दिया ।।२१।।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

अन्वय :- **तु यत् एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत् सक्तम् च अहैतुकम् अतत्त्वार्थवत् अल्पम्, तत् तामसम् उदाहृतम् ।**

अर्थ :- परन्तु जो ज्ञान एक कार्य में सम्पूर्ण फल वाले के समान आसक्त हो, और हेतु से रहित मिथ्या वस्तु को विषय करने वाला और अल्प हो, वह (ज्ञान) तामस कहा गया है ।

व्याख्या :- सात्त्विक ज्ञान और राजस ज्ञान बतलाने के पश्चात् अब तामस ज्ञान का लक्षण बतलाते हुये भगवान् कहते हैं कि जो ज्ञान एक कार्य में पूर्ण फल वाले के समान आसक्त हो, तथा हेतु से रहित मिथ्या अर्थ को विषय करने वाला और अत्यन्त तुच्छ फल देने वाला है वह तामस (ज्ञान) कहा गया है ।

यहाँ पर 'तु' अव्यय का प्रयोग करके इस ज्ञान को अत्यन्त निकृष्ट बतलाया गया है । एक कार्य में ही सम्पूर्ण की भाँति आसक्ति का अभिप्राय यह है कि भूत-प्रेतादि-आराधना, जो अत्यन्त निकृष्ट फल देने वाले किसी एक कर्म

में जो कुछ है वस्तुत: यही कर्म है और यह पूर्ण फल देगा इस प्रकार आसक्त रहता है । अहैतुक अर्थात् श्रुति-स्मृति इतिहासादि किसी शास्त्र-विधि के अनुसार न होने पर भी कर्म करता है । इसमें कोई युक्ति भी नहीं बताता । अतत्त्वार्थ का भाव यह है कि पहले की भाँति ही जीवात्मा में पृथकता आदि भावों से युक्त होने के कारण यथार्थ तत्त्व से रहित मिथ्या वस्तु को विषय करने वाला है । अल्प कहकर यह बताते हैं कि भूत-प्रेतादि की आराधना के विषय का ज्ञान होने के कारण अत्यन्त तुच्छ फल देने वाला है । उपर्युक्त लक्षणों वाला जो ज्ञान है वह तामस है, अर्थात् वह अत्यन्त तमोगुणी मनुष्य की समझ है । यानी तमोगुणी मनुष्यों की समझ इसी प्रकार हुआ करती है, इससे अध: पतन होता है । इसलिए ऐसा ज्ञान जिस प्रकार पवित्र अग्नि का धूम, पवित्र जल का भी फेन त्याज्य होता है उसी तरह ज्ञान कहलाने पर भी यह कभी ग्रहण करने योग्य नहीं है । जैसे प्राचीन काल में काञ्ची में श्रीयादवप्रकाश नामक एक संन्यासी थे । यद्यपि वे विख्यात विद्वान् थे परन्तु उनका ज्ञान तामस ज्ञान था, क्योंकि एक तो ब्राह्मण दूसरे बालक तीसरे एकलौते पुत्र चौथे विद्यार्थी और पाँचवे सेवा-परायण होते हुए भी श्रीरामानुजाचार्य को उनकी प्रतिभा से ईर्ष्यावश, मारने वाले जघन्य कार्य में पूर्ण आसक्त हो, किसी हेतु से रहित आत्मा में पृथकता आदि भावों से युक्त होने के कारण यथार्थ तत्त्व से रहित तथा अध:पतन जैसे निकृष्ट फल को देने वाले कर्म को करने का निश्चय कर प्रयाग गंगा-स्नान के बहाने ले गये, परन्तु भेद खुल जाने पर जब बालक सकुशल भगवान् की दया से घर लौट आया तो उसकी माता ने उसे उनके यहाँ जाने के लिए मना कर दिया, फिर भी कई बार छात्र भेजकर बुलवाये तो वे गये । यहाँ वे एक दिन यह जानने के लिए यह सेवा-परायण है या नहीं, अपने माथ में तेल लगाने के लिए उन्होंने कहा । जब वे तेल लगाने लगे तब दूसरे छात्र को 'कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' छान्दोग्योपनिषद् (१।६।७) की इस श्रुति का अर्थ पढ़ाते हुए देवतान्तरकी आराधना रूप तुच्छ फल देने वाले कर्म से भगवद् द्रोह को दिखाते हुए कपि+आस अर्थात् वानर के गुदा मार्ग की तरह लाल भगवान् के नेत्र हैं ऐसा अर्थ उन्होंने किया । यह व्याख्या सुनकर भगवद् रामनुजाचार्य जी को महान् क्लेश होने से नेत्रों से अश्रुपात होने लगा । इस पर उन्होंने पूछा कि इस ताप का क्या कारण है ? इस पर श्रीरामानुजाचार्य स्वामी जी ने कहा कि आप जैसे विद्वान् महानुभाव यह अर्थ कर रहे हैं, इसमें कोई युक्ति भी आपने नहीं दी कि श्रुति-स्मृति, इतिहास आदि में कहाँ ऐसा नेत्र बताया गया है ? क्योंकि सर्वत्र कमल के समान भगवान् के नेत्र का वर्णन है जैसा कि आप भी सन्ध्यावन्दनादि करते समय प्रतिदिन कहते हैं 'य: स्मरेत् पुण्डरीकाक्षम्' तथा श्रीमद्भागवत जैसे पुराण में कहा गया है 'येऽन्येऽरविन्दाक्ष' (श्रीमद्भा. स्क. १० अ. २।३२) तथा महाभारत के अन्दर विष्णु-सहस्रनाम में 'पुण्डरीकाक्षो' (१२) इस प्रकार अनेक स्थलों पर वर्णन आया है । यह सुनकर अपने ही अर्थ में आसक्त उन्होंने कहा कि तब तू ही इसकी व्याख्या करो । श्रीमद्रामानुजाचार्य जी ने उसकी व्याख्या जब इस प्रकार वेद के मुख-स्वरूप व्याकरण द्वारा करते हुए कहा कि 'असु क्षेपणे' और 'आस उपवेशने' धातु से अर्थ करने पर कपि+आस में 'कं जलं पिबति इति कपि: तेन सूर्येणआस्यते विकास्यते इति कप्यासं कमलम्' अर्थात् जल पीने वाले सूर्य की प्रात: कालीन किरणों से विकसित होने वाले कमल के समान भगवान् के नेत्र हैं । अथवा 'कं जलं पिबति इति कपि: । नालं तत्रास्ते उपविशतीति कप्यासम् कमलम्' अर्थात् कपि: नाम नाल उस पर जो रहे कमल, उसके समन अर्थात् सूर्य की किरण से विकसित लाल कमल के समान भगवान् के दोनों नेत्र हैं । ऐसा अर्थ करने पर श्रुति, स्मृति इतिहास विरुद्ध अपने अर्थ में अत्यन्त आसक्त हो, कोई युक्ति न देकर, तात्त्विक अर्थ से रहित हो श्रीयादवप्रकाश ने भगवद्रामानुजाचार्य स्वामी जी को अपने यहाँ से निकाल दिया । इस प्रकार तमोगुणी मनुष्य की समझ के अनुसार श्रीयादवप्रकाश की समझ होने से उनमें तामस ज्ञान था । ऐसा ज्ञान सर्वथा त्याज्य है ॥२२॥
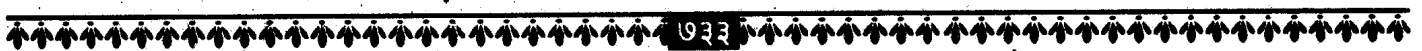
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

अन्वय :- **नियतम् यत् कर्म संगरहितम् अफलप्रेप्सुना अरागद्वेषतः कृतम् तत् सात्त्विकम् उच्यते ।**

अर्थ :- शास्त्रविधि से नियत किया हुआ जो कर्म, संग (यानी कर्तृत्वाभिमान और ममता) से रहित, फल नहीं चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग द्वेष के किया गया हो, - वह सात्त्विक कहा जाता है ।

व्याख्या :- कर्तव्य-विषयक ज्ञान के अधिकारी की भावना के अनुसार गुणों के कारण होने वाले तीन प्रकार के भेदों को बतलाकर अब किये जाने वाले कर्म के गुणों द्वारा तीन भेदों में से सात्त्विक कर्म के लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि शास्त्र-विहित वर्णाश्रमोचित नियत जो कर्म, कर्तृत्वाभिमान और ममता से रहित बिना राग-द्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा कर्तव्य समझकर किया जाता है, वह सात्त्विक कहा जाता है ।

नियतं विशेषण का भाव है कि वर्ण, आश्रम के अनुसार जिस मनुष्य के लिए जो कर्म अवश्य कर्तव्य बतलाये गये हैं उन शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप और जीविका, शरीर के सभी श्रेष्ठ कर्मों को करना चाहिए । इससे यह बताया गया है कि निषिद्ध कर्म सात्त्विक नहीं हो सकते । सङ्गरहित से तात्पर्य यह है कि कर्मों में कर्तापन के अभिमान और ममता से रहित । बिना राग द्वेष से अभिप्राय यह है कि कीर्ति में राग और अकीर्ति में द्वेष करके न किया गया हो अर्थात् बिना दम्भ के किया गया हो । कर्मों के फल रूप स्वर्गादि भोगों तथा इस लोक के भोगों की किञ्चित् मात्र आकाँक्षा का न होना 'अफल-प्रेप्सुना' पद का तात्पर्य है । इस प्रकार जिस कर्म में उपर्युक्त समस्त लक्षण पूर्ण रूप से पाये जाते हैं वही कर्म सात्त्विक कहलाता है । इस श्लोक में भगवान् इसी अध्याय के ९वें श्लोक में कहे गये कर्तापन, ममता और फल इन तीनों सात्त्विक त्याग को सात्त्विक कर्म में करने के लिये कहते हैं । जैसे **'अश्वमेधेन यजेत्'** इस वेद विधान वाक्य के अनुसार मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राघवेन्द्र ने अपने वर्णाश्रमोचित **'अश्वमेधशतैरिष्ट्वा'** (वा. रा. बा. का. प्र. स. ६४) के अनुसार १०० अश्वमेध यज्ञ कर्तृत्वाभिमान, ममता, कीर्ति में राग, अकीर्ति में द्वेष से रहित और फल की चाहना से रहित होकर किये । जिससे धन-जन का विकास होते हुए ११ हजार वर्ष तक उन्होंने राज्य किया, जैसा वाल्मीकि जी प्रथम सर्ग में कहते हैं -

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । रामोराज्यमुपासित्वा ॥ (वा. रा. बा. का. १।९७)

इसलिए कल्याणकामी मनुष्यों को सात्त्विक कर्मों का ही आचरण करना चाहिए ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अन्वय :- **तु यत् कर्म पुनः कामेप्सुना वा साहंकारेण बहुलायासम् क्रियते, तत् राजसम् उदाहृतम् ।**

अर्थ :- किन्तु जो कर्म फिर फलाकाँक्षी पुरुष के द्वारा और अहंकार के साथ बहुत आयासपूर्वक (यानी कठिन परिश्रम से) किया जाता है, वह राजस कहा गया है ।

व्याख्या :- सात्त्विक कर्म के लक्षण बतलाने के बाद अब भगवान् राजस कर्म के लक्षण बतलाते हैं - जो अनुष्ठेय कर्म भोगों को चाहने वाले पुरुष के द्वारा कर्तृत्वाभिमान से युक्त और अत्यन्त प्रयास से किया जाता है वह कर्म राजस कहलाता है ।

यहाँ 'कामेप्सुना' पद का अभिप्राय फलाकाङ्क्षी से है । अर्थात् इन्द्रियों के भोगों में आसक्ति के कारण जो सर्वदा अनेक प्रकार के भोगों की चाहना करता है तथा जो यज्ञादि कर्म करता है उसके द्वारा स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, स्वर्गादि भोगों को ही चाहता है । 'साहङ्कारेण' पद का भाव यह है कि यह कर्म मुझसे ही किया जा सकता है, मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार के भाव मन में रख कर कर्तापन के अभिमान के साथ यज्ञादि कर्म करना । यहाँ उपलक्षण है और 'वा' शब्द 'च' के अर्थ में आया है । इसलिए इसका तात्पर्य यह है कि कर्तृत्वाभिमान और आसक्ति लेकर कर्म करता है तथा बहुत परिश्रम से और दु:ख के साथ पूर्ण करता है । भाररूप समझ कर करने से उसे बड़ा परिश्रम करना पड़ता है । इस राजस कर्म से उसे दु:ख होता है, जैसा कि भगवान् १४वें अध्याय में कह भी चुके हैं-

'रजसस्तु फलं दु:खम्' (गीता १४।१६) रजोगुण का फल दु:ख है । इसलिए ऐसे यज्ञ, दान, तप करने वाले को दु:ख ही प्राप्त होता है । जैसे-

'वाजपेयेन यजेत्' इस वेद के विधान के अनुसार इन्द्र जिसके विषय में कहा गया है **'शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः'** (ऋक्.) भगवान् भी कहते हैं कि **'देवानामस्मि वासवः'** (गी. १०।२२) देवताओं में इन्द्र हूँ । उस इन्द्र ने वाजपेय यज्ञ प्रारंभ किया । इसका वर्णन श्रीब्रह्माण्ड महापुराण के पूर्व खण्ड के वेदगर्भामाहात्म्य के पाँचवें अध्याय में किया गया है । यद्यपि उसमें मधु, घी की नदी बहती थी, अन्न का ढेर लगा था तथा समस्त समग्री की परिपूर्णता थी, परन्तु उसने भोगों की कामना से और यह कर्म मुझसे ही किया जा सकता है इस अभिमान के साथ प्रारंभ किया । जिसमें बृहस्पति, जिनके लिये भगवान् गीता में कहते हैं-

'पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्' (१०।२४)

पुरोहितों में प्रमुख बृहस्पति तू मुझको जान, ऐसे को यज्ञ में आने पर इन्द्र ने अहंकार वश न आदर सत्कार किया न बैठने को ही पूछा । जिसका परिणाम यह हुआ कि वे चैत्र-रथ वन (बक्सर) में गंगा तट पर चले आये और वहाँ उनके आने पर पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गयी और वाजपेय यज्ञ उन्होंने प्रारंभ किया । यह देख इन्द्र घबड़ा गया तथा श्रीवामन भगवान् को मनाने के लिए उसने भेजा परन्तु बृहस्पति जी ने उनसे अनुरोध करके कहा कि आप उस अहंकारी की ओर से सिफारिश न करें, वह अत्यन्त विषयाभिलाषी है, उसका अहंकार नष्ट करना आवश्यक है । इन्द्र ने विवश होकर एक भवभूति दीक्षित को आचार्य बना कर यज्ञ प्रारंभ किया, परन्तु उसका मन दानवों के तरफ था इसलिए इन्द्र यजमान को संकल्प कराते समय उसने अन्त:करण से दानवों की वृद्धि के लिए संकल्प किया और ऊपर से देवताओं का संकल्प कहा । इसका परिणाम यह हुआ कि सैकड़ों दानव यज्ञ में उत्पन्न हो गये । यह देख इन्द्र ने कुपित हो अपने वज्र से आचार्य को मार दिया जिससे वह ब्रह्म-हत्या से और पीड़ित हुआ तथा राज्य से भी च्युत हो गया । इससे यह शिक्षा मिलती है कि मुमुक्षु पुरुषों को राजस कर्म कभी नहीं करना चाहिए ।।२४।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
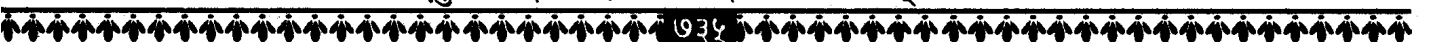
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

अन्वय :- **अनुबन्धम् क्षयम् हिंसाम् च पौरुषम् अनवेक्ष्य यत् कर्म मोहात् आरभ्यते तत् तामसम् उच्यते ।**

अर्थ :- अनुबन्ध (यानी पीछे आनेवाले दुःखात्मक परिणाम) क्षय (हानि), हिंसा और पौरुष (सामर्थ्य) को न देखकर, मोहपूर्वक जो कर्म प्रारम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है ।

व्याख्या :- अब अतित्याज्य तामस कर्म के लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष न देखकर जो अनुष्ठेय कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है ।

कर्म करने के बाद होने वाले दुःख को अनुबन्ध कहते हैं । कर्म करने से होने वाले धननाश को क्षय कहते हैं । कर्म में प्राणियों को जो पीड़ा पहुँचती है उसको हिंसा कहते हैं तथा कर्म को पूर्ण करने के अपने सामर्थ्य को पौरुष कहते हैं । विपरीत ज्ञान का नाम मोह है । इस प्रकार से वेद-विहित जो यज्ञ, दान और तप कर्म में इन सबका विचार न करके अर्थात् इस कर्म को करने के बाद क्या दुःख होगा ? कितने धन का नाश होगा ? प्राणियों को इससे कितना कष्ट होगा ? इसे पूरा करने का सामर्थ्य हममें है या नहीं । इस प्रकार परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुष-इन चारों का बिना विचार किये ही केवल मोहपूर्वक यानी परम पुरुष ही सब कर्मों का कर्ता है इस तत्व को बिना समझे आरंभ किया जाता है वह तामस कहलाता है । यह तमोगुण से उत्पन्न होता है जैसा कि भगवान् कह चुके हैं -

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ (१४।१७)

तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं ।

जैसे-हरिश्चन्द्र के पिता राजा सत्यव्रत यानी त्रिशंकु, 'मैं ऐसा यज्ञ करूँ जिससे अपने इस शरीर के साथ ही स्वर्ग लोक चला जाऊँ ऐसा विचार कर महात्मा वसिष्ठ के मना करने पर भी नहीं माने । इस यज्ञ कर्म से परिणाम में क्या दुःख होगा, इसमें कितने धन का नाश होगा ? तथा इससे जीवों को कितना दुःख होगा ? और मेरा सामर्थ्य इसे करने का है या नहीं ? यह बिना विचार किये ही मोह-वश करने पर तुला रहा । वसिष्ठ जी के अस्वीकार करने पर उनके पुत्रों से जाकर उसने निवेदन किया । जब उन्होंने भी स्वीकार नहीं किया तब कहा कि मैं दूसरे किसी की शरण में जाऊँगा, जिससे कुपित होकर महर्षि के पुत्रों ने कर्मचाण्डाल होने का शाप दे दिया । अन्त में विश्वामित्र ने उस यज्ञ को कराया जिसका परिणाम यह हुआ कि त्रिशंकु के उपर जाने पर इन्द्र ने कहा कि मूर्ख ! तू गुरु के शाप से नष्ट हो चुके हो, अतः नीचे मुँह किये पृथ्वी पर गिर जा । ऐसा कहते ही राजा त्रिशंकु नीचे गिरने लगे । यह देख विश्वामित्र के रोकने पर बीच में ही लटके रहे गये तथा इनकी लार से कर्मनाशा नदी उत्पन्न हुई जो अपेया हो गई । वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के ५७ वें सर्ग में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनुबन्ध , क्षय, हिंसा और सामर्थ्य का बिना विचार किये मोह से तामस कर्म करने वालों को अधोगति होती है । इसलिए कल्याण चाहने वाले मनुष्यों को कभी ऐसा नहीं करना चाहिए ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

अन्वय :- **मुक्तसंगः अनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः कर्ता सात्त्विकः उच्यते ।**

अर्थ :- आसक्ति रहित (यानी फलासक्ति से रहित) अनहंवादी (कर्तृत्वाभिमान से रहित), धृति और उत्साह से युक्त, सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहने वाला कर्ता सात्त्विक कहलाता है ।

व्याख्या :- वेद-विहित अनुष्ठीयमान कर्म को करने वाले को कर्ता कहते हैं । कर्ता भी गुण के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं । इनमें से सात्त्विक कर्ता के लक्षण बतलाते हुये भगवान् ने कहा कि फलासक्ति से रहित, कर्तापन के अभिमान से रहित, धृति और उत्साह से युक्त तथा सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहने वाला कर्ता सात्त्विक कहलाता है । आरम्भ किये हुए कर्म के पूरे होने तक आने वाले अनिवार्य दुःखों को सहन करने का नाम धृति है । चित्त में सर्वदा स्फूर्ति रहने का नाम उत्साह है । इस प्रकार जो कर्ता, **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (२।४७) तथा **'नियतं कुरु कर्म त्वम्'** (३।८) भगवान् के इस कथनानुसार आज्ञा समझकर कार्य करता है, समस्त भोगों में किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रखता, जो कर्तापन का अभिमान नहीं करता तथा इसी कारण जो आसुरी प्रकृति वालों की तरह मैंने अपना मनोरथ सिद्ध कर लिया मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, तप करूँगा आदि अहङ्कार के वचन नहीं कहता, शास्त्र-विहित अपने धर्म के पालन में अनेक विघ्न के उपस्थित होने पर भी विचलित नहीं होता और श्रद्धापूर्वक कर्म करने के लिये उत्सुक रहता है तथा न तो किसी भी कर्म के पूर्ण होने में हर्षित होता है और न उसमें विघ्न उपस्थित होने पर शोक ही करता है तथा इसी तरह अन्य किसी प्रकार का भी कोई विकार अन्तःकरण में नहीं लाता, अर्थात् हरेक अवस्था में सर्वदा सम रहता है वह सात्त्विक कर्ता कहा जाता है ।

यहाँ मैं अपने श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयंकर-मठाधीश्वर बम्बई के स्वर्ण-स्तम्भ वाले श्रीवेंकटेश दिव्य-देश स्थापित करने वाले जगद्गुरु श्रीमत्स्वामी अनन्तसूरि जी महाराज को सात्त्विक कर्ता के दृष्टान्त में उपस्थित करता हूँ । बिहार प्रान्त के विद्वद्जनों **ने यह** विचार किया कि जगज्जननी सीता और रुक्मिणी के अवतार स्थल बिहार में भी श्रीवैष्णव सम्मेलन होना चाहिए । **स्थान** का चुनाव का विचार करते समय सर्वसम्मति से भगवान् राम की क्रीड़ा-स्थली और उनके गुरु विश्वामित्र की तपस्थली, गंगा के तट पर बसे बक्सर चरित्रवन को चुना । उसमें अनेक प्रान्तों के लोगों को निमन्त्रण दिया गया । अध्यक्ष पद के लिए प्रतिवादिभयंकरमठाधीश अनन्ताचार्य जी महाराज से अनुरोधपूर्वक आमंत्रण उनके पास भेजा गया जिसमें यह भी निवेदन किया गया कि आप छत्र, छड़ी, चँवर, सिंहासनादि वैभवों तथा परिकरों के साथ आने की कृपा करेंगे, परन्तु उन्होंने उसमें उपस्थित होने में कुछ कारणों से अपनी असमर्थता की सूचना भिजवायी । फिर भी अत्याग्रह पूर्ण आमन्त्रण जब पुनः तार द्वारा प्राप्त हुआ तो भक्तपराधीन आचार्य ने स्वागतकारिणी सभा में आना स्वीकार कर काञ्ची से मोटरों द्वारा अपने वैभवों के साथ प्रस्थान किया । सम्मेलन का समय १३, १४ जून सन् १६३२ नियत हुआ था । इसी के अनुसार सरल स्वभाव वाले, अभिमान-शून्य आचार्य शीघ्रतापूर्वक चले । स्थान-स्थान पर नदियों को पार करना **पड़ा, आगे** पिनाकिनी नदी और कृष्णा नदी को पार करते समय बहुत कष्ट उठाना पड़ा, परन्तु आप उत्साह के साथ बढ़ते रहे । आगे चलकर बड़ी कठिनाई से गोदावरी नदी को पारकर विजयनगर पहुँचे । यहाँ से पुनः बस्तर राज्य की राजधानी जगदलपुर से होते हुये जब रामपुर जाने लगे तो एक घने जंगल में रात्रि के समय मार्ग भूल गये परन्तु वे अपने धैर्य से विचलित नहीं हुये । बहुत दूर तक जब भूले हुये मार्ग में निकल गये तो भक्तों के लिये अनेक रूप धारण करने वाले परम दयालु भगवान् ने जिस तरह शेषावतार भगवद् रामानुजाचार्य को मार्ग भूल जाने पर विन्ध्याटती में

भील-भीलनी का रूप धारण कर रक्षा की उसी प्रकार भक्त के लिए एक मनुष्य का रूप धारण कर पूछा कि आप इधर कहाँ जा रहे हैं ? जब आचार्यश्री ने अपने जाने का स्थल बताया तो मानवरूपधारी भगवान् ने कहा कि आप अपना मार्ग भूलकर बहुत दूर चले आये, चलिए मैं आपको रास्ता बतला देता हूँ । यद्यपि श्रीस्वामी जी ने मोटर में चढ़ने का बहुत आग्रह किया परन्तु वे पैदल ही मोटर के साथ चलने लगे और अत्यल्प समय में ही बहुत दूर पहुँचाकर तिरोहित हो गये । यह देख आचार्यश्री मन ही मन प्रभु की कृपा का स्मरण कर आनन्द विभोर हो गये । इस प्रकार रायपुर से यशस्विनी होते हुये जबलपुर पहुँच गये तथा ड्राइवर के अत्यन्त थक जाने के कारण मोटर छोड़कर रेल मार्ग से आचार्य चरण बक्सर पहुँचे । यद्यपि आप अनेक विघ्नों के कारण समय पर उपस्थित न हो सके परन्तु जैसे आप को काम के पूरा होने में हर्ष नहीं था वैसे ही विघ्नों से न पहुँचने पर न तो असिद्धि में शोक ही हुआ और न कोई मन में विकार ही हुआ । यहाँ आप के पहुँचते ही हाथी, घोड़े अनेक बाजे, काहली ध्वनि, वेद, स्तोत्र-रत्न के पाठ और जय-जयकार से बड़े धूम-धाम के साथ स्वागत हुआ तथा सम्मेलन का समय बढ़ा दिया गया जो १८-६-३२ तक चला । अन्त में आपका, विशाल जन-समूह के साथ जुलूस निकाल कर स्थान-स्थान पर पुष्पमालाओं, पाठ-पूजन एवं आरती, भेंट से स्वागत होता हुआ शहर भ्रमण कराते हुए चरित्र वन श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान् के मन्दिर में सिंहासन पर विराजमान कराके षोडशोपचार से अर्चकों ने पूजन किया और महाराज की जय-ध्वनि से आकाश गूँजने लगा । यहाँ श्रीपति पीठ के पंचमाधीश्वर श्रीरामकृष्ण स्वामीजी ने आपका विधि-पूर्वक पूजनादि किया तथा आप के उपदेश को सुनकर प्रेम से अश्रुपात करते हुये श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर एवं उसकी समस्त विभूति को (जो उस समय लगभग ४० लाख रुपये की सम्पत्ति थी) अनन्त श्रीजगद्गुरु महाराज के श्रीचरण-कमलों में समर्पित किया । पुनः यहाँ का सम्मेलन दस दिनों तक धूम-धाम के साथ आपकी अध्यक्षता में चला जिसमें गुरु-गोविन्द दोनों की बाँकी झाँकी देखने को मिली । यद्यपि आपको मन्दिर की अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई परन्तु फलासक्ति से रहित पूज्य श्री आचार्य ने चंपक बाग में चंचरीक की भाँति उस सम्पत्ति से किञ्चिन्मात्र आसक्ति न रखते हुये श्रीरामकृष्णाचार्य स्वामी जी को ही उसका प्रतिनिधि बनाकर कैंकर्य करते रहने की आज्ञा दी । आप सं. १६६७ में श्री वैष्णव सम्मेलन की स्थापना कर सं. १६६७ तक अध्यक्ष पद से संरक्षण करते रहे । ऐसे जगद्गुरु श्रीअनन्तसूरि स्वामी जी महाराज भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा कहे गये सात्त्विक कर्ता के लक्षणों से परिपूर्ण थे । इससे आप यह शिक्षा देते हैं कि सात्त्विक कर्ता बनने वाले की भगवान् सर्वदा सहायता करते हैं । इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को हमेशा सात्त्विक कर्ता ही बनना चाहिए ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अन्वय :- **रागी कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धः हिंसात्मकः अशुचिः हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।**

अर्थ :- रागी, कर्मफल चाहनेवाला, लोभी, हिंसात्मक अपवित्र, हर्ष और शोक से युक्त कर्ता राजस कहलाता है ।

व्याख्या :- राजस कर्ता के लक्षण बताते हुये भगवान् कहते हैं -

यश आदि की आसक्ति से युक्त, कर्म फल की इच्छा करने वाला, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजस कहा गया है ।

जो मनुष्य यश, कीर्ति की आसक्ति से यज्ञ, दान, तप कर्म करते हैं उन्हें रागी कहते हैं । जैसा कि भगवान् रजोगुण का स्वरूप वर्णन करते हुए कह चुके हैं - **'रजो रागात्मकं विद्धि'** (गी. १४।७) रजोगुण राग का कारणरूप है । कर्म के फल चाहने वाले को कर्मफलप्रेप्सु कहते हैं । कर्म की सफलता के लिए जितनां द्रव्य व्यय करना आवश्यक है उसको व्यय न करने के स्वभाव वाला लुब्ध यानी लोभी कहा जाता है । दूसरों को कष्ट पहुँचा कर और फिर उनके साथ मिलकर कर्म करने वाले को हिंसात्मक कहते हैं । जिस कर्म के लिये जितनी पवित्रता की आवश्यकता है उतनी पवित्रता न करने वाले को अशुचि कहते हैं । उपर्युक्त लक्षणों तथा कार्य की सिद्धि में हर्ष और हानि में शोक से युक्त होकर जो कर्म करता है वह राजस कर्ता है ।

जैसे श्रीअयोध्यापुरी के राजा हरश्चिन्द्र थे । ये बड़े विद्वान् थे । इसलिये 'अतिथि देवो भव' इस श्रुति वाक्य के अनुसार अतिथि सेवा-परायण थे । इनकी कोई सन्तान नहीं थी । एक बार संयोग से इनके यहाँ वरुण देव, जिनके विषय में **'शं वरुणः'** (ऋ.) वरुण देवता हमारा कल्याण करें ऐसा श्रुति कहती है तथा स्वयं भगवान् इनको अपना स्वरूप बताते हुए कहते हैं **'वरुणो यादसामहम्'** (गी. १०।२९) जलचरों का राजा वरुण मैं हूँ, राजा हरिश्चन्द्र के अतिथि बनकर आये । राजा रागी थे, इसलिए यह सोचते हुए कि मेरे बाद मेरे वंश का विस्तार किस प्रकार हो, उन्होंने बड़ा ही सत्कार किया । इस अतिथि-सेवा से प्रसन्न हो वरुण देव ने कहा कि राजन् आप कुछ चाहते हों तो कहें । राजा ने कहा कि आजतक ईक्ष्वाकु-वंश-परम्परा टूटी नहीं, परन्तु मुझे सन्तान न होने से इसके टूटने का भय है तथा हमारी धर्मपत्नी को लोग वन्ध्या समझकर हीन दृष्टि से देखते हैं । इसलिए आप ऐसा आशीर्वाद दें कि यह वन्ध्यापन हट जाय । वरुणदेव ने कहा कि जब वन्ध्यापन को हटाना चाहते हो तो तुम्हें मैं पुत्र प्राप्ति का वरदान देता हूँ परन्तु उत्पन्न होने पर हमें उसे दे दोगे । राजा ने इसे स्वीकार कर लिया । इस प्रकार अतिथि-सेवा पुत्र रूपी फल प्राप्ति की कामना लेकर राजा ने की । जिसका फल यह हुआ कि पुत्र उत्पन्न होने पर अति आसक्ति वश राजा, बालक का नामकरण नहीं हुआ है, दाँत नहीं निकला है, यज्ञोपवीत नहीं हुआ आदि बहाने से वरुण देवता को बालक लेने के लिए आने पर टालते रहे । अन्त में बालक रोहित भी १२वें वर्ष घोड़े पर चढ़कर पलायित हो गया, जिससे सन्तान पाकर हर्षित थे अब भागने पर शोक-युक्त हो गये तथा वरुण देव ने भी कुपित होकर जलोदर रोग होने का शाप दे दिया । इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र राजस कर्ता के कारण अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुए । इसलिए मुमुक्षु पुरुष को राजस कर्ता नहीं बनना चाहिये ।।२७।।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।२८।।

अन्वय :- **अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठः नैष्कृतिकोऽलसः विषादी च दीर्घसूत्री कर्ता तामस उच्यते ।।२८।।**

अर्थ :- अयुक्त, विद्यारहित, स्तब्ध शठ, वञ्चक (यानी उपकारी का भी अपकार करने वाला) आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहा जाता है ।

व्याख्या :- अब तामस कर्ता का लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि जो कर्ता अयुक्त, विद्या-रहित, स्तब्ध, शठ, ठग, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री होता है-वह तामस कहा जाता है ।
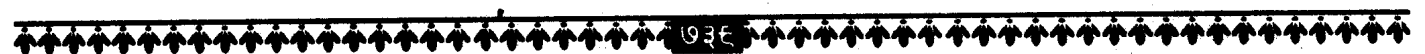
निरन्तर पाप कर्मों में लगे रहने और शास्त्रीय कर्म करने के योग्य न रहने वाले को अयुक्त कहते हैं । जिसने विद्या नहीं प्राप्त की है अर्थात् जिसको किसी प्रकार की सुशिक्षा नहीं प्राप्त हुई तथा जिसे अपने कर्तव्य का कोई ज्ञान नहीं है उसे 'प्राकृत' कहते हैं । अच्छे कर्म करने में जिसकी प्रवृत्ति न हो अथवा जिसमें विनय का अत्यन्त अभाव है तथा जो सदा ही घमंड में रहता है, उसे 'स्तब्ध' कहते हैं । मारण-उच्चाटनादि कर्मों में जिसकी रुचि हो तथा गुप्त भाव से दूसरों का अपकार करने वाले को 'शठ' कहते हैं । अच्छे कार्यों के करने के बहाने धूर्तता से धनादि ले लेने वाले को 'नैष्कृतिक' कहते हैं । यज्ञादि आरंभ किये हुए कर्म में जिसकी रुचि न हो अर्थात् शास्त्रीय कर्म में प्रवृत्ति और उत्साह न रखने वाले को 'अलस' कहते हैं । जो अत्यधिक शोक में रहता है अर्थात् दिन-रात शोक करता रहता है ऐसे चिन्तापरायण पुरुष को विषादी कहते हैं और अभिचारादि कर्म करके दूसरों के लिए दीर्घकाल तक रहने वाले अनर्थ का विचार करने वाले को 'दीर्घसूत्री' कहते हैं । उपर्युक्त सभी अवगुण जिसमें विद्यमान हों उसे तामस कर्ता समझना चाहिये ।

जैसे शूरसेन देश का राजा कंस । वह अपनी बहन देवकी को मारने को उद्यत होने से तथा बाल-वध जैसे पाप कर्म को करने से यज्ञादि कर्म में अयोग्य था । महात्माओं के सत्सङ्ग से सुशिक्षा को न प्राप्त करने वाला विद्यारहित था जिससे कर्तव्य का ज्ञान न होने से पूतना आदि को भेजकर नवजात शिशुओं का वध कराता था । इस प्रकार उस जड़ बुद्धि वाले ने अपने जीवन-काल में कभी अच्छा कार्य नहीं किया । अघासुर, वकासुर आदि असुरों को गुप्त रूप से भेजकर मारने का यत्न कराने वाला शठ था तथा धनुषयज्ञ के बहाने निमन्त्रित करके श्री नन्दनन्दन तथा गोपों को धोखा देने के लिए कुवलयापीड आदि को दरवाजे पर रखा था । धनुष-यज्ञ कराने में उसकी रुचि भी नहीं थी, क्योंकि उसका उद्देश्य धूर्तता से भगवान् को मारने का था । जब अपने कार्यों में असफलता देखता था तब विषाद में हो जाता था । जैसा कि वह देवकी से कहता भी था-मैंने तुम्हारे बहुत से लड़के मार डाले इसका मुझे बड़ा खेद है तथा गोप बालों और भगवान् श्रीकृष्ण से दीर्घकाल तक वैर रखते हुए सर्वदा उनके अनिष्ट करने का विचार किया करता था । यह सब वर्णन श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के तीसरे अध्याय में विस्तारपूर्वक है । इस प्रकार उपर्युक्त सभी अवगुणों से युक्त कंस तामस कर्ता था । जिसका फल हुआ कि उसी प्रमुख यज्ञ में ही दूध पीनेवाले बालक श्रीकृष्ण के द्वारा वह अपने सभी सहायकों के सहित मारा गया तथा उसके धन-जन का संहार हो गया । इसलिए कल्याण चाहने वाले मनुष्य को अपने अन्दर तामसी कर्ता के लक्षणों के किसी भी अंश को नहीं रहने देना चाहिए ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

अन्वय :- **धनंजय ! गुणतः बुद्धेः च धृतेःएव त्रिविधम् भेदम् अशेषेण पृथक्त्वेन प्रोच्यमानम् शृणु ।**

अर्थ :- हे धनंजय ! गुणानुसार बुद्धि और धृति के भी तीन प्रकार के भेद को अशेष रूप से यानी पूर्णरूप से (मेरे द्वारा) पृथक्-पृथक् कहे जाते हुए तू सुनो ।

व्याख्या :- कर्तव्य कर्म-विषयक ज्ञान, कर्तव्य कर्म और उसका करने वाला कर्ता इन तीनों के गुणों के कारण होने वाले तीन भेद बतलाकर अब सम्पूर्ण तत्त्व और समस्त पुरुषार्थ की निश्चयरूपा जो बुद्धि है उसके और धृति के गुणों के कारण होने वाले तीन-तीन भेद बतलाने की प्रस्तावना करते हुए भगवान् कहते हैं -
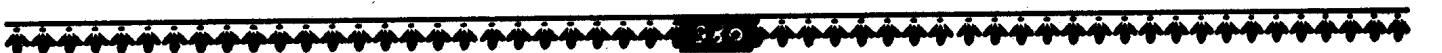
धनंजय ! बुद्धि और धृति के भेद भी जो गुणभेद से तीन-तीन प्रकार के हैं, मेरे द्वारा पृथक्-पृथक् कहे हुये तू सुनो ।

इस श्लोक में धनंजय सम्बोधन देरक भगवान् यह बताते हैं कि जिस तरह अर्जुन ने उत्तर कुरु के धन को जीतकर अपने उपभोग में न लाकर जनता-जनार्दन की सेवा में लगा दिया उसी तरह हमें धन पाकर देश, काल, पात्र के अनुसार उसे दीनों तथा अतिथि की सेवा आदि कार्यों में लगाना चाहिए । कहा भी गया है -

'धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते ?'

धन पाकर क्या किया यदि देश, काल, पात्र देखकर दान नहीं किया, न भोजन ही किया । दूसरे-धन प्राप्त होने पर धन की रक्षा का उपाय सोचना चाहिए । जो लोग धन को अच्छे कार्यों में न व्यय करना ही इसकी रक्षा समझते हैं वे मंद बुद्धि का परिचय देते हैं । जैसे अन्न को उत्पन्न कर उसको अधिक दिन तक बचाये रखने से वह स्वयं नष्ट हो जाता है तथा समय, स्थान देखकर क्षेत्र में बोने से उसकी वृद्धि होती है, उसी प्रकार जो धन देश, काल, पात्रानुसार दान अथवा व्यय किया जाता है, उसीसे उसकी रक्षा होती है अन्यथा किसी न किसी रूप में वह नष्ट हो जाता है । इसलिए कहा गया है -

'उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्'

न्याय से उपार्जित धन का त्याग करना ही उसकी रक्षा है । यही बताने के लिये भगवान् यहाँ धनंजय सम्बोधन देते हैं ।

विवेकपूर्वक होने वाले निश्चय रूप ज्ञान का नाम बुद्धि है । अनुष्ठीयमान कर्म के आरंभ करने पर विघ्न उपस्थित होने पर उसे सहन कर लेने की शक्ति का नाम धृति है । इन बुद्धि और धृति के गुणों से होने वाले सात्त्विक बुद्धि, राजस बुद्धि, तामस बुद्धि और सात्त्विक धृति, राजस धृति, तामस धृति ये तीन-तीन प्रकार के भेद हैं । भगवान् कहते हैं कि मेरे द्वारा पूर्ण रूप से और अलग-अलग कहे हुए लक्षणों को ठीक-ठीक सावधानी से सुनो । तुम्हें उत्तमाधिकारी जान कर मैं छिपाता नहीं हूँ । अतः बताते हैं कि योग्य अधिकारी पाकर उससे कोई विद्या छिपानी नहीं चाहिये ।।२९।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३०।।

अन्वय :- **पार्थ ! या प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् कार्याकार्ये भयाभये बन्धम् च मोक्षम् वेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी ।**

अर्थ :- हे पृथानन्दन ! जो (बुद्धि) प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष को जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ।

व्याख्या :- सात्त्विक बुद्धि का लक्षण बताते हुये भगवान् कहते हैं कि पार्थ ! प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष इन सबको जो बुद्धि जानती है वह बुद्धि सात्त्विक है ।

पार्थ सम्बोधन देकर भगवान् बताते हैं कि नर-नारी के शरीर में माता का अंश रज अधिक होने से, जन्म के बाद माता के समीप बालक के अधिक रहने, तथा बालक का पालन-पोषण माता पर ही अधिक निर्भर रहने आदि से बालक पर विशेष प्रभाव माता का ही पड़ता है । अर्जुन की माता महासाध्वी, पुण्या थी जिसके नाम लेने से पाप नष्ट होना बताया गया है । इसलिये अर्जुन में दुराचार अत्याचार आदि दोष की संभावना नहीं है । भगवान् संकेत करते हैं कि इसी कारण तुम्हें अति गुह्य ज्ञान को कह रहा हूँ ।

धर्म के दो प्रकार हैं - एक प्रवृत्ति दूसरा निवृत्ति । गीता में धर्म और कर्म शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयोग किये गये हैं । लौकिक वस्तु पुत्र, स्त्री, धन आदि को बढ़ाने के साधन रूप धर्म को प्रवृत्ति कहते हैं और मोक्ष के साधन रूप धर्म का नाम निवृत्ति है । जो बुद्धि प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म को ठीक-ठीक समझती है, अर्थात् जिस बुद्धि से लोक के धन बढ़ाने वाले साधन रूप धर्म प्रवृत्ति को यथार्थ रूप से जानता है तथा जिस बुद्धि से यज्ञ, दान, तप से मोक्ष नहीं होता बल्कि एक शरणागति से ही मोक्ष प्राप्त होता है इस मोक्ष के साधन रूप निवृत्ति धर्म को यथार्थ रूप से जानता है ।

शास्त्रानुसार जिस वर्ण, जिस आश्रम के लिए, जिस समय जो कर्म करना उचित है-वही उसके लिए कर्तव्य है तथा शास्त्रानुसार जिस वर्ण, जिस आश्रम के लिए जिन कर्मों का निषेध किया गया है, वे ही उसके लिए अकर्तव्य हैं । अर्थात् जिस बुद्धि से वर्णाश्रम, देशकाल अवस्थानुसार कौन कर्म करने योग्य है कौन कर्म करने योग्य नहीं है, निर्णय किया जाता है ।

शास्त्रविरुद्ध कार्य भय देता है तथा शास्त्रानुसार आचरण अभय प्रदान करता है । दूसरे-पांचरात्रागम में भय का वर्णन करते हुये जो बताया गया है -

कालेष्वपि च सर्वेषु दिक्षु सर्वासु चाच्युत ।
शरीरे च गतौ चापि वर्तते मे महद्भयम् ॥ (जिते स्तो. अ. ४।६)

हे अच्युत ! भूत, भविष्य, वर्तमान समस्त कालों में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में, शरीर में और गति नाम उपाय में भी बड़ा भारी भय है । इस प्रकार भय को समझने वाले तथा जिस बुद्धि से आचार्य के कहे **'विष्णोः पदं निर्भयम्'** (पंचायुध स्तो. ८) इस अभय को ठीक-ठीक जानता है और जो बुद्धि ममता करना ही बन्धन है तथा ममकार छोड़ देना ही मोक्ष है इसको यथार्थ रूप से जानती है, जैसा कि कहा भी गया है -

द्वे पदे बंधमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥ (व. उ. २।४३)

दो पदों में ही बंध एवं मोक्ष निहित है । ममता से जीव बँधता है और निर्मम होने से मोक्ष प्राप्त करता है । भगवान् ने भी कहा है - **'निर्ममो निरहंकारः'** (गीता १२।१३)-इस प्रकार जो बुद्धि उपर्युक्त सभी बातों को ठीक-ठीक समझती है, उनमें से किसी भी विषय का निर्णय करने में न तो उससे भूल होती है और न संशय ही रहता है, वह बुद्धि सात्त्विकी है । जैसे श्रीभरत सूरि जी लौकिक उन्नति के साधन रूप धर्म को उनकी बुद्धि ठीक-ठीक जानती थी । भगवान्

राम के वन जाने के बाद सभी लोग एकमत से राज्य सिंहासन पर भी भरत जी को बैठाना चाहते हैं परन्तु उनकी बुद्धि सात्त्विकी थी, इसलिए वे जानते थे कि लौकिक सम्पत्ति की वृद्धि तभी होती है जब भगवान् की सेवा में उसको लगाया जाता है जैसा कि वे स्वयं कहते हैं -

जरउ सो संपति सदन सुखु, सुहृद मातु पितु भाई ।
सनमुख होत जो राम पद, करै न सहस सहाइ ॥ (रा. मा. २।१८५)

मोक्ष के साधन रूप शरणागति धर्मरूप निवृत्ति को भी उनकी बुद्धि ठीक से समझती थी । जैसा कि वे शरणागति धर्म के अन्दर प्रधान रूप से पाये जाने वाले नैच्यानुसंधान करते हुए कहते हैं -

देखें बिनु रघुनाथ पद, जिय की जरनि न जाय । (रा.मा. २।१८२)
आन उपाय मोहिं नहिं सूझा ।
जद्यपि मैं अनभल अपराधी । भै मोहि कारन सकल उपाधी ॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी । छमि सब करिहहिं कृपा विशेषी ॥ (रा. मा. २।१८२।१,३,४)

तथा -

मैं अनुमानि दीख जग माहीं । आन उपायँ मोर हित नाहीं ।
सरुज सरीर बादि बहु भोगा । बिनु हरिभगति जायँ जप जोगा ॥ (रा. मा. २।१७७।२,५)

देश, काल, अवस्था की अपेक्षा से यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है इस बात को उनकी बुद्धि समझती है । इसीलिए जब सभी लोग उन्हें राजगद्दी पर बैठना चाहिए कहते हैं तब वे अपना निश्चय सुनाते हुए निर्णय देते हैं कि-

जाउँ राम पहिं आयसु देहू । एकहिं आँक मोर हित एहू ॥ (रा. मा. २।१७७।७)

यहाँ तक जब चित्रकूट की भरी सभा में भगवान् राम शपथ खाकर वसिष्ठ जी एवं जनक जी से कहते हैं कि -

राउर राय रजायसु होई । राउरि सपथ सही सिर सोई ॥ (रा. मा. २।२६५।८)

तब श्रीवसिष्ठ और जनक जैसे ज्ञानी की बुद्धि कर्तव्य और अकर्तव्य को ठीक समझने में कठिन स्थिति में हो जाती है जैसा मानसकार कहते हैं -

राम सपथ सुनि मुनि जनकु सकुचे सभा समेत ।
सकल विलोकत भरत मुखु बनइ न ऊतरु देत ॥ (रा. मा. २।२६६)

और जब वे सभी लोग श्रीभरतसूरि की ओर देखने लगते हैं, तब ऐसे कुसमय की घड़ी में श्री भरतजी की सात्त्विकी बुद्धि में विवेक रूपी विशाल वराह ने प्रकट होकर शोक रूपी हिरण्याक्ष को मार कर बुद्धि रूपी पृथ्वी का उद्धार किया, जैसा कि संत तुलसीदासजी वर्णन करते हुए कहते हैं -

सोंक कनक लोचन मति छोनी । हरि विमल गुन गन जग जोनी ।
भरत विवेक वराहँ बिसाला । अनायास उधरी तेहि काला ॥ (रा. मा. २।२९६।३,४)

और अपनी बुद्धि का निर्णय सुनाते हुए कहते हैं कि –

अग्या सम न सुसाहिब सेवा । सो प्रसादु जन पावै देवा । (अयो. ३००।४)

इस प्रकार उनकी बुद्धि यह यथार्थ समझती थी कि भगवान् की आज्ञा जो शास्त्र है उसके अनुसार चलना ही निर्भयता है तथा शास्त्र-विरुद्ध आचरण भय प्रदान करता है । जैसा कि वे अपने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि –

बेचहिं वेदु धरमु दुहि लेहीं । पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥
.. । वेद विदूषक विस्व विरोधी ॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा । जौ जननी यहु संमत मोरा ॥ (अयो. १६७।१,२,४)

इस प्रकार उनकी बुद्धि शास्त्र विरुद्ध आचरण को भय का स्थान समझती है तथा ममता ही बन्धन है और ममता रहित होना मोक्ष है यह भी उनकी बुद्धि यथार्थ रूप से समझती है जैसा कि उन्होंने **'संपति सब रघुपति कै आही'** (अयो. १८५।३) मेरा कुछ भी नहीं, इसी को व्यक्त करते हुये कहा । इस प्रकार श्रीभरतसूरि की बुद्धि पूर्णरूपेण सात्त्विक है । इसलिए गोस्वामीजी उनकी सात्त्विकी बुद्धि रूपी युवती को श्रीरामस्वामी मे लवलीन हुई कहते हुए उनकी वन्दना करते हैं –

जयति विवुधेश-धनदादि दुर्लभ-महा- राज संभ्राज सुख पद विरागी ।
खड्ग धाराव्रती प्रथम रेखा प्रकट शुद्ध मतियुवति पति प्रेमपागी ॥ (वि. प. ३९). ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

अन्वय :- **पार्थ ! यया धर्मम् च अधर्मम् च कार्यम् च अकार्यम् एव अयथावत् प्रजानाति सा बुद्धिः राजसी ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! जिससे (यानी जिस बुद्धि से) धर्म और अधर्म को एवं कार्य तथा अकार्य को भी ठीक-ठीक नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ।

व्याख्या :- अब राजसी बुद्धि का लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ ! मनुष्य जिस बुद्धि से धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ रूप से नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है ।

यहाँ धर्म शब्द से ३०वें श्लोक में कहे गये प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मों को बताया गया है । वैशेषिक शास्त्र में कणाद ऋषि ने धर्म का लक्षण बताते हुए कहा भी है –

'यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयस्सिद्धिः सः धर्मः' (१।२)

जिसके करने से इस लोक के धन-जन बढ़ते हुए अन्त में मोक्ष प्राप्त हो उसे धर्म कहते हैं । यहाँ पर धर्म से तात्पर्य प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म से है । भगवान् कहते हैं कि जिस बुद्धि से मनुष्य प्रवृत्ति, निवृत्ति दो प्रकार के धर्मों को और अधर्म नाम वेद से निषिद्ध कर्म को एवं वर्ण, आश्रम, देश, काल तथा अवस्था आदि के अनुसार कार्य (कर्तव्य) और अकार्य (अकर्तव्य) को भी ठीक-ठीक नहीं जानता वह बुद्धि राजसी है । जैसे सुग्रीव, जिसके विषय मं कहा गया है-

'सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे' (वा. रा. बा. का. स. १।६३)

सुग्राव को राम के बल के विषय में बराबर शङ्का बनी रहती थी । वह धर्म और अधर्म को, कार्य और अकार्य को यथार्थरूप में नहीं जानता था । मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् के बल को वह जानते हुए भी कि विशाल धनुष को खण्ड-खण्ड कर दिये, परशुराम जैसे विश्व-विजयी जिसके बल को जानकर नतमस्तक हो गये, खर-दूषण सहित उसके चौदह हजार की सेना को क्षण-मात्र में अकेले ही नष्ट कर दिये तब भी उसे भगवान् के बल में शङ्का होती है । भगवान् द्वारा प्रतिज्ञा करने पर भी कि -

सुनु सुग्रीव मारिहऊँ बालिहि एकहिं बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ॥ रा. मा. ४।६॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें । सब विधि घटब काज मैं तोरें ॥ (रा. मा. ४।६।१०)

वह दुन्दुभी की हड्डी और सात ताल को दिखाते हुए कहता है -

कह सुग्रीव सुनहु रघुवीरा । बालि महाबल अति रनधीरा ॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए । .... ॥ (रा. मा. ४।६,११,१२)

दूसरे-इधर वह सात ताल दिखाकर कहता है कि जब तक ये सातों ताल रहेंगे तब तक बालि नहीं मारा जा सकता परन्तु जिस दिन मयसुत मायावी से बालि का युद्ध गुफा के अन्दर होने लगा उस समय भी सात ताल विद्यमान रहते हुए भी वह कहता है कि मैं जान गया कि बालि मारा गया, जबकि वह यह भी जानता था कि बालि के पास इन्द्र द्वारा दी हुई माला है जिसके रहने से शत्रु का आधा बल बालि में चला जाता है, परन्तु गुफा के बाहर रहकर वह अपनी राजसी बुद्धि से दुंदुभी का मरना यह यथार्थ विचार न कर बालि का मरना समझता है । अपने कर्तव्य को भी कि भाई के साथ क्या व्यवहार करना चाहिए नहीं जानता है, क्योंकि यदि जानता होता तो पलायित न होकर वीरों की भाँति युद्ध करता । वह स्वयं कहता है -

बालि हतेसि मोहि मारिहि आई । सिला देइ तहँ चलेउँ पराई ॥ (रा. मा. ४।५,८)

यही नहीं सातों ताल भेदने के बाद भी जब बालि से युद्ध करने जाता है तब उस समय जब बालि सुग्रीव को समानाकार देखकर भगवान् बाण नहीं चला सके तो वह भगवान् द्वारा की गई प्रतिज्ञा में भी शंका करते हुए कहता है -

वैरिणा घातयित्वा च किमिदानीं त्वया कृतम् ।

तामेव वेलां वक्तव्यं त्वया राघव तत्त्वतः ।
वालिनं न निहन्मीति ततो नाहमितो व्रजे ॥ (वा. रा. किष्कि. स. १२।२६,२७)

आपने शत्रु से पिटवाया और स्वयं छिप गये । बताइये इस समय आपने ऐसा क्यों किया ? आप को उसी समय सत्य बता देना चाहिए था कि मैं बालि को नहीं मारूँगा । ऐसी दशा में यहाँ से उसके पास नहीं जाता । इस प्रकार देश काल परिस्थिति के अनुसार क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है ? वह यथार्थ रूप से नहीं जानता था । इससे स्पष्ट हो जाता है कि सुग्रीव की बुद्धि राजसी थी । इसी राजसी बुद्धि के कारण उसने दुःख प्राप्त किया तथा सर्वत्र व्याकुल होकर भागता रहा जैसा कि स्वयं वह कहता है -

'सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला' (रा. मा. ।४।५।१२)

इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि राजस बुद्धि का त्याग कर सात्त्विक बुद्धि को बढ़ावें ।।३१।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।३२।।

अन्वय :- **पार्थ ! तमसावृता या अधर्मम् धर्मम् इति च सर्वार्थान् विपरीतान् च मन्यते सा बुद्धिः तामसी ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! अन्धकार से ढकी हुई जो (बुद्धि) अधर्म को धर्म ऐसे और सब बातों को विपरीत (उल्टी) मानती है, वह बुद्धि तामसी है ।

व्याख्या :- सात्त्विक बुद्धि और राजसी बुद्धि का लक्षण बताने के पश्चात् भगवान् अति त्याज्य तामसी बुद्धि का लक्षण बताते हुये कहते हैं कि पार्थ 'तमोगुण अज्ञान रूपी अन्धकार से ढँके होने के कारण जो बुद्धि अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म रूप से मानती है तथा उसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मानती है वह बुद्धि तामसी है । जब अज्ञान रूपी अन्धकार ज्ञान रूपी बुद्धि को आवृत कर लेता है तब तामसी बुद्धि वेदनिषिद्ध कर्मों को तथा ईश्वर-निन्दा, शास्त्र विरोध, माता-पिता गुरु आदि का अपमान, वर्णाश्रम धर्म के प्रतिकूल आचरण, कपट, व्यभिचार, अभक्ष्य भोजन, स्वेच्छाचार आदि शास्त्र-निषिद्ध पापकर्म रूप अधर्म को धर्म मानती है और जिससे लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक सुख प्राप्त होता है । ऐसे प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म को अधर्म मानती है तथा अच्छी वस्तु को बुरी और बुरी वस्तु को अच्छी वस्तु, परतत्त्व, परमात्मा को तुच्छ, तुच्छ शरीरादि को श्रेष्ठ तथा इसी तरह अकर्तव्य को कर्तव्य, कर्तव्य को अकर्तव्य, दुःख को सुख, अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, हानि को लाभ इस प्रकार सब कुछ विपरीत मानती है । इसका अभिप्राय यह कि तमोगुण से आवृत होने के कारण जिस बुद्धि की विवेक-शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है, जिसके द्वारा प्रत्येक विषय में विपरीत निश्चय होता है, वह बुद्धि तामसी है । ऐसी बुद्धि मनुष्य को अधोगति में ले जाती है । जैसे बृहस्पति के समान ज्ञानी की भी बुद्धि को जब अज्ञान रूपी अन्धकार ने ढँक लिया तब उन्होंने विद्वान् होकर भी अधर्म को धर्म तथा सब कुछ विपरीत मानते हुए चार्वाक दर्शन को बनाया, जिसमें वे कहते हैं -

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।१।।

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥२॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥३॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् ।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्था पाथेयकल्पना ॥४॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥५॥

जब तक जीये तब तक सुख से जीये । ऋण करके घृत पीये, शरीर के भस्म होने पर फिर आगमन कहाँ होता है ? ॥१॥ न स्वर्ग है न मोक्ष है न कोई पारलौकिक आत्मा है, वर्णाश्रमों के लिये क्रियायें फल देने वाली नहीं हैं ॥२॥ अग्नि-होत्र, वेद, त्रिदण्ड-धारण, भस्म-धारण ये सब मूर्खों और आलसियों के खाने-पीने के धन्धे हैं ऐसा बृहस्पति का मत है ॥३॥ यदि मरकर परलोक गये जीवों की तृप्ति श्राद्ध से होती है तो फिर परदेश जाने वाला व्यक्ति व्यर्थ ही पाथेय ढोता है, घर पर ही उसका श्राद्ध कर दिया जाता जिससे रास्ता भर उसकी तृप्ति होती ॥४॥ इस देह से निकलकर जीव यदि परलोक जाता है तो फिर वह अपने बान्धवों के स्नेह से व्याकुल होकर उन्हें देखने के लिए कभी लौटकर आता क्यों नहीं है ?॥५॥ इत्यादि । इस प्रकार तामसी बुद्धि होने पर उन्होंने धर्म और महात्माओं का कुतर्क द्वारा खंडन किया, इसका परिणाम यह हुआ कि राजा चन्द्रमा के साथ बृहस्पति की स्त्री ने व्यभिचार द्वारा पुत्र उत्पन्न किया तथा बृहस्पति ने स्वयं सर्वत्र प्रचार कर अपनी अपकीर्ति भी करायी । इनके जैसे विद्वान् के समझाने पर भी वह चन्द्रमा के पास से नहीं आई । अन्त में घनघोर संग्राम हुआ जिसमें बहुत लोगों की दुर्दशा हुई एवं धन नष्ट हुआ । वर्तमान समय में तो अधिकांश लोग पाश्चात्य वातावरण में पड़कर बृहस्पति की तामसी बुद्धि के समय के कहे गये इन्हीं कुतर्कों का अवलम्बन लेकर शास्त्र-विरुद्ध विपरीत मार्ग पर चल रहे हैं । इसमें सज्जनों को आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि जब बृहस्पति जैसे विद्वान् ने तमोगुण के कारण जिस समय तामसी बुद्धि उत्पन्न हुई तो उन्होंने वेद-विरोधी बातें कहकर नास्तिक मत को बनाया, फिर साधारण लोग कहें तो इसमें क्या आश्चर्य ? दूसरे, युग के भी प्रभाव से लोगों की बुद्धि पापकर्म-परायण हो गयी है, क्योंकि कहा भी गया है -

कलौ सर्वे भविष्यन्ति पापकर्मपरायणाः । (स.ब्र.क.अ. १ श्लो. ८)

इसलिए सज्जनों को इन कुतर्कों को सुनकर घबड़ाना नहीं चाहिए तथा इस प्रकार की विपरीत बुद्धि का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । यही श्रीरामजी ने अयोध्या काण्ड में किया है । जब ज्ञानी महर्षि जाबाली ने हृदय में यह भाव रखकर कि भगवान् के मुखारविन्द से तामसी बुद्धि से उत्पन्न नास्तिक मत के खण्डन के विषय में कुछ सुनूँ, ऊपर से बृहस्पति के नास्तिक मत का अवलम्बन करके -

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।
दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत् पथ्यशनं भवेत् ॥ (वा. रा. अयो. १०८।१५)

यदि यहाँ दूसरे का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में जाता हो तो परदेश में जाने वालों के लिये श्राद्ध ही कर देना चाहिये, उनको रास्ते के लिये भोजन देना उचित नहीं है, इत्यादि कहा तो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम श्रुति-सम्मत सदुक्ति का आश्रय लेकर इन नास्तिक कुतर्कों के सम्बन्ध में कहते हैं -

अकार्यं कार्यसंकाशमपथ्यं पथ्यसंनिभम् ॥२॥
अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः ।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥५॥
अधर्मं धर्मवेषेण (वा. रा. अयो. १०६।२, ५, ६)

उपर्युक्त नास्तिक मतों की दी हुई बातें कर्तव्य सी दिखई देती हैं किन्तु वास्तव में करने योग्य नहीं हैं । इस नास्तिक मत को अपनाने वाला पुरुष श्रेष्ठ सा दिखाई देने पर भी वास्तव में अनार्य होगा । बाहर से पवित्र देखने पर भी भीतर से अपवित्र होगा । उत्तम लक्षणों से युक्त-सा प्रतीत होने पर भी वास्तव में उनके विपरीत होगा तथा शीलवान दिखने पर वस्तुतः दुःशील होगा । आपके ये कथन धर्म का चोला पहने हुए से लगते हैं परन्तु वास्तव में अधर्म हैं । तथा -

'सत्ये धर्मः सदाश्रितः', सत्यमूलानि सर्वाणि ।१३
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत् ॥१४ (वा. रा. अयो. १०६।१३,१४)

सदा सत्य के ही आधार पर धर्म की स्थिति रहती है । सत्य ही सब की जड़ है । दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद इन सबका आधार सत्य ही है, इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिए ।

इस कर्मभूमि भारत को पाकर जो शुभ कर्म हैं उनका अनुष्ठान करना चाहिए । इत्यादि, भगवान् के कथन को सुनकर महर्षि जाबालि अत्यन्त प्रसन्न हुए । इस प्रकार भगवान् उपदेश देते हैं कि तामसी बुद्धि के कथनों पर ध्यान न देकर सर्वदा सात्त्विक बुद्धि के महापुरुषों के शास्त्रानुसार उपदेश ग्रहण करना चाहिए, जिससे लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति हो ॥३२॥

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

अन्वयं :- **पार्थ ! यया अव्यभिचारिण्या धृत्या योगेन मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः धारयते, सा धृतिः सात्त्विकी ।**

अर्थ :- हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी (एकनिष्ठ) धृति से योग के उद्देश्य से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ।

व्याख्या :- बुद्धि के गुणानुसार भेद बतलाने के पश्चात् अब धृति के तीन भेदों में से सात्त्विक धृति का लक्षण बताते हुये भगवान् कहते हैं कि - हे पृथा-पुत्र अर्जुन ! जिस अचला धृति से पुरुष मोक्ष के साधन रूप भगवदुपासना रूप योग

के उद्देश्य से मन, प्राण तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है वह धृति सात्त्विकी है ।

मन को बताया गया है कि **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** (वि. पु. ६।७।२८) मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष में कारण है तथा गीता में भगवान् ने कहा है - **'चञ्चलं हि मनः कृष्ण'** (६।३४) मन बड़ा चञ्चल है । इस मन की क्रिया संकल्प-विकल्प करना है । प्राण के विषय में कहा गया है - **'हृदि प्राणः'** (योगचूडामण्यु. श्रु. २३) हृदय में प्राण रहता है ।

'मुखनासिकाभ्यां निर्गमनप्रवेशनात् प्राणः'

मुख नासिक द्वारा जो वायु बाहर भीतर आती जाती है, उसे प्राण कहते हैं । प्राण की क्रिया श्वास-प्रश्वास है, तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध में कहा गया है - **'इन्द्रियाणि दशैकं च'** (गीता १३।५)

यहाँ योग का तात्पर्य मोक्ष के साधन रूप भगवदुपासना है । जैसा भगवान् अपने हृदय में इसी बात को रखकर छठे अध्याय में कह चुके हैं -

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् । (६।२३)

उस दुःख-संयोग के वियोग नाम अत्यन्ताभाव जहाँ हो जाय उसको 'योग' कहते हैं । इससे स्पष्ट हो जाता है कि मोक्ष के साधन रूप भगवत् उपासना का नाम योग है । इस प्रकार उपर्युक्त मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को जिस अव्यभिचारणी धृति के द्वारा मनुष्य मोक्ष के साधन रूप भगवदुपासना रूप योग के उद्देश्य से धारण करता है, वह सात्त्विकी धृति है । जैसे-भगवद् श्रीरामानुजाचार्य स्वामी जी के परम प्रिय भक्त श्रीकूरेश स्वामी जी । अनादि काल से यह नियम चला आ रहा है कि भगवान् के भक्त दूसरे पर वार नहीं करते, परन्तु अन्य देवताओं के भक्त भगवान् के भक्तों पर वार करते हैं । जैसे सत्ययुग में भगवान् का भक्त प्रह्लाद कुछ नहीं बोला, परन्तु देवतान्तर भक्त हिरण्यकशिपु ने उन्हें अनेक कष्ट दिया । त्रेता में भगवान् के भक्त हनुमान् जी ने दूसरे को कुछ कष्ट नहीं दिया, परन्तु शिव, विरंचि को पूजने वाले रावण ने पूँछ में आग लगवा दी । उसी तरह द्वापर में भगवान् के भक्त नन्द आदि ने कंस से कुछ द्रोह नहीं किया, परन्तु देवताओं के भक्त कंस ने यज्ञ में बुलाकर गोपों को मारने का प्रयत्न किया । इसी प्रकार कलि में दक्षिण भारत में चोल देश का एक कृमिकण्ठ नामक राजा था, जो अपनी राजधानी तंजौर में रहता था । उसी समय श्रीरामानुजाचार्य स्वामी द्वारा वैष्णवता का पूर्ण विकास देखकर राजा को बड़ी जलन हुई और उसने एक योजना बनायी जिसके अनुसार **'शिवात् परतरं नास्ति'** शिव से कोई बड़ा नहीं है, यह लिखकर सभी लोगों से इसके समर्थन में हस्ताक्षर अभियान चलाया । उसका उद्देश्य था कि सर्वत्र अपने प्रभाव से मैं जबर्दस्ती श्रुतिस्मृति के विपरीत इस अपने मत को स्थापित कर दूँ । उसने अनेकों अर्थ-काम-परायण वैष्णवों से भी इसपर हस्ताक्षर करवा लिया । उसके मन्त्रियों ने राजा को सलाह दी कि आपको सब से हस्ताक्षर कराकर कोई लाभ नहीं होगा । यदि श्रीरंगधाम में रहने वाले विख्यात श्रीकूरेश नामक विद्वान् इसपर अपना हस्ताक्षर कर दें तो आपका मत पुष्ट हो जायगा और अन्य सभी लोग इसे मान लेंगे । यह सुनकर राजा ने अपने कर्मचारियों को भेजा जो लंका में बन्दी बने हुए मारुति जी के समान श्री कूरेश स्वामी को बन्दी बनाकर ले गये । भरी सभा में राजा ने उस कागज को जिसपर अनेकों के हस्ताक्षर हो चुके थे श्रीकूरेशस्वामी जी को दिया तथा कहा कि इस पर आप भी हस्ताक्षर करें । मधुरभाषी श्रीकूरेश स्वामी जी बोले कि राजन् ! वेद स्वतः प्रमाण

है, उसके अनुसार -

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम् (नारायणोपनिषद् ६.४)

नारायण परम ब्रह्म हैं और परतत्त्व नारायण हैं । इस प्रकार स्पष्ट रूप से बताया गया है । तथा स्मृति पुराणों में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि नारायण के त्रिविक्रमावतार में जो उनका चरण ऊपर गया था उसे धोकर ब्रह्मा ने अपने कमण्डल में रखा और वही चरणोदक (गंगोदक) शिव ने अपने मस्तक पर धारण किया जिससे कापालित्व दोष और शवधारित्व दोष नष्ट होकर उनमें शिवत्व आया । जैसा कि श्रीयामुनाचार्य स्वामी ने भी कहा है -

पादोदकेन स शिवः स्वशिरोधृतेन (स्तोत्र. १६)

इसलिये आप श्रुति-स्मृति पुराणादि के प्रतिकूल इस अपने मत पर हठ छोड़कर राजाओं के कर्तव्य का पालन करें । हठी राजा ने यह सुनते ही अपने पर कुठाराघात समझकर कुपित होकर कहा कि ऐ दुष्ट ब्राह्मण ! इस ज्ञान-कथन और वक्तृता से काम नहीं चलेगा, इस लेखपर हस्ताक्षर करो । ऐसी विकट परिस्थिति में भी श्रीकूरेश स्वामी जी ने-

सो अनन्य जाके असि मति न टरई हनुमन्त (मानस. कि. ३)

भगवान् के कहे गये अनन्य सेवक के इस लक्षण के अनुसार सात्त्विक धृति के साथ अपनी अनन्यता को दृढ़ रखते हुए यह विचार किया कि उत्तर लिख देना ही उत्तम है, और उस कागज पर **'द्रोणमस्ति ततः परम्'** लिख कर हस्ताक्षर कर दिया । **'शिवो देवे परिमाणे जम्बुके च प्रकीर्तितः'** इस अभियुक्त वाक्य के अनुसार शिव शब्द देवता के अर्थ में, तौल के अर्थ में औरशृंगाल के अर्थ में प्रयोग किया जाता है । अतः शिव शब्द तौल वाचक भी होता है। इस प्रकार अभिप्राय यह हुआ कि शिव तौल से द्रोण तौल बड़ा है । जैसे लोक में सेर से पसेरी बड़ी होती है । इस व्यंग्यार्थ को लिखा देखकर अत्यन्त जल भुन कर आखें लाल करके राजा ने अपने कर्मचारियों से कहा कि इनकी आँखें फोड़ दो । फलस्वरूप श्रीकूरेशस्वामी जी की दोनों आखें नष्ट हो गयीं और वे छोड़ दिये गये । फिर वे बड़े आनन्द के साथ आचार्य भगवद् रामानुज स्वामी जी का अनुसन्धान करते हुये पाण्ड्यदेश में मीनाक्षी भगवती से ४ कोस पर श्रीसुन्दर बाहु भगवान् के पास आ गये और अपनी अनन्यता को न छोड़ते हुए 'सुन्दरबाहु-स्तव' निर्माण करके उन्होंने प्रार्थना की कि -

विज्ञापनां वनगिरीश्वरसत्यरूपा-मङ्गीकुरुष्व करुणार्णव मामकीनाम् ।
श्रीरंगधामनि यथा पुरमेष सोऽहं रामानुजार्यवशगः परिवर्तयिष्ये ॥

हे दया-सागर ! हे वन-गिरीश सुन्दरबाहो प्रभो ! मेरी इस सच्ची प्रार्थना को स्वीकार कीजिये । मैं पहले के समान ही श्रीरामानुजाचार्य स्वामी जी के अधीन रहकर श्रीरंगधाम में नित्य निवास करता रहूँ ।

इस प्रकार वे अनेक कष्ट सहते हुए भी सात्त्विक धृति धारण करके रहे । जिसका परिणाम यह हुआ कि चोल देश के राजा के कंठ में कृमि पड़ गयी जिससे उसकी मृत्यु हो गई तथा श्रीवरदाज भगवान् ने श्रीकूरेश स्वामी जी की सात्त्विक धृति से प्रसन्न होकर पुनः नेत्र प्रदान कर दिये । इससे यह शिक्षा मिलती है कि आचार्य के परतन्त्र रहते हुए

जो मनुष्य सात्त्विक धारणा से अपनी अनन्यता नहीं छोड़ते उनकी भगवान् सहायता करते हैं तथा उनके साथ दुर्जनता करने वालों को अधोगति होती है । इसलिये मनुष्यों को चाहिए कि वे अपनी धारणाशक्ति को इस प्रकार सात्त्विक बनाने की चेष्टा करें ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

अन्वय :- **तु अर्जुन ! फलाकाङ्क्षी यया धृत्या प्रसङ्गेन धर्मकामार्थान् धारयते, पार्थ ! सा धृतिः राजसी ।**

अर्थ :- परन्तु हे अर्जुन ! फल की आकाँक्षा रखनेवाला जिस धृति से अति आसक्ति (यानी प्रकृष्ट संग) के साथ धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है, पार्थ ! वह धृति राजसी है ।

व्याख्या :- राजस धृति का लक्षण बताते हुये भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! धर्म, काम और अर्थ के फल की इच्छा वाला मनुष्य जिस धृति के द्वारा अत्यन्त बढ़ी हुई आसक्ति से धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है, पार्थ ! वह धृति राजसी है । इस श्लोक के पूर्वाद्ध में पितृवंश की शुद्धता जनाने के लिये भगवान् अर्जुन सम्बोधन देते हैं तथा मातृवंश की शुद्धता जनाने के लिये पार्थ सम्बोधन देते हैं । इससे यह बताते हैं कि तुम्हारी माता पृथा का भी वंश शुद्ध होने से तथा पिता पाण्डु का भी वंश सदाचारी होने से तुम अर्जुन अर्थात् सात्त्विक हुए । इस प्रकार भारतीयों को समझा रहे हैं कि यदि बालक को माता-पिता गुरु का सेवक, सदाचारी बनाना चाहते हो तो माता-पिता दोनों के वंश की शुद्धता की ओर ध्यान रखना ।

यहाँ राजस प्रकरण होने से धर्म शब्द का तात्पर्य लौकिक उन्नति के साधन रूप प्रवृत्ति धर्म से है, क्योंकि राजसी व्यक्ति मोक्ष की कामना ही नहीं करता है । 'फलाकाङ्क्षी' पद में भी फल शब्द से धर्म, काम और अर्थ के फल को बताया गया है । जो फलाकाँक्षी पुरुष धृति से प्रवृत्ति धर्म के साधनरूप मन, प्राण और इन्द्रिय की क्रियाओं को अति आसक्ति से धारण करता है ।

जिस दशा को प्राप्त होकर मनुष्य विषयों का भोग किये बिना रह नहीं सकता वह दशा काम है । काम के विषय में भगवान् दूसरे अध्याय में कह चुके हैं -

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः ....॥ (गीता २।६२)

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति बहुत बढ़ जाती है, आसक्ति से काम उत्पन्न होता है । इस प्रकार आसक्ति की परिपक्वावस्था का नाम काम है । काम को आत्मस्वरूप का नाश करने वाला, नरक का प्रथम द्वार बताया गया है (गीता १६।२१) तथा स्त्री को ही काम का बल कहा गया है जैसा कि संत तुलसीदास कहते हैं -

'लोभ के इच्छा दंभ बल, काम के केवल नारि' (दों. २६५)

भगवान् राम भी कहते हैं -

एहि कें एक परम बल नारी । तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी ।। (मानस अर. ३७।१२)

और नारी के विषय में कहा गया है -

माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा, सुरां पीत्वा च माद्यति ।
तस्माद्दृष्टमदां नारी, दूरतः परिवर्जयेत् ।। (नार. प. उ. ६।३१)

मदिरा पीने से नशा होती है, परन्तु स्त्री को देखने से ही नशा हो जाती है, इसलिए देखने से नशा करने वाली स्त्री को विरक्त लोगों को दूर से ही त्याग कर देना चाहिये तथा -

न संभाषेत् स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ।। (नार. प. उ. ४।३)

मुमुक्षु पुरुष कभी स्त्री से संभाषण न करे, पूर्वदृष्ट स्त्री का स्मरण भी न करे और न उसकी चर्चा ही करे तथा न स्त्री का चित्र ही देखे । मानसकार भी कहते हैं -

जप तप नेम जलाश्रय झारी । होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी ।
बुधि ब्रल सील सत्य सब मीना । बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना । (रा.मा. ३।४३,३,८)
अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि । (अर. ४४)

अत: नारिबल वाला जो काम है उसके साधनरूप मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को जो बड़े कष्ट से धारण करता है उसकी धृति राजसी होती है ।

अर्थ के विषय में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में कहते हैं -

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये । नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ।।१७।।
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः । भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ।।१८।।
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् । तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ।।१९।।

धन कमाने, कमा लेने पर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करने में तथा उसके नाश और उपभोग में जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रम का ही सामना करना पड़ता है ।।१७।। १-चोरी २-हिंसा ३-झूठ बोलना ४-दम्भ ५-काम ६-क्रोध ७-गर्व ८-अहङ्कार ९-भेदबुद्धि १०-वैर, ११-अविश्वास १२-स्पर्धा १३-लम्पटता १४-जुआ और १५-शराब ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्यों में धन के कारण ही माने गये हैं । इसलिये कल्याणकारी पुरुषों को चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थ विरोधी अर्थनामधारी अनर्थ को दूर से ही छोड़ दे । इस अर्थ के साधन रूप मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को अत्यन्त आसक्तिपूर्वक जो धारण करता है उसकी धृति राजसी होती है । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में बताया कि मोक्षेतर फल की कामना वाले पुरुष जिस धृति के द्वारा धर्म, काम और अर्थ के लिये होने वाली मन, प्राण

और इन्द्रियों की क्रियाओं को अत्यन्त बढ़ी हुई आसक्ति से धारण करता है वह धृति राजसी होती है । जैसे विभीषण । वह राजसी धृति धारण करने वाला था, क्योंकि वह ज्ञान-वैराग्य से भगवान् के पास नहीं आता है । रावण स्वयं उसको **'धिक् कुलपांशन'** (वा. रा. यु. का. ६।१६।१६) 'कुल का कलंक तुमको धिक्कार है' कहता है । तथा विभीषण भी कहता है-

सोहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः (वा. रा. यु. का. १७।१६)

'रावण के कठोर वाक्य से पीड़ित और दास के समान अपमानित होकर मैं आया ।' जैसा कि संत तुलसीदास ने भी सुन्दर काण्ड में वर्णन करते हुए कहा है कि रावण ने जब चरण प्रहार किया तब विभीषण भगवान् के पास जाता है-

'खल तोहि नकट मृत्यु अब आई.......
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा । (रा. मा. ५।४०, २, ६)

तथा वह राज्यलक्ष्मी की कामना हृदय में लेकर आता है इसलिए सर्वज्ञ भगवान् उसके हृदय की बात जानकर समीप आते ही 'लंकेश' सम्बोधन देकर कहते हैं -

कह लंकेस सहित परिवारा । कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ।।४५।४।।
अस कहि राम तिलक तेहि सारा (रा. मा. ५।४८।१०)

दूसरे, हनुमानजी के लंका में अपने पास पहुँचने पर अतिथि-सेवा भी नहीं करता है केवल समाचार पूछकर रह जाता है तथा जगज्जननी सीता के भी खाना-दाना का कोई प्रस्ताव नहीं करता और भगवान् के भक्त हनुमान् के लिए रावण से छोड़ने को न कहकर कहता है **'आन दंड कछु करिअ गोसाँई'** (मानस सु. २३,८) इससे दंड देने की बात कहता है । यही नहीं, यह जानते हुए भी कि राम परब्रह्म हैं, अकेले समस्त रावण की सेना को मारने में समर्थ हैं, बालि जैसे वीर को उन्होंने जो रावण को अपनी काँख में रखा था, एक ही बाण से मार दिया जैसा कि वह स्वयं कहता है **'सुनहु नाथ बल अतुल उदारा'** (मा. लं. ७४,३) तथा **'कोटि सिंधु सोषक तव सायक'** (मा. सु. ४६,७) फिर भी रावण के साथ युद्ध छिड़ने पर राजसी धृति वाला विभीषण भगवान् को विरथ देखकर अधीर हो जाता है -

रावनु रथी विरथ रघुवीरा । देखि विभीषण भयउ अधीरा ।।

और कहता है -

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना । केहि विधि जितब वीर बलवाना (मानस लं. ७६,३)

इस राजसी धृति का फल यह हुआ कि लंका का राज्य भी पाकर उसको आनन्द नहीं मिला । धन-जन-विहीन राज्य को देख कर शोक ही उत्पन्न होता था । इससे यह शिक्षा मिलती है कि राजसी धृति से ऐहिक बुद्धि वाले को धर्म, काम और अर्थ प्राप्त होने पर भी वह टिकाऊ नहीं होता है । इसलिए राजसी धृति कम करते हुए मोक्ष फल के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए ।।३४।।
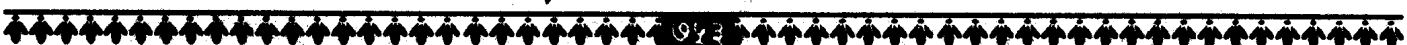
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

अन्वय :- **यया दुर्मेधा स्वप्नम् भयम् शोकम् विषादम् च मदम एव न विमुञ्चति, पार्थ ! सा धृतिः तामसी।**

अर्थ :- जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य, स्वप्न, भय, शोक विषाद और घमण्ड को भी नहीं छोड़ता, वह धृति तामसी है ।

व्याख्या :- सर्वथा अनर्थ में हेतु तामसी धृति का लक्षण बतलाते हुये भगवान् कहते हैं कि हे पृथासूनु ! दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य जिस धृति से निद्रा, भय, शोक विषाद और मद के उद्देश्य से प्रवृत्त हुये मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को नहीं त्यागता वह धृति तामसी है ।

जिसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द और मलिन हो तथा जिसके भीतर दूसरों के अनिष्ट करने का भाव भरा रहता है ऐसे मनुष्य को 'दुर्मेधा' कहते हैं । यहाँ स्वप्न का तात्पर्य निद्रा से है । इष्ट के नाश तथा अनिष्ट प्राप्ति की आशंका से अन्तःकरण में घबड़ाहट, आकुलता जो होती है उसे शोक कहते हैं । शोक के द्वारा जो इन्द्रियों में सन्ताप हो जाता है, उसे विषाद कहते हैं । यहाँ भय, शोक और विषाद शब्द भय, शोक, विषाद के देने वाले विषयों के वाचक हैं । अति विषय-जन्य आसक्ति से उत्पन्न होने वाली उन्मत्तवृत्ति को मद कहते हैं । अभिप्राय यह कि दुष्ट बुद्धि वाला जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, शोक, विषाद, आसक्ति-जन्य मद के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिये मन, प्राण, इन्द्रियों की क्रियाओं को रोकते हैं अर्थात् धारण किये रहते हैं, वह धृति तामसी है । जैसे मेघनाद को सुलोचना जैसी पतिव्रता स्त्री प्राप्त थी जिसने पति के मृत हाथ से लिखवा दिया तथा कटे सिर को बुलवा दिया, परन्तु दुष्ट बुद्धि वाला मेघनाद, दूत के कार्य करने वाले भगवान् के भक्त हनुमान् जी को नीति-विरुद्ध नागपाश में बाँधता है । युद्ध में वह मद आदि के उद्देश्य से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है तथा उन्मत्ततावश विभीषण, सुग्रीवादि को कुवाच्य बोलता है । जैसा कि मानसकार लंकाकाण्ड में कहते हैं -

रघुपति निकट गयउ घननादा । नाना भाँति कहेसि दुर्वादा ॥५०,५॥

तथा भय भी उसे इतना है कि बार-बार ललकारने पर भी सन्निकट नहीं आता जैसा कि गोस्वामी जी कहते हैं -

बार-बार पचार हनुमाना । निकट न आव मरमु सो जाना । (रा. मा. ६।५०,४)

वह दूसरों के अनिष्ट करने के उद्देश्य से पराजय के शोक में डूबा हुआ भय से छिप कर अपावन यज्ञ करता है । जैसा कि वर्णन करते हुए मानस में कहा गया है -

जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा । आहुति देत रुधिर अरु भैंसा ॥ (रा. मा. ६।७५,१)

इस तामसी धृति वाले मेघनाद को यह परिणाम हुआ कि इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को सब शक्ति रखते हुए भी बन्दरों का लात प्रहार सहते हुए अपमानित होना पड़ा । जैसा कि वर्णन भी किया गया है कि उसके बालों को पकड़कर

सभी बन्दर **'लातन्हि हति हति चले पराई'** (रा. मा. ६।७५,३) और अन्त में मारा भी गया । अतः लोक परलोक बिगाड़ने वाली इस तामसी धृति को मनुष्य को सब तरह से त्याग देना चाहिये ॥३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

अन्वय :- **भरतर्षभ ! इदानीम् त्रिविधम् सुखम् तु मे शृणु । यत्र अभ्यासात् रमते च दुःखान्तम् निगच्छति ।**

अर्थ :- हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकार के सुख को भी तू मुझसे सुनो, जिस सुख में (दीर्घकाल के) अभ्यास से रमता है और दुःख के अन्त को प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- यहाँ भगवान् अर्जुन को भरत-श्रेष्ठ सम्बोधन देकर यह बताते हैं कि तूने स्त्री, घर, धनवाले होकर तथा युद्ध क्षेत्र में भी त्याग का प्रश्न किया, जिस त्याग से लोग अमृतत्व प्राप्त करते हैं । इस कारण तुम भरत की वंश-परम्परा में होने वाले लोगों में श्रेष्ठ हो । पूर्वोक्त समस्त ज्ञान, कर्म और कर्ता आदि जिसके शेषरूप हैं उस सुख के भी गुणों से होने वाले सात्त्विक सुख, राजस सुख और तामस सुख ये तीन भेद अब तुम्हें बतलाता हूँ, उनको तुम सावधानी के साथ सुनो । **'अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्'** जो मन के अनुकूल हो उसे सुख कहते हैं । भगवान् कहते हैं कि जिस सुख में मनुष्य दीर्घकाल तक अभ्यास करते हुए क्रमशः अत्यन्त प्रीति को प्राप्त होता है **'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'** (पात. १।१३) उस विषय में स्थित होने के लिये यत्न करना अभ्यास है और जिससे सब सांसारिक दुःखों के अभाव का अनुभव करता है ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

अन्वय :- **तत् यत् अग्रे विषम् इव परिणामे अमृतोपमम्, आत्मबुद्धिप्रसादजम् तत् सुखम् सात्त्विकम् प्रोक्तम् ।**

अर्थ :- वह जो पहले तो विष के समान (और) परिणाम में अमृत के तुल्य होता है (तथा) आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है ।

व्याख्या :- सुख के लक्षणों का निरूपण करते हुये भगवान् कहते हैं कि जो सुख आरंभकाल में विष के तुल्य प्रतीत होता है और परिणाम में अमृत के तुल्य होता है और आत्मा बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है ।

'अग्रे' पद का यह अभिप्राय है कि जब मनुष्य सात्त्विक सुख की महिमा सुनकर उसे पाने की अभिलाषा से उसकी प्राप्ति के उपाय वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनों में लगता है । योग के आरंभ में संयमपूर्वक उसके साधनों में लगा रहना अत्यन्त श्रमपूर्ण तथा कष्टप्रद मालूम होता है और प्रकृति-संसर्ग में रहने वाले मन, इन्द्रिय आदि को प्रकृतिविनिर्मुक्त आत्मा में लगाना पड़ता है, इसलिये यह योगाभ्यास विष के सदृश अर्थात् दुःख के समान प्रतीत होता है । किन्तु जब सात्त्विक सुख की प्राप्ति के लिये साधन करते-करते साधक परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है, अर्थात्

अभ्यास के बल से प्रकृति-संसर्ग रहित आत्म-स्वरूप प्रकट हो जाता है तब वह सुख उसे अमृत-तुल्य हो जाता है । उस समय संसार के समस्त भोग-सुख तुच्छ, नगण्य और दुःखरूप लगने लगते हैं । भगवान् छठें अध्याय में कह चुके हैं -

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ (६।२१)

केवल एक आत्म-विषयक बुद्धि से ही ग्रहण होने वाला आत्यन्तिक सुख है । इसीको यहाँ कहते हैं कि वह आत्मबुद्धि के प्रसाद से होने वाला सुख सात्त्विक कहा गया है । आत्मा को विषय करने वाली बुद्धि का नाम आत्म-बुद्धि है, उसका दूसरे सभी विषयों से हट जाना ही प्रसाद है । इस प्रकार विषयान्तर से हटी हुई बुद्धि के द्वारा प्रकृति-संसर्ग-रहित स्वभाव वाले आत्म-स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न सुख अमृत के सदृश होता है । इसे ही सात्त्विक सुख कहा गया है, अर्थात् यही सुख है । यह सुख सूरदास द्वारा कथित-

ज्यौं गूँगे मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै ।
मन वाणी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै ॥ (सू. वि. प. ३)

की भाँति होता है । जैसे-श्रीताम्रपर्णी नदी के तट पर श्रीकुरुकापुरी में रहने वाले श्रीकारी महाराज की धर्मपत्नी श्रीनाथनायकी से उत्पन्न, शठ नाम की वायु पर कोप करने वाले श्रीशठकोपसूरि थे । वे सात्त्विक सुख प्राप्त करने वाले थे । आपने योग के लिये बताये गये -

'विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि' (गी. १३।१०)

निर्जन देश में निवास करने का स्वभाव और जनसमुदाय में प्रीति न रखना, पसन्द किया ।

'अहिरिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेत्' (व. उ. २।३७)

सर्प के समान जनयोग त्याग करे ।

'अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः' (सां. द. ४।२।४२)

अरण्य, गुहा, नदी तट आदि एकान्त स्थान में योगाभ्यास का उपदेश है, इन गुणों के अनुसार ही ताम्रपर्णी नदी के तट पर आल्वार तिरुनगरी में दिव्य इमली के कोटर में अकेले, सोलह वर्ष तक प्रकृति-संसर्ग-रहित आत्म-स्वरूप को आत्मा बुद्धि के प्रसाद से प्राप्त किया । इसका फल यह हुआ कि विषयान्तर से उनकी बुद्धि हट गई और समस्त भोग सुख उन्हें तुच्छ-(दुःख रूप दिखाई) देने लगा तथा इतना बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ कि स्वयं भगवान् ने आकर दर्शन दिये तथा वकुल की माला पहनायी और सात्त्विक सुख के अनुभव में डूबे उनके द्वारा समस्त चेतनों का कल्याण करने वाला द्राविडाम्यान प्रादुर्भूत हुआ । इनके सम्बन्ध में कहा भी गया है -

दिव्य देश कुरुकापुरी सुन्दर, नदी ताम्रपर्णी के तट पर ।
वृषमास नक्षत्र विशाखा, कारी सूनु अवतार ॥

दिव्य तिंतिडी माय विराजे, सोलह वर्ष कीर्ति को साजे ।
निराहार रह पुष्ट भये हैं, श्रीपति-अनुभव धार ॥
द्राविड वेद प्रबन्ध बनाई सहस्रगीति नाम सुहाई ।
वकुल पुष्प के मालाधारी, चरण कमल बलिहार ॥

इसलिए दु:ख रूप राजस, तामस सुखों में न फँसकर निरन्तर सात्त्विक सुख में ही रमा करना चाहिए ।।३७।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।३८।।

अन्वय :- **विषयेन्द्रियसंयोगात् यत् तत् अग्रे अमृतोपमम् परिणामे विषम् इव, तत् सुखम् राजसम् स्मृतम् ।**

अर्थ :- इन्द्रियों और विषयों के संयोग से (उत्पन्न) जो वह सुख पहले अमृत के समान और परिणाम में विष की तरह होता है, व सुख राजस समझा जाता है ।

व्याख्या :- राजस सुख के लक्षण बतलाते हुये भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न यह सुख जो भोगानुभव के समय अमृत के तुल्य प्रतीत होता है और परिणाम में विष के सदृश होता है, वह राजस कहा गया है ।

इस सुख की उत्पत्ति विषयों और इन्द्रियों के संयोग से होती है । अमृत तुल्य प्रतीत होने का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों द्वारा विषय सेवन-काल में जिस सुख का अनुभव होता है उसमें आसक्ति के कारण अत्यन्त प्रिय मालूम होता है । उस काल में मनुष्य उस सुख के सामने किसी भी अदृश्य सुख को कोई चीज नहीं समझता । यही राजस सुख का भोगानुभव-काल में अमृत सदृश प्रतीत होना है, परन्तु परिणाम में विष के समान होता है । इस कथन का भाव यह है कि भोग के पश्चात् शरीर में बल, वीर्य, बुद्धि, तेज के ह्रास से और थकावट से भी महान् कष्ट का अनुभव होता है तथा विषयों का संस्कार अन्त:करण में जम जाने से बारंबार उन्हीं विषय भोगों की प्राप्ति की इच्छा करता है और इसके लिए अनेक प्रकार के पाप कर्म कर बैठता है । इस तरह इस लोक में भी दु:ख रूप है और उन पाप कर्मों का फल भोगने के लिए कीट, पतंग आदि निम्न योनियों में तथा यातनामय घोर नरक में पड़कर अत्यन्त दु:ख भोगना पड़ता है । नरक के हेतु होने से परलोक में भी दु:खदायक है । इसलिए विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले ऐसे क्षणिक सुख का भोग करना विषपान करने के समान होता है । इसीको भगवान् ने पाँचवें अध्याय में कहा है -

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ (गी. ५।२२)

विषय और इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले जो भोग हैं वे भविष्य में दु:खों को उत्पन्न करने वाले और अल्प समय तक ही ठहरते देखे जाते हैं, इसलिए अर्जुन ! उन भोगों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला पुरुष उनमें नहीं रमता ।।२२।। ऐसा सुख राजस कहलाता है । यहाँ एक कथा उल्लेखनीय है । द्वापर युग में शास्त्र का परिशीलन करने

वाले विद्वान् एक भार्गव नाम के ऋषि थे । वे श्रीकाञ्ची से थोड़ी दूर पर महीसारपुर (तिरुमलशै) में जाकर रहने लगे और वहीं भार्गव पुष्करिणी में स्नान, संध्या-वंदन करते हुए एक निकुञ्ज में बैठकर श्रीजगन्नाथ भगवान् का ध्यान-योग के द्वारा आराधना करते थे तथा साधारण ढंग से रहते हुए कंदमूल, फल द्वारा शरीर निर्वाह करते थे । उनके उग्र तप को देखकर देवताओं का राजा इन्द्र घबड़ा गया । उसे भय लगने लगा कि कहीं मेरा इन्द्र पद न ले लें । उनको तपस्या से विचलित करने के लिए एक अत्यन्त सुन्दरी १८ वर्ष की कनकांगी नामक अप्सरा को वैभव का लोभ देकर वसन्त, मन्मथ आदि सहायकों के साथ श्रीभार्गव ऋषि के पास इन्द्र ने भेजा । उस अप्सरा ने ऋषि के शापभय से डरती हुई शनैः शनैः उनके निकुञ्ज के पास आकर कोकिल के समान मधुर कंठ से श्रीकृष्ण भगवान् का एक गाना गया । जिसे सुनकर आमीलिताक्ष श्रीभार्गव ऋषि की आँखें खुल गईं और वे अपने सामने नृत्य करती हुई, अनेक प्रकार के हाव-भाव को दिखाती हुई एक सुन्दरी अप्सरा को देखकर उसके रूप पर मुग्ध हो गये । उनका भगवत् प्रेम हट गया और उन्होंने उसके साथ ग्राम्य सहवास किया । जिसके फलस्वरूप विभव नाम के संवत्सर में मकर संक्रान्ति, पौष मास, कृष्ण पक्ष, दशमी तिथि, मघा नक्षत्र गुरुवार को श्रीसुदर्शन-चक्रांश भक्तिसार नाम का बालक उत्पन्न हुआ । इस प्रकार राजस सुख चाहने से इसका परिणाम यह हुआ कि जिसके लिये भगवत् सुख से विमुख हुये वह कनकांगी अप्सरा भी इन्हें छोड़कर इन्द्रलोक को चली गई । प्रारंभ में पैर दबवाने, स्पर्श, करने, भोग करने से जो पहले अमृत तुल्य सुख प्रतीत हुआ उसका परिणाम यह हुआ कि अत्यन्त लज्जित होकर ऋषि निकुंज तथा उस सुन्दर देश को भी छोड़कर चले गये । इस प्रकार उन्हें परिणाम में कनकांगी का वियोग रूपी दुःख और अपकीर्ति से विष पान के समान यह राजस सुख लगा । इसलिये कहा गया है -

उरोमुखं स्तनं स्त्रीणां कटाक्षं हास्यमेव च ।
विनाशबीजं रूपं च विपदां कारणं सदा ।। (ब्र. वै. पु. कृ. ४।७५।२१)

स्त्री का उरु, मुख, स्तन, कटाक्ष एवं हास्य विनाश का बीज तथा विपत्ति का मूल कारण है । संत तुलसीदास इस दुःख रूप राजस सुख के प्रति सावधान करते हुए कहते हैं -

विषया परनारि निसा तरुनाई सो पाइ परयो अनुरागहिं रे ।
जम के पहरु दुःख, रोग, वियोग विलोकत हूँ न विरागहिं रे ।।

नर देह कहा करि बेखु विचारु, बिगारु गँवार न काजहि रे ।
जनि डोलहि लोलुप कूकरु ज्यों तुलसी भजु कोसलराजहि रे ।। (कवितावली उ. का.)

इसलिए मनुष्य को ऐसे राजस सुख में नहीं फँसना चाहिए ।।३८।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।३९।।

अन्वय :- यत् सुखम् अग्रे च अनुबन्धे आत्मनः मोहनम् च निद्रालस्यप्रमादोत्थम् तत् तामसम् उदाहृतम् ।

अर्थ :- जो सुख पहले और परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है और निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह तामस कहा गया है ।

व्याख्या :- सर्वदा मुमुक्षुओं को त्यागने योग्य तामस सुख का लक्षण बतलाते हुये भगवान् कहते हैं कि जो सुख भोगकाल में और परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है तथा जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है वह तामस कहा गया है ।

यथार्थ स्वरूप को न समझना मोह कहलाता है । इन्द्रियों को कर्मों में लगाते लगाते जब पुरुष थक जाता है, उस थकावट के कारण इन्द्रियों कि प्रवृत्ति से उपरत हो जाने का नाम निद्रा है । इन्द्रिय व्यापार की मन्दता का नाम आलस्य है । कर्तव्य में असावधानी करने को प्रमाद कहते हैं । इस प्रकार निद्रा आलस्य और प्रमाद, और तीनों में ज्ञान की मन्दता होने से, मोह के कारण हैं । ये भोगकाल में भी मोहकारक होते हैं तथा परिणाम में भी, क्योंकि निद्रा के समय, मन, बुद्धि और इन्द्रियों में ज्ञान का अभाव हो जाने से कुछ भी अनुभव करने की शक्ति नहीं रहती । इस कारण निद्रा से उत्पन्न सुख आत्मा को मोहित करने वाला होने से तामस है । ये सुख परिणाम में भी मनुष्य को अज्ञानमय वृक्षादि योनियों को प्राप्त कराते हैं । ऐसे ही मन, इन्द्रिय, शरीर के परिश्रम का त्याग कर देने से जो आराम लगने वाला आलस्य जनित सुख है वह भी ज्ञान की मन्दता से आत्मा को मोहित करने वाला तथा परिणाम से जड़ योनियों में गिराने वाला है । अज्ञानवश कर्तव्य कर्मों की अवहेलना करके वेश्यागमन, मदिरा-पान और शास्त्र-निषिद्ध कर्मों को करता है, इस कारण यह प्रमाद-जनित सुख भी आत्मा को मोहित करने वाला है और परिणाम में सूकर-कूकर योनियों की तथा नरकों की प्राप्ति होने से आत्मा को मोहित करने वाला तामस सुख है । इस सुख में लोक परलोक दोनों में दुर्दशा होती है ।

जैसे श्रीमद्भागवत माहात्म्य में वर्णित एक सात्त्विक कुलीन ब्राह्मण का पुत्र धुन्धकारी था । यह रूप, यौवन, सम्पत्ति वाला होकर प्रमादी हो गया तथा अविवेक के कारण पतिव्रता स्त्री को छोड़कर वेश्यागामी हो गया । इस तामस सुख के लिये पिता की सारी सम्पत्ति उसने नष्ट कर दी और माता, पिता, स्त्री को भी बहुत कष्ट दिया । उसको कुष्ट भी हो गया तथा वेश्याओं ने भी एक दिन दहकते अंगारों को उसके मुख में डाल दिया जिससे छटपटाकर वह मर गया । इस प्रकार लोक में भी ब्राह्मणत्व नष्ट कर उसने दुर्दशा झेली । अपने प्रमादजनित कर्मों के परिणाम स्वरूप वह भयंकर प्रेत हुआ और दुर्गति को प्राप्त हुआ । इसलिये मुमुक्षु पुरुषों को इस क्षणिक, मोहकारक और प्रतीतिमात्र के तामस सुख का सर्वदा त्याग करते हुए सात्त्विक सुख को प्राप्त करने की चेष्ट करनी चाहिए ।

जिस तरह गुण के भेद से ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के तीन-तीन भेद बताये गये उसी प्रकार श्रीमद्भागवत में गुण के भेद से भक्त के भी तीन प्रकार के भेद कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं -

१-सात्त्विक भक्त के लक्षण बताते हुए कहते हैं -

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥ (श्रीमद्भा. स्कं. ३।२६।१०)

जो पुरुष कर्म-पाक के उद्देश्य से परमात्मा को अर्पण करने के लिए पूजन कर्तव्य समझता है वह पृथक् भाव

से मेरा पूजन करने वाला सात्त्विक भक्त है ।

२-राजस भक्त के लक्षण बताते हुए कहते हैं -

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥९॥

जो व्यक्ति विषय, यश और ऐश्वर्य की कामना से प्रतिमादि में पृथक् भाव से मेरा पूजन करता है वह राजसभक्त है ।

३-तामस भक्त का लक्षण कहते हैं -

अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥८॥

जो भेददर्शी क्रोधी पुरुष हृदय में हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है वह मेरा तामस भक्त है ॥३६॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

अन्वय :- **पृथिव्यां वा पुनः दिवि देवेषु तत् सत्त्वम् न अस्ति यत् एभिः त्रिभिः गुणैः मुक्तम् स्यात् ।**

अर्थ :- पृथ्वी में या फिर स्वर्गलोक के भीतर देवताओं में वह (यानी ऐसा कोई) प्राणी नहीं है जो इन तीनों गुणों से मुक्त हो ।

व्याख्या :- पृथ्वीलोक के अन्दर मनुष्य आदि में या देवलोक के भीतर देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो प्रकृति-जनित इन तीनों गुणों से छुटा हुआ हो ।

'पृथिव्याम्' पद का अभिप्राय पृथ्वी लोक से तथा उसके अन्दर के समस्त पातालादि लोकों से और उनमें स्थित समस्त स्थावर जंगम प्राणियों से है । 'दिवि' पद से **'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः'** (गीता ८।१६) के अनुसार ब्रह्मभुवन से लेकर सभी लोकों में स्थित समस्त प्राणियों और पदार्थों को बताया गया है । 'पुनः' पद से इसके सिवा जो भी समस्त सृष्टि में वस्तु या प्राणी हैं उन सबको कहा गया है । इस प्रकार उपर्युक्त सभी प्राणी सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से छुटे हुये नहीं हैं ।

यहाँ पर यह शंका उपस्थित होती है कि भगवान् इस श्लोक में कहते हैं कि तीनों गुणों से रहित कोई प्राणी नहीं है और दूसरे अध्याय में कहते हैं कि **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** (४५) अर्थात् अर्जुन तुम तीनों गुणों से रहित होवो । इससे पूर्व पर में विरोध उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि यदि प्राणी तीन गुणों से रहित नहीं है तब अर्जुन को उससे रहित होने का भगवान् क्यों उपदेश देते हैं । देखने में यहाँ विरोध लगता है, परन्तु वास्तव में विरोध नहीं है, विरोधाभास है । क्योंकि

दूसरे अध्याय के ४५ वें श्लोक में ही भगवान् **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** (२।४५) कहने के बाद कहते हैं **'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो'** (२।४५) अर्थात् समस्त सांसारिक स्वभावों से रहित हो और सदा सत्त्व गुण में स्थित हो । इसलिये यहाँ निस्त्रैगुण्य का तात्पर्य रजोगुण, तमोगुण को त्याग कर सत्त्वगुण में नित्य स्थित रहना है । **'भूयसां व्यपदेशः'** न्याय से जो अधिक रहता है वही कहा जाता है । जैसे शरीर में आकाश वायु आदि तत्त्व रहने पर भी पृथ्वी के अंश की अधिकता रहने से पार्थिव शरीर कहा जाता है । इसी तरह रजोगुण, तमोगुण यत्किञ्चित् रहने से सत्त्वगुण की ही अधिकता को कहा गया है । अथवा 'तक्र कौण्डिन्यन्याय' से जैसे 'सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधिदीयताम्' कहकर उसके बाद **'तक्रंकौण्डिन्याय'** कहने पर देने वाला 'सर्व' शब्द से कौन्डिन्य को बराकर अर्थ करेगा । उसी तरह **'निस्त्रैगुण्यो'** के बाद **'नित्य-सत्त्वस्थो'** कहने पर निस्त्रैगुण्य से दोनों रजोगुण तमोगुण के त्याग से केवल बढ़े हुए सत्त्व में नित्य स्थित रहना अर्थ होगा । अतः विरोध नहीं है ।।४०।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।४१।।

अन्वय :- **परन्तप ! ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् च शूद्राणाम् कर्माणि स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि ।**

अर्थ :- हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म (उनके अपने-अपने) स्वभाव से उत्पन्न गुणों से विभक्त किये हुए (यानी विविध) हैं ।

व्याख्या :- ब्राह्मणादिक अधिकारियों के स्वाभाविक सत्त्वादि गुणों के भेद से विभक्त कर्तव्य कर्मों का स्वरूप वृत्तियों सहित बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म (उनके अपने-अपने) स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों से पृथक्-पृथक् विभाग किये हुए हैं ।

भगवान् चौथे अध्याय में कह चुके हैं -

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः (४।१३)

गुण कर्म के विभाग से चारो वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) मेरे द्वारा रचे गये हैं । यहाँ पर 'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' एक पद तथा 'शूद्राणाम्' को एक पद में कह कर यह बतलाते हैं कि हिन्दुओं में दो दल हैं । इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य तीनों ही द्विज हैं । तीनों को ही यज्ञोपवीत धारणपूर्वक वेदाध्ययन में और यज्ञादि वैदिक कर्मों में पूर्ण अधिकार है तथा शूद्रों को यज्ञोपवीत धारण में, वेदाध्ययन में और यज्ञ आदि वैदिक कर्मों में अधिकार नहीं है । इसी को जनाने के लिए दोनों को अलग-अलग पद में कहा गया है, परन्तु शूद्र यदि ठीक से अपने कर्म को करें तो जिस पद को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्राप्त करते हैं, उसी पद को वे भी प्राप्त करेंगे । अपना जो भाव है उसे स्वभाव कहते हैं । अर्थात् ब्राह्मणादि योनि में जन्म होने के कारण रूप प्राचीन कर्म का नाम स्वभाव है । ब्राह्मण के स्वभाव से रज, तम को दबाकर बढ़ा हुआ सत्त्व गुण उत्पन्न होता है, क्षत्रिय के स्वभाव से सत्त्व, तम को दबाकर बढ़ा हुआ रजो गुण उत्पन्न होता है । वैश्य के स्वभाव से सत्त्व और रज को दबाकर थोड़ा तमोगुण उत्पन्न होता है, शूद्र के स्वभाव से सत्त्व एवं रज को दबा कर खूब बढ़ा हुआ तमोगुण उत्पन्न होता है । इन स्वभाव-जनित गुणों के अनुसार उनके कर्म का

विधान किया गया है । इस प्रकार शास्त्र उनका अलग-अलग विभाग करके प्रतिपादन करते हैं, इससे भगवान् जो लोग कर्म से जाति मानते हैं, उसका खण्डन करते हैं । कर्म से जाति मानने वाले ब्राह्मण के सम्बन्ध में कहते हैं कि **'ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मण:'** अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण है, परन्तु पाणिनि व्याकरण के - **'इगुपधज्ञा प्रीकिरः कः'** (३।१।१३५) इस सूत्र के अनुसार 'क' प्रत्यय होकर उपर्युक्त विग्रह में 'ब्रह्मज्ञ:' होगा 'ब्राह्मण:' नहीं । यदि दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया जाय तो राजा जनक ब्रह्म को जानते थे जिससे शुकदेव को उन्होंने समझा, परन्तु ब्राह्मण नहीं कहे गये । काशी में तुलाधार वैश्य ब्रह्म को जानता था, जिससे जाजलि ऋषि ने वार्ता की थी परन्तु वह ब्राह्मण नहीं कहा गया । जनकपुर में धर्म-व्याध नामक बहेलिया ब्रह्म को जानता था, जिससे कौशिक ऋषि ने प्रश्न भी पूछे हैं, परन्तु वह ब्राह्मण नहीं कहा गया । दूसरे कर्म के अनुसार यदि जाति मान ली जायेगी तो एक ही व्यक्ति जब अध्ययन कार्य करेगा तो ब्राह्मण समझा जायेगा और वही जब लाठी लेकर किसी को मारने के लिए प्रस्तुत होगा तो वह क्षत्रिय हो जायेगा, जब अपने घर के अन्न आदि बिक्री करेगा तो वैश्य समझा जायेगा और कपड़ा साफ करते हुए धोबी कहा जायेगा, दाढ़ी बनाते हुए नाई कहा जयेगा, जूता में पालिश लगाते हुए मोची कहा जायेगा । इस प्रकार एक ही दिन में वह एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न कर्मों के करने से भिन्न-भिन्न जाति का माना जायगा, जो कि अनुपयुक्त होगा । अत: कर्म के अनुसार जाति मानने वाले का भगवान् यहाँ खण्डन करते हैं । जैसे-ब्राह्मण के सम्बन्ध में वृद्धहारीत स्मृति में कहा गया है -

'ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जात: ब्राह्मण: समुदाहृत:' (वृद्धहारीत.)

विवाहिता ब्राह्मणी स्त्री में ब्राह्मण से जो उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण कहा जाता है । अन्यत्र भी कहा गया है -

तप: श्रुतं च योनिश्च ह्येतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तप: श्रुताभ्यां यो हीन: जातिब्राह्मण एव स: ॥

तपस्या, अध्ययन और योनि ये निश्चय करके ब्राह्मण करने वाले हैं । तपस्या और अध्ययन से रहित भी यदि शुद्ध योनि से उत्पन्न हुआ है तो वह भी जाति करके ब्राह्मण ही है । इसलिए जन्म से ब्राह्मण सिद्ध होता है । इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि जन्म रहते हुए कर्म करने से उत्तमता आती है ॥४१॥

शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

अन्वय :- **शम: दम: तप: शौचम् क्षान्ति: आर्जवम् ज्ञानम् विज्ञानम् च आस्तिक्यम् एव ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।**

अर्थ :- शम, दम, तप, शौच (बाह्य और आन्तरिक शुद्धता) क्षान्ति (क्षमा), आर्जव (ऋजुता यानी सरलता) ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता (ये सब) ही ब्राह्मण के स्वभावज (यानी स्वभावजन्य) कर्म हैं ।

व्याख्या :- शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ये सब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ।

वाह्य दसों इन्द्रियों का नियमन करना 'शम' कहलाता है । भीतर के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का नियमन करना 'दम' कहलाता है । शास्त्रानुसार नियम करके शरीर को क्लेश देना 'तप' कहलाता है - तप तीन प्रकार का कहा गया है - १-देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी का पूजन, शौच, आर्जव ब्रह्मचर्य और अहिंसा-यह शारीरिक तप कहलाता है। (गीता. १७।१४) २-उद्वेग न करने वाले सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य तथा स्वाध्याय का अभ्यास-यह वाचिक तप कहलाता है (गीता. १७।१५) । ३-मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मविनिग्रह और भाव-संशुद्धि इतना यह मानस तप कहलाता है (गीता १७।१६) शौच के विषय में कहा गया है -

शौचं नाम द्विविधं वाह्यमान्तरं चेति ।
तत्र मृज्जलाभ्यां वाह्यं मनः शुद्धिरान्तरम् ।
तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् (शा. उ. १।१)

वाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार की शुद्धि है, जिसमें मिट्टी, जल से वाह्य शुद्धि और अध्यात्म विद्या से अन्तर्मन की शुद्धि होती है । इस प्रकार शास्त्रीय कर्म सम्पादन की योगयता का नाम 'शौच' है । दूसरों के द्वारा पीड़ित होने पर भी चित्त में विकार न होने का नाम 'क्षमा' है । दूसरों के सामने मन के अनुरूप ही बाहरी चेष्टा प्रकट करने का नाम 'आर्जव' है । इस लोक और परलोक के यथार्थ स्वरूप को समझ लेने का नाम 'ज्ञान' है । जैसा भगवान् इसी १८वें अध्याय के २०वें श्लोक में कह चुके हैं कि जिस ज्ञान से सब विभक्त भूतों में एक अविभक्त अविनाशी भाव को देखता है, उस ज्ञान कौ तू सात्विक जान । यहाँ इसी ज्ञान से अभिप्राय है । परम तत्त्व के विषय में असाधारण विशेष ज्ञान का नाम 'विज्ञान' है ।

आस्तिकता के सम्बन्ध में कहा गया है-श्रौते स्मार्त्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते (जा. उ. २।३) वैदिक स्मार्त्त कर्मों में जो विश्वास है उसको 'आस्तिक्य' कहते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक सिद्धान्त की सत्यता के उत्तम निश्चय का नाम आस्तिकता है । अर्थात् वह निश्चय जो किसी भी हेतु से हिल न सके, 'आस्तिकता' कहलाता है । इसका अभिप्राय यह है कि इन श्लोकों में कही हुई बातें -**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (गी. १५।१५) सब वेदों से मैं ही जानने योग्य हूँ **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** (गीता १०।८) मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ, सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं **'मयि सर्वमिदं प्रोतम्'** यह सब मुझमें पिरोया हुआ है । **'भोक्तारं यज्ञतपसां.... ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'** (५।२९) मुझको यज्ञ तपों का भोक्ता जानकर शान्ति को प्राप्त होता है । **'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'** (७।७) अर्जुन । मुझसे श्रेष्ठतर दूसरा कुछ भी नहीं है । **'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्'** (१०।३)

जो मुझको अजन्मा, अनादि और लोकेश्वरों का भी ईश्वर जानता है तथा आगे इसी १८वें अध्याय के ४६वें श्लोक में कहेंगे कि जिससे प्राणियों की प्रवृत्ति हुई है और जिससे यह सब जगत् व्याप्त है उसको अपने कर्मों से पूजकर मनुष्य सिद्धि को पाता है । इस प्रकार जो स्वाभाविक सीमारहित असंख्य कल्याणमय गुणगणों से युक्त और समस्त वेदान्त के द्वारा जानने योग्य भगवान् पुरुषोत्तम को समस्त जगत् का एक मात्र कारण जानता है तथा उसे सम्पूर्ण जगत् का प्रवर्तक और समस्त वैदिक कर्म उसी की आराधना है, यह समझता है, उन-उन कर्मों के द्वारा आराधित भगवान् धर्म, अर्थ, काम,

मोक्ष रूप फल प्रदान करते हैं, उस उपर्युक्त सिद्धान्तार्थ की सत्यता के निश्चय का नाम 'आस्तिकता' है । उपर्युक्त समस्त कर्म ब्राह्मण के स्वभाविक कर्म हैं । मनुस्मृति में भी ब्राह्मणों के कर्म बतलाते हुए कहा गया है -

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ (१।८८)

स्वयं अध्ययन करना और दूसरों को अध्ययन कराना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरों से यज्ञ कराना, स्वयं दान लेना और दूसरों को दान देना, इस प्रकार ब्राह्मण के ६ कर्म बतलाये गये हैं । यहाँ पर भगवान् जो शम दम आदि कर्म बतलाते हैं, वे ब्राह्मण के स्वभाव से सम्बन्धित हैं । जैसे-ब्राह्मण के समस्त स्वाभाविक कर्मों से युक्त महर्षि श्रीवसिष्ठ जी थे । जिनकी प्रशंसा करते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम भी कहते हैं -

गुर बसिष्ट कुल पूज्य हमारे । इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे ॥ (रा. मा. उ. का. ७।६)

उनकी नन्दिनी गाय को प्राप्त करने के लिये श्रीविश्वामित्र ने अनेक प्रकार का अत्याचार जनबल, शस्त्रबल आदि से किया । वसिष्ठ जी के सभी पुत्रों को मार डाला, उनके यजमान हरिश्चन्द्र को अपने में मिला लिया फिर भी महर्षि वसिष्ठ ने सब प्रकार से शक्ति को रखते हुए भी अपने स्वाभाविक गुण क्षमा को ही प्रदर्शित किया । जैसा कहा भी गया है- **'ब्राह्मणानां क्षमा बलम्'** (महा. आदि. १७५।२८) ब्राह्मणों का बल क्षमा है । इतना ही नहीं जब सब तरह से हारकर श्रीविश्वामित्रजी वसिष्ठ कुण्ड पर वास करते हुए महर्षि को मारने के उद्देश्य से शरद् पूर्णिमा की रात में पहुँचे तब देखते हैं कि श्रीवसिष्ठ जी की धर्मपत्नी अरुन्धती देवी वसिष्ठ जी से पूछती हैं कि आज चन्द्रमा की किरणें कितनी सुन्दर लग रही हैं, तो वसिष्ठ जी कहते हैं कि यह उसी तरह है जैसे विश्वामित्र जी की तपस्या चारों ओर छिटकी हुई हो । यह सुनते ही श्रीविश्वामित्र जी नतमस्तक होकर चरणों में गिर पड़े और परस्पर गले मिलते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे । जैसा वाल्मीकि रामायण में कहा भी गया है - **'पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतां वरम्'** (बा. का. स. ६५।२७) विश्वामित्र जी ने मन्त्र जप करने वालों में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि वसिष्ठ का पूजन किया ।।४२।।

शौर्यं तेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।४३।।

अन्वय :- **शौर्यम् तेजः धृतिः दाक्ष्यम् च युद्धे अपि अपलायनम् दानम् च ईश्वरभावः क्षात्रम् स्वभावजम् कर्म ।**

अर्थ :- शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में भी पलायन नहीं करना, दान और ईश्वर भाव (स्वामिभाव) (ये सब) क्षत्रिय के स्वभावजन्य (यानी स्वभाविक) कर्म हैं ।

व्याख्या :- क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और ईश्वरभाव ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ।

युद्ध में निर्भयता के साथ प्रवेश करने के सामर्थ्य को 'शौर्य' कहते हैं । दूसरे से न दबाये जा सकने का नाम 'तेज' है । अनुष्ठेय कर्म में विघ्न उपस्थित होने पर भी उसे पूर्ण करने के सामर्थ्य को 'धृति' कहते हैं । यह तीन प्रकार

की होती है। जैसा इसी १८वें अध्याय में भगवान् कह चुके हैं। समस्त क्रियाओं के सम्पादन करने के सामर्थ्य का नाम 'दक्षता' है। युद्ध में न भागने का स्वभाव यानी अपनी मृत्यु का 'निश्चय होने पर भी युद्ध से पीठ न दिखाने का स्वभाव युद्ध से न भागना कहा जाता है। न्यायोपार्जित अपने धन को देश, काल, पात्र के अनुसार दूसरे के अधीन कर देना 'दान' कहा जाता है। अपने से अतिरिक्त समस्त जन समुदाय को नियमन करने का सामर्थ्य 'ईश्वर भाव' कहलाता है। उपर्युक्त सात कर्म क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म कहे जाते हैं। मनुस्मृति में क्षत्रियों के कर्म बतलाते हुए कहा गया है -

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ (१।८९)

प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदों का अध्ययन करना और विषयों में आसक्त न होना-ये क्षत्रिय के कर्म संक्षेप से बतलाये गये हैं। क्षत्रिय के सभी स्वाभाविक कर्म से युक्त श्रीभीष्मपितामह थे। काशिराज के स्वयंवर में जाने का निमन्त्रण मिलने पर जब भीष्मपितामह के तरफ से कोई जाने को तैयार नहीं हुआ तो वे स्वयं गये और सभी वीरों को परास्त कर काशिराज की कन्या अम्बा को घर लाये। घर आने पर कन्या अम्बा से विवाह कर देने के लिए अनेक लोगों ने दबाव डाला परन्तु वे पूर्व की गयी अपनी प्रतिज्ञा कि 'मैं आजीवन विवाह न करूँगा' इस पर दृढ़ रहे। अन्त में परशुराम जी ने विवाह कर लेने के लिए भीष्म पर बहुत दबाव डाला। फिर भी जब नहीं माने तो बहुत धमकाने लगे तब भीष्म ने स्पष्ट रूप से अपने क्षत्रिय धर्म पर दृढ़ रहने की बात कही-

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम् ॥ (महा. उ. १७८)

भय, दया, धन के लोभ, कामना से मैं कभी क्षात्रधर्म का त्याग नहीं कर सकता-यह मेरा धारण किया हुआ व्रत है। परशुरामजी ने कुपित होकर युद्ध छेड़ दिया और तेइस दिन तक भयानक युद्ध हुआ परन्तु परशुराम जी भीष्म को परास्त न कर सके। इसी तरह महाभारत युद्ध में उनकी प्रतिज्ञा के आगे भगवान् श्रीकृष्ण को भी चक्र उठा लेना पड़ा। इसका बड़ा सुन्दर वर्णन सूरदास जी ने किया है -

आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी को, सांतनु सुत न कहाऊँ।
स्यंदन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
पांडव-दल-सम्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ
इती न करौं सपथ तो हरि की, क्षत्रिय गतिहिं न पाऊँ।
सूरदास रनभूमि विजय बिनु, जियत न पीठ दिखाऊँ ॥ (सू. सा. २७०)

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

अन्वय :- कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम् वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकम् कर्म शूद्रस्य अपि स्वभावजम्।

अर्थ :- कृषि (खेती), गोरक्षा (यानी पशुपालन) और व्यापार-वैश्य के स्वभावज कर्म हैं । सेवा रूप कर्म शूद्र का भी स्वभावज कर्म है ।

व्याख्या :- वैश्य और शूद्र के स्वाभाविक कर्म बतलाते हुये भगवान् कहते हैं कि -कृषि, गोरक्षा और व्यापार ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा पूर्वोक्त वर्णों की सेवा करना यह शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है ।

अन्नादि उत्पन्न करने के लिए पृथ्वी का कर्षण करना 'कृषि' कहा जाता है । अर्थात् जमीन में बीज बोकर गेहूँ, जौ, चना आदि समस्त खाद्य पदार्थों को, औषधियों को, अन्य पवित्र वस्तुओं को उत्पन्न करने को कृषि यानी खेती कहते हैं । गोरक्षा नाम पशुपालन । अर्थात् अत्यन्त उपकारी पशु गौ के साथ-साथ मनुष्य के उपयोगी भैंस, घोड़े, हाथी अन्यान्य पशुओं का पालन करना । धन-सञ्चय के लिए न्याययुक्त पवित्र वस्तुओं को खरीदना और बेचना आदि रूप कर्म का नाम 'वाणिज्य' है । ये सब वैश्यों के स्वाभाविक कर्म हैं । मनुस्मृति में वैश्यों के कर्म बताते हुए कहा गया है -

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ (१।९०)

पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन, क्रय, विक्रय, ब्याज लेना और कृषि वैश्य के कर्म हैं । यहाँ पर जिन कर्मों में वैश्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसे बताया गया है । जैसे उपर्युक्त सभी स्वाभाविक कर्म से युक्त काशी में तुलाधार नामक वैश्य था । वह महान् तपस्वी और धर्मात्मा था । वह कृषि, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप व्यापार करता था । एक जाजालि नाम के ब्राह्मण समुद्र तट पर तपस्या करते थे । उनकी जटाओं में चिड़ियों ने घोसला बना लिया था, इसे देखकर उनको अपनी तपस्या पर गर्व हो गया । तब आकाशवाणी हुई कि 'हे जाजालि ! तुम तुलाधार के समान धार्मिक नहीं हो, वे तुम्हारी भाँति गर्व नहीं करते' । यह सुनकर जाजालि काशी आये और देखे कि तुलाधार फल, मूल और मसाले घी आदि बेच रहा है । तुलाधार ने जाजालि को देखकर स्वागत, सत्कार प्रणाम करके कहा कि आपने समुद्र के किनारे बड़ी तपस्या की । आपके सिर की जटाओं में चिड़ियों ने बच्चे पैदा कर दिये इसलिए आपको गर्व हो गया और अब आप आकाशवाणी सुन कर यहाँ पधारे हैं । बताइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? तुलाधार का ऐसा ज्ञान देखकर जाजालि को बड़ा आश्चर्य हुआ और तुलाधार से धर्म का रहस्य प्राप्त कर उन्होंने बड़ी शान्ति प्राप्त की । यह कथा महाभारत के शान्ति-पर्व में २३१ से २६४ अध्याय तक वर्णित है ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करना अर्थात् उनकी आज्ञाओं का पालन करना, उनके दैनिक कार्य में यथायोग्य सहायता करना, उनके पशुओं का पालन करना आदि सेवा कार्य करके जीविका चलाना यह शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है । मनुस्मृति में शूद्र का कर्म कहा गया है कि -

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ (१।९१)

भगवान् ने शूद्र का केवल एक ही कर्म बताया है कि दोषदृष्टि छोड़कर पूर्वोक्त द्विज वर्णवालों की सेवा करना । जैसे मिथिलापुरी में धर्मव्याध नाम का शूद्र था । जो शतानन्द ऋषि की सेवा कर्म करता था । उससे कौशिक नाम के

ऋषि ने जाकर अपने धर्म के संदेहों को निवृत्त किया । यह कथा महाभारत के वन पर्व में (अध्याय २०६ में) वर्णित है ।

गीता के उपर्युक्त श्लोक में कृषि और गोरक्षा को वैश्यों का कर्म कहा गया है । इस बात को लेकर कुछ मन्द बुद्धि के लोग बड़ा जोर देते हैं कि खेती और गऊ पालन ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र के कर्म नहीं हैं । परन्तु वे शास्त्र की मर्यादा को नहीं समझते हैं कि कब के लिए कौन धर्म कहा गया, जैसे बताया गया है :-

कृते तु मानवो धर्मः, त्रेतायां गौतमः स्मृतः ।
द्वापरे शंखलिखितः, कलौ पराशरस्मृतिः ॥

सत्युग में मनुस्मृति प्रमाण थी । त्रेता में गौतम स्मृति, द्वापर में शंख-लिखित स्मृति और कलियुग में पाराशर स्मृति । पराशर ऋषि ने बैल रखने, पशुपालन आदि को ब्राह्मण क्षत्रिय सभी का धर्म कहा है । प्रत्यक्ष भी देख सकते हैं कि यदि ब्राह्मण क्षत्रिय खेती का कार्य नहीं करेंगे तो वैश्य खेती करके कितना अन्न पैदा कर सकते हैं जिससे सब का जीवन निर्वाह होगा । यदि यह कर्म अन्य का न होता तो जैसे 'न सुरां पिबेत्' में मदिरा पीने का निषेधवाक्य वेदों में आया है उसी तरह ब्राह्मण क्षत्रिय खेती न करने का निषेध वाक्य आता परन्तु ऐसा कहीं नहीं कहा गया है । इस प्रकार गौ की सेवा का भी अभिप्राय समझना चाहिए । महाभारत में कहा गया है **'महाजनो येन गतः स पंथाः'** (महा. ३।३१३।११७) अर्थात् महान पुरुष जिस मार्ग को अपनावें वही अनुकरणीय मार्ग है । परब्रह्म होते हुये भी भगवान् कृष्ण गऊ की सेवा करते हैं, उसको चराते हैं और गाय के बछड़े तक बन जाते हैं । यदि धर्म की स्थापना करने वाले भगवान् यह कर्म करना धर्म-विरुद्ध समझते तो क्यों करते और फिर यही करना होता तो वैश्य के घर अवतार लेते ? भगवान् के अवतार में प्रधान कारण **'गोब्राह्मणहिताय च'** (वि. पु. १।१९।६५) के अनुसार गौ को ही बताया गया है । तुलसीदासजी भी इसीको कहते हैं -**'विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार'** (मानस बा. १९२) इसी को धर्म समझकर महर्षि वसिष्ठ ने ब्राह्मण होकर नन्दिनी की सेवा की । इसी प्रकार जमदग्नि ने भी कामधेनु की सेवा की । राजा दिलीप गौ की सेवा में प्राण तक देने को तैयार रहते थे । यदि शूद्रों का यह कर्म न होता तो उनका गोत्र ही कैसे बनता क्योंकि गोत्र का अर्थ है - त्रैङरक्षणे धातु से 'गां त्रायते इति गोत्रः' अर्थ होता है, अर्थात् जिन ऋषियों की गाय की सेवा जिन शूद्रों ने की उनका उसी ऋषि के नाम पर गोत्र पड़ गया । इस प्रकार इतिहास देखने से ज्ञात हो जाता है कि कृषि और गोपालन सार्वभौम धर्म हैं ।।४४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।

अन्वय :- **स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः नरः संसिद्धिम् लभते, स्वकर्मनिरतः यथा सिद्धिम् विन्दति तत् शृणु ।**

अर्थ :- भगवान् कहते हैं कि - अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य संसिद्धि को पाता है । अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि को पाता है, वह तू (मुझसे) सुनो ।

व्याख्या :- अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्-प्राप्ति रूप सम्यक् सिद्धि को प्राप्त

हो जाता है, किन्तु अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि को पाता है उसको तू (मुझसे) सुनो।

'नृ नये' धातु से नर बनता है अर्थात् जिसमें विनीतता होती है वही नर कहा जाता है। यहाँ अपने-अपने कर्म का अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्य का जो स्वाभाविक कर्म है, अर्थात् ब्राह्मण को शम दमादि कर्मों से, क्षत्रिय को शौर्य तेजादि कर्मों से, वैश्य को कृषि आदि कर्मों से जो फल मिलता है वही शूद्र को सेवा के कर्मों से मिल जाता है। इसलिये अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों का अनुष्ठान करने से मनुष्य को परम पद की प्राप्ति हो जाती है। एक वर्ण को दूसरे वर्ण के कर्मों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ 'संसिद्धिम्' भगवत्प्राप्ति, (परमपद की प्राप्ति) का वाचक है। भगवान् ने किसी जाति का पक्ष न लेकर यहाँ यथार्थ तत्त्व को कहा है। जैसे ब्राह्मण होते हुए भी वेदव्यास ने महाभारत में शूद्र श्वपच के लिये बताया कि अपने सेवा-कर्म में निरत रहने के कारण युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भोजन जबतक उसने नहीं कर लिया घंटा नहीं बजा। संत तुलसीदास जी ब्राह्मण होते हुये यथार्थ बात को पक्षपात रहित होकर लिखते हैं कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम स्वयं शबरी के आश्रम पर जाकर दर्शन देते हैं और उसे ही नवधाभक्ति का उपदेश देते हैं। श्रीवाल्मीकि आदि महर्षियों ने अपने चरित्र का वर्णन करने में अपने समस्त चोरी आदि कर्मों का स्पष्ट रूप से निःसंकोच वर्णन किया है। इसलिये किसी के बहकावे में न आकर अपने-अपने वर्णोचित कर्मों को करना ही भगवान् ने परम कल्याणप्रद बतलाया है। जिस प्रकार उन कर्मों में लगे रहने से परमात्मा की प्राप्ति होती है उसे आगे कहेंगे। अच्छी तरह उसे ग्रहण करने के लिये यहाँ अर्जुन को सावधान करते हैं ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अन्वय :- **यतः भूतानाम् प्रवृत्तिः येन इदम् सर्वम् ततम्, तम् स्वकर्मणा अभ्यर्च्य मानवः सिद्धिम् विन्दति।**

अर्थ :- जिससे प्राणियों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति आदि प्रवृत्ति) हुई है, जिससे यह सबकुछ (यानी संसार) व्याप्त है, उसे अपने कर्मों से पूजकर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

व्याख्या :- अपने कर्मों द्वारा भगवान् की पूजा करने की विधि बतलाते हुये भगवान् कहते हैं कि जिससे प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है, और जिससे समस्त संसार फैला है, इन्द्रादि की अन्तरात्मा रूप से स्थित उस मुझ परमेश्वर को अपने स्वाभाविक कर्मों के द्वारा पूजकर मनुष्य मेरे प्रसाद से मेरी प्राप्ति रूपी सिद्धि को पाता है।

यहाँ 'यतः' शब्द से श्रुति में कहे गये -

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति' (तैति. उ. व. ३।१।१) से तात्पर्य है, अर्थात् जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित हैं, प्रलय को प्राप्त होते हुये जिसमें लीन होते हैं, उसे समझो, वही ब्रह्म है। इसके सम्बन्ध में विष्णु-पुराण में कहा गया है-

स्त्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुःपाल्यं च पाति च।
उपसंह्रियते चान्ते संहर्ता च स्वयं प्रभुः ॥ (१।२।६७)

अर्थात् उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाले स्वयं प्रभु विष्णु भगवान् ही हैं । गीता में भी इसी बात को भगवान् कह चुके हैं- **'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'** (७।६) मैं इस समूचे जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का स्थान हूँ । 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (९।४) मुझ अव्यक्त मूर्ति से यह समूचा जगत् व्याप्त है, तथा 'मधाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (९।१०) मुझ सत्यसंकल्प स्वामी के द्वारा प्रेरित प्रकृति समस्त चराचर जगत् को रचती है । इस प्रकार परम श्रद्धा और विश्वास के साथ पूर्वोक्त बातों को समझकर भगवान् के आदेशानुसार अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों को भगवान् की प्रसन्नता के लिये करना उनकी पूजा करना है । ऐसा करते हुये मनुष्य भगवत्प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त करता है । जैसे शबरी अपने स्वाभाविक कर्म सेवा को करती हुई अपने आश्रम पर ही रही । उसने वेद-पाठ नहीं किया और यज्ञोपवीत धारणादि निषिद्ध कार्यों को न करती हुई सर्वदा सेवा कार्य को ही वह करती रही, इसका फल यह हुआ कि स्वयं भगवान् राम ने उसकी कुटिया पर पधार कर उसे दर्शन दिये । महर्षि वाल्मीकि जी भी कहते हैं -

'शबर्या पूजितः सम्यग्' (बा. का. १।५७) शबरी ने भलीभाँति पूजा की । भगवान् राम भी कहते हैं **'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे'** (रा. मा. अर. का. ३५।७) ।।४६।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।

अन्वय :- **स्वधर्मः विगुणः स्वनुष्ठितात् परधर्मात् श्रेयान् । स्वभावनियतम् कर्म कुर्वन् किल्बिषम् न आप्नोति ।**

अर्थ :- अपना धर्म विगुण (गुण रहित) भी भलीभाँति अनुष्ठान किये हुए (भी) परधर्म से अधिक उत्तम है; क्योंकि स्वभावनियत कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता है ।

व्याख्या :- कर्मयोग नाम अपना धर्म गुणों की कमी होने पर भी भलीभाँति अनुष्ठान किये हुये ज्ञानयोग रूप परधर्म से श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव- नियत कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता ।

यहाँ भगवान् तीसरे अध्याय के ३५वें श्लोक में कही हुई बात को याद दिलाते हैं जो इस प्रकार है -

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठिताम् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। (३।३५)

अच्छी तरह से अनुष्ठान किये हुये ज्ञानयोग रूप पराये धर्म से अपना गुणरहित भी कर्मयोग रूप धर्म श्रेष्ठ है । अपने धर्म में मर जाना भी उत्तम है परन्तु प्रमाद भरा ज्ञानयोग रूप पराया धर्म भयदायक (ही) है ।

इस बात को भगवान् यहाँ समझा रहे हैं कि कर्तृत्व, आसक्ति और फल के त्यागपूर्वक होने वाला मेरी आराध ना रूप कर्म अपने आप ही किये जाने योग्य धर्म है । प्रकृति-संसर्गयुक्त पुरुष के लिए कर्मयोग सुख-साध्य होने के कारण और प्रमाद से रहित होने के कारण स्वधर्म है । दूसरी तरफ इन्द्रियों पर विजय करने में निपुण पुरुष को भी ज्ञानयोग रूप परधर्म में सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करने की कठिनता होने से प्रमाद की आशङ्का बनी रहती है, इसलिए उसका भलीभाँति

अनुष्ठान कदाचित् ही सम्भव है । जैसे जड़ भरत ने घर द्वार छोड़े, भोजनादि तक त्याग दिया, परन्तु ज्ञानयोग रूप परधर्म करने के कारण प्रमाद वश हिरणी के बच्चे में वे आसक्त हो गये जिससे मरकर उन्होंने हिरण का जन्म पाया । इसीलिए संत तुलसदास जी भी इस ज्ञानयोग रूप परधर्म के सम्बन्ध में कहते हैं -

कहत कठित समुझत कठिन साधत कठिन विवेक ।
होई घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक ॥ (रा.मा. ७।११८)
ग्यान पंथ कृपान कै धारा । परत खगेस होइ नहिं बारा ॥ (रा. मा. ७।११८,१)

इसलिए कर्मयोग इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है । इसकी श्रेष्ठता को सिद्ध करते हुये आगे बताया गया है कि सभी कर्म इन्द्रिय व्यापार रूप हैं, इस कारण प्रकृति से संसर्गयुक्त पुरुष के लिए ये स्वभाव से ही नियत हैं । फलतः मनुष्य कर्तापन आदि के त्यागपूर्वक कर्म करता हुआ संसार को नहीं प्राप्त होता है क्योंकि इसमें प्रमाद नहीं है । जैसे महाराज जनक जी ने राज्य को देखते हुए, यज्ञादि कर्म करते हुये कर्तापन आदि के त्याग द्वारा कर्मयोग रूप स्वधर्म पालन से भगवान् राम को प्राप्त किया । इसलिये कर्मयोग रूप स्वधर्म ही उत्तम है ।।४७।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

अन्वय :- **कौन्तेय ! सदोषम् अपि सहजम् कर्म न त्यजेत् । हि सर्वारम्भाः धूमेन अग्निः इव दोषेण समावृताः ।**

अर्थ :- हे कौन्तेय ! दोषयुक्त (होने पर) भी स्वाभाविक (सहज) कर्म को नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि सभी आरम्भ (यानी कर्मों का प्रारम्भ) धूएँ से अग्नि की भाँति दोष से आवृत (युक्त) हैं ।

व्याख्या :- भगवान् कर्मयोग की श्रेष्ठता बताते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त हो तौभी नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि कर्म-सम्बन्धी आरम्भ और ज्ञान-सम्बन्धी आरम्भ सभी धूएँ से अग्नि की भाँति दोष से आवृत हैं ।

वर्ण, आश्रम, स्वभाव की अपेक्षा से जिसके लिये जो कर्म बतलाये गये हैं, उसके लिये वे सहज कर्म हैं । यहाँ दोष का तात्पर्य 'दूष्यते इति दोषः' अर्थात् दुःख भी है । अभिप्राय यह है कि जिन स्वाभाविक कर्मों में साधारणतः हिंसादि दोषों का मिश्रण दीखता हो वे भी शास्त्र-विहित होने के कारण दोषयुक्त दीखने पर भी वास्तव में दोषयुक्त नहीं हैं । इसलिये उन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि कर्मयोग करने में मनुष्य पाप का भागी नहीं होता बल्कि कर्म के त्याग करने से पाप का भागी होता है ।

जिस प्रकार धूएँ से अग्नि ढकी रहती है, जैसा भगवान् ने तीसरे अध्याय में भी कहा है **'धूमेनाव्रियते वह्निर्यथा'** (३८) उसी तरह कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों का आरम्भ दोषयुक्त है । फिर भी सुगम तथा प्रमाद-रहित होने से कर्मयोग का त्याग नहीं करना चाहिये । बल्कि उसमें कर्तापन आसक्ति और फलेच्छा का ही त्याग करना चाहिए ।।४८।।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।

अन्वय :- **सर्वत्र असक्तबुद्धिः जितात्मा विगतस्पृहः परमाम् नैष्कर्म्यसिद्धिम् संन्यासेन अधिगच्छति ।**

अर्थ :- जिसकी बुद्धि सर्वत्र अनासक्त है (यानी जिसकी बुद्धि कहीं आसक्त नहीं है) (वैसा) जितात्मा (जो मन को भी जीत चुका है), निःस्पृह मनुष्य नैष्कर्म्य की परम सिद्धि को संन्यास से (यानी संन्यासयुक्त होकर) पा लेता है ।

व्याख्या :- सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धि वाला, मन को जीते हुए और स्पृहारहित पुरुष त्याग-रूप संन्यास से युक्त होकर परम नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त होता है ।

'असक्तबुद्धि' का तात्पर्य सुत, वित, नारि आदि में आसक्त न रहना है । यहाँ आत्मा मन वाचक है । जिसने मन का निग्रह अर्थात् उसे वश में कर लिया है उसे 'जितात्मा' कहते हैं । मन के निग्रह होने से और परम पुरुष को कर्ता समझने से अपने कर्तृत्व से निःस्पृह होने को 'विगतस्पृहः' कहते हैं । उपर्युक्त तीनों गुणों से सम्पन्न पुरुष इस प्रकार त्याग रूप संन्यास से युक्त होकर कर्मयोग के द्वारा ज्ञानयोग की भी फल-रूपा परम ध्यान-निष्ठा को प्राप्त हो जाता है । अभिप्राय यह कि फल आदि की आसक्ति से एवं मन के निग्रह द्वारा विषयों की स्पृहा से रहित होकर धीरे-धीरे इन्द्रिय सम्बन्धी समस्त कर्मों की उपरामता रूप ध्यान योग को पा जाता है । संन्यास के सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि वेदान्त विज्ञान के द्वारा जिनको परमार्थ वस्तु का दृढ़ निश्चय हो चुका है, जिनका अन्तःकरण संन्यास-योग के द्वारा शुद्ध हो गया है, वे सब मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक में जाकर परम अमृतरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ।' (मु. ३।२।६) निषाद राज की बुद्धि आसक्त नहीं थी और न ही उसे स्पृहा ही थी । इसीलिये वह जीविका करते हुये, नौका द्वारा पार करने का कर्म करते हुये श्रीभगवान् राम की सेवा में तत्पर रहा । जैसा वह कहता भी है -

एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू । नहिं जानउँ कछु अउर कबारू । (रा. मा. २।६६,७)

अपनी चाहना के सम्बन्ध में वह कहता है -

अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें । दीन दयाल अनुग्रह तोरें । (रा. मा. २।१०१,७)

वह अपने घर आदि की आसक्ति छोड़ कर भगवान् के साथ चलने का आग्रह करते हुये कहता है -

नाथ साथ रहि पंथु देखाई । करि दिन चारि चरन सेवकाई ॥ (रा. मा. २।१०३,४)

यहाँ तक कि वह भगवान् राम के लिये अपना सर्वस्व त्यागने के लिये तैयार है -

स्वामि काज करिहउँ रन रारी । जस धवलिहउँ भुवन दस चारी ॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे (रा. मा. २।१८६,५,६)

इस प्रकार कर्तापन, आसक्ति और फल को छोड़कर कर्मयोग करने का फल यह होता है कि निषादराज को परम नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है और देवता भी इनके भाग्य की सराहना करते हैं -

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं । एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं ॥ (रा. मा. २।१००,८)

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।५०।।

अन्वय :- **सिद्धिम् प्राप्तः यथा ब्रह्म आप्नोति, या ज्ञानस्य परा निष्ठा, कौन्तेय ! तथा मे समासेन एव शृणु ।**

अर्थ :- (उस) सिद्धि को प्राप्त (मनुष्य) जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है, - जो ज्ञान की परानिष्ठा है, कुन्तीपुत्र ! वह प्रकार मुझसे संक्षेप में ही सुनो ।

व्याख्या :- हे कुन्ती-पुत्र ! जिस प्रकार नित्यप्रति किये हुए कर्मयोग की फलरूपा ध्यान-सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो ध्यान रूप ज्ञान की परानिष्ठा है, वह तू मुझसे संक्षेप में समझ ।

जो ४९वें श्लोक में नैष्कर्म्य सिद्धि नाम से कही गई है उसीका वाचक यहाँ 'सिद्धिम्' पद है । नित्य निर्विकार सच्चिदानन्दघन परमात्मा का वाचक 'ब्रह्म' पद है । ज्ञान की परानिष्ठा वाक्य से वह ब्रह्म ही विशेष रूप से बताया गया है । भगवान् कहते हैं कि जो ध्यान रूप ज्ञान की परानिष्ठा-(परम प्राप्य) वस्तु है उसका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं करके संक्षेप में ही बतलाऊँगा । इसलिये सावधानी के साथ सुनो, नहीं तो उसे समझ नहीं सकोगे ।।५०।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।५१।।
(यह विशेषक श्लोक है, इसलिये ५३ वें श्लोक से 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' को लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- **विशुद्धया बुद्धया युक्तः च धृत्या आत्मानम् नियम्य, शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा च रागद्वेषौ व्युदस्य (ब्रह्मभूयाय कल्पते)**

अर्थ :- विशुद्ध बुद्धि से युक्त हो और धृति से मनको नियमित (यानी वश में) करके, शब्दादि विषयों को त्याग कर और राग द्वेष को नष्ट करके, (मुमुक्षु पुरुष ब्रह्मभाव का पात्र होता है)

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि विशुद्ध बुद्धि से युक्त हो, धृति के द्वारा मन को वश में करके, शब्दादि विषयों को त्याग कर, राग-द्वेषों को नष्ट करके मुमुक्षु पुरुष ब्रह्मभाव का पात्र होता है, अर्थात् समस्त बन्धनों से मुक्त होकर यथार्थ अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करने वाला हो जाता है ।

यहाँ विशुद्ध बुद्धि से तात्पर्य सात्त्विक बुद्धि से है जिसके विषय में भगवान् कह चुके हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष इन सबाके जो बुद्धि जानती है, पार्थ ! यह बुद्धि सात्त्विकी है (१८।३०) तथा चकार करके विशुद्ध धृति यानी सात्त्विक धृति से अभिप्राय है । इसके विषय में इसी अध्याय में कहा गया है कि-जिस अव्यभिचारिणी धृति से पुरुष योग के उद्देश्य से मन, प्राण तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है । हे पार्थ ! वह धृति सात्त्विकी है । (१८।३३) शब्दादि विषयों को त्यागकर अर्थात् श्रोत्र से शब्द विषय को, चक्षु से रूप विषय को, घ्राण से गन्ध विषय को, रसना से रस विषय को तथा त्वचा से स्पर्श विषय को दूर हटाकर । इन विषयों के निमित होने वाले राग द्वेषों का नाश करके । राग तथा द्वेष का लक्षण पतञ्जलि महर्षि ने कहा है कि -

'सुखानुशयी रागः' (योग. अ. १, पा. २ सू. ७) जो-जो सुख पहले प्राप्त हो चुके हैं, या जिस-जिस पदार्थ में यह ज्ञान हुआ है कि इससे सुख होता है अर्थात् यह सुख का साधन है ऐसे सुख या सुख-साधन पदार्थ के स्मरण होने पर उस सुख के होने में जो स्मरण से तृष्णा या लोभ होता है उसको राग. कहते हैं । तथा **'दुःखानुशयी द्वेषः'** (योग. १।२।८) जो जो दुःख या जिससे दुःख पहले प्राप्त हुआ है उसके अनुस्मृतिपूर्वक स्मरण होने पर दुःख में या उसके साध न में जो क्रोध होता है उसको द्वेष कहते हैं । इस प्रकार इन सबों को छोड़कर वह मुमुक्षु पुरुष समस्त बन्धनों से मुक्त होकर यथार्थ आत्म-वस्तु का अनुभव करता है ।।५१।।

विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।५२।।

(५१वें श्लोक की भाँति इस श्लोक का भी ५३वें श्लोक से 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' को लेकर अर्थ होगा)

अन्वय :- **विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः नित्यम् ध्यानयोगपरः वैराग्यम् समुपाश्रितः ।**

अर्थ :- एकान्तसेवी, अल्पाहारी, तन-मन-वचन को वश में करनेवाला (हो) नित्य ध्यानयोग-परायण, वैराग्य को भलीभाँति आश्रय किये हुए (शान्त पुरुष ब्रह्मभाव का पात्र होता है)

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि एकान्त-सेवी, अल्पाहारी, तन-मन-वचन को वश में करने वाला होकर, नित्य ध्यान-योगप्रायण, वैराग्य का भलीभाँति आश्रय किये हुये शान्त पुरुष ब्रह्मभाव का पात्र होता है ।

एकान्त स्थल को बताते हुये भगवान् ने छठे अध्याय में कहा है, **'शुचौ देशे'** (गी. ६।११) जहाँ न तो अशुद्ध पुरुष रहते हों, न उनके द्वारा जो स्पर्श ही किया गया हो ऐसे पवित्र स्थान में । ऐसे पवित्र स्थान के विषय में कहा गया है -

'पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा' (उपनिषद्) पर्वत के ऊपर, नदी के किनारे, बिल्ववृक्ष के मूल में अथवा वन में । इन स्थलों में भी अकेला स्थित होकर रहे जैसा भगवान् कह चुक हैं **'एकाकी यतचित्तात्मा'** (६।१०) अकेला स्थित होकर अपने को निरन्तर (आत्मा में) युक्त करे । तथा **'मत्कुणैर्मशकैर्वापि लूतैश्च परिवर्जितः'** के अनुसार खटमल, मच्छर और लूती आदि से रहित स्थान में रहना चाहिए । इस प्रकार ध्यान के समस्त विघ्नों से रहित एकान्त देश में रहता हुआ ।

अल्प भोजन से तात्पर्य भगवान् द्वारा कहे हुए छठे अध्याय के श्लोक से है -

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।६।१६।।

अर्जुन ! न तो अति भोजन करने वाले का, न तो सर्वदा भोजन न करने वाले का, न तो अति सोने के स्वभाव वाले का और न तो अधिक जागने वाले का ही योग 'सम्पन्न' होता है ।।१६।। इस प्रकार बहुत खाने और सर्वदा न खाने आदि के दोष से रहित होकर अपने मन-वाणी और शरीर को जीतकर यानी तन-मन-वचन तीनों की वृत्तियों को

ध्यानाभिमुख करके इस प्रकार मृत्युकाल-पर्यन्त नित्य-प्रति ध्यानयोग-परायण होकर वैराग्य का पूर्णतया आश्रय लेकर यानी ध्येय तत्त्व के अतिरिक्त विषयों में दोष दर्शन के अभ्यास से उन-उन में वैराग्य को बढ़ाता हुआ । वैराग्य के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि कहते हैं -

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' (योग. अ. १।१।१५)

सुत, वित नारि आदि देखे हुए और सुने हुये भोगों से राग हटाकर भगवान् के चरणों में राग करने को वैराग्य कहते हैं । इस प्रकार उपर्युक्त लक्षणों से विशिष्ट पुरुष समस्त बन्धनों से मुक्त होकर यथार्थ आत्म-स्वरूप का अनुभव करता है ।।५२।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

अन्वय :- **अहङ्कारं बलम् दर्पम् कामम् क्रोधम् परिग्रहम् विमुच्य निर्ममः शान्तः ब्रह्मभूयाय कल्पते ।**

अर्थ :- अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह (यानी भौतिक पदार्थों का संग्रह) छोड़कर ममता से रहित होकर शान्त पुरुष ब्रह्मभाव का पात्र होता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को छोड़कर तथा ममता से रहित होकर शान्त पुरुष ब्रह्मभाव का पात्र होता है ।

'अनहमहंकरोतीति अहंकारः' अनात्मा में आत्म बुद्धि करना 'अहंकार' है । अतएव अनात्मा में आत्माभिमान त्याग कर देना अहंकार का त्याग कर देना है । अहंकार की वृद्धि में कारण रूप वासना को 'बल' कहते हैं । कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक को नष्ट करने वाले तथा विषयों के अनुभव से होने वाले हर्ष का नाम 'दर्प' है । आसक्ति की परिपक्वावस्था का नाम 'काम' है । दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के कारण रूप चित्त-विकार का नाम 'क्रोध' है । परि नाम चारो ओर से ग्रह नाम पकड़ने वाले अर्थात् सुत, वित, नारी की ईषणा को परिग्रह कहते हैं । इस प्रकार उपर्युक्त छवों को विशेष रूप से त्याग करके ममता-रहित होकर यानी सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओं में आत्मीय बुद्धि को त्यागकर शान्त अर्थात् एकमात्र आत्मानुभव में ही सुखी हुआ- इस प्रकार ध्यानयोग करने वाला पुरुष ब्रह्म-भाव का पात्र होता है, अर्थात् समस्त बन्धनों से मुक्त होकर यथार्थ आत्मस्वरूप का अनुभव करता है । इस श्लोक के प्रथम अहंकार को और अंत के निर्मम शब्द को लेकर भगवान् समस्त श्लोक के अभिप्राय को दूसरे अध्याय के ७१वें श्लोक में कह चुके हैं कि **'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति'** (२।७१) अर्थात् अहंकार से लेकर ममता तक को त्याग करने वाला शान्त पुरुष आत्मा का साक्षात्कार करके शान्ति को प्राप्त हो जाता है । इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में आये हुए 'परिग्रह' शब्द को छोड़कर अन्य अहंकारादि को भगवान् ने १६वें अध्याय में आसुर सर्ग में असुरों के आचरण में वर्णन करते हुये कहा है -

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः (१६।१८)

अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का असुर आश्रय लिये रहते हैं । इस प्रकार भगवान् यह संकेत करते हैं

कि एकान्त-सेवनादि लक्षणों से युक्त होकर भी अहंकारादि आसुरी सम्प्रदाय के दोषों को त्याग करोगे तभी ब्रह्मभाव का पात्र बनोगे । इसमें भी प्रथम अहंकार को छोड़ने को कहकर भगवान् यह बताते हैं कि यही सब दोषों का मूल कारण है, जैसा कहा भी गया है -

अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः । अहंकारवशादीहा नाहंकारात्परोरिपुः ॥ (म. उ. ३।१६)

अहंकार के कारण विपत्ति आती है, अहंकार के कारण दुष्ट मनोव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । अहंकार के कारण कामनाएँ उत्पन्न होती हैं । अहंकार से बढ़कर मनुष्य का कोई दूसरा शत्रु नहीं है । और भी लिखा है -

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।
अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥ (श्रीमद्भा. ११।२८।१५)

शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा आदि और जन्म, मृत्यु ये सब अहंकार के ही देखे जाते हैं - आत्मा के नहीं । संत तुलसीदास जी भी इसे अत्यन्त दुःखद मानस रोग बताते हुए कहते हैं कि **'अहंकार अति दुखद डमरुआ'** (मानस उ. का. १२०, ३५) अहंकार मदिरा के समान अहितकारक है । उपनिषदों में नर-नारी का शरीर सोने का पात्र बताया गया है क्योंकि यह दुर्लभ है, कहा भी गया है **'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्'** (श्रीमद्भा.) इसीको भाषा में भी कहते हैं -

नर तन सम नहि कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही ॥ (रा. मा. उ. का. १२०,६)

जैसे सोने के कलश में पवित्र गंगा-जल भरे रहने पर यदि उसमें मदिरा का बूँद पड़ जाय तो जल एवं पात्र अशुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार नर-नारी के देह रूपी सुवर्ण पात्र में जप, तप, व्रतादि रूपी पवित्र पदार्थ रहने पर भी अहंकार रूपी मदिरा के पड़ जाने पर सभी पदार्थ अशुद्ध हो जाते हैं, अर्थात् सब तीर्थव्रतादि व्यर्थ हो जाते हैं । जैसा श्रीकाकभुसुण्डीजी ने अपने पूर्व जन्म के वृतान्त में इसी अहंकार को ही अपनी अधोगति का मूल कारण बताया है । वे स्वयं कहते हैं कि मैं शिव का मन्त्र जपता था, पूजा करता था परन्तु अहंकार रूपी मदिरा मेरे अन्दर थी -

जपउँ मन्त्र सिव मंदिर जाई । हृदय दंभ अहमिति अधिकाई ॥ (रा. मा. उ. का. १०४, ८)

जिससे यह हुआ कि -

एक बार हर मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम ।
गुरु आयउ अभिमान ते उठि नहिं कीन्ह प्रनाम ॥ (रा. मा. उ. का. १०६)

इस अहंकार का परिणाम यह हुआ कि सब पूजा-पाठ व्यर्थ हो गया और जिसकी पूजा कर रहा था वही शिव जी शाप देते हुए कहते हैं -

रे हतभाग्य अग्य अभिमानी ।
बैठ रहेसि अजगर इव पापी । सर्प होहि खल मल मति व्यापी ॥
महा विटप कोटर महुँ जाई । रहु अधमाधम अधगति पाई ॥ (रा. मा. उ. का. १०६,१,७,८)

इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण अहंकार को प्रथम ही कहते हुये इसका सर्वथा त्याग करने के लिये कहते हैं। इसकी वृद्धि में कारण रूप बल को तथा उसके कार्य रूप दर्प, काम, क्रोध एवं परिग्रह इस प्रकार इन छवों का त्याग करके ममता रहित होकर शान्त पुरुष ब्रह्मभाव का पात्र होता है। यहाँ काम के त्याग से तात्पर्य धर्म-विरुद्ध काम से है, क्योंकि भगवान् कहते हैं कि **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि'** (७।११) प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध (धर्मसम्मत) काम मैं हूँ। क्रोध से तात्पर्य जिससे जनता की क्षति हो, क्योंकि भगवान् राघवेन्द्र के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **'कालाग्निसदृशः क्रोधे'** (वा.रा. १।१।१८) क्रोध में कालाग्नि के समान। जिस क्रोध से जनता का कल्याण हो उस क्रोध को त्यागने का तात्पर्य यहाँ नहीं है। इसी प्रकार परिग्रह शब्द के अन्तर्गत आने वाले लोभ के त्याग से जनता के हित के लिए किए गए लोभ से नहीं है, जैसा कि वामन भगवान् ने बलि के सम्पूर्ण राज्य को ले लिया, परन्तु अपने पास न रख सब दे दिया। इस तरह पूर्व पर का विरोध न लाते हुये काम, क्रोध और (परिग्रह के अन्तर्गत) लोभ के आशय को ग्रहण करना चाहिए। इस श्लोक में शान्त शब्द उपलक्षण है, इससे श्रुति में कही गयी इन बातों से भी अभिप्राय है-

'शान्तो दान्तः उपरतः तितिक्षुः समाहितो भूत्वा' (बृ. ४।४।२३)

शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, समाहित होकर तब ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है ॥५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

अन्वय :- **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । सर्वेषु भूतेषु पराम् मद्भक्तिम् लभते ।**

अर्थ :- ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोक करता है न आकाँक्षा करता है। सब प्राणियों में समभाव वाला (वह) मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा पुरुष न शोक करता है और न आकाँक्षा करता है, सब भूतों में सम हुआ वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है।

अपरिछिन्न ज्ञान ही जिसका एक मात्र आकार है तथा मेरी दासता ही जिसका एकमात्र स्वभाव है ऐसा आत्म-स्वरूप जिसका प्रकट हो गया है, अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभवगत हो गया है, उसे 'ब्रह्म-भूत' कहते हैं। जैसा भगवान् ७वें अध्याय में कह चुके हैं **'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'** (५) इससे दूसरी तू मेरी जीवरूपा परा प्रकृति को जान। ऐसा ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा पुरुष क्लेशकर्मादि दोषों से निर्लिप्तस्वरूप मेरे अतिरिक्त किसी भी भूतविशेष के लिये न तो शोक करता है और न किसी की आकाँक्षा करता है। प्रत्युत् मेरे समस्त भूतों में अनादर भाव से सम हुआ यानी सम्पूर्ण वस्तुमात्र को तृणवत् समझता हुआ वह मेरी परा भक्ति को प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह कि अपार, अतिशय, असंख्य कल्याणमय गुणगणों के एकमात्र आश्रय, लावण्य-सुधा-श्रीसम्पन्न मुझमें अत्यन्त प्रेम के अनुभव रूप पराभक्ति को पा जाता है। इस भक्ति के सम्बन्ध में वेद में भी कहा गया है - **'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे'** (ऋक्. १।१५६।३) हे विष्णो! हम सब आप के अनुग्रह का (दया दृष्टि का) भजन करते हैं। इस वचन में भजन का स्पष्ट निर्देश मिलता

है । भजन और भक्ति पर्याय हैं । इस प्रकार भक्ति की परम्परा वेदों से चली आ रही है 'भज सेवायाम्' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) इस पाणिनि सूत्रानुसार 'क्तिन्' प्रत्यय होकर 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता है, जिसके विषय में लिखा है कि -

'भज्' धातोस्तु सेवार्थः प्रेमा 'क्तिन्' प्रत्ययस्य च ।
स्नेहेन भगवत्सेवा भक्तिरित्युच्यते बुधैः ।। (ग. पु.)

'भज्' धातु का सेवा अर्थ है और 'क्तिन्' प्रत्यय का प्रेम अर्थ है । इससे स्नेहपूर्वक भगवान् की सेवा को ही विद्वान् लोग भक्ति कहते हैं **'सेवा भक्ति-रूपास्ति'** (निघण्टु) सेवा, भक्ति, उपासना ये पर्यायवाचक शब्द हैं और भी लिखा है -

'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' (लिङ्गपुराण) ध्येय वस्तु का प्रेमपूर्वक निरन्तर स्मरण करना ही भक्ति कहलाती है । देवर्षि नारद कहते हैं - **'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'** (नारदभक्ति सू. २) वह भक्ति इस परमात्मा में परम प्रेमरूपा है। शाण्डिल्य ऋषि के मतानुसार **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** (शा. भ. सू. २) वह भक्ति ईश्वर में सर्वोत्तम अनुराग ही है ।

नारदजी भक्ति के लक्षणों के सम्बन्ध में 'नारद भक्ति-सूत्र' के १५वें सूत्र में बताते हैं कि श्रीवेदव्यासजी के मतानुसार भगवान् की पूजा आदि में अनुराग का होना भक्ति है । श्रीगर्गाचार्य के मत से भगवान् की कथा आदि में अनुराग होना भक्ति है । अपना मत बतलाते हुये नारद जी कहते हैं - **'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'** (भक्तिसूत्र १९) अपने सब कर्मों को भगवान् को अर्पण करना और भगवान् का तनिक सा विस्मरण होने पर परम व्याकुल हो जाना ही भक्ति है । ऐसी भक्ति व्रज-गोपियों की थी । भक्ति का महत्त्व बताते हुये कहा गया है कि -

"त्रैलोक्ये भक्तिसदृशः पन्था नास्ति सुखावहः"(शि. पु. रू. सं. ख. २३।३८)

त्रैलोक्य में भगवत्प्राप्ति के लिये भक्ति के सदृश अन्य कोई भी सुखप्रद मार्ग नहीं है । पराभक्ति के सम्बन्ध में लिखा है -

'हरिभक्तिः परा नृणां कामधेनूपमा स्मृता' (बृ. ना. पु. ४१२)

नारायण की पराभक्ति कामधेनु के समान मनुष्यों के समस्त धर्म, अर्थ काम, मोक्ष को देने वाली कही गई है । श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है - **'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति'** (श्रीमद्भा. ११।१४।२४) मेरी भक्ति से युक्त पुरुष त्रिभुवन को पवित्र कर देता है ।।५४।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।५५।।

अन्वय :- **'यः च यावान् अस्मि' भक्त्या तत्त्वतः माम् अभिजानाति । ततः माम् तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरम् विशते ।**

अर्थ :- 'जो और जितना मैं हूँ' - भक्तिद्वारा तत्त्व से (यानी पूर्ण तात्त्विक रूप में) मुझे जान लेता है । मुझे तत्त्वपूर्वक जानकर उसके बाद उस भक्ति से (मुझ में ही) प्रवेश कर जाता है ।

व्याख्या :- पराभक्ति के फल को बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि पराभक्ति के द्वारा मनुष्य, स्वरूप और स्वभाव से मैं जो हूँ और गुण और विभूति के कारण मैं जितना हूँ, ऐसे मुझ परमेश्वर को तत्त्व से जान लेता है । मुझे तत्त्व से जान लेने के अनन्तर उस पराभक्ति से मुझमें प्रवेश कर जाता है ।

भगवान् का स्वरूप कैसा है यह ग्यारहवें अध्याय में वर्णन किया गया है-**'पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्'** (११।१६) सब ओर से अनन्त रूप वाले आप को देख रहा हूँ । आगे चलकर अर्जुन कहता है - **'किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्'** (११।४६) मुकुट धारण किये हुए हाथ में गदा और चक्र लिये । भगवान् के स्वभाव का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं - **'मृदुर्दयालुर्मधुरः'** (स्तोत्ररत्न २१) अत्यन्त कोमल, समस्त जीवों पर दया करने वाले और मीठे स्वभाव वाले आदि । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति. उ. २।१।१) के अनुसार भगवान् अत्यन्त कल्याणगुणाकर हैं तथा अपनी विभूति के सम्बन्ध में भगवान् स्वयं कहते हैं -

'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप । (गीता १०।४०)

परंतप अर्जुन ! मेरी कल्याणमयी विभूतियों का अन्त नहीं है । इस प्रकार भगवान् के जो स्वरूप, स्वभाव, गुण और विभूति हैं उनको पराभक्ति के द्वारा मनुष्य तत्त्वत: जान लेता है । यहाँ 'ततः' इस पद से प्राप्ति के हेतु रूप से निर्दिष्ट की हुई पराभक्ति का ही प्रतिपादन होता है । यथार्थ रूप से जान लेने के बाद देहावसान में उस पराभक्ति से मुझमें प्रवेश कर जाता है । इसी बात को भगवान् ८वें अध्याय में कहते हैं -

'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । (८।२२)

हे पृथापुत्र अर्जुन ! वे परब्रह्म नारायण अनन्य भक्ति से प्राप्त करने योग्य हैं तथा ग्यारहवें अध्याय में भी कहते हैं -

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ (११।५४)

केवल अनन्य नाम परा भक्ति के द्वारा ही मैं शास्त्रीय पद्धति से तत्वतः जाना जा सकता हूँ, तत्त्वतः साक्षात् किया जा सकता हूँ । इस प्रकार भगवान् यहाँ भक्ति से अन्य उपायों का खण्डन करते हैं, जैसा वे कह भी चुके हैं -

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा । (११।५३)

मेरी पराभक्ति से रहित केवल अध्यापन, प्रवचन, अध्ययन, श्रवण और जप विषयक वेदों द्वारा तथा यज्ञ, दान, होम और तपों द्वारा यथार्थ रूप में स्थित मैं नहीं देखा जा सकता । 'विश प्रवेशने' धातु से विश शब्द बना है जिसका अर्थ प्रवेश करना है । यहाँ प्रवेश करने से अभिप्राय नाम, रूपादि से रहित होकर मिल जाने से है । जैसे किसी घर में

प्रवेश मात्र करने से मनुष्य घर नहीं हो जाता उसी प्रकार ब्रह्म में प्रवेश करने से जीव ब्रह्म नहीं बन जाता बल्कि अपना नाम और साँवला, गोरा आदि रूप को छोड़कर मिल जाता है । इसीको श्रुति में कहा गया है -

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।। (मु. ३ ख. २ श्रु. ८)

जैसे अपनी उत्पत्ति के स्थान, गङ्गा, यमुना आदि नदियाँ गङ्गा यमुना आदिक नाम को तथा शुक्ल कृष्ण आदि रूप को छोड़कर समुद्र में अदृश्य हो जाती हैं वैसे ही ज्ञानी महात्मा यज्ञदत्तादिक नाम को और स्याम गौर आदिक रूप को त्याग कर ब्रह्माआदि से परम श्रेष्ठ दिव्य पुरुष परम ब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लेता है । जिस पराभक्ति के द्वारा मनुष्य भगवान् में प्रवेश कर जाता है उसके विषय में कुछ चर्चा यहाँ की जाती है । श्रुति में लिखा है कि -

'भक्त्या सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति' (त्रि. मा. उ. ८।१) भक्ति से सब सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं ।

चतुर्मुखादीनां सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या
कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते । (त्रि. म. उ. ८।१)

विष्णु की भक्ति के बिना ब्रह्मादिक समस्त देवताओं को भी कोटि कल्पों में मुक्ति संभव नहीं है । इससे-

सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय"
'भक्तियोगो निरुपद्रवः' (त्रि. म. उ. ८।१)

समस्त उपायों का परित्याग करके भक्ति का आश्रयण करो, क्योंकि भक्तियोग उपद्रव-रहित है । जैसा भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं -

'मयि भक्तिर्हि भूतानममृतत्वाय कल्पते' (श्रीमद्भा. १०।८२।४५)

मेरे प्रति की हुई प्रेम-भक्ति प्राणियों को अमृतत्व (परमानन्द धाम) प्रदान करती है ।

रामचरितमानस में भगवान् राम इसी बात को कहते हैं कि -

भगति हीन विरंचि किन होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ।। (रा. मा. उ. का. ८५,६,१०)

भक्ति के भेद का वर्णन करते हुये श्रीमद्भागवत में कहा गया है -

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।। (श्रीमद्भा. ७।५।२३)

१-श्रवणरूपा भक्ति राजा परीक्षित ने की । आप उसी तरह भगवान् की कथा को सुनते रहे जैसा लक्षण मानसकार के शब्दों में वर्णित है -

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥

भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे । (रा. मा. अयो. १२७,३,४)

२-कीर्तनरूपा भक्ति नारद जी ने की

'मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥ (रा. मा. अर. १५।११)

के अनुसार ही भगवान् का कीर्तन गाते हैं -

३-भगवान् की स्मरणरूपा भक्ति प्रह्लाद ने की । जिसके मानसिक स्मरण का वर्णन करते हुये गोस्वामी जी कहते हैं-

'नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥ (रा. मा. १।२५।४)

४-पाद-सेवनरूपा भक्ति श्रीसीता जी ने की जैसा वे कहती भी हैं -

छिन छिन प्रभु पद कमल विलोकी ।

रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥ (रा. मा. २।६५,४)

५-अर्चन (पूजन) रूपा भक्ति राजा अम्बरीष ने की, जिनके सम्बन्ध में सूरदास जी कहते हैं -

'हरि हित लावैं सब संपद' 'राज काज कछु मन नहिं धरै' (सूरसा. ४४६)

६-वन्दनरूपा भक्ति श्रीअक्रूर जी ने की । जैसा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के अध्याय ४० में वर्णित है कि अक्रूर जी ने हाथ जोड़कर बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे गद्गद् स्वर से भगवान् की वन्दना की ।

७-दासता-रूपा भक्ति श्रीहनुमान्‌जीने की, जैसा वे स्वयं कहते हैं - **'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य'** (वा.रा. ५।४३।६)

८-सख्यरूपा भक्ति अर्जुन ने की जैसाकि वह स्वयं कहता है - **'सखेति मत्वा'** गीता (११।४१) 'सखा हैं' ऐसा मानकर ।

९-आत्म-निवेदनरूपा भक्ति गोपियों ने की जिनके सम्बन्ध में भक्त सूरदास जी कहते हैं -

'जे पद पदुम परसि ब्रज भामिनि सरबस दै सुत-सदन बिसारे ॥ (सूरसा. पि. प. ३)

इस प्रकार उपर्युक्त ९ प्रकार की भक्ति का वर्णन किया गया है । इसी को गोस्वामी तुलसीदासजी अपनी विनय-पत्रिका में संक्षिप्त रूप से वर्णन करते हुए कहते हैं-

'श्रवन कथा, मुखनाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु ।

नयननि निरखि कृपा समुद्र हरि अग-जग रूप भूप सीताबरु ॥

इहै भगति; (वि. प. २०५) भक्त सूरदास जी इसी का सूरसागर में वर्णन करते हुये कहते हैं -

स्त्रवन-कीरतन-सुमिरन करै । पद सेवन अरचन उर धरै ।
वन्दन दासपनौ सो करै । भक्तनि सख्य भाव अनुसरै ।
काय निवेदन सदा विचारै । प्रेम-सहित नवधा विस्तारै ॥ (नवम स्क. ४४६) ॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

अन्वय :- **मद्व्यपाश्रयः सर्वकर्माणि सदा कुर्वाणः अपि मत्प्रसादात् अव्ययम् शाश्वतम् पदम् अवाप्नोति ।**

अर्थ :- मुझ पर आश्रित यानी मेरा आश्रय लेनेवाला समस्त कर्मों को सदा करते हुए भी मेरी कृपा से अविनाशी शाश्वत (सनातन) पद को प्राप्त करता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि मेरा आश्रय ग्रहण करके समस्त कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरे प्रसाद से विकार रहित सनातन अखण्ड पद को प्राप्त हो जाता है । नित्य, नैमित्तिक और काम्य समस्त कर्मों में कर्तृत्व, ममता और फल को मुझमें भली-भाँति त्याग करना यही आश्रित करके रहना है । **'पद्यते गम्यते इति पदम्'** के अनुसार जो प्राप्त किया जाय उसका नाम पद है । इस 'पद' शब्द से भगवान् अपने को कहते हैं । जैसा कठोपनिषद् में कहा गया है - **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** (कठो. अ. १ व. २ श्रु. १५) समस्त वेद जिसको पद शब्द से कहते हैं । 'यत्तत्पदमनुत्तमम्' (विष्णुसहस्त्रनाम् ६१) के अनुसार 'पद' भगवान् का नाम भी है । भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि मुझे प्राप्त हो जाता है । भगवान् को प्राप्त करने का फल यह होगा कि -

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते । (गीता ८।१६)

कुन्तीपुत्र ! मुझ परमेश्वर को पा लेने के बाद पुनः जन्म नहीं होता । इस प्रकार दुःखत्रय का नाश हो जाता है, परन्तु मेरी प्राप्ति मेरी कृपा से होती है । जैसा श्रुति भी कहती है - **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'** (कठो. अ. १ व. २ श्रु. २३) यह परमात्मा जिस साधक पुरुष को स्वीकार कर लेता है उससे (प्रियतम करके निश्चय करके) प्राप्त किया जा सकता है ॥५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

अन्वय :- **चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः बुद्धियोगम् उपाश्रित्य सततम् मच्चित्तः भव ।**

अर्थ :- चित्त से समस्त कर्मों को मुझमें निक्षिप्त करके मेरा परायण हुआ तू बुद्धियोग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें (लगाये) चित्त वाला बनो ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि चित्त से समस्त कर्मों को मुझ में निक्षेप करके मेरे परायण हुआ तू बुद्धियोग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही चित्त लगाये रहने वाला बनो ।
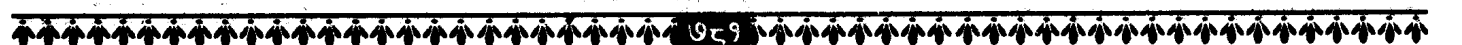
इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को भगवान् तृतीय अध्याय के ३०वें श्लोक के पूर्वार्द्ध में कह चुके हैं कि-

'मयि सर्वाणि कर्मणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा' (३।३०)

मैं सेवक हूँ, परमात्मा स्वामी हैं इस अध्यात्म चित्त से सब कर्मों का मुझमें निक्षेप करके । इसी 'अध्यात्मचेतसा' को भगवान् यहाँ - 'चेतसा' शब्द से कह रहे हैं । इसलिये यहाँ चेतसा शब्द का 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे नियामक हैं' से अभिप्राय है । इस प्रकार ऐसी भावना करके कर्तापन, आसक्ति और आराध्य की आराधना करने का जो फल है यह मुझ आनन्दघन सच्चिदानन्द परब्रह्म में समर्पण कर दे । भगवान् को ही अपना परम प्राण, परम गति समझकर जो लोग कर्मयोग करते हैं इसी को ज्ञानयोग अथवा बुद्धियोग कहते हैं । इस प्रकार समझकर समस्त कर्म करते हुए बुद्धियोग का आश्रय लेकर नित्य निरन्तर मुझमें ही चित्त लगाने वाला होवो । ऐसा करने पर कठिन संसार-सागर को सहज में पार कर लोगे ।।५७।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।।५८।।

अन्वय :- **मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि अथ चेत् अहंकारात् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।**

अर्थ :- मुझमें चित्त वाला सारे दुर्गमों (कठिनाईयों को) मेरी कृपा से पार कर जाओगे और यदि अहंकार के कारण (मेरे वचनों को) न सुनोगे तो विनष्ट हो जाओगे ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से मुझमें चित्तवाला होकर सब कर्म करता हुआ तू मेरे प्रसाद से समस्त कठिनाइयों से तर जायगा और यदि अहंकार से मेरे वचनों को तू न सुनेगा तो विनष्ट हो जायगा ।

इस श्लोक से भगवान् यह दिखलाते हैं कि पूर्व श्लोक में कहे हुये प्रकार से समस्त कर्म मुझमें समर्पण करके और मेरे परायण होकर निरन्तर मुझमें मन लगाओगे तो मेरी कृपा के प्रभाव से अनायास ही संपूर्ण सांसारिक कठिनाइयों से पार हो जाओगे । जैसा राजा अम्बरीष ने किया, जिससे शिवावतार दुर्वाशा भी शाप देकर उसका परिणाम याद करके पश्चात्ताप करते हैं । वे भगवान् के चक्र सुदर्शन से तभी शान्ति पाये जब भक्त अम्बरीष की शरण में गये । जैसा सूरसागर में भी लिखा है कि -

फिरत फिरत बलहीन भयौ ।
कहा करौ इहिं त्रास कृपानिधि जप तप कौ अभिमान गयौ ।
हरि जू कह्यौ सुनौ रिषिराई, मो पै तू राख्यौ नहिं जाई ।।
उलटि जाहु नृप चरन-सरन मुनि वहै राखिहै भाई ।
सूरदास दास की महिमा श्रीपति श्रीमुख गाई ।। (नवम स्कन्ध ४५-५५)

परन्तु यदि तू अहंकार से यानी 'मैं स्वयं ही समस्त कृत्याकृत्य को भली-भाँति जानता हूँ' इस भाव से मेरे कथन को नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा, क्योंकि मेरे सिवा ऐसा कोई भी नहीं है जो सम्पूर्ण प्राणिमात्र के कर्तव्य अकर्तव्य

को जानता हो और उनका शासन करता हो । जैसा श्रुति भी कहती है - **'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'** (मु.उ. १।१।६) जो परब्रह्म नारायण सामान्य रूप से सर्व विषयक ज्ञान वाला है और विशेष रूप से तत्तत् वस्तुगत सर्वप्रकार के ज्ञानवाला है ॥५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

अन्वय :- **यत् अहङ्कारम् आश्रित्य 'न योत्स्ये' इति मन्यसे, ते एषः व्यवसायः मिथ्या । प्रकृतिः त्वाम् नियोक्ष्यति ।**

अर्थ :- जो अहङ्कार का आश्रय लेकर, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' ऐसा मानते हो; तो तेरा यह निश्चय मिथ्या (यानी व्यर्थ) है । (तेरी) प्रकृति तुझे युद्ध में लगा देगी ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि जो तू अहङ्कार का आश्रय लेकर ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' यह ऐसा निश्चय मिथ्या है । तेरी प्रकृति तुझे युद्ध में नियुक्त कर देगी ।

अर्जुन शोकाविष्ट होकर पहले कह चुका है कि 'न योत्स्य इति' (२।९) मैं युद्ध नहीं करूँगा । तथा **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (२।७) जो मेरे लिए हित का निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये । इसी बात को भगवान् यहाँ कह रहे हैं कि तूने मुझसे हिताहित की बात पूछी है और मैं युद्ध नहीं करूँगा यह भी उस समय कहा था, तो उस समय तुझे मैंने हितोपदेश नहीं किया था । अब जब कर्तव्य अकर्तव्य को यथार्थ रूप से जानने वाले मैंने तेरे लिए क्या कर्तव्य है, उपदेश किया फिर भी यदि पहले की भाँति अपने हिताहित ज्ञान के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता के अभिमान का आश्रय लेकर मेरी आज्ञा का अनादर करके यह मान रहे हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' यह स्वतन्त्रता से किया हुआ तेरा निश्चय व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि जिस स्वभाव के कारण तुम्हारा क्षत्रिय-कुल में जन्म हुआ है, वह स्वभाव तुम्हारी इच्छा न रहने पर भी तुमको जबर्दस्ती युद्ध में लगा देगा । मैं कह भी चुका हूँ **'प्रकृतिं यान्ति भूतानि'** (३।३३) सभी प्राणी अनादिकाल से प्रवृत्त वासना का ही अनुसरण करते हैं । युद्ध से न भागना यह तुम्हारा सहज कर्म है, अतएव तुम बिना युद्ध किये रह नहीं सकोगे । इस प्रकार स्वतन्त्रता से उद्विग्न चित्त होकर तुझ अज्ञानी को मेरी प्रकृति बलपूर्वक युद्ध में लगा देगी, क्योंकि तुम स्वतन्त्र नहीं हो, प्रकृति के अधीन हो । इसके अतिरिक्त तुम्हें मेरी आज्ञा के उल्लंघन का पाप तो लगेगा ही और युद्ध-जनित पाप भी लगेगा । यदि मेरे बताये नियमानुसार कर्तापन, ममता, फल त्यागकर युद्ध करोगे तो अखण्ड शाश्वत पद को प्राप्त करोगे । जैसा आचार्य विश्वामित्र की आज्ञा से राघवेन्द्र ने ताड़काबधादि कार्य किया परन्तु कोई पाप उन्हें नहीं लगा । वैसे ही तुम भी मेरे वश होकर समस्त कर्मों को करता हुआ मुझको प्राप्त होवोगे ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

अन्वय :- **कौन्तेय ! स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्धः यत् मोहात् कर्तुम् न इच्छसि तत् अपि अवशः करिष्यसि ॥**
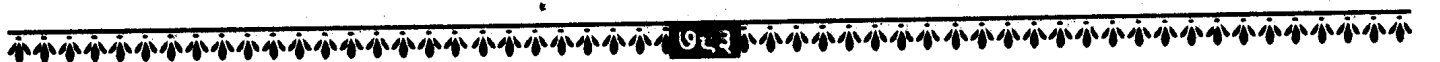
अर्थ :- हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अपने स्वभावजन्य कर्म से बँधा हुआ तू जो मोह से (युद्ध) करना नहीं चाहते हो वह युद्ध भी (क्षात्र स्वभाव से) विवश होकर करोगे ।

व्याख्या :- पहले कही हुयी बात को सिद्ध करते हुये भगवान् कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यदि मोह के कारण युद्ध करना नहीं चाहोगे तौभी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से विवश होकर उसे करोगे ।

यहाँ भगवान् 'कौन्तेय' सम्बोधन देकर यह संकेत करते हैं कि तुम्हारी माता कुन्ती बड़ी वीर महिला हैं । उन्होंने स्वयं मेरे हाथ संदेश भेजकर पांडवों को युद्ध के लिये उत्साहित किया था । माता का असर बालक पर अधिक पड़ता है । इसलिए युद्ध न करने की इच्छा करना तुम्हारे लिये किसी प्रकार उचित नहीं है । युद्ध न करने की इच्छा में केवल तुम्हारा अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान ही हेतु है, दूसरा कोई युक्ति-युक्त कारण नहीं है, क्योंकि मैं इसी अध्याय के ४३वें श्लोक में शौर्यादि ७ कर्म क्षत्रियों के स्वाभाविक कह चुका हूँ । इसलिए जब **'अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिता:'** (गीता २।३६) 'हम वीरों के सामने यह पार्थ क्षण भर ही कैसे ठहर सकता है ? हमलोगों से दूर-दूर ही इसकी डींग मारने का सामर्थ्य है । वह तो नपुंसक है । यति बनकर सुभद्रा का हरण करने वाला विषयी है । इस प्रकार तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुझे बहुत से न कहने योग्य दुर्वचन भी कहेंगे तब जिस स्वाभाविक कर्म से तुम बँधे हो उन्हीं शौर्यादि से विवश हुआ शत्रुओं के द्वारा किये जाते हुए अपमान को न सहकर तू स्वयं ही वह युद्ध करोगे । इसलिये यदि मेरी आज्ञा के अनुसार युद्ध करोगे तब कर्मबन्धन से मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे अन्यथा अपमान न सहनकर तुम्हारे किये जाने वाले युद्ध से तुम्हें जो पाप लगेगा उससे जन्म-मृत्यु-रूप संसार सागर में गोते लगाते रहोगे । यहाँ क्षत्रिय के नाते अर्जुन को युद्ध के विषय में जो बात कही गई है, वैसे ही अन्य वर्णवालों को अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों के विषय में जान लेनी चाहिए ।।६०।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।६१।।

अन्वय :- **अर्जुन ! यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति ।**

अर्थ :- हे अर्जुन ! यन्त्र पर आरूढ़ (के समान) सम्पूर्ण प्राणियों को (अपनी) माया से घुमाता हुआ ईश्वर सब भूतों के हृदय-देश में वास करता है ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि ऐ भागवत परम सात्त्विक अर्जुन ! अन्तर्यामी ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है और शरीर-रूपी यन्त्र में आरूढ़ सभी प्राणियों को अपनी माया से घुमवा रहा है । ईश्वर का लक्षण लिखा है कि -

'कलेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'
(योग. अ. १।१।२४)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँच क्लेश तथा कर्म, धर्म, अधर्म उनके फल फलानुकूल संस्कार आशय जो मन में रहते हैं उनके सम्बन्ध से रहित पुरुष-विशेष ईश्वर है । 'ईश ऐश्वर्ये' धातु से वरच् प्रत्यय होकर ईश्वर शब्द

बनता है, जिसका अर्थ सबसे बड़ा ऐश्वर्यवाला अर्थात् ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, शक्ति छवों की जो सीमा परब्रह्म नारायण हैं, उन्हें ईश्वर कहते हैं । संत तुलसीदास जी इसी को रामचरित मानस में कहते हैं -

बन्ध मोच्छप्रद सर्वपर माया प्रेरक सींव । (अर. १५)

वह अन्तर्यामी ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में रहता है । हृदय के विषय में लिखा है कि -

पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम् ।
अधोनिष्ठ्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति ॥ (तैतरीयार. ना. ११)

लाल कमल के कोश के सदृश नीचे की ओर मुख वाला हृदय नाभि से ऊपर एक बीत्ते के अन्त में अधोनिष्ठा से युक्त मांस पिण्ड देह में स्थित है । अन्यत्र भी छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है -

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा. उ. ८।१।१)

जो इस ब्रह्मपुर नाम शरीर में हृदय कमल है, वह ब्रह्म का घर है । इसी बात को भगवान् १५वें अध्याय में कह भी चुके हैं -

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । (१५।१५)

मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होते हैं । इस प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्तियों के मूलस्वरूप ज्ञान का केन्द्र हृदय है । इसी बात को **'सबके हृदय अछत अविनासी'** तथा-

'राम ब्रह्म चिनमय अविनासी । सर्व रहित सब उर पुर बासी ॥ (रा. मा. बा. का. ११६।६)

कह कर तुलसीदासजी ने व्यक्त किया है । हृदय में ईश्वर कैसे और क्या करता हुआ रहता है ? इसको बताते हुये भगवान् कहते हैं कि अपने ही द्वारा बनाये हुये शरीर इन्द्रिय आदि के रूप में स्थित प्रकृतिरूप यन्त्र पर आरूढ़ हुये समस्त प्राणियों को अपनी सत्त्वादि गुणमयी माया नाम प्रकृति से गुणों के अनुसार घुमवाता रहता है । यही बात श्रुति में भी कही गई है- **'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'** (तै. आ. ३।११।३) प्राणियों का शासक सबकी आत्मा अन्तर में प्रविष्ट है । **'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमयति'** (शतपथ १४।५।३०) जो जीवात्मा में रहता हुआ जीवात्मा के भीतर प्रवष्टि है और जीवात्मा का प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है । स्मृति में भी कहा गया है **'शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो जगन्मयः'** (वि. पु. १।१७।२०) जो जगन्मय विष्णु समस्त जगत् का शासक हैं । **'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम्'** (मनु. १२।१२२) सबके शासक सूक्ष्म से भी सूक्ष्म को । तथा **'यमो वैवस्वतो राजा यस्तैष हृदि स्थितः'** (मनु. ८।९२) जो यह तेरे हृदय में स्थित परमात्मा है, यही वैवस्त यमराज है । तथा इसी को भगवान् ने १०वें अध्याय में भी कहा है **'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** (१०।८) सब मुझसे ही प्रवर्तित किये जाते हैं ।

यहाँ माया शब्द से प्रकृति को कहा गया है । जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है । **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** (श्वे. ४।१०) माया को तो प्रकृति जानो । सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं । **'भ्रामयन्'** में णिच् प्रत्यय है जिसका अर्थ चलवाना होता है । जिस प्रकार चर्खी में बैठे हुये नर-नारी को चर्खी का

मालिक अपने कर्मचारियों द्वारा चलवाता है उसी प्रकार शरीर इन्द्रिय आदि के रूप में स्थित प्रकृति रूप यन्त्र पर आरूढ़ हुये प्राणियों को ईश्वर अपने अधीन रहने वाली माया से गुणों के अनुसार घुमवाता है । यह माया भगवान् के अधीन है जैसा मानसकार भी कहते हैं -

'माया बस्य जीव अभिमानी । ईस बस्य माया गुण खानी ॥ (उ. का. ७७।६)

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी ॥ (उ. का. ७१।७)

तथा यह जड़ माया भगवान् से प्रेरित होकर प्राणियों को घुमा रही है, इसमें स्वयं बल नहीं । इसी बात को-

एक रचइ जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके । (रा. मा. अर. १४,६)

कह कर तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में बताया है ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

अन्वय :- **भारत ! सर्वभावेन तम् एव शरणम् गच्छ । तत्प्रसादात् पराम् शान्तिम् शाश्वतम् स्थानम् प्राप्स्यसि ।**

अर्थ :- भारत ! सर्वभाव से तू उस (ईश्वर) की ही शरण में जा । उसके प्रसाद (कृपा) से तू परम शान्ति को (और) शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे ।

व्याख्या :- पूर्व श्लोक में कही गयी माया की निवृत्ति का उपाय बताते हुये भगवान् कहते हैं कि ज्ञानरूपी प्रकाश में रत रहने वाले परम प्रिय अर्जुन ! सब प्रकार से तू उस परमेश्वर की ही शरण ग्रहण कर । उसके प्रसाद से तू परम शान्ति को और शाश्वत स्थान को प्राप्त होवोगे ।

भगवान् ने यहाँ 'तम्' पद से सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित परमेश्वर को बतलाया है । अर्थात् जब मैं सबका शासक, शरणागतवत्सलता के कारण तेरे सारथि के स्थान पर विराजित और प्रत्यक्ष रूप में 'अमुक कार्य इस प्रकार कर' ऐसे बतला रहा हूँ, तब ऐसे मुझ परमेश्वर की सब प्रकार से शरण ग्रहण कर, यानी आज्ञा का अनुसरण कर, क्योंकि मेरी माया बड़ी बलवान है । कहा भी गया है -

प्रभु माया बलवन्त भवानी । जाहि न मोह कवन अस ग्यानी ।

सिव विरंचि कहुँ मोहई को है बपुरा आन । (रा. मा. उ. का. ६२)

इसलिये मेरी माया से प्रेरित तुझ अज्ञानी को युद्धादि अनिवार्य रूप से करने पड़ेंगे और ऐसा होने से तू नष्ट हो जायगा । इससे निवृत्ति का एक ही उपाय है कि सर्वभाव से मेरी शरण ग्रहण करो । तुमसे पहले भी मैं कह चुका हूँ - **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७।१४) जो एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं । इसलिये मेरी शरण ग्रहण कर मेरे द्वारा बतलायी हुई रीति से युद्धादि कर्म कर । शरण ग्रहण करने वाले भक्त पर मेरी दया का स्रोत बहने लगता है जो उसके समस्त दु:खों और कर्मबन्धनों को सदा के लिए बहा ले जाता

है । यहाँ 'तत्' शब्द उस वात्सल्यादि गुण-विशिष्ट ईश्वर का वाचक है । इस प्रकार तू मेरी कृपा से परम शान्ति को और शाश्वत यानी सनातन परमधाम को प्राप्त होगा । जिस परम पद का वर्णन श्रुतियों में इस प्रकार किया गया है-

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' (ऋ. सं. १।२।६।५)

उस विष्णु के परमपद को ज्ञानी लोग सदा देखते हैं ।

'ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' (यजु. सं. ३१।१६)

वे महात्मागण निश्चय ही उस पद को जाते हैं जहाँ पर पहले साध्यगण और देवता लोग भगवान् की उपासना करके गये हैं । **'यत्र ऋषयः प्रथमजा ये पुराणाः ।'** (महाना. ८।१४) जो पहले होने वाले पुरातन ऋषिगण हैं वे जहाँ रहते हैं । **'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्'** (ऋ. सं. ८।७।१७।७)

जो इसका अध्यक्ष है वह (त्रिपाद विभूति रूप) परम व्योम में रहता है । **'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते'** (छा. उ. ३।१३।७) फिर इस द्युलोक से परे जो परम ज्योति प्रकाशित है । 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क. उ. १।३।६) वह मार्ग के पार पहुँच जाता है, वह स्थान श्रीविष्णु का परम पद है ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

अन्वय :- **इति गुह्यात् गुह्यतरम् ज्ञानम् मया ते आख्यातम् । एतत् अशेषेण विमृश्य यथा इच्छसि तथा कुरु ।**

अर्थ :- इस प्रकार गुह्य से गुह्यतर (गोपनीयतर) ज्ञान मेरे द्वारा तुझे बता दिया गया । इसे पूर्ण रूप से विचारकर तू जैसा चाहते हो वैसा करो ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार यह मुमुक्षु पुरुषों के द्वारा जानने योग्य सम्पूर्ण गुप्त रखने योग्य भावों में भी अत्यन्त गुप्ततम, गीता के आदि से ६ अध्याय तक कर्मयोग विषयक गुह्यज्ञान को, ७ से १२ अध्याय तक ज्ञानयोग विषयक गुह्यतर ज्ञान को और १३ से इस १८वें अध्याय में ६३वें श्लोक तक भक्तियोग विषयक गुह्यतम ज्ञान को, मैंने सब का सब तुझसे कह दिया । इसपर भलीभाँति विचार करके अपने अधिकारानुसार जैसी इच्छा हो वैसा ही कर ।

श्रीमद्भगवद्गीता के आदि के ६ अध्यायों तक जो प्रथम षट्क है उसमें गुह्य ज्ञान कहा गया है क्योंकि लिखा है कि 'रहस्यं ह्येतदुत्तमम्' (४।३) इसमें 'रहस्यम्' पद का 'रहसि भवं रहस्यम्' इस व्युत्पत्ति से अकेले में रहने वाला अर्थात् गुह्य ज्ञान अर्थ होगा । अध्याय ७ से १२ तक के मध्य षट्क में **'परमं गुह्यम्'** (११।१) में 'परम' कहकर गुह्यतर ज्ञान को बोध किया गया है तथा १३वें अध्याय से १८वें अध्याय के ६३वें श्लोक तक अन्तिम षट्क में **'इति गुह्यतमम्'** (१५।२०) ऐसा स्पष्ट गुह्यतम ज्ञान को कहे हैं । इससे पूर्वोक्त अर्थ ही ठीक है । 'इति' पद कह कर कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग इन तीनों की समाप्ति की सूचना दी गयी है । इन्हीं तीनों योगों को भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत में उद्धव से कहा है -

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽस्ति कुत्रचित् ॥ (श्रीमद्भा. ११।२०।६)

मनुष्य के कल्याणार्थ मैंने कर्म और ज्ञान तथा भक्ति इन तीन योगों का उपदेश किया है । इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है । इसमें कर्मयोग और ज्ञानयोग के विषय में कहा गया है -

कर्मयोगस्तपस्तीर्थदानयज्ञादिसेवनम् ।
ज्ञानयोगोजितस्वान्तैः परिशुद्धात्मनि स्थितिः ॥ (गीतार्थ-संग्रह २३)

तपस्या करना, तीर्थ करना, दान देना, यज्ञादि अनुष्ठान करना ही कर्मयोग कहलाता है । जिन लोगों ने अपने अन्तःकरण को अपना वशवर्ती बना लिया है ऐसे लोगों के द्वारा परिशुद्ध आत्मा में ध्यान के द्वारा अपनी बुद्धि को लगाये रहने को ज्ञानयोग कहते हैं ।

तथा भक्तियोग के विषय में लिखा है कि -

भक्तियोगः परैकान्तप्रीत्या ध्यानादिषु स्थितिः ।
त्रयाणामपि योगानां त्रिभिरन्योन्य सङ्गमः ॥ (गीतार्थ सं. २४)

परमात्मा में ऐकान्तिक प्रेम के द्वारा ध्यान, अर्चन, प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि के द्वारा भगवान् में अपनी स्थिति को रखना ही भक्तियोग कहते हैं । पूर्वोक्त तीनों का इन तीनों से परस्पर संयोग रहता है ।

ये तीनों योग सम्पूर्ण छिपाने योग्य वस्तुओं से भी अत्यन्त छिपाने योग्य हैं । अन्य छिपाने योग्य वस्तुओं को बताया गया है कि -

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मंत्रमैथुनभेषजम् ।
तपोदानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ॥ (महाभा.)

१-आयु, २-धन, ३-घर का दोष, ४-मंत्र, ५-मैथुन, ६-जड़ी, ७-तपस्या, ८-दान और ९-अपमान, इन ९ को प्रयत्न करके छिपाना चाहिए ।

इस प्रकार जो इन सबों से भी गुप्ततम है, यानी कर्मयोग गुह्य ज्ञान, ज्ञानयोग गुह्यतर ज्ञान तथा भक्तियोग गुह्यतम ज्ञान में से जिसको तू पसन्द करे उसी में लगा जा ॥६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

अन्वय :- **मे सर्वगुह्यतमम् परमम् वचः भूयः शृणु । मे दृढम् इष्टः असि ततः इति ते हितम् वक्ष्यामि ।**

अर्थ :- मेरा सभी गुह्यों में गोपनीयतम श्रेष्ठ वचन फिर से सुनो । तू मेरे दृढ़ (अत्यन्त या अटल) प्रिय हो इसलिये इस प्रकार से तेरे कल्याण की बात मैं कहूँगा ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि समस्त कर्मयोग तथा ज्ञानयोग और भक्तियोग से भी गुह्यतम परमोत्कृष्ट शरणागति योग युक्त मेरे वचन को सावधान होकर फिर भी तुम सुनो । तू मेरा अत्यनत प्रिय है, इसलिए तेरे हित की बात मैं कहूँगा ।

भगवान् ने अर्जुन को कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का उपदेश दे दिया और उसमें से इच्छानुसार करने के लिये भी कहा और उसका भार भगवान् ने अपने ऊपर नहीं लिया । यह सुनकर अभय चाहने वाले अर्जुन के मन में उदासी छा गई और वह कुछ नहीं बोला । क्योंकि वह जानता था कि **'शरीरे च गतौ चापि वर्तते मे महद् भयम्'** (पांचरात्र जितन्ते अ. ४।६) के अनुसार 'गतौ' नाम उपाय में भी बड़ा भारी भय कहा गया है । इसलिये तीनों योग जो साधन हैं, उनमें इन योगों के करने वाले पर ही जिम्मेदारी रहने से भय का स्थान है । अत: अर्जुन के मन में उदासी छा गई और वह कुछ नहीं बोला । अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के मन की इस बात को जानकर उसका शोक दूर करने के लिए उत्साहित करते हुये कहते हैं कि सम्पूर्ण गोपनीय योगों से भी गुह्यतम परमोत्कृष्ट शरणागति योग युक्त मेरे वचन को तूँ फिर भी सुन । इस श्लोक में 'वच:' शब्द के 'सर्वगुह्यतमम्' तथा 'परमम्' दो विशेषण देकर रहस्यमय सूक्ष्म चतुर्थ शरणागति योग को सूचित किया गया है । बहुत देर तक सुनते-सुनते अर्जुन ऊब गया था, इसलिये 'शृणु' कह करके अर्जुन को सुनने के लिये जागरूक करते हैं । अपने परम रहस्ययुक्त वचन के कहने का कारण बताते हुए भगवान् 'इष्ट:' और 'दृढम्' पदों से यह भाव दिखलाते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हारा मेरे साथ प्रेम का सम्बन्ध अटल है और तूने मुझसे **'यच्छ्रेय:'** (गी. २।७) कहकर हित की बात को पूछा है । हित की बात दुर्लभ होती है जैसा आधुनिक कवि भी कहता है **'हितं मनोहारि च दुर्लभं वच:'** (किराता. १।४) हित करने वाली और मनोहर वाणी दुर्लभ होती है । इसलिए मैं परम हितकारक जो अत्यनत दुर्लभ वचन है तुझसे कहूँगा ।

जो शरणागति योग-युक्त वचन भगवान् कहेंगे उस शरणागति के प्रपत्ति, पराभक्ति, न्यास-विद्या ये पर्यायवाची शब्द हैं । शरण को आ नाम अच्छी तरह गति नाम प्राप्त करना शरणागति शब्द का अर्थ है । **'ईश्वरे सर्वभावेन स्वार्पणं शरणागतिः'** सब भाव से ईश्वर में अपनी आत्मा को समर्पित कर देना ही शरणागति है । शरणागति के विषय में लिखा है -

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिंचनोगतिः ।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना-मतिः ।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥ (पञ्चरात्र)

हे प्रभो ! मैं अपराधों का भण्डार हूँ, आपकी प्राप्ति के समस्त साधनों से शून्य हूँ, अगति-गति रहित अत्यन्त नीच हूँ । अत: हे परमात्मन् ! मुझ नि:सहाय के आप अपनी प्राप्ति के लिये आप ही उपाय-साधन बन जाइये-यह प्रार्थना रूप बुद्धि ही शरणागति है ।

वेद के शिरोभाग श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है कि -

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रसादं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (श्वेता. उ. ६।१८)
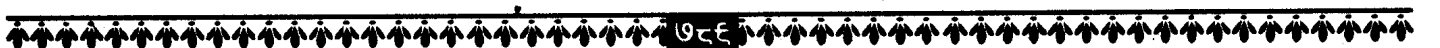
जिस परब्रह्म नारायण ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को बनाया और उनके लिये वेदों को दिया, निश्चय करके उन आत्म बुद्धि के प्रपन्न करने वाले परब्रह्म नारायण की मैं मुमुक्षु शरणागति करता हूँ । वेदावतार रामायण में श्रीराघवेन्द्र प्रतिज्ञा करके कहते हैं -

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम । (वा. रा. यु. का. १८।३३)

'जो प्रपन्न जन हे भगवन् ! 'मैं आपका हूँ' ऐसा एक बार भी कह देता है ऐसे सभी प्राणियों के लिए में अभय दान देता हूँ, यह मेरा व्रत है । गीता में भी **'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'** (१५।४) निश्चय उस आद्य पुरुष की मैं प्रपत्ति यानी शरण ग्रहण करता हूँ ।' इस भाव से शरण ग्रहण करने को भगवान् बताते हैं । रामचरितमानस में भी भगवान् राम **'मम पन सरनागत भयहारी'** (सु. का. ४२।८) कहकर अपने व्रत की सूचना देते हैं ।

पूर्वोक्त शरणागति अंगाङ्गी भाव से ६ प्रकार की होती है, जिसमें आत्मनिक्षेप अंगी है और शेष ५ अंग हैं । जो इस प्रकार कही गई है -

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥ (भरद्वाज सं. तथा यतीन्द्र-मत-दीपिका)

१-ईश्वराभिमत वस्तु का संकल्प करना, जैसे प्रह्लाद ने श्रुति-स्मृति के विपरीत कभी संकल्प नहीं किया । जैसा वह स्वयं कहता है -

सार वेद चारौं कौ जोइ । छऊ सास्त्र-सार पुनि सोई ॥
सर्व पुरान माहिं जो सार । राम नाम मैं पढ़यौ विचार ॥ (सूर. ७।२)

२-ईश्वरानभिमत का त्याग करना, जैसा विभीषण राज्य, स्त्री, राम नाम अंकित गृह सब त्याग कर जाते हुये कहता है -

मैं रघुवीर सरन अब जाऊँ देहु जनि खोरि । (रा. मा. ५।४१)

३-ईश्वर अवश्य रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास करना । जैसा गजेन्द्र ने किया । इसका वर्णन करते हुये सूरदास जी कहते हैं -

गज बल करि-करिकै थकि रह्यौ ।
तब गज हरि की सरनहिं आयौ । सूरदास प्रभु ताहि छुड़ायौ ॥ (सूर. ८।२)

४-रक्षार्थ वरण करना । जैसे, द्रौपदी ने महात्मा भीष्म, द्रोणाचार्य, तथा पति को छोड़कर भगवान् को रक्षक समझ कर वरण किया । सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में इसका वर्णन करते हुये सूरदास जी कहते हैं -

लाज मेरी राखौ स्याम हरी ।
भीषम 'द्रोन करन, सब निरखत, इनतैं कछु न सरी ।
अर्जुन-भीम महाबल जोधा, इनहूँ मौन धरी ।
मेरैं मात-पिता-पति बंधू, एकै टेक हरी ।
जय-जयकार भयौ त्रिभुवन में, जब द्रौपदी उबरी ।
सूरदास प्रभु सिंह-सरन-गति स्यारहि कहा डरी ॥ (२५४)

५-अपने को तुच्छ अनुभव करना । जैसा अर्जुन सब प्रकार से योग्य होते हुए भी कहता है **'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'** (गीता २।७) और ६-अपनी आत्मा को ब्रह्म में समर्पण करना । जैसा चिन्तयनती गोपी ने किया जिसके विषय में लिखा है कि -

चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् निरुछ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका ।

जगत्-सृष्टिकर्ता परब्रह्मस्वरूपी श्रीकृष्ण भगवान् का चिन्तन करती हुई उस गोपी ने श्वास बन्द की और वह चिन्तयन्ती गोपकन्या मुक्त हो गई ।।६४।।

मन्मना भव मद्भक्त मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

अन्वय :- **मन्मना मद्‌भक्तः मद्याजी भव, माम् नमस्कुरु । माम् एव एष्यसि, ते सत्यम् प्रतिजाने, मे प्रियः असि ।**

अर्थ :- मुझमें मनवाला होवो, मेरा भक्त बनो, मेरी पूजा करने वाला हो जा और मुझे (ही) नमस्कार करो । (फिर) तू मुझको ही प्राप्त करोगे । तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ, (क्योंकि) तू मेरे प्रिय हो ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि तुम ज्ञानयोग के द्वारा मुझमें मन लगाने वाला होवो, श्रवण कीर्तन स्मरणादि भक्तियोग के द्वारा मेरा भक्त बनो, यज्ञ, तप, पूजन आदि कर्मयोग के द्वारा मेरी पूजा करने वाला बनो और नमस्कार पूर्वक शरणागति योग द्वारा मेरी शरणागति कर फिर तू मुझको ही प्राप्त होगा । यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्रिय है ।

इस ६५ वें श्लोक का पूर्वार्द्ध भगवद्‌गीता के ६वें अध्याय के ३४वें श्लोक के पूर्वार्द्ध में भी इसी तरह कहा गया है । यहाँ 'मत्' करके भगवान् अपने को बता रहे हैं कि - मैं जो सबका ईश्वर, सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र कारण, समस्त त्याज्य दोषों के विरोधी केवल कल्याणमय प्रवाह से युक्त, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प, कमल सदृश निर्मल और विशाल नेत्रवाला, स्वच्छ नील मेघ सदृश श्याम वर्ण, एक साथ उदय हुये सहस्त्रों सूर्यो के सदृश तेज सम्पन्न, लावण्यरूपसुधा का महान् समुद्र, पुष्ट एवं उदार चार भुजाओं से युक्त, अत्यन्त उज्ज्वल पीताम्बरधारी, निर्मल किरीट, मकराकृति कुण्डल, हार, कड़े, बाजूबन्द आदि भूषणों से विभूषित, अपार कारुण्य, सौशील्य, सौन्दर्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य और वात्सल्य का

समुद्र, बिना अच्छे-बुरे के भेद का विचार किये समस्त लोकों को शरण देनेवाला सबका स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तम हूँ । जैसा श्रुति भी कहती है -

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।' (श्वे. उ. ३।८)

'मैं सूर्य सदृश प्रकाशमान एवं अज्ञानमय अन्धकार से अतीत इस महान् पुरुष को जानता हूँ ।

'य एषोऽन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषो दृश्यते ।
हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ।
तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी ।' (छा. उ. प्रपा. १ खं. ६ श्रु. ६-७)

जो यह सूर्य के भीतर स्वर्णिम रमणीय पुरुष परब्रह्म नारायण योगियों से दिखाई देता है' उसकी दाढ़ी मूँछ सोने की यानी रमणीय हैं, उसके बाल सोने के यानी रमणीय हैं, नख से लेकर चोटी तक सब अवयव निश्चय करके हिरण्यमय परम सुन्दर हैं, उस सूर्य-मण्डल के भीतर रहने वाले नारायण के दोनों नेत्र परिपूर्ण जल में विद्यमान कमल नाल पर सूर्य की किरण से भलीभाँति विकसित लाल कमल के समान हैं ।

भगवान् के श्रीमंगलमय विग्रह का वर्णन श्रीयामुनाचार्य ने स्तोत्र-रत्न के ३४वें श्लोक से लेकर ३६वें श्लोक पर्यन्त किया है और श्रीशेषावतार भगवद् रामानुजाचार्य ने वेदार्थ-संग्रह में भी किया है ।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि ऐसे वर्णित मुझ परमेश्वर में अन्तःकरण को वश में करके मन लगाने वाला बनो । इस प्रकार 'मन्मना भव' इससे मन की एकाग्रतापूर्वक ध्यान में निश्चलता लाने से ज्ञानयोग का संकेत करते हैं ।

मेरा श्रवण कीर्तन स्मरणादि करते हुये मेरा भक्त बनो अर्थात् मुझमें अतिशय प्रेम से युक्त होवो । यहाँ 'मद्भक्तः' इससे श्रवण, कीर्तन स्मरणादि करने से भक्तियोग का संकेत करते हैं । फिर आगे कहते हैं कि मेरा यजन यानी पूजन करने वाला बनो । 'यज्' धातु का देवपूजा, संगतिकरण तथा दान अर्थ होता है । परिपूर्ण शेषवृत्ति (भगवान् की पूर्ण अधीनता) का नाम 'यजन' है । 'औपचारिक' अर्थात् आदर सत्कारादि उपचार के द्वारा जिससे सुख मिलता है । 'सांस्पर्शिक' अर्थात् स्पर्श के द्वारा जिन वस्तुओं से सुख मिलता है तथा 'आभ्यवहारिक' अर्थात् खान-पान आदि के द्वारा जिन वस्तुओं से सुख मिलता है आदि सब प्रकार के भोगों को प्रदान करना ही 'याग' है । इस प्रकार यहाँ 'मद्याजी' से समस्त क्रियमाण कर्मों में भगवद्-अन्तर्यामिता के बोध से कर्मयोग का संकेत करते हैं । चौथा शरणागति योग को कहते हुये भगवान् कहते हैं कि नमस्कार के द्वारा मेरी शरणागति करो । यहाँ पर 'मां नमस्कुरु' से साष्टांग प्रणिपातपूर्वक शरणागति योग का संकेत करते हैं । 'नमः' शब्द शरणागति का लक्षण है । इस प्रकार भगवान् शरणागति योग का अन्त में निर्देश करके कहते हैं कि इससे तू निश्चय करके मुझको प्राप्त होगा । यह केवल कहने भर के लिये दिखावटी बात नहीं है बल्कि तुझसे सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्रिय है । जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ -

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' (७।१७)

मैं ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय होता हूँ और ज्ञानी भक्त भी मुझे वैसा ही प्रिय होता है ।

भगवान् की प्रतिज्ञा को सुनकर अर्जुन को बड़ी प्रसन्नता हुई फिर भी वह बोलता नहीं है क्योंकि पाप की जिम्मेदारी तो फिर भी अपने ऊपर रह गई और पाप से छुटकारा असम्भव है, क्योंकि जब **'मुनीनामप्यहं व्यासः'** (१०।३७) के अनुसार जिस श्रीवेदव्यास को भगवान् ने अपनी विभूति कहा है, वे भी कहते हैं कि -

'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः ।' (पुराण)

तब हम क्या हैं ?

इससे पहले होने वाले, आगे होने वाले तथा वर्तमान समय के हमारे पापों की जिम्मेदारी भगवान् ने नहीं ली और जब तक पाप रहेंगे तब तक जन्म-मरण चक्र से छुटकारा नहीं होगा । इसलिये अर्जुन को भगवान् की प्रतिज्ञा में पाप की जिम्मेदारी न लेने से संतोष नहीं हुआ जिससे (पाप से) डरकर वह मौन ही रहा । वह जानता था कि हमारे आचार्य श्रीकृष्ण अन्तर्यामी हैं, स्वयं मन की बात समझ कर कहेंगे । इस प्रकार यह जो ६५ वाँ श्लोक है इसका अगले ६६ वें श्लोक से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रखते हुए परस्पराकाँक्षा है । इसलिए दोनों मिलकर एकार्थबोधकता युक्त सम्बन्ध से एक ही होता है ।।६५।।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।६६।।

अन्वय :- **सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकम् शरणम् व्रज । अहम् त्वा सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि, मा शुचः ।**

अर्थ :- सब धर्मों का परित्याग करके मुझ एक की शरण में आ जा । मैं तुझे सारे पापों से छुड़ा दूँगा । शोक मत करो ।

व्याख्या :- गीता-शास्त्र का उपक्रम भगवान् ने निम्न श्लोक से किया है-

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।। (२।१२)

'मैं सर्वेश्वर इस वर्तमान समय से पूर्व अनादि काल में नहीं था-ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य था । मेरे शासन में रहने वाले तेरे सहित ये सभी क्षेत्रज्ञ (आत्मा) पहले नहीं थे, ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य थे । मैं और तुमलोग अर्थात् हमलोग सभी इसके बाद भविष्यकाल में नहीं रहेंगे, ऐसा नहीं, किन्तु अवश्य रहेंगे ।' इस (२।१२) श्लोक में आचार्य शिष्य सम्बन्ध द्योतन करने के लिये आचार्य-स्मारक 'अहम्' और 'वयम्' पद कहते हैं और 'त्वम्' पद शिष्य की सूचना के लिये भगवान् ने कहा है । गीता-प्रतिपाद्य ज्ञान बिना आचार्य-शिष्य सम्बन्ध के नहीं होता है । यह उपक्रम का श्लोक सूचित करता है और गीता शास्त्र का उपसंहार 'सर्वधर्मान्' इत्यादि (१८।६६) में है । यहाँ पर भी 'अहम्' और 'माम्' से आचार्य द्योतन करने वाले पद हैं तथा 'त्वा' यह शिष्य-सूचक पद है । इसलिये गीताशास्त्र का उपक्रम और उपसंहार एक हैं ।

भगवान् कहते हैं कि परम कल्याण की प्राप्ति के साधनभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगरूप सर्व धर्मों को मेरी आराधना के रूप में अत्यन्त प्रेम से अधिकारानुसार करता रह और उन्हें करते-करते ही मेरी बतलाई हुई रीति से फल, कर्म के सङ्ग और कर्तृत्व के त्याग के द्वारा सबका परित्याग करके मुझ एक को ही आराध्यदेव, सबका कर्ता और प्राप्त होने योग्य समझता रह तथा उस प्राप्ति का उपाय भी मुझको ही समझ । यही सर्वधर्मों का शास्त्रीय परित्याग है ।

इस बात का -

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः । (१८।४)

'भरतकुल में श्रेष्ठ ! पुरुष-सिंह अर्जुन ! उस त्याग में अब तू मेरा निश्चय सुन क्योंकि त्याग तीन प्रकार का कहा गया है' । यहाँ से लेकर -

'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः । (१८।९)

'कर्म विषयक ममता और फल का तथा कर्तृत्व का त्याग करके (शास्त्रनियतकर्म) किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक माना गया है ।'

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। (१८।११)

'शरीरधारी (प्राणी) के लिये कर्मों का सम्पूर्णतया त्याग सम्भव नहीं है, इसलिये जो कर्मों के फल, आसक्ति और कर्तापन का त्यागी है, वह (यथार्थ) त्यागी है, ऐसा कहा जाता है ।' (इस प्रकार अध्याय के आरम्भ में) अत्यन्त दृढ़ता के साथ प्रतिपादन किया गया है ।

मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ा दूँगा-इस प्रकार बरतते हुये तुझ भक्त को मैं अपनी प्राप्ति के विरोधी जो अकर्तव्य का करना और कर्तव्य का न करना रूप अनादि काल से सञ्चित अनन्त पाप हैं, उन सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा । तू शोक मत कर ।

श्रीसम्प्रदाय में यह चरम श्लोक रहस्यत्रय में परिगणित है । इसलिये इसके ऋष्यादि का ज्ञान अवश्य होना चाहिए । वह निम्नवत् है -

ओमस्य श्रीमद्भगवद्गीताचरमश्लोकस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः
अनुष्टुप् छन्दः । श्रीकृष्णः परमात्मा देवता । श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः ।

'इस श्रीमद्भगवद्गीता के चरम श्लोक का भगवान् वेदव्यास ऋषि हैं तथा अनुष्टुप् छन्द है और श्रीकृष्ण परमात्मा देवता हैं । इसका श्रीकृष्ण भगवान् की प्रीति के लिये जप में विनियोग है ।' इनमें ऋषि, देवता, ध्यान और छन्द के विषय में ग्रन्थ के प्रारम्भ में मैं कह चुका हूँ । पुनः यहाँ छन्द के विषय में विशेष कहता हूँ

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ (श्रुतबोध. श्लो. १०)

'जिसके प्रथम और तृतीय चरण में सप्तम वर्ण दीर्घ हो तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में सप्तमवर्ण ह्रस्व हो और चारों चरणों में पाँचवाँ वर्ण ह्रस्व हो तथा छठवाँ वर्ण दीर्घ हो उस छन्द को श्लोक यानी अनुष्टुप् कहते हैं' और संयोग, ह्रस्व, गुरु तथा दीर्घ के सम्बन्ध में-हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७) ह्रस्वं लघु' (१।४।१०) संयोगे गुरु (१।४।११) 'दीर्घं च' (१।४।१२) इन पाणिनि महर्षि के सूत्रों के अनुसार अचों से रहित हल की संयोग संज्ञा होती है । ह्रस्व को लघु कहते हैं । संयोग परे रहने पर ह्रस्व की गुरु संज्ञा होती है । दीर्घ की भी गुरु संज्ञा होती है ।

मुमुक्षुओं द्वारा सर्वदा अनुसन्धान करने योग्य चरमश्लोक का विशेषार्थ भी जानना चाहिये । 'सर्वधर्मान्' यह चार अक्षर का पहला पद है । उसके बाद 'परित्यज्य' यह चार अक्षरों का दूसरा पद है । उसके बाद 'माम्' यह एक अक्षर का तीसरा पद है उसके बाद 'एकम्' यह दो अक्षरों का चौथा पद है । उसके बाद 'शरणम्' यह तीन अक्षरों का पाँचवाँ पद है । उसके बाद 'व्रज' वह दो अक्षरों का छठवाँ पद हे । उसके बाद 'अहम्' यह दो अक्षरों का सातवाँ पद है । उसके बाद 'त्वा' यह एक अक्षर का आठवाँ पद है । उसके बाद 'सर्व-पापेभ्यः' यह पाँच अक्षरों का नौवाँ पद है । उसके बाद 'मोक्षयिष्यामि' यह पाँच अक्षरों का दसवाँ पद है । उसके बाद 'मा शुचः' यह तीन अक्षरों का ग्यारहवाँ पद है । इस प्रकार से चरमश्लोक में ग्यारह पद और बत्तीस अक्षर हैं । इस विषय में श्रीवररंगाचार्य जी ने भी कहा है कि -

'एकादशपदानि द्वात्रिंशदक्षराणि सन्ति' (निगमनपडि)

चरम श्लोक में ग्यारह पद और बत्तीस अक्षर हैं । अन्तिम उपाय को 'सर्वधर्मान्' (१८।६६) इस श्लोक के द्वारा भगवान् ने कहा है, इससे इस श्लोक का नाम चरमश्लोक है । इसके विषय में श्रीलोकाचार्य स्वामीजी ने कहा है कि -

'चरमोपायस्य कथनाच्चरमश्लोक इत्यस्य नाम भवति' (मुमुक्षुपडि सू. १८८)

'अन्तिम उपाय कहने से इसका चरमश्लोक नाम होता है' इस चरम श्लोक के पूर्वार्द्ध में जो छः पद हैं उनमें मुमुक्षुरूप अधिकारी के कृत्य का उपदेश किया गया है और चरमश्लोक के उत्तरार्द्ध में जो पाँच पद हैं उनसे उपायरूप भगवान् के कृत्य का उपदेश किया गया है । अब चरमश्लोक में पहला पद 'सर्वधर्मान्' यह जो है, इसका अर्थ कहता हूँ । समस्त धर्मो को । यहाँ पर फलसाधनभूत वस्तु को धर्म कहते हैं, क्योंकि लिखा है कि **'धर्मो नाम फलसाधनभूतः'** (मुमुक्षु प.) फलसाधनाभूत का धर्म नाम है । यहाँ पर पुत्र, पशु, अन्न आदिक ऐहिक फल और स्वर्ग आदिक आमुष्मिक फलों के अतिरिक्त मोक्षरूप फलसाधन को लेना चाहिये, क्योंकि लिखा है कि -

'अत्रोक्तधर्मशब्दो दृष्टफलसाधनानि न वक्ति,
किन्तु मोक्षफलसाधनानि वक्ति' (मुमुक्षु प. सू. १६७)

इस चरमश्लोक में कहा हुआ धर्मशब्द दृष्टफल साधन को नहीं कहता है, किन्तु मोक्षफल साधन को कहता

है । 'धर्मान्' बहुवचनान्त इस धर्म शब्द से मोक्षोपायभूत कर्म, ज्ञान, भक्ति, अवताररहस्यज्ञान, पुरुषोत्तम विद्या, दिव्यदेशवास, भगवन्नाम-कीर्तन, दीपारोपण, पुष्पमालासमर्पण आदि को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि लिखा है कि **'तानि च कर्मज्ञानभक्तियोगा अवताररहस्यज्ञानं पुरुषोत्तमविद्या देशवासः श्रीनामकीर्तनं श्रीदीपारोपणं श्रीमालाकैंकर्यमित्येतत्प्रभृतयः'** (मुमुक्षुप. सू. १९९) वे धर्म, कर्म, ज्ञान, भक्ति अवताररहस्यज्ञान, पुरुषोत्तमविद्या, दिव्यदेशवास, श्रीनामकीर्तन, श्रीदीपारोपण, श्रीमालाकैंकर्य प्रभृति हैं । चरमश्लोक में 'धर्मान्' इस बहुवचनान्त शब्द से ही सम्पूर्ण धर्मों का यह अर्थ हो जाता है, फिर जो श्लोक में 'सर्व' शब्द है उससे इन मोक्षसाधनों के अनुष्ठान के समय में योग्यता आपादन करने वाले नित्य और नैमित्तिक कर्मों को ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि लिखा है कि-

'सर्वशब्देन तत्तत्साधनविशेषानुष्ठानसमये तेषां योग्यतापादकानि नित्यकर्माण्युच्यन्ते । एवं श्रुतिस्मृतिविहितनित्यनैमित्तिकादिरूपकर्मयोगाद्युपायानित्यर्थः' (मुमुक्षु प. सू. २००, २०१) सर्वशब्द से मोक्ष के तत्तत्साधनविशेष अनुष्ठान के समय उन कर्मादिकों की योग्यता आपादन करने वाले नित्य कर्मों को कहते हैं । इस प्रकार से **'श्रुतिस्मृतिविहितनित्यनैमित्तिकादिरूप कर्मयोग आदिक उपायों को'** यह अर्थ हुआ । अर्थात् 'सर्वधर्मान्' इस पद से नित्य नैमित्तिक आदिक परिकर सहित कर्मयोग आदि मोक्ष के उपायों को लेना चाहिए । इस प्रकार पहले पद का अर्थ हुआ ।

अब दूसरा पद जो 'परित्यज्य' है उसका अर्थ कहता हूँ । अच्छी तरह से छोड़कर, यहाँ पर मोक्षोपायभूत धर्म त्याग कर्म ज्ञानादिकों का स्वरूपतः त्याग नहीं है, किन्तु उन उपायों में उपायत्वाकार बुद्धि से त्याग है, क्योंकि लिखा है कि **'बुद्धिविशेषेण त्यागः'** (मुमुक्षु प. सू. २०४) बुद्धि विशेष से त्याग है । 'परित्यज्य' इस पद में जो 'परि' है इसको **'उपसर्गाः क्रियायोगे'** (व्या. अ. १ पा. ४ सू. ५९) इस सूत्र से उपसर्ग संज्ञा हुई है, जो 'परि' इस उपसर्ग से रुचि तथा वासना सहित अच्छी तरह से त्याग विवक्षित है, क्योंकि लिखा है कि -

परीत्युपसर्गेण पातकादित्यागवद्रुचिवासनाभ्यां लज्जया
सह पुनरन्वयं यथा न स्यात्तथा त्यागः कर्तव्य इत्युच्यते ॥ (मुमुक्षुप. सू. २०५)

परि इस उपसर्ग से पातक आदि त्याग के समान रुचि और वासना के साथ लज्जा से अच्छे प्रकार का त्याग करना, जिसमें फिर से उसका सम्बन्ध न हो, यह अर्थ कहा गया है और 'परित्यज्य' यह प्रयोग **'समासेऽनञ्पूर्वेक्त्वोल्यप्'** (व्या. ७।१।३७) इस सूत्र से 'ल्यप्' होकर बना है, तो 'ल्यप्' से कर्म आदि उपायों को छोड़ करके ही आश्रय करना चाहिये, यह अर्थ विवक्षित है ।

'ल्यपात् स्नात्वा भुञ्जीतेतिवदुपायान्तराणि त्यक्त्वैवाश्रयणं कर्तव्यमित्युच्यते' (मुमुक्षुप. सू. २०६) 'ल्यप्' से स्नान कर भोजन करे, इसके समान उपायान्तरों को छोड़कर निश्चय करके आश्रय करना चाहिये, यह अर्थ कहा जाता है । अब **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** इस पाद का अर्थ हुआ कि **'सांग सपरिकर कर्म'** ज्ञान, भक्ति आदिक मोक्षोपायभूत धर्मों में मोक्षोपायत्व बुद्धि अच्छी तरह से त्याग करके । इस प्रकार से चरमश्लोक के पूर्वार्द्ध के पहले पाद का उपायान्तर परित्यागरूप उपाय स्वींकार के अङ्ग को मैं कहकर अब पूर्वार्द्ध के दूसरे पाद का अर्थ उपाय स्वीकार को कह रहा हूँ ।

'माम्' सर्वरक्षक भक्तपराधीन दोष को भोग्य समझने वाले मुझको; क्योंकि लिखा है कि **'सर्वरक्षकं तवहस्तवशं त्वदिच्छां दृष्ट्वा त्वद्दोषान् भोग्यतया स्वीकृत्य स्थितम्'** (मुमुक्षुप.) सबका रक्षक तेरे अधीन तेरी इच्छा को देखकर तेरे दोषों को भोग्यतया स्वीकार कर स्थित हमको । 'एकम्' (एक) चौथा पद है इसका यहाँ पर अवध ारण अर्थ है । क्योंकि लिखा है कि - **'अयमेकशब्दः स्थानप्रमाणेनावधारणार्थकः'** (मुमुक्षुप. सू. २२५) यह एक शब्द स्थान प्रमाण से अवधारणार्थक है । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' (गीता ७।१४) 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' (गीता १५।४) इत्यादि स्थलों में अवधारणार्थक एव का प्रयोग किया गया है, इससे यहाँ पर भी एव के स्थान में ही एक शब्द का प्रयोग किया गया है ऐसा जानना चाहिये । तो 'मामेकम्' इसका यह अर्थ हुआ कि हमको ही । यहाँ पर उपाय स्वीकार में उपायत्व परित्याग एक शब्द का प्रयोजन है, क्योंकि कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि के उपायत्व परित्याग मैं पहले कह चुका हूँ ।

'शरणम्' इस पाँचवे पद का अर्थ यहाँ पर उपाय करके है । यद्यपि शरण शब्द का अर्थ रक्षिता और गृह ये दो भी हो सकते हैं, परन्तु यहाँ पर उपायरूपार्थ ही पूर्व शब्दार्थ से अन्वय योग्य है । क्योंकि लिखा है कि -

यद्यप्ययं शरणशब्दो रक्षितारं गृहमुपायं च प्रदर्शयति,
तथाप्यत्रोपायमेव प्रदर्शयति, पूर्वेणान्वयावश्यकत्वात् ।। (मुमुक्षुप. सू. २४३)

यद्यपि यह शरण शब्द रक्षिता तथा गृह और उपाय को दिखाता है, तौभी यहाँ पर उपाय को ही दिखाता है, पूर्व शब्द से अन्वय की आवश्यकता होने से ।

'व्रज' इस छठवें पद का अर्थ अब कहता हूँ । यद्यपि 'व्रजगतौ' यह धातु गमनार्थक है तौभी **'गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः'** गत्यर्थक बुद्ध्यर्थक है । इस न्याय से यहाँ पर बुद्धिरूपार्थक ही लेना उचित है । अर्थात् 'व्रज' इस पद का अध्यवसाय करो, यह अर्थ होता है । क्योंकि लिखा है कि **'अध्यवसायं कुर्वित्यर्थः'** (मुमुक्षुप. सू. २४६) अध्यवसाय करो, यह अर्थ है । यद्यपि कायिक और वाचिक शरणागति में भी क्षति नहीं है तौभी 'ज्ञानान्मुक्तिः' (सांख्य. अ. ३ सू. २३) ज्ञान से मोक्ष होता है । ऐसा प्रतिपादन होने से अध्यवसायरूप मानसशरणागति ही ग्राह्य है । क्योंकि लिखा है कि **'मानसिकानुष्ठानमुच्यते'** (मुमुक्षुप.) मानसिक अनुष्ठान को कहते हैं ।

इस प्रकार से चरम श्लोक के पूर्वार्द्ध का यह अर्थ हुआ कि-

कर्म, ज्ञान, भक्ति आदिक सांग सपरिकर धर्मों में उपायत्वबुद्धि
का परित्याग करके हमको ही उपाय करके अध्यवसाय करो ।

अब चरम श्लोक के द्वितीयार्द्ध में स्वीकृतोपायभूत भगवान् के कृत्य को कह रहा हूँ । उसमें 'अहम्' यह पहला पद है, इसका सर्वज्ञ सर्वशक्त सर्वस्वामी मैं, ऐसा अर्थ है । क्योंकि लिखा है कि - **'सर्वज्ञस्सर्वशक्तिकः प्राप्तश्चाहम्'** (मुमुक्षुप. सू. २५१) सर्वज्ञ सर्वशक्त और प्राप्त मैं । और दूसरा पद 'त्वा' यह है । यह 'त्वा' - त्वामौ द्वितीयायाः' (व्या. ८।१।२३)

इस सूत्र से त्वाम् की जगह पर आदेश हुआ है । इसका मुझको ही उपाय समझने वाले अज्ञ, अशक्त तुमको, ऐसा अर्थ है । क्योंकि लिखा है कि -

अज्ञमशक्तमप्राप्तं मामेवोपायतया स्वीकृत्य स्थितं त्वाम् (मुमुक्षुप. सू. २५५-५६).

हमको ही उपायतया स्वीकार कर स्थित अज्ञ अशक्त अप्राप्त तुमको । अब जो तीसरा पद-सर्वपापेभ्य:' यह है, इसका अर्थ भगवत्-प्राप्ति में प्रतिबन्धकभूत पुण्य तथा पापों से ऐसा होता है, क्योंकि लोक में इष्ट-प्राप्ति विरोधी और अनिष्ट-प्राप्तिहेतुभूत वस्तु पाप शब्द से कहा जाता है । मुमुक्षुपुरुष का इष्ट भगवत्प्राप्ति और अनिष्ट तद्व्यतिरिक्त ऐहिक स्त्री, पुत्र, धन आदिक तथा आमुष्मिक स्वर्ग नरकादिक हैं । जैसे नरक दु:खद होने से अनिष्ट है वैसे ही स्वर्ग भी भगवत्प्राप्ति की अपेक्षा दु:खरूप है, और पुण्य, भगवत्प्राप्ति रूप इष्टविरोधी तथा स्वर्गादिरूप अनिष्टप्राप्ति हेतु होने से मुमुक्षु पुरुष को पाप ही है । इससे यहाँ पर पुण्य पापरूप द्विविध पदार्थ भी पाप शब्द से लिया जाता है । अब जो चौथा पद 'मोक्षयिष्यामि' यह है । इसका, जैसे तुम मुक्त हो जाओगे वैसा मैं कर दूँगा, ऐसा अर्थ है । क्योंकि लिखा है कि - **'मुक्तो यथा भवेस्तथा कुर्याम्'** (मुमुक्षु प. सू. २६३-६४) जैसे तुम मुक्त हो जाओगे वैसा मैं कर दूँगा । 'मोक्षयिष्यामि' यहाँ पर जो णिच् प्रत्यय है, इससे यह अर्थ होता है कि भगवच्छरणागति करने पर पुण्य पाप रूप द्विविध कर्म अपने से ही निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि लिखा है कि **'णिचा तानि स्वयमेव विहाय गच्छेरन्नित्याह'** (मुमुक्षुप. सू. २६५) वे पुण्य पाप अपने से ही भगवच्छरणागत को छोड़कर निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा णिच् प्रत्यय द्वारा कहा जाता है । अब अन्तिम पद 'मा शुच:' यह है 'इसका शोक निमित्त नहीं रहने से शोक मत करो, ऐसा अर्थ है । क्योंकि लिखा है कि - **'तव शोकनिमित्तं नास्ति'** (मुमुक्षुप. सू. २७०) तेरा शोक का निमित्त नहीं है । अब चरमश्लोक के उत्तरार्द्ध का संक्षिप्त अर्थ यह है कि -मैं, हमारी प्राप्ति में विरोधीभूत अविद्या कर्म वासना रुचि प्रकृतिसंबन्ध और पूर्वोत्तराघ रूप सम्पूर्ण पापों से निवृत्त करा दूँगा, तुम शोक मत करो ।

शरणागति के समय चरम मन्त्र को ही केवल उपदेश में आचार्य लोगों ने इसलिये लिया है कि भगवान् ने इसी के द्वारा समस्त पाप निरासपूर्वक कर्तव्य बुद्धि को सुस्थिर कर अर्जुन को कार्यारूढ़ किया है ।।६६।।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।६७।।

अन्वय :- **इदम् ते न अतपस्काय न अभक्ताय च न अशुश्रूषवे न च यो माम् अभ्यसूयति कदाचन वाच्यम् ।**

अर्थ :- इसे (यानी इस गुह्यतम ज्ञान को) तुझे न तपहीन न भक्तिहीन, न अशुश्रूषु (यानी जो सुनना न चाहे) और न जो मेरी निन्दा करता है (यानी मुझमें दोष-दृष्टि रखता है) उससे कभी कहना चाहिये ।

व्याख्या :- भगवान् गुह्यतम ज्ञान अर्जुन को देकर अब कहते हैं कि यह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे द्वारा तुझको कहा गया है इसे तुझको तपस्या न करने वाले मनुष्य के प्रति, तप करने वाला होने पर भी जो भक्त न हो और भक्त होने पर भी जो सुनने की इच्छा न रखता हो तथा जो मेरी निन्दा करने वाला है उसको कभी नहीं सुनाना चाहिए । तप के विषय में लिखा है कि -
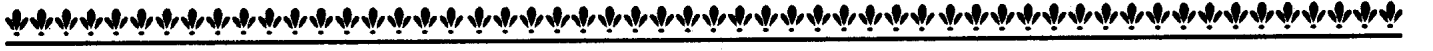
वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः ॥ (जबालद. उ. खं. २।३)

वेदोक्त प्रकार से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखाना है उसी को बुधजन तप कहते हैं ।।३।। परमगुह्य शास्त्र के अनधिकारी का लक्षण बताते हुये भगवान् कहते हैं कि जो तप न करने वाले मनुष्य हों उनके प्रति यह नहीं कहना चाहिए । यदि तपस्या में निरत भी हो तो तुझ भागवत का और मुझ सर्वेश्वर का भक्त न हो उसको भी नहीं सुनाना चाहिए । भक्त का लक्षण बताते हुये भगवान् ने १२वें अध्याय में कहा है कि -

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ (१२।१६)

आत्मा के अतिरिक्त समस्त वस्तुओं में अपेक्षा से रहित, शास्त्र-विहित द्रव्य से शरीर का पोषण करने वाला, शास्त्रीय क्रिया के सम्पादन में समर्थ, अन्य क्रियाओं से उदासीन, दुःखों की प्राप्ति में व्यथा से रहित, शास्त्रीय कर्मों के अतिरिक्त अन्य सभी आरंभों का त्यागी जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है ।

भक्त होने पर भी यदि सुनने की इच्छा न रखता हो तो उसे भी नहीं सुनाना चाहिए । यहाँ भगवान् **'अतपस्काय, अभक्ताय, अशुश्रूषवे'** इन पदों में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग करके अब अत्यन्त त्याज्य मनुष्य को बतलाने के लिये असमान विभक्ति प्रथमा का प्रयोग करते हुये कहते हैं कि जो मेरे स्वरूप, मेरे ऐश्वर्य और मेरे गुणों में दोष का आविष्कार करता है उसे यह परमगुह्य ज्ञान कभी नहीं सुनाना चाहिए । इससे यह बतलाते हैं कि भगवान् की निन्दा करने वाला सर्वथा अनधिकारी है ।।६७।।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।६८।।

अन्वय :- **इदम् परमम् गुह्यम मद्भक्तेषु यः अभिधास्यति, सः मयि पराम् भक्तिम् कृत्वा, माम् एव एष्यति, असंशयः ।**

अर्थ :- जो इस परमगुह्य (यानी गीता-शास्त्र-प्रतिपाद्य) ज्ञान को मेरे भक्तों में कहेगा वह मुझमें परा भक्ति करके मुझे ही प्राप्त होगा, (इसमें) संदेह नहीं है ।

व्याख्या :- श्रीसम्प्रदाय के द्वापर के परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् श्रीसम्प्रदाय के भागवत अर्जुन से अनधिकारी के लक्षण को कहकर अब इस ६८वें और आगे के ६९वें श्लोक में भगवद्गीता के वक्ता का माहात्म्य कहते हैं कि जो मनुष्य गीताशास्त्र-प्रतिपाद्य अति छिपाने योग्य इस ज्ञान को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझमें परम भक्ति करके मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें संदेह नहीं है ।

अहं प्राणाश्च भक्तानां भक्ताः प्राणा ममापि च । (ब्र. वै. पु. कृ. ४।६।५४)

मैं भक्तों का प्राण हूँ और भक्त हमारे प्राण हैं । इसलिये **'अहं भक्तान्तिके शश्वत्तेषां रक्षणहेतवे'** (ब्र. वै.

पु. कृ. पूर्व ४।५।४७) मैं भक्तों की रक्षा करने के लिये सर्वदा उनलोगों के पास रहता हूँ । जैसा मानस में भी भगवान् श्रीराम कहते हैं -

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ॥ (अर. ४२।५)

ऐसे नर-नारी भगवान् के प्रिय हैं । उनको इस परम गुह्य शास्त्र को सुनाकर भगवान् के चरणारविन्द का अनुरागी बनाने वाले वाचक जन भगवान् में पराभक्ति को प्राप्त करते हैं । जिसके विषय में कहा गया है कि - **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** (शा. भ. सू. २) ईश्वर में जो परानुरक्ति है उसी को भक्ति कहते हैं ।।२।। पराभक्ति को प्राप्त कर ऐसे वक्ता देहावसान के बाद भगवान् को नि:सन्देह प्राप्त कर लेते हैं ।।३८।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।६९।।

अन्वय :- **च मनुष्येषु तस्मात् मे प्रियकृत्तमः कश्चित् न च तस्मात् मे प्रियतरः भुवि न भविता ।**

अर्थ :- और, मनुष्यों में उससे (यानी जो मेरे भक्तों में गीताशास्त्र की व्याख्या करता है) मेरा प्रिय कार्य करने वाला (यानी उस सबसे बड़ा प्रिय कार्य करने वाले से बढ़कर) कोई नहीं है और न उससे मेरा प्रियतर दूसरा कोई पृथ्वी पर होगा ।

व्याख्या :- भगवान् कहते हैं कि परम गुह्य इस शास्त्र को मेरे भक्तों में कहने वाले के सिवा दूसरा कोई भी मनुष्य मेरा अत्यधिक प्रिय कार्य करने वाला अब से पूर्व समस्त मनुष्य में नहीं हुआ है और उससे बढ़कर मेरा प्रियतर इस पृथ्वी पर कोई दूसरा होगा भी नहीं ।

यहाँ भगवान् ने यह भाव दिखलाया है कि यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा और जप आदि जितने भी मेरे प्रिय कार्य हैं उन सबसे बढ़कर इस परम गुह्य गीता शास्त्र को मेरे भक्तों में कहना मुझे प्रिय है । इस प्रिय कार्य के बराबर कोई दूसरा कार्य संसार में नहीं है । केवल इस समय ही उससे बढ़कर कोई नहीं है, यही बात नहीं है बल्कि सत्युग, त्रेता, द्वापर आदि में होने वाले समस्त भक्तों में मेरा अत्यधिक प्रिय है तथा भविष्य में होने वाले मनुष्यों में भी उससे बढ़कर कोई होने वाला नहीं है ।

पहले ही ६७वें श्लोक में अनधिकारी के लक्षण कहकर ६८वें और ६९वें श्लोक में भक्तों को उपदेश देने वाले वक्ता के माहात्म्य कहने का यह तात्पर्य है कि शास्त्राधिकारियों को शास्त्र न सुनाने की अपेक्षा अनधिकारी को शास्त्र सुनाना अधिक अनिष्टकारी है ।।६९।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।७०।।

अन्वय :- **च यः आवयोः इमम् धर्म्यम् संवादम् अध्येष्यते, तेन अहम् ज्ञानयज्ञेन इष्टः स्याम्, इति मे मतिः ।**

अर्थ :- और जो हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उससे मैं ज्ञानयज्ञ के द्वारा पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा मत है ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् अध्ययन करने वालों का माहात्म्य बतलाते हुये कहते हैं कि जो हमारे और तुम्हारे तथा संजय और धृतराष्ट्र के इस धर्मयुक्त संवाद का अध्ययन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा ऐसी मेरी मति है ।

धर्म का लक्षण बताते हुये जैमिनि महर्षि ने कहा है कि –'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः' (पू. मीमांसा १।१।२) प्रेरणा लक्षण अर्थ धर्म है । और जो धर्म से युक्त हो उसे 'धर्म्य' कहते हैं । इस प्रकार यह धर्म से युक्त गीता शास्त्र जो हमारा तुम्हारा संवाद है । जैसा श्रीकृष्ण और अर्जुन के विषय में कहा गया है कि –

'आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः ।' (महा. सभा. ५२।३१)

श्रीकृष्ण अर्जुन की आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्ण की आत्मा हैं ।।३१।। तथा चकार से संजय और धृतराष्ट्र का जो संवाद है, क्योंकि लोकप्रसिद्ध आचार्यों के सिद्धान्तानुसार-

'चतुः संवादसम्पन्ना सप्तशतीसमन्विता'

जिस गीता शास्त्र में चार के संवाद हैं और सात सौ श्लोक जिसमें हैं । इसलिये यहाँ 'आवयोः' से अभिप्राय चारो के संवाद से युक्त जो गीता है । इसका अध्ययन करने का नियम जो पाणिनि शिक्षा में कहा गया है –

'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥ (पा. शि. ३३)

१-माधुर्य २-सब वर्णों का स्पष्ट उच्चारण ३-पदच्छेद युक्त ४-सुन्दर स्वर से ५-धीरतापूर्वक और ६-छन्दानुसार लय के साथ ये पाठ करने वालों के छः गुण हैं । इसके अनुसार अध्ययन करना चाहिए । इसलिये कहा गया है कि – **'गीता सुगीता कर्तव्या'** (महा. भीष्म. ४३।१) गीता का सुन्दर गान करना चाहिए ।

इसके पाठ का फल बताते हुये भगवान् कहते हैं कि इसके अध्ययन मात्र से ही मैंने जैसा चौथे अध्याय के २८वें श्लोक में 'ज्ञानयज्ञाश्च' कहकर नौवाँ यज्ञ वर्णित किया है उसके द्वारा मैं पूजित होऊँगा । यह ज्ञानयज्ञ किसी यज्ञ से छोटा नहीं है जैसा कह चुके हैं –

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप । (४।३३)

ऐ शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ।

पाठ के साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उसका अर्थ समझ कर पाठ करे । क्योंकि लिखा है कि –

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव पठ्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥ (महाभाष्य प्र. आ. १)

जो पढ़ा हो और अर्थ न मालूम होता हो तो वह केवल पाठ किया हुआ जैसे भस्म के ऊपर रखा हुआ सूखा

इन्धन नहीं लहकता है, वैसे ही पूर्णफलदायक नहीं होता है ॥१॥ इससे भगवान् का यहाँ अभिप्राय अर्थ समझकर पाठ करने का है । पाठ करने वालों को निम्न श्लोक में कहे गये दोषों से मुक्त होकर पाठ करना चाहिये -

गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखतपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

अन्वय :- **श्रद्धावान् च अनसूयः यःनरः शृणुयात् अपि सः अपि मुक्तः पुण्यकर्मणाम् शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् ।**

अर्थ :- श्रद्धावान् और असूया रहित (यानी दोष-दृष्टि से रहित) जो मनुष्य (इसको) सुन ले, वह भी मुक्त होकर पुण्यकर्मा पुरुषों के शुभ लोकों को प्राप्त कर लेगा ।

व्याख्या :- इस श्लोक में भगवान् इस गीताशास्त्र के श्रवण करने वालों के माहात्म्य को बतलाते हुये कहते हैं कि श्रद्धावान् और असूया रहित जो भी नर-नारी इस गीताशास्त्र का केवल श्रवणमात्र करते हैं, वे भी उस श्रवणमात्र के प्रभाव से भक्ति के प्रतिबन्धक पापों से छूटकर पवित्र करने वाले मेरे भक्तों के जनसमूहों को प्राप्त कर लेते हैं ।

अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसका नाम श्रद्धा है, यानी कर्मों में आस्तिक्य बुद्धि करना श्रद्धा है । श्रुति भी कहती है **'श्रद्धे श्रद्धापयेह नः'** (ऋ. १०।१५१।५) हे श्रद्धादेवी ! हमारे हृदय में रहकर तू हमें श्रद्धालु आस्तिक बना । अनसूया के विषय में लिखा है कि-

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता ॥ (अत्रिस्मृति ३४)

जो गुणवानों के गुणों का खण्डन नहीं करता, थोड़े गुण वालों की भी प्रशंसा करता है और दूसरे के दोषों में प्रीति नहीं करता मनुष्य का वह भाव अनसूया कहलाता है ॥३४॥ जो श्रोता उपर्युक्त दोनों गुणों से युक्त होकर इस गीताशास्त्र का श्रवण करते हैं वे भक्ति-विरोधी पापों से छूट जाते हैं । इतना ही नहीं पवित्र कर्म करने वाले जो महाभागवत हैं, जिनके विषय में श्रीमद्भागवत में लिखा है कि -

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं प्रभो ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥ (श्रीमद्भा. १।१३।१०)

प्रभो ! आप जैसे भगवान् के प्यारे भक्त स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं । आप लोग अपने हृदय में विराजमान भगवान् के द्वारा तीर्थों को भी महातीर्थ बनाते हुये विचरण करते हैं । तथा -

'तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया' ॥ (श्रीमद्भा. ४।३०।३७)

आपके अनन्यभक्त तीर्थों को पवित्र करने के उद्देश्य से पृथ्वी पर पैदल ही विचरते रहते हैं ।' ऐसे जो पवित्र करने वाले भगवद् भक्त जन हैं, उनके कल्याण करने वाले (**'लोकस्तु भुवने जने'** (कोश ३।३।२) के अनुसार) लोक नाम जन समूह को प्राप्त कर लेते हैं ।

श्रवण करने वाला कैसा होना चाहिये, इसमें राजा परीक्षित का कहा हुआ वाक्य अनुकरणीय है -

न सातिदु:सहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् । (श्रीमद्भा. १०।१।१३)

'भगवन् ! अन्न की तो बात ही क्या, मैंने जल का भी परित्याग कर दिया है । फिर भी असह्य भूख-प्यास मुझे तनिक भी नहीं सता रही है, क्योंकि मैं आपके मुखकमल से झरती हुई भगवान् की सुधामयी लीला-कथा का पान कर रहा हूँ । श्रवण करते हुये भी अपने अन्दर सूप के समान गुण रखना चाहिए । जैसा कहा भी गया है -

'सार-सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाय ।' इसी प्रकार भगवान् के नाम, गुण, धाम, लीला का अनुसंधान करते रहना चाहिए ।।७१।।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोह: प्रनष्टस्ते धनंजय ।।७२।।

अन्वय :- **पार्थ ! कच्चित् एतत् त्वया एकाग्रेण चेतसा श्रुतम् ? धनंजय ! कच्चित् ते अज्ञानसंमोह: प्रनष्ट: ?**

अर्थ :- पार्थ ! क्या यह (उपदेश) तेरे द्वारा एकाग्रचित्त से सुना गया ? धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?

व्याख्या :- भगवद्गीता के कथन, पठन, श्रवण के माहात्म्य कहने के बाद अब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सर्वगुह्यतम जो शरणागति योग है उसका वैभव द्योतन करने के लिये अपने प्रियतम शिष्य अर्जुन से पूछते हैं कि हे पृथा देवी के पुत्र हमारे प्रियतम शिष्य ! समीपतरवर्ती इस १८वें अध्याय के ६६वें श्लोक 'सर्वधर्मान्' इत्यादि जो सर्वगुह्यतम शरणागति योग को मैंने कहा इसको एकाग्रचित से क्या तुमने सुना ? हे धनंजय ! क्या इससे तेरा अज्ञान-जनित सम्मोह नष्ट हो गया है ?

यहाँ भगवान् 'एतत्' शब्द का प्रयोग करते हैं । लिखा है कि - **'समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्'** (मनोरमा) अत्यन्त समीप में 'एतत्' शब्द का प्रयोग होता है । इस प्रमाणानुसार यहाँ 'एतत्' से समीपतर शरणागति योग कहते हैं क्योंकि उसके बाद वक्ता, पाठ करने वाले और श्रवण कर्ता के माहात्म्य भगवान् कहते हैं । इसलिये अत्यन्त समीप में 'सर्वधर्मान्' इत्यादि ६६वाँ श्लोक ही है । इसके अतिरिक्त अर्थ करना दुराग्रह मात्र है । भगवान् अर्जुन को यहाँ पार्थ सम्बोधन देकर अर्जुन को अपना अत्यन्त प्रिय होने का संकेत करते हैं । जैसा कहे भी हैं **'अनन्य: पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च'** (महा. वन. १२।४७) 'हे पार्थ ! तू मुझसे अलग नहीं है और वैसे ही मैं तुझसे अलग नहीं हूँ। अन्यत्र भी भगवान् इसी बात को कहते हैं कि 'तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च' (महा. भीष्म. १०७।३३) 'हे युधिष्ठिर ! आपके भाई अर्जुन मेरे मित्र हैं, सम्बन्धी हैं और शिष्य भी हैं' । ऐसे प्रिय अर्जुन को पार्थ सम्बोधन देकर

भगवान् पूछते हैं कि क्या तूने मेरे द्वारा कहे गये (समीपतर कथित) इस सर्वगुह्यतम शरणागति योग को एकाग्रचित से सुना ?

दूसरा सम्बोधन 'धनंजय' देकर भगवान् यह द्योतन करते हैं कि **'राजसूयेन यजेत्'** इस श्रुति से विहित राजसूय यज्ञ में, बहुत से राजाओं को जीतकर अपार धन ले आकर अर्जुन ने समर्पण कर दिया । तभीसे उनका नाम धनंजय पड़ गया । इसलिये भगवान् गीता में अपनी विभूति बतलाते हुये अर्जुन के अन्य नामों को न कहकर इसी नाम को श्रेष्ठता जनाने के लिये कहते हैं - **'पाण्डवानां धनंजयः'** (१०।३७) पाण्डवों में मैं धनंजय हूँ । इससे यह बतलाते हैं कि सुर-दुर्लभ मानव शरीर पाकर तन-मन-धन को यज्ञ में लगाना जिससे तेरा यश होगा और श्रेष्ठ कहे जाओगे । यही नहीं, अर्जुन ने धन जीतकर यज्ञ में लगाया जिससे ऐसी शक्ति प्राप्त की कि 'धनंजय' नाम लेने से शत्रुओं का विनाश हो जाता है । जैसा पाण्डवगीता में कहा गया है **'शत्रु र्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन'** धनंजय सम्बोधन देकर भगवान् कहते हैं कि तूने दूसरे अध्याय में **'धर्मसंमूढचेताः'** (२।७)मेरा चित्त धर्म के विषय में मोहित हो गया है, ऐसा कहकर इतना तक कह दिया कि **'न योत्स्य इति'** (२।९) मैं संग्राम नहीं करूँगा । इसलिये वह तेरा अज्ञानजनित महामोह इस सर्वगुह्यतम शरणागतियोग को सुनकर क्या नष्ट हो गया ?॥७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अन्वय :- **अर्जुन उवाच-अच्युत ! त्वत् प्रसादात् मोहः नष्टः, मया स्मृतिः लब्धा । गतसन्देहः स्थितः अस्मि, तव वचनम् करिष्ये ।**

अर्थ :- अर्जुन बोले - हे अच्युत ! आपकी कृपा से मोह नष्ट हो गया । मेरे द्वारा स्मृति पा ली गयी । (अब) सन्देह रहित हो स्थित हूँ, आपके वचन का पालन करूँगा ।

व्याख्या :- भगवान् का अत्यन्त प्रियतम शिष्य अर्जुन बोला - हे स्वरूप, गुण ऐश्वर्य से कभी च्युत न होने वाले प्रपन्न-कल्पतरु आचार्यदेव ! आपके प्रसाद नाम निर्हेतुक दया के द्वारा दिये गये सदुपदेश से मेरा विपरीत ज्ञान सर्वथा नष्ट हो गया और मैंने आप के सदुपदेश के द्वारा यथार्थ तत्त्व के ज्ञान रूप धर्म-शास्त्र (स्मृति) भी प्राप्त कर लिया । अब मैं संदेह-रहित होकर स्वस्थ भाव में स्थित हूँ । आप के वचनानुसार भगवद्शरणापन्न होकर मैं कर्तृत्वाभिमान, कर्म के फल की चाहना और आसक्ति छोड़ करके वर्णाश्रमोचित संग्रामादि कर्मों को करूँगा ।

अर्जुन भगवान् का अत्यन्त प्रियतम शिष्य है । भगवान् स्वयं इस बात को जनाते हुये कहते हैं कि -

नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणवृषी ॥ (महा. वन. १२।४६)

'हे दुर्द्धर्ष अर्जुन ! तू भगवान् नर है और मैं स्वयं हरिनारायण हूँ । हम दोनों एक समय नर और नारायण ऋषि होकर इस लोक में आये थे । उस समय तुझे मूल मंत्र का उपदेश दिया था ।' अच्युत के विषय में पाण्डव गीता में कहा

गया है – **'अच्युतः कल्पवृक्षोऽसौ'** (पा. ४६) 'अच्युत ही कल्पवृक्ष हैं' – अच्युत कहकर अर्जुन यह बतलाता है कि आचार्य कल्पतरु अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने वाले हैं । ऐसे चक्षुगम्य कल्पतरु आचार्य को छोड़कर जो केवल सर्वव्यापक ब्रह्म का अन्वेषण करते हैं वे उसी तरह हैं जैसे कोई **'करस्थमुदकं त्यक्त्वा घनस्थं सोऽभिवाञ्छति'** हाथ में मिले हुये जल को छोड़कर मेघ के जल की अपेक्षा करता है ।

स्मृति का लक्षण भगवान् मनु ने कहा है कि – **'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'** (मनु. अ. २।१०) निश्चय करके यथार्थ तत्त्व के ज्ञान रूप धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं ।

वर्णाश्रमोचित संग्रामादि कर्म जिस मोह नाम विपरीत ज्ञान के कारण बन्धनकारक समझता था वह आप द्वारा शरणागति योग के उपदेश से सर्वदा के लिये नष्ट हो गया तथा समस्त कल्याणमय गुणगणों के महान् सागर परम पुरुष आप की 'शेषता ही जीवात्मा का स्वरूप है' इस बात का ज्ञान मुझको प्राप्त हो चुका है । इस कारण अब मैं बन्धुस्नेहजनित करुणा से बढ़े हुये विपरीत ज्ञानमूलक सम्पूर्ण शोक से छूटकर सर्वथा सन्देह-रहित हो स्वस्थ हो गया हूँ । अब मैं आपके युद्धादि की कर्तव्यता रूप वचनों का पालन करूँगा । इस प्रकार अर्जुन आचार्य-निष्ठा द्योतन करते हुये बतलाता है कि जब तक आचार्याभिमान अपने अन्दर नहीं आवेगा तब तक संदेह का निवारण नहीं होगा । आचार्य के वचन का पालन करने वाला शिष्य परम प्रियतम बन जाता है तथा इससे यह ताकत आती है कि भीष्म, द्रोणादि जैसे महारथियों के विपक्ष में रहने पर भी उसकी विजय होती है ।।७३।।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।७४।।

अन्वय :- **संजय उवाच इति अहम् वासुदेवस्य च महात्मनः पार्थस्य इमम् अद्भुतम् रोमहर्षणम् संवादम् अश्रौषम् ।**

अर्थ :- संजय बोले – इस प्रकार मैंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत (विचित्र) रोमाञ्चकारी संवाद को सुना ।

व्याख्या :- मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में **'किमकुर्वत संजय'** (१।१) हे सञ्जय ! क्या किया ? ऐसा पूछने वाले धृतराष्ट्र से सञ्जय बोला-इस प्रकार मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण का और महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमाञ्चकारी संवाद सुना ।

सञ्+जय अर्थात् सञ् नाम अच्छी तरह से, जय नाम इन्द्रियों को जीते उसे सञ्जय कहते हैं । महाभारत में सञ्जय के विषय में कहा गया है कि सञ्जय गावल्गण नामक सूत के पुत्र थे । ये बड़े शान्त, शिष्ट, ज्ञान विज्ञान-सम्पन्न, सदाचारी, निर्भय, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, स्पष्टभाषी और श्रीकृष्ण के परमभक्त तथा उनको तत्त्व से जानने वाले थे और अर्जुन के साथ लड़कपन से इनकी मित्रता थी (महा. उद्योग. ५६) । वासुदेव के विषय में लिखा है कि **'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'** (गीता १०।३७) वृष्णिवंशियों में मैं 'वसुदेवनन्दन हूँ' । वासुदेव क्यों भगवान् को कहा जाता है, इस

सम्बन्ध में बताया गया है कि -

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

श्रीभगवान् सर्वत्र रहते हैं, सब कुछ श्रीभगवान् में निवास करता है, अतः विद्वानों से वे भगवान् 'वासुदेव' ऐसा कहे जाते हैं । महाभारत में कहा गया है -

'वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च' (महा. अनु. वि. सह. १३६) समस्त शरीर और जीवात्मा ये वासुदेवात्मक कहे गये हैं । ऐसे वसुदेवनन्दन भगवान् के सम्बन्ध में पाण्डव गीता में लिखा है कि -

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यं देवमुपासते ।
तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः ॥ (पा. गी. १७)

जो वासुदेव भगवान् का परित्याग कर अन्य देव की उपासना करता है वह दुर्मति मानो श्रीजाह्नवी गंगाजी के किनारे प्यासा हुआ अपनी प्यास बुझाने को कुआँ खोदता है ।

सञ्जय कहता है कि मैंने ऐसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण का और उनके चरणों के आश्रित पृथा-पुत्र महात्मा नाम महाबुद्धिमान अर्जुन का यह पूर्वोक्त अद्भुत रोमाञ्चकारी संवाद सुना । महात्मा के विषय में लिखा है कि **'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** (गीता ७।१६) 'सम्पूर्ण संसार वासुदेव वाला है' ऐसे भाव से मेरी उपासना करने वाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

अन्वय :- **व्यासप्रसादात् एतत् परम् गुह्यम् योगम् अहम् स्वयम् योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः श्रुतवान् ।**

अर्थ :- श्रीवेदव्यासजी की कृपा से इस परम गुह्य (रहस्य) योग को मैं स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से साक्षात् कहते हुए सुना ।

व्याख्या :- योग के विषय में लिखा है कि **'अप्राप्तप्रापणं योगः'** अप्राप्त को प्राप्त करने वाले को योग कहते हैं तथा **'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८) समता को योग कहते हैं और **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (योग द. १।१।२) चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं ।' संजय कहता है कि अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने वाला, समता करने वाला और चित्त की वृत्ति को निरोध कराने वाला जो यह गीता नामक परम गुह्य रहस्ययोग है इसको मैंने श्रीवेदव्यास के अनुग्रह से दिव्य नेत्र और श्रोत्र पाकर कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और शरणागति योग के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण से स्वयं उनके कहते हुए ही साक्षात् सुना ।

वेदों के विभाग करने से वेदव्यास नाम पड़ा । आपके सञ्जय पर किये गये अनुग्रह के सम्बन्ध में बताया गया है कि श्रीवेदव्यास जी ने सञ्जय को दिव्य दृष्टि और श्रोत्र प्रदान करके धृतराष्ट्र से कहा - 'ये सञ्जय तुम्हें युद्ध का

सब वृत्तान्त सुनावेंगे । युद्ध की समस्त घटना को ये प्रत्यक्ष देख, सुन और जान सकेंगे ।' (महा. भीष्म पर्व २।६) ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज के निधान योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् के विषय में लिखा है कि -

'कृष्णाय देवकीपुत्राय' (छान्दो. ३।१७।६) तथा -

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥ (ब्र. सं. ५।१)

श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अनादि हैं और (सबके) आदि (मूल) कारण हैं । गोविन्द सब कारणों के कारण हैं, अर्थात् उनका कोई कारण नहीं है । स्वयं भगवान् कहते हैं -

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः ।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम् ॥ (पा. गी. ३६)

जो मनुष्य हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! ऐसा कहकर नित्य मुझको स्मरण करता है, मैं उसको नरक से उसी प्रकार उद्धार कर देता हूँ जैसे जल को भेदकर कमल निकल आता है ।

ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से गीता योग नामक अत्यन्त छिपाने योग रहस्य निकला । जैसा कहा गया है -

'या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता' (महा. भीष्म. ४३।१)

जो गीता स्वयं पद्मनाभ भगवान् विष्णु के मुख कमल से निकली है ॥७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

अन्वय :- **राजन् ! केशवार्जुनयोः इमम् पुण्यम् च अद्भुतम् संवादम् संस्मृत्य संस्मृत्य मुहुर्मुहुः हृष्यामि ।**

अर्थ :- हे राजन् ! (महाराज धृतराष्ट्र) भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पुण्यमय और अद्भुत संवाद को पुनः पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

व्याख्या :- सञ्जय कहता है कि हे राजन् धृतराष्ट्र ! ब्रह्मा और रुद्र को शरीर में रखने वाले नारायणावतार श्रीकेशव और उनके कृपापात्र परम सात्त्विक मुमुक्षु अर्जुन के इस पवित्र अद्भुत साक्षात् सुने हुये अतिगुह्यतम संवाद रूप गीता को पुनः पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ । राजा होते हुये भी धृतराष्ट्र दुर्योधन आदि पुत्रों को दुष्टता करने से नहीं रोकता है तथा महात्मा विदुर के समझाने पर भी कहता है **'न चोत्सहे सुतं त्यक्तुम्'** (महा. उद्यो. ७।६) मैं अपने बेटे का त्याग नहीं कर सकता । फिर भी सञ्जय उसे आदर से 'राजन्' सम्बोधन देकर यह बतलाता है कि बड़े के अन्दर दुराचार भी हो तो सभा में आदर द्योतक शब्दों से संबोधित करना चाहिए । दूसरी बात यह बताया है कि जैसे मैंने धृतराष्ट्र की नौकरी करने से ही समय पर व्यास जी की कृपा को प्राप्त किया उसी तरह आप लोग भी नौकरी करते हुये सदाचार से रहेंगे तो समय पर लाभ ही होगा । ब्रह्मा और रुद्र को देह में रखने से श्रीकृष्ण को केशव कहते हैं ।

क्योंकि लिखा है कि -

'पश्यामि तव.....देहे.......ब्रह्माणमीशम्' (गीता ११।१५)

मैं आपके देह में ब्रह्मा को और रुद्र को देखता हूँ। और केशव के विषय में लिखा है कि -

'कर्मणा मनसा वाचा या चेष्टा मम नित्यशः ।
केशवाराधने सा स्याज्जन्मजन्मान्तरेष्वपि ॥ (जितन्ते स्तो. अ. २ श्लो. १६)

कर्म तथा मन और वाणी से जो नित्य मेरी चेष्टा होती है वह जन्म-जन्मान्तर में भी श्रीकेशव भगवान् की आराधना में ही हो। इन सब बातों की जानकारी प्राप्त कर सञ्जय यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण को 'केशव' शब्द से कहता है। परम कारुणिक भगवान् के कोचवानी करते हुये युद्ध-भूमि में ऐसे रहस्यमय उपदेश को सुनकर संजय अपने को कृतकृत्य मानते हुये बारम्बार स्मरण कर हर्षित हो रहा है ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

अन्वय :- **च राजन् ! हरेः तत् अत्यद्भुतम् रूपम् संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयः च पुनः पुनः हृष्यामि ।**

अर्थ :- और हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण के उस अत्यन्त अद्भुत रूप को याद कर-करके (यानी पुनः पुनः स्मरण करके) मुझे महान् विस्मय (आश्चर्य) हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

व्याख्या :- गीता के ग्यारहवें अध्याय में प्रतिपादित प्रियतम शिष्य अर्जुन के लिये प्रकट किये हुए भगवान् के अति अद्भुत उग्र विराट् स्वरूप को तथा सौम्य चतुर्भुज स्वरूप को अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर, क्योंकि लिखा है कि **'दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रम्'** (गीता ११।२०) और फिर सौम्य रूप को देखकर सञ्जय कहता है कि हे राजन् धृतराष्ट्र ! श्रीहरि के उस अति अद्भुत रूप का बार-बार स्मरण करके मुझे बड़ा आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं। यह लिखा है - **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप इयते'** (ऋ. सं. ६।४७।१८) भगवान् स्वेच्छा से अनेक रूप धारण करते हैं।

पापों को हरण करने से श्रीकृष्ण का हरि नाम है, क्योंकि लिखा है कि -

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥ (पा. गी. ६५)

दुष्ट चित्त से भी स्मरण करने से हरि सब पापों को हर लेते हैं जैसे बिना इच्छा के भी दहकते अंगार का अच्छे प्रकार से स्पर्श होने से आग जलाती ही है। क्योंकि लिखा है कि-

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ॥ (श्रीमद्भा. ७।१।३०)

हे विभो ! गोपियों ने काम-भाव से, कंस ने भय से, शिशुपाल दन्तवक्त्र आदि राजाओं ने द्वेषभाव से, वृष्णिवंशियों ने सम्बन्ध से, आप लोगों ने (पाण्डव) स्नेह से और मैंने (नारद) भक्ति से कल्याण प्राप्त किया है । इससे सिद्ध हो गया कि किसी प्रकार से भगवान् में चित्त लगाने से जीव का कल्याण होता है ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजियो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

(इत्यष्टादशोऽध्यायः)

- इति श्रीमद्भगवद्गीता समाप्ता-

अन्वय :- **यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र धनुर्धरः पार्थः, तत्र श्रीः विजयः भूतिः ध्रुवा नीतिः - मम मतिः ।**

अर्थ :- जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं श्री विजय विभूति एवं अचल नीति है । मेरा (यही) मत है ।

व्याख्या :- अठारहवाँ अध्याय समाप्त हो गया और श्रीमद्भगवद्गीता भी समाप्त हो गई । इससे **'अध्यायान्ते द्विरुक्तिः स्यात्'** (गारुड सं. २।४।२३) 'अध्याय के अन्त के पद्य को दो बार पाठ करना चाहिए' इस आप्त वचन के अनुसार **'यत्र योगेश्वरः'** (गीता १८।७८) इस श्लोक का दो बार पाठ करना चाहिए, क्योंकि ऐसा ही उपनिषदों में और ब्रह्म-सूत्र में देखा जाता है -

'प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति' (केनोप. खं. ४ श्रु. ९) नारायण में प्रतिष्ठित हो जाता है, प्रतिष्ठित हो जाता है ॥९॥ यहाँ वस्तु-निर्देशात्मक मंगल भी किया गया है ।

'नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः' (प्रश्नोप. ६।८)

परम ऋषियों के लिये नमस्कार है, परम ऋषियों के लिये नमस्कार है ॥८॥ यहाँ नमस्कारात्मक मंगल भी किया गया है । **'नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः'** (मुण्डकोप. ३।२।११) परम ऋषियों के लिये नमस्कार है, परम ऋषियों के लिये नमस्कार है ॥११॥ यहाँ भी नमस्कारात्मक मंगल किया गया है । **'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'** (छा. उ. ८।१५।१) मुक्त जीव फिर जन्म-मरण चक्र में नहीं लौटता है, नहीं लौटता है ॥१॥ **'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्'** (ब्र. सू. ४।४।२२) मुक्त जीव का संसार में आगमन नहीं होता है, वेद प्रमाण से । मुक्त जीव का संसार में आगमन नहीं होता है, वेद प्रमाण से ॥२२॥ इन प्रमाणों से सिद्ध हो गया कि अन्त के पद्य का दो बार पाठ करना चाहिये ।

अब मैं ७८वें श्लोक की व्याख्या करता हूँ । सञ्जय कहता है - इस विषय में बहुत कहने से क्या प्रयोजन है - जिस युधिष्ठिर के दल में उच्च नीच रूप में स्थित समस्त चेतनाचेतन वस्तुओं का जो-जो स्वभावरूप योग है, उन सब योगों के जो ईश्वर हैं तथा अपने से भिन्न समपूर्ण वस्तुओं के स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति का भेद जिसके संकल्प के अधीन है, वह समस्त योगों का ईश्वर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं । जिस श्रीकृष्ण के विषय में लिखा है कि - **'जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्'** (महा. अनुशा. वि. सह. १३५) यह समस्त चराचर संसार श्रीकृष्ण के अधीन है । और **'यतः कृष्णस्ततो जयः'** (महा. उद्योग. ६८।९) 'जहाँ श्रीकृष्ण रहते हैं वहीं विजय है ॥९॥ और जिस पक्ष में उस

श्रीकृष्ण की बुआ पृथा का पुत्र एकमात्र उसी श्रीकृष्ण के चरणयुगल का आश्रय लेने वाला गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन है । गाण्डीव के विषय में लिखा है - **'गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्'** (गीता १।३०) 'मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष फिसला जा रहा है । 'यह अर्जुन को खाण्डव वन जलाने के समय अग्निदेव ने वरुण से दिलाया था ।' (महा. आदि २२५) अर्जुन का गाण्डीव धनुष दिव्य था । उसका आकार ताल के समान था । (महा. उद्योग. १६१) वहीं सम्पूर्ण शोभा है । यहाँ 'श्री' शब्द का शोभा अर्थ है क्योंकि लिखा है-**'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिवदृश्यते'** । और विजय है तथा भूति यानी सारा ऐश्वर्य है और अचल नीति है । नीति के विषय में लिखा है कि 'नीतिरस्मि जिगीषताम्' (गीता १०।३८) 'विजय की इच्छावालों की विजय की उपायभूत नीति मैं हूँ । यह मेरी मति है ।

यहाँ पर शोभावाचक 'श्री' शब्द होते हुये भी अन्त में मंगलार्थक 'श्री' शब्द का प्रयोग किया गया है, महर्षि पंतजलि ने **'भूवादयो धातवः'** (१।३।१) इस सूत्र के महाभाष्य में लिखा है कि -

'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत् पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' । इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में यदि मंगल युक्त शास्त्र निबद्ध किये जाते हैं तो उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त होती है । वे लोगों को वीर एवं चिरंजीवी बनाते हैं, उनके पढ़ने से पाठक शीघ्र प्रवक्ता हो जाते हैं ।।१।। इससे सिद्ध हो गया कि ग्रन्थ के अन्त में भी मंगलाचरण करना चाहिए । अन्यत्र भी लिखा है कि - 'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरणीयम्' ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में मंगल करना चाहिए । तथा **'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति'** (सां. अ. ५ सू. १) मंगल करना चाहिए शिष्टाचार से, फल देखने से और श्रुति प्रमाण से ।।१।। लोक में भी देखा जाता है कि घर बनाते समय नींव डालने के प्रारंभ में और घर बन जाने के अन्त में गृहप्रवेश रूप में मंगल किया जाता है । वह मंगल तीन प्रकार का होता है,

''आशीर्नमस्क्रिवस्तुनिर्देशो वापि''

१-आशीर्वादात्मक मंगल २-नमस्कारात्मक मंगल और ३-वस्तु-निर्देशात्मक मंगल है । इस श्लोक में वस्तुनिर्देशात्मक मंगल है । शुक्ल यजुर्वेद के अध्याय ४० मंत्र १८ के अन्त में 'ओं खं ब्रह्म' इस प्रकार नारायण के नाम निर्देशात्मक मंगल किया गया है । पुनः लिखा है कि -

ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं निर्भिद्य निर्यातौ तेन मांगलिकावुभौ ।। (नारद पु.)

सृष्टि के आदि में चतुर्मुख ब्रह्मा के कंठ को भेदन करके मुख से दो शब्द 'ओम्' और 'अथ' निकले । इसलिये ये दोनों शब्द मांगलिक हैं ।' महर्षि पाणिनि ने अन्तिम सूत्र 'अ अ' (८।४।६८) इसमें **'अक्षराणामकारोऽस्मि'** (गीता १०।३३) 'अक्षरों में मैं अकार हूँ' इसके अनुसार भगवान् के वाचक 'अ' शब्द का प्रयोग कर वस्तुनिर्देशात्मक मंगल किया है । वैसे ही यहाँ ७८ वें श्लोक में भगवान् की पत्नी के वाचक 'श्री' शब्द से वस्तुनिर्देशात्मक मंगल किया गया है । श्रीदेवी भगवन् की पत्नी हैं, यह श्रुति, स्मृति, कोश प्रतिपादन करता है । **'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'** (यजु. ३१।२२) **'मयि श्रीः श्रयतां यशः'** (ऋ. ४।४।३५।१०) श्री देवी मुझमें यश को आश्रयण करें ।।१०।। **'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा'** (गीता १०।३४) नारियों में श्री मैं हूँ, कीर्ति मैं हूँ, स्मृति मैं हूँ, मेधा मैं हूँ, धृति मैं हूँ, और क्षमा मैं हूँ । इस श्लोक में श्रीदेवी परिगणित हैं । और -

'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' (अमर. का. १ व. १ श्लो. २७)

लक्ष्मी, पद्मालया, पद्मा, कमला, श्री ये भगवान् की पत्नी के नाम हैं। इससे सिद्ध हो गया कि भगवान् की पत्नी का वाचक 'श्री' शब्द है। जैसे परार्थ नीयमान दधि मङ्गलार्थ भी होता है वैसे ही ७८वें श्लोक में 'श्री' शब्द शोभावाचक होते हुये मङ्गलार्थ भी है। इसीको देखकर श्रीभारवि कवि अपने ग्रन्थ के आदि में -

श्रियः कुरुणामधिपस्य पालिनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥ (किराता. स. १ श्लोक १)

कुरुराज राजा दुर्योधन की राज्यलक्ष्मी सम्बन्धी पालन-पद्धति को, प्रजा से सम्बन्धित व्यवहार को जानने के लिये महाराज युधिष्ठिर ने जिस वनेचर को नियुक्त किया था, वह ब्रह्मचारी का वेश धारण करने वाला वनेचर वहाँ के सम्पूर्ण समाचार को जानकर द्वैतवन में युधिष्ठिर के पास पुनः वापस लौट आया ॥१॥

यहाँ पर श्रीदेवी वाचक मंगलार्थ 'श्री' शब्द से अपने महाकाव्य का प्रारम्भ करके और 'श्री' पर्यायवाची 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग प्रत्येक सर्ग के अन्त में मंगलविधानार्थ करते हुय अन्तिम १८वें सर्ग के अन्त में भी कवि ने लक्ष्मी शब्द का प्रयोग मंगलार्थ किया है -

व्रज जय रिपुलोकं पापपद्मानतः सन् गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसंघैः।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम ॥ (किराता. स. १८ श्लोक ४८)

चरण कमलों में झुके हुए अर्जुन को 'जाओ और शत्रुजनों पर विजय पावो' इस तरह भगवान् शङ्कर के कहने पर देव-समुदाय द्वारा प्रशंसित, महती विजय श्रीभूषित अर्जुन ने अपने घर (आश्रम) जाकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर को प्रणाम किया ॥४८॥ इतना ही नहीं श्रीमाघ कवि ने तो अपने शिशुपालवध महाकाव्य का आदि मंगलार्थ 'श्री' शब्द से प्रारम्भ करके **बीसों सर्गों** के अन्त में मंगलविधानार्थ 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है। जैसा प्रथम सर्ग के आदि में -

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत् जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन ददर्शावतरन्तमम्बरात् हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥ (शिशु. सं. १ श्लोक १)

संसार के नियन्त्रण करने के लिये श्रीकृष्ण रूप से वसुदेव के, सम्पत्ति युक्त घर में उत्पन्न हुए लक्ष्मीपति विष्णु ने किसी समय इन्द्र सन्देश कहने के लिये आकाश से आते हुये ब्रह्मपुत्र नारद मुनि को देखा ॥१॥ इस प्रकार सभी सर्गों के अन्त में 'श्री' शब्द का प्रयोग करते हुये अन्तिम २० वें सर्ग में भी महाकवि ने 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है -

श्रिया जुष्टं दिव्यैः सपटहरवैरन्वितं पुष्पवर्षै-
र्वपुष्टश्चैद्यस्य क्षणमृषिगणैः स्तूयमानं निरीय।
प्रकाशेनाकाशे दिनकरकरान् विक्षिपद्विस्मिताक्षै-
र्नरेन्द्रैरौपेन्द्रं वपुरथ विशद्धाम वीक्षांबभूवे ॥ (शिशु. स. २० श्लोक ७९)

भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा मार दिये जाने के बाद शिशुपाल के शरीर से निकल कर ऐश्वर्य समपन्न देवताओं द्वारा की जाने वाली वाद्य ध्वनि तथा फूलों की वर्षा से युक्त, ऋषि समुदाय द्वारा प्रशंसित, अपने प्रकाश से आकाशस्थ

सूर्य किरणों को मलिन करता हुआ उसका तेज सभी राजाओं के देखते ही देखते भगवान् के शरीर में प्रवेश कर गया ॥७१॥ और ग्रन्थान्तर में लिखा है कि -

देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः ।
ते सर्वे नैव निन्द्याःस्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥

जो शब्द देवता वाचक हैं और भद्र आदि के वाचक हैं वे सब लिपि से या गण से निन्दनीय नहीं हैं । यहाँ ७८ वें श्लोक में **'श्रीर्मादेवी देवता'** (ऋ. अष्ट. ४ म. ५ अ. ४ अनु. ६) इस प्रमाण से श्री देवी देवता हैं । इस प्रकार से श्रीमद्भगवद्गीता के अन्त में मंगलवाचक 'श्री' शब्द का प्रयोग करके समस्त श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि से पूर्ण मान्यता प्राप्त सर्वोत्कृष्ट **'श्रीसम्प्रदाय'** का द्योतन किया गया है ।

महाभारत के भीष्म पर्व में २५वें अध्याय से प्रारम्भ करके ४२वें अध्याय पर्यन्त गीता कही गयी है । वहाँ आकर ग्रन्थ में तथा गीता के श्रीरामनुज-भाष्य में और तात्पर्य-चन्द्रिका में तथा श्रीवरवर मुनीन्द्र की संस्कृत की व्याख्या में

"उँ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः"

यह अध्याय की समाप्ति पर दी हुई पुष्पिका नहीं है । तौभी आजकल इसका बहुत प्रचार हो गया है । इसलिये मैं भी इसका अर्थ संक्षिप्त में कह देता हूँ । ऊँ, तत्, सत् भगवान् के पवित्र नाम हैं । ऐसा गीता के अध्याय १७ के श्लोक २३ में लिखा है । स्वयं श्री भगवान् के द्वारा गाई जाने के कारण इसका नाम श्रीमद्भगवद्गीता है । इसमें उपनिषदों का सार तत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद् है, इससे इसको उपनिषद् कहा गया है । परब्रह्म नारायण के परमतत्त्व का साक्षात् कराने वाली होने के कारण इसका नाम ब्रह्म-विद्या है और जिस कर्मयोग का योग के नाम से वर्णन हुआ है उस निष्काम भावपूर्ण कर्मयोग का तत्त्व बतलाने वाली होने से इसका नाम योगशास्त्र है । यह साक्षात् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुन का संवाद है । इसके प्रत्येक अध्याय में नारायण को प्राप्त कराने वाले योग का वर्णन है और इस अध्याय में गीता का सार वर्णित होने से इसे मोक्षसंन्यासयोग कहा गया है ।

॥ अठारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

इति श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्ग-प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यश्रीत्रिदण्डिस्वामिविरचितोऽयं ग्रन्थः समाप्तः ।

श्रियै नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ।

ग्रन्थ-मुद्रण के लिए अर्थ-दाताओं की सूची

क्रमांक	दाता का नाम एवं पता	राशि
१.	श्रीत्रिदण्डिदेवसमाधिमन्दिर, बक्सर (बिहार)	७१,०००/-
२.	श्रीलक्ष्मीनारायण-महायज्ञसमिति, महुअरिया, जिला-चन्दौली (यू०पी०)	३०,०००/-
३.	डा० राजेश्वर प्रसाद सिंह, एच-२१ डाक्टर्स कॉलोनी, पटना	२०,०००/-
	एवं श्रीमती महारानी देवी, धर्मपत्नी डा० राजेश्वर प्रसाद सिंह	१०,०००/-
४.	प्रो० सुदामा सिंह एवं प्रो० विश्वनाथ सिंह, ग्राम-टड़वाँ, (रोहतास)	१६,०००/-
५.	स्व० श्री विश्वेश्वर सिंह की धर्म पत्नी जगदीशा कुँवर, ग्राम-मझौआ, आरा	११,०००/-
६.	श्रीमती लालती सिंह धर्मपत्नी श्री वीरेन्द्र कुमार सिंह, ग्राम-शाहजादपुर, अतरी, गया	१०,०००/-
७.	श्री ललन तिवारी, अधीक्षक केन्द्रीय उत्पाद शुल्क, ग्राम+पो०-सुजातपुर (गोपीगंज) उत्तर प्रदेश	१०,०००/-
८.	श्री निर्मल कुमार मैतिन, बोरिंग रोड, पटना	१०,०००/-
९.	श्रीरामनारायण सिंह (भू० पू० महाप्रबंधक, बिहार विद्युत् बोर्ड) ग्राम-टड़वाँ (रोहतास)	५,०००/-
१०.	श्री अजय कुमार तिवारी, ग्राम-शिवोबहार, पो०-दावथ (रोहतास)	२,१००/-
११.	श्री राजगोपाल सिन्हा, भू० पू० उप आरक्षी अधीक्षक, (होमगार्ड) पटना ग्राम+पो०-बहोरनपुर, जिला-भोजपुर	२,१००/-
१२.	श्री उमाशरण प्रसाद, उप आरक्षी अधीक्षक, डाल्टेनगंज	१,१००/-
१३.	श्री अविनाश शरण, सी० डी० ए० कॉलोनी, पटना	१,१००/-
१४.	डा० गिरिजानन्दन सिंह, भू० पू० प्राचार्य एवं अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, एस० सिन्हा कॉलेज, औरंगाबाद	१,१००/-
१५.	डॉ० इन्दुभूषण शर्मा, प्राचार्य एवं अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, एस० सिन्हा कॉलेज, औरंगाबाद	१,१००/-
१६.	श्री कमलापति सिंह, विसोपुर, जिला-चन्दौली, (यू० पी०)	१,०००/-

ग्रन्थ-प्राप्ति-स्थान :

श्रीत्रिदण्डिदेव समाधिमन्दिर

चरित्र-वन बक्सर, ८०२१०१, जिला-बक्सर (बिहार)

फोन : ६१८३-२२६८०४

मुद्रक : मंगलम् कम्प्यूटर प्रेस, गया